दुर्गति-नाशिनि दुर्गा जय-जय, काल-विनाशिनि काली जय जय।
उमा-रमा-ब्रह्माणी जय जय, राधा-सीता-रुक्मिणि जय जय॥
साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव जय शकर।
हर हर शकर दुखहर सुखकर अघ-तम-हर हर हर शकर॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जय-जय दुर्गा, जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥
जयति शिवाशिव जानकिराम। गौरीशकर सीताराम॥
जय रघुनन्दन जय सियाराम। व्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम॥
रघुपति राघव राजाराम। पतितपावन सीताराम॥

(सस्करण २,५०,०००)

कल्याणमयी प्रार्थना

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खल प्रसीदता
ध्यायन्तु भूतानि शिव मिथो धिया।
मनश्च भद्र भजतादधोक्षजे
आवेश्यता नो मतिरप्यहेतुकी॥

हे नाथ! विश्वका कल्याण हो, दुष्टोकी बुद्धि शुद्ध हो, सब प्राणियोमे परस्पर सद्भावना हो, सभी एक-दूसरेका हितचिन्तन करे, हमारा मन शुभ मार्गमे प्रवृत्त हो और हम सबकी बुद्धि निष्कामभावसे भगवान् श्रीहरिमे प्रवेश करे। (श्रीमद्भागवत ५। १८। ९)

आवश्यक सूचना

फरवरी मासका अङ्क (परिशिष्टाङ्क) विशेषाङ्कके साथ सलग्न है।

इस अङ्कका मूल्य १२० रु० (सजिल्द १३५ रु०)

वार्षिक शुल्क*
भारतमे १२० रु०
सजिल्द १३५ रु०
विदेशमे—सजिल्द
US$25 (Air Mail)
US$13 (Sea Mail)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

दसवर्षीय शुल्क*
भारतमे १२०० रु०
सजिल्द १३५० रु०
विदेशमे—सजिल्द
US$250 (Air Mail)
US$130 (Sea Mail)

* कृपया नियम देखे।

सस्थापक— ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक— नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक— राधेश्याम खेमका
गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये केशोराम अग्रवालद्वारा गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित
visit us at www gitapress org | e-mail gitapres@ndf vsnl net.in

'कल्याण' के सम्मान्य सदस्यो और प्रेमी पाठकोसे नम्र निवेदन

१-'कल्याण' के ७६ वे वर्ष—सन् २००२ ई० का यह विशेषाङ्क-'नीतिसार-अङ्क' आप लोगोकी सेवामे प्रस्तुत है। इसम ४७२ पृष्ठाम पाठ्य-सामग्री और ८ पष्ठाम विपय-सूची आदि हे। कई बहुरगे एव रेखाचित्र भी दिये गये ह। इस विशेषाङ्कम फरवरी माहका अङ्क भी सलग्न किया गया है। डाकसे सभी ग्राहकाको विशषाङ्क-प्रेषणम लगभग दा माहका समय लग जाता हे। मार्चका अङ्क अप्रेल माहमे भेजे जानेकी सम्भावना है।

२-वार्षिक सदस्यता-शुल्क प्रेषित करनेपर भी किसी कारणवश यदि विशेषाङ्क वी०पी०पी० द्वारा आपके पास पहुँच गया हो तो उसे डाकघरसे प्राप्त कर लेना चाहिये एव प्रेषित की गयी राशिका पूरा विवरण (मनीऑर्डर पावतीसहित) यहाँ भेज देना चाहिये। जिससे जाँचकर आपकी सुविधानुसार राशिकी उचित व्यवस्था की जा सके। सम्भव हो तो वी०पी०पी० से किसी अन्य सज्जनको ग्राहक बनाकर उसकी सूचना यहाँ नये सदस्यके पूरे पतेसहित देनी चाहिये। ऐसा करक आप 'कल्याण' को आर्थिक हानिसे बचानेके साथ-साथ 'कल्याण' के पावन प्रचारम सहयोगी भी हो सकेगे।

३-इस अङ्कक लिफाफ (कवर)-पर आपकी सदस्य-सख्या एव पता छपा ह, उसे कृपया जॉच ले तथा अपनी सदस्य-सख्या सावधानीसे नोट कर ल। रजिस्ट्री अथवा वी०पी०पी० का नम्बर भी नाट कर लेना चाहिये। पत्र-व्यवहारमे सदस्य-सख्याका उल्लेख नितान्त आवश्यक ह, क्योकि इसके विना आपके पत्रपर हम समयस कार्यवाही नहीं कर पात ह। डाकद्वारा अङ्काके सुरक्षित वितरणमे सही पिन-कोड आवश्यक हे। अत अपने लिफाफपर छपा अपना पता जाँच लेना चाहिये।

४-*'कल्याण'* एव *'गीताप्रेस-पुस्तक-विभाग'* की व्यवस्था अलग-अलग है। अत पत्र तथा मनीऑर्डर आदि सम्बन्धित विभागाका अलग-अलग भेजना चाहिये।

'कल्याण' के उपलब्ध पुराने विशेषाङ्क

वर्ष	विशषाङ्क	मूल्य (रु०)	वर्ष	विशषाङ्क	मूल्य (रु०)
६	श्रीकृष्णाङ्क	१००	३४	* स० देवीभागवत (मोटा टाइप)	१२०
७	ईश्वराङ्क	९०	३६	* स० शिवपुराण (बडा टाइप)	१००
८	शिवाङ्क	८०	३६	* स० शिवपुराण (बडा टाइप) (गुजराती)	११०
९	शक्ति-अङ्क	१००			
१२	सत-अङ्क	१००	३९	भगवन्नाम-महिमा और प्रार्थना-अङ्क	८५
१६	* भागवताङ्क	१३०	४४-४५	* गर्गसहिता [भगवान् श्रीराधाकृष्णकी दिव्य लीलाआका वर्णन]	७०
१८	स० वाल्मीकीय रामायणाङ्क	६५			
१९	* स० पद्मपुराण	१२०	४५	* नृसिह-पुराण	५५
२१	* स० मार्कण्डेयपुराण	५५	४८	श्रीगणेश-अङ्क	६५
२१	स० ब्रह्मपुराण	७०	४९	श्रीहनुमान-अङ्क	७०
२३	उपनिषद्-अङ्क	१००	५३	सूर्याङ्क	६०
२४	हिन्दू-सस्कृति-अङ्क	१००	६८	रामभक्ति-अङ्क	६५
२७	बालक-अङ्क	८०	६९	गो-सवा-अङ्क	७०
२८	* स० नारदपुराण	१००	७२	भगवल्लीला-अङ्क	६५

सभी अङ्कापर डाक-व्यय अतिरिक्त देय हागा। * गीताप्रस-पुस्तक-विक्री-विभागसे प्राप्य।

व्यवस्थापक—'कल्याण'-कार्यालय, पत्रालय—गीताप्रेस—२७३००५, जनपद—गोरखपुर (उ०प्र०)

॥श्रीहरि॥

'नीतिसार-अङ्क' की विषय-सूची

चित्र-सूची

(रंगीन-चित्र)

(सादे-चित्र)

(फरवरीके अङ्ककी विषय-सूची)

मङ्गलाचरण

प्रार्थना

स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।
पुनर्ददताघ्नता जानता स गमेमहि॥

हम अविनाशी एव कल्याणप्रद मार्गपर चले। जिस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा चिरकालसे नि सदेह होकर विना किसीका आश्रय लिये राक्षसादि दुष्टोसे रहित पन्थका अनुसरण कर अभिमत मार्गपर चल रहे हैं, उसी प्रकार हम भी परस्पर स्नेहके साथ शास्त्रोपदिष्ट अभिमत मार्गपर चले।

श नो द्यावापृथिवी पूर्वहूतौ शमन्तरिक्ष दृशये नो अस्तु।
श न ओषधीर्वनिनो भवन्तु श नो रजसस्पतिरस्तु जिष्णु ॥

द्युलोक और पृथ्वी हमारे लिये सुखकारक हो, अन्तरिक्ष हमारी दृष्टिके लिये कल्याणप्रद हो, ओषधियाँ एव वृक्ष हमारे लिये कल्याणकारक हो तथा लोकपति इन्द्र भी हमे शान्ति प्रदान करे।

श न सूर्य उरुचक्षा उदेतु श नश्चतस्त्र प्रदिशो भवन्तु।
श न पर्वता ध्रुवयो भवन्तु श न सिन्धव शमु सन्त्वाप ॥

विस्तृत तेजसे युक्त सूर्य हम सबका कल्याण करता हुआ उदित हो। चारो दिशाएँ हमारा कल्याण करनेवाली हो। अटल पर्वत हम सबके लिये कल्याणकारक हो। नदियाँ हमारा हित करनेवाली हो और उनका जल भी हमारे लिये कल्याणप्रद हो।

श नो अदितिर्भवतु व्रतेभि श नो भवन्तु मरुत स्वर्का।
श नो विष्णु शमु पूषा नो अस्तु श नो भवित्र शम्वस्तु वायु ॥

अदिति हमारे लिये कल्याणप्रद हो, मरुद्गण हमारा कल्याण करनेवाले हो। विष्णु और पुष्टिदायक देव हमारा कल्याण करे तथा जल एव वायु भी हमारे लिये शान्ति प्रदान करनेवाले हो।

श नो देव सविता त्रायमाण श नो भवन्तूषसो विभाती।
श नो पर्जन्यो भवन्तु प्रजाभ्य श न क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भु ॥

रक्षा करनेवाले सविता हमारा कल्याण करे, सुशोभित होती हुई उषादेवी हमे सुख प्रदान करे, वृष्टि करनेवाले पर्जन्यदेव हमारी प्रजाओके लिये कल्याणकारक हो और क्षेत्रपति शम्भु भी हम सबको शान्ति प्रदान करे।

श नो देवा विश्वेदेवा भवन्तु श सरस्वती सह धीभिरस्तु।

सभी देवता हमारा कल्याण करनेवाले हो बुद्धि प्रदान करनेवाली देवी सरस्वती भी हम सबका कल्याण करे।

युक्तेन मनसा वय देवस्य सवितु सवे। स्वर्ग्याय शक्त्या॥

हमारा मन निरन्तर भगवान् सविताकी आराधनामे लगा रहे और हम भगवत्प्राप्तिजनित अनुभूतिके लिये पूर्ण शक्तिसे प्रयत्नशील रहे।

नीतिके अधिष्ठातृदेवोंकी वन्दना

पितामह ब्रह्मा

नमोऽस्त्वनन्ताय विशुद्धचेतसे स्वरूपरूपाय सहस्रबाहवे।
सहस्ररश्मिप्रभवाय वेधसे विशालदेहाय विशुद्धकर्मणे॥
समस्तविश्वार्तिहराय शम्भवे समस्तसूर्यानलतिग्मतेजसे।
नमोऽस्तु विद्याविततायचक्रिणे समस्तधीस्थानकृते सदा नमः॥

(पद्मपुराण सृष्टिखण्ड ३४। ९८-९९)

जिनका कभी अन्त नहीं होता, जो विशुद्ध चित्त और आत्मस्वरूप हैं, जिनकी हजारों भुजाएँ हैं, जो सहस्र किरणवाले सूर्यकी भी उत्पत्तिके कारण हैं, जिनका शरीर विशाल और जिनके कर्म अत्यन्त शुद्ध हैं, उन सृष्टिकर्ता ब्रह्माजीको नमस्कार है। जो समस्त विश्वकी पीडा हरनेवाले, कल्याणकारी सहस्रों सूर्य और अग्निके समान प्रचण्ड तेजस्वी, सम्पूर्ण विद्याओंके आश्रय, चक्रधारी तथा समस्त ज्ञानेन्द्रियोंको व्याप्त करके स्थित हैं, उन परमेश्वर (ब्रह्माजी)-को सदा नमस्कार है।

भगवान् शङ्कर

(ॐ) नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च॥

कल्याण एवं सुखके मूल स्रोत भगवान् शिवको नमस्कार है। कल्याणके विस्तार करनेवाले तथा सुखके विस्तार करनेवाले भगवान् शिवको नमस्कार है। मङ्गलस्वरूप और मङ्गलमयताकी सीमा भगवान् शिवको नमस्कार है।

देवराज इन्द्र

वज्रस्य भर्ता भुवनस्य गोप्ता
वृत्रस्य हन्ता नमुचेर्निहन्ता।
कृष्णे वसानो वसने महात्मा
सत्यानृते यो विविनक्ति लोके॥
यो वाजिनं गर्भमपां पुराणं
वैश्वानरं वाहनमभ्युपैति।
नमोऽस्तु तस्मै जगदीश्वराय
लोकत्रयेशाय पुरन्दराय॥

(महा० आदि० ३। १४८-१४९)

जो महात्मा वज्र धारण करके तीनों लोकोंकी रक्षा करते हैं, जिन्होंने वृत्रासुरका वध तथा नमुचि दानवका संहार किया है, जो काले रंगके दो वस्त्र पहनते और लोकमें सत्य एवं असत्यका विवेक करते हैं, जलसे प्रकट हुए प्राचीन वैश्वानररूप अश्वको वाहन बनाकर उसपर चढ़ते हैं एवं जो तीनों लोकोंके शासक हैं, उन जगदीश्वर पुरन्दरको मेरा नमस्कार है।

भगवान् श्रीराम

ॐ नमो भगवते उत्तमश्लोकाय नम आर्यलक्षणशीलव्रताय नम उपशिक्षितात्मन उपासितलोकाय नमः साधुवादनिकषणाय नमो ब्रह्मण्यदेवाय महापुरुषाय महाराजाय नम इति॥ (श्रीमद्भा० ५। १९। ३)

हम ॐकारस्वरूप पवित्रकीर्ति भगवान् श्रीरामको नमस्कार करते हैं। आपमें सत्पुरुषोंके लक्षण, शील और आचरण विद्यमान हैं, आप बड़े ही संयतचित्त, लोकाराधनतत्पर, साधुताकी परीक्षाके लिये कसौटीके समान और अत्यन्त ब्राह्मणभक्त हैं। ऐसे महापुरुष महाराज रामको हमारा पुनः-पुनः प्रणाम है।

भगवान् श्रीकृष्ण

श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्ण्यृषभावनिध्रुग्-
राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य।
गोविन्द गोद्विजसुरार्तिहरावतार
योगेश्वराखिलगुरो भगवन् नमस्ते॥

(श्रीमद्भा० १। ८। ४३)

श्रीकृष्ण! अर्जुनके प्यारे सखा यदुवंशशिरोमणि! आप पृथ्वीके भाररूप राजवेशधारी दैत्योंको जलानेके लिये अग्निस्वरूप हैं। आपकी शक्ति अनन्त है। गोविन्द! आपका यह अवतार गौ, ब्राह्मण और देवताओंका दुःख मिटानेके लिये ही है। योगेश्वर! चराचरके गुरु भगवन्! आपको नमस्कार है।

देवगुरु बृहस्पति

देवानां च ऋषीणां च गुरुं काञ्चनसंनिभम्।
बुद्धिभूतं त्रिलोकेशं तं नमामि बृहस्पतिम्॥

जो सभी देवताओं और ऋषियोंको ज्ञान प्रदान करनेवाले हैं, जिनकी कान्ति सुवर्णके समान पीत है, जो बुद्धिके अधिष्ठाता एवं तीनों लोकोंके स्वामी हैं, उन बृहस्पतिजीको नमस्कार है।

शुक्राचार्य

हिमकुन्दमृणालाभं दैत्यानां परमं गुरुम्।
सर्वशास्त्रप्रवक्तारं भार्गवं प्रणमाम्यहम्॥

जो बर्फ, कुन्द-पुष्प तथा मृणालके समान श्वेत एवं हरित कान्तिवाले हैं, दिति-पुत्रोंके परम गुरु हैं तथा सभी शास्त्रोंका उपदेश करनेवाले हैं, ऐसे महर्षि भृगुके पुत्र शुक्राचार्यजीको मैं प्रणाम करता हूँ।

सम्पूर्ण नीतियोका सार 'भगवत्प्राप्ति'

'नीतिरस्मि जिगीषताम्' 'विजयकी इच्छा रखनेवालाके लिये मैं नीतिस्वरूप हूँ'—श्रीमद्भगवद्गीतामे भगवान् श्रीकृष्णकी यह उक्ति बडी मार्मिक और महत्त्वकी है। भव (ससार)-सागरका पारकर लक्ष्यको प्राप्त कर लेना जीवनकी विविध जटिलताओपर विजय प्राप्त करना ही है और जो लोग यह विजय प्राप्त करना चाहते है, उनके लिये प्रभु स्वय नीतिस्वरूप है—यह भगवान्की वाणी है।

अब प्रश्न उठता है कि नीतिका अर्थ क्या है? मनुष्य-जीवनके वास्तविक लक्ष्यको प्राप्त करनेके लिये साधनरूपमे जिन बातोकी आवश्यकता है वस्तुत उसीका नाम नीति है।

धर्म अर्थ, काम तथा मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों तथा इन्हे प्राप्त करनेके उपायोका निर्देश जिसके द्वारा अथवा जिसमे होता है, उसे नीति कहते हैं। मानव यदि नीतिवचनोके अनुसार व्यवहार करता है तो अपना अभीष्ट फल प्राप्त करता है और यदि नीतिविरुद्ध आचरण करता है तो असफल हो जाता है—यह बात अनुभवसिद्ध है।

वास्तवमे नीतिशास्त्रका अर्थ है 'कर्माकर्मविवेक'। समाजमे व्यक्ति परिवार जाति वर्ग, राष्ट्र आदि भिन्न-भिन्न घटक होते हैं। उसमे व्यक्ति समाज, जाति, सस्था आदिको परस्पर कैसा व्यवहार करना चाहिये, कैसे रहना चाहिये इस सम्बन्धमे कतिपय विशेष नियम होते हैं, जिन्हे 'नीतिशास्त्र' कहते हैं।

राज्यके सर्वविध अभ्युदयके लिये राजनीति धार्मिक अभ्युदयकी प्राप्तिके लिये धर्मनीति और जीवनके विविध क्षेत्रोमे सफलता प्राप्त करनेके लिये व्यवहारनीति, समृद्धिके लिये अर्थनीति इसी प्रकार प्रबल आततायी तथा धूर्त शत्रुपर विजय पानेके लिये कूटनीति आदिके उल्लेख शास्त्रोमे उपलब्ध हैं।

ससारका प्रत्येक प्राणी सुखकी आकाक्षा रखता है और नीतिका आश्रयण भी वह अपने सुखके लिये ही करता है। कोई भी अपनी विपत्तिके लिये नीतिको नहीं अपनाता। नीतिशास्त्रके महान् विद्वान् चाणक्यका पहला वाक्य है—'सुखस्य मूल धर्म' सुखका मूल आधार धर्म है। इसलिये सर्वोत्तम नीति धर्माचरण ही है। धर्म केवल इसी शरीरके लिये नहीं है अपितु देहत्यागके बाद भी धर्म साथ रहता है। बृहदारण्यकोपनिषद्के मैत्रेयी-याज्ञवल्क्य-सवादमे बताया गया है—'सबसे बढकर प्रिय आत्मा है और आत्माके प्रियका साधन धर्म है।' इस तत्त्वको जिस प्रकार सरल-सुगम रूपसे समझानेका उपाय किया जाय, वही नीति है। तात्कालिक लाभको प्राप्त करना ही नीति नहीं है। सही नीति वह है जिससे वर्तमान और भविष्यत्कालमे भी अनिष्टकी सम्भावना न हो। जो ऊपरकी ओर ले जाय वह नीति है। चाणक्यने कहा है कि इसके विपरीत जो ले जाय वह नीति नहीं दुर्नीति है।

ऋग्वेदमे नीतिशब्दका प्रयोग अभीष्ट फलकी प्राप्तिके लिये हुआ है, उसमे मित्र और वरुणसे प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि वे हमे ऋजु अर्थात् सरल अथवा अकुटिल नीतिसे अभीष्टकी सिद्धि करायें—'ऋजुनीती नो वरुणो मित्रो नयतु विद्वान्' (ऋक् १।९०।१)। ब्रह्मवैवर्तपुराण (११५।१३)-मे नीतिको परिभाषित करते हुए कहा गया है कि जो चर्चा सत्य हित और परिणाममे सुख देनेवाली है वही नीति है।

महर्षि वेदव्यास नीतिशास्त्रको इस भूमण्डलका अमृत उत्तम नेत्र तथा श्रेयप्राप्तिका सर्वोच्च उपाय मानते है। समाजको स्वस्थ एव सतुलित पथपर अग्रसर करने एव व्यक्तिका धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी उचित रीतिसे प्राप्ति करानेके लिये जिन विधि या निषेधमूलक वैयक्तिक और सामाजिक नियमोका विधान देश-काल और पात्रके सदर्भमे किया जाता है उसे नीति कहते है। दूसरे शब्दोमे व्यवहारकी वह रीति जिससे अपना हित हो एव दूसरोको कष्ट या हानि न पहुँचे नीति कहलाती है। ये वे नियम हैं जिनपर चलनेसे मनुष्यका ऐहिक आमुष्मिक तथा सर्वविध कल्याण होता है समाजमे सतुलन और स्थिरता बनी रहती है तथा सभी प्रकारसे अभ्युदयका मार्ग प्रशस्त होता है। भाव यह है कि उचित व्यवहारका नाम नीति है, इसीसे कर्तव्याकर्तव्यका बोध होता है, धर्ममे रति तथा अधर्ममे विरति इसी बोधकी देन है।

धर्म मानवमात्रका एक ऐसा उचित कर्तव्य है जिसका पालन करनेसे व्यक्ति समाज राष्ट्र तथा सम्पूर्ण लोकोकी स्थिति सत्ता अक्षुण्ण बनी रहती है तथा जिससे मानव इस लोकमे अभ्युदय तथा परलोकमे परमात्माकी प्राप्तिरूप नि श्रेयसको प्राप्त करते हैं। 'यतोऽभ्युदयनि श्रेयससिद्धि स धर्म' यहाँ अभ्युदयका तात्पर्य है लौकिक जीवनमे उन्नति करना। नि श्रेयसका अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये—श्रेयस्का अर्थ है कल्याण जिस कल्याणसे बढकर दूसरा कोई बडा या अधिक महत्त्वका कल्याण

न हा उस सर्वश्रेष्ठ या सर्वोपरि कल्याणको नि श्रयस कहते हैं। सर्वश्रेष्ठ कल्याण है—'माक्ष', अर्थात् जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्ति। यदि प्राणी मानव-जन्म लेकर भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सका तो उसने जीवन व्यर्थ ही गँवाया। वह 'पुनरपि जनन पुनरपि मरण पुनरपि जननीजठरे शयनम्' के चक्करम पडा रहेगा। भारतकी यही विशेपता है कि यहाँ धर्मको प्रधानता दी गयी है, कारण कि धर्मका सीधा सम्बन्ध मोक्षसे है। धर्मसे अविरुद्ध काम ओर अर्थका सेवन करता हुआ मानव यहाँ मोक्ष प्राप्त कर लेता हे। इसलिये सर्वतोभावेन सबको धर्मका पालन करना चाहिय।

धर्मशास्त्रने नीति-नियमाको विशेप महत्त्व प्रदान किया है। अत वद उपनिपद्, रामायण महाभारत, स्मृति एव पुराणादिम नीति-तत्त्वका कथन विशेपरूपसे हुआ है।

प्राचीन शास्त्रकाराके मतानुसार धर्म एव नीतिका अद्वैत (एक्य) हैं। धर्म और नीतिके परिपालनक बिना कोई भी पुरुपार्थ सिद्ध नहीं हाता—एसा उनका सिद्धान्त है। महर्पि व्यास एव महर्पि वाल्मीकि-जैसे महाकवि श्रीराम और श्रीकृष्ण-जैसे भगवदीय अवतारी पुरुपपुगव तथा सीता सावित्री अनसूया-जैसी महान् पतिव्रता नारियाँ एव जनक रघु, पृथु, पूरु बलि जैसे राजर्पि, ध्रुव-प्रह्लाद-जैसे भगवद्भक्त कपिल, पतञ्जलि, कणाद, गौतम-जैसे तत्त्ववेत्ता बुद्ध महावीर आदिशकराचार्य जैसे भगवदीय धर्मगुरु—इनके उदात्त चरित प्राचीन भारतके नीति-आदर्श माने गये हे।

चूँकि मनुष्यका अन्तिम प्राप्तव्य (लक्ष्य) मोक्ष बताया गया है। जन्म-मृत्यु-चक्रसे विमुक्त होना ही मोक्ष है। यह भी कहते हैं कि कर्मसे मनुष्य वद्ध होता हैं और परमेश्वरकी कृपासे किवा परमार्थज्ञानसे मनुष्य मुक्त होता है। ज्ञान तथा कृपा केवल बौद्धिक ज्ञानसे किवा तर्कसे प्राप्त नहीं होते। उनके लिये तो मनुष्यको विवेक वैराग्य तप, मनोनिग्रह, वासनाक्षय इत्यादिकी आवश्यकता हाती है। यही नीतिकी नींव है। मनुष्य धम-नीतिका आश्रय ग्रहण करके सुसस्कृत हुआ है। यह वेदादि ग्रन्थाके अनुशीलनसे प्रतीत होता है—

अनुव्रत पितु पुत्रो मात्रो भवतु समना ।
जाया पत्ये मधुमर्ती वाच वदतु शन्तिवाम्॥
मा भ्राता भ्रातर द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्च सव्रता भूत्वा वाच वदत भद्रया॥

(अथर्व० ३।३०।२-३)

अर्थात् पुत्रको पितृव्रतका और माताकी आज्ञाका पालन करना चाहिय, पत्नीका पतिसे मृदु एव मधुर वाणीम बोलना चाहिये। भाईको भाईसे तथा बहनको बहनस विद्वेप नहीं करना चाहिये, परस्पर प्रेम रखकर ओर समान-व्रत धारण करके भद्र (कल्याणकारी) वाणीस बालना चाहिये। सहकारी सगठन एव समता इत्यादिका नीतिपूण उपदश वेदद्वारा इस प्रकार दिया गया ह—

'स गच्छध्व स वदध्व स वो मनासि जानताम्'

(ऋक्० १०।१९१।२)

अर्थात् तुम मिलकर चलो एक साथ हाकर स्तोत्र-गान करो, तुम्हारे मनोभाव एकरूप हा।

'समानी व आकूति समाना हृदयानि व '

(ऋक्० १०।१९१।४)

अर्थात् तुम्हारा अध्यवसाय (निश्चय) एक हा तुम्हारा हृदय भी एक हो। कठापनिपद् (१।१) यह मदश देता है—

'सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै'।

अर्थात् परमात्मा हम दानोका रक्षण कर, हम दानाका पालन करें, हम दोनाको एक ही समय सामर्थ्य-सम्पादन कराय।

ऐस अनेक नीति-वचन वेदवाङ्मयम प्रदर्शित है।

नीति-पालनका तात्पर्य यह है कि परिवार स्वसमाज और स्वराष्ट्रके उस पार दृष्टिक्षेप करके हम अखिल मानव-जाति तथा प्राणिमात्रसे प्रेमका व्यवहार कर, विश्वबन्धुत्वका उदात्तभाव रख तथा सभीक साथ मेत्री कर।

ऐसा अत्यन्त विशाल और उदार मनोभाव प्राचीन ऋपियोने अभिव्यक्त किया है। प्राणिमात्रक प्रति में मित्रभावसे ही देखूँ और मेरे मनसे सभी अपवित्र विचार-शृङ्खलाएँ नष्ट हो जायँ, मेरे मनम किसीके भी विपयम शत्रुभाव न हो कोई बडा हो अथवा छाटा हो—मेरा स्नेहभाव उनपर सदा हो ऐसी प्रशस्त नीतिकी प्रार्थना वेदम की गयी है।

नीतिकारोने सत्यवचन तथा मृदुभापणपर अत्यधिक बल दिया है। सत्य जीवनका वह अकाट्य धर्म ह, जिसन मनुष्यको सामाजिक तथा व्यावहारिक जीवनम प्रतिष्ठा प्रदान की है। साथ ही परलोकका मार्ग भी प्रशस्त किया है। मुण्डकोपनिपद्का उद्घोप ह—'सत्यमेव जयति नानृतम्' विजय सत्यकी होती है असत्यकी नहीं।

आचार्य चाणक्य ता यहाँ तक कहत हे—

सत्येन धार्यते पृथ्वी सत्येन तपते रवि ।
सत्येन वाति वायुश्च सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥

(चाणक्यनीति ५।१९)

अर्थात् पृथ्वीमे धारण करनेकी क्षमता सत्यसे ही आती

है सत्यके कारण ही सूर्य तपता है, सत्यके बलपर ही वायुका सचरण होता है तथा सर्वस्वकी प्रतिष्ठा सत्यमें ही है।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी कहते हैं *'धरमु न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना॥'* अन्यत्र उनकी अभिव्यक्ति है *'सत्यमूल सब सुकृत सुहाए। बेद पुरान बिदित मनु गाए॥'*

कबीरदासकी मान्यता है कि सत्यके बराबर कोई तप नहीं। झूठके बराबर कोई पाप नहीं। *'साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।'* तथा जिसके हृदयमें सत्यका वास है वहाँ भगवान्‌का निवास है—*'जाके हिरदै साँच है, ताके हिरदै आप'*।

कवियोंके नीति-वचनोंमें वाणीकी मधुरतापर भी पर्याप्त बल दिया गया है। कबीरदासजीका आग्रह है कि *'ऐसी बानी बोलिये, मन का आपा खोय। औरन को सीतल करे, आपहु सीतल होय॥'* उनकी दृष्टिमें *'मधुर वचन है ओषधी कटुक बचन है तीर'* यह तीर (कटु वचन) प्रवेश तो श्रवणद्वारसे करता है किंतु सालता है सम्पूर्ण शरीरको—*'श्रवण द्वार ह्वै संचरै सालै सकल सरीर'*।

हिन्दीके नीतिकारोंने आत्मिक उन्नतिपर भी पर्याप्त बल दिया है। इस क्रममें उन्होंने उन दोषोंकी चर्चा भी की है जो आत्मिक उन्नतिमें बाधक हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद आदि ऐसे ही दुर्गुण हैं। कबीरदासजीकी उक्ति है—*'काम क्रोध मद लोभ की, जब लगि घट मैं खान। कहा मूरख कहा पंडिता, दोनों एक समान॥'*

कबीरदासजी कहते हैं कि जबतक मनका मैल साफ नहीं होगा तबतक नहाना-धोना व्यर्थ है। मछली सदैव पानीमें रहती है फिर भी उसकी दुर्गन्ध नहीं जाती—*'न्हाये धोये का भया जो मन मैल न जाय। मीन सदा जल में रहै धोये बास न जाय॥'*

नीतिके सिद्धान्तोंके अनुपालनसे मनकी निर्मलता सहज ही प्राप्त हो जाती है। मन निर्मल हो जाय, अन्तःकरण पवित्र हो जाय तो फिर आत्मकल्याण स्वयं ही सध जायगा।

आत्मकल्याणका संदेश प्रदान करनेवाले उपनिषदोंको तो नीति-सूक्तोंका भण्डार ही माना गया है। तैत्तिरीय उपनिषद्में विद्या पूर्ण करके स्वगृह जानेवाले स्नातकको गुरु उपदेश करते हैं—'सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः'—अर्थात् सत्य बोलो, धर्मका आचरण करो, स्वाध्यायमें प्रमाद मत करो। 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव'—मातामें देवबुद्धि रखनेवाले बनो, पितामें देवबुद्धि रखनेवाले बनो, आचार्यमें देवबुद्धि रखनेवाले बनो तथा अतिथिमें देवबुद्धि रखनेवाले बनो। इसी प्रकार अन्य उपदेशोंमें कहा गया है—'सम्पत्तिका गर्व मत करो', 'अनिन्द्य एवं पुण्यकारक कर्म ही करो', 'सदाचारका अनुपालन करो।'

इन श्रुतिवचनोंमें नीतितत्त्वका सार समाहित है।

कठोपनिषद्में एक विशिष्ट नीतिवचनद्वारा बताया गया है कि इन्द्रियसुखरूप प्रेयमार्ग छोड़कर शाश्वत सुख-शान्तिका नैतिक श्रेयमार्ग मनुष्यको ग्रहण करना चाहिये। यह श्रेयमार्ग ही भगवत्प्राप्तिका राजपथ है, जिसपर चलनेसे सर्वविध कल्याण निश्चित है। अतः प्रत्येक मानवको इसे स्वीकार करना चाहिये।

नीतिशास्त्रके उद्भावक लोकपितामह ब्रह्मा, प्रतिष्ठापक भगवान् विष्णु और प्रवर्तक भगवान् सदाशिव शङ्कर हैं।

नीतिशास्त्रके उद्भावक ब्रह्माजीके नीतिवचन

पितामह ब्रह्मा भगवल्लीलाके मुख्य सहचर हैं। भगवद्धर्मको जाननेवाले आचार्योंमें ब्रह्माजीका नाम सर्वप्रथम है। पितामह ब्रह्माजीने अपने आचरणोंसे जो नीतिका पाठ हमें पढ़ाया वह बहुत ही महत्त्वका है। ब्रह्माजीने देवर्षि नारदको अपने हृदय एवं मनकी स्थितिके विषयमें बताते हुए कहा—

'मेरी वाणी कभी असत्यकी ओर प्रवृत्त नहीं होती। मेरा मन कभी असत्यकी ओर नहीं जाता, मेरी इन्द्रियाँ कभी असन्मार्गकी ओर नहीं झुकतीं, क्योंकि मैं हृदयमें सदा ही बड़ी उत्कण्ठासे श्रीहरिको धारण किये रहता हूँ।' इस प्रकार ब्रह्माजीने अपनी स्थितिके द्वारा यही सर्वोत्तम संदेश दिया है कि वाणीसे असत्य-भाषण न हो, मन कुमार्गपर न जाय, इन्द्रियाँ विषयोंमें प्रवृत्त न हों, इसका एकमात्र उपाय है कि भगवान्‌को उत्कण्ठापूर्वक हृदयमें धारण कर लिया जाय, चित्तको सब प्रकारसे उन सर्वेश्वर प्रभुमें ही लगाये रखा जाय। इसी प्रकार एक बड़ी ही सुन्दर और उपयोगी बात बताते हुए ब्रह्माजी कहते हैं कि तभीतक राग-द्वेष आदि चोर पीछे लगे हुए हैं, तभीतक घर कारागारकी तरह बाँधे हुए है और तभीतक मोहकी बेड़ियाँ पैरोंमें पड़ी हैं, जबतक यह जीव भगवान्‌की शरणमें नहीं जाता, भगवान्‌का नहीं हो जाता—

तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।३६)

इस प्रकार ब्रह्माजीने अपनी संतानोंको सदा ही नीतिपरायण रहते हुए भगवन्मार्गपर चलनेकी प्रेरणा प्रदान की है।

सदाके लिये सुखी होनेका उपाय—ब्रह्माजी अपनी प्रजाको उपदेश देते हुए बताते हैं कि जो अपनी सम्पूर्ण कामनाओंपर

विजय प्राप्त कर लता है, वह सदाक लिय सुखी हा जाता है, क्याकि कामनाएँ दु ख और बन्धनकी हतु हैं। जेस कछुआ अपन अङ्गाको सब आरसे समट लेता है उसी प्रकार जा विद्वान् मनुष्य अपनी सम्पूर्ण कामनाआको सब ओरस सकुचित करक रजागुणस रहित हो जाता ह, वह सब प्रकारक बन्धनासे मुक्त एव सदाक लिये सुखी हा जाता ह। (महा० आश्व० ४२। ४६)

गृहस्थको क्या करना चाहिये—पितामह ब्रह्मा गृहस्थाश्रमका सभी आश्रमाका उपकारक बतात हुए कहत हैं—गृहस्थको चाहिय कि वह सदा सत्पुरुपाकी आचारनीतिका पालन करे, अपनी ही स्त्रीसे प्रम रखे, जितन्द्रिय रह, पञ्चमहायज्ञ करे, दवता आर अतिथियाको देनके बाद जा शेप बचे उसी अन्नका ग्रहण करे। वदविहित कर्मोको कर, शक्तिके अनुसार प्रसन्नतापूर्वक यज्ञ करे दान द।

गाहिंसा महान् पाप है—ब्रह्माजी गायाकी सेवाको सर्वोपरि महत्त्व देते हुए हम गासवा करनकी नीति वताते हैं। इसके विपरीत जा गायाकी हत्या करत हैं उनका मास खात हैं अथवा जो स्वाथवश गायको मारनेकी सलाह दत हैं, वे सभी महान् पापके भागी हात हैं। गायाकी हत्या करनवाले, उनका मास खानेवाले तथा गाहत्याका अनुमोदन करनेवाल लोग गोके शरीरम जितने रोएँ हाते हैं उतन वर्षोतक नरकम डूबे रहत है।

ब्रह्माजी देवराज इन्द्रसे कहते हैं कि जो गासेवाका व्रत लनेवाला पुरुप गौआपर दया करता है और प्रतिदिन एक समय भाजन करक दूसरे समयका अपना भाजन गोआको देता है—इस प्रकार दस वर्पतक गोसवाम तत्पर रहनेवाला वह पुरुप अनन्त सुख प्राप्त करता हे—

यदकभक्तमश्नीयाद् दद्यादेक गवा च यत्।
दशवर्पाण्यनन्तानि गाव्रती गाऽनुकम्पक ॥

(महा० अनु० ७३। ३१)

निष्काम कर्मानुष्ठानसे ब्रह्मभावकी प्राप्ति—पितामह ब्रह्माजी अपनी प्रजाको बतात हैं कि निष्कामभावसे कर्म करते हुए उन्हं भगवान्‌को अपण कर दना चाहिये क्याकि 'मम' यह मेरा है ऐसा भाव रखनेस बन्धन हाता है ओर बन्धन मृत्युरूप है। इसक विपरीत 'न मम'—यह मरा नहीं है—ऐसा भाव रखनेसे कर्तापनका अभिमान भी नहीं रहता आर आसक्ति भी दूर हो जाती है। इसस उस सनातन ब्रह्मकी प्राप्ति हा जाती है—

द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षर ब्रह्म शाश्वतम्।
ममति च भवेन्मृत्युर्न ममति च शाश्वतम्॥

(महा० आश्व० ५१। २९)

भगवान् विष्णुद्वारा नीतिकी शिक्षा

नीतिशास्त्रके प्रतिष्ठापक भगवान् विष्णु लोक-परलोकको शिक्षा देनेक लिये अवतरित हाते ह आर अपन आचरणद्वारा ससारको रहनी-करनी और रीति-नीति सिखात हें। परलोकज्ञान तथा लोकज्ञानकी जितनी विद्याएँ एव शास्त्र हें उनक मूलरूप नारायण ही हें। सदाचार और नीतिक तो आप मूर्तिमान् स्वरूप ही हें।

धर्माचरण ही सदा सहायक होता है—भगवान् विष्णु मनुष्याको सावधान करत हुए कहते हैं 'अरे मनुष्यो ! तुम लोग नित्य अपने मरत हुए बन्धु-बान्धवाको दखते हो ओर उनक लिय कबतक कान शाक करता है ? यह भी तुम्हार सामने ही है। मृत व्यक्तिक बन्धु-वान्धव थाडे समय शोक मनाकर कुछ क्रिया-कर्म करके प्राय उसे भूल जाते हैं। ससारम सबका परस्पर स्वार्थका ही सम्बन्ध है, कोई किसीका सहायक नहीं हे, धर्मको छोडकर बन्धु-बान्धव, नाते-रिश्ते, धन-सम्पत्ति पुत्र-पौत्र आदि कोई भी साथ नही देता। अत सच्चे सहायक धर्मका ही वरण करो वही इस लोक तथा परलाकम सर्वत्र कल्याण करनेवाला है। केवल धर्म ही प्राणाके साथ जाता है। इस सारहीन नश्वर ससारम अपने कल्याणके लिये शीघ्र ही धर्मका आश्रय ले लना चाहिय। धर्मके कार्यका कभी टालना नहीं चाहिये क्याकि मौत किसीकी प्रतीक्षा नहीं करती, वह यह नहीं दखती कि इसने कुछ धर्मकार्य किया है या नहीं। अत इस थाडा आर समय दे देना चाहिय। एमा हाता नहीं। काल (मृत्यु)-के लिये न काई प्रिय है आर न अप्रिय। आयुके क्षीण हा जानेपर वह बलात् प्राण हर लता है फिर उस कोई बचा नहीं सकता।'[1]

राजधर्म—राजाक मुख्य धर्मको वताते हुए भगवान् विष्णु कहते हैं—राजाका मुख्य कर्तव्य ह प्रजाका पालन

[1] दृष्ट्वा लोक समाक्रन्द म्रियमाणाश्च बान्धवान्। धर्ममेक सहायार्थं वरयध्व सदा नरा ॥
मृताऽपि बान्धव शक्तो नानुगन्तु नर मृतम्। जायावर्जं हि सर्जस्य याम्य पन्था विरुध्यते॥
श्व कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्ण चापराह्णिकम्। न हि प्रतीक्षते मृत्यु कृत वास्य न वाकृतम्॥
न कालस्य प्रिय कश्चिद् द्वेष्यश्चास्य न विद्यते। आयुष्यकर्मणि क्षीणे प्रसह्य हरत जनम्॥

(विष्णुधमशास्त्र अ० २०)

करना तथा वर्णाश्रमधर्मकी व्यवस्था करना। राजाका सदा यह देखते रहना चाहिये कि लोग अपने-अपने वर्ण तथा आश्रमके अनुसार अपने-अपने धर्मका परिपालन कर रहे या नहीं, नहीं तो इसके लिये यथोचित व्यवस्था करनी चाहिये—

प्रजापरिपालन वर्णाश्रमाणां स्वे स्वे धर्मे व्यवस्थापनम्।

(विष्णुधर्मशास्त्र अ० ३)

जो राजा प्रजाके सुखमें सुखी और प्रजाके दुःखमें दुःखी होता है तथा प्रजाका समुचित रूपसे पालन-पोषण रक्षण-वर्धन करते हुए उन्हें अपनी आत्माके समान समझता है ऐसा धार्मिक राजा इस लोकमें महान् सुकीर्ति प्राप्त करता है और परलोकमें परम प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। प्रजाका दुःख ही राजाके लिये सबसे भारी दुःख है—

प्रजासुखे सुखी राजा तद्दुःखे यश्च दुःखितः।
स कीर्तियुक्तो लोकेऽस्मिन् प्रेत्य स्वर्गे महीयते॥

इसी प्रकार जिस राजाके राज्यमें नगरमें कोई चोर नहीं होता न कोई परस्त्रीगामी होता है न कोई दुष्ट और परुषवाणी बोलनेवाला होता है न कोई बलात् धन हरण करनेवाला साहसिक (डाकू) लुटेरा होता है और न कोई दण्ड और न कोई दण्डविधानका उल्लंघन करनेवाला होता है—तात्पर्य है सभी लोग धार्मिक और सद्धर्माचरणका अनुष्ठान करनेवाले होते हैं वह राजा इन्द्रलोकको प्राप्त करता है और यह तभी सम्भव है जब राजा स्वयं परम धार्मिक हो—

यस्य चौरः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक्।
न साहसिकदण्डघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक्॥

इस प्रकार भगवान् विष्णुने राजाओंके लिये उत्तम नीतिका निर्धारण करके यह प्रतिपादित किया है कि राजा स्वयं धार्मिक प्रजावत्सल नीतिमान् तथा पराक्रमी हो और [illegible] प्रजाको धर्मकार्योंमें [illegible] रखे।

भगवान् शङ्करका नीतिविषयक ज्ञान

[illegible] सदाशिव भगवान् शङ्कर [illegible] आदि [illegible] हैं। [illegible] हैं, अपार करुणा और कृपा है उनका नाम ही [illegible] है। भगवान् शङ्कर बड़े [illegible] और नीति [illegible] [illegible]

बड़ा पाप है असत्य—'नास्ति सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकं परम्॥' (महा०, अनु० अ० १४१)

कर्मका साक्षी स्वयंको समझे—भगवान् शङ्कर बहुत ही मार्मिक बात बतलाते हुए कहते हैं—मनुष्यको चाहिये कि वह अपने शुभ अथवा अशुभ कर्ममें स्वयंको ही साक्षी मानें और मन वाणी तथा क्रियाद्वारा कभी भी पाप करनेकी इच्छा न करे, क्योंकि जीव जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल पाता है और अपने किये हुएका स्वयं फल भोगता है, दूसरा कोई उसे भोगनेका अधिकारी नहीं है—

यादृशं कुरुते कर्म तादृशं फलमश्नुते॥
स्वकृतस्य फलं भुङ्क्ते नान्यस्तद्भोक्तुमर्हति॥

(महा० अनु० अ० १४५)

सदा एक स्थितिमें रहे—भगवान् शिव बताते हैं कि मनुष्य-योनिमें उत्पन्न मानवके पास गर्भावस्थामें ही नाना प्रकारके दुःख और सुख आते रहते हैं। अतः मनुष्य सुख-दुःख—इन दोनों स्थितियोंमें सम (स्थिर)-बुद्धि बना रहे विचलित न हो—

सुखं प्राप्य न संहृष्येन्न दुःखं प्राप्य संज्वरेत्।

आसक्ति कैसे हटे—जीवको संसारके प्रति जो ममत्व बन जाता है, आसक्ति हो गयी है उसके छूटनेका एक सुगम उपाय भगवान् शङ्कर हमें इस प्रकार बताते हैं—जहाँ जिस व्यक्ति परिस्थिति घटना आदिमें आसक्ति हो रही है उसमें दोषदृष्टि करनी चाहिये और यह समझना चाहिये कि यह हमारे लिये अत्यन्त अनिष्टप्रद है और अभ्युदयमें बाधक है। धीरे-धीरे ऐसा करनेपर प्रभुकृपासे उसमें आरसे वैराग्य हो जायगा तथा भगवान्में मन लग जायगा—

दोषदर्शी भवेत् तत्र यत्र स्नेहः प्रवर्तते।
अनिष्टेनान्वितं पश्येद् यथा क्षिप्रं विरज्यते॥

तृष्णाके समान कोई दुःख नहीं—भगवान् शङ्कर [illegible] देते हुए कहते हैं कि तृष्णाके समान कोई दुःख नहीं है और त्यागके समान कोई सुख नहीं है। [illegible] कामनाओंका परित्याग करके मनुष्य ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है—

नास्ति तृष्णासमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम्।
सर्वान् कामान् परित्यज्य ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

गृहस्थके लिये कार्यनीतिका निर्धारण—भगवान् [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] [illegible]

कर रखा है, जो सरलतापूर्ण व्यवहार करता है और समस्त प्राणियाका हितैषी है, जिसको अतिथि प्रिय हैं, जो क्षमाशील है, जिसने धर्मपूर्वक धनका उपार्जन किया है—एसे गृहस्थके लिय अन्य आश्रमोकी क्या आवश्यकता है—

शीलवृत्तविनीतस्य निगृहीतेन्द्रियस्य च।
आर्जवे वर्तमानस्य सर्वभूतहितैषिण ॥
प्रियातिथेश्च क्षान्तस्य धर्मार्जितधनस्य च।
गृहाश्रमपदस्थस्य किमन्यै कृत्यमाश्रमै ॥

(महा०, अनु० अ० १४१)

महान् आश्चर्य—भगवान् शङ्कर भगवती पार्वतीस कहते हैं—देवी। यह महान् आश्चर्यकी बात है कि मनुष्याकी इन्द्रियाँ प्रतिक्षण जीर्ण हो रही हैं आयु नष्ट होती जा रही है आर मौत सामने खडी है, फिर भी लागाका दु खदायी सासारिक भोगाम सुख भास रहा है, जन्म-मृत्यु और जरासम्बन्धी दु खासे सदा आक्रान्त होकर ससारम मनुष्य पकाया जा रहा है ता भी वह पापसे उद्विग्न नहीं हो रहा है—

जन्ममृत्युजरादु खै सतत समभिद्रुत ।
ससारे पच्यमानस्तु पापान्नोद्विजते जन ॥

इस प्रकारका नीतिबाध प्रदान कर भगवान् शङ्कर मनुष्याका सदा सन्मार्गपर चलने अपने विहित कर्तव्यकर्मोको करते हुए भगवान्का सतत याद रखन और उन्ह कभी न भूलनेका सदेश हम प्रदान करते हे।

देवराज इन्द्रका नीति-तत्त्व-रहस्य

वेदाम देवताआके राजा इन्द्रकी महिमाका विशपरूपसे वर्णन हुआ हे। एक वारकी वात है जब नीतिधर्मोक उच्छेदक वृत्रासुरका वध करके देवराज इन्द्र इन्द्रलोकम लौट तो उस समय सभी देवताआ और महर्षियाने उन्हे बहुत सम्मानित किया। उसा समय उनके सारथि मातलिने हाथ जोडकर उनसे पूछा—भगवन्। जो सबके द्वारा वन्दित होते है, उन समस्त देवताआम आप अग्रगण्य हैं परतु आप भी इस जगत्मे जिन महापुरुषाको नीतिधर्मतत्त्वज्ञाको प्रणाम करते हैं वे कौन है, बतलानेकी कृपा करे।

इसपर देवराज इन्द्र बोले—मातले। धर्म अर्थ और कामका चिन्तन करत हुए भी जिनकी बुद्धि अधर्मम नहीं लगती में प्रतिदिन उन्हींको नमस्कार करता हूँ—

धर्मे चार्थे च कामे च येषा चिन्तयता मति ।
नाधर्मे वर्तते नित्य तान् नमस्यामि मातले॥

(महा० अनु० ९६)

हे मातले। जो अपनेको प्राप्त हुए भोगाम ही सतुष्ट हैं दूसरास अधिककी इच्छा नहीं रखते हैं, जो सुन्दर वाणी वालते है और वोलनम कुशल ह जिनम अहङ्कार तथा कामनाका सर्वथा अभाव है तथा जा सवस पूजा पानयाग्य ह उन्ह म नमस्कार करता हूँ—

स्वेषु भोगेषु सतुष्टा सुवाचो वचनक्षमा ।
अमानकामाश्चार्घ्यार्हास्तान् नमस्यामि मातल॥

तीर्थोकी महिमा—देवराज इन्द्रने गङ्गादि तीर्थोम श्रद्धा-भक्तिपूर्वक स्नान—अवगाहन करनेकी प्ररणा प्रदान की हैं इतना ही नहीं वे कहते हैं कि तीर्थोका मन-ही-मन स्मरण करक सामान्य जलम भी उन तीर्थोकी भावना करनेसे उन तीर्थोम जाकर स्नान करनेका फल प्राप्त हो जाता ह। मनुष्यको चाहिये कि वह कुरुक्षेत्र, गया, गङ्गा, प्रभास और पुष्कर क्षेत्रका मन-ही-मन चिन्तन करक जलम स्नान कर ऐसा करनसे वह पापसे उसी प्रकार मुक्त हो जाता ह जेमे चन्द्रमा राहुके ग्रहणसे—

कुरुक्षेत्र गया गङ्गा प्रभास पुष्कराणि च।
एतानि मनसा ध्यात्वा अवगाहेत् ततो जलम्।
तथा मुच्यन्ति पापेन राहुणा चन्द्रमा यथा॥

(महा०, अनु० १२५।४८-४९)

सबसे बड़ा तीर्थ गोसेवा—देवराज इन्द्र बतात ह कि गौआम सभी तीर्थ प्रतिष्ठित है, जो मनुष्य गायकी पीठ छूता है ओर उसकी पूँछको नमस्कार करता हे वह मानो तीर्थोम तीन दिनातक उपवासपूर्वक रहकर स्नान कर लेता हे—

त्र्यह स्नात स भवति निराहारश्च वर्तते।
स्पृशते यो गवा पृष्ठ वालधि च नमस्यति॥

इस प्रकार सक्षेपम देवराज इन्द्रने अप्रत्यक्ष-रूपसे जो नीति-धर्मका उपदेश दिया वह बडा ही कल्याणकारी है।

देवगुरु बृहस्पतिका नीतिविषयक सदेश

आचार्य बृहस्पति दवताआक भी गुरु ह। नीतिके आचार्योमे महामति बृहस्पतिजीका विशेष स्थान है। बृहस्पतिजीके मतम भगवन्नामका सतत स्मरण ही सर्वोपरि कल्याणकारी नीति है जो मनुष्य इसका अवलम्बन ल लता है फिर उसके लिये भगवद्धाम दूर नहीं रहता—

सकृदुच्चरित येन हरिरित्यक्षरद्वयम्।
बद्ध परिकरस्तन मोक्षाय गमन प्रति॥

(गरुडपु० आचा० ११४।३)

ससारकी अनित्यताको न भूले—आचार्य बृहस्पति कहते

हैं कि मनुष्यको दुर्जनोकी सगतिका परित्याग कर साधुजनोकी सवाम सलग्न रहना चाहिये। दिन-रात पुण्यका सचय करते हुए अपनी तथा ससारकी अनित्यताका स्मरण रखना चाहिये—

त्यज दुर्जनससर्ग भज साधुसमागमम्।
कुरु पुण्यमहोरात्र स्मर नित्यमनित्यताम्॥

धर्म ही सच्चा सहायक है—धर्मराज युधिष्ठिरके यह प्रश्न करनेपर कि ससारमे मनुष्यका सच्चा सहायक कौन है, इसपर बृहस्पतिजीने जो उपदेश दिया वह नीतिशास्त्रका निचोड ही है। बृहस्पतिजी बोले—राजन्! प्राणी अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही दु खसे पार होता तथा अकेला ही दुर्गति भोगता है, उसके कुटुम्बीजन तो उसके मृत शरीरका परित्याग कर दो घडी रोते हैं, फिर उसकी ओरसे मुँह फेरकर चल देते हैं। एकमात्र धर्म ही उस जीवात्माका अनुसरण करता है। धर्म ही सच्चा सहायक है इसलिये मनुष्यको धर्मका ही सदा सेवन करना चाहिये—

तैस्तच्छरीरमुत्सृष्ट धर्म एकोऽनुगच्छति।
तस्माद्धर्म सहायश्च सवितव्य सदा नृभि ॥
(महा० अनु० १११।१४-१५)

धर्मनीतिका तत्त्वरहस्य बताते हुए आचार्य बृहस्पति कहते हैं—जो बात अपनेको अच्छी न लगे वह दूसरोके प्रति भी नहीं करनी चाहिये। यही धर्मका सूक्ष्म लक्षण है। इससे भिन्न जो बर्ताव होता है, वह कामनामूलक है, स्वार्थवश है।

शुक्राचार्यका नीतितत्त्वोपदेश

शुक्राचार्य यद्यपि असुरोके गुरु हैं, किंतु ये भगवान्के अनन्य भक्त हैं। ये योगविद्याके आचार्य हैं और इनकी शुक्रनीति बहुत प्रसिद्ध है। असुरोके साथ रहते हुए भी ये उन्हे सदा धर्मकी, नीतिकी, सदाचारकी शिक्षा देते रहे। इन्हींके प्रभावसे प्रह्लाद बलि तथा विरोचन आदि भगवद्भक्त बने। शुक्रनीतिमे अनेक सुन्दर बाते आयी हैं उनमेसे कुछ यहाँ दी जा रही हैं—

(१) व्यक्तिको चाहिये कि वह दूरदर्शी बने। सोच-विचारकर विवेकसे कार्य करे आलसी किंवा प्रमादी न बने—

दीर्घदर्शी सदा च स्यात्"" । चिरकारी भवेन्न हि॥
(३।६९)

(२) बिना सोच-समझे किसीको मित्र न बनाये।

(३) विश्वस्तका भी अत्यन्त विश्वास न करे—'नात्यन्त विश्वसेत् कश्चित् विश्वस्तमपि सर्वदा' (३।८०)।

(४) अन्नकी निन्दा न करे—'अन्न न निन्द्यात्।'

(५) आयु, धन, गृहके दोष, मन्त्र मैथुन औ[षध] दान, मान तथा अपमान—इन नौ विषयोको अत्यन्त [गुप्त] रखना चाहिये, किसीसे कहना नहीं चाहिये—

आयुर्वित्त गृहच्छिद्र मन्त्रमैथुनभेषजम्।
दानमानापमान च नवैतानि सुगोपयेत्॥

(६) किसीके साथ कपटपूर्ण व्यवहार तथा कि[सीकी] आजीविकाकी हानि नहीं करनी चाहिये एव कभी किसीका मनसे भी अहित नहीं सोचना चाहिये।

(८) दुर्जनोकी सगतिका परित्याग करना चाहि[ये]— 'त्यजेद्दुर्जनसगतम्' (१।१६३)

(९) सुखका उपभोग अकेले न करे न स[ब] विश्वास ही करे और न सभीपर शका ही करे—

नेक सुखी न सर्वत्र विश्रब्धो न च शङ्कित ।

सब प्रकारके राजधर्म और नीतिसदर्भोको बत[ाकर] अन्तमे महामति शुक्राचार्यजी भगवान् श्रीरामको सर्वो[त्तम] नीतिमान् बताते हुए कहते है कि इस पृथ्वीपर भग[वान्] श्रीरामके समान कोई दूसरा नीतिमान् राजा नहीं हुअ[ा]—

'न रामसदृशो राजा पृथिव्या नीतिमानभूत्'

इस नीतिवचनद्वारा शुक्राचार्य यही सदेश प्रसा[रित] करते हैं कि राजाओको श्रीरामके समान बनना चाहिये [और] प्रजाको श्रीरामके आचरणोका अनुकरण करना चाहिय[े]— 'रामादिवद् वर्तितव्यम्'। इसीमे सबका परम कल्याण [है]।

भगवान् दत्तात्रेयके वचन

अन्तमे हम भगवान् श्रीदत्तात्रेयके वचनका यहाँ प्रस[्तुत] करते हैं जिसे उन्होने अपने शिष्य श्रीकार्तिक स्वामी[को] परम पद (मोक्ष)-की प्राप्तिके सरल उपायके रूपमे [चार] सोपानोमे बताया—

रागद्वेषविनिर्मुक्त सर्वभूतहिते रत ।
दृढबोधश्च धीरश्च स गच्छेत् परम पदम्॥
(अवधूतगीता । २२

अर्थात् (१) 'राग' (आसक्ति-ममत्व) एव 'द्व[ेष]' (ईर्ष्याभाव)-से विमुक्त होना (२) सभी प्राणियोके हि[त] (कल्याण)-मे रत (कार्यरत) रहना (३) ब्रह्मज्ञानविषय[क] बोध दृढ होना तथा (४) धैर्यवान् होना—ये परम-पद[की] प्राप्तिके चार सोपान हैं। वस्तुत ये ही सम्पूर्ण नीतियोके स[ार] हैं और भगवत्प्राप्तिके सहज साधन हैं।

—राधेश्याम खेमक[ा]

नीतिशास्त्रके उद्भावक पितामह ब्रह्मा

सृष्टिकर्ताके रूपम पितामह ब्रह्माजीका लोकपर महान् अनुग्रह हे। वे पिताआके भी पिता हें, इसलिये पितामह कहलाते है। उनका आविर्भाव साक्षात् भगवान् नारायणके नाभिकमलसे हुआ। स्वय आविर्भूत होनेसे व स्वयम्भू कहलात है। नाभिकमलकी कर्णिकापर वेठे हुए उन्ह उस समय कुछ दिखायी नहीं पडा तो उन्होने चारा ओर अपन नेत्राको घुमा-घुमाकर दखना प्रारम्भ किया। इसीक फलस्वरूप चारा दिशाआम उनके चार मुख प्रकट हो गय। तभीसे चतुर्मुख कहलान लगे—

परिक्रमन् व्याम्नि विवृत्तनेत्र-
श्चत्वारि लेभेऽनुदिश मुखानि॥

(श्रीमद्भा० ३।८।१६)

इसपर भी जब उन्हे कुछ नही दिखलायी पडा ता उन्हाने तपका आश्रय लिया जिस कारण उन्हे परम पुरुष नारायणके दर्शन हुए ओर सर्वेश्वर नारायणके परामर्शपर उन्हाने सृष्टि-रचनाका सकल्प लिया। भगवान् विष्णुकी प्ररणासे सरस्वती दवीन उनके हृदयम प्रविष्ट होकर उनके चारो मुखास उपवेद ओर अङ्गासहित चारो वेदाका सस्वर गान कराया।[1] उनके पूर्वमुखस ऋग्वेद दक्षिणमुखसे यजुर्वेद, पश्चिममुखसे सामवद तथा उत्तरमुखम अथर्ववदका आविर्भाव हुआ। इतिहासपुराणरूप पञ्चम वदका भी उनके मुखसे आविर्भाव हुआ।

यह समस्त दृश्य-अदृश्य जगत् तथा जीवनिकाय भगवान् ब्रह्माजाद्वारा ही सृष्ट है। सृष्टि-विस्तारके लिये उन्हाने सनकादि चार मानस पुत्राके अनन्तर मरीचि, पुलस्त्य भृगु, अङ्गिरा, वसिष्ठ तथा दक्ष आदि मानस पुत्राको उत्पन्न किया। ये सभी प्रजापति कहलाते है और ब्रह्माजी इनके भी आविर्भावक हानस प्रजापतियाके भी पति या पिता कह जाते हैं। इनमे भी मरीचि तथा दक्ष प्रजापतिका अनेक सतान हुईं और सम्पूर्ण जगत् प्रजावर्गके विस्तारद्वारा व्याप्त हो गया। दक्ष प्रजापतिकी अदिति आदि पुत्रियाद्वारा देवता आदि प्रादुर्भूत हुए। इस प्रकार दवता, दानव, मनुष्य तथा सभी जीव भगवान् ब्रह्माजीकी सतान हैं।

सृष्टिकार्य तो सम्पन्न हो गया किंतु प्रश्न यह था कि अपनी प्रजाकी रक्षा एव उनका भरण-पापण कसे हो तथा किस मार्गका अवलम्बनकर सारी प्रजा सुखी रह सकेगी? ब्रह्माजीने विचार किया और वदादि शास्त्राको प्रस्तुत कर तदनुसार ही आचरण करनेका निर्देश दिया। या तो देव, दानव तथा राक्षस—सभीके पितामह ब्रह्माजी हे किंतु वे धर्ममार्गके सदैव पक्षपाती रहे हे। आसुरी साम्राज्यका उन्होने सर्वदा विरोध किया। इसलिये पृथ्वीपर जब कभी अधम बढता है, अनीति बढती ह तथा पृथ्वीमाता दुराचारियाके भारसे पीडित हाती ह, तब कोई और उपाय न देखकर वे देवताआसहित ब्रह्माजीके पास जाती है। इसी प्रकार जब कभी देवासुर-सग्रामाम दवगण पराजित होकर अपना अधिकार खो बैठत है तो वे भी प्राय ब्रह्माजीके पास ही जाते हैं और ब्रह्माजी यथाशक्ति भगवान् विष्णुकी सहायता लेकर उन्ह अवतार ग्रहण करनेका प्ररित करते हें। इस प्रकार भगवान्‌क अवतार ग्रहण करनम मुख्य निमित्त ये ही बनत हैं।

इस प्रकार ब्रह्माजी न केवल सृष्टिका ही कार्य करत है अपितु अपनी समस्त प्रजाकी भलीभाँति देखभाल भी करते हैं। इसीलिये त्रिदेवामे उनका मुख्य स्थान है। पितामह ब्रह्मा वेदज्ञानराशिमय हैं। वे ज्ञान, विद्या नीति धर्म यज्ञ और समस्त शुभ कर्मोके प्रतीकरूपम लोकपितामह हाकर सभीके कल्याणकी कामना करते रहते है क्याकि सभी उनकी प्रजा हैं। वेदामे सृष्टि-कर्ता देवताके लिये विश्वकर्मन्, ब्रह्मणस्पति हिरण्यगर्भ ब्रह्मा तथा प्रजापति—ये नाम आये हे। वहाँ प्रजापति ब्रह्माका परब्रह्म परमात्माके

१ प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती वितन्वताजस्य सतीं स्मृतिं हृदि स्वलक्षणा प्रादुरभूत् किलास्यत स मे ऋषीणामृषभ प्रसीदताम्॥
(श्रीमद्भा० २।४।२२)

रूपम स्वीकार किया गया है। उनका आविर्भाव सर्वप्रथम हुआ—

ब्रह्मा देवाना प्रथम सम्बभूव
विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।

(मुण्डक० १।१)

पितामह ब्रह्मा भगवल्लीलाके मुख्य सहचर हैं। भागवद्धर्म जाननवाले आचार्योंम ब्रह्माजीका नाम सर्वप्रथम लिया गया ह।[1] पितामह ब्रह्माजीने अपने आचरणोसे जो नीतिका पाठ हम पढाया वह बहुत ही महत्त्वका है। ब्रह्माजीने देवर्षि नारदका अपने हृदय एव मनकी स्थितिके विषयम बताते हुए कहा—

'मेरी वाणी कभी असत्यकी ओर प्रवृत्त नहीं हाती, मेरा मन कभी असत्यकी आर नही जाता, मरी इन्द्रियाँ कभी असन्मार्गकी ओर नही झुकतीं, क्याकि मैं हृदयमे सदा ही बडी उत्कण्ठासे श्रीहरिको धारण किय रहता हूँ।'[2]

इस प्रकार ब्रह्माजीने अपनी स्थितिके द्वारा प्राणियाको नीतिका यही सर्वोत्तम सदश दिया है कि वाणीसे असत्य-भाषण न हो, मन कुमार्गपर न जाय, इन्द्रियाँ विषयाम प्रवृत्त न हा इसका एकमात्र उपाय है कि भगवान्‌को उत्कण्ठापूर्वक हृदयम धारण कर लिया जाय। चित्तको सब प्रकारसे उन सर्वेश्वर प्रभुमे ही लगाय रखा जाय।

इसी प्रकार एक बडी ही सुन्दर और उपयोगी बात बतात हुए ब्रह्माजी कहते हैं कि तभीतक राग-द्वेष आदि चार पीछे लग हुए हैं, तभीतक घर कारागारकी तरह बाँधे हुए है और तभीतक मोहकी बेडियाँ पैराम पडी हैं, जबतक कि यह जीव भगवान्‌की शरणम नहीं आ जाता— भगवान्‌का नहीं हो जाता—

तावद्रागादय स्तेनास्तावत् कारागृह गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जना ॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।३६)

इस प्रकार ब्रह्माजीने अपनी सतानाका सदा ही नीतिपरायण रहते हुए भगवन्मार्गपर चलनेकी प्ररणा प्रदान की है।

इतना ही नहीं, पितामह ब्रह्माजी नीतिशास्त्रक आविर्भावक भी हैं। उन्हाने नीतिमार्गका प्रवर्तन किया। महाभारतम वर्णन आया ह कि एक बार महाराज युधिष्ठिरने शर-शय्यापर पड हुए भीष्मजीस पूछा—'ह तात! लोकम यह जा राजा शब्द चल रहा ह इसकी उत्पत्ति कैसे हुई?' इसपर भीष्मजी बोले—'ह भारत! पहल न काई राज्य था न राजा था न दण्ड था ओर न दण्ड देनेवाला ही था समस्त प्रजा धर्मक द्वारा ही एक-दूसरेकी रक्षा करती थी'—

न वै राज्य न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिक ।
धर्मेणैव प्रजा सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥

(महा० शान्ति० ५९।१४)

पहल धर्मनीतिके बलपर ही सब कुछ होता था अत अधर्म, अत्याचार आदि नहीं थे। समस्त प्रजा धर्मपर ही अवलम्बित थी। धर्मनीतिद्वारा ही सभी पालित-पोषित होते थे, किंतु कुछ समय बाद धीरे-धीरे पारस्परिक सरक्षणम लाग कष्टका अनुभव करने लगे, उनपर मोह छा गया। अज्ञानके वशीभूत हानसे वे कर्तव्याकर्तव्यके ज्ञानस हीन हो गय और अपने-अपने धर्मसे विचलित हान लग। वे लोभ, काम तथा रागके वशीभूत हो गये। मनुष्यलाकम धर्मका विप्लव हो जानेपर वेदाका स्वाध्याय तथा यज्ञादि सत्कर्मोंका भी लोप होने लगा।

यह देखकर देवता भयभीत हा गये। व ब्रह्माजाकी शरणमे गये और उन्हे सारी स्थितिसे अवगत करात हुए बोले—पितामह! जिस उपायसे हमारा कल्याण हो सके, उसपर आप विचार कीजिये। आपके प्रभावसे हम जा देव-स्वभाव प्राप्त हुआ था वह नष्ट हो रहा है—

अत्र नि श्रेयस यन्नस्तद् ध्यायस्व पितामह।
त्वत्प्रभावसमुत्थोऽसौ स्वभावो नो विनश्यति॥

(महा० शान्ति० ५९।२७)

इसपर भगवान् ब्रह्माने उन दवताओंसे कहा—'सुरश्रेष्ठगण! आपलाग भयभीत न हा, मैं आप सभीक कल्याणका उपाय साचूँगा।'

---

१ स्वयम्भूर्नारद शम्भु । (श्रीमद्भा० ६।३।२०)

२ न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गति ।
न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे यन्मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृता हरि ॥ (श्रीमद्भा० २।६।३३)

एसा कहकर ब्रह्माजी कुछ क्षणोके लिये विचारमग्न हो गये और फिर उन्होने अपनी बुद्धिमे एक ऐसा शास्त्र बनाया जिसमे एक लाख अध्याय थ और वह शास्त्र नीतिशास्त्र कहलाया—

ततोऽध्यायसहस्राणा शत चक्रे स्वबुद्धिजम्।

(महा० शान्ति० ५९।२९)

ह भरतश्रेष्ठ! उस नीतिशास्त्रमे वेदत्रयी (कर्मकाण्ड) आन्वीक्षिकी (ज्ञानकाण्ड), वार्ता (कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य) तथा दण्डनीति—इन विद्याआका वर्णन है—

त्रयी चान्वीक्षिकी चैव वार्ता च भरतर्पभ।
दण्डनीतिश्च विपुला विद्यास्तत्र निदर्शिता ॥

(महा० शान्ति० ५९।३३)

इस शास्त्रमे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चतुर्विध पुरुषार्थोका वर्णन किया गया है—

धर्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्चात्रानुवर्णिता ।

(महा० शान्ति० ५९।७२)

साथ ही जिन-जिन उपायाके द्वारा यह जगत् सन्मार्गसे विचलित न हो उन सबका ब्रह्माजीके द्वारा आविर्भूत इस नीतिशास्त्रम प्रतिपादन किया गया है—

यैर्यैरुपायैर्लोकस्तु न चलेदार्यवर्त्मन ।
तत्सर्वं राजशार्दूल नीतिशास्त्रेऽभिवर्णितम्॥

(महा० शान्ति० ५९।७४)

'इसके साथ ही दण्डनीति न्याय इतिहास तप ज्ञान, अहिसा वृद्ध जनाकी सवा, दान, शौच दया यज्ञ वर्णाश्रमधर्म तीथ तथा राजधर्म आदिका उसम वर्णन हुआ है। हे पाण्डुनन्दन! अधिक क्या कहा जाय जा कुछ इस पृथ्वीपर है और जो इसके नीचे है, उन सबका ब्रह्माजीके नीतिशास्त्रम समावेश किया गया है इसमे सशय नहीं ह'—

भुवि चाधोगत यच्च तच्च सर्व समर्पितम्।
तस्मिन् पैतामहे शास्त्रे पाण्डवैतन्न सशय ॥

(महा० शान्ति० ५९।१४३)

इस प्रकार भीष्मजीने युधिष्ठिरको नीतिशास्त्रके विपयमे बतलाया और आदिराज पृथुके आविर्भावका आख्यान भी सुनाया।

इस प्रकार ब्रह्माजीने ही अपनी प्रजाकी रक्षा सुरक्षा तथा उसके सचालनके लिये नीतिशास्त्रका निर्माण किया, जिसम सभी कल्याणकारी बात निहित हे। उसी धमनीति ओर दण्डनीतिका अनुपालन कर सर्वप्रथम वेनकुमार महाराज पृथुने इस भूमण्डलपर शासन किया।

ब्रह्माजीके कुछ नैतिक उपदेश

सदाके लिये सुखी होनेका उपाय—ब्रह्माजी अपनी प्रजाको उपदश दते हुए वताते है कि जो अपनी सम्पूर्ण कामनाओपर विजय प्राप्त कर लेता है, वह सदाके लिये सुखी हो जाता है क्याकि कामनाएँ दु ख एव वन्धनकी हेतु हैं—

विद्वान् कूर्म इवाङ्गानि कामान् सहृत्य सर्वश ।
विरजा सर्वतो मुक्तो यो नर स सुखी सदा॥

(महा० आश्व० ४२।४६)

अर्थात् जैसे कछुआ अपन अङ्गाका सब आरसे समेट लता है, उसी प्रकार जो विद्वान् मनुष्य अपनी सम्पूण कामनाआको सब ओरसे सकुचित करके रजोगुणरहित हा जाता है, वह सब प्रकारक बन्धनास मुक्त एव सदाक लिये सुखी हो जाता है।

गृहस्थको क्या करना चाहिये—पितामह ब्रह्मा गृहस्थाश्रमको सभी आश्रमाका उपकारक वताते हुए कहते है—गृहस्थको चाहिये कि वह सदा सत्पुरुपोकी आचारनीतिका पालन करे, अपनी ही स्त्रीस प्रम रख जितेन्द्रिय रह तथा पञ्चमहायज्ञ करे। दवता और अतिथिका देनेके बाद जो शप बचे उसी पवित्र अन्नका ग्रहण करे

वदविहित कर्मोको करे। शक्तिके अनुसार प्रसन्नतापूर्वक यज्ञ करे, दान दे।[१]

हाथ पर नेत्र, वाणी तथा शरीरकी चपलताका परित्याग करना शिष्ट पुरुषोंका वर्ताव है, इस नीतिका पालन प्रत्येक गृहस्थको अवश्य करना चाहिये—

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो मुनिः।
न च वागङ्गचपल इति शिष्टस्य गोचरः॥

(महा० आश्व० ४५। १८)

गोहिंसा महान् पाप है—ब्रह्माजी गायोंकी सेवाको सर्वोपरि महत्त्व देते हुए हमें गोसेवा करनेकी नीति बतलाते हैं। इसके विपरीत जो गायोंकी सेवा तो दूर रही उनकी हत्या करते हैं, उनका मांस खाते हैं अथवा जो स्वार्थवश गायको मारनेकी सलाह देते हैं, वे सभी महान् पापके भागी बनते हैं। गायोंकी हत्या करनेवाले, उनका मांस खानेवाले तथा गोहत्याका अनुमोदन करनेवाले लोग गौके शरीरमें जितने रोएँ होते हैं, उतने वर्षोंतक नरकमें डूबे रहते हैं—

विक्रयार्थं हि यो हिंस्याद् भक्षयेद् वा निरङ्कुशः।
घातयानं हि पुरुषं येऽनुमन्येयुरर्थिनः॥
घातकः खादको वापि तथा यश्चानुमन्यते।
यावन्ति तस्या रोमाणि तावद् वर्षाणि मज्जति॥

(महा० अनु० ७४। ३-४)

गोसेवाका फल—अनन्त सुख—ब्रह्माजी देवराज इन्द्रसे कहते हैं—देवेन्द्र! जो गोसेवाका व्रत लेनेवाला पुरुष गौओंपर दया करता है और प्रतिदिन एक समय भोजन करके दूसरे समयका अपना भोजन गौओंको दे देता है, इस प्रकार दस वर्षोंतक गोसेवामें तत्पर रहनेवाला वह पुरुष

अनन्त सुख प्राप्त करता है—

यदेकभक्तमश्नीयाद् दद्यादेकं गवां च यत्।
दशवर्षाण्यनन्तानि गोव्रती गोऽनुकम्पकः॥

(महा० अनु० ७३। ३१)

भगवदर्पण—निष्काम कर्मानुष्ठानसे ब्रह्म-भावकी प्राप्ति—पितामह ब्रह्माजी अपनी प्रजाको बताते हैं कि निष्कामभावसे कर्म करते हुए उन्हें भगवान्‌को अर्पण कर देना चाहिये, क्योंकि 'मम'—यह मेरा है—ऐसा भाव रखनेसे बन्धन होता है और वह बन्धन मृत्युरूप है। इसके विपरीत 'न मम'—यह मेरा नहीं है—ऐसा भाव रखनेसे कर्तापनका अभिमान भी नहीं रहता और आसक्ति भी दूर हो जाती है। इससे उस सनातन ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है—

द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम्।
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम्॥

(महा० आश्व० ५१। २९)

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद् भयं माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम्।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं सर्वं वस्तु भयावहं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥

(वैराग्यशतक ११६)

भोगमें रोगका भय है, ऊँचे कुलमें पतनका भय है, धनमें राजाका, मानमें दीनताका, बलमें शत्रुका तथा रूपमें वृद्धावस्थाका भय है और शास्त्रमें वाद-विवादका, गुणमें दुष्ट जनोंका तथा शरीरमें कालका भय है। इस प्रकार संसारमें मनुष्योंके लिये सभी वस्तुएँ भयपूर्ण हैं, भयसे रहित तो केवल वैराग्य ही है।

१ स्वदारनिरतो नित्यं शिष्टाचारो जितेन्द्रियः। पञ्चभिश्च महायज्ञैः श्रद्दधानो यजेदिह॥
देवतातिथिशिष्टाशी निरतो वेदकर्मसु। इज्याप्रदानयुक्तश्च यथाशक्ति यथासुखम्॥ (महा० आश्व० ४५। १६-१७)

नीतिशास्त्रके प्रतिष्ठापक भगवान् विष्णु

साक्षात् नारायण भगवान् विष्णु अनन्तानन्तकोटि ब्रह्माण्डाकी पालनात्मक शक्तिक अधिष्ठाता हैं। सृष्टिके समस्त प्राणियाक पालन-पापण और योग-क्षमका दायित्व अपने ऊपर लेकर इन्हाने जगत्पर महान् अनुग्रह किया है। ये समस्त दवाक अधिदेव ओर सभीक उपास्य हें। इनक निमपोन्मषसे सृष्टिका प्रादुर्भाव आर लय होता ह। भक्ताके तो ये सर्वस्व ही हैं और भक्त भी इनक लिय सवस्व हें। ये भक्ताकी चरण-धूलिक लिय लालायित रहते हें। भक्ताके पास आनेम जब इन्ह यत्किञ्चित् भी विलम्ब हो जाता ह तो ये उनसे क्षमा माँगत ह। प्रह्लादजीक साथ ऐसा ही हुआ।

सद्धर्मकी प्रतिष्ठा तथा साधु पुरुपाका परित्राण तो ये करते ही ह, साथ ही अपने सच्चरित्रस लोकको सदाचारकी शिक्षा दने एव नीतिका पाठ पढानके लिये इन्हाने अनेक बार पृथ्वीलोकम आकर मर्त्यधम स्वीकार किया और वताया कि ससारम किस प्रकार रहनेसे कल्याण हो जाता है—

मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षण
रक्षावधायैव न केवल विभा ।
कुताऽन्यथा स्याद्रमत स्व आत्मन
सीताकृतानि व्यसनानीश्वरस्य॥

(श्रीमद्भा० ५।१९।५)

प्रभो! आपका मनुष्यावतार केवल राक्षसाक वधक लिये ही नहीं है, इसका मुख्य उद्देश्य तो मनुष्याको शिक्षा देना है। अन्यथा अपन स्वरूपम ही रमण करनेवाले साक्षात् जगदात्मा जगदीश्वरको सीताजीके वियोगम इतना दु ख कैसे हो सकता था?

इस प्रकार स्पष्ट हे कि साक्षात् नारायण लोक-परलोककी शिक्षा देनेके लिये अवतरित होते है और अपने आचरणद्वारा ससारकी रहनी-करनी और रीति-नीति सिखाते हैं।

परलोक-ज्ञान तथा लोक-ज्ञानकी जितनी विद्याएँ एव शास्त्र हैं उनके मूलरूप नारायण ही हैं। सारी अच्छाइयाँ और सद्गुण इनमे ही प्रतिष्ठित हें। विष्णुसहस्रनामम इनके 'गुरु' और 'गुरुतम'—य दा नाम आय है तात्पर्य यह है कि ये सभी विद्याआका उपदश करनवाल हें तथा ब्रह्मा आदिको भा ब्रह्मविद्या प्रदान करनेवाले हें। नीति भा आपका ही स्वरूप है, इसीलिय इन्हे जगत्-रूप यन्त्रका चलानेवाला 'नेता' (विष्णुसहस्रनाम ३७) कहा गया हे तथा 'नय' (वि०स० ५६) सवको नियमम रखनवाला आर 'अनय' (वि०स० ५६) स्वतन्त्र कहा गया है। भगवान् विष्णु ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका विधान वनानेवाले हैं तथा उनके प्रतिपालक और उनका परिपालन करानवाल हे। आपका उदात्त चरित नीति-शिक्षाका शाश्वत वाङ्मय ह।

सदाचार आर नीतिके तो आप मूर्तिमान् स्वरूप ही हें। शास्त्राम जितने प्रकारके भी धर्म बताय गय ह उनम आचार प्रथम माना जाता ह ओर उसके पालनस ही धर्मकी उत्पत्ति होती ह तथा धर्मके स्वामी भगवान् अच्युत—विष्णु ही हें—

सर्वागमानामाचार प्रथम परिकल्पते।
आचारप्रभवा धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युत ॥

(विष्णुसहस्रनाम १३७)

चूँकि भगवान् विष्णु ही सबपर शासन-अनुशासन करनेवाले हैं, अत वे राजाओके राजा ओर राजराजश्वर है। उन्हींसे सारे नीतिधर्म प्रादुर्भूत हुए है। महाभारतम वर्णन आया हे कि आदिदेव भगवान् विष्णुसे सर्वप्रथम राजधर्म ही प्रवृत्त हुआ है। अन्य सभी धर्म उसीके अङ्ग हैं जा उसके वाद प्रकट हुए ह। जो राजा सैन्यशक्तिसे सम्पन्न नहीं है, व धर्मपरायण होनेपर भी दूसरोको अनायास ही धर्मविपयक परम गतिकी प्राप्ति नहीं करा सकते—

असैनिका धर्मपराश्च धर्मे
परा गति न नयन्ते ह्ययुक्तम्।
क्षात्रो धर्मो ह्यादिदवात् प्रवृत्त
पश्चादन्ये शपभूताश्च धर्मा ॥

(महा० शान्ति० ६४।२१)

—यह बात इन्द्ररूपधारी भगवान् विष्णुने राजर्षि मान्धाताको वतायी थी, जिसका सक्षिप्त सार इस प्रकार ह—

एक बारका बात है यह सारा जगत् दानवताके समुद्रम निमग्न होकर उच्छृखल हा चला था। उन्हीं दिना मान्धाता नामक एक राजर्षि हुए। उन्हान भगवान् विष्णुके

दर्शनके लिये एक महान् यज्ञका अनुष्ठान किया। यज्ञकी सम्पन्नतापर भगवान् विष्णु इन्द्रका रूप धारण करके राजाके पास आये आर वर माँगनेके लिये बोले। इसपर मान्धाताने कहा—'प्रभा! इस समय मे क्षात्रधमका परित्याग करके तपस्याके लिय वनमे जाना चाहता हूँ, आप मुझपर अनुग्रह कर।' तव इन्द्ररूपधारी विष्णुने राजधर्मकी महत्ता बताते हुए उनस कहा—

'राजन्! क्षात्रधम ही सबसे श्रेष्ठ ह। इस धर्मम सभी धर्मोका प्रवश हा जाता ह। पूवकालम भगवान् विष्णुने क्षात्रधर्मके द्वारा ही शत्रुआका दमन करके दवताआ तथा अमित तेजस्वी ऋषियाका रक्षा की थी—

कर्मणा वै पुरा देवा ऋषयश्चामितौजस ।
त्राता सर्वे प्रसह्यारीन् क्षात्रधर्मेण विष्णुना॥

(महा० शान्ति० ६४। २३)

'यदि व अप्रमेय भगवान् श्रीहरि समस्त शत्रुरूप असुराका सहार नहीं करते तो न कहीं ब्राह्मणाका पता लगता, न जगत्क आदिस्रष्टा ब्रह्माजी ही दिखायी दते। न यह धर्म रहता आर न आदिधर्मका ही पता लग सकता था। (महा०, शान्ति० ६४। २४) इसलिय लोकमे क्षात्रधर्म (राजधम)-का सर्वश्रेष्ठ कहत ह—'लाकज्येष्ठ क्षात्रधर्म वदन्ति' (महा० शान्ति० ६४। २६) राजाक भयसे ही लाग पाप नहीं कर पात और जा सदाचारी है वे राजास सुरक्षित हाकर हा आचार-धमका परिपालन कर पात ह। जा लाग सदा अर्थ-साधनम ही आसक्त हाकर मर्यादा छाड बेठत हैं उन्ह पशु बताया गया ह। क्षत्रिय-धर्म अर्थकी प्राप्ति करानेके साथ-साथ उत्तम नीतिका ज्ञान प्रदान करता ह इसलिय वह आश्रमधर्मोसे भी श्रेष्ठ है—

निर्मर्यादान् नित्यमर्थे निविष्टा-
नाहुस्तास्तान् वै पशुभूतान् मनुष्यान्।
यथा नीति गमयत्यर्थयोगा-
च्छ्रेयस्तस्मादाश्रमात् क्षत्रधर्म ॥

(महा० शान्ति० ६५।७)

'अत क्षात्रधर्म सभी धर्मोसे श्रेष्ठ ह। राजन्! आपको राजधमका पालन करना हा उचित है यदि इसका पालन नहीं किया जायगा ता सम्पूर्ण प्रजाका नाश हा जायगा'— 'विपर्यये स्यादभव प्रजानाम्'॥ (महा०, शान्ति० ६५। १)।

राजधर्मकी महत्ता और उसक परिपालनका इस प्रकार उपदश दकर इन्द्ररूपधारी भगवान् विष्णु अन्तधान हो गय और राजर्षि मान्धाता भा पुन क्षात्रधमम प्रविष्ट हुए।

धरादेवीको राजधर्मका उपदेश

जब भगवान् विष्णुन वराहका रूप धारण करक रसातलस पृथ्वीदवीको पुन यथास्थान स्थापित किया ता उस समय विष्णुपत्नी दवा धराने कहा—'ह दवाधिदव! मैं रसातलमे हरण करके ले जायी गयी थी वहाँम वराहरूपस आपन मरा उद्धार ता कर दिया पर मै अब किस आधारपर ठहरूँ इसको आप बतानकी कृपा कर।' इसपर भगवान् विष्णुने कहा—'हे धर! वर्णाश्रमक सदाचारम परायण धर्मनातिका जाननवाल तथा शास्त्र-विधानके तत्त्वज्ञ लाग ही तुम्ह धारण करग। समस्त ससारका धारण करनेवाल धर्म आर धर्मको भी धारण करनेवाल सत महात्मा, धर्मात्मा, नीतिके परिपालक महापुरुषाद्वारा हा पृथ्वी सदासे सुस्थिर शान्त और निर्बाधरूपसे स्थिर रहती हैं'—

वर्णाश्रमाचाररता शास्त्रैकतत्परायणा ।
त्वा धर धारयिष्यन्ति तेषा तद्भार आहित ॥

(विष्णुधर्मशास्त्र १। ४७)

पुन जिज्ञासा करनेपर भगवान् विष्णुन उन्ह धर्म सदाचार भक्ति, ज्ञान धम-नीति और राजधर्म-नीतिक बहुतसे उपदेश दिय। उनमस यहाँ कुछ बात सक्षेपम दी जा रही ह—

धर्माचरण ही सदा सहायक होता हे

भगवान् विष्णु मनुष्याका सावधान करत हुए कहत हैं कि 'अर मनुष्या! तुमलोग नित्य अपन मरत हुए बन्धु-बान्धवाको दखते हा और उनके लिय कबतक कौन शोक करता है, यह भी तुम्हारे सामन ही ह। मृत व्यक्तिके बन्धु-बान्धव भी थोडे समय शोक मनाकर कुछ क्रिया-कम करके उससे विमुख हा जाते हे प्राय उसे भूल जात हैं। ससारम सबका परस्पर स्वार्थका ही सम्बन्ध ह काई किसाका सहायक नहीं ह धर्मका छोडकर बन्धु-बान्धव नात-रिश्त धन-सम्पत्ति मकान पुत्र-पौत्र आदि काई भा साथ नहीं देते अत सच्चे सहायक धर्मका हा वरण करो अर्थात्

धर्माचरण ही करो। वही इस लोक तथा परलोकमे सर्वत्र कल्याण करनेवाला है। मृत व्यक्तिके साथ कोई अपने प्राण भी दे द तो वह उस मृत व्यक्तिके पास नहीं पहुँच सकता अत प्राण देना भी व्यर्थ ही ह। हाँ, यदि कोई पतिव्रता स्त्री है, सती-साध्वी है तो केवल वही पतिके साथ जा सकती है। नहीं तो ओर सबके लिय यमका द्वार वद ही रहता हे। कवल धर्म ही प्राणीके साथ जाता है, अत एसा समझकर इस साररहित ससारम जितना जल्दी वन सके धर्मका अर्जन कर लेना चाहिये। इस सारहीन नश्वर ससारमे अपने कल्याणक लिये शीघ्र हा धमका आश्रय ले लना चाहिये। आज करूँगा कल करूँगा पूर्वाह्णम करूँगा अपराह्णम करूँगा इस प्रकारस धमके कार्यको कभी टालना नहीं चाहिये, क्याकि मात किसीकी प्रतीक्षा नहीं करती वह यह नहीं देखता कि इसने कुछ धर्म-कार्य किया ह या नहीं। 'नहीं किया है' अत इसे थोडा समय ओर दे देना चाहिय ऐसा होता नहीं। काल (मृत्यु)-के लिये न कोई प्रिय हे और न अप्रिय। आयुक क्षीण हो जानेपर वह बलात् प्राण हर लेता हे। सैकडा बाणाद्वारा विद्ध हो जानेपर भी यदि काल नहीं आया ता काई मर नहीं सकता आर यदि काल आ गया हे ता कुशकी नोकसे भी स्पर्श हो जानेपर वह अवश्य मृत्युको प्राप्त हा जाता ह, फिर उसे कोई बचा नहीं सकता। जैसे हजारा गायाक समूहमे बछडा अपनी माँको पहचानकर उसीके पास पहुँचता हे, उसी प्रकार व्यक्तिका पूर्वजन्मकृत कर्म उसके पास अवश्य पहुँच जाता ह'—

दृष्ट्वा लोकमनाक्रन्द म्रियमाणाश्च बान्धवान्।
धर्ममेक सहायार्थ वरयध्व सदा नरा ॥
मृतोऽपि बान्धव शक्तो नानुगन्तु नर मृतम्।
जायावर्जं हि सर्वस्य याम्य पन्था विरुध्यते॥
श्व कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्।
न हि प्रतीक्षते मृत्यु कृत वास्य न वा कृतम्॥
न कालस्य प्रिय कश्चिद् द्वेष्यश्चास्य न विद्यते।
आयुष्यकर्मणि क्षीण प्रसह्य हरते जनम्॥
यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्वकृत कर्म कर्तार विन्दते ध्रुवम्॥

(विष्णुधर्मशास्त्र अ० २०)

राजधर्म

राजाके मुख्य धर्मको बतलाते हुए भगवान् विष्णुन कहा है कि राजाका मुख्य कर्तव्य है प्रजाका परिपालन ओर वर्णाश्रम-धर्मकी व्यवस्था करना। राजाका यह दखत रहना चाहिये कि लाग अपन-अपने वर्णक अनुसार अपन-अपन धर्मका परिपालन कर रहे हे या नहीं यदि नहीं ता इसके लिये यथोचित व्यवस्था करनी चाहिये—

प्रजापरिपालन वर्णाश्रमाणा स्वे स्वे धर्मे व्यवस्थापनम्।

(विष्णुधर्मशास्त्र अ० ३)

राजा राज्य-व्यवस्थाके उचित सचालनक लिय ग्रामाध्यक्ष दशग्रामाध्यक्ष शताध्यक्ष दशाध्यक्ष आदिकी नियुक्ति कर। धर्मिष्ठ लोगाको धर्मके कार्यम लगाये कुशल लोगाको धनके कार्यमे लगाये, शूरवीरोको सेनाम प्रविष्ट करे। प्रजास लगानके रूपमे वर्षमे कृषिका छठा हिस्सा ले—

प्रजाभ्यो बल्यर्थ सवत्सरेण धान्यत षष्ठमशमादद्यात्।

(विष्णुधर्मशास्त्र अ० ३)

राजा प्रजाके पुण्य ओर पापके छठे अशका भागी होता है अर्थात् यदि प्रजा पुण्यका कार्य करती ह ता उस पुण्यका छठा भाग राजाको प्राप्त होता ह यदि पाप करती हे ता राजाका भी उस पापका छठा अश प्राप्त होता ह, अत राजाको चाहिये कि वह स्वय भी पुण्य-कार्य करे आर प्रजाको भी पुण्य-कार्यम लगाये—

राजा च प्रजाभ्य सुकृतदुष्कृतषष्ठाशभाक्।

(विष्णुधर्मशास्त्र अ० ३)

स्वामी (राजा), अमात्यवर्ग (मन्त्री-वर्ग) दुर्ग कोष दण्ड तथा मित्र-राष्ट्र—ये छ मिलकर राष्ट्र कहलाते है। य राज्यके छ अङ्ग हैं—

स्वाम्यमात्यदुर्गकोषदण्डराष्ट्रमित्राणि प्रकृतय ।

(विष्णुधर्मशास्त्र अ० ३)

—इनको जो दूषित करे वह वधक याग्य ह—'तदूपकाश्च हन्यात्'। राजाको चाहिये कि वह साधु, सत महात्माओका पूजन करे, उनकी सेवा करे— साधूना पूजन कुर्यात्'। 'वृद्धोकी सेवा करे' 'वृद्धसेवी भवेत् । शत्रु, मित्र, उदासीनक साथ साम भेद दान तथा दण्ड—इन चार नीतियाका यथायाग्य यथाकाल व्यवहार करे।

राजाको चाहिये कि राज्यमे दैवी उत्पात, प्राकृतिक प्रकोप—यथा—अकाल, महामारी, भूकम्प, धूमकेतु-दर्शन इत्यादि होनेपर वेद-शास्त्राके ज्ञाता कुलीन ब्राह्मणाद्वारा शान्ति एव पुष्टि-कर्मों तथा स्वस्त्ययन आदि माङ्गलिक पाठाद्वारा उन्हे शान्त कराये—

शान्तिस्वस्त्ययनैर्दैवोपघातान् प्रशमयेत्।

(विष्णुधर्मशास्त्र अ० ३)

जो राजा प्रजाके सुखसे सुखी और प्रजाके दु खसे दु खी होता है अर्थात् प्रजाका समुचित रूपसे पालन-पोषण, रक्षण-वर्धन करते हुए उन्हे अपनी आत्माके समान समझता है, ऐसा धार्मिक राजा इस लोकमे महान् सुकीर्ति प्राप्त करता है ओर स्वर्गलोक तथा परलोकमे परम प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। प्रजाका दु ख ही राजाके लिये सबसे भारी दु ख होता है—

प्रजासुखे सुखी राजा तद्दु खे यश्च दु खित ।
स कीर्तियुक्तो लाकेऽस्मिन् प्रेत्य स्वर्गे महीयते॥

(विष्णुधर्मशास्त्र अ० ३)

इसी प्रकार जिस राजाके राज्यमे, नगरमे कोई चोर नहीं होता न कोई परस्त्रीगामी होता हे, न कोई दुष्ट एव परुष वाणी बोलनेवाला होता है, न कोई बलात् धन हरण कर लेनेवाला साहसिक (डाकू-लुटेरा) होता हे और न कोई दण्ड-विधानका उल्लघन करनेवाला होता है—तात्पर्य यह है कि सभी लोग धार्मिक और स्वधर्माचरणका अनुष्ठान करनेवाले होते हैं वह राजा इन्द्रलाकको प्राप्त करता हे और ऐसा तभी सम्भव हे जब स्वय राजा परम धार्मिक हो—

यस्य चौर पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक्।
न साहसिकदण्डघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक्॥

(विष्णुधर्मशास्त्र अ० ५)

इस प्रकार भगवान् विष्णुने राजाओके लिये उत्तम नीतिका निर्धारण करके यह प्रतिपादित किया है कि राजा स्वय परम धार्मिक प्रजावत्सल, नीतिमान् तथा पराक्रमी हो और वह प्रजाको भी धर्मकार्योमे ही अनुरक्त रखे।

एक सुन्दर नीतिका उपदेश बताते हुए भगवान् विष्णु देवराज इन्द्रसे कहते है—हे देवराज! जो मनुष्य अश्वत्थ-

वृक्ष गोरोचना और गोकी सदा पूजा करता है उसके द्वारा देवताओ, असुरो ओर मनुष्योसहित सम्पूर्ण जगत्‌की भी पूजा हो जाती है। उस रूपमे उनके द्वारा की हुई पूजाको यथार्थरूपसे अपनी पूजा मानकर मैं ग्रहण करता हूँ—

अश्वत्थ रोचना गा च पूजयेद् यो नर सदा॥
पूजित च जगत् तेन सदेवासुरमानुषम्।
तेन रूपेण तेषा च पूजा गृह्णामि तत्त्वत ॥

(महा० अनु० १२६।५-६)

तपन्तु तापै प्रपतन्तु पर्वतादटन्तु तीर्थानि पठन्तु चागमान्।
यजन्तु यागैर्विवदन्तु वादैर्हरिं विना नैव मृतिं तरन्ति॥

चाहे कोई तप करे पर्वतसे भृगुपतन करे तीर्थोंमे भ्रमण करे शास्त्र पढ़े यज्ञ-यागादि करे अथवा तर्क-वितर्कोंद्वारा वाद-विवाद करे परतु श्रीहरि (-की कृपा)-के बिना कोई भी मृत्युको नहीं लाँघ सकता।

भगवान् शङ्करद्वारा प्रवर्तित नीतिशास्त्र—'वैशालाक्ष'

भगवान् शङ्करसे बडा नीतिमान् तथा नीतिज्ञ भला और कौन हो सकता है। क्योंकि वे ही समस्त विद्याओं, वेदादि शास्त्रों, आगमों तथा कलाओंके मूल स्रोत हैं। इसीलिये उन्हें विशुद्ध विज्ञानमय, विद्यापति, विद्यातीर्थ तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर (स्वामी) कहा गया है—

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थं महेश्वरम्॥
ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानाम्०।

भगवान् शिव ही समस्त प्राणियोंके अन्तिम विश्रामस्थान भी हैं—'विश्रामस्थानमेकम्'। उनकी संहारिका शक्ति प्राणियोंके कल्याणके लिये ही प्रस्फुटित होती है। जब-जब भी जिस-जिसके द्वारा धर्मका विरोध और नीतिमार्गका उल्लंघन होता है, तब-तब कल्याणकारी शिव उसे सन्मार्ग प्रदान कर देते हैं और तब भी बात न बननेपर उनकी कृपामयी संहारिका शक्ति उसका परम कल्याण साध देती है। सृष्टिकी प्रलीनावस्था ही उनके संहारका स्वरूप है। इस प्रकार उनके संहारमें भी जगत्का परम कल्याण निहित है।

भगवान् शिव और उनका नाम समस्त मङ्गलोंका मूल एवं अमङ्गलोंका उन्मूलक है। शिव, शम्भु और शङ्कर—ये तीन उनके मुख्य नाम हैं और तीनोंका अर्थ है—परम कल्याणकी जन्मभूमि, सम्पूर्ण रूपसे कल्याणमय, मङ्गलमय और परम शान्तिमय। वे दिग्वसन होते हुए भी भक्तोंको अतुल ऐश्वर्य प्रदान करनेवाले, अनन्त राशियोंके अधिपति होते हुए भी भस्मविभूषण श्मशानवासी कहे जानेपर भी त्रैलोक्याधिपति योगिराजाधिराज होते हुए भी अर्धनारीश्वर, सदा कान्तासे समन्वित होते हुए भी मदनजित्, अज होते हुए भी अनेक रूपोंमें आविर्भूत गुणहीन होते हुए भी गुणाध्यक्ष अव्यक्त होते हुए भी व्यक्त तथा सबके कारण होते हुए भी अकारण हैं।

भगवान् शिव सबके पिता हैं और भगवती पार्वती जगज्जननी तथा जगदम्बा कहलाती हैं। अपनी संतानपर उनकी असीम करुणा और कृपा है। उनका नाम ही आशुतोष है। दानी और उदार ऐसे हैं कि नाम ही पड गया अवढरदानी। उनका भोलापन भक्तोंको बहुत ही भाता है। अकारण अनुग्रह करना अपनी संतानसे प्रेम करना भोलेबाबाका स्वभाव है। उनके समान कल्याणकारी एवं प्रजा-रक्षक और कौन हो सकता है? समुद्रमन्थनके समयकी बात है। समुद्रसे कालकूट विष निकला, जिसकी ज्वालाओंसे तीनों लोक धू-धूकर जलने लगे। सर्वत्र हाहाकार मच गया। सभी प्राणी कालके गालमें जाने लगे, किसमें ऐसा सामर्थ्य कि वह कालकूट विषका शमन कर सके? प्रजाकी रक्षाका दायित्व तो प्रजापतिगणोंका था पर वे भी जब असमर्थ हो गये तो सभी शङ्करजीकी शरणमें गये और अपना दुःख निवेदन किया। उस समय भगवान् शङ्करने देवी पार्वतीसे जो बात कही, उससे बडी कल्याणकारी शिक्षाप्रद, अनुकरणीय नीति और क्या हो सकती है—भगवान् विश्वनाथने विषसे आर्त एवं पीडित जीवोंको देखा तो वे बोल पडे—

'देवि! ये बेचारे प्राणी बडे ही व्याकुल हैं। ये प्राण बचानेकी इच्छासे मेरे पास आये हैं। मेरा कर्तव्य है कि मैं इन्हें अभय करूँ क्योंकि जो समर्थ हैं, उनकी सामर्थ्यका उद्देश्य ही यह है कि वे दीनोंका पालन करें। साधु जन नीतिमान् जन अपने क्षणभङ्गुर जीवनकी बलि देकर भी प्राणियोंकी रक्षा करते हैं।[1] कल्याणि! जो पुरुष प्राणियोंपर कृपा करता है, उससे सर्वात्मा श्रीहरि संतुष्ट होते हैं और जिसपर वे श्रीहरि संतुष्ट हो जाते हैं, उससे मैं तथा समस्त चराचर जगत् भी संतुष्ट हो जाता है।'

भगवान् शिव स्वयं नीतिस्वरूप हैं। अपनी चर्यासे उन्होंने जीवको स्वल्प भी परिग्रह न करने ऐश्वर्य एवं वैभवसे विरक्त रहने, संतोष संयम, साधुता सादगी सचाई परहित-चिन्तन, अपने कर्तव्यके पालन तथा सतत नामजप-परायण रहनेका पाठ पढाया है। ये सभी उनकी आदर्श अनुपालनीय नीतियाँ हैं।

अपने प्राणोंकी बलि देकर भी जीवोंकी रक्षा करना सदा उनके हित-चिन्तनमें संलग्न रहना—इससे भी बडी कोई नीति हो सकती है क्या? कृपालु शिवने यह सब कर दिखाया। 'मेरी प्रजाओंका हित हो इसलिये मैं इस विषको पी जाता हूँ'—'तस्मादिदं गरं भुञ्जे प्रजानां स्वस्तिरस्तु मे'

१ एतावान्हि प्रभोरर्थो यद् दीनपरिपालनम्॥ प्राणैः स्वैः प्राणिनः पान्ति साधवः क्षणभङ्गुरैः। (श्रीमद्भा० ८।७।३८-३९)

(श्रीमद्भा० ८।७।४०)—ऐसा कहकर वे हलाहल पी गये और नीलकण्ठ कहलाये। तीनो लोकोंकी रक्षा हो गयी।

भगवान् शिवने नीतिका इतना बडा आदर्श सामने रखा है जिसके अनुपालनसे न केवल जीवका कल्याण हो जाय, बल्कि सभीका भला हो जाय और श्रीहरिकी प्रीति भी प्राप्त हो जाय।

इस नीति-धर्मका स्वल्प भी यदि अनुपालन हो जाय तो सर्वत्र सुख-शान्तिका साम्राज्य छा जाय और भगवान्‌का निर्भय पद प्राप्त ही है ऐसा भी समझ लेना चाहिये—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

(गीता २।४०)

भगवान् शिवका परिवार भी विलक्षण ही है, जहाँ नित्य खट-पट चलती रहती है। एक पुत्र गजमुख है तो दूसरे षडानन एकका वाहन मूषक है तो दूसरेका मोर देवी पार्वतीका वाहन सिंह है तो स्वयं वृषभपर सवार रहते हैं। इतना ही नहीं वेष भी दिगम्बर है। भला, अन्नपूर्णा न होतीं तो कैसे गृहस्थी चलती! भक्तोंने उनके भोले स्वभावपर रीझकर अनेक प्रकारसे अपने प्राणाराध्यका चित्रण किया है। ऐसे विलक्षण परिवारमें कैसे अनुशासन बनाये रखा जाय इसपर एक भक्त कविने राजनीतिज्ञके रूपमें उनका अद्भुत चित्रण प्रस्तुत किया है जो उनकी भगवत्ता और नीतिमत्ताका ही बोधक है। यथा—

मूसेपर साँप राखै, साँपपर मोर राखै
बलपर सिंह राखै, वाकै कहा भीति है।
पूतनिको भूत राखै, भूतको बिभूति राखै
छमुखको गजमुख यहै बड़ी नीति है॥
कामपर वाम राखै, विषको पियूष राखै,
आगपर पानी राखै सोई जग जीति है।
'देवीदास' देखौ ज्ञानी संकरकी सावधानी,
सब बिधि लायक पै राखै राजनीति है॥

इतना ही नहीं एक भक्तने भगवान्‌के विवाहके समयका बड़ा ही मनोहर, भक्तिभावपूर्ण चित्रण किया है। विवाहके समय भगवान् शिवसे जो प्रश्न किये गये और उन्होंने जो उत्तर दिये वे इस प्रकार हैं—

प्रश्न—आपके पिता कौन हैं?

उत्तर—ब्रह्मा।

प्रश्न—बाबा कौन हैं?

उत्तर—विष्णु।

प्रश्न—परबाबा कौन हैं?

उत्तर—सो तो सबके हम ही हैं।

बात भी ठीक ही है। सभीके परम पिता तो भगवान् शिव ही हैं। उनकी महिमा अनन्त है। उनका इदमित्थं गान हो नहीं सकता। भक्तोंने उनकी कुछ झाँकियोंका चित्रण करके अपनी वाणीको पवित्र बनाया है। वेदादि शास्त्र उपनिषद्, पुराण आदि उनकी महिमामें पर्यवसित दीखते हैं। उनका रौद्र रूप अमङ्गल-वेष भी कल्याणकारी है। भक्तोंको वे सौम्य (अघोर)-रूपमें दर्शन देते हैं और नीति तथा धर्मके विरोधी आसुरी स्वभाववालोंके लिये वे घोर रूप धारण करते हैं।

भगवान् शिवने न केवल अपने आचरणोंसे ही नीतिका ज्ञान कराया, अपितु उन्होंने एक विशाल नीतिशास्त्रका भी प्रणयन किया।

बात सृष्टिके समयकी है। सृष्टि-कर्ता ब्रह्माजीने प्रजाके धर्मपालनकी दृष्टिसे एक लाख अध्यायवाले एक बृहत् नीतिशास्त्रकी रचना की थी जिसमें धर्म अर्थ काम तथा मोक्ष—इस चतुर्विध पुरुषार्थका निरूपण हुआ था—'धर्मार्थकाममोक्षाश्च सकला ह्यत्र शब्दिता ॥' (महा० शान्ति० ५९।७९)

इस नीतिशास्त्रका सबसे पहले शङ्करजीने ही ग्रहण किया—

ततस्तां भगवान् नीतिं पूर्वं जग्राह शङ्करः।
(महा० शान्ति० ५९।८०)

बहुत समयतक इसका ठीक-ठीक अनुपालन होता रहा। परंतु धीरे-धीरे समय बीतता गया। प्रजाओंकी आयु, शक्ति एवं सामर्थ्यका ह्रास होने लगा तो इस नीतिज्ञानका उपयोग भी कठिन हो गया। इस जीव-दशाको देखकर परम कारुणिक भगवान् शङ्कर चिन्तित हो उठे, अतः उन्होंने ब्रह्माद्वारा निरूपित उसी नीतिशास्त्रका संक्षेप करके उसे दस हजार अध्यायोंवाला बना दिया—

प्रजानामायुषो ह्रासं विज्ञाय भगवाञ्छिवः।
संचिक्षेप ततः शास्त्रं महार्थं ब्रह्मणा कृतम्॥
(महा० शान्ति० ५९।८१)

और अपने ही 'विशालाक्ष'—इस नामसे उस संक्षिप्त किये गये नीतिशास्त्रका 'वैशालाक्ष नीतिशास्त्र'—यह नाम रखा। तबसे भगवान् शङ्करका वह नीतिशास्त्र 'वैशालाक्ष नीतिशास्त्र' के नामसे जाना जाने लगा—'वैशालाक्षमिति प्रोक्तम्' (महा०, शान्ति० ५९।८१½)।

भगवान्‌द्वारा यह नाम रखना सार्थक प्रतीत होता है, 'विशालाक्ष' का तात्पर्य है 'विशाल आँखोंवाले'। चूँकि भगवान् शिव सब जीवोंके प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष कर्मों तथा गतियोंके साक्षी हैं। धर्म-अधर्म नीति-अनीतिके द्रष्टा हैं, ज्ञानचक्षुसे सम्पन्न हैं। इसलिये उनका विशाल अक्ष (नेत्र)-सम्पन्न होना स्वाभाविक है।

यद्यपि भगवान् शङ्करजीका वह वैशालाक्ष नीतिशास्त्र आज दीखता नहीं तथापि विविध ग्रन्थोंमें उनके द्वारा प्रतिपादित जो कल्याणकारी बातें उपलब्ध होती हैं, उनसे भगवान्‌की कृपामयी वाणीका किञ्चित् परिलक्षण होता है।

एक स्थलपर धर्मराज यमसे वे कहते हैं—

यम! देखो जिन्होंने ममत्वका त्याग दिया है और लोभ तथा मोहको छोड दिया है वे काम-क्रोधसे हीन मानव परम पदको प्राप्त होते हैं। जबतक मनमें काम क्रोध लोभ राग और द्वेष डेरा डाले रहते हैं तबतक केवल शब्दमात्रका बोध रखनेवाले विद्वान् परम सिद्धि (मोक्ष)-को नहीं प्राप्त होते हैं—

यैस्त्यक्तो ममताभावो लोभमोहो निराकृतौ।
ते यान्ति परमं स्थानं कामक्रोधविवर्जिताः॥
यावत् कामश्च लोभश्च रागद्वेषव्यवस्थितिः।
नाप्नुवन्ति परां सिद्धिं शब्दमात्रैकबोधकाः॥
(स्कन्दपु० माहे० केदार० ३१।६३-६४)

इस उपदेशसे भगवान् शङ्कर यह नीति सिखलाते हैं कि कोरे ज्ञानसे कुछ नहीं होना है। उसे आचरणमें लाना आवश्यक है। काम, क्रोध आदि परम शत्रु हैं—इतना जान लेनामात्र काम नहीं आयेगा जबतक कि इनका परित्याग न किया जाय।

भगवान् शङ्करके कुछ नीतिपरक उपदेश

(१) सबसे बड़ा धर्म और सबसे बड़ा पाप—भगवान् शङ्करने देवी पार्वतीके पूछनेपर उन्हें नीतिधर्मोपदेश प्रदान किया है, जो बडा ही उपयोगी और परम हित साधनवाला है। भगवान् शङ्कर बताते हैं कि सबसे बडा धर्म है सत्य और सबसे बडा पाप है असत्य—

नास्ति सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकं परम्॥
(महा० अनु० अ० १४१)

इसलिये मन, वाणी तथा कर्मसे सदा ही सत्यका व्यवहार करना चाहिये, क्योंकि इससे बडा दूसरा कोई धर्म नहीं है। असत्यका आश्रयण कदापि न करे, क्योंकि यह सबसे बडा पातक है।

(२) कर्मका साक्षी स्वयंको समझे—भगवान् शङ्कर बहुत ही मार्मिक बात बतलाते हुए कहते हैं कि मनुष्यको चाहिये कि वह अपने शुभ अथवा अशुभ कर्ममें सदा अपने-आपको ही साक्षी माने और मन, वाणी तथा क्रियाद्वारा कभी भी पाप करनेकी इच्छा न करे—

आत्मसाक्षी भवेन्नित्यमात्मनस्तु शुभाशुभे।
मनसा कर्मणा वाचा न च काङ्क्षेत पातकम्॥
(महा० अनु० अ० १४५)

क्योंकि जीव जैसा कर्म करता है, वैसा फल पाता है। वह अपने किये हुएका फल स्वयं ही भोगता है दूसरा कोई उसे भोगनेका अधिकारी नहीं है—

यादृशं कुरुते कर्म तादृशं फलमश्नुते।
स्वकृतस्य फलं भुङ्क्ते नान्यस्तद् भोक्तुमर्हति॥
(महा० अनु० अ० १८)

(३) सदा सम स्थितिमें रहे—भगवान् शिव बताते हैं

कि मनुष्ययोनिमे उत्पन्न जीवके पास गभावस्थास ही नाना प्रकारक दु ख ओर सुख आत रहते है, उनमसे कोई एक मार्ग यदि इसे प्राप्त हो तो यह जीव सुख पाकर हर्ष न करे और दु ख पाकर चिन्तित न हा अर्थात् सुख-दु खम सम (स्थिरबुद्धि) बना रहे, विचलित अथवा दृप्त[१] न हो—

सुख प्राप्य न सहृष्यत्र दु ख प्राप्य सञ्ज्वरेत्।

(महा० अनु० अ० १४५)

(४) आसक्ति कैसे हटे—जीवका ससारके प्रति जो ममत्व बन गया है, आसक्ति हा गयी है वह छूटती नहीं। इस आसक्तिका बन्धन बडा ही दृढ है। आसक्ति मिटे बिना कल्याण सम्भव नहीं, अत उसके मिटनका काई उपाय हाना चाहिये, उसीक विषयम भगवान् शङ्कर एक सुगम उपाय बताते हुए कहते है कि हम जहाँ या जिस व्यक्ति, परिस्थिति, घटना आदिमे आसक्ति हा रही हा उसम दाष-दृष्टि करनी चाहिये समझना चाहिये कि यह हमार लिये अत्यन्त अनिष्टकर है, हानिकर है, अभ्युदयम बाधक है। धीरे-धीरे ऐसा करनेसे अभ्यास बन जायगा और प्रभु-कृपासे उस आरसे वैराग्य हो जायगा तथा भगवान्‌म मन लग जायगा। भगवान्‌क मूल वचन इस प्रकार हैं—

दोषदर्शी भवेत्तत्र यत्र स्नह प्रवर्तते।
अनिष्टनान्वित पश्येद् यथा क्षिप्र विरज्यते॥

(महा० अनु० अ० १४५)

(५) तृष्णाके समान कोई दु ख नहीं है—भगवान् शङ्कर चतावनी देते हुए कहते ह कि तृष्णाके समान कोई दु ख नहीं है और त्यागक समान काई सुख नहीं है। समस्त कामनाआका परित्याग करके मनुष्य ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है। खाटी बुद्धिवाले मनुष्याके लिय जिसका त्याग करना अत्यन्त कठिन है, जा मनुष्यक बूढे हा जानेपर स्वय बूढी नहीं हाती तथा जिसे प्राणनाशक राग कहा गया है उस तृष्णाका त्याग करनेवालेको ही सुख मिलता ह—

नास्ति तृष्णासम दु ख नास्ति त्यागसम सुखम्।
सर्वान् कामान् परित्यज्य ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यत ।
योऽसौ प्राणान्तिका रोगस्ता तृष्णा त्यजत सुखम्॥

(महा० अनु० अ० १४५)

(६) अर्थ अनर्थका मूल है—अर्थका सभी अनर्थोंका मूल बताते हुए भगवान् कहत हैं कि धनक उपार्जनम दु ख हाता है, उपार्जित धनकी रक्षाम दु ख हाता है, धनक नाश और व्ययम भी दु ख हाता है, इस प्रकार दु ख-भाजन बन हुए धनका धिक्कार है—

अर्थानामार्जने दु खमार्जितानां तु रक्षण।
नाश दु ख व्यय दु ख धिगर्थं दु खभाजनम्॥

(महा० अनु० अ० १४५)

(७) गौएँ पूजनीय है—भगवान् शङ्करने गौआकी महिमा बताते हुए कहा है कि सभीका गोआका सवा करनी चाहिय। उनक मल-मूत्रस कभा भी उद्विग्न नहा हाना चाहिये और न कभी उनका मास खाना चाहिये। सदा ही गोभक्त हाना चाहिय—

गवा मूत्रपुरीषाणि नोद्विजेत कदाचन।
न चासा मासमश्नीयाद् गाषु भक्त सदा भवत्॥

(महा० अनु० अ० १४५)

क्योकि गौएँ सम्पूर्ण जगत्‌म श्रेष्ठ हैं, वे लोगाका जीविका देनके कार्यम प्रवृत्त हुई हैं, व मरे अधान हे ओर चन्द्रमाके अमृतमय द्रवसे प्रकट हुई है। वे साम्य, पुण्यमयी कामनाआकी पूर्ति करनेवाली तथा प्राणदायिनी ह, इसलिये पुण्याभिलाषा मनुष्याके लिय पूजनीय है—

लोकज्येष्ठा लाकवृत्त्या प्रवृत्ता
मय्यायत्ता सामनिष्पन्दभूता ।
सौम्या पुण्या कामदा प्राणदाश्च
तस्मात् पूज्या पुण्यकामैर्मनुष्यै ॥

(महा० अनु० अ० १४५)

(८) राजनीतिका उपदेश—राजाआको किस प्रकारका कतव्य करना चाहिय और किस नीतिस व यशाक भागी बनकर प्रजाका पालन कर सकते हैं—इस विषयम भगवान् शिव बताते हैं कि राजाको यत्नपूर्वक अपन राष्ट्रका रक्षा

[१] हृष्टो दर्पति दृप्तो धर्ममतिक्रामति धर्मातिक्रमे खलु पुनर्नरक । (आपस्तम्ब धर्मशास्त्र ४।४)

हर्षातिरेकसे व्यक्तिम दर्प या अहङ्कारका प्रवेश हो जाता है और दृप्त व्यक्ति धर्म-मर्यादाका उल्लघन करन लगता है धर्मक अतिक्रमणसे निश्चय ही नरकका प्राप्ति हाती है। अत हर्ष एव दु खम समान रहना चाहिये।

करनी चाहिये। राजोचित व्यवहारोका पालन, गुप्तचरोकी नियुक्ति, सदा सत्यप्रतिज्ञ होना, प्रमाद न करना, प्रसन्न रहना, व्यवसायमे अत्यन्त कुपित न होना, भृत्यवर्गका भरण और वाहनोका पोषण करना योद्धाओका सत्कार करना एव किये हुए कार्यमे सफलता लाना—ये सब राजाओके कर्तव्य है। ऐसा करनेसे उन्हे इहलोक और परलोकमे भी श्रेयकी प्राप्ति होती है—

श्रेय एव नरेन्द्राणामिह चैव परत्र च॥

(महा० अनु० अ० १४५)

अशिष्ट पुरुषोको दण्ड देना और शिष्ट पुरुषोका पालन करना राजाका धर्म है—

अशिष्टशासन धर्म शिष्टाना परिपालनम्॥

(महा० अनु० अ० १४५)

राजाको सदा धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करना चाहिये। राजाके स्वधर्मपरायण होनेपर वहाँकी सारी प्रजा धर्मशील होती है—

धर्मशीला प्रजा सर्वा स्वधर्मनिरते नृपे।

(महा० अनु० अ० १४५)

क्योकि धर्म ही यदि उसका हनन किया जाय तो मारता है और धर्म ही सुरक्षित होनेपर रक्षा करता है, अत प्रत्येक मनुष्यको—विशेषत राजाको धर्मका हनन नहीं करना चाहिये—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षित ।
तस्माद् धर्मो न हन्तव्य पार्थिवेन विशेषत ॥

(महा० अनु० अ० १४५)

राजाको चाहिये कि वह पहले अपने-आपको ही विनयसे सम्पन्न करे **'आत्मानमेव प्रथम विनयैरुपपादयेत्'** (महा०, अनु०अ० १४५) तत्पश्चात् सेवको और प्रजाओको विनयकी शिक्षा दे। विनयकी प्रतिष्ठा हो जानेपर उसे चाहिये कि वह अपनी इन्द्रियोपर विजय प्राप्त करे—**'इन्द्रियाणा जयो देवि अत ऊर्ध्वमुदाहृत ।'** (महा०, अनु० अ० १४५) और योग्य तथा शुभ लक्षणसम्पन्न अमात्योको नियुक्त करे।

प्रजाका कार्य ही राजाका कार्य है प्रजाका सुख ही उसका सुख है, प्रजाका प्रिय ही उसका प्रिय है तथा प्रजाके हितमे ही उसका अपना हित है प्रजाके हितके लिये ही उसका सर्वस्व है अपने लिये कुछ भी नहीं है—

प्रजाकार्यं तु तत्कार्यं प्रजासौख्य तु तत्सुखम्।
प्रजाप्रिय प्रिय तस्य स्वहित तु प्रजाहितम्॥
प्रजार्थ तस्य सर्वस्वमात्मार्थं न विधीयते॥

(महा० अनु० अ० १४५)

वस्तुत भगवान् शङ्करद्वारा बतायी इस नीतिको राजा अपना आदर्श बना ले, कर्तव्य समझ ले तो रामराज्य ही स्थापित हो जाय।

(९) गृहस्थके लिये कर्तव्य-नीतिका निर्धारण— भगवान् शङ्करने गृहस्थाश्रमकी बडी महिमा गायी है और उस आश्रमको सर्वोपरि तथा सभीका उपकारक बताते हुए कहा है कि जैसे सभी जीव माताका सहारा लेकर जीवन धारण करते है वैसे ही सभी आश्रम गृहस्थ-आश्रमका आश्रय लेकर जीवन-यापन करते हैं—

यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तव ।
तथा गृहाश्रम प्राप्य सर्वे जीवन्ति चाश्रमा ॥

(महा० अनु० अ० १४१)

परतु गृही कैसा हो तथा कैसे रहे इसके लिये श्रीभगवान्ने बताया कि जो शील और सदाचारसे विनीत है, जिसने अपनी इन्द्रियोको वशमे कर रखा है, जो सरलतापूर्ण व्यवहार करता है और समस्त प्राणियोका हितैषी है, जिसे अतिथि प्रिय है, जो क्षमाशील है, जिसने धर्मपूर्वक धनका उपार्जन किया है—ऐसे गृहस्थके लिये अन्य आश्रमोकी क्या आवश्यकता है?

शीलवृत्तविनीतस्य निगृहीतेन्द्रियस्य च॥
आर्जवे वर्तमानस्य सर्वभूतहितैषिण ।
प्रियातिथेश्च क्षान्तस्य धर्मार्जितधनस्य च॥
गृहाश्रमपदस्थस्य किमन्ये कृत्यमाश्रमै ॥

(महा० अनु० अ० १४१)

इस प्रकार सक्षेपमे ही भगवान् शङ्करने गृहस्थको उत्तम नीतिचर्याका निरूपण किया है। इसके अनुपालनसे सुख-शान्ति स्वत ही प्राप्त हो जायगी और वह सत्-मार्गका पथिक भी बन जायगा।

(१०) महान् आश्चर्य—भगवान् शङ्कर देवी पार्वतीसे कहते है—देवि! यह महान् आश्चर्यकी बात है कि मनुष्योकी इन्द्रियाँ प्रतिक्षण जीर्ण हो रही हैं, आयु नष्ट होती जा रही है और मौत सामने खडी है फिर भी लोगोका

दु खदायी सासारिक भागाम सुख भास रहा है। जन्म-मृत्यु और जरासम्बन्धी दु खास सदा आक्रान्त हाकर ससारम मनुष्य पकाया जा रहा है ता भी वह पापस उद्विग्न नहीं हा रहा है—

जन्ममृत्युजराद् खै सतत समभिद्रुत ।
ससार पच्यमानस्तु पापान्नोद्विजत जन ॥
(महा० अनु० अ० १४५)

इम प्रकारका नीति-बोध प्रदान कर भगवान् शङ्कर मनुष्योंका सदा सन्मार्गपर चलने, अपने विहित कर्तव्य-कर्मोंको करते हुए भगवान्‌को सदा याद रखने और उन्हें कभी न भूलनेका सदेश हमे प्रदान करते हैं। इसालिये श्रुतियाम भगवान् शङ्करसे यही प्रार्थना की गयी है कि वे कृपालु भगवान् शङ्कर अनीति-मार्गसे हमारा निवारण करके भगवन्मार्गपर प्रवृत्त होनेके लिये हमे सद्बुद्धिसे युक्त करे—

'स नो बुद्ध्या शुभया सयुनक्तु।'
(श्वेता० उप० ३।४)

~~~

देवराज इन्द्र और उनका बाहुदन्तक नीतिशास्त्र

वेदाम देवताओंके राजा इन्द्रकी महिमाका विशेषरूपसे गान हुआ है। भारतीय आर्यमनीषाके सर्वाधिक प्रिय देवता इन्द्र ही रहे हैं। ऋग्वेदके लगभग ३०० सूक्तोंमें इन्द्रकी स्तुतियाँ प्राप्त होती हैं जिनमें उन्हें नीति-विरोधी असुरोंका विनाशक, महान् सामर्थ्य और शक्तिसे सम्पन्न महाप्रज्ञावान् तथा सत्-नीतिका पक्षपाती बताया गया है। असुरोंद्वारा दैवी नीतिका विरोध करनेपर सदा ही राजा इन्द्रने उनका प्रबल प्रतिवाद किया है। सभी देवता जब देवराज इन्द्रके शासनमें चलते हैं तो अन्यका क्या कहना! ये वर्षाके अधिनायक हैं। इनकी देवसेनाके सेनापति भगवान् कार्तिकेय हैं। देवगुरु बृहस्पति इनके आचार्य एव पुरोहित हैं। इन्होंने सौ यज्ञ करके ऐन्द्र पद प्राप्त किया। इनकी पुरी अमरावती कहलाती है और इनके आनन्द-काननका नाम नन्दनवन है। समुद्र-मन्थनके समय जो दिव्य गजरत्न प्रादुर्भूत हुआ वह ऐरावत इनका वाहन है। इनका मुख्य आयुध दिव्य शक्तिसम्पन्न वज्र है जिससे इन्होंने वृत्र, नमुचि तथा विप्रचित्ति आदि आसुरी प्रवृत्तिवाले एव नीतिमार्गके उच्छेदक असुरोंका वध किया। देवराज इन्द्र तीनों लोकोंमें शान्ति एव सत्-नीतिका साम्राज्य स्थापित करना चाहते हैं। ये यज्ञभागके मुख्य अधिकारी हैं। धनाध्यक्ष कुबेर वरुण वायु, सूर्य तथा चन्द्र आदि देव इनकी आज्ञाका पालन करते हैं।

देवराज इन्द्रकी शक्तिकी कोई इयत्ता नहीं है। जब राहुके उपरागसे सूर्य प्रकाशहीन हो जाते हैं तब देवराज इन्द्र उसे पराजित करके सूर्यको प्रकाशयुक्त कर देते हैं (ऋ० ८।३।६)। सूर्यके न रहनेपर ये सूर्य बनकर तपते हैं और चन्द्रमाके न रहनेपर स्वय चन्द्रमा बनकर जगत्‌को आप्यायित करते हैं। आवश्यकता पड़नेपर पृथ्वी जल, अग्नि तथा वायु आदि बनकर विश्वकी स्थिति बनाये रखते हैं—

असूर्ये च भवेत् सूर्यस्तथा चन्द्रे च चन्द्रमा ।
भवत्यग्निश्च वायुश्च पृथिव्यापश्च कारणे ॥
(महा० वनपर्व)

सतुष्ट हो जानेपर इन्द्र समस्त प्राणियोंको बल तेज सतान और सुख प्रदान करते तथा उपासकोंको सतुष्ट करते हैं—

इन्द्रो ददाति भूतानां बल तेज प्रजा सुखम्।
तुष्ट प्रयच्छति तथा सर्वान् कामान् सुरेश्वर ॥
(महा० वनपर्व)

ये दुराचारियोंको दण्ड देते हैं तथा सदाचारियोंकी रक्षा करते हैं। ये भू, भुव तथा स्व —इन तीनों लोकोंके अधिपति हैं। ये शुक्रग्रहके अधिदेवता भी हैं। इनकी पत्नीका नाम शची पुत्रका नाम जयन्त तथा पुत्रीका नाम जयन्ती है।

इन्द्रकी राजसभा अत्यन्त ही विलक्षण है इसी राजसभामें दिव्य सिंहासनपर आरूढ होकर देवराज इन्द्र नीतिका निर्धारण करते हैं।

महाभारत (सभापर्व अ० ७)-मे बताया गया है कि देवराज इन्द्रकी राजसभा तेजोमयी और सूर्यके समान प्रकाशमान है। उसका निर्माण देवशिल्पी विश्वकर्माने किया है। स्वय इन्द्रने सौ अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करके उस सभाको प्राप्त किया है। वह स्वेच्छासे इधर-उधर विचरण कर सकनेवाली तथा इच्छाके अनुसार गतिशील है। उस
~~~

सभामे जीर्णता, शोक थकावट आदिका प्रवेश नहीं है, वहाँ भय भी नहीं है। वह मङ्गलमयी है और सब प्रकारसे शोभासम्पन्न है। पुण्यशाली मनुष्य ही वहाँ जा पाते हैं। देवराज इन्द्रका पद 'ऐन्द्र पद' कहलाता है और इनके लोकका नाम इन्द्रलोक है। महान् सुकृतोंके फलस्वरूप इन्द्रलोककी प्राप्ति होती है। देवराज इन्द्र अन्तरिक्षस्थानीय देवता कहे गये हैं। कभी-कभी जब ये भी ऐन्द्र पदके अभिमानी हो जाते हैं तो नारायण कृपा करके इनका परिष्कार कर देते हैं।

देवराज इन्द्रद्वारा निर्मित बाहुदन्तक नीतिशास्त्र और उनके कतिपय नीतिवचन

प्रजापति ब्रह्माजीद्वारा जिस नीतिशास्त्रका प्रादुर्भाव हुआ था, उसे भगवान् शङ्करने सर्वप्रथम ग्रहण किया और प्रजाकी आयुको धीरे-धीरे कम होता देख उसे संक्षिप्त कर दिया। ब्रह्माजीके उस नीतिशास्त्रको जिसमें एक लाख अध्याय थे, शङ्करजीने दस हजार अध्यायोंवाला बना दिया और उसे वैशालाक्ष नाम दिया। भगवान् शङ्करसे देवराज इन्द्रने उस नीतिशास्त्रको ग्रहण किया और फिर आगे उन्होंने भी इसका संक्षेप कर पाँच हजार अध्यायोंवाला बना दिया। वही देवराज इन्द्रका बनाया हुआ नीतिशास्त्र 'बाहुदन्तक' नीतिशास्त्रके नामसे विख्यात हुआ—

वैशालाक्षमिति प्रोक्तं तदिन्द्रः प्रत्यपद्यत।
दशाध्यायसहस्राणि सुब्रह्मण्यो महातपाः॥
भगवानपि तच्छास्त्रं संचिक्षेप पुरंदरः।
सहस्रैः पञ्चभिस्तात यदुक्तं बाहुदन्तकम्॥

(महा० शान्ति० ५९।८२-८३)

देवराज इन्द्रप्रणीत बाहुदन्तक नीतिशास्त्र आज उपलब्ध तो नहीं है, किंतु महाराज इन्द्रके जो नैतिक उपदेश ग्रन्थोंमें इतस्ततः विकीर्ण हैं, उन्हींमेंसे दो-एक वचन यहाँ दिये जा रहे हैं—

सबके पूजनीय और वन्दनीय कौन हैं?

एक बारकी बात है—जब नीतिधर्मके उच्छेदक वृत्रासुरका वध करके देवराज इन्द्र अपने लोकमें लौटे तो उस समय सभी देवताओं तथा महर्षियोंने उन्हें बहुत सम्मानित किया और उनके शौर्य एवं महिमाका आख्यापन किया। उसी समय उनके सारथि मातलिने हाथ जोड़कर उनसे पूछा—'भगवन्! जो सबके द्वारा वन्दित होते हैं उन समस्त देवताओंमें आप अग्रगण्य हैं परंतु आप भी इस जगत्‌में जिन महापुरुषोंको, नीतिधर्मतत्त्वज्ञोंको प्रणाम करते हैं वे कौन हैं? बतलानेकी कृपा करें'।

इसपर देवराज इन्द्र बोले—मातले! धर्म, अर्थ और कामका चिन्तन करते हुए जिनकी बुद्धि कभी अधर्ममें नहीं लगती, मैं प्रतिदिन उन्हींको नमस्कार करता हूँ—

धर्मं चार्थं च कामं च येषां चिन्तयतां मतिः।
नाधर्मे वर्तते नित्यं तान् नमस्यामि मातले॥

(महा० अनु० ९६)

इस वचनसे देवराज इन्द्र इस नीति-शिक्षाका संदेश देते हैं कि अधर्ममें बुद्धिका संनिवेश कभी भी न करें सदा धर्ममार्गमें ही मन लगाये रखें। जो ऐसा करता है वह देवताओंके लिये भी वन्दनीय हो जाता है।

हे मातले! जो अपनेको प्राप्त हुए भोगोंमें ही संतुष्ट हैं—दूसरोंसे अधिककी इच्छा नहीं रखते। जो सुन्दर वाणी बोलते हैं और बोलनेमें कुशल हैं, जिनमें अहंकार तथा कामनाका सर्वथा अभाव है तथा जो सबसे पूजा पाने योग्य हैं। उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ—

स्वेषु भोगेषु संतुष्टाः सुवाचो वचनक्षमाः।
अमानकामाश्चार्घ्यार्हास्तान् नमस्यामि मातले॥

(महा० अनु० अ० ९६)

देवराज इन्द्र बताते हैं कि मनुष्यको सदा प्राप्त वस्तुओंमें ही संतोष करना चाहिये। अधिककी इच्छा नहीं करनी चाहिये। सदैव मधुर वाणीका ही प्रयोग करना चाहिये, अभद्र वचन कभी भी नहीं बोलने चाहिये। किसी भी प्रकारका अभिमान करना तथा कामना रखना अभ्युदयमें बाधक है।

देवराज इन्द्र कहते हैं कि मातले! जो भोगोंसे सदा दूर रहते हैं, जिनकी कहीं भी आसक्ति नहीं है, जो सदा धर्ममें तत्पर रहते हैं इन्द्रियोंको वशमें रखते हैं जो सच्चे संन्यासी हैं और पर्वतोंके समान अचल हैं—भोगोंसे कभी विचलित नहीं होते, उन श्रेष्ठ पुरुषोंकी मैं मनसे पूजा करता हूँ—

असम्भोगान्न चासक्तान् धर्मनित्याञ्जितेन्द्रियान्।
संन्यस्तानचलप्रख्यान् मनसा पूजयामि तान्॥

(महा० अनु०)

इस प्रकार संक्षेपमें देवराज इन्द्रने अप्रत्यक्षरूपसे मातलिको जो नीतिधर्मका उपदेश दिया वह बड़ा ही कल्याणकारी है। अपनी कल्याणकारिताके लिये ही देवराज

इन्द्र वैदिक स्वस्त्ययनम सर्वप्रथम स्मरण किये गये हैं— 'स्वस्ति न इन्द्रो०'।

गृहस्थ-धर्म श्रेष्ठ धर्म हे

किसी समयकी वात ह कुछ मन्दवुद्धि कुलीन व्राह्मण-बालक अपने घरको छोडकर सन्यासीका वेष बना करके वनम चले आय। उनकी अवस्था वहुत थोडी थी, उसी अवस्थामे उन्हाने गृहका त्याग कर दिया। वे सभी धन-धान्यसे सम्पन्न थे तथापि अपन माता-पिता, भाई-वन्धुका परित्याग करके उन्हाने वनम जाना ही श्रेष्ठ समझा, गृहस्थाश्रमका नहीं। वनमे वे सुकुमार वालक महान् कष्ट उठा रह थे।

उनकी ऐसी स्थिति देखकर देवराज इन्द्रको उनपर दया आ गयी ओर व एक सुवर्णमय पक्षीका रूप धारणकर उनके पास आये। उन्ह गृहस्थाश्रमकी अनेक प्रकारकी महिमा बतलाते
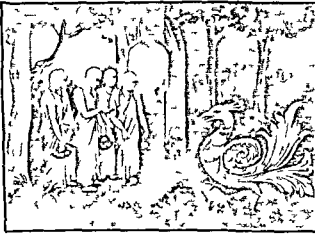
हुए कहा कि तपस्या श्रेष्ठ कर्म है। इसमे सदह नहीं कि यही प्रजावर्गका मूल कारण है, परतु गार्हस्थ्यविधायक शास्त्रके अनुसार इस गार्हस्थ्यधर्मम ही सारी तपस्या प्रतिष्ठित है—

तप श्रेष्ठ प्रजाना हि मूलमेतन्न सशय ।
कुटुम्बविधिनानेन यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्॥

(महा० शान्तिपर्व ११।२१)

जिनक मनम किसीके प्रति इर्ष्या नहीं है जो सव प्रकारके द्वन्द्वास रहित हैं वे व्राह्मण इसाको तप मानत हैं। यद्यपि लाकम व्रतका भी तप कहा जाता है कितु वह पञ्चयनक अनुष्ठानकी अपेक्षा मध्यम श्रणीका है। दवताआ पितरा अतिथिया तथा अपन परिवारक अन्य सव लागाका दकर जा सवस पाछे अवशिष्ट अन्न खात हैं वे (गृहस्थ) विघसाशी (यनस वच हुए पवित्र अनका भक्षण करनवाल) कहलात हैं—

दत्त्वातिथिभ्यो देवेभ्य पितृभ्य स्वजनाय च।
अवशिष्टानि येऽश्नन्ति तानाहुर्विघसाशिन ॥

(महा० शान्ति० ११।२८)

इसलिये गृहस्थाश्रम सिद्धिका पुण्यमय क्षेत्र हे और यही सवसे महान् आश्रम है—

सिद्धिक्षत्रमिद पुण्यमयमेवाश्रमो महान्॥

(महा० शान्ति ११।१५)

पक्षिरूपी दवराज इन्द्रकी वात सुनकर वे ब्राह्मण-वालक इस निश्चयपर पहुँचे कि हमलोग जिस मार्गपर चल रहे ह, वह हमारे लिये हितकर नहीं है। वे पुन घर लौट आये और गृहस्थधर्मका पालन करने लगे। इसके बाद देवराज इन्द्र भी देवलोक चले आये।

तीर्थोंकी महिमा

देवराज इन्द्रने गङ्गादि तीर्थोंम श्रद्धा-भक्तिपूर्वक स्नान-अवगाहन करनेकी प्रेरणा प्रदान की ह आर इसका फल सव प्रकारकी विशुद्धि-प्राप्ति वतलाया है। इतना ही नहीं, उनका ता यहाँ तक कहना है कि तीर्थोंका मन-ही-मन स्मरण करके सामान्य जलम भी उन तीर्थाकी भावना करनेसे उन तीर्थोंम जाकर स्नान करनेका फल प्राप्त हो जाता है। मनुष्यको चाहिये कि वह कुरुक्षेत्र, गया, गङ्गा, प्रभास और पुष्करक्षेत्रका मन-ही-मन चिन्तन करके जलम स्नान कर। एसा करनेसे वह पापम उसी प्रकार मुक्त हो जाता है जैसे चन्द्रमा राहुके ग्रहणसे—

कुरुक्षेत्र गया गङ्गा प्रभास पुष्कराणि च॥
एतानि मनसा ध्यात्वा अवगाहेत् ततो जलम्।
तथा मुच्यति पापन राहुणा चन्द्रमा यथा॥

(महा० अनु० १२५।४८-४९)

सबसे वडा तीर्थ गो-सेवा

देवराज इन्द्र वताते हैं कि गौआम सभी तीर्थ प्रतिष्ठित हैं। अत गौआके दर्शन उनकी सवा उन्ह ग्रास दने तथा प्रणाम करनका विशेष फल वताया गया है।

जो मनुष्य गौआकी पाठ छूता और उनकी पूँछको नमस्कार करता है, वह मानो तीर्थोंम तीन दिनतक उपवासपूर्वक स्नान कर लेता है।

त्र्यह स्नात स भवति निराहारश्च यर्तत।
स्पृशते यो गवा पृष्ठ यालधिं च नमस्यति॥

(महा० अनु० १२५।५०)

आचार्य बृहस्पति और उनका नीतिशास्त्र

आचार्य बृहस्पति देवताओंके भी गुरु हैं अतः उनकी महिमाकी क्या इयत्ता। भगवान् ब्रह्माजीके छः मानस पुत्रोंमेंसे अंगिरा ऋषिके तीन पुत्र हुए—बृहस्पति, उतथ्य और संवर्त। इनमें बृहस्पति सबसे ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ हुए। देवताओंमें जो सात्त्विकता और नीतिमत्ता है, उसके कारण भगवान् बृहस्पति ही हैं। ये देवताओंको सदा भगवद्भक्तिमें लगाये रखते हैं और उनके सभी वैदिक कर्म विधिवत् कराते हैं। जब-जब देवताओंने बृहस्पतिजीके सुनीतिमय वचनोंकी अवहेलना की तब-तब वे श्रीहीन हो गये। ये संसारमें सबसे अधिक नीतिमान् और बुद्धिमान् हैं। बृहस्पतिजीकी नीति सर्वश्रेष्ठ और प्रामाणिक मानी जाती है।

ये अत्यन्त सत्त्वसम्पन्न, धर्मनीतिके सम्यक् परिज्ञाता, वाणी-बुद्धि और ज्ञानके अधिष्ठाता तथा महान् परोपकारी हैं। महाभागवत श्रीभीष्मपितामहजीका कहना है कि आचार्य बृहस्पतिजीके समान वक्तृत्वशक्तिसम्पन्न और कोई दूसरा कहीं भी नहीं है—

वक्ता बृहस्पतिसमो न ह्यन्यो विद्यते क्वचित्॥

(महा० अनु० १११।५)

बृहस्पतिजी हमें यह शिक्षा देते हैं कि लोक-व्यवहारमें वाणीका प्रयोग बहुत ही विचारपूर्वक करना चाहिये। बृहस्पतिजी स्वयं मृदुभाषी एवं शान्त थे इसीलिये वे बताते हैं कि प्रत्येक परिस्थितिमें सबको शान्त, सम एवं विकाररहित रहना चाहिये तथा सान्त्वनापूर्ण मधुर वचन ही बोलना चाहिये। वे देवलोकके राजा इन्द्रको नीतिकी यही बात बताते हैं कि राजन्! आप तो तीनों लोकोंके राजा हैं। अतः आपको वाणीके विषयमें विशेष सावधान रहना चाहिये। क्योंकि जो व्यक्ति दूसरोंको देखकर पहले स्वयं बात करना प्रारम्भ करता है और मुसकराकर ही बोलता है, उसपर सब लोग प्रसन्न हो जाते हैं—

यस्तु सर्वमभिप्रेक्ष्य पूर्वमेवाभिभाषते।
स्मितपूर्वाभिभाषी च तस्य लोकः प्रसीदति॥

(महा० शान्ति० ८४।६)

देवगुरु बृहस्पति नक्षत्र-मण्डलमें प्रतिष्ठित होकर एक ग्रहके रूपमें भी जगत्के कल्याण-चिन्तनमें निमग्न रहते हैं। ज्योतिष-शास्त्रके अनुसार आचार्य बृहस्पति सब प्रकारसे अभ्युदयके ही विधायक हैं और इनकी कृपासे बुद्धि शुद्ध होकर सन्मार्गपर प्रवृत्त हो जाती है। देवगुरु होनेसे सम्पूर्ण देव-निकाय एवं जीव-निकायके लिये जीवन-चर्या तथा धर्म-कर्मके विधायक तत्त्वों एवं राजधर्म तथा दण्डविधान आदिका दायित्व भी इनपर स्वाभाविक रूपसे रहता आया है। अतः कभी ये अपने आचरणसे, कभी उपदेशोंसे तथा कभी ग्रन्थोंका विधानकर कर्तव्य-शिक्षाका प्रसार करते रहते हैं। अनेक ग्रन्थोंमें विशेषकर धर्मशास्त्रों, पुराणों तथा महाभारत आदिमें इनके बहुत-से धर्म-नीतिमय आख्यान और उपदेश प्राप्त होते हैं। इनके नामसे बार्हस्पत्य-अर्थशास्त्र बहुत ही प्रसिद्ध है। साथ ही इनकी बनायी हुई एक स्मृति भी उपलब्ध है, जिसमें देवराज इन्द्रको विविध प्रकारके उपदेश दिये गये हैं। वहाँ वे देवराज इन्द्रसे कहते हैं—राजन्! दानकी विशेष महिमा है। सभीको यथाशक्ति, यथाविभव न्यायोपार्जित द्रव्यमसे अवश्य दान करना चाहिये। दानोंमें भी ये तीन प्रकारके दानोंको अतिदान बताते हुए कहते हैं—

गोदान, भूमिदान और विद्यादान—ये तीन दान महादानोंसे भी बड़े फलवाले हैं, इसलिये अतिदान कहलाते हैं। अतिदान करनेवालेका सब पापोंसे उद्धार हो जाता है और ये दान दाताके उद्धारक हैं—

त्रीण्याहुरतिदानानि गावः पृथ्वी सरस्वती॥
तारयन्ति हि दातारं सर्वपापादसंशयम्।

(बृह० स्मृति १८-१९)

बृहस्पतिप्रोक्त नीतिशास्त्र—नीतिके आचार्योंमें महामति बृहस्पतिजीका विशेष स्थान है। सृष्टिके समय ब्रह्माजीने जिस नीतिशास्त्रका प्रतिपादन किया, उसे भगवान् शंकरने ग्रहणकर संक्षिप्त भी कर दिया। उसी संक्षिप्त नीतिशास्त्रको देवराज इन्द्रने भगवान् शंकरसे ग्रहणकर छोटा किया और पुनः मनुष्योंकी आयु, विद्या, बुद्धि एवं शक्तिका ह्रास होता देख आचार्य बृहस्पतिने अपने बुद्धि-बलसे उस पूर्वोक्त

नीतिशास्त्रको ओर भी संक्षिप्त कर दिया तथा उसमें तीन हजार अध्याय रह गये। यही शास्त्र बार्हस्पत्य नीतिशास्त्रके नामसे विख्यात हुआ—

अध्यायानां सहस्रैस्तु त्रिभिरेव बृहस्पतिः ।
सचिक्षेपेश्वरो बुद्ध्या बार्हस्पत्यं तदुच्यते॥

(महा०, शान्ति० ५९।८४)

कालके योगसे वह सम्पूर्ण नीतिशास्त्र आज उपलब्ध नहीं है, परंतु विविध ग्रन्थोंमें आचार्य बृहस्पतिजीकी धर्मनीति एवं राजनीतिके सुन्दर वचन भरे पड़े हैं।

महाभारत, बृहस्पतिस्मृति तथा गरुडपुराण आदिमें तो प्रायः बृहस्पति-नीतिशास्त्रका सार ही संगृहीत है। गरुडपुराणमें आचारकाण्डके १०८ से ११४ तकके सात अध्यायोंमें लगभग एक हजार श्लोकोंमें उपयोगी नीतिका वर्णन हुआ है, जो बृहस्पतिप्रोक्त नीति कहलाती है। इन सभी स्थलोंमें मुख्य रूपसे श्रोताके रूपमें देवराज इन्द्र ही निर्दिष्ट हैं। वे गुरुसे नीति-मार्ग पूछते हैं और बृहस्पतिजी उन्हें पुरुषार्थचतुष्टयका उपदेश देते हैं।

न केवल इन्द्रको ही अपितु पृथ्वीलोकमें आकर भी उन्होंने युधिष्ठिर, मान्धाता तथा कोसलनरेश वसुमना आदि राजाओंको राजधर्म और धर्मनीतिका मार्मिक उपदेश दिया है। यहाँ संक्षेपमें कुछ उपदेशोंकी बात दी जा रही है—

आचार्य बृहस्पतिके नीतिवचन

(१) सर्वोपरि नीति—आचार्य बृहस्पति महान् भक्त, ज्ञानी और संत थे। अनेक प्रकारके नीतिधर्मोंका उपदेश देनेके बाद वे कहते हैं कि भगवन्नामका सतत स्मरण ही सर्वोपरि कल्याणकारी नीति है। जो मनुष्य इसका अवलम्बन ले लेता है फिर उसके लिये भगवद्धाम दूर नहीं रहता। इसी भावको उन्होंने निम्न श्लोकमें व्यक्त किया है—

सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम्।
बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति॥

(गरुडपु० आचार० ११४।३)

(२) संसारकी अनित्यताको मत भूलो—आचार्य बृहस्पति कहते हैं कि मनुष्यको दुर्जनोंकी संगतिका परित्याग कर साधुजनोंकी सेवामें संलग्न रहना चाहिये। दिन-रात पुण्यका संचय करते हुए अपनी तथा संसारकी अनित्यताको स्मरण रखना चाहिये—

त्यज दुर्जनसंसर्गं भज साधुसमागमम्।
कुरु पुण्यमहोरात्रं स्मर नित्यमनित्यताम्॥

(गरुडपु० आचार० १०८।२६)

बृहस्पतिजी बताते हैं कि यह संसार अनित्य तथा दुःखालय है। यहाँके सार भाग क्षणिक तथा दुःखदायी हैं। अतः उनसे ममत्व हटाकर भगवद्भक्तोंका, साधु पुरुषोंका ही संग करना चाहिये।

(३) धर्मनीतिका अनुपालन ही जीवका सच्चा साथी है—बात उस समयकी है जब महाभागवत श्रीभीष्मजी शर-शय्यापर पड़े थे तब युधिष्ठिर आदि उनके पास जाकर उत्तम ज्ञानकी बात सीखते हैं। उसी प्रसंगमें संसार-यात्राके विषयमें युधिष्ठिरजीके प्रश्न करनेपर भीष्मजी बोले—राजेन्द्र! इस विषयको आज महाप्राज्ञ बृहस्पतिके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं बता सकता है—'*नैतदन्येन शक्यं हि वक्तुं केनचिदद्य वै*' (महा०, अनु० १११।५)। ये उदारबुद्धि बृहस्पतिजी अभी-अभी स्वर्गलोकसे यहाँ पधारे हैं। ये ही महाभाग आपको यह गूढ़ विषय बतलायेंगे।

इसपर हाथ जोड़कर युधिष्ठिरजीने बृहस्पतिजीसे कहा—भगवन्! आप सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता और सब शास्त्रोंके विद्वान् हैं। अतः आप यह बतानेकी कृपा करें कि पिता, माता, पुत्र, गुरु, सजातीय सम्बन्धी और मित्र

आदिमसे मनुष्यका सच्चा सहायक कौन है? जब सब लोग मरे हुए शरीरको काठ और ढेलेके समान त्यागकर चल जाते हैं, तब इस जीवके साथ परलाकम कौन जाता है?

इसपर बृहस्पतिजीने जा उपदेश दिया, वह नीतिशास्त्रका निचोड ही ह।

बृहस्पतिजी बाले—राजन्! प्राणी अकेला ही जन्म लता है और अकेला ही मरता है। अकेला ही दु खसे पार हाता तथा अकेला ही दुर्गति भागता है। माता, पिता भाई, पुत्र गुरु, जाति-सम्बन्धी तथा मित्रवग—य काई भी उसके सहायक नहीं होते। लाग उसके मृत शरीरका काठ आर मिट्टीके ढलेकी तरह फककर दो घडी राते हैं फिर उसकी आरसे मुँह फेरकर चल दत ह। व कुटुम्बीजन ता उसके शरीरका परित्याग करक चले जाते हैं, किंतु एकमात्र धर्म ही उस जीवात्माका अनुसरण करता ह, इसलिय धर्म ही सच्चा सहायक है। अत मनुष्याको सदा धर्मका ही सेवन करना चाहिय—

तैस्तच्छरीरमुत्सृष्ट धर्म एकोऽनुगच्छति॥
तस्माद्धर्म सहायश्च सवितव्य सदा नृभि ।

(महा० अनु० १११।१४-१५)

धर्मनीति क्या है?—इस प्रकार बृहस्पतिजीने युधिष्ठिरजीको अनेक प्रकारसे दानधर्म राजधर्म, लोकधर्म तथा भगवद्धर्मका उपदेश दिया। पुन उनके पूछनेपर धर्मनीतिका तत्त्वरहस्य बतलाते हुए आचार्य बृहस्पति कहत हैं—

सर्वभूतात्मभूतस्य सर्वभूतानि पश्यत ।
देवाऽपि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिण ॥

(महा० अनु० ११३।७)

अर्थात् जो सम्पूर्ण भूताकी आत्मा ह किंवा सबकी आत्माको अपनी ही आत्मा समझता हे तथा जो सब भूतोंको समानभावसे देखता है, उस गमनागमनसे रहित ज्ञानीकी गतिका पता लगाते समय देवता भी मोहमे पड जाते हैं।

ऐसे ही एक दूसर उपदेशम वे कहते ह—

न तत् परस्य सदध्यात् प्रतिकूल यदात्मन ।
एप सक्षेपतो धर्म कामादन्य प्रवर्तते॥

(महा० अनु० ११३।८)

अथात् जो वात अपनका अच्छी न लग, वह दूसराके प्रति भी नहीं करनी चाहिये। यही धर्मका सूक्ष्म लक्षण है। इससे भिन्न जा वर्ताव होता है, वह कामनामूलक ह—स्वार्थवश है।

शास्त्रविहित कर्म ही अनुष्ठेय है—आचार्य बृहस्पति देवराज इन्द्रको वतात हैं कि राजन्द्र! कर्मोक अनुष्ठानम शास्त्र ही प्रमाण हैं। शास्त्रम जिसक लिय जा निर्दिष्ट कर्म हैं वे ही करणीय हैं, तदितर कर्म सर्वथा त्याज्य हैं। कल्याणकामीका इस नीतिवचनका स्मरण रखते हुए विहित कर्मम ही प्रवृत्त हाना चाहिय। आचार्यके मूल वचन इस प्रकार हैं—

तस्माद् वर्ज्यानि वर्ज्यानि कार्यं कार्यं च नित्यश ॥
भूतिकामेन मर्त्येन सत्यमेतद् ब्रवीमि ते।

(महा० अनु० १२५।६८-६९)

राजधर्मका उपदेश—एक बार कोसलनरेश वसुमनाने आचार्य बृहस्पतिजीसे राजधर्मके विषयम जिज्ञासा की। इसपर बृहस्पतिजीने विस्तारसे उन्हे राजधर्मका उपदेश दिया और प्रजापालनके लिये धार्मिक तथा नीतिमान् राजाकी आवश्यकता वतलायी, साथ ही यह भा बताया कि राजदण्डके भयसे सारी प्रजा अपनी मर्यादामे रहती है एव सबकी सुरक्षा हाती है। धार्मिक और प्रजापालक राजा मनुष्यरूपम देवता ही है। वही समयानुसार कभी अग्नि, कभी सूर्य, कभी मृत्यु, कभी कुबर ओर कभी यमराज—इस प्रकार पाँच रूप धारण करता ह—

महती देवता ह्येपा नररूपेण तिष्ठति॥
कुरुते पञ्च रूपाणि कालयुक्तानि य [illegible]।
भवत्यग्निस्तथाऽऽदित्यो मृत्युर्वैश्रवणो यम ॥

(महा० [illegible] ६८।४-४१)

श्रीरामके द्वारा उपदिष्ट राजनीति

[श्रीरामका लक्ष्मणके प्रति राजनीतिका उपदेश]

[प्रस्तुत लेखमे भगवान् रामके द्वारा लक्ष्मणको राजनीतिका उपदेश राजाके व्याजसे दिया गया है, परंतु यह उपदेश सर्वलोकहितकारी होनेसे सर्वसाधारणके लिये ग्रहण करने योग्य है। — स०]

आजकलके युगमे मेकियावलीको महान् कूटनीतिज्ञ माना गया है, पर वस्तुत कौटल्यके सामने वह निरा बच्चा-सा लगता है। कौटल्यने भी अपने अर्थशास्त्रमे बार-बार आचार्य शुक्रका आदरपूर्वक परम नीतिमान्के रूपमे उल्लेख किया है और वे ही शुक्राचार्य अपने 'नीतिसार'-मे कहते हैं कि रामके समान नीतिमान् राजा पृथ्वीपर न कोई हुआ और न कभी होना सम्भव ही है—

न रामसदृशो राजा पृथिव्यां नीतिमानभूत्।

(शुक्र० ५।५७)

अन्य भी प्रसिद्ध सूक्तियाँ हैं—

नदीषु गङ्गा नृपतौ च रामः
काव्येषु माघः कविकालिदासः ॥

इत्यादि।

पूज्यपाद गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी भी महर्षि वसिष्ठके शब्दोंमें कहते हैं—

नीति प्रीति परमारथ स्वारथु। कोउ न राम सम जान जथारथु॥

(रा०च०मा० २।२५४।५)

साथ ही उन्होंने भगवान् श्रीरामद्वारा श्रीलक्ष्मणजीको दी गयी राजनीतिके उपदेशकी बात भी लिखी है—

फटिक सिला अति सुभ्र सुहाई। सुख आसीन तहाँ द्वौ भाई॥
कहत अनुज सन कथा अनेका। भगति बिरति नृपनीति बिबेका॥

(रा०च०मा० ४।१३।६-७)

पर लक्ष्मणजीको क्या उपदेश किया गया इसका विस्तृत उल्लेख अग्निपुराणके २३८ से २४२ अध्यायोंमे हुआ है।[1] श्रीगोस्वामीजी महाराजने तो सूक्ष्मतम रूपमे मानसके दो (प्रायः एकार्थक) दोहोंमे ही भगवान् श्रीरामके मुखसे समस्त राजनीति—राजनीतिसारसर्वस्व कहला दिया है और उसकी महिमा भी कह दी है—

सेवक कर पद नयन से मुख सो साहिबु होइ।
तुलसी प्रीति कि रीति सुनि सुकबि सराहहिं सोइ॥
मुखिआ मुखु सो चाहिऐ खान पान कहुँ एक।
पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक॥
राजधरम सरबसु एतनोई। जिमि मन माहँ मनोरथ गोई॥

(रा०च०मा० २।३०६ ३१५ ३१६।१)

यहाँ राज्याङ्गोमे मुख्य होनेसे राजाको मुखिया कहा गया है। भगवान् श्रीरामकी आज्ञानुसार उसे मुखकी तरह होना चाहिये। जैसे मुख ही अन्नादिका ग्रहण करता दीखता है पर वह सभी अङ्गोका पोषण एक समानरूपसे करता है। इसी तरह यद्यपि कर एवं उपहारादि राजा ही ग्रहण करता दीखता है तथापि उसके द्वारा राज्यके समस्त अङ्गोका पोषण समानरूपसे होना चाहिये। बस इसीके लिये राजधर्म—राजनीतिका विस्तृत प्रपञ्च है। यही राजनीतिका सार-सर्वस्व इतना ही है।

राज्याङ्ग क्या और कौन?

मुखसे पोषित होनेवाले अङ्ग—हाथ पाँव, नाक कान, आँख आदि प्रसिद्ध हैं। पर मुखियाद्वारा पोषित राज्याङ्ग कौन-से हैं? इस सम्बन्धमे भगवान् रामका निर्देश इस प्रकार है—

स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रं च दुर्गं कोशो बलं सुहृत्।
परस्परोपकारीदं सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते॥
राज्याङ्गानां वरं राष्ट्रं साधनं पालयेत् सदा।[2]

स्वामी (राजा) अमात्य (मन्त्री) राष्ट्र (जनपद) दुर्ग (किला), कोष (खजाना), बल (सेना) और सुहृत् (मित्रादि)—ये राज्यके परस्पर उपकार करनेवाले सात अङ्ग कहे गये हैं। राज्यके अङ्गोमे राजा और मन्त्रीके बाद

---

१ यद्यपि भारतीय राजनीतिके अनेक ग्रन्थ हैं जिनमे मत्स्यपुराणकी राजनीति महाभारतका राजधर्म गौतमधर्मसूत्र श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराणके प्राय ६०० अध्यायोंके दूसरे एवं तीसरे खण्ड बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र कौटिलीय अर्थशास्त्र सोमदेवका नीतिवाक्यामृत शुक्र और कामन्दकके नीतिसार तथा इनकी जयमङ्गला निरपेक्षा आदि व्याख्याएँ, चण्डेश्वरका राजनीतिरत्नाकर वीरमित्रका राजनीतिप्रकाश आदि मुख्य हैं। तथापि प्राय सभीमे अग्निपुराणकी यह रामोक्त राजनीति ही सूत्ररूपमे प्रविष्ट है।

२ शुक्र कामन्दक भीष्म महाभारत मत्स्यपुराण पुष्कर (श्रीविष्णुधर्मोक्त राजनीति) अमर बृहस्पति (गरुडपुराणोक्त नीतिशास्त्र) तथा कौटल्यादिका भी यही कथन है।

राष्ट्र प्रधान एव अर्थका साधन है, अत उसका मदव पालन करना चाहिय। (इसम पूर्व-पूर्व अङ्ग परकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं।) (अग्निपुराण, रामाक्त राजनीति, २३९। १-२)

य सात राज्याङ्ग प्रसिद्ध हें। इन्हींके सचालन, पालन, सरक्षण और सवधनम समस्त राजनीति गतार्थ हाती है।

नीतिस्ते पुष्करोक्ता तु रामोक्ता लक्ष्मणाय या।
जयाय ता प्रवक्ष्यामि शृणु धर्मादिवर्धनीम्॥

[अग्निदेव वसिष्ठजीस कहते हैं कि] मैंने तुमसे पुष्करकी कही हुई नीतिका वर्णन किया है, अव तुम लक्ष्मणक प्रति श्रीरामचन्द्रद्वारा कही गयी विजयदायिनी नीतिका निरूपण सुनो। यह धर्म आदिको वढानवाली है।

राजाकी चतुर्विधवृत्ति तथा पृथ्वी-पालनके साधनभूत नय, विक्रम, उत्थान एव विनय

श्राराम उवाच

न्यायेनार्जनमर्थस्य वर्धन रक्षण तथा।
सत्पात्रप्रतिपत्तिश्च राजवृत्त चतुर्विधम्॥
नयविक्रमसम्पन्न सूत्थानश्चिन्तयच्छ्रियम्।
नयस्य विनयो मूल विनय शास्त्रनिश्चयात्॥
विनयो हीन्द्रियजयस्तद्युक्त शास्त्रमृच्छति।
तन्निष्ठस्य हि शास्त्रार्था प्रसीदन्ति तत श्रिय ॥

श्रीराम कहते हैं—लक्ष्मण! न्याय (धान्यका छठा भाग लन आदि)-क द्वारा धनका अर्जन करना अर्जित किये हुए धनका व्यापार आदिद्वारा वढाना, उसकी स्वजनो और परजनासे रक्षा करना तथा उसका सत्पात्रम नियाजन करना (यज्ञादि तथा प्रजापालनमे लगाना एव गुणवान् पुत्रको सौंपना)—य राजाक चतुर्विध व्यवहार बताय गये ह। राजा नय ओर पराक्रमसे सम्पन्न एव भलीभाँति उद्यागशील होकर स्वमण्डल एव परमण्डलकी लक्ष्मीका चिन्तन करे। नयका मूल ह विनय और विनयकी प्राप्ति होती है शास्त्रके निश्चयसे। इन्द्रिय-जयका ही नाम विनय है जा उस विनयसे युक्त होता हे वही शास्त्रोको प्राप्त करता हे। जो शास्त्रम निष्ठा रखता है, उसीक हृदयम शास्त्रके अर्थ (तत्त्व) स्पष्टतया प्रकाशित हात हैं। ऐसा हानसे स्वमण्डल और परमण्डलकी 'श्री' प्रसन्न (निष्कण्टकरूपस प्राप्त) होती हे—उसके लिये लक्ष्मी अपना द्वार खाल देती ह।

सम्पत्ति-साधक गुण

शास्त्रप्रज्ञा धृतिर्दाक्ष्य प्रागल्भ्य धारयिष्णुता।
उत्साहो वाग्मिता दार्ढ्यमापत्क्लशसहिष्णुता॥
प्रभाव शुचिता मैत्री त्याग सत्य कृतज्ञता।
कुल शील दमश्चेति गुणा सम्पत्तिहतव ॥

शास्त्रज्ञान, आठ[१] गुणासे युक्त बुद्धि धृति (उद्वेगका अभाव), दक्षता (आलस्यका अभाव), प्रगल्भता (सभाम बोलने या कार्य करनेम भय अथवा सकोचका न होना) धारणशीलता (जानी-सुनी बातको भूलने न दना), उत्साह (शौर्यादि गुण), प्रवचन-शक्ति दृढता (आपत्तिकालम क्लेश सहन करनकी क्षमता), प्रभाव (प्रभुशक्ति), शुचिता (विविध उपायाद्वारा परीक्षा लेनस सिद्ध हुई आचार-विचारकी शुद्धि) मैत्री (दूसराका अपने प्रति आकृष्ट कर लनका गुण), त्याग (सत्पात्रको दान देना) सत्य (प्रतिज्ञापालन) कृतज्ञता (उपकारका न भूलना), कुल (कुलीनता) शील (अच्छा स्वभाव) आर दम (क्लेश-सहनकी क्षमता)—ये सम्पत्तिक हेतुभूत गुण ह।

इन्द्रियोको वशमे करने और काम-क्रोधादि षड्वर्गको त्याग देनेसे सुख

प्रकीर्णे विषयारण्ये धावन्त विप्रमाथिनम्।
ज्ञानाङ्कुशेन कुर्वीत वश्यमिन्द्रियदन्तिनम्॥
काम क्रोधस्तथा लोभो हर्षो मानो मदस्तथा।
षड्वर्गमुत्सृजेदेनमस्मिंस्त्यक्ते सुखी नृप ॥

'विस्तृत विषयरूपी वनम दौडत हुए तथा निरङ्कुश होनके कारण विप्रमाथी (विनाशकारी) इन्द्रियरूपी हाथीको ज्ञानमय अङ्कुशसे वशम करे। काम, क्रोध लोभ, हर्ष, मान और मद—ये षड्वर्ग कहे गये हे। राजा इनका सर्वथा त्याग

स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च। सप्ताङ्गमुच्यत राज्य तत्र मूर्द्धा नृप स्मृत ॥
(शुक्रनीति १। ६१ कामन्दक ४। १ अमर महाभारत कौटल्य विष्णुधर्मोत्तर आदि सर्वत्र)
दृगमात्य सुहृच्छ्रोत्र मुख कोशो बल मन । हस्तौ पादौ दुर्गराष्ट्रे राज्याङ्गानि स्मृतानि हि॥ (शुक्र० १। ६२)
- इस प्रकार शुक्रादिक अनुसार मन्त्री ही नेत्र मित्र ही कान कोश ही मुख सेना मन दुग दोना हाथ आर राष्ट्र दोना पैरक रूपम राज्यक अङ्ग कहे गये ह।

[१] बुद्धिके आठ गुण ये हैं—सुननेकी इच्छा सुनना ग्रहण करना धारण करना (याद रखना) अर्थ-विज्ञान (विविध साध्य-साधनाक स्वरूपका विवेक) ऊह (वितर्क) अपोह (अयुक्ति-युक्तका त्याग) तथा तत्त्वज्ञान (वस्तुके स्वभावका निर्णय) जैसा कि कौटल्यन कहा है—
'शुश्रूषाश्रवणग्रहणधारणविज्ञानोहापोहतत्त्वाभिनिवशा प्रज्ञागुणा (कौट० अर्थ० ६। १। ९६) इति।

कर दे। इन सबका त्याग हो जानेपर वह सुखी होता है।'

विद्याओंका विभाग

[१]आन्वीक्षिकीं त्रयीं वार्तां दण्डनीतिं च पार्थिव ।
तद्विद्यैस्तत्क्रियोपेतैश्चिन्तयेद्विनयान्वित ॥
आन्वीक्षिक्याऽऽत्मविज्ञान धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ।
अर्थानर्थौ तु वार्तायां दण्डनीत्या नयानयौ॥

'राजाको चाहिये कि वह विनय-गुणसे सम्पन्न हो आन्वीक्षिकी (आत्मविद्या एव तर्कविद्या), वेदत्रयी, वार्ता (कृषि-वाणिज्य और पशुपालन) तथा दण्डनीति—इन चार विद्याओंका उनके विद्वानों तथा उन विद्याओंके अनुसार अनुष्ठान करनेवाले कर्मठ पुरुषोंके साथ बैठकर चिन्तन करे (जिससे लोकमे इनका सम्यक् प्रचार और प्रसार हो)। आन्वीक्षिकीसे आत्मज्ञान एव वस्तुके यथार्थ स्वभावका बोध होता है। धर्म और अधर्मका ज्ञान वेदत्रयीपर अवलम्बित है, अर्थ और अनर्थ वार्ताके सम्यक् उपयोगपर निर्भर हैं तथा न्याय और अन्याय दण्डनीतिके समुचित प्रयोग और अप्रयोगपर आधारित हैं।'

सामान्य धर्म तथा राजाके सदाचार

अहिंसा सूनृता वाणी सत्य शौच दया क्षमा।
वर्णिना लिङ्गिना चैव सामान्यो धर्म उच्यते॥
प्रजा समनुगृह्णीयात् कुर्यादाचारसंस्थितिम्।
वाक्सूनृता दया दान दीनोपगतरक्षणम्॥
इति सङ्ग सता साधु हित सत्पुरुषव्रतम्।
आधिव्याधिपरीताय अद्य श्वो वा विनाशिने॥
को हि राजा शरीराय धर्मापेत समाचरेत्।

'किसी भी प्राणीकी हिंसा न करना—कष्ट न पहुँचाना मधुर वचन बोलना, सत्यभाषण करना, बाहर और भीतरसे पवित्र रहना एव शौचाचारका पालन करना दीनोंके प्रति दयाभाव रखना तथा क्षमा (निन्दा आदिको सह लेना)—ये चारों वर्णों तथा आश्रमोंके सामान्य धर्म कहे गये हैं। राजाको चाहिये कि वह प्रजापर अनुग्रह करे और सदाचारके पालनमे सलग्न रहे। मधुर वाणी, दीनोंपर दया, देश-कालकी अपेक्षासे सत्पात्रको दान देना और शरणागतोंकी रक्षा[२] तथा सत्पुरुषोंका सङ्ग—ये सत्पुरुषोंके आचार हैं। यह आचार प्रजा-सग्रहका उपाय है जो लोकमे प्रशसित होनेके कारण श्रेष्ठ है तथा भविष्यमे भी अभ्युदयरूप फल देनेवाला होनेके कारण हितकारक है। यह शरीर मानसिक चिन्ताओं तथा रोगोंसे घिरा हुआ है, आज या कल इसका विनाश निश्चित है। ऐसी दशामे इसके लिये कौन राजा धर्मके विपरीत आचरण करेगा?'

दीनोंके उत्पीडनसे हानि, दुर्जनको भी हाथ जोडने तथा सबसे प्रिय वचन बोलनेका उपदेश

न हि स्वसुखमन्विच्छन् पीडयेत् कृपण जनम्।
कृपण पीड्यमानो हि मन्युना हन्ति पार्थिवम्॥
क्रियतेऽभ्यर्हणीयाय स्वजनाय यथाञ्जलि ।
तत साधुतर कार्यो दुर्जनाय शिवार्थिना॥
प्रियमेवाभिधातव्य सत्सु नित्य द्विषत्सु च।
देवास्ते प्रियवक्तार पशव क्रूरवादिन ॥

'राजाको चाहिये कि वह अपने लिये सुखकी इच्छा रखकर दीन-दु खी लोगोंको पीडा न दे क्योंकि सताया जानेवाला मनुष्य दु खजनित क्रोधके द्वारा अत्याचारी राजाका विनाश कर डालता है। अपने पूजनीय पुरुषको

---

१ (क) आन्वीक्षिकी—अनु—सूक्ष्म ईक्षणसे—बारीकीसे देखने-विचार करनेसे अध्यात्मविद्या आन्वीक्षिकी विद्या कही गयी है—

आन्वीक्षिक्यात्मविद्या स्यादीक्षणात्सुखदु खयो । ईक्षमाणस्तया तत्त्व हर्षशोकौ व्युदस्यति॥

(कामन्दकनीति २।११ नीतिवाक्यामृत ५।५४ शुक्रनीति १।१५७ मनु० ७।४७)

वात्स्यायन आदि नैयायिक न्यायदर्शनको आन्वीक्षिकी मानते हैं—(द्रष्टव्य—न्यायभा० १।३ अमरकोश १।६।५ इत्यादि।)

(ख) त्रयी—शुक्र कामन्दक सोमदेवादिने षडङ्गसहित चारों वेद, मीमासा न्याय पुराण एव धर्मशास्त्रोंको भी 'त्रयी' के अन्तर्गत माना है—

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमासा न्यायविस्तर । धर्मशास्त्र पुराण च त्रयीद सर्वमुच्यते॥

(शुक्र० १।१५४ कामन्दक० २।१३)

(ग) वार्ता—कृषिशास्त्र पशुपालन तथा पण्य (व्यापार)-शास्त्रोंको वार्ता-शास्त्र कहा गया है।

(घ) दण्डनीति—राजनीति तथा व्यवहारशास्त्रको 'दण्डनीति' कहा गया है। (कामन्दकनीति २।१४-१५ शुक्रनीति १।१५५-५६ तथा नीतिवाक्यामृत ५।५४)

२ यहाँ यह प्रश्न होता है कि 'शरणागतोंकी रक्षा तो दयाका ही कार्य है अत दयासे ही वह सिद्ध है फिर उसका अलग कथन क्यों किया गया?' इसके उत्तरमे निवेदन है कि दयाके दो भेद हैं—उत्कृष्टा और अनुत्कृष्टा। इनमे जो उत्कृष्ट दया है उसके द्वारा दीनोंका उद्धार होता है और अनुत्कृष्ट दयासे उपगत या शरणागतकी रक्षा की जाती है—यही सूचित करनेके लिये उसका अलग प्रतिपादन किया गया है।

जिस तरह सादर हाथ जोडा जाता हे, कल्याणकामी राजा दुष्टजनका उससे भी अधिक आदर देते हुए हाथ जोडे। (तात्पर्य यह हे कि दुष्टको सामनीतिसे ही वशमे किया जा सकता ह।) साधु सुहृदा तथा दुष्ट शत्रुआके प्रति भी सदा प्रिय[1] वचन ही बालना चाहिये। प्रियवादी देवता कहे गय हैं ओर कटुवादी पशु।'

दूसरोको अनुकूल बनानेके लिये राजाके बर्ताव

शुचिरास्तिक्यपूतात्मा पूजयेद्देवता सदा।
देवतावद् गुरुजनमात्मवच्च सुहृज्जनम्॥
प्रणिपातेन हि गुरु सतोऽनूचानचेष्टितै ।
कुर्वीताभिमुखान् भूत्यै देवान् सुकृतकर्मणा॥
सद्भावन हरेन्मित्र सम्भ्रमेण च बान्धवान्।
स्त्रीभृत्यान् प्रेमदानाभ्या दाक्षिण्येनेतराञ्जनान्॥

'बाहर और भीतरस शुद्ध रहकर राजा आस्तिकता (ईश्वर तथा परलोकपर विश्वास)-द्वारा अन्त करणको पवित्र बनाय और सदा देवताआका पूजन कर। गुरुजनाका दवताआक समान ही सम्मान करे तथा सुहृदाका अपने तुल्य मानकर उनका भलीभाँति सत्कार करे। वह अपने ऐश्वर्यकी रक्षा एव वृद्धिके लिय गुरुजनाको प्रतिदिन प्रणामद्वारा अनुकूल बनाये। अनूचान (साङ्गवेदके अध्येता)-की-सी चेष्टाआद्वारा विद्यावृद्ध सत्पुरुषाका आभिमुख्य प्राप्त करे। सुकृतकर्म (यज्ञादि पुण्यकर्म तथा गन्ध-पुष्पादि-समर्पण)-द्वारा दवताआका अपने अनुकूल करे। सद्भाव (विश्वास)-द्वारा मित्रका हृदय जीते, सम्भ्रम (विशेष आदर)-से बान्धवा (पिता और माताके कुलाके बडे-बूढा)-को अनुकूल बनाये। स्त्रीको प्रमस तथा भृत्यवर्गको दानसे वशम करे। इनके अतिरिक्त जा बाहरी लाग हैं उनके प्रति अनुकूलता दिखाकर उनका हृदय जीते।'

राजाके महापुरुषोचित बर्ताव

अनिन्दा परकृत्यपु स्वधर्मपरिपालनम्।
कृपणेपु दयालुत्व सर्वत्र मधुरा गिर ॥
प्राणैरप्युपकारित्व मित्रायाव्यभिचारिणे।
गृहागते परिष्वङ्ग शक्त्या दान सहिष्णुता॥
स्वसमृद्धिष्वनुत्सेक परवृद्धिष्वमत्सर ।
नान्योपतापि वचन मौनव्रतचरिष्णुता॥
बन्धुभिर्बद्धसयोग सुजने चतुरश्रता।
तच्चित्तानुविधायित्वमिति वृत्त महात्मनाम्॥

'दूसरे लोगाके कृत्योकी निन्दा या आलाचना न करना, अपने वर्ण तथा आश्रमके अनुरूप धर्मका निरन्तर पालन, दीनोके प्रति दया सभी लोक-व्यवहाराम सबके प्रति मीठे वचन बोलना, प्राण देकर भी अपने अनन्य मित्रका उपकार करनेके लिये उद्यत रहना, घरपर आये हुए मित्र या अन्य सज्जनोको भी हृदयसे लगाना—उनके प्रति अत्यन्त स्नेह एव आदर प्रकट करना, आवश्यकता हो ता उनके लिय यथाशक्ति धन देना, लोगोके कटुव्यवहार एव कठोर वचनको भी सहन करना, अपनी समृद्धिके अवसरोपर निर्विकार रहना (हर्ष या दर्पके वशीभूत न होना) दूसरोके अभ्युदयपर मनम ईर्ष्या या जलन न होना, दूसराको ताप देनेवाली बात न बालना, मौनव्रतका आचरण (अधिक वाचाल न होना), बन्धुजनोके साथ अटूट सम्बन्ध बनाये रखना, सज्जनोके प्रति चतुरश्रता (अवक्र—सरलभावम उनका समाराधन) उनकी हार्दिक सम्मतिके अनुसार कार्य करना—ये महात्माआके आचार हैं।'

राजाके आभिगामिक[2] गुण

कुल शील वय सत्त्व दाक्षिण्य क्षिप्रकारिता।
अविसवादिता सत्य वृद्धसेवा कृतज्ञता॥
दैवसम्पन्नता बुद्धिरक्षुद्रपरिवारता।
शक्यसामन्तता चैव तथा च दृढभक्तिता॥
दीर्घदर्शित्वमुत्साह शुचितास्थूललक्षिता।
विनीतत्व धार्मिकता गुणा साध्वाभिगामिका ॥

'कुलीनता, सत्त्व (व्यसन और अभ्युदयमे भी निर्विकार रहना), युवावस्था, शील[3] (अच्छा स्वभाव) दाक्षिण्य (सबक अनुकूल रहना या उदारता), शीघ्रकारिता

---

१ प्रिय वचनस शत्रु भी विश्वस्त होकर वशम करनेयोग्य हा जाते हैं अथवा वे प्रसन्न होकर अपकार करना छोड देते हैं।

२ जिनक कारण राजासे सब लोग मिल सक उनसे मिलनेकी इच्छा कर वे गुण आभिगामिक कह गये हैं।

३ 'शील' पर शास्त्राम बहुतसे आख्यान तथा माहात्म्यके प्रकरण हैं। महाभारतम बार-बार कहा गया है कि शीलके द्वारा केवल एक दिनम तीना लाक जीते जा सकते हैं (उद्योगपर्व ३४।४० तथा शान्तिपर्व १२४।१५)। मान्धाताने ऐसा ही किया था। जनमेजयने तीन दिनम आर नाभागने एक सप्ताहम शीलद्वारा विश्वविजय कर ली थी (शान्ति० १२४।१५-१६)।

शीलन हि त्रयो लोका शक्या जेतु न सशय । एकरात्रेण मान्धाता त्र्यहेण जनमेजय ।
सप्तरात्रेण नाभाग पृथिवीं प्रतिपेदिर॥

(दीर्घसूत्रताका अभाव), अविसवादिता (वाक्छलका आश्रय लेकर परस्पर विरोधी बात न करना), सत्य (मिथ्याभाषण न करना—सत्य बोलना) वृद्धसेवा (विद्यावृद्धोकी सेवाम रहना और उनकी बाताका मानना), कृतज्ञता (किसीके उपकारका न भुलाकर प्रत्युपकारके लिये उद्यत रहना), देव-सम्पन्नता (प्रबल पुरुषार्थसे दैवको भी अनुकूल बना लेना), बुद्धि (शुश्रूषा आदि आठ गुणासे युक्त प्रज्ञा), अक्षुद्रपरिवारता (दुष्ट परिजनासे युक्त न होना), शक्यसामन्तता (आस-पासके माण्डलिक राजाओको वशम किये रहना) दृढभक्तिता (सुदृढ अनुराग), दीर्घदर्शिता (दीर्घकालम घटित होनेवाली बाताका अनुमान कर लेना) उत्साह, शुचिता, स्थूललक्षिता (अत्यन्त मनस्वी होना), विनीतता (जितेन्द्रियता) और धार्मिकता—ये अच्छे आभिगामिक गुण है।'

राजोचित गुण

वाग्मी प्रगल्भ स्मृतिमानुदग्रो बलवान् वशी।
नेता दण्डस्य निपुण कृतविद्य स्ववग्रह ॥
पराभियोगप्रसह सर्वदृष्टप्रतिक्रिय ।
परच्छिद्रान्ववेक्षी च सधिविग्रहतत्त्ववित्॥
गूढमन्त्रप्रचारश्च देशकालविभागवित्।
आदाता सम्यगर्थाना विनियोक्ता च पात्रवित्॥
क्रोधलोभभयद्रोहस्तम्भचापलवर्जित ।
परोपतापपैशुन्यमात्सर्येर्ष्यानृतातिग ॥
वृद्धोपदेशसम्पन्न शलक्ष्णो मधुरदर्शन ।
गुणानुरागी मितवागात्मसम्पद्गुणा स्मृता ॥

'वाग्मी (उत्तम वक्ता—ललित, मधुर एव अल्पाक्षरोद्वारा ही बहुत-स अर्थोका प्रतिपादन करनेवाला), प्रगल्भ (सभाम सबको निगृहीत करके निर्भय बोलनेवाला), स्मृतिमान् (स्वभावत किसी बातका न भूलनेवाला) उदग्र (ऊँचे कदवाला), बलवान् (शारीरिक बलसे सम्पन्न एव युद्ध आदिम समर्थ) वशी (जितेन्द्रिय), दण्डनता (चतुरङ्गिणी सेनाका समुचित रीतिसे सचालन करनेम समर्थ) निपुण (व्यवहारकुशल) कृतविद्य (शास्त्रीय विद्यासे सम्पन्न), स्ववग्रह (प्रमादस अनुचित कर्मम प्रवृत्त होनेपर वहाँसे सुखपूर्वक निवृत्त किये जान योग्य) पराभियोगप्रसह (शत्रुओद्वारा छेड गये युद्धादिक कष्टको दृढतापूर्वक सहन करनेम समर्थ—सहसा आत्मसमर्पण न करनेवाला), सर्वदृष्टप्रतिक्रिय (सब प्रकारके सकटाक निवारणक अमोघ उपायको तत्काल जान लेनवाला), परच्छिद्रान्ववेक्षी (गुप्तचर आदिके द्वारा शत्रुओके छिद्राके अन्वेषणम प्रयत्नशील), सधिविग्रहतत्त्ववित् (अपनी तथा शत्रुकी अवस्थाक बलाबल-भेदको जानकर सधि-विग्रह आदि छहो गुणाक प्रयोगक ढग और अवसरको ठीक-ठीक जाननेवाला), गूढमन्त्रप्रचार (मन्त्रणा और उसक प्रयोगको सर्वथा गुप्त रखनेवाला), दशकालविभागवित् (किस प्रकारकी सेना किस देश और किस कालम विजयिनी होगी—इत्यादि बाताका विभागपूर्वक जाननेवाला), आदाता सम्यगर्थानाम् (प्रजा आदिसे न्यायपूर्वक धन लेनेवाला), विनियोक्ता (धनका उत्तम कार्यम लगानेवाला), पात्रवित् (योग्यताका ज्ञान रखनेवाला) क्रोध, लोभ, भय, द्रोह, स्तम्भ (मान) और चपलता (बिना विचारे कार्य कर बैठना)—इन दोषासे दूर रहनेवाला, परोपताप (दूसराको पीडा देना), पैशुन्य (चुगली करक मित्राम परस्पर फूट डालना), मात्सर्य (डाह) ईर्ष्या (दूसराके उत्कर्षको न सह सकना) और अनृतातिग (असत्यभाषण)—इन दुर्गुणाको लाँघ जानेवाला वृद्धजनाके उपदेशको मानकर चलनेवाला शलक्ष्ण (मधुरभाषी), मधुरदर्शन (आकृतिसे सुन्दर एव सौम्य दिखायी देनेवाला), गुणानुरागी (गुणवानाके गुणापर रीझनेवाला) तथा मितभाषी (नपी-तुली बात कहनेवाला) राजा श्रेष्ठ है। इस प्रकार यहाँ राजाके आत्मसम्पत्ति-सम्बन्धी गुण (उसके स्वरूपके उपपादक गुण) बताये गये है।'

सचिवके गुण

कुलीना शुचय शूरा श्रुतवन्तोऽनुरागिण ।
दण्डनीते प्रयोक्तार सचिवा स्युर्महीपते ॥

'उत्तम कुलम उत्पन्न, बाहर-भीतरसे शुद्ध शौर्यसम्पन्न आन्वीक्षिकी आदि विद्याओका जाननेवाले स्वामिभक्त तथा दण्डनीतिका समुचित प्रयोग जाननेवाले लोग राजाके सचिव (अमात्य) होने चाहिये।'

राजाके कर्तव्य

आजीव्य सर्वसत्त्वाना राजा पर्जन्यवद्भवेत्।

आयद्वारेषु सर्वेषु कुर्यादाप्तान् परीक्षितान्।
आददीत धनं तैस्तु भास्वानुस्रैरिवोदकम्॥

'राजा मेघकी भाँति समस्त प्राणियोंको आजीविका प्रदान करनेवाला हो। उसके यहाँ आयके जितने द्वार (साधन) हों, उन सबपर वह विश्वस्त एवं परीक्षित किये गये लोगोंको नियुक्त करे। जैसे सूर्य अपनी किरणोंद्वारा पृथ्वीसे जल लेता है, उसी प्रकार राजा उन आयुक्त पुरुषोंद्वारा धन ग्रहण करे।'

साम आदि उपाय

साम दानं च भेदश्च दण्डोपेक्षेन्द्रजालकम्।
मायोपायाः सप्त परे निक्षिपेत् साधनाय तान्॥

'साम, दान, दण्ड, भेद, उपेक्षा, इन्द्रजाल और माया—ये सात उपाय हैं, इनका शत्रुके प्रति प्रयोग करना चाहिये। इन उपायोंसे शत्रु वशीभूत हो जाता है।'

श्रीकृष्णनीति-वचनामृत

भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूप तथा उनके आविर्भाव, चरित्र, गुण, प्रभाव और वचनोंकी अनन्त महिमा है। भगवान्में श्रद्धा-विश्वास होनेपर ही इन सबका तत्त्व-रहस्य समझमें आ सकता है। भगवान्के प्राकट्यमें हेतु संसारका कल्याण है। वे संसारमें प्रकट होकर श्रेष्ठ आचरणवाले पुरुषोंका उद्धार और बुरे आचरणवाले मनुष्योंका संहार करते हैं तथा संसारके कल्याणके लिये अपनी भक्ति एवं धर्मका प्रचार करते हैं। वे सुकृती और भगवद्भक्तोंका तो उद्धार करते ही हैं, साथ ही दुष्ट, दुराचारी तथा अनीतिके पोषक मनुष्योंको भी दण्ड देकर उनका उद्धार कर देते हैं। आश्चर्यकी बात है कि जिस पापिनी पूतनाने अपने स्तनोंमें हलाहल विष लगाकर कृष्णको मार डालनेकी नीयतसे उन्हें दूध पिलाया था, उसे भी भगवान्ने वह गति दी जो धायको मिलनी चाहिये—ऐसे भगवान्के अतिरिक्त दूसरा दयालु और कौन है, जिसकी शरण ग्रहण की जाय—'कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥' (श्रीमद्भा० ३।२।२३)। भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण धर्म, ऐश्वर्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य, त्याग, प्रेम, दया, विनय, करुणा, क्षमा, शान्ति, सत्य, संतोष, सरलता, कोमलता, उदारता, भक्त-वत्सलता, धीरता, वीरता, गम्भीरता, निर्भयता, बुद्धिमत्ता तथा नीतिमत्ता आदि अनन्तगुणोंके महान् सागर हैं।

भगवान्की वाणी बड़ी ही कोमल, मधुर, मनोहर, स्निग्ध, स्पष्ट, निर्भीक, गम्भीर, ओज-तेज एवं प्रभावसे युक्त, परम पवित्र, रहस्यमय, सबके लिये परम हितकर और कल्याण करनेवाली होती है।

भगवान्की वाणीरूप यह दिव्य वचनामृत-नीति नाना पुराणों, शास्त्रों तथा महाभारत आदिमें भरी पड़ी है। भगवद्गीता तो भगवान्की साक्षात् वाणी है। भगवान्की वाणीका यही संदेश है कि सब प्राणियोंमें परमात्माकी भावना करे और सबके साथ मित्रताका व्यवहार करे। श्रीकृष्ण कहते हैं—जो किसी प्राणीसे द्वेष नहीं करता, सबसे मैत्री भाव रखता है, सबपर करुणा करता है, ममता और अहङ्कारसे रहित होता है, सुख-दुःखमें समबुद्धि रखता है, क्षमाशील है, वह भक्त मुझे प्रिय है। ये सब परम हितकारी नीतिकी बातें भगवान्ने हमें बतायी हैं, इनका पालन होना ही चाहिये। यहाँ भगवान्की कुछ ऐसी ही नीतिमयी बातें दी जा रही हैं—

सर्वत्र ईश्वरकी भावना करे

अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥
(श्रीमद्भा० ११।२९।१९)

मेरी प्राप्तिके जितने साधन हैं उनमें मैं तो सबसे श्रेष्ठ साधन यही समझता हूँ कि समस्त प्राणियों और पदार्थोंमें मन, वाणी तथा शरीरकी समस्त वृत्तियोंसे मेरी ही भावना की जाय।

निर्ममो निरहंकारो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥
निराशीर्निर्गुणः शान्तो निरासक्तो निराश्रयः।
आत्मसङ्गी च तत्त्वज्ञो मुच्यते नात्र संशयः॥
(महाभारत आश्वमेधिक० अनुगीता ४६।४५-४६)

ममता और अहंकारसे रहित हो जाय, योग-क्षेमकी

चिन्ता न करे। मनपर विजय प्राप्त करे। जो निष्काम निर्गुण शान्त अनासक्त, निराश्रय, आत्मपरायण और तत्त्वका ज्ञाता होता है, वह मुक्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं है।

धर्म ही सब कुछ है

धर्म पिता च माता च धर्मो नाथ सुहृत् तथा।
धर्मो भ्राता सखा चैव धर्म स्वामी परंतप॥

परंतप! धर्म ही जीवका पिता, माता रक्षक, सुहृद्, भ्राता सखा और स्वामी है।

स्वर्गमें कौन जाते हैं

दानेन तपसा चैव सत्येन च दमेन च।
ये धर्ममनुवर्तन्ते ते नरा स्वर्गगामिन ॥
मातरं पितरं चैव शुश्रूषन्ति च ये नरा ।
भ्रातृणामपि सस्नेहास्ते नरा स्वर्गगामिन ॥

जो दान तपस्या सत्य-भाषण और इन्द्रिय-संयमके द्वारा निरन्तर धर्माचरणमें लगे रहते हैं वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं। जो मनुष्य माता-पिताकी सेवा करते हैं तथा भाइयोंके प्रति स्नेह रखते हैं वे मनुष्य स्वर्गको जाते हैं।

कल्याणके साधनमें तत्काल ही लग जाय

यावत् स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत् क्षयो नायुष ।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्य प्रयत्नो महान्
संदीप्ते भवने हि कूपखननं प्रत्युद्यम कीदृश ॥

(गरुडपुराण उत्तर० ३।१८)

जबतक शरीर स्वस्थ—नीरोग है जबतक जरा—वृद्धावस्था दूर है जबतक इन्द्रियोंकी शक्ति क्षीण नहीं हुई है और जबतक आयु अवशेष है तभीतक विद्वान् पुरुषको अपने [illegible] लिये कठिन-से-कठिन प्रयत्न करते रहना चाहिये अन्यथा घरमें आग लग जानेपर—[illegible] उसको बुझाने-हेतु कुआँ खोदनेके लिये प्रयत्न करनेसे क्या लाभ?

माता-पिताके समान कोई देवता नहीं

पितृमातृसमं लोके नास्त्यन्यद् दैवतं परम्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन पूजयेत् पितरौ सदा॥

([illegible])

वस्तुत माता-पिताके समान इस संसारमें कोई श्रेष्ठ देवता नहीं है। अतएव सभी प्रकारसे उनकी पूजा करनी चाहिये।

धर्महीन दिन व्यर्थ हो जाता है

स्नानं दानं जपो होम स्वाध्यायो देवतार्चनम्॥
यस्मिन् दिने न सेव्यन्ते स वृथा दिवसो नृणाम्।
यत् प्रात संस्कृतं सायं नूनमन्नं विनश्यति॥
तदीयरससम्पुष्टे काये का नाम नित्यता।

(गरुडपुराण उत्तर० १३।१३—१५)

जिस दिन स्नान, दान, होम, स्वाध्याय (वेद-पुराण-पाठ, स्तोत्र-मन्त्र-जप) देवपूजन—ये कर्म नहीं होते मनुष्यका वह दिन व्यर्थ है। [इस अनित्य अनिश्चित निराधार तथा रससे बने अन्न-पिण्डमय शरीरके गुणोंको मैं बतलाता हूँ।] जो अन्न प्रातःकाल तैयार होता है वह संध्यातक नष्ट हो जाता है। फिर उसीके रससे पुष्ट इस शरीरकी नित्यता कैसी?

राजाको प्रजाके साथ भाईके समान व्यवहार करना चाहिये

वर्णानां चापि सर्वेषां राजा बन्धुरिहोच्यते।

(गरुडपुराण उत्तर० १७।३१)

इस लोकमें राजा भी सभी वर्णोंका भाई कहा गया है।

असार संसारके छ सार पदार्थ हैं

विष्णुरेकादशी गङ्गा तुलसीविप्रधेनव ।
असारे दुर्गसंसारे षट्पदी मुक्तिदायिनी॥

(गरुडपुराण उत्तर० १९।२३)

भगवान् विष्णु, एकादशी-व्रत गङ्गा नदी तुलसी ब्राह्मण और गौएँ—ये छ इस दुर्गम असार संसारमें मुक्ति देनेवाले हैं।

भगवत्स्मरणकी महिमा

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराजय ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदयस्थो जनार्दन ॥

(गरुडपुराण उत्तर० ५।४५)

जिनके हृदयमें कमल-दलके समान श्याम वर्ण भगवान् जनार्दन विराजमान हैं उन्हें निरन्तर लाभ एवं विजय है उनकी पराजय कैसी? ([illegible])

वृक्षारोपणका फल

अश्वत्थमेक पिचुमन्दमेक न्यग्राधमेक दश चिञ्चिणीकान्।
कपित्थविल्वामलकीत्रय च पञ्चाम्ररोपी नरक न पश्येत्॥

एक पीपल एक नीम एक वड, दस चिचडा तीन केथ तीन वेल, तीन आँवले आर पाँच आमक वृक्ष लगानवाला मनुष्य कभी नरकका मुँह नहीं देखता।

देखनेमात्रसे पुण्य-प्राप्ति

गामूत्र गामय दुग्ध गोधूलि गोष्ठगाष्पदम्।
पक्वसस्यान्वित क्षेत्र दृष्ट्वा पुण्य लभेद् ध्रुवम्॥
(गरुडपुराण उत्तर० ७६।१७)

गोमूत्र गोवर, गादुग्ध गोधूलि, गाशाला गोखुर और पकी हुई खतीस भरा खेत दखनस पुण्य-लाभ हाता हे।

सदा स्थिरवुद्धिवाले वनो

न प्रहृष्येत् प्रिय प्राप्य नाद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरवुद्धिरसम्मूढा व्रह्मविद् व्रह्मणि स्थित ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ५।२०)

जा पुरुष प्रियको प्राप्त होकर हर्षित नहीं हाता और अप्रियको प्राप्त हाकर उद्विग्न नहीं होता वह स्थिरबुद्धि, मोहरहित व्रह्मवत्ता पुरुष परव्रह्म (परमात्मा)-म स्थित है।

शान्तिको कोन प्राप्त होता हे?

विहाय कामान् य सर्वान् पुमाश्चरति नि स्पृह ।
निर्ममो निरहकार स शान्तिमधिगच्छति॥
(श्रामद्भगवद्गीता २।७१)

जा पुरुष सम्पूर्ण कामनाआका त्याग करक स्पृहारहित ममतारहित और अहकाररहित होकर विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है।

कृतकृत्य कान है?

यस्त्वात्मरतिरव स्यादात्मतृप्तश्च मानव ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
(श्रामद्भगवद्गीता ३।१७)

जो मनुष्य आत्माम ही रमण करनेवाला आत्मामें ही तृप्त तथा आत्माम हा सतुष्ट हो उसक लिये कोई कर्तव्य नहीं है।

सुखपूर्वक वन्धनसे मुक्त कोन होता हे?

ज्ञेय स नित्यसन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महावाहो सुख वन्धात् प्रमुच्यते॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ५।३)

(महावाहु अर्जुन!) जो पुरुष न किसीस द्वेप करता है और न आकाङ्क्षा करता है, उसे सदा सन्यासी ही समझना चाहिये, क्याकि राग-द्वेपादि द्वन्द्वास रहित पुरुष सुखपूवक ससार-वन्धनस मुक्त हो जाता है।

कर्म करते हुए भी किसे वन्धन नही होता?

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीता विमत्सर ।
सम सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निवध्यते॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ४।२२)

जा विना इच्छाके अपने-आप प्राप्त हुई परिस्थितिम सदा सतुष्ट रहता ह, जिसम मत्सरताका सवथा अभाव हा गया है, जो हर्प-शोक आदि द्वन्द्वासे सर्वथा अतीत हा गया है— सिद्धि और असिद्धिम सम रहनवाला पुरुप कम करन हुए भी वँधता नहीं।

भक्तका स्वरूप, महत्त्व ओर उसके प्रति भगवान्का प्रेम

अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचतम ।
मया सतुष्टमनस सर्वा सुखमया दिश ॥
न पारमेष्ठ्य न महन्द्रधिष्ण्य
न सार्वभौम न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भव वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद् विनान्यत्॥
न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्कर ।
न च सकर्पणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥
निष्किञ्चना मय्यनुरक्तचेतस
शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सला ।
कामैरनालब्धधियो जुषन्ति यत्
तन्नैरपेक्ष्य न विदु सुखं मम॥
(श्रीमद्भा० ११।१४।१३—१५, १)

जिसने अपने मनका किसी भी वस्तुकी नहीं रख है ओर जो सब प्रकारके सग्रह-परिग्रहसे रहित—अकिञ्चन है जो अपना इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करक ... समदर्शी हो गया ह ... प्राणिम ही ...

अनुभव करके ही सदा-सर्वदा पूर्ण संतोषका अनुभव करता है, उसके लिये आकाशका एक-एक कोना आनन्दसे भरा हुआ है।

जिसने अपनेको मुझे सौंप दिया है, वह मुझे छोड़कर न तो ब्रह्माका पद चाहता है और न देवराज इन्द्रका। उसके मनमें न तो सार्वभौम सम्राट् बननेकी इच्छा होती है और न वह स्वर्गसे भी श्रेष्ठ रसातलका ही स्वामी होना चाहता है। वह योगकी बड़ी-बड़ी सिद्धियों और मोक्षतककी अभिलाषा नहीं करता। उद्धव! मुझे तुम्हारे-जैसे प्रेमी भक्त जितने प्रियतम हैं, उतने प्रिय मेरे पुत्र ब्रह्मा, आत्मा शंकर, सगे भाई बलरामजी, स्वयं अर्धांगिनी लक्ष्मीजी और मेरा अपनी आत्मा भी नहीं है। ऐसा मेरा भक्त किसीकी अपेक्षा नहीं रखता, जगत्-चिन्तनसे सर्वथा उपरत होकर मेरे ही मनन-चिन्तनमें तल्लीन रहता है और राग-द्वेष न रखकर सबके प्रति समान दृष्टि रखता है, जो सब प्रकारके संग्रह-परिग्रहसे रहित हैं—यहाँतक कि शरीर आदिमें भी अहंता-ममता नहीं रखते, जिनका चित्त मेरे ही प्रेमके रंगमें रँग गया है, जो संसारकी वासनाओंसे शान्त—उपरत हो चुके हैं और जो अपने महत्तम उदारताके कारण स्वभावसे ही समस्त प्राणियोंके प्रति दया और प्रेमका भाव रखते हैं, किसी प्रकारकी कामना जिनकी बुद्धिका स्पर्श नहीं कर पाती, उन्हें मेरे जिस परमानन्दस्वरूपका अनुभव होता है, उसे और कोई नहीं जान सकता, क्योंकि वह परमानन्द तो केवल निरपेक्षतासे ही प्राप्त होता है।

भगवान् भक्तके पीछे-पीछे घूमा करते हैं

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

(श्रीमद्भागवत ११। १४। १६)

भक्तके पीछे-पीछे मैं निरन्तर यह सोचकर घूमा करता हूँ कि उसके चरणोंकी धूल उड़कर मेरे ऊपर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ।

भक्त त्रिभुवनको पवित्र करता है

'मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥

(श्रीमद्भागवत ११। १४। २४)

मेरा भक्त न केवल अपनेको बल्कि सारे संसारको पवित्र कर देता है।

सत्सङ्गकी महिमा

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम्॥

(श्रीमद्भागवत ११। १२। १-२)

जगत्‌में जितनी आसक्तियाँ हैं, उन्हें सत्सङ्ग नष्ट कर देता है। यही कारण है कि सत्सङ्ग जिस प्रकार मुझे वशमें कर लेता है, वैसा साधन न योग है न सांख्य, न धर्मपालन और न स्वाध्याय। तपस्या, त्याग, इष्टापूर्त और दक्षिणासे भी मैं वैसा प्रसन्न नहीं होता। कहाँतक कहूँ—व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ और यम-नियम भी सत्सङ्गके समान मुझे वशमें करनेमें समर्थ नहीं हैं।

अहिंसा परम धर्म

अहिंसा सर्वभूतानामेतत् कृत्यतमं मतम्॥
एतत् पदमनुद्विग्नं वरिष्ठं धर्मलक्षणम्।

(महाभारत आश्वमेधिक० ५०। २-३)

सब प्राणियोंकी अहिंसा ही सर्वोत्तम कर्तव्य है—ऐसा माना गया है। यह साधन उद्वेगरहित, सर्वश्रेष्ठ और धर्मको लक्षित करानेवाला है।

नरकगामी कौन है?

हिंसापराश्च ये केचिद् ये च नास्तिकवृत्तयः।
लोभमोहसमायुक्तास्ते वै निरयगामिनः॥

(महाभारत आश्वमेधिक० ५०। ४)

जो लोग प्राणियोंकी हिंसा करते हैं, नास्तिकवृत्तिका आश्रय लेते हैं और लोभ तथा मोहमें फँसे हुए हैं, उन्हें नरकमें गिरना पड़ता है।

ब्राह्मण, गो, देश आदिके लिये प्राण-त्याग करनेवाला स्वर्गको जाता है

गवार्थे देशविध्वंसे देवतीर्थविपत्सु च।
आत्मानं सम्परित्यज्य स्वर्गवासं लभन्ति ते॥
ब्राह्मणार्थे च गुर्वर्थे स्त्रीणां बालवधेषु च।
प्राणत्यागपरो यस्तु स वै मोक्षमवाप्नुयात्॥

(गरुडपुराण उत्तर० २८। १२-१४)

गोरक्षाके समय तथा देश-विध्वंस, देवता और तीर्थोंके ऊपर आपत्ति पड़नेपर प्राण त्यागनेवाला प्राणी

स्वर्गमे वास करता है। जो ब्राह्मण, गुरु, स्त्री तथा बालकोंकी रक्षामें अपना प्राण छोड़ देता है, वह सभी बन्धनोंसे मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

गौको घास देना महापुण्य

तीर्थस्नानेषु यत्पुण्यं यत्पुण्यं विप्रभोजने॥
सर्वव्रतोपवासेषु सर्वेष्वेव तपःसु च।
यत्पुण्यं च महादाने यत्पुण्यं हरिसेवने॥
भुवः पर्यटने यत्तु सर्ववाक्येषु यद्भवेत्।
यत्पुण्यं सर्वयज्ञेषु दीक्षायां च लभेन्नरः।
तत्पुण्यं लभते प्राज्ञो गोभ्यो दत्त्वा तृणानि च॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० २१।८७—८९)

अर्थात् तीर्थ-स्थानोंमें जाकर स्नान-दानसे जो पुण्य प्राप्त होता है, ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे जिस पुण्यकी प्राप्ति होती है, सम्पूर्ण व्रत-उपवास, सब तपस्या, महादान तथा श्रीहरिकी आराधना करनेपर जो पुण्य सुलभ होता है, सम्पूर्ण पृथ्वीकी परिक्रमा, सम्पूर्ण वेद-वाक्योंके स्वाध्याय तथा समस्त यज्ञोंकी दीक्षा ग्रहण करनेपर मनुष्य जिस पुण्यको पाता है, वही पुण्य बुद्धिमान् मानव गौओंको घास देकर (खिलाकर) पा लेता है।

असंतोषी ही दरिद्र है

दरिद्रो यस्त्वसन्तुष्टः कृपणो योऽजितेन्द्रियः।
गुणेष्वसक्तधीरीशो गुणसङ्गो विपर्ययः॥

(श्रीमद्भागवत ११।१९।४४)

जिसके चित्तमें असंतोष है, अभावका बोध है, वही 'दरिद्र' है। जो जितेन्द्रिय नहीं है, वही 'कृपण' है। समर्थ, स्वतन्त्र और 'ईश्वर' वह है, जिसकी चित्तवृत्ति विषयोंमें आसक्त नहीं है। इसके विपरीत जो विषयोंमें आसक्त है, वही सर्वथा 'असमर्थ' है।

तृष्णा

इच्छति शती सहस्रं सहस्री लक्षमीहते।
कर्तुं लक्षाधिपती राज्यं राज्येऽपि सकलचक्रवर्तित्वम्॥
चक्रधरोऽपि सुरत्वं सुरत्वलाभे सकलसुरपतित्वम्।
भवितुं सुरपतिरूर्ध्वगतित्वं तथापि न निवर्तते तृष्णा॥

(गरुडपुराण उत्तर० २।१४-१५)

तृष्णाकी बात ही निराली है। शताधिपति सहस्राधिपति बनना चाहता है और सहस्राधीश लक्षाधीश। लक्षाधीशको राज्यकी कामना होती है और राज्य मिल जानेपर उसमें सम्पूर्ण विश्वके चक्रवर्ती साम्राज्यकी अभिलाषा उदय होती है। चक्रवर्ती सम्राट् हो जानेपर वह देवता बनना चाहता है और देवत्व लाभ होनेपर इन्द्र। इन्द्र बन जानेपर भी उससे ऊँचे पदोंकी लालसा बनी ही रहती है। कहाँतक कहा जाय, यह तृष्णा कभी निवृत्त नहीं होती। वास्तवमें जो इस तृष्णासे मुक्त हैं, वे ही सच्चे मुक्त हैं।

पाँच प्रकारकी शुद्धि

मनःशौचं कर्मशौचं कुलशौचं च भारत।
शरीरशौचं वाक्शौचं शौचं पञ्चविधं स्मृतम्॥
पञ्चस्वेतेषु शौचेषु हृदि शौचं विशिष्यते।
हृदयस्य च शौचेन स्वर्गं गच्छन्ति मानवाः॥

(महाभारत आश्वमेधिक० दाक्षिणात्यपाठ)

हे भारत! मनःशुद्धि, कर्मशुद्धि, क्रियाशुद्धि, कुलशुद्धि, शरीरशुद्धि और वाक्शुद्धि—इस तरह पाँच प्रकारकी शुद्धि बतायी गयी है। इन पाँचों शुद्धियोंमें हृदयकी शुद्धि सबसे बढ़कर है। हृदयकी ही शुद्धिसे मनुष्य स्वर्गमें जाते हैं।

विद्यार्थीकी सहायता करनेका महत्त्व

विवेको जीवितं दीर्घं धर्मकामार्थसम्पदः।
सर्वं तेन भवेद् दत्तं छात्राणां पोषणे कृते॥

(भविष्यपुराण १७४।१९)

छात्रोंका पोषण करनेवालेको विवेक (ज्ञान), दीर्घायु, धर्म, काम और सभी सम्पत्तियोंके देनेका फल मिल जाता है।

भगवान्‌को प्रणाम करनेवाले निर्भय होते हैं

अतसीपुष्पसंकाशं पीतवाससमच्युतम्।
ये नमस्यन्ति गोविन्दं न तेषां विद्यते भयम्॥

(गरुडपुराण उत्तर० ४।५१)

अतसी (तीसी)-के पुष्पके समान कान्तिवाले पीताम्बरधारी, गौओंके स्वामी भगवान् अच्युतको जो प्रणाम करते हैं, उन्हें कोई भी भय नहीं होता।

राजनीतिज्ञ श्रीहनुमान्

महर्षि शुक्राचार्यके मतसे 'श्रीरामके समान नीतिमान् राजा पृथ्वीपर न कोई हुआ है और न कभी होना ही सम्भव है—'न रामसदृशो राजा पृथिव्या नीतिमानभूत्।' (शुक्रनीति ५।५७)। शुक्राचार्यजीके उपर्युक्त कथनकी परम्परामे हम श्रीहनुमान्‌जीके विषयमे भी यह कह सकते हैं कि 'उनके समान कुशल मन्त्रणा प्रदान करनेवाला सचिवोत्तम भी अन्यत्र नहीं हुआ है।' स्वय श्रीरामने अपने अनुज लक्ष्मणसे इस बातका उल्लेख करते हुए कहा था—

'लक्ष्मण! ये महामनस्वी वानरराज सुग्रीवके सचिवोत्तम हनुमान् हैं। ये उन्हींके हितकी इच्छासे मेरे पास आये हैं। भाई! जिसे ऋग्वेदकी शिक्षा नहीं मिली, जिसने यजुर्वेदका अभ्यास नहीं किया तथा जो सामवेदका विद्वान् नहीं है, वह इस प्रकार सुन्दर भाषामे वार्तालाप नहीं कर सकता। निश्चय ही इन्होने समूचे व्याकरणका अनेक बार स्वाध्याय किया है, क्योकि बहुत-सी बात बोल जानेपर भी इनके मुखसे कोई अशुद्धि नहीं निकली। सम्भाषणमे इनके मुख, नेत्र, ललाट भौह तथा अन्य किसी अङ्गसे भी कोई दोष नहीं प्रकट हुआ। इन्होने बडी स्पष्टतासे अपना अभिप्राय व्यक्त किया है।' (वा० रा० ४।३।२८—३१)

श्रीराम हनुमान्‌जीके प्रथम मिलनमे ही उनके महान् गुणोपर मुग्ध हो जाते हैं और उनकी योग्यता तथा कुशलताका मूल्याङ्कन करते हुए पुन श्रीसुमित्रानन्दनसे राजनीतिके रहस्य प्रकट करते हुए कहते हैं—'वध करनेके लिये तैयार खड्‌गधारी शत्रुका हृदय भी इस अद्भुत वाणीसे बदल सकता है। जिस राजाके पास इनके समान मन्त्रकुशल दूत न हों, उसके कार्योंकी सिद्धि कैसे हो सकती है? नि संदेह जिस राजाके पास इनके-जैसे कार्यसाधक उत्तम दूत हो उसके सभी मनोरथ दूतोकी बातचीतसे सिद्ध हो जाते हैं।' (वा० रा० ४।३।३३—३५)

इन तथ्योसे स्पष्ट है कि श्रीहनुमान्‌मे जहाँ एक श्रेष्ठ सचिवके समस्त गुणोका समावेश था, वहीं वे उत्तम राजदूत भी थे। श्रीराम-सुग्रीव-मैत्रीके स्थापनमे उनकी भूमिका एक सफल राजनीतिज्ञके रूपमे प्रकट हुई है। यदि सुग्रीवको विपन्नावस्थामे हनुमान्-जैसे मन्त्रकुशल, दूरदर्शी, नीतिज्ञ मेधावी, शूरवीर और राजनीतिज्ञ मन्त्रीका सान्निध्य प्राप्त नहीं होता तो हम कल्पना भी नहीं कर सकते कि कभी स्वप्नमे भी बलशाली वालिके रहते सुग्रीवको किष्किन्धाका राज्य, अपहृत पत्नी और राज्य-वैभव प्राप्त होता। यहाँ वे एक श्रेष्ठ राजदूतके रूपमे श्रीराम-सुग्रीवमे स्वर्ण-सधि स्थापित करवाकर उभय पक्षके हिताहितका बराबर ध्यान रखते हुए उत्तम मध्यस्थकी भूमिकाका समुचित निर्वहन करते हैं। यह पवनपुत्र हनुमान्‌की ही विशेषता है कि सुग्रीवके प्रति श्रीरामके हृदयमे अच्छे मित्रके सवरणका आकर्षण उत्पन्न हो सका। उन्हीके सत्प्रयासका परिणाम था कि श्रीराम सम्पन्न वानरराज बालिकी उपेक्षा करके दर-दर भटकते प्राण बचाते ऋष्यमूकमे छिपे सुग्रीवको अपनाते हैं। कहीं सुग्रीवके चञ्चल वानर-स्वभावके कारण यह मैत्री बीचमे ही टूट न जाय—इस विचारसे वे दोनोके मध्य अग्निको साक्षी दिलाकर स्थायी मित्रता स्थापित कराते हैं। महर्षि वाल्मीकिने विजयका मूल कारण मन्त्रियोकी उत्तम मन्त्रणाको ही बताया है। स्वय रावण भी अपने मन्त्रियोके समक्ष इस सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हुए कहता है—'मन्त्रमूल च विजय प्रवदन्ति मनस्विन।' (वा० रा० ६।६।५)—

बुद्धिमानाका भी यही कथन ह कि विजयका मूल कारण मन्त्रियाद्वारा की गयी उत्तम मन्त्रणा ही है।

बलशाली बालिपर अपेक्षाकृत कम शक्तिशाली सुग्रीवकी विजय उपर्युक्त सिद्धान्तकी पुष्टि है। आदर्श राज्यके प्रणेता श्रीरामका भी मत है कि राजाकी विजयका मूल मन्त्र-शक्ति ही है—

'मन्त्रो विजयमूल हि राज्ञा भवति राघव।'

(वा० रा० २।१००।१६)

अर्थात् 'श्रेष्ठ मन्त्रणा ही राजाआकी विजयका मूल कारण ह।'

कतिपय विद्वानोका यह कथन हमे भ्रान्त प्रतीत होता है कि मन्त्रि-परिषद्का राज्य-व्यवस्थाम प्रचल्न 'ब्रिटिश कैबिनेट' द्वारा प्रारम्भ हुआ ह, अथवा 'ब्रिटिश कैबिनेट' ही समस्त मन्त्रि-परिषद्की जननी हें। श्रीरामायणके अनुशीलनसे ज्ञात होता है कि मन्त्रि-परिषद् मूलरूपसे भारतीय राजदर्शनका प्रधान अङ्ग रहा है। श्रीरामका आदर्श मन्त्रि-मण्डल विभिन्न योग्यता-सम्पन्न मन्त्रियासे युक्त था। श्रीहनुमान् इसमे सुरक्षा और विदश-विभागके विशषज्ञ होनेसे विदश-मन्त्री तथा सुरक्षा-सलाहकाराम प्रधान थे। श्रीरामकी विजय और राजनीतिज्ञ रावणकी पराजयका मूल कारण उभय पक्षका मन्त्रि-मण्डल ही था। श्रीरामचन्द्रजीने चित्रकूटम अनुज कैकेयी-नन्दन भरतको राजनीतिका उपदेश देते हुए इस रहस्यका उद्घाटन किया था—

सहस्राण्यपि मूर्खाणा यद्युपास्ते महीपति ।
अथवाप्ययुतान्येव नास्ति तेपु सहायता॥
एकोऽप्यमात्या मेधावी शूरो दक्षो विचक्षण ।
राजान राजपुत्र वा प्रापयेन्महतीं श्रियम्॥

(वा० रा० २।१००।२३-२४)

'यदि राजा हजार या दस हजार मूर्खोंको अपने पास रख ल ता भी उनसे अवसरपर कोई अच्छा सहायता नहीं मिलती, किंतु यदि एक मन्त्री भी मेधावी, शूरवीर, चतुर एव नीतिज्ञ हो तो वह राजा या राजकुमारको बहुत बडी सम्पत्तिकी प्राप्ति करा सकता है।'

वस्तुत 'मन्त्र-शक्ति' ही राजदर्शनका एक एसा महत्त्वपूर्ण अङ्ग रहा है, जिसकी उपेक्षासे राज्यकी जितनी क्षति होती है, उतनी कदाचित् किसी अन्य बातसे नहीं। यदि उपर्युक्त कसौटीको दृष्टिगत रखते हुए हम श्रीराम अथवा सुग्रीवके महान् विपत्तिसे छुटकारा पाने और ऐसे दुर्धर्ष राजनीतिके प्रकाण्ड विद्वान्, विश्वको रुलानेवाले रावणके पतनका अनुसधान कर तो ऐसा भासित होगा कि यह हनुमान्जीकी अद्वितीय, अद्भुत, विलक्षण ओर विचक्षण मन्त्रणाका ही शुभ परिणाम है। रामायणके आदिकर्ता महर्षि वाल्मीकिने हनुमान्जीकी विवेक-शक्ति, वाक्-पटुता, पराक्रम निर्णय-शक्ति, प्रत्युत्पन्नमतित्व, दूरदर्शिता एव बाहरी चेष्टाआस ही मनके भावाको ताड लेनेकी अद्भुत क्षमताका विशेप उल्लेख किया है, जिसके बलपर प्रथम मिलनम ही श्रीराम ओर लक्ष्मणको देखकर उन्होने इस बातका अनुमान लगा लिया कि 'जिसके सहायक ये नरश्रेष्ठ होगे, उसके कष्टोका पूर्ण निवारण हो सकता ह।' सुग्रीवने भी ऋष्यमूकपर्वतपरसे श्रीराम-लक्ष्मणको देखा, किंतु वे उन्ह शत्रु-शिविरसे भेजा हुआ अरि-मित्र (बालिका मित्र) मानते ह और मारे भयके थर-थर काँपने लगते हैं, जबकि वास्तवम ऋष्यमूकपर उन्ह बालिका कोई भय नहीं था। श्रीराम-लक्ष्मणके सम्बन्धम सुग्रीव कहते हैं—'मरे मनमे सदेह है कि ये दोना श्रेष्ठ पुरुप बालिके ही भेजे हुए हैं, क्योंकि राजाओके बहुतसे मित्र होते हैं, अत उनपर सहसा विश्वास करना उचित नहीं। प्राणिमात्रको छद्मवपमे विचरनेवाले शत्रुआको विशेपरूपसे पहचाननेकी चेष्टा करनी चाहिये, क्योंकि वे दूसरापर अपना विश्वास जमा लेते है, किंतु स्वय किसीका विश्वास नहीं करते और अवसर मिलते ही उन विश्वासी पुरुपोपर ही प्रहार कर बैठते हैं। बालि इन कार्योमे बडा कुशल है। अत कपिश्रेष्ठ! तुम एक साधारण पुरुपकी भाँति वहाँ जाओ और उनकी चेष्टाआ, रूप बातचीत तथा तौर-तरीकोसे उन दोनोका यथार्थ परिचय प्राप्त करो।' (वा० रा० ४।२।२१—२४)

हनुमान् सुग्रीवके स्वामिभक्त सचिव थे। वे उनकी विपन्नावस्थास क्षुब्ध थे तथा उन्हे ढाढस ओर दिलासा दिलाते हुए कहने लगे—'सौम्य! आपको दुष्टात्मा बालिका

यहाँपर काई भय नहीं। यदि वह यहाँ आयगा तो आप जानते ही हें कि उसके सिरके सहस्रा टुकडे हो जायँगे। बुद्धि आर विज्ञानके बलसे आप दूसराकी चेष्टाओ आर मनोभावोका समझ लेनेके पश्चात् ही अपना आवश्यक कार्य कर क्याकि जो राजा बुद्धि-वलका आश्रय नहीं लेता वह सम्पूर्ण प्रजाका शासक नहीं हो सकता।'

सुग्रीवकी ओरसे हनुमान्‌जीने स्वत ही मैत्री-प्रस्ताव रखकर अपनी दूरदर्शिता और कार्य-कुशलताका परिचय दिया। श्रीराम आर लक्ष्मण उनकी सम्भापण-कलासे प्रभावित हो सुग्रीवके प्रति आकृष्ट हो सके थे। इतना ही नहीं, हनुमान्‌जीने सुग्रीवकी दयनीय दशाका कुछ ऐसा विचित्र चित्रण किया कि श्रीरामने मैत्री स्थापित करते ही उनके कष्ट-निवारणार्थ बालिका वध किया और किष्किन्धाके राज्य-सिहासनपर सुग्रीवको प्रतिष्ठित कर दिया।

उपर्युक्त प्रमाणाके आधारपर हम कह सकते हैं कि श्रीहनुमान्-जैसे सचिवोत्तमके महान् प्रयासास ही सुग्रीवने अपना खोया हुआ राज्य पत्नी रमा और प्रतिष्ठा पुन अर्जित की थी।

रामायणके अनुशीलनसे इस बातका भी सकेत मिलता है कि सुग्रीवम दृढता, वचन-निर्वाह और राजधर्मके अनुसार मित्र-राष्ट्रको दिये गये वचनाको पूर्ण करनेकी तत्परता नहीं थी। ज्या ही उनके कष्ट दूर हुए, वे किष्किन्धाके राजमहलाम पहुँचते ही श्रीरामको दिये गये वचनाको भुला वैठे। कञ्चन-कामिनी एव राज-सुखने उन्हे किकर्तव्यविमूढ-सा कर दिया था। ऐसी स्थितिम समस्त गुणनिधान हनुमान्‌जीने एक श्रेष्ठ राजनीतिज्ञके चातुर्यका परिचय दिगा है। उन्हाने सुग्रीवको मन्त्री-शिरामणि या सचिवात्तमक दायित्वाका हवाला देते हुए कहा—

नियुक्तैर्मन्त्रिभिर्वाच्यो ह्यवश्य पार्थिवो हितम्।
इत एव भय त्यक्त्वा ब्रवीम्यवधृत वच ॥
(वा० रा० ४।३२।१८)

'राज्यकी भलाईक कामपर नियुक्त हुए मन्त्रियाका यह कर्तव्य है कि राजाको उसक हितकी वात अवश्य वताय। अतएव मैं भयको छोडकर अपना निश्चित विचार वता रहा हूँ—

'समयका ज्ञान रखनेवालाम श्रेष्ठ कपिराज। आपने सीताकी खोज करनेके लिये जो समय निश्चित किया था उसे आप इन दिना प्रमादम पड जानेके कारण भूल गये हें। देखिये, यह सुन्दर शरद्-ऋतु आरम्भ हो गयी है। राजाआके लिये विजय-यात्राकी तैयारी करनका समय आ गया हे, किंतु आपको कुछ पता ही नहीं है। इसस स्पष्ट प्रतीत होता हे कि आप प्रमादम पड गये हैं। इसीलिय लक्ष्मण यहाँ आये हे। महात्मा श्रीरामचन्द्रजीकी पत्नीका अपहरण हुआ ह इससे वे बहुत दु खी हैं। अत लक्ष्मणक मुखसे उनका कठोर वचन भी सुनना पडे तो आपको चुपचाप सह लेना चाहिये, क्योकि आपकी ओरसे अपराध हुआ है। हाथ जोडकर लक्ष्मणको प्रसन्न करनके सिवा आपके लिये और कोई उचित कर्तव्य मैं नहीं देखता। जिसे पीछे हाथ जोडकर मनाना पडे, ऐस पुरुपको क्राध दिलाना कदापि उचित नही है। विशेपत वह पुरुप जो मित्रके किय हुए पहले उपकारको याद रखता हा और कृतज्ञ हो इस बातका अधिक ध्यान रखे। श्रीराम और लक्ष्मणके आदेशकी आपको मनसे भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। श्रीरामक अलोकिक बलका ज्ञान ता आपके मनको हे ही।' (वा० रा० ४।३२।१३—२२)

प्राय देखा गया ह कि राज्यका पतन मन्त्रीके सम्यक् मन्त्रणा न देनेसे एव रोगीका मरण चिकित्सकको उपक्षासे हो जाया करता है। इन नीतिपरक सिद्धान्तोका विवेचन गास्वामी तुलसीदासजीने इस प्रकार किया ह—

सचिव बैद गुर तीनि जौं प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धर्म तन तीनि कर होइ बेगिहीं नास॥
(रा०च०मा० ५।३७)

हनुमान्‌जीन भयरहित हाकर सुग्रावका एक याग्य मन्त्रीके समान उचित सलाह दी। ऐसी नेक मन्त्रणा ता स्वय राजनीतिके पण्डित रावणको भी उसक मन्त्रियाने नहीं दी था। इसी दापका उद्घाटन करत हुए महर्पि वाल्मीकिन टिप्पणी की है—

सुलभा पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥
(वा० रा० ६।१६।२१)

'सदा प्रिय लगनेवाली मीठी-मीठी बात कहनेवाले तो सुगमतासे मिल सकते हैं, किंतु जो सुननेमें अप्रिय तथा परिणाममें हितकर हो, ऐसी बात कहने और सुननेवाले दुर्लभ होते हैं।'

महर्षि वाल्मीकिने हनुमान्‌जीके मन्त्रणा-कार्यका दिग्दर्शन कराते हुए लिखा है कि 'वे शास्त्रके निश्चित सिद्धान्तको जाननेवाले थे। कब क्या करना चाहिये और क्या नहीं इन बातोंका उन्हें यथार्थ ज्ञान था।' जब हनुमान्‌जीने यह देखा कि सुग्रीव अपनी प्रयोजन-सिद्धिपर धर्म और अर्थके संग्रहमें शिथिलता दिखाने लगे हैं और युवती स्त्रियोंके साथ क्रीडा-विलासमें मदहोश रहते हैं, तब उन्हें स्वेच्छाचारी होनेसे रोकनेके लिये वे सत्य एवं लाभदायक धर्म और अर्थसे युक्त वचन कहते हैं, किंतु इसमें भी वे उन्हें ऐसे वचनोंसे उद्बोधित करते हैं, जिनसे सुग्रीवका अपमान भी न हो और वे श्रीरामके साथ पूर्व-संकल्पित कार्यकी ओर अग्रसर भी हो जायँ।

हनुमान्‌जीने कहा—

राज्यं प्राप्तं यशश्चैव कौली श्रीरभिवर्धिता॥
मित्राणां संग्रहः शेषस्तद् भवान् कर्तुमर्हति।
यो हि मित्रेषु कालज्ञः सततं साधु वर्तते॥
तस्य राज्यं च कीर्तिश्च प्रतापश्चापि वर्धते।
यस्य कोशश्च दण्डश्च मित्राण्यात्मा च भूमिप।
समान्येतानि सर्वाणि स राज्यं महदश्नुते॥
(वा० रा० ४।२९।९—११)

'राजन्! आपने राज्य और यश प्राप्त कर लिया तथा कुल-परम्परासे आयी हुई लक्ष्मीको भी बढ़ाया, किंतु अभी मित्रोंको अपनानेका कार्य शेष रह गया है, उसे आपको इस समय पूर्ण करना चाहिये। जो राजा 'कब प्रत्युपकार करना चाहिये'—इस बातको जानकर मित्रोंके प्रति सदा साधुतापूर्ण बर्ताव करता है, उसके राज्य, यश और प्रतापकी वृद्धि होती है। 'राजन्! जिस राजाका कोश, दण्ड (सेना), मित्र और अपना शरीर—ये सब-के-सब समानरूपसे उसके वशमें नहीं रहते हैं, वह विशाल राज्यका पालन एवं उपभोग नहीं कर पाता।'

श्रीहनुमान्‌जीने सामनीतिके अनुसार आगे भी सुग्रीवको परामर्श देते हुए कहा—'आप सदाचारसे सम्पन्न और नित्य सनातन-धर्मके मार्गपर स्थित हैं, अतः मित्रके कार्यको सफल बनानेकी आपने जो प्रतिज्ञा की है, उसे यथोचित रूपसे पूर्ण कीजिये, क्योंकि कार्य-साधनका उपयुक्त अवसर बीत जानेपर जो मित्र-कार्योंमें लगता है, वह बड़े-से-बड़े कार्योंको सिद्ध करके भी मित्रके प्रयोजनको सिद्ध करनेवाला नहीं माना जाता। शत्रुदमन! श्रीराम हमारे परम सुहृद् हैं, उनके कार्यका समय व्यतीत होता जा रहा है। अतः विदेहकुमारीकी खोज प्रारम्भ कर देनी चाहिये। श्रीराम समयका ज्ञान रखते हैं, उन्हें अपने कार्यकी सिद्धिके लिये शीघ्रता है तो भी वे आपके अधीन बने हुए हैं। वे संकोचवश आपसे नहीं कहते कि उनके कार्यका समय बीत रहा है। वे चिरकालतक मित्रता निभानेवाले तथा आपके अभ्युदयके हेतु हैं। आपका कार्य भी वे सिद्ध कर चुके हैं, अब आप उनका कार्य सिद्ध कीजिये। यदि उनके कहनेके पूर्व ही हमलोग कार्य प्रारम्भ कर दें तो समय बीता हुआ नहीं माना जायगा। अतः अब पराक्रमी वानरोंको आज्ञा देनेमें विलम्ब करना उचित नहीं। आपको स्मरण होगा, श्रीरामको बालिके प्राण लेनेमें जरा भी हिचक नहीं हुई। वे आपका प्रिय कार्य कर चुके हैं। अतः अब हमलोग विदेहकुमारी सीताका इस भूतल और आकाशमें भी पता लगायें।'

उपर्युक्त तथ्योंसे स्पष्ट है कि ज्यों ही हनुमान्‌जीने यह अनुभव किया कि एक पक्षने तो अपने पूर्व वचनका पालन किया किंतु दूसरा पक्ष उसके प्रति अत्यन्त उदासीन हो गया है, त्यों ही उन्होंने सुग्रीवको साम, दाम, भेद और दण्डनीतिसे भलीभाँति समझाकर उन्हें कर्तव्यका भान कराया। यथा—

इहाँ पवनसुत हृदयँ बिचारा। राम काजु सुग्रीवँ बिसारा॥
निकट जाइ चरनन्हि सिरु नावा। चारिहु बिधि तेहि कहि समुझावा॥
(रा०च०मा० ४।१९।१-२)

आजकी शासन-व्यवस्थामें भी मन्त्रियोंका प्राधान्य

हाता है किंतु मन्त्रियाम वैसी कुशलता, चातुर्य एव कतव्यक प्रति दृढता नहीं पायी जाती जैसी श्रीहनुमान्‌जीन सचिवक रूपम दिखायी थी। वस्तुत हनुमान्‌जीक कहनपर हा सुग्रीवन वानराका बुलानेक लिय यह अध्यादश जारी किया कि 'सब जगह यह प्रचारित कर दिया जाय कि जा वानर पद्रह दिनाक अदर किष्किन्धा नहीं आयगा उस प्राणदण्ड दिया जायगा।' तत्पश्चात् व अन्त पुरम लाट गय। अथात् व हनुमान्‌जीकी मन्त्रणापर भी श्रीरामक प्रति किय गय सकल्पपर दृढ नहीं हुए। इसपर श्रीरामन लक्ष्मणका उद्‌बाधित करक सुग्रीवका भय दिखलाकर रास्तपर लानके लिय प्रषित किया। इस आकस्मिक भयका देखकर सुग्रीव अत्यन्त भयातुर हा गय और उन्हान तुरत हा अपनी मन्त्रि-परिषद्‌क समक्ष यह प्रस्ताव रखा कि 'क्या कारण है श्रीरामक कायका मैं कर रहा हूँ, फिर भी व मुझपर कुपित हैं। क्या किसान मर विरुद्ध उन्ह कुछ उलटा-पलटा कहकर भडकाया है?' श्रीहनुमान्‌जीन उनस कहा—'श्रीरामन बिना लाकापवादकी परवाह किय आपका प्रिय काय किया है। अत नि सदह व आपपर कुपित नहीं हैं। उन्हान जा आपक पास लक्ष्मणजीका भजा है इसम सर्वथा आपक प्रति उनका प्रम ही कारण है।'

अन्य ग्रन्थक प्रसग मर्यादापुरुषात्तम श्रीरामन चित्रकूटम भरतका राज्य-सचालनकी व्यावहारिक शिक्षा दत हुए इस बातका आग्रह किया था कि 'मन्त्रि-परिषद्‌म कवल एस व्यक्ति ही सम्मिलित किय जायँ जा घूस न लत हा अथवा [illegible] हा पिता-पितामहाक समयस ही काम करत आ रह हा तथा काय-भारम पवित्र एव श्रष्ठ हा।' उन्हान यह भी परामर्श दिया कि प्रधान व्यक्तियाका प्रधान, मध्यम [illegible] मध्यम और छाटा श्रेणीका छाट ही कामाम नियुक्त किया जाय। उन्हाने भरतस पूछा—'क्या तुमन अपन ही समान [illegible] जितेन्द्रिय कुलीन तथा बाहरी [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

(वा० रा० २।१००।१)

[illegible]

चाहिय। यहाँ भारतीय राज-दर्शनम अपक्षित गुणाक जिन-जिन तत्त्वाका समावेश है, यदि उनकी कसौटीपर श्रीहनुमान्‌जी आँका जाय ता हम पायग कि या ता हनुमान्‌जीकी याग्यताक आधारपर ही मन्त्रीकी याग्यताका मापदण्ड निर्धारित किया गया ह अथवा मन्त्रि-पदक लिय वाञ्छित समस्त याग्यताआका उनम समावश था।

जब शत्रु-शिविरसे विभीषण शरणागत हाकर श्रीराम-शिविरम प्रवश पाना चाहते हैं, तब श्रीरामन अपना सुरक्षा-समितिक परामर्श-दाताआसे विधिवत् मन्त्रणा चाही थी। सुरक्षा-परिषद्‌के समक्ष सुग्रीवन जा उनक सुरक्षा-विभागक प्रधान थ, समस्या रखी—'यह शत्रु-शिविरस आया है और शत्रु-भ्राता है, अत हमार साथ धाखा कर सकता है। क्याकि जब यह सकट-कालम अपन सग भाइका भी साथी नहीं हुआ तब हमारा कैस हा सकता है? अत मरी राय है कि इस बदी बनानकी अथवा वधकी आज्ञा हम शीघ्र प्रदान की जाय।'

श्रीराम महान् नीतिज्ञ थे। उनक समान नीति प्रीति परमार्थ और स्वाथका विशषज्ञ अन्य कोई भी नहीं था। अस्तु, उन्हान प्रज्ञासम्पन्न कुमार अङ्गदस इसपर मन्तव्य प्रकट करनक लिय कहा। अङ्गदन कहा—'प्रभो! यह चूँकि हमार लिय अपरिचित है, अत सहसा इसपर विश्वास न करत हुए हम इसक गुण-दाषाका पता लगाकर ही कार्य नीति निर्धारित करनी चाहिय। अत इस परीक्षणक बाद जैसा उचित हा वैसा करना ही श्रयस्कर हागा।' जब वृद्ध जातिन जाम्बवान्‌स इसपर मन्त्रणा चाही गयी ता उन्हान स्पष्ट कहा—'विदशिया तथा शत्रु-शिविरस सम्बन्धित व्यक्ति-मित्रगणपर कदापि विश्वास न किया जाय क्याकि य कभी भी धाखा द सकत हैं।' इसी प्रकार शरभ मैन्द आदि अन्य मन्त्रियास जब विभीषणक प्रति नीति-निर्धारणक [illegible] मत माँगा गया ता य भी यही कहत हैं कि 'शत्रुक [illegible]

[illegible]

॥ ५क ओर हमारे लिये सहायक सिद्ध हागे। इसपर ७ विरोधी विचार रखनवाले मन्त्रियाने विशेषकर ु ीवने महान् आपत्ति प्रकट की और कहा—आपक पास ान-स प्रमाण हैं, जिनके आधारपर आप इस निर्दोष सिद्ध क८ रह हैं? क्या यह अभी शरणक बहाने हमारे भेदाका ् निद्रावस्थामे श्रीराम या लक्ष्मण अथवा हमारे सैनिकापर प्रहार नहीं कर सकता?'

सुग्रीवकी इन आशङ्काआका समाधान करनेक लिय श्रीहनुमान्‌जीन अकाट्य तर्क प्रस्तुत किय। उन्हान कहा—'प्रभा! म जो कुछ निवदन करूँगा, वह वाद-विवाद, तर्क स्पर्द्धा अधिक बुद्धिमत्ताके अभिमान या किसी कामनास नहीं, में ता कार्यकी गुरुतापर दृष्टि रखकर जा यथार्थ समझूँगा वही कहूँगा। आपके मन्त्रियाने अर्थ-अनथ गुण-दापकी परीक्षाका जो सुझाव दिया है वह प्रयाजनहीन है क्याकि वह कह रहा है—'मै रावणका छाटा भाई विभीषण हूँ ओर आपकी शरण चाहता हूँ।' अत अब जासूसीका इसम क्या आवश्यकता है? वह अपना ठीक-ठीक परिचय दे रहा हैं। पुनश्च उसकी परीक्षा लनक लिये समयकी अवधि चाहिये, किंतु वह अभी शरणकी याचना कर रहा है। अत निर्णय तो तुरत ही करना है। यदि परीक्षणके लिय हम उस अभी कोई काम सौंपगे तो क्या नवीन व्यक्तिको सहसा किसी महत्त्वपूर्ण कार्यको सौंप देना बुद्धिमानी है? प्रभो! विभीषण तो आपके उद्योग, रावणक मिथ्याचार, बालिक वध और सुग्रीवके राज्याभिषेकका समाचार सुनकर राज्य पानेकी इच्छासे यह समझ-बूझकर ही यहाँ आय हैं—'श्रीराम अवश्य ही शरणम आय हुएकी रक्षा करते हैं', अत उनका सग्रह मेरी दृष्टिम उचित ही है। मेरे मनम इनके प्रति कोई सदेह नहा, क्याकि दुष्ट पुरुष कभी भी नि शङ्क होकर सामने नहीं आ सकता। इसके सिवा उनकी वाणीम भी काई दाप नहीं। काई भी अपने आकारका कितना ही क्या न छिपाये, किंतु उसक भीतरी भाव कभी छिप नहीं सकते। बाहरका आकार पुरुषाके आन्तरिक भावका बलात् प्रकट कर दता है।' (वा० रा० ६।१७)

आगकी घटनाआसे श्रीहनुमान्‌जीक य वचन अक्षरश सत्य सिद्ध हात हैं। लङ्का-अभियानम विभीषणद्वारा श्रीराम-दलका अनेक स्थलापर सहायता मिली थी। यदि विभीषण इन्द्रजित्‌क गुप्त यज्ञकी बात न बताते आर लक्ष्मणद्वारा उस यज्ञका विध्वस न हाता ता काई भी शक्ति समर-भूमिम उसे पराजित नहीं कर सकती थी। इसी प्रकार कृत्रिम सीताक वधकी छद्मपूण चालको भी यदि विभीषण नहीं बताते ता वानराका उत्साह उसी क्षण समाप्त हो गया हाता, क्याकि शत्रुकी इस चालसे स्वय श्रीराम अचत हा गय थ। किंतु जब विभीषणने कहा—'यह कृत्रिम ऐन्द्रजालिक शक्तिका सहारा लेकर वानराको अनुत्साहित करनेका उपक्रममात्र है। सीताका मारना तो दूर, उन्ह काई दख भी नहीं सकता—ऐसा रावणका प्रबन्ध ह। इसके अनुसार रावण सीताका वध किसा भी दशाम नहीं कर सकता।' इन सब बातासे स्पष्ट है कि विभीषणका शरण देनकी नातिम भावी सफलताके बीज निहित थे। इससे राक्षसाके अनक भेदाका उद्घाटन हा सका था। विभीषणन मानव-वेशम या वानरोके वेशम आये राक्षसाका पहचानकर उन (शुक-सारण)-की श्रीराम-दलमे जासूसीतक रोक डाली जिससे राक्षसाकी शक्ति क्षाण हुई। सच पूछा जाय तो श्रीरामका रावणपर विजयका श्रेय श्रीरामके अतिरिक्त यदि अन्य किसीको दिया जाय तो उसके लिय राजनीतिज्ञ श्रीहनुमान्‌जीको ही सबसे उपयुक्त पात्र माना जा सकता है।

(डॉ० श्रीभवानीशकरजी पचारिया, एम्०ए०, पी-एच्० डी०)

अथ येषामधर्मज्ञो राजा भवति नास्तिक। न त सुख प्रबुध्यन्ति न सुख प्रस्वपन्ति च॥
सदा भवन्ति चोद्विग्नास्तस्य दुश्चरितैर्नरा। योगक्षेमा हि बहवो राष्ट्र नास्याविशन्ति तत्॥

(महाभा० अनु० ६२। ४१-४२)

जिनका राजा धर्मको न जाननेवाला आर नास्तिक होता है वे लाग न तो सुखसे सोत ह ओर न सुखसे जागत हा हैं, अपितु उस राजाक दुराचारसे सदैव उद्विग्न रहते हैं। ऐसे राजाके राज्यम बहुधा यागक्षेम नहीं प्राप्त होते।

शुक्राचार्य और उनका नीतिशास्त्र

भगवान् ब्रह्माजीके मानस पुत्राम महर्षि भृगुका विशिष्ट स्थान है। इन्हीं भृगुजीके पुत्र कवि हुए और कविक असुरगुरु महर्षि शुक्राचार्य हुए। य योगविद्याक आचार्य हे ओर इनकी शुक्रनीति बहुत प्रसिद्ध है। यद्यपि गुरुरूपम असुरोने इनका ही वरण किया था, किंतु ये मनसे भगवान्‌क अनन्य भक्त हैं। असुराक साथ रहते हुए भी य उन्हे सदा धर्मकी, नीतिकी तथा सदाचारकी शिक्षा दते रह। इन्हींके प्रभावस प्रह्लाद, विरोचन बलि आदि भगवद्भक्त बने।

इनका नाम काव्य, भार्गव तथा उशना भी ह। य एक ग्रहके रूपम नक्षत्रमण्डलम भी प्रतिष्ठित रहत हैं। इनम योगसाधना तपस्या अध्यात्मज्ञान तथा नीतिका बहुत बल था, जिनके द्वारा इन्हाने असम्भव कार्य भी सम्भव कर दिखाये। इनकी पुत्रीका नाम दवयानी था जिसका विवाह राजा ययातिके साथ हुआ। पुराणतिहास-ग्रन्थाम आया हे कि शुक्राचार्य सभी प्रकारके रत्ना आर धनाके एकमात्र स्वामी हैं धनाध्यक्ष कुबेर भी इन्हींसे धन प्राप्त करत हैं।[1] य इन्द्र तथा ब्रह्माजीकी सभाम प्रतिष्ठित होते हैं।

इनके पास मृतसजीवनी विद्या थी। इससे ये सग्रामम मर हुए असुराको जीवित कर लते थ किंतु देवगुरु वृहस्पतिजीके पास यह विद्या नहीं थी। इसलिय उन्हान अपने पुत्र कचका इनके पास वह विद्या सीखनक लिय भेजा। इन्हाने कचका वृहस्पति-पुत्र जानकर बड ही स्नहस वह विद्या सिखायी। असुराको जब यह बात मालूम हुई ता उन्हाने कचका कई बार मार डाला किंतु शुक्राचायजा अपनी विद्याक प्रभावस उस बार-बार जीवित कर लेत। अन्तम दत्याने कचका मारकर उसकी राख सुराम मिलाकर धोखसे शुक्राचार्यको पिला दी। ऋषि शुक्रने ध्यानद्वारा दखा तो उन्ह सब पता चल गया। वे कचस बाले—'मैं तुम्ह पटम ही मृतसजीवनी विद्या सिखाता हूँ। तुम मरा पेट फाडकर बाहर निकल आना और उस विद्याके बलस मुझ जीवित कर लेना।' कचने ऐसा ही किया। वह विद्यासम्पन्न हा गया। तबस शुक्राचार्यजीने इस नीतिका निर्धारण इस प्रकार कर दिया—

'आजसे इस जगत्‌का कोई भी ब्राह्मण अज्ञानस भी यदि मदिरापान करेगा तो वह मन्दबुद्धि धर्मसे भ्रष्ट हा ब्रह्महत्याक पापका भागी होगा तथा इस लाक और परलोक दोनाम निन्दित होगा।'[2]

इस प्रकार आचार्य शुक्रने मर्यादा बाँध दी जिस समस्त लागाने स्वीकार किया।

शुक्राचार्यजीक नीतिके उपदश बहुत ही उपयागी तथा अनुपालनीय हैं। इन्हान नीतिशास्त्रका ता प्रणयन किया ही है साथ ही इनक नामसे एक आशनसस्मृति तथा एक औशनससहिता भी उपलब्ध है। महाभारत तथा पुराणाम तो इनके नीतिमय उपदेश यत्र-तत्र भर पड हैं।

महाभारतम अपनी पुत्री देवयानीको सहिष्णुता तथा क्षमाकी महिमा बताते हुए ये कहत हैं—दवयानि! जा मनुष्य सदा दूसराके कठोर वचन (दूसराद्वारा की हुइ अपनी निन्दा)-को सह लेता हैं उसने इस सम्पूर्ण जगत्‌पर विजय प्राप्त कर ली एसा समझा—

> य परषा नरो नित्यमतिवादास्तितिक्षते।
> दवयानि विजानीहि तेन सर्वमिद जितम्॥
>
> (महा० आदि० ७९।१)

---

१ इमानि तस्य रत्नानि तस्यमे रत्नपर्वता ॥ तम्मात् कुबेरा भगवाश्चतुर्थं भागमश्नुते। (महा० भीष्म० ६। २२-२३)

२ यो ब्राह्मणोऽद्यप्रभृतीह कश्चिन्मोहात् सुरा पास्यति मन्दबुद्धि । अपेतधर्मा ब्रह्महा चैव स स्यादस्मिल्लोके गर्हित स्यात् परे च॥ (महा० आदि० ७६। ६७)

देवयानि! जो उत्पन्न हुए क्रोधको अक्रोध (क्षमाभाव)-के द्वारा मनसे निकाल लता है, समझ लो, उसने सम्पूर्ण जगत्को जात लिया—

य समुत्पतित क्रोधमक्रोधेन निरस्यति।
देवयानि विजानीहि तेन सर्वमिद जितम्॥

(महा० आदि० ७९।३)

एक अन्य उपदशम शुक्राचार्य लोगाको सावधान करत हुए कहते ह—यह काई न समझे कि म जो यह पापरूपी कर्म कर रहा हूँ उसका फल मुझ नहीं मिलगा। ईश्वर, धर्म या नीति कुछ नहा हे, मरे पापका काई जानता नहीं अत मुझ फल कसे मिलगा—एसा समझना महान् भूल हे, नीतिका उल्लघन करना हे। कर्मका फल अवश्य मिलता हैं भल ही विपाकम देर हो। यही बात राजा वृपपर्वाको समझात हुए वे कहते हैं—

नाधर्मश्चरितो राजन् सद्य फलति गौरिव।
शनैरावर्त्यमानो हि कर्तुर्मूलानि कृन्तति॥
पुत्रपु वा नप्तृपु वा न चदात्मनि पश्यति।
फलत्येव ध्रुव पाप गुरु भुक्तमिवोदरे॥

(महा० आदि० ८०।२-३)

'राजन्! जा अधर्म किया जाता है उसका फल तुरत नहीं मिलता। जसे गायकी सेवा करनेपर धीरे-धीरे कुछ कालके बाद वह ब्याती और दूध देती है अथवा धरतीको जातकर बीज डालनेसे कुछ कालके बाद पौधा उगता आर यथासमय फल देता है, उसी प्रकार किया जानवाला अधर्म धीरे-धीरे कर्ताकी जड काट दता है। यदि वह (पापस उपार्जित द्रव्यका) दुष्परिणाम अपने ऊपर नहीं दिखायी देता ता उस अन्यायोपार्जित द्रव्यका उपभाग करनेक कारण पुत्रा अथवा नाती-पोतापर अवश्य प्रकट होता है। जैसे खाया हुआ गरिष्ठ अन्न तुरत नहीं ता कुछ देर बाद अवश्य ही पेटम उपद्रव करता हे उसी प्रकार किया हुआ पाप भी निश्चय ही अपना फल दता है।'

चेतावनी—उक्त नीतिबाधम यह चेतावनी दी गयी हे कि जिस व्यक्तिको अपना सच्चा हित साधना हो तथा जिस अपनी मतान प्रिय हा वह धर्म-नीतिके मार्गका न तो विरोध करे और न उसका उल्लघन ही करे।

अपनी औशनसस्मृतिम आचार्य शुक्रन फलासक्तिका त्याग करके ईश्वरार्पणबुद्धिसे ही स्वकर्मानुष्ठानका विशप महत्त्व दिया हे, वे कहते है—

य स्वधर्मपरो नित्यमीश्वरार्पितमानस ।
प्राप्नोति परम स्थान यदुक्त वदसम्मितम्॥

(७।२३)

भाव यह है कि अपने वर्ण एव आश्रमक लिये जा नियत कर्म हैं, वे स्वधर्म कहलाते हैं। जो निरन्तर अपन धर्मम कर्तव्यबुद्धिसे स्थित हे तथा जिसका मन ईश्वरमे लगा ह आर जा फलकी आकाङ्क्षा न रखकर भगवदर्पणभावस कर्म करता हे, वह शास्त्रामे निर्दिष्ट परम पदको प्राप्त करता हैं।

शुक्राचार्यका नीतिशास्त्र

महाभारतम यह वर्णन आया है कि नीतिशास्त्रके आचार्योंमें ब्रह्मा आद्य आचार्य हे। उनसे भगवान् शङ्करने उसे ग्रहण किया। शङ्करजीसे इन्द्रको प्राप्त हुआ। इन्द्रस देवगुरु बृहस्पतिके पास वही शास्त्र आया और बृहस्पतिजीसे आचार्य शुक्रको प्राप्त हुआ। पहले उस नीतिशास्त्रम एक लाख अध्याय थे। सक्षप हाते-हाते बृहस्पतिजीतक आते-आत वह तीन हजार अध्यायोवाला रह गया।

पुन शुक्राचार्यजीने देश, काल, परिस्थिति ओर मनुष्याकी आयुका ह्रास होता देख उसे आर भी सक्षिप्त कर दिया। महायशस्वी योगाचार्य तथा अमित बुद्धिमान् शुक्राचार्यने उस नीतिशास्त्रको एक हजार अध्यायावाला बना दिया—

अध्यायाना सहस्रण काव्य सक्षेपमब्रवीत्।
तच्छास्त्रममितप्रज्ञो योगाचार्यो महायशा ॥

(महा० शान्ति० ५९।८५)

वर्तमानमे आचार्य शुक्रके नामसे एक शुक्रनीति नामक ग्रन्थ उपलब्ध है, जो अत्यन्त प्रामाणिक और प्रसिद्ध है। इसमे लोक-व्यवहारका ज्ञान, राजधर्म दण्डविधान राजा राजाके कर्तव्य, राज्याङ्ग, मन्त्रि-परिपद्, भृत्यवर्ग कोश, वल राष्ट्र वेद पुराण दशन स्मृति आदिके लक्षणाका समावेश है। इसके साथ ही स्त्री-धर्म प्रतिमाआका स्वरूप प्रासाद आदिक लक्षण राजाक लिय देवपूजनकी

अनिवार्यता, विवाद, संधि, यान तथा युद्ध-नीति आदिका वर्णन है। पूरी शुक्रनीतिमें पाँच अध्याय तथा लगभग २,२०० श्लोक हैं। लघु आकारमें होनेपर भी इस शुक्रनीतिका बहुत महत्त्व है तथा यह प्रामाणिक भी अधिक है। इसका प्रचार-प्रसार, मान्यता तथा प्रचलन सर्वाधिक है।

नीतिशास्त्रकी महिमा—आरम्भमें ही शुक्राचार्यजीका कहना है कि अन्य जितने भी शास्त्र हैं वे सब व्यवहारके एक अंशको बतानेवाले हैं, किंतु सभी लोगोंका उपकारक तथा समाजकी स्थितिको सुरक्षित रखनेवाला नीतिशास्त्र ही है, क्योंकि यह धर्म, अर्थ तथा कामका कारण और मोक्षदायक बताया गया है—

धर्मार्थकाममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः॥

(शुक्रनीति १।५)

अपने नीतिशास्त्रके विषयमें स्वयं शुक्राचार्यजीका कहना है कि कवि (शुक्राचार्यजी)-की नीतिके समान कोई दूसरी नीति तीनों लोकोंमें नहीं है—'**न कवेः सदृशी नीतिस्त्रिषु लोकेषु विद्यते**' (शुक्रनीति ४।४२८)।

राजाके लिये नीतिशास्त्रका ज्ञान आवश्यक—आचार्य शुक्र राजाओंके लिये नीतिशास्त्रका ज्ञान अत्यावश्यक बतलाते हैं, क्योंकि प्रजाओंका पालन और दुष्टोंका दमन—ये दोनों राजाओंके लिये परम धर्म हैं और ये दोनों बिना नीतिज्ञानके हो नहीं सकते। नीतिरहित होना ही राजाके लिये महान् छिद्र—दोष है। जिस राजाके पास नीति और बल—ये दोनों हैं उसके पास सब ओरसे लक्ष्मी आती है—

यत्र नीतिबले चोभे तत्र श्रीः सर्वतोमुखी॥

(शुक्रनीति १।१७)

सात्त्विक राजाका स्वरूप—जो राजा अपने धर्ममें निरत, प्रजाओंका पालक सात्त्विक यज्ञ करनेवाला शत्रुओंको जीतनेवाला, दानवीर, क्षमावान्, इन्द्रिय-विषयोंसे विमुख तथा वैराग्यवान् होता है वह राजा सात्त्विक कहलाता है। ऐसा राजा अन्तमें मोक्ष प्राप्त करता है—'**स हि नृपोऽन्ते मोक्षमन्वियात्**' (शुक्रनीति १।३१)।

राज्यके सात अङ्ग—(१) राजा (२) मन्त्री, (३) मित्र (४) कोश (५) राष्ट्र (देश), (६) दुर्ग (किला) तथा (७) सेना—ये राज्यके सात अङ्ग हैं। इनमेंसे राजाको मस्तक माना गया है—

स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च।
सप्ताङ्गमुच्यते राज्यं तत्र मूर्धा नृपः स्मृतः॥

(शुक्रनीति १।६१)

राजाके लिये विनयी होना आवश्यक—आचार्य शुक्र कहते हैं कि राजाके लिये परम धर्मात्मा नीतिमान् तथा विनयी होना आवश्यक है। नीतिका मूल विनय है और शास्त्रमें निश्चय, आस्था, श्रद्धा एवं विश्वास होनेसे विनयकी प्रतिष्ठा होती है। विनयका मूल इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करना है और इन्द्रियजयी ही शास्त्रज्ञान प्राप्त करता है। इसलिये राजाको चाहिये कि वह सर्वप्रथम अपनेको विनयसे युक्त करे—

आत्मानं प्रथमं राजा विनयेनोपपादयेत्।

(शुक्रनीति १।९२)

शुक्रनीतिके सुभाषित

शुक्रनीतिमें अनेक सुन्दर बातें आयी हैं, कुछ यहाँ दी जा रही हैं—

(१) **दूरदर्शी बने दीर्घसूत्री नहीं**—व्यक्तिको चाहिये कि वह दूरतक दृष्टि रखनेवाला बने, संकीर्ण न रहे। सोच-विचारकर विवेकसे कार्य करे। आलसी तथा प्रमादी न बने—

दीर्घदर्शी सदा च स्यात् चिरकारी भवेन्न हि॥

(शुक्रनीति ३।६९)

(२) बिना सोचे-समझे किसीको मित्र न बनाये—

यो हि मित्रमविज्ञाय याथातथ्येन मन्दधीः॥
मित्रार्थे योजयत्येनं तस्य सोऽर्थोऽवसीदति।

(शुक्रनीति ३।७८-७९)

(३) विश्वस्तका भी अत्यन्त विश्वास न करे—**नात्यन्तं विश्वसेत् कश्चिद् विश्वस्तमपि सर्वदा॥** (शुक्रनीति ३।८०)

(४) अन्नकी निन्दा न करे—'**अन्नं न निन्द्यात्**' (शुक्रनीति ३।११३)।

(५) आयु, धन गृहके दोष मन्त्र, मैथुन औषध दान मान तथा अपमान—इन नौ विषयोंको अत्यन्त गुप्त रखना चाहिये किसीसे कहना नहीं चाहिये—

आयुर्वित्तं गृहच्छिद्रं मन्त्रमैथुनभेषजम्॥
दानमानापमानं च नवैतानि सुगोपयेत्।

(शुक्रनीति ३।१२९-१३०)

(६) किसीके साथ कपटपूर्ण व्यवहार तथा किसीकी आजीविकाकी हानि नहीं करनी चाहिये एव कभी भी किसीका मनसे भी अहित नहीं साचना चाहिये, करना तो दूरकी बात रही—

कूटेन व्यवहार तु वृत्तिलोप न कस्यचित्॥
न कुर्याच्चिन्तयेत् कस्य मनसाप्यहित क्वचित्।

(शुक्रनीति ३।१५७-१५८)

(७) राजाको चाहिये कि वह स्वय धर्मपरायण रहकर प्रजाको धर्मम लगाये—

स्वय धर्मपरो भूत्वा धर्मे सस्थापयेत् प्रजा ।

(शुक्रनीति ४।८)

क्याकि धर्मनीतिमे तत्पर रहनेवाला राजा चिरस्थायी कीर्ति प्राप्त करता है—

धर्मनीतिपरो राजा चिर कीर्ति स चाश्नुते॥

(शुक्रनीति ४।५)

(८) यौवन जीवन, मन, छाया लक्ष्मी तथा प्रभुत्व—ये छ चञ्चल हैं, स्थिर रहनेवाले नहीं हैं। एसा जानकर सभी—विशेपकर राजाको धर्मपरायण रहना ही चाहिये—

यौवन जीवित चित्त छाया लक्ष्मीश्च स्वामिता।
चञ्चलानि षडेतानि ज्ञात्वा धर्मरतो भवेत्॥

(शुक्रनीति १।१३८)

(९) दुर्जनाकी सगतिका परित्याग कर दना चाहिये— 'त्यजेद् दुर्जनसगतम्।' (शुक्रनीति १।१६३)

(१०) धर्मके बिना सुख प्राप्त नहीं हो सकता, अत सर्वदा धर्मपरायण रहना चाहिये—

सुख च न विना धर्मात् तस्माद्धर्मपरो भवेत्॥

(शुक्रनीति २।२)

(११) आचार्य शुक्र कहते हैं कि अपने साथ अपकार करनेम तत्पर शत्रुक साथ भी विशेष रूपसे उपकार ही करना चाहिय। सम्पत्ति तथा विपत्तिम एक स्थितिम रहना चाहिये। किसीकी उन्नतिको देखकर उस व्यक्तिसे अथवा फलसे ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये अपितु उसकी उन्नतिम जो हेतु (कारण) हैं उनके विपयमे चेष्टा करनी चाहिये—

उपकारप्रधान स्यादपकारपरेऽप्यरौ॥
सम्पद्विपत्स्वेकमना हेतावीर्ष्येत् फल न तु।

(शुक्रनीति ३।११-१२)

(१२) सुखका उपभोग अकेले न करे, न सभीपर विश्वास ही करे और न सभीपर शङ्का ही करे—

नैक सुखी न सर्वत्र विस्रब्धो न च शङ्कित ।

(शुक्रनीति ३।१३)

(१३) आचार्य शुक्र हम सावधान करते हुए बताते हैं कि मनुष्यको यह नहीं सोचना चाहिये कि अमुक व्यक्ति हजार अपराधाको करके भी सुखपूर्वक रहता हुआ दिखायी देता है फिर यदि मुझसे एक दोष या अपराध बन गया तो उससे क्या बिगडनेवाला है। ऐसा समझकर वह पाप-परम्पराको कदापि न बढाये, थोडे-से भी पापका चिन्तन न करे, क्योकि जैसे बूँद-बूँद जलसे घडा भर जाता है वैसे ही थाडे-थोडे पाप-चिन्तनसे—असत्-चिन्तनसे व्यक्ति पापसे भर जाता है—

अय सहस्रापराधी किमेकेन भवेन्मम।
मत्वा नाघ स्मरेदीपद्बिन्दुना पूर्यते घट ॥

(शुक्रनीति ३।३७)

सब प्रकारके राजधर्म और नीति-सदर्भोंको बताकर अन्तम महामति शुक्राचार्यजी भगवान् श्रीरामका सर्वोपरि नीतिमान् बताते हुए कहते हैं कि इस पृथ्वीपर भगवान् श्रीरामके समान कोई दूसरा नीतिमान् राजा नहीं हुआ, क्याकि उनकी नीतिके द्वारा वानरोने भी भलीभाँति उनकी भृत्यता स्वीकार कर ली थी—

न रामसदृशो राजा पृथिव्या नीतिमानभूत्॥
सुभृत्यता तु यन्नीत्या वानरैरपि स्वीकृता।

(शुक्रनीति ५।५७-५८)

इस नीतिवचनद्वारा शुक्राचार्य यही सदेश प्रसारित करते हैं कि राजाओको रामके समान नीतिमान् बनना चाहिये और प्रजाको रामक आचरणोका अनुकरण करना चाहिये—'रामादिवद् वर्तितव्यम्', इसीम सबका परम कल्याण है।

महर्षि वेदव्यास और उनके नीतिवचन

जयति पराशरसूनु सत्यवतीहृदयनन्दनो व्यास ।
यस्यास्यममलगलित वाङ्मयममृत जगत् पिबति॥
(वायुपु० १।१।२)

श्रीपराशरजीके पुत्र, सत्यवतीके हृदयको आनन्दित करनेवाले उन भगवान् वेदव्यासकी जय हा, जिनके मुख-कमलसे नि सृत शास्त्ररूपी सुधाधाराका ससार पान करता हे।

साक्षात् नारायण ही जगद्गुरु व्यासक रूपम अज्ञानान्धकारम निमग्न प्राणियाका भक्ति, ज्ञान, सदाचार, नीति एव धमाचरणकी शिक्षा देनेके लिय अवतीर्ण हुए आर प्रसिद्धि यही हे कि वे आज भी अजर-अमर ह। सच्चे भक्ताको आज भी उनके दर्शन हाते ह। व वसिष्ठजीके प्रपात्र, शक्ति ऋषिक पौत्र पराशरजीके पुत्र और महाभागवत श्रीशुकदेवजीके पिता हैं। यमुनाके द्वीप (टापू)-मे प्राकट्य होनेसे ये द्वैपायन तथा श्याम वर्ण हानेसे
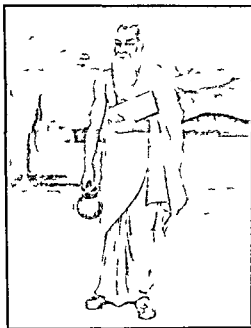
कृष्णद्वैपायन कहलाये। वेदसहिताका विभाजन करनेसे ये व्यास किवा वदव्यासके नामस प्रसिद्ध हुए। वादरायण भी इन्हींका नाम है। आजके विश्वका सारा ज्ञान-विज्ञान महर्षि वदव्यासजीका ही उच्छिष्ट है अत 'व्यासोच्छिष्ट जगत् सर्वम्' की उक्ति प्रसिद्ध है। 'यन्न भारते तन्न भारते' क अनुसार इनक द्वारा रचित महाभारतम जा कहा गया है वही अन्यत्र वर्णित है और जा इसम नहीं कहा गया वह अन्यत्र भी नहीं है। समस्त पुराण, उपपुराण, ब्रह्मसूत्र, व्याससमृति आदि इन्हींकी रचनाएँ हैं।

इन्हाने जहाँ ब्रह्मसूत्रम अध्यात्मदर्शन तथा ब्रह्मतत्त्वका निरूपण किया, वहीं पुराणा तथा महाभारतम भक्ति सदाचार और इतिहासके प्रतिपादनके साथ ही लोकजीवनकी उत्तम रीति-नीति भी प्रतिपादित की है। अपन आचरणास उन्हाने सदाचार, धर्माचरण तथा त्याग, तपस्या आर भगवद्भक्तिका सदेश प्रसारित किया है। उनका सारा जीवन लोककल्याणके लिये समर्पित रहा। श्रीमद्भगवद्गीता-जैसा अनुपम रत्न व्यासरचित महाभारतम ही उपनिवद्ध है। उनम अपार करुणा, दयालुता, मृदुता, उदारता, शील विनय तप इन्द्रियनिग्रह तथा सतापकी प्रतिष्ठा ह। उन्हाने अपने विशाल वाङ्मयद्वारा लाककल्याणका जो प्रशस्त पथ मानवाक लिये निर्धारित किया है, वह सदा ही अनुपालनीय है। महर्षि वेदव्यासजीके वचन अत्यन्त आदरणीय एव कामम लाने योग्य हैं। यहाँ उनके कुछ नीतिवचनाका प्रस्तुत किया जा रहा है—

कलियुगकी महिमा

जो फल सत्ययुगम दस वर्ष तपस्या ब्रह्मचर्य आर जप आदि करनेसे मिलता है उसे मनुष्य त्रेताम एक वर्ष, द्वापरम एक मास और कलियुगम केवल एक दिन-रातम प्राप्त कर लता है, इसी कारण मन कलियुगको श्रेष्ठ कहा है। जो फल सत्ययुगमे ध्यान त्रेताम यज्ञ और द्वापरम देवार्चन करनेसे प्राप्त हाता है, वही कलियुगम श्रीकृष्णचन्द्रका नाम-कीर्तन करनेसे मिल जाता ह—

यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत्।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहारात्रेण तत्कलौ॥
तपसा ब्रह्मचर्यस्य जपादेश्च फल द्विजा ।
प्राप्नोति पुरुषस्तेन कलि साध्विति भाषितम्॥
ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नाति तदाप्नोति कलौ सकीर्त्य केशवम्॥
(विष्णुपु० ६।२।१५—१७)

सुख-दु ख, जन्म-मृत्यु

मनुष्यके पास सुखके बाद दु ख और दु खक बाद सुख क्रमश आते ही रहत हैं—ठीक वैस हा जैस

रथचक्रकी नेमिके अर इधर-उधर घूमते रहते हैं—

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम्।
पर्यायेणोपसर्पन्ते नरं नेमिमरा इव॥

(महा० वन० २६१।४९)

पापके स्वीकारसे पाप-नाश

मोहादधर्मं यः कृत्वा पुनः समनुतप्यते।
मनःसमाधिसंयुक्तो न स सेवेत दुष्कृतम्॥
यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हते।
तथा तथा शरीरं तु तेनाधर्मेण मुच्यते॥
यदि विप्राः कथयते विप्राणां धर्मवादिनाम्।
ततोऽधर्मकृतात् क्षिप्रमपराधात् प्रमुच्यते॥
यथा यथा नरः सम्यगधर्ममनुभाषते।
समाहितेन मनसा विमुच्यति तथा तथा॥

(ब्रह्मपु० २१८।४—७)

ब्राह्मणो! जो मोहवश अधर्मका आचरण कर लेनेपर उसके लिये पुनः सच्चे हृदयसे पश्चात्ताप करता और मनको एकाग्र रखता है, वह पापका सेवन नहीं करता। ज्यों-ज्यों मनुष्यका मन पाप-कर्मकी निन्दा करता है, त्यों-त्यों उसका शरीर उस अधर्मसे दूर होता जाता है। यदि धर्मवादी ब्राह्मणोंके सामने अपना पाप कह दिया जाय तो वह उस पापजनित अपराधसे शीघ्र मुक्त हो जाता है। मनुष्य जैसे-जैसे अपने अधर्मकी बात बारम्बार प्रकट करता है, वैसे-ही-वैसे वह एकाग्रचित्त होकर अधर्मको छोड़ता जाता है।

यम-नियम

सत्य, क्षमा, सरलता, ध्यान, क्रूरताका अभाव, हिंसाका सर्वथा त्याग, मन और इन्द्रियोंका संयम, सदा प्रसन्न रहना, मधुर बर्ताव करना और सबके प्रति कोमल भाव रखना—ये दस 'यम' कहे गये हैं। शौच, स्नान, तप, दान, मौन, यज्ञ, स्वाध्याय, व्रत, उपवास और उपस्थ-इन्द्रियका दमन—ये दस 'नियम' बताये गये हैं—

सत्यं क्षमाऽऽर्जवं ध्यानमानृशंस्यमहिंसनम्॥
दमः प्रसादो माधुर्यं मृदुतेति यमा दश।
शौचं स्नानं तपो दानं मौनेज्याध्ययनं व्रतम्॥
उपोषणोपस्थदण्डौ दशैते नियमाः स्मृताः।

(स्कन्दपु० ब्रा० ध० मा० ५।१९—२१)

सत्य

सत्य बोले, प्रिय बोले, अप्रिय सत्य कभी न बोले, प्रिय भी असत्य हो तो न बोले। यह धर्म वेद-शास्त्रोंद्वारा विहित है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मो विधीयते॥

(स्कन्दपु०, ब्रा० ध० मा० ६।८८)

सत्यसे पवित्र हुई वाणी बोले तथा मनसे जो पवित्र जान पड़े, उसीका आचरण करे—

सत्यपूतां वदेद् वाणीं मनःपूतं समाचरेत्॥

(पद्मपु० स्वर्ग० ५९।१९)

पाप और उसका फल

असत्य-भाषण, परस्त्रीसङ्ग, अभक्ष्यभक्षण तथा अपने कुलधर्मके विरुद्ध आचरण करनेसे कुलका शीघ्र ही नाश हो जाता है—

अनृतात् पारदार्याच्च तथाभक्ष्यस्य भक्षणात्।
अगोत्रधर्माचरणात् क्षिप्रं नश्यति वै कुलम्॥

(पद्मपु० स्वर्ग० ५५।१८)

अकारण वैर न करे, विवादसे दूर रहे, किसीकी चुगली न करे, दूसरेके खेतमें चरती हुई गौका समाचार कदापि न कहे। चुगलखोरके साथ न रहे, किसीको चुभनेवाली बात न कहे—

न कुर्याच्छुष्कवैराणि विवादं न च पैशुनम्।
परक्षेत्रे चरन्तीं गां नाचक्षीत च कर्हिचित्॥
न संवसेत्सूचकेन न कं वै मर्मणि स्पृशेत्।

(पद्मपु० स्वर्ग० ५५।३०-३१)

निन्दा न करे, मिथ्या कलङ्क न लगाये

अपनी प्रशंसा न करे तथा दूसरोंकी निन्दाका त्याग कर दे। वेदनिन्दा और देवनिन्दाका यत्नपूर्वक त्याग करे—

न चात्मानं प्रशंसेद्वा परनिन्दां च वर्जयेत्।
वेदनिन्दां देवनिन्दां प्रयत्नेन विवर्जयेत्॥

(पद्मपु० स्वर्ग० ५५।३५)

जो गुरु, देवता, वेद अथवा उसका विस्तार करनेवाले इतिहास-पुराणकी निन्दा करता है, वह मनुष्य सौ करोड़ कल्पसे अधिक कालतक रौरव नरकमें पकाया जाता है। जहाँ इनकी निन्दा होती हो, वहाँ चुप रहे, कुछ भी उत्तर

न दे। कान वद करके वहाँसे चला जाय। निन्दा करनेवालेकी ओर दृष्टिपात न करे। विद्वान् पुरुष दूसरोकी निन्दा न करे। अच्छे पुरुषोके साथ कभी विवाद न करे, पापियोके पापकी चर्चा न करे। जिनपर झूठा कलङ्क लगाया जाता है उन मनुष्याके रोनेसे जो आँसू गिरते हैं, वे मिथ्या कलङ्क लगानेवालाके पुत्रा और पशुआका विनाश कर डालते हैं। ब्रह्महत्या, सुरापान चोरी और गुरुपत्नीगमन आदि पापासे शुद्ध होनेका उपाय वृद्ध पुरुषोने देखा है, किंतु मिथ्या कलङ्क लगानेवाले मनुष्यकी शुद्धिका कोई उपाय नहीं देखा गया है।[१]

माता-पिताकी पूजा, पतिकी सेवा, सबके प्रति समान भाव, मित्रासे द्रोह न करना और भगवान् श्रीविष्णुका भजन करना—ये पाँच महायज्ञ हैं। ब्राह्मणो! पहले माता-पिताकी पूजा करके मनुष्य जिस धर्मका साधन करता है, वह इस पृथ्वीपर सैकडा यज्ञो तथा तीर्थयात्रा आदिके द्वारा भी दुर्लभ है। पिता धर्म है, पिता स्वर्ग है और पिता ही सर्वोत्कृष्ट तपस्या है। पिताके प्रसन्न हो जानेपर सम्पूर्ण देवता प्रसन्न हो जाते हैं। जिसकी सेवा और सद्गुणासे पिता-माता संतुष्ट रहते हैं, उस पुत्रको प्रतिदिन गङ्गास्नानका फल मिलता है। माता सर्वतीर्थमयी है और पिता सम्पूर्ण देवताओका स्वरूप है, इसलिये सब प्रकारसे यत्नपूर्वक माता-पिताका पूजन करना चाहिये। जो माता-पिताकी प्रदक्षिणा करता है, उसके द्वारा साता द्वीपासे युक्त समूची पृथ्वीकी परिक्रमा हो जाती है। माता-पिताको प्रणाम करते समय जिसके हाथ, घुटने और मस्तक पृथ्वीपर टिकते हैं, वह अक्षय स्वर्गको प्राप्त करता है। जबतक माता-पिताके चरणाकी रज पुत्रके मस्तक और शरीरमे लगी रहती है, तभीतक वह शुद्ध रहता है। जो पुत्र माता-पिताके चरण-कमलाका जल पीता है, उसके करोडा जन्मोके पाप नष्ट हो जाते हैं। वह मनुष्य संसारमे धन्य है। जो नीच पुरुष माता-पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घन करता है, वह महाप्रलयपर्यन्त नरकमे निवास करता है। जो रोगी, वृद्ध जीविकासे रहित, अन्धे और बहरे पिताको त्यागकर चला जाता है, वह रौरव नरकमे पडता है।[२]

गोचरभूमि

जो गोचरभूमि छोडता है, वह कभी स्वर्गसे नीचे नहीं

---

१ निन्दयेद्वा गुरु देव वेद वा सोपबृहणम्। कल्पकोटिशत साग्र रौरवे पच्यते नर ॥
तूष्णीमासीत निन्दाया न ब्रूयात् किंचिदुत्तरम्। कर्णौ पिधाय गन्तव्य न चैनमवलोकयेत्॥
विवाद सुजनै सार्धं न कुर्याद्वै कदाचन॥
न पाप पापिना ब्रूयादपाप वा द्विजोत्तमा ।
नृणा मिथ्याभिशस्ताना पतन्त्यश्रूणि रोदनात्। तानि पुत्रान् पशून् घ्नन्ति तेषा मिथ्याभिशसिनाम्॥
ब्रह्महत्यासुरापाने स्तेये गुर्वङ्गनागमे। दृष्ट वै शोधन वृद्धैर्नास्ति मिथ्याभिशसिनि॥
(पद्मपु० स्वर्ग० ५५।३७—४२)

२ पित्रोरर्चाथ पत्युश्च साम्य सर्वजनेषु च। मित्राद्रोहो विष्णुभक्तिरेते पञ्च महामखा ॥
प्राक् पित्रोरर्चया विप्रा यद्धर्मं साधयेन्नर। न तत्क्रतुशतैरेव तीर्थयात्रादिभिर्भुवि॥
पिता धर्म पिता स्वर्ग पिता हि परम तप। पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्वदेवता ॥
पितरो यस्य तृप्यन्ति सेवया च गुणेन च। तस्य भागीरथीस्नानमहन्यहनि वर्तते॥
सर्वतीर्थमयी माता सर्वदेवमय पिता। मातर पितर तस्मात् सर्वयत्नेन पूजयेत्॥
मातर पितर चैव यस्तु कुर्यात् प्रदक्षिणम्। प्रदक्षिणीकृता तेन सप्तद्वीपा वसुन्धरा॥
जानुनी च करौ यस्य पित्रो प्रणमत शिर। निपतन्ति पृथिव्या च सोऽक्षय लभते दिवम्॥
तयोश्चरणयोर्यावद्रजश्चिह्न तु मस्तके। प्रतीक च विलग्नानि तावत्पूत सुतस्तया ॥
पादारविन्दाच्च जल य पित्रा पिबते सुत। तस्य पाप क्षय याति जन्मकोटिशतार्जितम्॥
धन्योऽसौ मानवो लोके × × × × । × × × × × × × × ॥
पितरौ लङ्घयेद्यस्तु वचोभि पुरुषाधम। निरये च वसेत् तावद्यावदाभूतसम्प्लवम्॥
रोगिण चापि वृद्ध च पितर वृत्तिकर्शितम्। विकल नेत्रकर्णाभ्या त्यक्त्वा गच्छेच्च रौरवम्॥
(पद्मपु० सृष्टि० ४७।७—१७ १९)

गिरता। गोदान करनवालेकी जो गति होती है, वही उसकी भी होती है। जो मनुष्य यथाशक्ति गोचरभूमि छोडता है, उसे प्रतिदिन सौसे भी अधिक ब्राह्मणोको भोजन करानेका पुण्य होता है। जो पवित्र वृक्ष और गोचरभूमिका उच्छेद करता है, उसकी इक्कीस पीढियाँ रौरव नरकमे पकायी जाती हैं। गाँवक गोपालकको चाहिये कि गोचरभूमिको नष्ट करनेवाल मनुष्यका पता लगाकर उसे दण्ड दे—

तथैव गोप्रचार तु दत्त्वा स्वर्गान्न हीयते।
या गतिर्गोप्रदस्यैव ध्रुव तस्य भविष्यति॥
गोप्रचार यथाशक्ति यो वै त्यजति हेतुना।
दिने दिने ब्रह्मभोज्य पुण्य तस्य शताधिकम्॥
.. ..
यश्छिनत्ति द्रुम पुण्य गोप्रचार छिनत्त्यपि।
तस्यैकविंशत् पुरुषा पच्यन्ते रौरवेषु च॥
गोचारघ्न ग्रामगोप शक्तो ज्ञात्वा तु दण्डयेत्॥

(पद्मपु० सृष्टि० ५६। ३७ ३९—४१)

गङ्गाजीकी महिमा

अविलम्ब सद्गतिका उपाय सोचनेवाल सभी स्त्री-पुरुषोक लिय गङ्गाजी ही एक ऐसा तीर्थ हैं, जिनक दर्शनमात्रसे सारा पाप नष्ट हो जाता है। गङ्गाजीके नामक स्मरणमात्रसे पातक कीर्तनसे अतिपातक और दर्शनसे भारी-भारी पाप (महापातक) भी नष्ट हो जाते हैं। गङ्गाजीमे स्नान करने तथा उनका जलपान करने और पितरोका तर्पण करनेसे महापातकोकी राशिका प्रतिदिन क्षय होता रहता है। जैसे अग्निका संसर्ग होनेसे रुई और सूखे तिनके क्षणभरमे भस्म हो जाते हैं, उसी प्रकार गङ्गाजी अपने जलका स्पर्श होनेपर मनुष्योके सारे पापको एक ही क्षणमे दग्ध कर देती हैं—

गतिं चिन्तयतां विप्रास्तूर्णं सामान्यजन्मनाम्।
स्त्रीपुंसामीक्षणाद्यस्माद्गङ्गा पापं व्यपोहति॥
गङ्गेति स्मरणादेव क्षयं याति च पातकम्।
कीर्तनादतिपापानि दर्शनाद्गुरुकल्मषम्॥
स्नानात् पानाच्च जाह्नव्यां पितॄणां तर्पणात् तथा।
महापातकवृन्दानि क्षयं यान्ति दिने दिने॥
अग्निना दह्यते तूलं तृणं शुष्कं क्षणाद् यथा।
तथा गङ्गाजलस्पर्शात् पुंसां पापं दहेत् क्षणात्॥

(पद्मपु० सृष्टि० ६०। ४—७)

जो सैकडो योजन दूरसे भी गङ्गा-गङ्गा कहता है, वह सब पापोसे मुक्त हो श्रीविष्णुलोकको प्राप्त होता है—

गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयाद् योजनानां शतैरपि।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति॥

(पद्मपु० सृष्टि० ६०। [illegible])

मनुष्यरूपमे देवता

अब हम नररूपमे स्थित देवताओंका [illegible] हैं। जो द्विज देवता, अतिथि, गुरु साधु और [illegible] पूजनमे संलग्न रहनेवाला है तथा [illegible] एवं नीतिमें स्थित, क्षमाशील [illegible] लोभहीन प्रिय पालन[illegible] लोकप्रिय, मृदुभाषी, [illegible] कार्योंमे दक्ष गुणवान् [illegible] आदिके लिये [illegible] दूध-दही [illegible] [illegible]

[illegible]

सबका उद्धारक

जा मनुष्य जितन्द्रिय, दुर्गुणासे मुक्त तथा नीतिशास्त्रके तत्त्वको जाननवाला ह और ऐसे ही नाना प्रकारके उत्तम गुणासे प्रसन्न (सतुष्ट) दिखायी देता है, वह देवस्वरूप ह। स्वर्गका निवासी हो या मनुष्यलोकका—जो पुराण और तन्त्रम बताय हुए पुण्यकर्मोंका स्वय आचरण करता ह, वही इस पृथ्वीका उद्धार करनम समर्थ है। जो शिव, विष्णु, शक्ति, सूर्य और गणशका उपासक है, वह समस्त पितराको तारकर इस पृथ्वीका उद्धार करनेमे समर्थ है। विशपत जो वेष्णवका देखकर प्रसन्न होता और उसकी पूजा करता है, वह समस्त पापासे मुक्त हो इस भूतलका उद्धार कर सकता है। जो ब्राह्मण यजन-याजन आदि छ कर्मोम सलग्न, सब प्रकारके यज्ञाम प्रवृत्त रहनेवाला और सदा धार्मिक उपाख्यानका प्रेमी ह, वह भी इस पृथ्वीका उद्धार करनेम समर्थ ह—

> यो दान्तो विगुणैर्मुक्तो नीतिशास्त्रार्थतत्त्वग ।
> एतैश्च विविधै प्रीत स भवेत् सुरलक्षण ॥
> पुराणागमकर्माणि नाकेष्वत्र च वै द्विज ।
> स्वयमाचरते पुण्य स धरोद्धरणक्षम ॥
> य शैवो वैष्णवश्शाण्ड सौरो गाणप एव च।
> तारयित्वा पितॄन् सर्वान् स धरोद्धरणक्षम ॥
> विशेष वैष्णव दृष्ट्वा प्रीयते पूजयेच्च तम्।
> विमुक्त सर्वपापेभ्य स धरोद्धरणक्षम ॥
> षट्कर्मनिरतो विप्र सर्वयज्ञरत सदा।
> धर्माख्यानप्रियो नित्य स धरोद्धरणक्षम ॥
>
> (पद्मपु० सृष्टि० ७४।१३४—१३८)

सबका नाशक

जो लोग विश्वासघाती, कृतघ्न, व्रतका उल्लङ्घन करनेवाले तथा ब्राह्मण और देवताआके द्वेषी हैं, वे मनुष्य इस पृथ्वीका नाश कर डालते हैं। जो माता-पिता, स्त्री गुरुजन और बालकाका पोषण नहीं करते, दवता, ब्राह्मण ओर राजाआका धन हर लेते हैं तथा जा मोक्षशास्त्रमें श्रद्धा नहीं रखते, वे मनुष्य भी इस पृथ्वीका नाश करते ह। जो पापी मदिरा पीने और जुआ खेलनमे आसक्त रहते ओर पाखडियो तथा पतितासे वार्तालाप करते हैं, जो महापातकी और अतिपातकी हैं, जिनके द्वारा बहुत-से जीव-जन्तु मारे जाते हैं, वे लाग इस भूतलका नाश करते हैं। जो सत्कर्मरहित, सदा दूसराको उद्विग्न करनेवाले और निर्भय है, स्मृतिया तथा धर्मशास्त्रामे बताये हुए शुभकर्मोंका नाम सुनकर जिनके हृदयम उद्वेग हाता है, जा अपनी उत्तम जीविका छोडकर नीच वृत्तिका आश्रय लेते हैं तथा द्वपवश गुरुजनाकी निन्दाम प्रवृत्त हाते हैं वे मनुष्य इस भूलोकका नाश कर डालते हैं। जो दाताको दानसे राकते और पापकर्मकी ओर प्रेरित करते हैं तथा जो दीना और अनाथाको पीडा पहुँचाते हैं, वे लाग इस भूतलका सत्यानाश करते हैं। ये तथा और भी बहुत-स पापी मनुष्य हैं जो दूसर लोगाको पापोम ढकेलकर इस पृथ्वीका सर्वनाश करते हैं।[1]

---

१ विश्वासघातिनो ये च कृतघ्ना व्रतलोपिन । द्विजदेवेषु विद्विष्टा शातयन्त धरा नरा ॥
पितरौ ये न पुष्णन्ति स्त्रियो गुरुजनान्शिशून् । देवद्विजनृपाणां च वसु ये च हरन्ति वै ॥
अपुनर्भवशास्त्रे च शातयन्ति धरा नरा । ये च मद्यरता पापा द्यूतकर्मरतास्तथा ॥
पाषण्डपतितालापा शातयन्ति धरा नरा । महापातकिनो ये च अतिपातकिनस्तथा ॥
घातका बहुजन्तूना शातयन्ति धरा नरा । सुकर्मरहिता ये च नित्योद्वेगाश्च निर्भया ॥
स्मृतिशास्त्रधर्मकोद्विग्ना शातयन्ति धरां नरा । निजवृत्ति परित्यज्य कुर्वन्ति चाधमां च ये ॥
गुरुनिन्दारता द्वेषाच्छातयन्ति धरा नरा । दातारं ये रोधयन्ति पातके प्रेरयन्ति च ॥
दीनानाथान् पीडयन्ति शातयन्ति धरां नरा । एते चान्ये च बहव पापकर्मकृता नरा ॥
पुण्यवान् पातयित्वा तु शातयन्ति धरा नरा । (पद्मपु० सृष्टि० ७४।१३९—१४७)

महर्षि मार्कण्डेयके नीतिवचन

महामुनि मार्कण्डेय कालजयी महात्मा हैं। ये भगवान् नारायणके समीप रहनेवाले भक्तोम सर्वश्रेष्ठ हैं। ये चिरजीवी कहलाते हैं और आज भी जीवित हैं। इन्होने युगाके अन्तमे होनेवाले अनेक महाप्रलयाके दृश्य देख है। जब यह ससार देवता दानव, अन्तरिक्ष तथा सम्पूर्ण जीवनिकायसे शून्य हो जाता ह, सर्वत्र जल-ही-जल भर जाता है उस प्रलय-कालमे भी ये भगवद्गुणानुवादमे निमग्न रहते हैं।

एक वार उन्हे भगवान्की मायाका प्रभाव देखनेकी इच्छा हुई। भगवान्से जब उन्होन यह बात निवेदित की तो भगवान् मुसकरा उठे और 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गये। महामुनि पुन तपस्यामे लीन हो गये। भगवान्की महामायाने उनके सामने प्रलयका दृश्य उपस्थित कर दिया। सर्वत्र जल-ही-जल, अन्धकार-ही-अन्धकार। उस समय मार्कण्डेयजीन उस प्रलयसमुद्रम अपनेको भयानक जल-जन्तुआके बीच अकेला पाया वे घबडा उठे। भगवान्का स्मरण किया तो उन्हाने देखा कि एक वटवृक्षके ऊपर
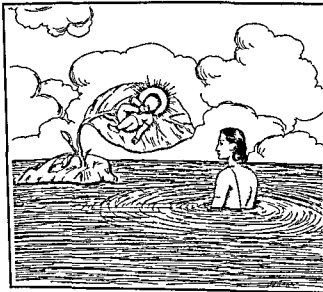
शाखामे वटके एक पत्तेका दोना बना हुआ है उस दोनेमे एक अप्रतिम बालक सोया हुआ है, जिसके प्रकाशसे सारी दिशाएँ आलाकित हो उठी हैं। बालकक हाथ-पैर अत्यन्त सुकोमल और रक्तिम आभा लिये हुए हैं। मुखमण्डलसे नवीन श्याम मेघके समान आभा छिटक रही हे। वह शिशु दाहिने पैरके अँगूठेको मुँहम लिये हुए है। यह दृश्य देखकर महामुनि आश्चर्यम पड गये। उनके दर्शनमात्रसे उनकी सारी व्यथा दूर हो गयी। रोमाञ्च हो आया। हाथ जुड गय और मुँहसे निम्न प्रार्थना निकल पडी—

> करारविन्देन पदारविन्द
> मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम्।
> वटस्य पत्रस्य पुटे शयान
> बाल मुकुन्द शिरसा नमामि॥

व भगवान्को गोदमे लेने उनक समीप चल पडे, परतु यह क्या? भगवान्की तो माया चल रही थी, उनके श्वास खींचते ही वे उनके उदरम जा पहुँचे। वहाँ अनन्त ब्रह्माण्डोंका, भगवान्का, स्वय अपना और अपने आश्रमका एव सम्पूर्ण प्रलयकालीन दृश्य—सब कुछ वैसा-का-वैसा दिखलायी पडा। अब तो मुनि भयभीत हो उठ। कुछ ही क्षणामे भगवान्ने अपनी माया समेट ली। मुनिने अपनेको अपने आश्रमके समीप पाया। सारी मायाकी सृष्टि विलीन हो गयी। मुनिको ध्यान आया कि यह तो भगवान्की ही माया थी। फिर तो वे और भी भक्तिम लीन हो गये। अब तो उनकी तपस्या लोक-कल्याणके लिय सनद्ध हो उठी।

मार्कण्डेयजीके बचपनकी बात हे। उनके जन्मक समय दैवज्ञाने पिता मृकण्डुको बताया कि आपका पुत्र तो सभी सुलक्षणोसे सम्पन्न है, किंतु इसकी अवस्था आजसे छ महीनेकी ही है। उस समय बालकको अवस्था पाँच वर्षकी थी। पिता चिन्तित हो गये। सोच-विचारम पड गये। उन्ह उपाय सूझ गया। बालक जब कुछ बडा हुआ तो उन्होने समयसे पहल उसका यज्ञोपवीत-सस्कार करा दिया और सभी वेदशास्त्र पढा दिये तथा बाले—तुम जिस किसी भी ब्राह्मणको देखना, उसे विनयपूर्वक अवश्य प्रणाम करना—

> य कश्चिद्वीक्षसे पुत्र भ्रममाण द्विजोत्तमम्।
> तस्यावश्य त्वया कार्यं विनयादभिवादनम्॥
> (स्कन्दपु० नाग० २२। १७)

मार्कण्डेयजीने पिताजीकी सीखको ग्रहण कर लिया और अभिवादनका व्रत स्वीकार कर लिया। इन्ह जा भी

श्रेष्ठ जन दीखते उन्हें प्रणाम कर उनसे दीर्घायुका आशीर्वाद प्राप्त करते। एक दिन सप्तर्षि उधरसे निकले जहाँ बालक मार्कण्डेय खडे थे। अभिवादनका क्रम जारी रहा और दीर्घ आयु प्राप्त करनेका आशीवाद भी प्राप्त हुआ। फिर वसिष्ठजीको ध्यानमे आया तो वे सप्तर्षियासे बोले हम सभीने दीर्घ आयु प्राप्त करनेका वरदान देकर ब्रह्माजीकी मर्यादाका उल्लघन किया है, इस बालककी आयु तो अब थोडी ही शेष है अब क्या हो! निर्णय हुआ कि ब्रह्मलोकमे इसे लेकर चला जाय। फिर वे सभी ब्रह्मलोक पहुँचे। ब्रह्माजीने स्वभाववश बालकको दीर्घ आयु प्राप्त करनेका वर प्रदान किया। फिर उन्हे भी बालकके सम्बन्धमे ध्यान आया, सप्तर्षिगण भी बोल उठे—प्रभो! यही आशीर्वाद हमलोग भी इसे दे चुके है। अत्र जैसे मर्यादा भङ्ग न हो वह उपाय आप करे।

ब्रह्माजी मुसकरा उठे और बोले—आपलोग चिन्तित न हो, इस बालकने अपने विनय और अभिवादनके बलसे कालको भी जीत लिया है। आजसे यह बालक अजर और अमर हो जायगा। आपलोग इसे इसके पिताके आश्रममे पहुँचा दे। सप्तर्षियाने वैसा ही किया। मार्कण्डेयजीने अपने पितासे सारी घटना बता दी।

इस प्रकार अभिवादनसे मार्कण्डेयजी अमर हो गये। अपनी इस करनीसे उन्होने हमे यह नीतियुक्त उपदेश दिया है कि अभिवादनके व्रतसे कालको भी जीता जा सकता है। ऐसे ही उन्होने मृत्युञ्जयस्तोत्रसे भगवान् शङ्करकी आराधनाकर मृत्युको जीत लिया था। मार्कण्डेयपुराण महर्षि मार्कण्डेयजीकी कृपाका फल है। उसी मार्कण्डेयपुराणमे सात सौ श्लोकामे चण्डी-माहात्म्य आया है, जो दुर्गासप्तशतीके नामसे विख्यात है।

महर्षि मार्कण्डेय योगी सिद्ध तपस्वी भक्त तथा ज्ञानी हैं। वे प्राणियाके कल्याण-चिन्तनमे लगे रहते हैं। उन्होने अपनी चर्या तथा उपदेशाद्वारा बहुत ही सुन्दर-सुन्दर बाते बतलायी हैं। सभी प्रसन्न रहे सबका भला हो सबका कल्याण हो सभी आधि-व्याधिसे रहित हो, सभी प्राणियामे परस्पर मैत्रीभाव रहे—ऐसा सद्भाव वे रखते आये है—

नन्दन्तु सर्वभूतानि स्निह्यन्तु विजनेष्वपि॥
स्वस्त्यस्तु सर्वभूतेषु निरातङ्कानि सन्तु च।
मा व्याधिरस्तु भूतानामाधयो न भवन्तु च॥
मैत्रीमशेषभूतानि पुष्यन्तु सकले जने।

(मार्कण्डेयपु० ११७।१२—१४)

महर्षि मार्कण्डेयजी अत्यन्त दयालु हैं। लोकमे रचे-पचे जनोकी दशा देख वे दयार्द्र हो उठते हैं और उनके परम हितका उपाय बताते हुए कहते हैं—सग अर्थात् आसक्तिका सब प्रकारसे त्याग कर देना चाहिये, किंतु यदि उसका त्याग न किया जा सके तो सत्पुरुषाका सग करना चाहिये, क्योकि सत्पुरुषाका सग उसकी औषधि है। मूल वचन इस प्रकार है—

सग सर्वात्मना त्याज्य स चेत् त्यक्तु न शक्यते।
स सद्भि सह कर्तव्य सता सगो हि भेषजम्॥

(मार्कण्डेयपु०)

धर्म-नीतिके साथ ही महाराज युधिष्ठिरको राजधर्मका उपदेश देते हुए वे कहते है—

दयावान् सर्वभूतेषु हिते रक्तोऽनसूयक ॥
सत्यवादी मृदुर्दान्त प्रजाना रक्षणे रत ।
चर धर्मं त्यजाधर्मं पितॄन् देवाश्च पूजय॥
प्रमादाद् यत्कृत तेऽभूत् सम्यग्दानेन तज्जय।
अल ते मानमाश्रित्य सतत परवान् भव॥

(महा० वन० १९१।२३—२५)

'[राजन्!] तुम सब प्राणियापर दया करो। सबका हित-साधन करनेमे लगे रहो। किसीके गुणामे दोष न देखो। सदा सत्य-भाषण करो। सबके प्रति विनीत और कोमल बने रहो। इन्द्रियाको वशमे रखो। प्रजाकी रक्षामे सदा तत्पर रहो। धर्मका आचरण और अधर्मका त्याग करो। देवताओ और पितराकी पूजा करो। यदि असावधानीके कारण किसीके मनके विपरीत कोई व्यवहार हो जाय तो उसे अच्छी प्रकार दानसे सतुष्टकर प्रसन्न करो। 'मैं सबका स्वामी हूँ' ऐसे अहकारको कभी पास न आने दो तुम अपनेको सदा पराधीन ही समझते रहो।'

अन्नदानकी महिमा

सर्वेषामेव दानानामन्नदानं परं विदुः।
सर्वप्रीतिकरं पुण्यं बलपुष्टिविवर्धनम्॥
नान्नदानसमं दानं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
अन्नाद्भवन्ति भूतानि म्रियन्ते तदभावतः॥
(स्कन्दपु० २०ख० ५२।१०-११)

सभी दानोंमें अन्नदानको उत्तम माना गया है। वह सबको प्रसन्न करनेवाला, पुण्यजनक तथा बल और पुष्टिको बढ़ानेवाला है। तीनों लोकोंमें अन्नदानके समान दूसरा कोई दान नहीं है। अन्नसे ही प्राणी उत्पन्न होते और उसका अभाव होनेपर मर जाते हैं।

विद्वानोंद्वारा प्रशंसनीय कर्म

पुण्यतीर्थाभिषेकं च पवित्राणां च कीर्तनम्।
सद्भिः सम्भाषणं चैव प्रशस्तं कीर्त्यते बुधैः॥
(महा० वन० २००।९४)

पुण्य तीर्थोंमें स्नान, पवित्र वस्तुओंके नामका उच्चारण तथा सत्पुरुषोंके साथ वार्तालाप करना—यह सब विद्वानोंके द्वारा उत्तम बताया जाता है।

गङ्गा-महिमा

योजनानां सहस्रेषु गङ्गां स्मरति यो नरः॥
अपि दुष्कृतकर्माऽसौ लभते परमां गतिम्।
कीर्तनान्मुच्यते पापैर्दृष्ट्वा भद्राणि पश्यति॥
अवगाह्य च पीत्वा च पुनात्यासप्तमं कुलम्।
सत्यवादी जितक्रोधः अहिंसां परमां स्थितः॥
धर्मानुसारी तत्त्वज्ञो गोब्राह्मणहिते रतः।
गङ्गायमुनयोर्मध्ये स्नातो मुच्येत किल्बिषात्॥
मनसा चिन्तितान् कामान् सम्यक् प्राप्नोति पुष्कलान्।
(पद्मपु० स्वर्ग० ६१।१४—१८)

जो मनुष्य सहस्रों योजन दूरसे भी गङ्गाजीका स्मरण करता है, वह पापाचारी होनेपर भी परम गतिको प्राप्त होता है। मनुष्य गङ्गाजीका नाम लेनेसे पापमुक्त होता है, दर्शन करनेसे कल्याणका दर्शन करता है तथा स्नान करने और गङ्गाजल पीनेसे अपने कुलकी सात पीढ़ियोंको पवित्र कर देता है। जो सत्यवादी, क्रोधजयी, अहिंसा-धर्ममें स्थित, धर्मानुगामी, तत्त्वज्ञ, गो और ब्राह्मणोंके हितमें तत्पर होकर गङ्गा-यमुनाके बीचमें स्नान करता है, वह सारे पापोंसे छूट जाता है तथा मनोवाञ्छित समस्त भोगोंको पूर्णरूपसे प्राप्त कर लेता है।

सर्वोत्तम ज्ञान क्या है

महर्षि बताते हैं कि सभी प्राणियोंके प्रति मन, वचन तथा कर्मसे क्रूरताका अभाव अर्थात् दयाभाव रखना सबसे बड़ा धर्म है। क्षमा सबसे बड़ा बल है। सत्य सबसे उत्तम व्रत है और परमात्मतत्त्वका ज्ञान ही सर्वोत्तम ज्ञान है।

इस प्रकार महर्षि मार्कण्डेयजी हमें अनेक प्रकारकी नीतिशिक्षा प्रदान करते हुए भगवत्तत्त्वकी प्राप्तिके लिये सदा सचेष्ट रहनेका उपदेश प्रदान करते हैं।

महर्षि भरद्वाजका उपदेश—तृष्णाका त्याग

दीर्घजीवी ऋषियोंमें महर्षि भरद्वाजजीका स्थान सर्वोपरि है। ये बृहस्पतिजीके भाई उतथ्य ऋषिके पुत्र थे। वेदने इन्हें 'दीर्घजीवितमा' बताया है (ऐतरेय आर० १।२।२)। ये मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं। इन्होंने ऋग्वेदके छठे मण्डलकी ऋचाओंका दर्शन किया और साथ ही देवराज इन्द्रसे व्याकरणशास्त्र तथा आयुर्वेदशास्त्रका अध्ययन किया एवं महर्षि भृगुसे धर्म-शास्त्रका विशिष्ट ज्ञान प्राप्त किया। ये धनुर्वेद, राजशास्त्र, अर्थशास्त्र एवं नीतिशास्त्रके भी आचार्य रहे हैं। महर्षि भरद्वाज आजके समस्त श्रेष्ठ वैज्ञानिक अनुसंधानोंके मूल द्रष्टा हैं। उनका 'यन्त्रसर्वस्व' नामक ग्रन्थ सारी वैमानिक कलाओं और समस्त यान्त्रिक विद्याओंका मूल है। विमान-कलापर उनके 'अंशुमत्तन्त्र' और 'आकाशशास्त्र'—ये दो प्रमुख ग्रन्थ हैं। महर्षि भरद्वाज ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय तपस्वी धर्मपरायण तथा भगवान्‌के परम भक्त थे। इनकी भगवद्भक्ति लोकप्रसिद्ध है। श्रीरामायणकी कथाका प्रचार तो इनके ही द्वारा हुआ। ये श्रीगङ्गा-यमुना

आर अदृश्य सरस्वतीजीके परम पावन सगमपर प्रयागराजम रहत थे—

भरद्वाज मुनि बसहिं प्रयागा। तिन्हहि राम पद अति अनुरागा॥

ब्रह्मज्ञानी याज्ञवल्क्यजीने इन्हे समस्त रामकथा सुनायी। ये रामकथा-श्रवणके अनन्य रसिक थे।

गोत्रप्रवर्तक ऋषियाम इनका नाम विशेप रूपसे लिया जाता है। इनक द्वारा प्रणीत 'भरद्वाजस्मृति'मे शोचाचार, सदाचार, यज्ञ, पूजा, जप तप दान तथा नित्यकर्मोका अनुष्ठान आर अतिथि-सवा आदि विशेप महत्त्वकी बात प्रतिपादित ह। इन्हाने सध्योपासना तथा गायत्री-जपकी महती शक्तिका वर्णन किया है। माता गायत्रीक य अनन्य उपासक रहे ह। इनका जीवन धर्ममय, सदाचारमय तथा नीतिपरायण रहा है। इन्हान लाक-कल्याणक लिये बहुत ही उपयागी बात बतायी है। वेदाम, पुराणेतिहास-ग्रन्थाम इनके अनक सुभापित प्राप्त होते हैं जिन्हे प्रयोगम लानसे बडा लाभ हो सकता है। एक स्थलपर इन्हाने बताया है कि जब मनुप्यका शरीर जीर्ण हाता ह तब उसके बाल पक जात हैं और दाँत भी टूट जाते ह, किंतु धन आर जीवनकी आशा बूढ होनेपर भी जीर्ण नहीं हाती—वह सदा नयी-ही-नयी बनी रहती है। आँख आर कान जीण हो जाते हैं, पर मात्र तृष्णा एसी ह, जो तरुणी ही होती रहती है। जैसे दरजी सूत्रको सूईसे वस्त्रम प्रवेश कराता रहता हे, उसी प्रकार तृष्णारूपा सूईसे ससाररूपी सूत्रका अपन अन्त करणम प्रवेश होता है, जेसे बारहसिगके सीग शरीर बढनके साथ-साथ बढते ह, वेसे ही धनकी वृद्धिके साथ-साथ तृष्णा बढता है। तृष्णाका कहीं ओर-छोर नहीं ह, उसका पट भरना कठिन होता हे, वह सैकडा दापाका ढोये फिरती हे, उसक द्वारा बहुत-से अधर्म हात हे। अत तृष्णाका परित्याग कर देना चाहिये—

जीर्यन्ति जीर्यत केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यत ।
जीविताशा धनाशा च जीर्यतोऽपि न जीर्यति।
चक्षु श्रोत्राणि जीर्यन्ति तृष्णैका तरुणायते॥
सूच्या सूत्र यथा वस्त्रे ससूचयति सूचिक ।
तद्वत् ससारसूत्र हि तृष्णासूच्योपनीयते॥
यथा शृङ्ग रुरो काय वर्धमाने च वर्धते।
तथैव तृष्णा वित्तेन वर्धमानन वर्धते॥
अनन्तपारा दुष्पूरा तृष्णा दोपशतावहा।
अधर्मबहुला चेव तस्मात् ता परिवर्जयत्॥

(पद्मपु० सृष्टि० १९। २५४—२५७)

महर्षि वैशम्पायनके विविध उपदेश

आचार्य वैशम्पायन महर्पि वेदव्यासजीक शिष्य थे। य सभी विद्याआक ज्ञाता महान् यागी, ज्ञानी तपस्वा तथा भगवद्भक्तिस आतप्रात थ। इनकी सदाचाररूपी जीवन-शैली अनुकरणाय रही है। य वेदाक आचार्य थे। इनके यहाँ बहुतस ऋपि-मुनि जिज्ञासाभावस वदादि शास्त्राका ज्ञान प्राप्त करत रह। ब्रह्मज्ञानी याज्ञवल्क्य-जैस महात्मा भी इन्हीक शिष्य थ।

इन्हाने महाराज जनमजयका सम्पूण महाभारत ग्रन्थ सुनाया। आप्त एव कुशल वक्ताक रूपम आचार्य वैशम्पायनजीका अप्रतिम स्थान है। इनक द्वारा राजा जनमजयका कथाप्रसगक रूपम महाभारतकी कथा सुनायी गयी उन्हीं कथाप्रसगाके कुछ नातिपरक उपदश जा राजा युधिष्ठिरको दिय गय वे यहाँ प्रस्तुत किय जा रह हैं—

मोहजालस्य योनिर्हि मूढैरेव समागम ।
अहन्यहनि धर्मस्य योनि साधुसमागम ॥

(महा० वन० १।२५)

मूर्खोंका सङ्ग ही मोह-जालकी उत्पत्तिका कारण है तथा प्रतिदिन साधु पुरुषोका सङ्ग धर्ममे प्रवृत्ति करानेवाला हे।

येपा त्रीण्यवदातानि विद्या योनिश्च कर्म च।
ते सेव्यास्तै समास्या हि शास्त्रेभ्योऽपि गरीयसी॥

(महा० वन० १।२७)

जिनके विद्या कुल और कर्म—ये तीनो शुद्ध हो उन साधु पुरुषोकी सवामे रहे। उनक साथ उठना-बैठना शास्त्राक स्वाध्यायसे भी श्रेष्ठतर है।

वस्त्रमापस्तिलान् भूमि गन्धा वासयते यथा।
पुष्पाणामधिवासेन तथा ससर्गजा गुणा ॥

(महा०, वन० १।२४)

जेसे फूलोकी गन्ध अपने सम्पकम आनेपर वस्त्र, जल, तिल (तेल) और भूमिको भी सुवासित कर देती है, उसी प्रकार मनुष्यमे ससर्गजनित गुण आ जाते हैं।

मानस शमयेत्तस्माज्ज्ञानेनाग्निमिवाम्बुना।
प्रशान्ते मानसे ह्यस्य शारीरमुपशाम्यति॥

(महा० वन० २।२६)

अत जिस प्रकार जलसे अग्निका शान्त किया जाता है, वैसे ही ज्ञानक द्वारा मानसिक सतापको शान्त करना चाहिये। मानसिक सताप शान्त होनेसे शारीरिक सताप भी शान्त हो जाता ह।

तृष्णा हि सर्वपापिष्ठा नित्योद्वेगकरी स्मृता।
अधर्मबहुला चैव घोरा पापानुबन्धिनी॥
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यत ।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्ता तृष्णा त्यजत सुखम्॥

(महा० वन० २।३५-३६)

तृष्णा सबसे बढकर पापिष्ठा है वह सदा उद्वेगम डालनेवाली मानी गयी है। उसके द्वारा अधिकतर अधर्मम ही प्रवृत्ति होती है, वह अत्यन्त भयकर आर पापकर्मोम ही बाँध रखनवाली ह। खोटी बुद्धिवाल मनुष्याके लिये जिसका परित्याग अत्यन्त कठिन है, जा मनुष्य-शरीरक बूढ हानेपर भी स्वय बूढी नहा होती—अपितु नित्य तरुणी ही बनी रहती है, जा मानवके लिये एक प्राणान्तकारी रागके सदृश है, ऐसी तृष्णाको जो त्याग देता है, उसीका सुख मिलता ह।

यथैध स्वसमुत्थेन वह्निना नाशमृच्छति।
तथाकृतात्मा लोभेन सहजेन विनश्यति॥

(महा० वन० २।३८)

जेसे लकडी अपने ही भीतरस प्रकट हुई आगके द्वारा जलकर नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार जिसका मन वशम नहीं हुआ, वह पुरुप अपने साथ ही पदा हुई लोभवृत्ति (तृष्णा)-द्वारा सहजभावसे नाशको प्राप्त होता ह।

अन्तो नास्ति पिपासाया सतोष परम सुखम्।
तस्मात्सतोषमेवेह पर पश्यन्ति पण्डिता ॥

(महा० वन० २।४६)

तृष्णाका कहीं अन्त नहीं है, सतोप ही परम सुख है। अत विद्वान् पुरुप इस ससारम सतोषको ही सर्वश्रेष्ठ मानते हे।

अनित्य यौवन रूप जीवित रत्नसचय ।
ऐश्वर्य प्रियसवासो गृध्येत्तत्र न पण्डित ॥

(महा० वन० २।४७)

यह तरुण अवस्था, यह रूप, यह जीवन रत्नराशिका यह सग्रह ऐश्वर्य तथा प्रिय जनोंका सहवास—सब कुछ अनित्य है, अत विवकी पुरुपको इसमे आसक्त नही होना चाहिये।

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वर तस्य निरीहता।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य श्रेयो न स्पर्शन नृणाम्॥

(महा० वन० २।४९)

जो धर्मके लिय धन पाना चाहता हैं, उस पुरुपके लिये धनकी ओरसे निरीह हो जाना ही उत्तम ह, क्याकि कीचडको लगाकर धानेकी अपेक्षा उसका स्पश ही न करना मनुष्याके लिय श्रेयस्कर हे।

सत्यवादी लभेतायुरनायासमथार्जवम्।
अक्रोधनोऽनसूयश्च निर्वृतिं लभते पराम्॥

(महा० वन० २५९।२२)

सत्यवादी पुरुप आयु, क्लेशहीनता और सरलताका पाता है तथा क्रोध और असूयासे रहित मनुष्य परम शान्ति प्राप्त करता है।

माता मदालसाके द्वारा अध्यात्मनीति तथा राजधर्मनीतिका उपदेश

आदर्श विदुषी, सती एव आदर्श माता मदालसा गन्धर्वराज विश्वावसुकी पुत्री थीं। उनका विवाह राजा शत्रुजित्के पुत्र ऋतध्वजके साथ हुआ था। दोनाका दाम्पत्य-जीवन बडा सुखमय था। सती मदालसा अपनी सवासे सास-ससुर तथा पतिको सदा सतुष्ट रखती थीं। राजकुमार ऋतध्वजको भगवान् सूर्यका दिया हुआ एक दिव्य अश्व 'कुवलय' प्राप्त हुआ था। उसकी आकाश-पाताल सर्वत्र अबाध गति थी। उसका आरोही अजेय एव दुर्धर्ष होता था। पिताकी आज्ञासे राजकुमार ऋतध्वज, जिनका दूसरा नाम उस अश्वपर आरोहण करनेके कारण कुवलयाश्व भी था, उस घोडेपर सवार होकर विप्राके रक्षाहेतु पृथ्वीपर विचरण करते थे। एक दिन वे एक आश्रमम पहुँचे, जहाँ इनके पूर्व वरी दैत्य पातालकेतुका भाइ तालकेतु आश्रम बनाकर मुनिवेषम रहता था। राजकुमारने उस मुनि जानकर प्रणाम किया। उस कपटतापसन कहा—राजकुमार! मे धर्मके लिये यज्ञ करना चाहता हूँ। किंतु दक्षिणाके लिये मरे पास धन नहीं हे। तुम अपन गलेकी रत्नमाला मुझे दे दा और यहाँ मेरे आश्रमकी रक्षा करो। में जलमे वरुणदेवकी स्तुति कर शीघ्र वापस आऊँगा। यह कहकर वह मालासहित जलम घुसा आर अदृश्य हाकर राजा शत्रुजित्के पास प्रकट हुआ। वहाँ राजासे बाला—'महाराज! आपका पुत्र दैत्योके साथ युद्ध करते हुए मारा गया हे। यह उसीकी रत्नमाला ह।' ऐसा कहकर वह लाट गया।

अब राजमहलम कुहराम मच गया। मदालसान पति-मरण सुनकर प्राण-त्याग कर दिया। उधर तालकेतु यमुना-जलसे प्रकट होकर राजकुमारसे बोला—'म कृतज्ञ हुआ। अब आप नगरको प्रस्थान कर।' राजकुमारने घर आकर जब सारा समाचार सुना ता शाकाकुल हा मदालसाके लिये तिलाञ्जलि दी और प्रतिज्ञा की कि मैं मदालसाके अतिरिक्त किसी अन्य स्त्रीस विवाह नहीं करूँगा। वे स्त्री-सुखसे विमुख हो अपन मित्राके साथ मन बहलान लगे। उनक दा मित्र नागराज अश्वतरके पुत्र थे जो मनुष्यरूपम पृथ्वीपर नित्य विचरण करन आते थे और राजकुमार ऋतध्वजक साथ क्रीडा-मनारजन करत थ। उन्हाने अपन पिता अश्वतरस राजकुमारकी स्थिति बतलायी। नागराजने भगवान् शङ्करकी आराधना कर मदालसाका पुत्रीक रूपम प्राप्त कर लिया। उसन अपन पुत्राके द्वारा ऋतध्वजको बुलाकर मदालसाकी पुन -उत्पत्तिकी कथा कह सुनायी और मदालसाको उन्ह सौंप दिया। उसी समय उनका अश्व भी वहाँ प्रकट हा गया। अश्वारूढ हो राजकुमार पत्नीसहित अपन नगर लाट आये और नगरम बडा आनन्दोत्सव मनाया गया।

कालान्तरम पिताके स्वर्ग सिधारनेपर ऋतध्वज राजा हुए। रानी मदालसाके प्रथम पुत्रका नाम राजान 'विक्रान्त' रखा। नाम सुनकर मदालसा हँसने लगीं। कालक्रमसे दा पुत्र और उत्पन्न हुए, जिनका नाम राजान सुबाहु और शत्रुमर्दन रखा। इन दोनाके नामपर भी मदालसाका हँसी आयी। वे इन तीना पुत्राका लोरियाँ गानके व्याजसे विशुद्ध आत्मज्ञानका इस प्रकार उपदेश देती थीं—

> शुद्धोऽसि रे तात न तेऽस्ति नाम
> कृत हि ते कल्पनयाधुनव।
> पञ्चात्मक देहमिद तवैत-
> न्नैवास्य त्व रोदिषि कस्य हतो ॥
>
> (मार्कण्डेयपुराण २५। ११)

हे तात! तू तो शुद्ध आत्मा है तरा कोई नाम नहीं है। यह कल्पित नाम तो तुझे अभी मिला है। यह शरीर भी पाँच भूताका बना हुआ है। न यह तेरा है, न तू इसका है। फिर किसलिये रा रहा ह?

> न वा भवान् रोदिति वै स्वजन्मा
> शब्दोऽयमासाद्य महीशसूनुम्।
> विकल्प्यमाना विविधा गुणास्तेऽ-
> गुणाश्च भौता सकलेन्द्रियेषु॥
>
> (मार्कण्डेयपुराण २५। १२)

अथवा तू नहीं रोता है यह शब्द ता राजकुमारके पास पहुँचकर अपने-आप ही प्रकट हाता है। तेरी सम्पूर्ण इन्द्रियाम जो भाँति-भाँतिक गुण-अवगुणाका कल्पना होती है वे भी पाञ्चभौतिक ही हैं।

तत्पालनादस्तु सुखोपभोगो
धर्मात् फल प्राप्स्यसि चामरत्वम्॥
(मार्कण्डेयपुराण २६। ३५)

बेटा! तू धन्य है, जा शत्रुरहित हाकर एकच्छत्र चिरकालतक इस वसुन्धराका पालन करता रहेगा। पृथिवीक पालनसे तुझे सुखोपभागकी प्राप्ति हागी और उस धर्मके फलस्वरूप तुझे अमरता मिलेगी। तुम अपने चरित्रका इस प्रकार वनाना—

धरामरान् पर्वसु तर्पयेथा
समीहित वन्धुपु पूरयेथा।
हित परस्मै हृदि चिन्तयेथा
मन परस्त्रीपु निवर्तयथा॥
(माकण्डेयपुराण २६। ३६)

पर्वो उत्सवापर ब्राह्मणाको भाजनसे तृप्त करना, बन्धु-बान्धवाकी इच्छापूर्ति करना अपने हदयम परापकारका ध्यान रखना ओर मनको परायी स्त्रियासे विमुख रखना। नीतिके इन गुणाका अपनाकर ही तुम श्रेष्ठ राजा हो सकत हो।

सदा मुरारि हृदि चिन्तयेथा-
स्तद्ध्यानतोऽन्त पडरीञ्जयथा।
माया प्रबोधेन निवारयथा
ह्यनित्यतामेव विचिन्तयेथा॥
(माकण्डेयपुराण २६। ३७)

अपने हृदयमे सदा हरिका चिन्तन करना उनक ध्यानसे अन्त करणके काम-क्रोधादि छ शत्रुआका जीतना ज्ञानके द्वारा मायाका निवारण करना, ससार असार-अनित्य हे—यह पूरा ध्यान रखना।

अर्थागमाय क्षितिपाञ्जयेथा
यशोऽर्जनायार्थमपि व्ययेथा।
परापवादश्रवणाद्बिभीथा
विपत्समुद्राज्जनमुद्धरेथा॥
(मार्कण्डेयपुराण २६। ३८)

धन-प्राप्तिक लिये राजाआका जीतना यश प्राप्त करनक लिय धन भी व्यय कर दना। परायी निन्दा सुननस डरत रहना तथा विपत्तिके समुद्रसे लागाका उद्धार करना। सदा असहायाकी सहायता करना। य नैतिक चरित्रक उत्तम गुण हैं।

राज्य कुर्वन् सुहृदो नन्दयथा
साधून् रक्षस्तात यज्ञैर्यजेथा।
दुष्टान् निघ्नन् वैरिणश्चाजिमध्ये
गाविप्रार्थे वत्स मृत्यु व्रजथा॥
(मार्कण्डेयपुराण २६। ४१)

तात! राज्य करते हुए मित्राका प्रसन्न करना साधुआकी रक्षा करते हुए यनासे हरि-यजन-पूजन करना आर पुत्र! रणक्षेत्रम दुष्ट वेरियाका विनाश करते हुए गौ आर ब्राह्मणाक लिय प्राणाकी बाजी लगा दना (मृत्युका स्वीकार करके भी गा-ब्राह्मणकी रक्षा अवश्य करना)।

राजनीतिका उपदेश

कुमार अलर्क कुछ बडा हुआ ता उसका उपनयन सस्कार हुआ। एक दिन कुमारने माताका प्रणाम करते हुए उपदेश दनेकी प्राथना की। इसपर मदालसा वाली—

वटा! राज्याभिपेक हानेपर राजाको उचित है कि वह अपने धमक अनुकूल चलता हुआ आरम्भसे ही प्रजाको प्रसन्न रखे। साता[1] व्यसनाका परित्याग कर दे क्याकि वे राजाका मूलाच्छेद करनेवाले हैं। अपनी गुप्त मन्त्रणाके बाहर फूटनसे उसक द्वारा लाभ उठाकर शत्रु आक्रमण कर देते हैं अत एसा न हाने देकर शत्रुआसे अपनी रक्षा कर। जैसे रथी रथकी गति वक्र हानेपर आठा प्रकारसे नाशका प्राप्त

[1] कटुवचन वालना कठोर दण्ड देना धनका अपव्यय करना मदिरा पीना स्त्रियाम आसक्ति रखना शिकार खेलनम व्यर्थ समय लगाना और जुआ खलना—ये राजाक सात व्यसन हैं।

होता है, उसके ऊपर आठा दिशाआसे प्रहार हाने लगते हैं, उसी प्रकार गुप्त मन्त्रणाके बाहर फूटनेपर राजाक आठा[१] वर्गोंका निश्चय ही नाश होता है। राजाको इस बातका भी पता लगाते रहना चाहिये कि शत्रुद्वारा उत्पन्न किये गय दोषसे अथवा शत्रुआके बहकावेम आकर अपने मन्त्रियोमसे कौन दुष्ट हो गया है ओर कोन अदुष्ट—कौन अपना साथी है और कान शत्रुस मिला हुआ है। इसी प्रकार बुद्धिमान् चर नियुक्त करके शत्रुके चरापर भी प्रयत्नपूर्वक दृष्टि रखनी चाहिय। राजाको अपने मित्रो तथा माननीय बन्धु-बान्धवापर भी पूर्णत विश्वास नहीं करना चाहिये। किंतु काम आ पडनेपर उसे शत्रुपर भी विश्वास कर लेना चाहिय। किस अवस्थामे शत्रुपर चढाई न करके अपने स्थानपर स्थित रहना उचित है क्या करनेसे अपनी वृद्धि हागी और किस कार्यसे अपनी हानि हानकी सम्भावना है—इन सब बाताका राजाको ज्ञान होना चाहिये। वह छ[२] गुणाका उपयोग करना जाने और कभी कामके अधीन न हो। राजा पहले अपनी आत्माको फिर मन्त्रियोका जीते। तत्पश्चात् अपनेसे भरण-पोषण पानेवाले कुटुम्बीजना एव सेवकाके हृदयपर अधिकार प्राप्त करे। तदनन्तर पुरवासियाको अपने गुणासे जीते। यह सब हो जानेपर शत्रुआके साथ विरोध करे। जो इन सबको जीते बिना ही शत्रुओपर विजय पाना चाहता ह, वह अपनी आत्मा तथा मन्त्रियापर अधिकार न रखनेके कारण शत्रु-समुदायक वशमे पडकर कष्ट भोगता ह।[३]

इसलिये बेटा! पृथ्वीका पालन करनेवाले राजाको पहले काम आदि आन्तरिक शत्रुआका जीतनेकी चेष्टा करनी चाहिये। उन्हे जीत लेनेपर विजय अवश्यम्भावी ह। यदि राजा ही उनके वशम हो गया तो वह नष्ट हो जाता है। काम, क्रोध, लोभ, मद, मान आर हर्ष—ये राजाका विनाश करनेवाले शत्रु हैं। राजा पाण्डु कामम आसक्त हानेके कारण मारे गये तथा अनुह्लाद क्रोधके कारण ही अपने पुत्रसे हाथ धा बठा। यह विचारकर अपनेको काम और क्रोधस अलग रख। राजा पुरूरवा लाभसे मार गये और वेनको मदके कारण ही ब्राह्मणोन मार डाला। अनायुपुके पुत्रको मानके कारण प्राणासे हाथ धोना पडा तथा पुरञ्जयकी मृत्यु हर्षके कारण हुई। किंतु महात्मा मरुत्तन इन सबका जीत लिया था, इसलिय वे सम्पूर्ण विश्वपर विजयी हुए। यह सोचकर राजा उपर्युक्त दोषाका सर्वथा त्याग करे। वह कावे, कोयल भौंरे, हरिण, सॉप, मोर, हस, मुर्गे ओर लाहेक व्यवहारस शिक्षा ग्रहण करे।[४] राजा अपने शत्रुके प्रति उलूक-सा बर्ताव करे। जेसे उल्लू पक्षी रातम साये कोओपर चुपचाप धावा करता है, उसी प्रकार राजा शत्रुको असावधान-दशाम ही उसपर आक्रमण करे तथा समयानुसार चींटीकी-सी चेष्टा करे—धीरे-धार आवश्यक वस्तुआका सगह करता रह।[५]

राजाको आगकी चिनगारिया तथा सेमलके बीजसे कर्तव्यकी शिक्षा लेनी चाहिये। जेस आगकी छाटी-सी चिनगारी बडे-से-बडे वनका जला डालनेकी शक्ति रखती है, उसी प्रकार छाटा-सा शत्रु भी यदि दबाया न जाय ता बहुत बडी हानि कर सकता है। जैस छोटा-सा सेमलका बीज एक महान् वृक्षक रूपम परिणत हाता ह उसी प्रकार लघु शत्रु भी समय आनेपर अत्यन्त प्रबल हा जाता है।

---

१ खेतीकी उन्नति व्यापारकी वृद्धि दुर्ग-निर्माण पुल बनाना जगलसे हाथी पकडकर मँगवाना खानापर अधिकार प्राप्त करना अधान राजाओसे कर लेना और निर्जन प्रदेशको आबाद करना—ये आठ वर्ग कहलाते हैं।

२ सन्धि विग्रह यान आसन द्वैधीभाव और समाश्रय—ये छ गुण हैं। इनम शत्रुस मेल रखना सन्धि उनस लडाइ छडना विग्रह आक्रमण करना यान अवसरकी प्रतीक्षाम बैठे रहना आसन दुरगा नीति बरतना द्वैधाभाव आर अपनस बलवान् उनका शरण लना समाश्रय कहलाता है।

३ मार्कण्डेयपुराण २७।४—११

४ तात्पर्य यह कि राजा कौवेके समान आलस्यरहित और सावधान हो। जैसे कोयल अपने अण्डेको कौवेसे पालन कराता है वसे ही राजा भी दूसरासे अपना कार्य साधन करे। वह भौंरोके समान रसग्राहो और मृगके समान सदा [illegible]। जैसे सर्प बडा-बडा फन [illegible] दूसरोको डराता और मेढकको चुपके-से निगल जाता है उसी प्रकार राजा [illegible] और सहसा आक्रमण करके [illegible] अपने अधीन कर ले। जैसे मोर अपने समेटे हुए पखका कभी-कभी [illegible] भी समयानुसार अपने [illegible] बलका विस्तार करे। वह हसोके समान नीर-क्षारका विवेक [illegible]। मुर्गेके समान राजा रहते हा शयनसे [illegible] विचार करे और लोहेकी भाँति शत्रुआके लिये अभेद्य एव [illegible]।

५ मार्कण्डेयपुराण २७।१२—१८

अत दुर्बलावस्थामें ही उसे उखाड़ फेंकना चाहिये। जैसे चन्द्रमा और सूर्य अपनी किरणोंका सर्वत्र समान रूपसे प्रसार करते हैं, उसी प्रकारसे नीतिके पालनके लिये राजाको भी समस्त प्रजापर समान भाव रखना चाहिये। वेश्या, कमल, शरभ, शूलिका, गर्भिणी स्त्रीके स्तन तथा ग्वालेकी स्त्रीसे भी राजाको बुद्धि सीखनी चाहिये। राजा वेश्याकी भाँति सबको प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करे, कमल-पुष्पके समान सबको अपनी ओर आकृष्ट करे, शरभके समान पराक्रमी बने, शूलिकाकी भाँति सहसा शत्रुका विध्वंस करे। जैसे गर्भिणीके स्तनमें भावी संतानके लिये दूधका संग्रहण होने लगता है, उसी प्रकार राजा भविष्यके लिये सञ्चयशील बने और जिस प्रकार ग्वालेकी स्त्री दूधसे नाना प्रकारके खाद्य पदार्थ तैयार करती है, वैसे ही राजाको भाँति-भाँतिकी कल्पनामें पटु होना चाहिये। वह पृथ्वीका पालन करते समय इन्द्र, सूर्य, यम, चन्द्रमा तथा वायु—इन पाँचोंके रूप धारण करे। जैसे इन्द्र चार महीने वर्षा करके पृथ्वीपर रहनेवाले प्राणियोंको तृप्त करते हैं, उसी प्रकार राजा दानके द्वारा प्रजाजनोंको संतुष्ट करे। जिस प्रकार सूर्य आठ महीनेतक अपनी किरणोंसे पृथ्वीका जल सोखते रहते हैं, इसी प्रकार सूक्ष्म उपायोंसे धीरे-धीरे कर आदिका संग्रह करे। जैसे यमराज समय आनेपर प्रिय-अप्रिय सभीको मृत्यु-पाशमें बाँधते हैं, उसी प्रकार राजा भी प्रिय-अप्रिय तथा साधु और दुष्टके प्रति समान भावसे राजनीतिका प्रयोग करे। जैसे पूर्ण चन्द्रमाको देखकर सब मनुष्य प्रसन्न होते हैं, उसी प्रकार जिस राजाके प्रति समस्त प्रजाको समानरूपसे संतोष हो, वही श्रेष्ठ एवं चन्द्रमाके व्रतका पालन करनेवाला है। जैसे वायु गुप्तरूपसे समस्त प्राणियोंके भीतर सञ्चार करती रहती है, उसी प्रकार राजा भी गुप्तचरोंके द्वारा पुरवासियों, मन्त्रियों तथा बन्धु-बान्धवोंके मनका भाव जाननेकी चेष्टा करे। (मार्कण्डेयपुराण २७। १९—२८)

बेटा! जिसके चित्तको दूसरे लोग लोभ, कामना अथवा अर्थसे नहीं खींच सकते, वह राजा स्वर्गलोकमें जाता है। जो अपने धर्मसे विचलित हो कुमार्गपर जानेवाले मूर्ख मनुष्योंको फिर धर्ममें लगाता है, वह राजा स्वर्गमें जाता है। वत्स! जिसके राज्यमें वर्णधर्म और आश्रमधर्मकी हानि नहीं पहुँचती, उसे इस लोक और परलोकमें भी सनातन सुख प्राप्त होता है। स्वयं दुष्टबुद्धि पुरुषोंद्वारा धर्मसे विचलित न होकर ऐसे लोगोंको अपने धर्ममें लगाना ही राजाका सबसे बड़ा कर्तव्य है और यही उसे सिद्धि प्रदान करनेवाला है। राजा सब प्राणियोंका पालन करनेसे ही कृतकृत्य होता है। जो यत्नपूर्वक भलीभाँति प्रजाका पालन करनेवाला है, वह प्रजाके धर्मका भागी होता है। जो राजा इस प्रकार चारों वर्णोंकी रक्षामें तत्पर रहता है, वह सर्वत्र सुखी होकर विचरता है और अन्तमें उसे इन्द्रलोककी प्राप्ति होती है।[1]

तदनन्तर माताने पुत्रको गृहस्थोचित सदाचार आदिका उपदेश भी दिया। अलर्क धर्म, अर्थ और काम—तीनों शास्त्रोंमें प्रवीण बन गया। बड़ा होनेपर माता-पिताने अलर्कको राजगद्दीपर बिठाया और स्वयं वनमें तपस्या करनेके लिये चले गये। जाते समय मदालसाने अलर्कको एक अँगूठी दी और कहा—'जब तुमपर कोई संकट पड़े तो इस अँगूठीसे उपदेशपत्र निकालकर पढ़ना और इसके अनुसार कार्य करना।' अलर्कने गङ्गा-यमुनाके संगमपर अपनी अलर्कपुरी नामकी राजधानी बनायी, जो आजकल अरैलके नामसे प्रसिद्ध है। कुछ कालके पश्चात् अलर्कको भोगोंमें ही आसक्त देखकर उनके भाइयोंको बड़ा दुःख हुआ, तब उन्हें भोगोंसे निवृत्त करने तथा सत्पथमें लानेके लिये उनके बड़े भाई सुबाहुने काशिराजकी सहायतासे उनपर आक्रमण किया। अलर्कने सङ्कट जानकर अँगूठीसे निकालकर माताका उपदेश पढ़ा। उसमें लिखा था—

१ न लोभाद्वा न कामाद्वा नार्थाद्वा यस्य मानसम्। यथान्यैः कृष्यते वत्स स राजा स्वर्गमृच्छति॥
उत्पथग्राहिणो मूढान् स्वधर्माच्चलतो नरान्। यः करोति निजे धर्मे स राजा स्वर्गमृच्छति॥
वर्णधर्मा न सीदन्ति यस्य राज्ये तथाऽऽश्रमाः। वत्स तस्य सुखं प्रेत्य परत्रेह च शाश्वतम्॥
एतद्राज्ञः परं कृत्यं तथैतत् सिद्धिकारकम्। स्वधर्मस्थापनं नॄणां चाल्यते यन्न कुबुद्धिभिः॥
पालनेनैव भूतानां कृतकृत्यो महीपतिः। सम्यक् पालयिता भागं धर्मस्याप्नोति यत्नतः॥
एवमाचरते राजा चातुर्वर्ण्यस्य रक्षणे। स सुखी विहरत्येष शक्रस्यैति सलोकताम्॥

(मार्कण्डेयपु० २७। २९—३४)

सङ्ग सर्वात्मना त्याज्य स चेत्त्यक्तु न शक्यते।
स सद्भि सह कर्तव्य सता सङ्गो हि भेपजम्॥
काम सर्वात्मना हेया हातु चेच्छक्यते न स ।
मुमुक्षा प्रति तत्कार्य सैव तस्यापि भेपजम्॥
(मार्कण्डेयपुराण ३७। २३-२४)

'सङ्ग (आसक्ति)-का सब प्रकारसे त्याग करना चाहिये, किंतु यदि उसका त्याग न किया जा सके तो सत्पुरुषाका सङ्ग करना चाहिये, क्योकि सत्पुरुषाका सङ्ग ही उसकी ओषधि है। कामनाको सर्वथा छोड देना चाहिये परतु यदि वह छोडी न जा सके तो मुमुक्षा (मोक्षकी इच्छा)-के प्रति कामना करनी चाहिये, क्योकि मुमुक्षा ही उस कामनाको मिटानेकी दवा है।'

इस उपदेशको अनेक बार पढकर अलर्कने सोचा—'हमारा कल्याण होगा मुक्तिकी इच्छा जाग्रत् करनेपर और वह जाग्रत् होगी सत्सङ्गसे।' ऐसा विचारकर अलर्कने महात्मा दत्तात्रयजीकी शरण ली और वहाँ ममतारहित विशुद्ध आत्मज्ञानका उपदेश पाकर वे सदाके लिये कृतार्थ हो गये। इस प्रकार महामती मदालसाने अपने पुत्रोका उद्धार करके स्वय भी पतिके साथ परमात्म-चिन्तनमे मन लगाया और थोडे ही समयमे मोक्षस्वरूप परम पदको प्राप्त कर लिया। मदालसा अब इस लोकमे नहीं हैं, किंतु उनके कल्याणकारी नीतितत्त्वोपदेश सदाके लिये अमर हो गये।

नीतिशास्त्रका आद्य स्रोत—वेद

'सर्व वेदात् प्रसिध्यति'—इस भारतीय सिद्धान्तके अनुसार अपौरुषेय वेदशब्दराशिसे ही समस्त सत्य-विद्याएँ प्रादुर्भूत हुई है। अथर्ववेदके राजधर्म-प्रतिपादक सूक्तोमे मुख्यत राजनीतिका प्रतिपादन हुआ है। परतु विश्वके सविधानरूपी वेदमे जन-सामान्यके लिये अनेक नीतिगत उपदेश हैं इसीलिये मनुका सदेश है—

सेनापत्य च राज्य च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्य च वेदशास्त्रविदर्हति॥
(मनुस्मृति १२। १००)

वेदज्ञ विद्वान् सेनानायकत्व, राज्य-प्रशासन, न्याय-प्रतिपादन तथा सभी प्रकारके लोक-प्रबन्धनमे समर्थ होता है।

यद्यपि वेदका मुख्य प्रतिपाद्य यज्ञ-धर्मात्मक ब्रह्म है तथापि प्रसङ्गत अनेक नीति-उपदेश वैदिक सूक्तिवाङ्मयमे उपलब्ध होते है। सूक्तियोके माध्यमसे मानव-जीवनके सर्वविध उन्नयनकी नीतियाँ बतलायी गयी हैं। कतिपय सूक्तियोको यहाँ उल्लिखित किया जा रहा है—

ऋग्वेदीय सूक्तियाँ

१-केवलाघो भवति केवलादी॥ (ऋक्० १०। ११७। ६)
'जो मनुष्य अकेले खाता है वह अकेले पापका भागी होता है।'

२-न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवा ।
'परिश्रम किये विना देवता सहायक नहीं होते हैं।'

३-न स सखा यो न ददाति सख्ये।
(ऋक्० १०। ११७। ४)
'जो मित्रकी सहायता नहीं करता वह मित्र नहीं है।'

४-स गच्छध्व स वदध्व स वो मनासि जानताम्। (ऋक्० १०। १९१। २)
'एक साथ चलो एक-सा बोलो, तुम्हारे मन एक-सा समझे।'

५-यो जागार तमृच कामयन्ते। (ऋक्० ५। ४४। १४)
'जो जाग्रत् रहता है उसे ऋचाएँ चाहती है।'

६-अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्। (ऋक्० १। १८९। १)
'हे अग्निदेव! हमे धनके लिये सन्मार्गसे ले चलो।'

यजुर्वेद तथा अथर्ववेदकी कतिपय सूक्तियाँ

१-राष्ट्र प्रजा राष्ट्र पशव । (तै० स० ३।४।८)
'प्रजाएँ (जनता) तथा पशुधन ही राष्ट्र है।'

२-मित्रस्याह चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
(मा० स० ३६। १८)
'मै सभी प्राणियोको मित्रकी दृष्टिसे देखूँ।'

३-कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत* समा ।
(यजु० ४०। २)
'इस लोकमे कर्मशील रहते हुए ही सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे।'

४-कृत मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहित ।
(अथर्व० ७। ५०। ८)
'मेरे दाहिने हाथमे कर्म है तो बाये हाथमे सफलता रखी है।'

५-सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु॥ (अथर्व० १९। १५। ६)

उपनिषदोके आध्यात्मिक नीतिवचन

अध्यात्मविद्या अथवा ब्रह्मविद्याको उपनिषद् कहते हे। उपनिषद् जीवको अल्प ज्ञानसे अनन्त ज्ञानकी ओर, अल्प सत्ता ओर सीमित सामर्थ्यसे अनन्त सत्ता एव अनन्त शक्तिकी आर, जगत्-दु खोंसे अनन्त आनन्दकी ओर तथा जन्म-मृत्युके बन्धनसे अनन्त स्वातन्त्र्यमय शाश्वती शान्तिकी ओर ले जाती है। उपनिषद्का जीव-ब्रह्मक्य बाध जीवके लिये परम सौभाग्यास्पद अमूल्य निधि ह। इस बाधमे निष्ठा न होना अज्ञान ह। अत अपना कल्याण चाहनवाले प्रत्येक पुरुपका कर्तव्य है कि वह क्षणमात्र सुख देनेवाले अनित्य सासारिक विषयभोगम न फँसकर आध्यात्मिक साधनम सलग्न हो सदा आत्मबाधक लिये ही प्रयत्नशाल बना रह। उपनिपदाम मुख्य रूपस आत्मज्ञानका निरूपण होनेपर भी कर्तव्योका उपदश दिया गया है, यथा— '**सत्य वद**'—सत्य बोलो '**धर्म चर**'—धर्मका आचरण करो, '**मातृदेवो भव**'—मातामें देवबुद्धिवाले बनो '**पितृदेवो भव**'—पितामें देवबुद्धिवाले बना, '**आचार्यदेवो भव**'—आचार्यम देवबुद्धिवाले बनो '**मा गृध कस्य स्विद् धनम्**'—किसीका भी धन लनेकी इच्छा न करा '**मा विद्विषावहै**'—किसीसे भी द्वेष न करो इत्यादि। इसीक साथ ही श्रय और प्रेय—य दो पथ बताकर उपनिपदाने श्रय-पथका ही अवलम्बन ग्रहण करनका आदेश दिया है। यहाँ उपनिपदाक कुछ कल्याणकारी आध्यात्मिक नीतिवचन दिय जा रहे हैं—

ईशा वास्यमिद॰सर्वं यत्किञ्च जगत्या जगत्।
तन त्यक्तन भुञ्जीथा मा गृध कस्य स्विद् धनम्॥

(ईश० १)

अखिल ब्रह्माण्डम जा कुछ भी जड-चतनरूप जगत् है, वह सब ईश्वरस व्याप्त है इसलिये ह शिष्य! तू त्यागपूर्वक इसका उपभाग कर, किसीके भी धनका लनेकी इच्छा न कर।

कुर्वन्नेवह कर्माणि जिजीविषेच्छत॰समा ।
एव त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

(ईश० २)

इस लोकमे (ईश्वर-पूजार्थ) कर्म करता हुआ ही सौ वर्पोतक जीनका इच्छा करे इस प्रकार त्यागभावसे ईश्वरार्थ किये जानवाले कर्म तुझ मनुष्यक लिये हैं अन्यथा (अन्य मार्ग) नहीं। ऐसा करनस मनुष्य कमसे लिप्त नहीं हाता।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेपु चात्मान ततो न विजुगुप्सते॥

(ईश० ६)

जो सब प्राणियाको आत्माम ही दखता ह आर सब प्राणियाम आत्माको देखता है, वह इस सम्यक्-दृष्टिके कारण किसीसे भी घृणा नहीं करता।

'न वित्तन तर्पणीयो मनुष्य ।' (कठ० १।१।२७)

धनसे मनुष्य कभी तृप्त होनेवाला नहीं है।

न साम्पराय प्रतिभाति बाल
प्रमाद्यन्त वित्तमोहेन मूढम्।
अय लाको नास्ति पर इति मानी
पुन पुनर्वशमापद्यते मे॥

(कठ० १।२।६)

धनके मोहसे मूढ हुए प्रमादी अज्ञानीको परलाक नहीं सूझता। यह प्रत्यक्ष दीखनेवाला लाक ही सत्य है इसके अतिरिक्त दूसरा काई भी लोक सत्य नहीं ह—एसा माननेवाला अभिमानी मनुष्य वारवार मर (यमराजके) वशमे आता ह।

न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नाय कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्य शाश्वतोऽय पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

(कठ० १।२।१८)

नित्य चैतन्यरूप आत्मा न उत्पन्न हाता ह न मरता है, न यह किसीसे हुआ है आर न इससे कोई हुआ हे अर्थात् इसका कारण या कार्य नहीं ह। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत ओर पुराण हे, शरीरके मारे जानपर भी यह मरता नहीं।

इन्द्रियेभ्य पर मनो मनस सत्त्वमुत्तमम्।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम्॥
अव्यक्तात्तु पर पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
य ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्व च गच्छति॥

(कठ० २।३।७-८)

इन्द्रियासे मन श्रष्ठ हे, मनसे व्यष्टि-बुद्धि श्रेष्ठ ह, व्यष्टि-बुद्धिस महान् आत्मा अर्थात् समष्टि-बुद्धि श्रेष्ठ है समष्टि-बुद्धिसे अव्यक्त (मूल प्रकृति) उत्तम है, अव्यक्तस श्रेष्ठ

व्यापक और अलिङ्ग पुरुष है, जिसको जानकर जीव दु:खोंसे मुक्त होता तथा अमृतत्वरूप मोक्षको प्राप्त हो जाता है।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

(कठ० २।३।१४)

जब इस विद्वान्‌के हृदयमें स्थित सब कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं तब यह मरणधर्मा मानव अमर हो जाता है और इसी शरीरमें ब्रह्मका अनुभव करता है।

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्॥

(कठ० २।३।१५)

जब यहाँ इस जीवनमें ही इस विद्वान्‌के हृदयकी ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं, तब मरणधर्मा मनुष्य अमृतस्वरूप हो जाता है। इतना ही वेदका उपदेश है, अधिक नहीं।

नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं
तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥

(मुण्डक० १।१।६)

वह जो नित्य सर्वत्र व्यापक सबमें फैला हुआ, बहुत ही सूक्ष्म और अविनाशी परब्रह्म है, उस समस्त प्राणियोंके परम कारणको ज्ञानीजन सर्वत्र परिपूर्ण देखते हैं।

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं
नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं
लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥

(मुण्डक० १।२।१०)

इष्ट (यज्ञ-याग आदि) और पूर्त (कूप-उद्यानादिक निर्माण)-को श्रेष्ठ माननेवाले अत्यन्त मूढ़ मनुष्य उस सकाम कर्मके सिवा अन्य किसी वास्तविक श्रेयको नहीं जानते वे पुण्यकर्मोंके फलस्वरूप स्वर्गके उच्चतम स्थानमें जाकर वहाँके भोगोंका अनुभव करके इस मनुष्यलोकमें अथवा इससे भी हीनतर लोक (पशु आदि योनि)-में प्रवेश करते हैं।

सत्यमेव जयति नानृतं
सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥

(मुण्डक० ३।१।६)

सत्यकी ही विजय होती है असत्यकी नहीं। सत्य-धर्मसे ही ब्रह्मलोककी प्राप्तिका विस्तृत मार्ग—देवयान प्रकट होता है जिसके द्वारा आप्तकाम महर्षिगण उस परम धाममें गमन करते हैं जहाँ वह सत्यका परम आश्रय परमात्मा अनावृतरूपसे स्थित है।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

(मुण्डक० ३।२।३)

वे परमात्मा केवल प्रवचनसे—शास्त्रोंकी व्याख्या करनेसे, धारणावती बुद्धिसे या अधिक शास्त्रोंके अध्ययनसे भी नहीं प्राप्त होते। वे स्वयं ही दया करके जिसे अपना लेते हैं, उसीको उनकी प्राप्ति हो सकती है, उसके समक्ष वे अपने स्वरूपको अनावृत कर देते हैं।

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

(मुण्डक० ३।२।८)

जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ नाम-रूपको छोड़कर समुद्रमें मिलकर विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार अविद्याकृत नाम-रूपसे विमुक्त होकर विद्वान् परात्पर दिव्य पुरुषको प्राप्त होता है।

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। (तैत्तिरीय० १।११।१)

वेदका अध्ययन कराकर आचार्य शिष्यको शिक्षा देते हैं। सत्य बोलो। धर्मका आचरण करो। स्वाध्यायसे प्रमाद मत करो। आचार्यके लिये प्रिय धन लाकर दो। संतान-परम्पराका उच्छेद मत करो। सत्यसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। धर्मसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। आरोग्यादि शरीरकी कुशलतासे प्रमाद नहीं करना चाहिये। विभूतिसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। पढ़ने-पढ़ानेसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। देवकर्म और पितृकर्मसे प्रमाद नहीं करना चाहिये।

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकꣳ सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि। (तैत्तिरीय० १।११।२)

माताका देवताके समान पूजनेवाला हो। देवके समान पिताका पूजनेवाला हो। देवके समान आचार्यका पूजनेवाला हो। देवके समान अतिथिका पूजनेवाला हो। जो निर्दोष कर्म हैं, वे तुझे करने चाहिये। अन्य दोषयुक्त कर्म नहीं करने चाहिये। जो हमारे आचार्योंके सुन्दर आचरण हैं, वे तुझे नियमसे करने चाहिये, दूसरे कर्म (शाप देना आदि) यदि आचार्य करें तो भी तुझे नहीं करने चाहिये।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत।(छान्दोग्य० ३।१४।१)

यह सब निश्चय ब्रह्म ही है, इसीसे जगत् उत्पन्न होता है, इसीमें लय होता है और इसीमें चेष्टा करता है। इसलिये शान्त होकर उपासना करे, क्योंकि पुरुष निश्चयमय है। इस लोकमें पुरुष जैसे निश्चयवाला होता है, वैसा ही यहाँसे मरकर होता है, इसलिये वह क्रतु यानी पक्का निश्चय करे।

ॐ कं ब्रह्म खं ब्रह्म। (छान्दोग्य० ४।१०।५)

ॐ सुख ब्रह्म है, आकाश ब्रह्म है।

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा॥

(छान्दोग्य० ५।१०।७)

उनमें जो सुन्दर—विशुद्ध आचरणवाले होते हैं, वे शीघ्र ही उत्तम योनिको प्राप्त होते हैं, वे ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनि प्राप्त करते हैं। तथा जो मलिन आचरणवाले होते हैं, वे भी यथासम्भव शीघ्र ही मलिन (अधम) योनियोंमें जन्म लेते हैं। वे कूकरयोनि, सूकरयोनि अथवा चाण्डालयोनि ग्रहण करते हैं।

पाँच प्रकारके महापातक मनुष्यको घोर पतनके गर्तमें गिरानेवाले होते हैं—

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबꣳश्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरꣳस्तैरिति॥

(छान्दोग्य० ५।१०।९)

स्वर्णकी चोरी करनेवाला, शराबी, गुरुपत्नीगामी ब्रह्महत्यारा—ये चारों पतित होते हैं और जो इनके साथ संसर्ग रखनेवाला है, वह पाँचवाँ भी महापापी है।

एष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते।

(छान्दोग्य० ८।५।३)

जिस आत्माको मनुष्य ब्रह्मचर्यसे प्राप्त करता है, वह आत्मा नष्ट नहीं होता।

य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः। (छान्दोग्य० ८।७।१)

जो आत्मा पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, भूखरहित, प्यासरहित, सत्यकाम, सत्यसङ्कल्प है, उसे खोजना चाहिये, उसे जाननेकी इच्छा करनी चाहिये।

असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मामृतं गमयेति। (बृहदा० १।३।२८)

असत्‌से मुझे सत्‌की ओर ले चलो, अँधेरेसे प्रकाशकी ओर ले चलो, मृत्युसे मुझे अमृतकी ओर ले चलो।

तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा। (बृहदा० १।४।८)

वह जो यह अन्तरतम आत्मा है, वह पुत्रसे भी अधिक प्रिय है, धनसे भी बढ़कर प्रिय है तथा अन्य सबसे भी अधिक प्रिय है।

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदꣳसर्वं विदितम्॥ (बृहदा० ४।५।६)

अरे (मैत्रेयी)! सबकी कामनाके लिये सब प्रिय नहीं होते आत्माकी कामनाके लिये ही सब प्रिय होते हैं। अरे! आत्माको देखना चाहिये, सुनना चाहिये मनन करना चाहिये, ध्यान करना चाहिये। अरी मैत्रेयी! आत्माके देखने, सुनने, मनन करने और जाननेसे यह सब जान लिया जाता है।

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः। (बृहदा० ३।७।१५)

जो सब भूतोंमें स्थित होकर सब भूतोंके भीतर रहता है, जिसको सर्वभूत नहीं जानते, जिसका सम्पूर्ण भूत शरीर है, जो सब भूतोंके भीतर रहकर उन्हें नियममें रखता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः। ... यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन। (बृहदा० ४।४।५)

'वह यह आत्मा ब्रह्म है विज्ञानमय है, मनोमय है

प्राणमय है चक्षुर्मय है और श्रोत्रमय है। मनुष्य जैसा करनेवाला और जैसे आचरणवाला होता है, उसीके अनुरूप बन जाता है। शुभकर्म करनेवाला श्रेष्ठ पुरुष होता है और पापाचारी पापात्मा हो जाता है। पुण्यकर्मसे पुण्यात्मा होता है (पवित्र योनिमें जन्म ग्रहण करता है) और पापकर्मसे पापात्मा हो जाता है।'

प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम्।
तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे॥

(बृहदा० ४।४।६)

यह मनुष्य इस लोकमें जो कुछ कर्म करता है, परलोकमें उनका फल समाप्त करके उस लोकसे इस लोकमें फिर कर्म करनेके लिये आता है।

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्
विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥

(श्वेताश्वतर० ६।७)

उन ईश्वरोंके भी परम ईश्वर, उन देवताओंके भी परम दैवत, पतियोंके परम पति, भुवनोंके ईश्वर, स्तवनके योग्य देवको हम परात्पररूपसे जानते हैं।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥

(ब्रह्मबिन्दु० २)

मन ही मनुष्योंके बन्धन और मोक्षका कारण है, विषयासक्त मन बन्धनके लिये है और निर्विषय मन मुक्त माना जाता है।

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।

(कैवल्य० १।३)

कर्मसे संतानसे अथवा धनसे विद्वानोंने अमृतरूप मोक्ष नहीं प्राप्त किया है, अपितु एक त्यागसे ही उसे प्राप्त किया है।

विविक्तदेशे च सुखासनस्थः
शुचिः समग्रीवशिरःशरीरः।
अन्त्याश्रमस्थः सकलेन्द्रियाणि
निरुध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्य॥

(कैवल्य० १।५)

एकान्त देशमें पवित्र-मन होकर सुखासनसे बैठकर गर्दन सिर और शरीरको समान रखकर परमहंस आश्रमवाला संन्यासी सब इन्द्रियोंको रोककर और भक्तिसे अपने गुरुको नमस्कार करके—

हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धं
विचिन्त्य मध्ये विशदं विशोकम्।
अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं
शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम्॥

(कैवल्य० १।६)

अपने भीतर रजोगुणरहित विशुद्ध एवं विकासयुक्त हृदय-कमलका चिन्तन करे, फिर उस कमलके मध्यभागमें निर्मल, शोकरहित, अचिन्त्य अव्यक्त, अनन्तरूप, शान्त अमृत, जगत्‌के कारण शिवका ध्यान करे।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दमेतज्जीवस्य यज्ज्ञात्वा मुच्यते बुधः॥

(ब्रह्मोपनिषद्)

जिसे न प्राप्त होकर मनसहित वाणी लौट आती है वह जीवका आनन्द है जिसको जानकर विद्वान् मुक्त हो जाता है।

रक्तमांसमयस्यास्य सबाह्याभ्यन्तरे मुने।
नाशैकधर्मिणो ब्रूहि कैव कायस्य रम्यता॥

(महो० ३।३१)

मुने! यह शरीर बाहर और भीतर केवल रक्त और मांससे भरा है तथा एकमात्र नाशरूप धर्मवाला है। बताइये, इसमें क्या रमणीयता है?

द्वे पदे बन्धमोक्षाय निर्ममेति ममेति च।
ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते॥

(महो० ४।७२)

बन्धन और मोक्षके दो ही आश्रय हैं—ममता और ममता-शून्यता। ममतासे प्राणी बन्धनमें पड़ता है और ममतारहित होनेपर मुक्त हो जाता है।

मनोव्याधेश्चिकित्सार्थमुपायं कथयामि ते।
यद्यत्स्वाभिमतं वस्तु तत्त्यजन्मोक्षमश्नुते॥

(महो० ४।८८)

मनरूप व्याधिकी चिकित्साका उपाय मैं तुम्हें बतलाता हूँ—जो-जो वस्तु अपनेको प्यारी है, उस-उसका त्याग करनेवाला मनुष्य मोक्षको प्राप्त होता है।

तस्माद्वासनया युक्तं मनो बद्धं विदुर्बुधाः।
सम्यग्वासनया त्यक्तं मुक्तमित्यभिधीयते॥

(मुक्तिक० २।१६)

वासनायुक्त मनको विद्वानोंने बद्ध बतलाया है और जो मन वासनासे सर्वथा शून्य हो चुका है वह मुक्त कहलाता है।

श्रीमद्भागवतमे प्रतिपादित नीति-तत्त्व

सस्कृत वाङ्मयम श्रीमद्भागवत-महापुराणका अपना विशिष्ट महत्त्व है। भक्ति-प्रधान ग्रन्थ होनेपर भी इस महापुराणम पद-पद मानवका दिशा-निर्देश करनेवाले नीति-तत्त्व इतनी विपुल सख्याम विद्यमान ह, जिनकी गणना असम्भव नहा तो कठिन अवश्य है। प्रगाढ भक्ति-प्रवण प्राणियाके विपयम ता कहना ही क्या है? इसे श्रवण करनेकी इच्छासे ही भाग्यशाली पुण्यात्माआक हृदयम भगवान् स्वय आकर विराजत हैं।

सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभि शुश्रूपुभिस्तत्क्षणात्॥
(१।१।२)

श्रीमद्भागवतका मन्थन करनपर हम इसक नीति-वचनाको पॉच भागाम वर्गीकृत कर सकते हैं—

(क) आस्तिक्यभाव-प्रधान, (ख) भक्तिभाव-प्रधान (ग) सामान्यधर्म-प्रधान, (घ) विशपधर्म-प्रधान, (ङ) विश्वधर्म-प्रधान।

(क) आस्तिक्यभाव-प्रधान नीति-वचन

आस्तिक्यभाव-प्रधान नीति-वचन प्रारम्भसे लकर अन्ततक इसमे प्रभृतमात्राम विद्यमान है। शौनकादि ऋपियासे सूतजी कहते हैं—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसशया ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे॥
(१।२।२१)

अन्त करणम ईश्वरके दर्शन हाते ही हृदयग्रन्थि खुल जाता है, सब सशय समाप्त हो जाते हैं तथा सभी कर्मोका क्षय हा जानेस मुक्तिका मार्ग खुल जाता है।

शुकदेवजी राजा परीक्षित्से कहते हैं—

स एवेद जगद्धाता भगवान् धर्मरूपधृक्।
पुष्णाति स्थापयन् विश्व तिर्यङ्नरसुरात्मभि ॥
(२।१०।४२)

[हे राजन्!] भगवान् धर्मका रूप धारण कर कीट-पतग-मनुष्य-दव आदि यानियाम अवतीर्ण हाकर विश्वका पालन-पापण करत हैं।

भगवान् श्रीकपिल माता देवहूतिसे कहते हैं—

मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्बहु मानयन्।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति॥
(३।२९।३४)

मनुष्यको यह विचारकर हृदयसे सब प्राणियाका नमन करना चाहिये कि भगवान् ही जीव-रूपम सब प्राणियाम प्रवेश किये बठ हे। वृत्रासुर विजयसे भी अधिक मृत्युका प्रशस्त मानकर देवराज इन्द्रसे कहता है—

सत्त्व रजस्तम इति प्रकृतेर्नात्मनो गुणा ।
तत्र साक्षिणमात्मान यो वेद न स बध्यते॥
(६।१२।१५)

हे इन्द्र! सत्त्व रज आर तम—ये गुण प्रकृतिक ह आत्माक नहीं। आत्मा तो इन गुणाका साक्षी है। इस तथ्यको जाननेवाला जीव गुणोसे नहीं वँधता। भगवान् विष्णु आकाशवाणीके माध्यमसे हिरण्यकशिपुके भयमे देवाका मुक्त करते हुए कहते हैं—

यदा दवेपु वेदेपु गोपु विप्रेपु साधुपु।
धर्मे मयि च विद्वेप स वा आशु विनश्यति॥
(७।४।२७)

जो व्यक्ति देवताआ वेदा, गौआ, ब्राह्मणा, साधुआ धर्म-कार्यो तथा मुझस द्वेप करने लगता है, उसका शीघ्र ही विनाश हो जाता ह चिन्ता न करो।

भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवजीका समझात हैं—

शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात् परे यदि।
श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षत ॥
(११।११।१८)

शास्त्राम पारगत होकर भी जा मनुष्य परब्रह्मका ज्ञान नहीं रखता उसका श्रम दूध न दनवाली गौकी दूधक लिय सवा करनेवाल व्यक्तिक समान श्रमरूप फलवाला ही हाता है। सूतजी ऋपियास कहत हैं—

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जित
न शाभते नानमल निरञ्जनम्।

कुत पुन शश्वदभद्रमीश्वरे
न ह्यर्पित कर्म यदप्यनुत्तमम्॥
(१२।१२।५२)

भगवान्के आस्तिक्यभावसे रहित निष्कर्मताकी भी शोभा नहीं होती फिर भगवान्को अर्पित न किये गये अपावन कर्मका तो कहना ही क्या?

(ख) भक्तिभाव-प्रधान नीति-वचन

भक्तिभाव-प्रधान नीति-वचनोंका श्रीमद्भागवतमें प्रकर्ष है। भक्तिके प्रथम आचार्य श्रीनारदजीने यहाँ 'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितम्' श्लोक प्रथम स्कन्धके पञ्चम अध्यायमें महामुनि वेदव्यासजीसे कहा है। वहाँ भी भगवद्भक्तिके बिना सम्पूर्ण धर्मार्थकाममोक्षवर्णनको सारहीन बताकर भगवान्की महिमाके वर्णनका ही उपदेश किया गया है। श्रीशुकदेवजी महाराज राजा परीक्षित्से अपने प्रवचनकी भूमिका रखते हुए कहते हैं—

अकाम सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधी ।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुष परम्॥
(२।३।१०)

[हे राजन्!] किसी भी प्रकारकी कामना, यहाँ तक कि मोक्षेच्छुक व्यक्तिको भी तीव्र भक्तियोगद्वारा परम पुरुषकी उपासना करनी चाहिये। भगवान्की उपासनामें भी नि श्रेयसकी प्राप्ति होती है। नीतिमान् विदुरजीकी जिज्ञासाका शमन करते हुए भगवद्भक्त मैत्रेयजी कहते हैं—

सेय भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते।
ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यमुत बन्धनम्॥
(३।७।९)

'[हे विदुर!] ईश्वरकी यह माया है, जिसके कारण भगवदवतारोंके चरित्रमें कभी कृपणता और कभी बन्धन दिखायी देता है। जलमें हिलते हुए चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब जलके कारण हिलता दिखायी देता है चन्द्रमा नहीं हिलता। इसी प्रकार कार्पण्य और बन्धन मायाके गुण हैं, ईश्वर तो निर्विकार ही है।' श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित्को समझाते हैं—

परावरेषा भूतानामात्मा य पुरुष पर ।
स एवासीदिद विश्व कल्पान्तेऽन्यन्न किञ्चन॥
(९।१।८)

'[हे राजन्!] सब भूतोंसे पर यह जो परम पुरुष है यही विश्व कल्पके अन्तमें था इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं था।' भगवान् श्रीकृष्ण स्वय श्रीमुखसे कहते हैं—

यदा भजति मा भक्त्या निरपेक्ष स्वकर्मभि ।
त सत्त्वप्रकृति विद्यात् पुरुष स्त्रियमेव वा॥
(११।२५।१०)

'जब कोई निरपेक्ष भावसे भक्तिपूर्वक मेरा भजन करता है वह पुरुष हो या स्त्री, उसे सत्त्वगुण-सम्पन्न जानना चाहिये।' श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कन्धमें कृष्णभक्तिका निरन्तर चिन्तन करते हुए कहा गया है—

अविस्मृति कृष्णपदारविन्दयो
क्षिणोत्यभद्राणि शम तनोति च।
सत्त्वस्य शुद्धि परमात्मभक्ति
ज्ञान च विज्ञानविरागयुक्तम्॥
(१२।५४)

भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंका स्मरण अमङ्गलका नाश मङ्गलका विधान अन्त करणकी शुद्धि परमेश्वरके प्रति भक्ति तथा विज्ञान-वैराग्यके साथ ज्ञान प्रदान करता है। भगवान्के नाम-सकीर्तनको सर्व-पापप्रणाशक तथा प्रणामको सब दु खोंका शमन करनेवाला बताया गया है—

नामसङ्कीर्तन यस्य सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दु खशमनस्त नमामि हरि परम्॥
(१२।१३।२३)

(ग) सामान्यधर्म-प्रधान नीति-वचन

सामान्यधर्म-प्रधान नीति-वचनोंमें उन नैतिक वाक्योंका सग्रह है, जो किसी जाति-वर्ण-वर्ग-सम्प्रदायसे सम्बद्ध न होकर जन-सामान्यका मार्गदर्शन करानेवाले हैं। उदाहरणार्थ सूतजी ऋषियोंको बताते हैं कि—

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृत ॥
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभि ॥
(१।२।९-१०)

—धर्मपालनका उद्देश्य मोक्षप्राप्ति है अर्थप्राप्ति नहीं। अर्थोपार्जनका लक्ष्य धर्मसाधन है कामपूर्ति नहीं। कामपूर्तिका लक्ष्य जीवनयापन है इन्द्रियतृप्ति नहीं। जीवनका लक्ष्य

तत्त्वज्ञान ह, स्वार्थपूर्ति नही।

—ये नियम सबके लिय ममान हे। देवर्षि नारदजीका कथन ह—

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि ससृतिर्न निवर्तते।
ध्यायता विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमा यथा॥
(४।२९।७३)

विषय-चिन्तन करनेवालके पास धन न होनेपर सासारिक राग समाप्त नहीं हाता। जैसे स्वप्नम अप्रिय प्रसग देखनेका मिलत ह, वेसे ही काल्पनिक ससार धन न होनेपर भी बना रहता है। भगवान् ऋषभदेव कहत ह—

लोक स्वय श्रेयसि नष्टदृष्टि-
र्योऽर्थान् समीहत निकामकाम।
अन्योन्यवैर सुखलशहेतो-
रनन्तदु ख च न वेद मूढ॥
(५।५।१६)

—जनता केसी मूढ ह जो स्वार्थ-माधनम रत रहकर साधारण-से सुखक लिय आपसम वैर-विरोध करती हे और भविष्यमे मिलनेवाले अनन्त दु खका नहीं देखती। देव-दैत्याके जनक महामुनि कश्यप बतात हे—

न हिंस्याद्भूतजातानि न शपेन्नानृत वदेत्।
न छिन्द्यान्नखरोमाणि न स्पृशेद्यदमङ्गलम्॥
(६।१८।४७)

—प्राणियाको हिसा न करे, किसीको शाप न दे, असत्य न वाले, नाखून ओर बाल न उखाडे अपवित्र वस्तुका स्पर्श न करे। जीवनक सुचारु-सचालनके लिय कहीं-कहीं असत्य भी बोलना पड जाता हे। श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! स्त्रीवर्गके साथ व्यवहारम विवाह-कार्यम, जीविका-हेतु, प्राणोपर सकटके समय गौ ओर ब्राह्मणके प्राणाकी रक्षाके प्रसगम असत्य बोलना घृणास्पद नहीं है—

स्त्रीषु नर्मविवाहे च वृत्त्यर्थे प्राणसकटे।
गोब्राह्मणार्थे हिंसाया नानृत स्याज्जुगुप्सितम्॥
(८।१९।४३)

मिथिलाधिपति महाराज जनकका कहना हे कि मनुष्यकी निधि धन-दोलत नहीं, सत्सग हे—

ससारेऽस्मिन् क्षणार्धोऽपि सत्सङ्ग शेवधिर्नृणाम्॥
(११।२।३०)

जीवनके अनुभवाको लेकर समाजका दिशा-निर्देश करनेवाला ब्राह्मण मनुष्यमात्रके लिये उपदश करता हुआ कहता है कि मनुष्याको प्रिय लगनेवाला अधिक सग्रह भी दु खदायी होता ह, जो अकिचन हे वह अनन्त सुख प्राप्त करता है, सग्रही दु ख ही भोगता हे।

देश-काल-धर्मज्ञ महामुनि श्रीशुकदेवजी परीक्षित्से कहते ह—'राजन्! कलियुग बहुत-सी बुराइयाके रहते हुए बहुत गुणवाला भी है। मनुष्यको जा सिद्धि सत्ययुगम भगवान्का निरन्तर ध्यान करनेसे, त्रेतायुगम यज्ञ-यागादिका अनुष्ठान करनेसे तथा द्वापरम सेवा-शुश्रूषा करनेसे प्राप्त हाती थी, वह कलियुगम भगवान्का नामस्मरणमात्र करनेस प्राप्त हो जायगी, इस युगक इस महान् गुणका स्मरण रखा' (१२।३।५२)। साधारण मनुष्यको ही नहीं, स्वय परीक्षित्को मृत्युभयस मुक्त करत हुए श्रीशुकदवजी कहते हे—'**स्वप्ने यथा शिरश्छेदम्**' (१२।५।४)। अर्थात् हे राजन्! मनुष्य स्वप्नम अपना शिरश्छेद तथा मृत्यु स्वय देख लेता ह, उन घटनाआका साक्षी आत्मा न तो कभी बूढा हाता और न ही कभी मरता हे, क्याकि मृत्यु तो शरीरकी होती है आत्माकी नहीं। इसलिये निराश होनेकी आवश्यकता नहीं। इस प्रकार सामान्य जीवनके लिये श्रीमद्भागवतम नीति-वचनाका प्रचुरमात्राम प्रयाग हुआ है।

(घ) विशेषधर्म-प्रधान नीति-वचन

विशपधर्म-विषयक नीतिके अन्तर्गत श्रीमद्भागवतम मनुष्यमात्रक लिय—वर्ण-व्यवस्थाके आधारपर ब्राह्मणक लिये राजाके लिय स्वाभिमान-सम्पन्न व्यक्तिके लिय पिताके लिय पुत्रक लिये पतिव्रताके लिये स्वामीक लिय सेवकक लिये यतिक लिये तथा विभिन्न सम्बन्धास सम्बद्ध प्राणीक लिये विविध नीति-वचनाक दर्शन हाते हैं उनममे कुछ वचन यहाँ उद्धृत किय जा रह हैं। सार समाजका स्त्री और पुरुष दो भागाम वर्गीकृत करके ग्रन्थप्रणेताने पुरुषस कहा है—

नन्वग्नि प्रमदा नाम घृतकुम्भसम पुमान्।
सुतामपि रहा जह्यादन्यदा यावदर्थकृत्॥

(७।१२।९)

अर्थात् युवती अग्निके समान और पुरुष घृत-कुम्भके समान ह। अत पुत्री भी यदि एकान्तम बठी हो ता उसक समीप न जाय। देवर्षि नारदका यह कथन उनके अनुभवपर आधारित है। ऐसा ही प्रसग उर्वशी-पुरूरवा-सवादम ह। उवशी कहती ह—

स्त्रियो ह्यकरुणा क्रूरा दुर्मर्षा प्रियसाहसा ।
घ्नन्त्यल्पार्थेऽपि विश्रब्ध पति भ्रातरमप्युत॥

(९।१४।३७)

'स्त्रियाँ बहुत निदय असहनशील तथा साहसिक होती हैं। य थाडे-से स्वार्थके लिये पति तथा भाईको भी मार या मरवा दती ह।' अत इनपर विश्वास नहा करना चाहिय। वैस उर्वशीका यह कथन वाराङ्गना (वेश्या)-के लिये ही सटीक बैठता है, पतिव्रताके लिये नहीं।

वर्णव्यवस्थाकी प्रतिष्ठाको स्वीकार करनेवाले भागवत-कारकी दृष्टिम ब्राह्मण सारे समाजका मार्गदर्शक है। उसके लिये क्षुद्रवृत्ति कदापि ग्राह्य नहीं। देवर्षि नारद कहते है—

सर्ववेदमयो विप्र सर्वदवमयो नृप ॥

(७।११।२०)

इतना ही नहीं—

शमा दमस्तप शौच सतोष क्षान्तिरार्जवम्।
ज्ञान दयाच्युतात्मत्व सत्य च ब्रह्मलक्षणम्॥

(७।११।२१)

शम, दम तप शौच, सतोष, क्षमा सरलता ज्ञान दया भगवत्परायणता और सत्य—य ब्राह्मणके लक्षण हैं—एसा कहकर ब्राह्मणके जीवनम सभी सात्त्विक भावाका समावश किया गया है।

ब्राह्मणस्य हि देहोऽय क्षुद्रकामाय नेष्यते।
कृच्छ्राय तपस चेह प्रत्यानन्तसुखाय च॥

(११।१७।४२)

—इस श्लाकम स्वय भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवजीको ब्राह्मणकी तपोनिष्ठा तथा अक्षुद्र-वृत्तिका परिचय दे रह हैं। इतना हा क्या भगवान् यह भी कहते हैं—

नाह तथाद्मि यजमानहविर्विताने
श्च्योतद्घृतप्लुतमदन् हुतभुङ्मुखेन।
यद् ब्राह्मणस्य मुखतश्चरतोऽनुघास
तुष्टस्य मय्यवहितैर्निजकर्मपाकै ॥

(३।१६।८)

हे ब्रह्मन्! मैं यजमानद्वारा दी गयी घृतमिश्रित आहुतिको उतन चावके साथ ग्रहण नहीं करता हूँ जितना उस ब्राह्मणके मुखमें दिये गये ग्रासका, जो अपना प्रत्येक कर्मफल मुझे अर्पित करके प्रसन्न होता रहता है। यही कारण ह कि ब्राह्मणाको प्रणाम करनम भगवान्‌को भी प्रसन्नता होती है। ब्राह्मणकी वृत्तिका उच्छेद करनवालेको विष्ठाका कीडा बननेका भी भगवान् श्रीकृष्ण स्पष्ट निर्देश करते ह—

य स्वदत्ता परैर्दत्ता हरेत सुरविप्रयो ।
वृत्ति स जायते विड्भुग् वर्षाणामयुतायुतम्॥

(११।२७।५४)

ब्राह्मणके पश्चात् प्रजाकी सुख-समृद्धि और उसकी सुरक्षाका दायित्व क्षत्रिय अथवा राजन्यका है। वही राष्ट्रका रक्षक होता है। तभी तो राजा परीक्षित् धर्मराजसे कहते हैं—

यस्य राष्ट्रे प्रजा सर्वास्त्रस्यन्ते साध्व्यसाधुभि ।
तस्य मत्तस्य नश्यन्ति कीर्तिरायुर्भगो गति ॥

(१।१७।१०)

जिस राजाके राज्यम साधु प्रजा असाधुजनासे पीडित होती है, उस प्रमादी राजाकी कीर्ति एश्वर्य आयु तथा सद्गति नष्ट हा जाती है।

स्वाभिमानको जीवनका अलकार समझनवाले कवियाको जहाँ रुष्ट नहीं करना चाहिय वहीं कवियाका धन-लोलुप-वृत्तिसे सर्वथा दूर रहना चाहिये। श्रीशुकदेवजी कहत हैं कि क्या सामान्य वस्त्र मिलने बद हो गये हैं? क्या वृक्षाने फल दना बद कर दिया है? क्या नदियाँ सूख गयी हैं? क्या गुफाआके द्वार रुद्ध हो गय हैं? क्या भगवान्‌ने शरणागतका रक्षा करना बद कर दिया है? क्या कारण है कि कवि लाग स्वाभिमानका छाडकर धनस मदोन्मत्त पुरुषाके चाटुकार बन रह हैं—

चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां
नैवाङ्घ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन्।
रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्नान्
कस्माद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्॥
(२।२।५)

समाजको स्वाभिमानी बनाये रखना साहित्यका दायित्व है—इस तथ्यसे इनकार नहीं किया जा सकता।

पिताकी सेवा-शुश्रूषा तथा आज्ञापालन-जैसे श्रेष्ठ कर्मका निर्देश भी श्रीमद्भागवतमें यत्र-तत्र हुआ है। पुत्रकी उत्तम, मध्यम अधम तथा निकृष्ट कोटिका वर्गीकरण करते हुए महाराज पुरु कह रहे हैं कि उत्तम पुत्र पिताके चिन्तितमात्र विषयकी पूर्ति करता है। पिताके आदेशका पालन करनेवाला मध्यम कोटिका पुत्र है। श्रद्धा त्यागकर आज्ञा-पालन करनेवाला अधम तथा आज्ञा-पालन न करनेवाला पिताका मल-मूत्रमात्र है[1]। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका आज भी सश्रद्ध स्मरण इसीलिये होता है कि वे—

'गुर्वर्थे त्यक्तराज्यो व्यचरदनुवनम् '
(९।१०।४)

पिताकी आज्ञा मानकर वनमें नंगे पैरों घूमते-फिरे थे।

गृहस्थाश्रमकी आधारशिला गृहलक्ष्मी पत्नी होती है। उसके चरित्रकी पवित्रताका सनातनधर्ममें विशेषरूपसे ध्यान रखा गया है। देवर्षि नारद विरक्त होकर भी नारीके पातिव्रत-धर्मका निर्देश करते हुए कहते हैं—

स्त्रीणां च पतिदेवानां तच्छुश्रूषानुकूलता।
तद्बन्धुष्वनुवृत्तिश्च नित्यं तद्व्रतधारणम्॥
(७।११।२५)

अर्थात् पतिकी सेवा करके उसे अनुकूल बनाये रखना, पतिके बन्धु-बान्धवोंकी सेवा करना तथा निरन्तर पतिव्रत धारण करना नारीका कर्तव्य-धर्म है। नारदजी यह भी कहते हैं कि जो नारी लक्ष्मीकी भाँति पतिको परमेश्वर मानकर सेवा करती है, वह विष्णुलोकमें लक्ष्मीकी ही भाँति सदा प्रसन्न रहती है—

या पतिं हरिभावेन भजेच्छ्रीरिव तत्परा।
हर्यात्मना हरेर्लोके पत्या श्रीरिव मोदते॥
(७।११।२९)

समाजमें स्वामिसेवकभावकी प्रतिष्ठा अनादिकालसे चली आ रही है। इस भावके आदर्श नीति-वचन भी श्रीमद्भागवतमें यत्र-तत्र विद्यमान हैं। भगवान् नृसिंह और भक्त प्रह्लादमें भगवद्भक्तभाव तो है ही, स्वामिसेवकभाव भी निरवच्छिन्न है। भगवान्‌के यह कहनेपर कि प्रह्लाद! मैं मनुष्योंकी कामनाओंको पूर्ण करनेवाला हूँ और तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ, मुझसे वर माँगो। प्रह्लाद कहते हैं—

आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः।
न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन् यो राति चाशिषः॥
(७।१०।५)

प्रभो! वह नौकर नौकर नहीं जो स्वामीसे आशीर्वादकी कामना करे। साथ ही, वह स्वामी स्वामी नहीं जो सेवकसे सेवा करानेपर ही आशीर्वाद प्रदान करे। दैत्याधिराजके पुत्र प्रह्लाद पुनः कहते हैं—

विमुञ्चति यदा कामान् मानवो मनसि स्थितान्।
तर्ह्येव पुण्डरीकाक्ष भगवत्त्वाय कल्पते॥
(७।१०।९)

मनुष्य जब मनमें रहनेवाली सभी कामनाओंका त्याग कर देता है, तभी उसे भगवत्ताकी पात्रता प्राप्त होती है अन्यथा नहीं।

संसारके सभी सुख-दुःख, लाभालाभ तथा जय-पराजय आदि द्वन्द्वोंसे सर्वथा दूर रहनेवाले संन्यासीके लिये भी श्रीमद्भागवतमें प्रभावी नीति-वाक्य विद्यमान हैं जिनकी आजके भोगप्रधान समयमें बहुत उपयोगिता है। यतिधर्महेतु यहाँ कहा गया है—

शोकमोहभयक्रोधरागक्लैब्यश्रमादयः।
यन्मूलाः स्युर्नृणां जह्यात् स्पृहां प्राणार्थयोर्बुधः॥
(७।१३।३३)

अर्थात् जिन प्राणों तथा धनकी इच्छासे शोक-मोहादि भाव मनुष्यको प्रभावित करते हैं, उन प्राणों तथा सम्पत्तिकी

१-उत्तमश्चिन्तितं कुर्यात् प्रोक्तकारी तु मध्यमः। अधमोऽश्रद्धया कुर्यादकर्तोच्चरितं पितुः॥ (९।१८।४४)

भी इच्छा बुद्धिमान्‌को त्याग देनी चाहिये।

इस प्रकार सामान्यसे लेकर विशिष्ट भावोके सम्बन्धमे श्रीमद्भागवतमे नीति-वचनोका यथास्थान प्रयोग हुआ है।

(ङ) विश्वधर्म-प्रधान नीति-वचन

विश्वात्मा परमेश्वरकी उपासनाका सदेश-निर्देश देनेवाले इस ग्रन्थम विश्वधर्म-विषयक मङ्गलमय नीति-वचनोका होना नितान्त आवश्यक है—

सर्वं पुरुष एवद भूत भव्य भवच्च यत्।
तेनेदमावृत विश्व वितस्तिमधितिष्ठति॥
(२।६।१५)

—इस श्लोकम सम्पूर्ण विश्वको उसी परम पुरुषसे आवृत बताया गया है। यही कारण है कि दैत्यराज प्रह्लाद भी यही कामना करते है—

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खल प्रसीदता
ध्यायन्तु भूतानि शिव मिथो धिया।
मनश्च भद्र भजतादधोक्षजे
आवेश्यता नो मतिरप्यहैतुकी॥
(५।१८।९)

विश्वका कल्याण हो, दूषित मनोवृत्तिवाले भी प्रसन्न रह, प्राणी परस्पर मङ्गलभावाका चिन्तन कर, मन परमेश्वरकी उपासना करता रहे और हमारी बुद्धि परमेश्वरके चिन्तनम लगी रहे।

महामुनि शुकदव जिनकी कथा कहनेमें गौरवका अनुभव करत हैं वे राजर्षि रन्तिदेव भी विश्वभरम निवास करनेवाले प्राणियाकी पीडाको ही हर लेना चाहते हैं, जिससे उन्ह कभी दु खकी अनुभूति न हो—

न कामयेऽह गतिमीश्वरात् परा-
मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भव या।
आर्ति प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
मन्त स्थितो येन भवन्त्यदु खा॥
(९।२१।१२)

विश्वकल्याणकी कामना करनवाले भागवतकारका पुण्यभूमि और मोक्षमार्गभूमि भारतकी विशिष्टताका निरन्तर ध्यान बना रहता है। भागवतकार कहते हैं—

अहो भुव सप्तसमुद्रवत्या
द्वीपेषु वर्षेष्वधिपुण्यमेतत्।
गायन्ति यत्रत्यजना मुरारे
कर्माणि भद्राण्यवतारवन्ति॥
(५।६।१३)

अर्थात् इस सप्तद्वीपा धरित्रीके सभी द्वीपाके सभ वर्षोम यह भारतवर्ष बहुत ही पुण्यशाली है, जहाँके निवासी भगवान्‌के अवतारी चरित्र-कर्मोंका गान करते रहते हैं। इतना ही नहीं, दवतालोग तो आश्चर्यके साथ कहते हैं कि इन प्राणियाने कोई बहुत शुभ कर्म किये हैं अथवा स्वय भगवान् इनसे प्रसन्न है जो इन्हे भारतवर्षम जन्म लेनेका सौभाग्य मिल गया, जहाँ इन्हे भगवान्‌की सेवाका अवसर मिल रहा है। हमारी उत्कट अभिलाषा है कि हमें भी भारतवर्षम जन्म लेनेका सौभाग्य प्राप्त हो। अन्य स्थानासे कल्पभरकी आयु प्राप्त करनेकी अपेक्षा भारतवर्षम क्षणभरम ही शरीर त्यागकर परमेश्वरका अभय धाम मिल जाता है—

कल्पायुषा स्थानजयात्पुनर्भवात्
क्षणायुषा भारतभूजया वरम्।
क्षणेन मर्त्येन कृत मनस्विन
सन्यस्य सयान्त्यभय पद हरे॥
(५।१९।२३)

इस प्रकार परमाणुस लेकर परम महान् तथा कालकी सूक्ष्म कलासे लकर महाकालतककी कल्याण-क्षेम कामना करनेवाले, किंतु फिर भी भारतीय सस्कृतिका यशागान करके कृतार्थताका अनुभव करनवाले बादरायण द्वैपायन महामुनि वेद-व्यासने श्रीमद्भागवत-महापुराणम जीवनके हर क्षेत्रके नीति-वचनाका प्रयाग करके इस समाजका महान् उपकार किया है।

(साहित्य-महामहापाध्याय आचार्य श्रीरामनाथजी 'सुमन')

श्रीवाल्मीकीय रामायणके सुभाषित

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे।
वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद् रामायणात्मना॥

वेद जिस परम तत्त्वका वर्णन करते हैं, वही श्रीमन्नारायण-तत्त्व श्रीमद्रामायणमें श्रीरामरूपसे निरूपित है। वेदवेद्य परम पुरुषोत्तमके दशरथनन्दन श्रीरामके रूपमें अवतीर्ण होनेपर साक्षात् वेद ही श्रीवाल्मीकिके मुखसे श्रीरामायणरूपमें प्रकट हुए, ऐसी आस्तिकोंकी चिरकालसे मान्यता है। इसलिये श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणकी वेदतुल्य ही प्रतिष्ठा है। ब्रह्माजीके वरदानसे ही इस दिव्य महाकाव्यका प्राकट्य हुआ।[1] ये भी महर्षि वाल्मीकि आदिकवि हैं। उनका 'आदिकाव्य' श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण भूतलका प्रथम महाकाव्य है। यह सभीके लिये पूज्य वन्द्य एवं परम प्रमाण है। श्रीव्यासदेव आदि सभी कवियोंने इसीका अध्ययन करके पुराण तथा महाभारत आदिका निर्माण किया[2], यह बात बृहद्धर्मपुराणमें विस्तारसे प्रतिपादित है।

महर्षि वाल्मीकि प्रचेताके पुत्र हैं। स्कन्दपुराणके वैशाखमाहात्म्यमें इन्हें जन्मान्तरमें व्याध बतलाया गया है। व्याध-जन्मके पहले भी ये स्तम्भ नामक श्रीवत्सगोत्रीय ब्राह्मण थे। व्याध-जन्ममें शङ्ख ऋषिके सत्सङ्गसे तथा रामनामके जपसे ये दूसरे जन्ममें अग्निशर्मा (मतान्तरसे रत्नाकर) हुए। वहाँ भी व्याधोंके सङ्गसे कुछ दिन प्राक्तन संस्कारवश व्याध-कर्ममें लगे। फिर सप्तर्षियोंके सत्सङ्गसे 'मरा-मरा' जपकर—बाँबी पड़नेसे वाल्मीकि नामसे ख्यात हुए और इन्होंने आर्षग्रन्थ वाल्मीकिरामायणकी रचना की। यह अत्यन्त पवित्र ग्रन्थ है। इसमें भगवान् श्रीरामकी महत्ताका विस्तारसे निरूपण है। प्रारम्भमें ही देवर्षि नारदजी वाल्मीकिजीको बताते हैं कि इक्ष्वाकुवंशमें प्रादुर्भूत महाराजाधिराज श्रीरामके समान बुद्धिमान्, नीतिमान्, वाग्मी (वक्ता) श्रीमान् तथा शत्रुसंहारक और कोई नहीं है—

बुद्धिमान् नीतिमान् वाग्मी श्रीमाञ्छत्रुनिबर्हणः॥
(१।१।९)

ऐसे उन करुणासागर, धर्मज्ञ सत्यसंध प्रजापालक यशस्वी धर्मरक्षक तथा प्रियदर्शी भगवान् श्रीरामकी महिमामें पर्यवसित श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण परम श्रद्धाकी वस्तु है। इसमें महर्षि श्रीवाल्मीकिजीने पद-पदपर माङ्गलिक उपदेश भरे हैं। भक्ति ज्ञान, सदाचार, सत्-नीति जप तप उपासना तथा नाम-महिमाके गौरवसे यह ग्रन्थ भरा पड़ा है। यहाँ इस पवित्र ग्रन्थसे कुछ कल्याणकारी सुभाषित दिये जा रहे हैं—

धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम्।
(२।२१।४१)

संसारमें धर्म ही सबसे श्रेष्ठ है। धर्ममें ही सत्यकी प्रतिष्ठा है।

संश्रुत्य च पितुर्वाक्यं मातुर्वा ब्राह्मणस्य वा।
न कर्तव्यं वृथा वीर धर्ममाश्रित्य तिष्ठता॥
(२।२१।४१)

धर्मका आश्रय लेकर रहनेवाले पुरुषको पिता-माता तथा ब्राह्मणके लिये दिये गये वचनोंका पालन करनेकी प्रतिज्ञा करके उसे मिथ्या नहीं करना चाहिये।

---

१ रामस्य चरितं कृत्स्नं कुरु त्वमृषिसत्तम।
रहस्यं च प्रकाशं च यद् वृत्तं तस्य धीमतः॥
रामस्य सहसौमित्रे राक्षसानां च सर्वशः। वैदेह्याश्चैव यद् वृत्तं प्रकाशं यदि वा रहः॥
तच्चाप्यविदितं सर्वं विदितं ते भविष्यति। न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति॥
कुरु रामकथां पुण्यां श्लोकबद्धां मनोरमाम्। (वाल्मी० रामा० १।२।३२—३६)

[ब्रह्माजीने वाल्मीकिजीसे कहा—] ऋषिश्रेष्ठ! तुम श्रीरामके सम्पूर्ण चरित्रका वर्णन करो। बुद्धिमान् श्रीरामका जो गुप्त या प्रकट वृत्तान्त है तथा लक्ष्मण सीता और राक्षसोंके जो सम्पूर्ण गुप्त या प्रकट चरित्र हैं वे सब अज्ञात होनेपर भी तुम्हें ज्ञात हो जायँगे। इस काव्यमें अङ्कित तुम्हारी कोई भी बात असत्य नहीं होगी इसलिये तुम श्रीरामचन्द्रजीकी परम पवित्र एवं मनोरम कथाका वर्णन श्लोकबद्ध करो।

२ (क) पठ रामायणं व्यास काव्यबीजं सनातनम्। यत्र रामचरितं स्यात् तदहं तत्र शक्तिमान्॥
(ख) रामायणं पाठितं ये प्रसन्नोऽस्मि कृतस्त्वया। करिष्यामि पुराणानि महाभारतमेव च॥ (बृहद्धर्मपुराण)

सुखदु ख भयक्रोधौ लाभालाभौ भवाभवौ।
यस्य किंचित् तथाभूत ननु दैवस्य कर्म तत्॥
(२।२२।२२)

सुख-दु ख भय-क्रोध (क्षोभ) लाभ-हानि उत्पत्ति-विनाश तथा इस प्रकारके और भी जितने विधान प्राप्त होते हैं, जिनका कोई कारण समझमें नहीं आता वे सब दैवके ही कार्य हैं।

व्रतोपवासनिरता या नारी परमोत्तमा॥
भर्तार नानुवर्तेत सा च पापगतिर्भवेत्।
(२।२४।२५ २६)

जो नारी जाति और गुणोंकी दृष्टिसे परम उत्तम है और सदा व्रत तथा उपवासमें ही तत्पर रहती है वह भी यदि अपने पतिके अनुकूल रहकर उसकी सेवा न करे तो उसे पापियोंकी गति मिलती है।

भर्तु शुश्रूषया नारी लभते स्वर्गमुत्तमम्॥
अपि या निर्नमस्कारा निवृत्ता देवपूजनात्।
(२।२४।२६-२७)

देवताओंकी पूजा और वन्दनासे दूर रहनेपर भी जो स्त्री अपने स्वामीकी सेवामें लगी रहती है वह उस सेवाके प्रभावसे उत्तम स्वर्गलोकको प्राप्त होती है।

न पिता नात्मजो वात्मा न माता न सखीजन ।
इह प्रेत्य च नारीणा पतिरेको गति सदा॥
(२।२७।६)

नारीके लिये इस लोक और परलोकमें एकमात्र पति ही सदा आश्रय देनेवाला है। पिता पुत्र, माता सखियाँ तथा अपना यह शरीर भी उसका सच्चा सहायक नहीं है।

मित ददाति हि पिता मित भ्राता मित सुत ।
अमितस्य तु दातार भर्तार को न पूजयेत्॥
(२।३९।३०)

पिता, भ्राता और पुत्र—ये परिमित सुख प्रदान करते हैं, किंतु पति अपरिमित सुखका दाता है—उसकी सेवासे इहलोक और परलोक दोनोंमें कल्याण होता है। अत एसी कौन स्त्री होगी जो अपने पतिका सत्कार नहीं करेगी?

शोको नाशयते धैर्यं शोको नाशयते श्रुतम्।
शोको नाशयते सर्व नास्ति शोकसमो रिपु ॥
(२।६२।१५)

शोक धैर्यका नाश करता है शोक शास्त्रज्ञानको भी लुप्त कर देता है तथा शोक सब कुछ नष्ट कर डालता है शोकके समान कोई शत्रु नहीं है।

नाराजके जनपदे स्वक भवति कस्यचित्।
मत्स्या इव जना नित्यं भक्षयन्ति परस्परम्॥
(२।६७।३१)

बिना राजाके देशमें किसीकी कोई वस्तु अपनी नहीं रहती। मछलियोंकी भाँति सब लोग सदा परस्पर एक-दूसरेको अपना ग्रास बनाते—लूटते-खसोटते रहते हैं।

ये हि सम्भिन्नमर्यादा नास्तिकाश्छिन्नसशया ।
तेऽपि भावाय कल्पन्ते राजदण्डनिपीडिता ॥
(२।६७।३२)

धर्म-मर्यादाको भङ्ग करनेवाले नास्तिक भी राजदण्डसे पीडित होकर ईश्वरीय सत्ताके प्रति सदेहरहित होकर आस्तिक बन जाते हैं।

राजा सत्य च धर्मश्च राजा कुलवता कुलम्।
राजा माता पिता चैव राजा हितकरो नृणाम्॥
(२।६७।३४)

राजा सत्य है, राजा धर्म है राजा कुलीन पुरुषोंका कुल है राजा ही माता और पिता है तथा राजा समस्त मानवोंका हित-साधन करनेवाला है।

स्वर्गो धन वा धान्य वा विद्या पुत्रा सुखानि च।
गुरुवृत्त्यनुरोधेन न किंचिदपि दुर्लभम्॥
(२।३०।३७)

गुरुजनोंकी सेवासे स्वर्ग धन-धान्य विद्या पुत्र और सुख—कुछ भी दुलभ नहीं हैं।

देवगन्धर्वगोलोकान् ब्रह्मलोकास्तथापरान्।
प्राप्नुवन्ति महात्मानो मातापितृपरायणा ॥
(२।३०।३७)

माता-पिताकी सेवामें लगे रहनेवाले महात्मा पुरुष देवलोक गन्धर्वलोक गोलोक ब्रह्मलोक तथा अन्य उत्तम लोकोंको भी प्राप्त कर लेते हैं।

नन्दन्त्युदित आदित्ये नन्दन्त्यस्तमितेऽहनि।
आत्मनो नावबुध्यन्ते मनुष्या जीवितक्षयम्॥
(२।१०५।२४)

तात्पर्य यह कि लोग सूर्योदय होनेपर प्रसन्न होते हैं

तथा सूर्यास्त होनेपर भी खुश होते हैं, किंतु इस बातपर लक्ष्य नहीं करते कि प्रतिदिन अपने जीवनका नाश हो रहा है।

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महार्णवे।
समेत्य तु व्यपेयातां कालमासाद्य कञ्चन॥
एवं भार्याश्च पुत्राश्च ज्ञातयश्च वसूनि च।
समेत्य व्यवधावन्ति ध्रुवो ह्येषां विनाभवः॥

(२।१०५।२६-२७)

जैसे महासागरमें बहते हुए दो काठ कभी एक-दूसरेसे मिल जाते हैं और मिलकर कुछ कालके बाद एक-दूसरेसे विलग भी हो जाते हैं, उसी प्रकार स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब और धन भी मिलकर बिछुड़ जाते हैं, क्योंकि इनका वियोग अवश्यम्भावी है।

नात्मनः कामकारो हि पुरुषोऽयमनीश्वरः।
इतश्चेतरतश्चैनं कृतान्तः परिकर्षति॥

(२।१०५।१५)

मनुष्य अपनी इच्छाके अनुसार कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि यह पराधीन होनेके कारण असमर्थ है। काल इसे इधर-इधर खींचता रहता है।

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥

(२।१०५।१६)

सभी संग्रहोंका अन्त क्षय है, बहुत ऊँचे चढ़नेका अन्त नीचे गिरना है। संयोगका अन्त वियोग है और जीवनका अन्त मरण है।

सहैव मृत्युर्व्रजति सह मृत्युर्निषीदति।
गत्वा सुदीर्घमध्वानं सह मृत्युर्निवर्तते॥

(२।१०५।२२)

मृत्यु साथ ही चलती है, साथ ही बैठती है और सुदूरवर्ती पथपर भी साथ-साथ जाकर साथ ही लौट आती है। [हम सदा ही उसके वशमें रहते हैं।]

निर्मर्यादस्तु पुरुषः पापाचारसमन्वितः।
मानं न लभते सत्सु भिन्नचारित्रदर्शनः॥

(२।१०९।३)

जो पुरुष धर्म अथवा वेदकी मर्यादाका त्याग बैठता है, वह पापकर्ममें प्रवृत्त हो जाता है। उसके आचार और विचार दोनों ही भ्रष्ट हो जाते हैं। इसलिये वह सत्पुरुषोंमें कभी सम्मान नहीं पाता।

सत्यमेवानृशंसं च राजवृत्तं सनातनम्।
तस्मात् सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोकः प्रतिष्ठितः॥

(२।१०९।१०)

सत्यका पालन करना और दया करना ही राजाओंका प्रधान धर्म है, उनका सनातन आचार है, अतः राज्य सत्यस्वरूप है। सत्यमें ही सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है।

ऋषयश्चैव देवाश्च सत्यमेव हि मेनिरे।
सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन् परं गच्छति चाक्षयम्॥

(२।१०९।११)

ऋषियों और देवताओंने सत्यको ही आदर दिया है। इस लोकमें सत्य भाषण करनेवाला मनुष्य अक्षय परम धामको प्राप्त होता है।

सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्॥

(२।१०९।१३)

जगत्‌में सत्य ही ईश्वर है। सदा सत्यके ही आधारपर धर्मकी स्थिति रहती है। सत्य ही सबकी जड़ है, सत्यसे बढ़कर दूसरा कोई परम पद नहीं है।

दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च।
वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात् सत्यपरो भवेत्॥

(२।१०९।१४)

दान, यज्ञ, होम, तपस्या और वेद—इन सबका आश्रय सत्य है, इसलिये सबको सत्यपरायण होना चाहिये।

अस्वाधीनं कथं दैवं प्रकारैरभिराध्यते।
स्वाधीनं समतिक्रम्य मातरं पितरं गुरुम्॥
यत्र त्रयं त्रयो लोकाः पवित्रं तत्समं भुवि।
नान्यदस्ति शुभापाङ्गे तेनेदमभिराध्यते॥

(२।३०।३३-३४)

[भगवान् श्रीराम सीताजीसे कहते हैं कि हे सीते!—] माता, पिता और गुरु—ये प्रत्यक्ष देवता हैं, इनकी अवहेलना करके अप्रत्यक्ष देवताकी विविध उपचारोंसे आराधना करना कैसे ठीक हो सकता है? जिनकी सेवासे

अर्थ धर्म आर काम—तीनाकी प्राप्ति होती ह जिनकी आराधनास तीना ताकाकी आराधना हो जाती हैं उन माता-पिताक समान पवित्र इस ससारम दूसरा कोई भी नहीं है इसीलिय लाग इन प्रत्यक्ष दवता (माता-पिता-गुर)-की आराधना करत ह।

उत्साहो बलवानार्य नास्त्युत्साहात् पर बलम्।
सोत्साहस्य हि लाकपु न किंचिदपि दुर्लभम्॥

(४।१।१२१)

[लक्ष्मणजी भगवान् श्रीरामस कहत हैं—] भैया! उत्साह ही बलवान् हाता ह, उत्साहस बढकर दूसरा कोई बल नहीं है। उत्साही पुरुषक लिय ससारम कोई भी वस्तु दुलभ नहीं है।

व्यसने वार्थकृच्छ्रे वा भय वा जीवितान्तगे।
विमृशश्च स्वया बुद्ध्या धृतिमान् नावसीदति॥

(४।७।९)

शोकम आर्थिक सकटम अथवा प्राणान्तकारी भय उपस्थित होनपर जा अपनी बुद्धिस दु खनिवारणक उपायका विचार करत हुए धैर्य धारण करता ह उस कष्ट नहीं उठाना पडता।

धनत्याग सुखत्यागो देशत्यागोऽपि वानघ।
वयस्यार्थे प्रवर्तन्ते स्नेह दृष्ट्वा तथाविधम्॥

(४।८।९)

साधु पुरुष अपने मित्रका अत्यन्त उत्कृष्ट प्रम दखकर आवश्यकता पडनपर उसक लिये धन सुख ओर दशका भी परित्याग कर देत है।

अर्थिनामुपपन्नाना पूर्व चाप्युपकारिणाम्।
आशा सश्रुत्य यो हन्ति स लोके पुरुषाधम ॥

(४।३०।७१)

जा बल ओर पराक्रमस सम्पन्न तथा पहल हा उपकार करनेवाल कार्यार्थी पुरुषाका आशा देकर—उनका कार्य करनकी प्रतिज्ञा करके पीछे उसे ताड देता है वह ससारके सभी पुरुषामे नीच है।

शुभ वा यदि वा पाप यो हि वाक्यमुदीरितम्।
सत्येन परिगृह्णाति स वीर पुरुषोत्तम ॥

(४।३०।७२)

जो अपन मुँहस प्रतिनाक रूपम निकल हुए भल या बुर हर तरहक वचनाका सत्यरूपम ग्रहण करता है—उन्ह सत्य कर दिखाता है, वह वीर समस्त पुरुषोंम श्रेष्ठ है।

कृतार्था ह्यकृतार्थाना मित्राणा न भवन्ति ये।
तान् मृतानपि क्रव्यादा कृतघ्नान् नापभुञ्जते॥

(४।३०।७३)

जो अपना स्वार्थ सिद्ध हा जानपर अपन मित्राक कार्यको पूरा करनकी परवा नहीं करत उन कृतघ्न पुरुषाक मरनेपर मासाहारी जन्तु भी उनका मास नहीं खात।

न विषादे मन कार्यं विषादा दोषवत्तर ।
विषादो हन्ति पुरुष बाल क्रुद्ध इवारग ॥

(४।६४।७)

मनको विषादग्रस्त नहीं बनाना चाहिय विषादम बहुत बडा दोष है। जस क्रोधम भरा हुआ साँप बालकको काट खाता है उसी प्रकार विषाद पुरुषका नाश कर डालता ह।

आर्तो वा यदि वा दृप्त परेषा शरण गत ।
अरि प्राणान् परित्यज्य रक्षितव्य कृतात्मना॥
सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभय सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रत मम॥

(६।१८।२८ ३३)

[श्रीरामजी कहते ह—] शत्रु दुखी हो अथवा अभिमानी यदि वह अपने विपक्षीकी शरणम आ जाय तो शुद्ध चित्तवाले सत्पुरुषको अपने प्राणाका मोह छोडकर उसकी रक्षा करनी चाहिये। मेरा यह नियम ह कि जो एक बार शरणम आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' यो कहकर मुझसे रक्षाकी प्रार्थना करता है उसे म समस्त प्राणियोस अभय कर देता हूँ।

परस्वाना च हरण परदाराभिमर्शनम्।
सुहृदामतिशङ्का च त्रयो दोषा क्षयावहा ॥

(६।८७।२४)

दूसराके धनका अपहरण पर-स्त्रीक साथ ससर्ग आर अपने हितैषी सुहृदाक प्रति घोर अविश्वास—ये तीनो दोष जीवनका नाश करनेवाल है।

दश देश कलत्राणि देशे दशे च बान्धवा ।
त तु दश न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदर ॥

(६।१०१।१५)

प्रत्यक दशम स्त्रियाँ मिल सकती ह, हर देशम जाति-भाई प्राप्त हो सकत हैं परतु ऐसा कोई देश नहीं दिखायी दता, जहाँ महोदर भाई मिल सकता हो।

अवश्यमव लभते फल पापस्य कर्मण ।
भर्त पर्यागते काले कर्ता नास्त्यत्र सशय ॥

(६।१११।२५)

स्वामिन्! इसम तनिक भी सदह नहीं कि समय आनपर कर्ताका उसके पापका फल अवश्य मिलता है।

न पर पापमादत्ते परपा पापकर्मणाम्।
समया रक्षितव्यस्तु सन्तश्चारित्रभूषणा ॥

(६।११३।४३)

श्रष्ठ पुरुप दूसर पापाचारी प्राणियाके पापका नहीं ग्रहण करता—उन्ह अपराधी मानकर उनस वदला लना नहीं चाहता। इस उत्तम सदाचारकी सदा रक्षा करनी चाहिये क्याकि सत्पुरुपाका सदाचार ही भूपण है।

पापाना वा शुभाना वा वधार्हाणामथापि वा।
कार्य कारुण्यमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति॥

(६।११३।४४)

पापी हा या पुण्यात्मा अथवा वधक याग्य अपराध करनवाल ही क्या न हा, उन सवक ऊपर श्रष्ठ पुरुपका दया करनी चाहिय क्याकि एसा काई नहीं ह जिसस कभी अपराध हाता ही न हा।

मातर पितर विप्रमाचार्य चावमन्यते।
स पश्यति फल तस्य प्रतराजवश गत ॥

(७।१५।२१)

जो माता पिता व्राह्मण आर आचायका अपमान करता है, वह यमराजके वशम पडकर उस पापका फल भागता है।

अध्रुवे हि शरीर या न कराति तपाऽर्जनम्।
स पश्चात् तप्यत मूढा मृता गत्वाऽऽत्मना गतिम्॥

(७।१५।२२)

यह शरीर क्षणभगुर ह, इसम रहते हुए जा जाव तपका उपाजन नहीं करता वह मूर्ख मरनक वाद, जव उस अपन दुष्कर्मोका फल मिलता ह तव वहुत पश्चात्ताप करता ह।

देव! हमे नीतिज्ञ बना दो

(श्रीगोपीनाथजी पारीक 'गोपश')

देव! हम नीतिज्ञ वना दो।
रीति नीति जीवन जीनकी हमको नाथ! सिखा दा॥
सत्य अहिंसाका पथ उज्ज्वल व्रह्मचर्य जीवनका मवल।
मन वाणी अरु सकल कर्मकी पावनता सुखदायक पल-पल।
इन सवका महत्त्व समझ हम ऐसी ज्याति जगा दा॥
प्राणिमात्रम स्नहभाव हो नहीं किसीस कुछ दुराव हा।
रहे समुन्नत शीष हमारा सदा-सर्वदा प्रगति चाव हा।
सवम आप रम रहत हैं एसा भान करा दा॥
सत्सगति जीवनकी लाली प्रफुल्लता मनकी हरियाली।
तन मन सव चरणाम अरपित करना ह प्रभु! नित रखवाली।
तज प्राण तव श्याम सलानी सुखकर छवि दिखला दा॥

गोस्वामी तुलसीदासजीकी नीति-मीमासा

[श्रीरामका प्रजाको नीतिका दिव्य उपदेश]

शासकका कर्तव्य केवल शासन-करणपूर्वक राज्यमे शान्ति—सुव्यवस्था वनाये रखना, जनताको आन्तरिक एव बाह्य उपद्रवासे बचाना ही नहीं है प्रत्युत जनताके योग-क्षेमकी व्यवस्था करना भी है और यह याग-क्षेमकी व्यवस्था विचारवान् पुरुपके लिये लौकिक उतनी आवश्यक नहीं हे, जितनी परलोकके लिये आवश्यक है, क्याकि जीवके अनन्त जीवनम एक देहकी आयु बहुत ही नगण्य है।

रोग अकाल, चोरादिके उत्पातका प्रशमन करना जैसे शासकका कर्तव्य है, वैसे ही उनका परम कर्तव्य है—जनताम सदाचार, सयम सत्य आदि सद्गुणाकी जागृति एव जनरुचिका धर्म तथा परमात्माकी ओर उन्मुख करना। यह किये बिना समाजम शील, अनुशासन एव सुव्यवस्था बनी रह नहीं सकती।

राम-राज्यम प्रजा स्वभावसे धर्मरत थी। धर्माचरण एव अनुशासनका उपदेश-आदेश किसीको देनेकी आवश्यकता भी नहीं थी। समाजमे किसी प्रकारका काई उपद्रव नहीं था—

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥

(रा०च०मा० ७।२१।१)

परतु परमार्थकी प्राप्ति—आध्यात्मिक उन्नतिकी तो सीमा नहीं हे। अत उसके सम्बन्धमे उपदेशकी आवश्यकता नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता। राजाधिराज चक्रवर्ती सम्राट्के रूपम श्रीरघुनाथजीके लिये आवश्यक था कि वे प्रजाका अपना अभिप्राय बतलाते ओर उसके परम कर्तव्यका निर्देश करते। यह उन्हाने किया—

एक बार रघुनाथ बोलाए। गुर द्विज पुरबासी सब आए॥
बैठे गुर मुनि अरु द्विज सज्जन। बोले बचन भगत भव भजन॥
सुनहु सकल पुरजन मम बानी। कहउँ न कछु ममता उर आनी॥
नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जो तुम्हहि सोहाई॥
सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥
जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥
बड़ भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दाप लगाइ॥

(रा०च०मा० ७।४३।१—८ ४३)

एक वार श्रीरघुनाथजीके बुलाय हुए गुरु वसिष्ठजी, ब्राह्मण और अन्य सब नगरनिवासी सभाम आय। जब गुरु मुनि, ब्राह्मण तथा अन्य सब सज्जन यथायाग्य बैठ गये, तब भक्ताके जन्म-मरणको मिटानेवाले श्रीरामजा एसे वचन बोले—'हे समस्त नगरनिवासिया! मेरी बात सुनो। यह बात मैं हृदयम कुछ ममता लाकर नहीं कहता। न अनातिका बात कहता हूँ और न इसम कुछ प्रभुता ही है। इसलिये [सकाच और भय छोडकर, ध्यान दकर] मरी बाताका सुन ला और [फिर] यदि तुम्ह अच्छी लगे तो उसक अनुसार करो! वही मेरा सवक है और वही प्रियतम है, जा मेरी आज्ञा माने। भाई! यदि मैं कुछ अनीतिकी बात कहूँ तो भय भुलाकर (वेखटके) मुझ राक दना। बड भाग्यसे यह मनुष्य-शरीर मिला हे। सब ग्रन्थाने यही कहा है कि यह शरीर देवताआको भी दुर्लभ है (कठिनतासे मिलता है)। यह साधनका धाम आर मोक्षका दरवाजा हे। इसे पाकर भी जिसने परलोक न बना लिया, वह उस लोकम दु ख पाता है सिर पीट-पीटकर पछताता है तथा [अपना दोप न समझकर] कालपर, कर्मपर और ईश्वरपर मिथ्या दोप लगाता हे।'

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुजा ग्रहइ परस मनि खोई॥
आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥
करनधार सदगुर दृढ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा॥

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निदक मदमति आत्माहन गति जाइ॥

(रा०च०मा० ७।४४।१—८ ४४)

'भाई! इस शरीरके प्राप्त होनेका फल विषय-भोग नहीं है। [इस जगत्‌के भोगोंकी तो बात ही क्या] स्वर्गका भोग भी बहुत थोड़ा है और अन्तमें दुःख देनेवाला है। अतः जो लोग मनुष्य-शरीर पाकर विषयोंमें मन लगा देते हैं, वे मूर्ख अमृतको बदलकर विष ले लेते हैं। जो पारसमणिको खोकर बदलेमें घुँघची ले लेता है, उसे कभी कोई भला (बुद्धिमान्) नहीं कहता। यह अविनाशी जीव [अण्डज, स्वेदज, जरायुज और उद्भिज्ज—] चार खानों और चौरासी लाख योनियोंमें चक्कर लगाता रहता है। मायाकी प्रेरणासे काल, कर्म, स्वभाव और गुणसे घिरा हुआ (इनके वशमें हुआ) यह सदा भटकता रहता है। बिना ही कारण स्नेह करनेवाले ईश्वर कभी विरले ही दया करके इस मनुष्यका शरीर देते हैं। यह मनुष्यका शरीर भवसागर [-से तारने]-के लिये बेड़ा (जहाज) है, मेरी कृपा ही अनुकूल वायु है एवं सद्गुरु इस मजबूत जहाजके कर्णधार (खेनेवाले) हैं। इस प्रकार दुर्लभ (कठिनतासे मिलनेवाले) साधन सुलभ होकर (भगवत्कृपासे सहज ही) उसे प्राप्त हो गये हैं। जो मनुष्य ऐसे साधन पाकर भी भवसागरसे न तरे, वह कृतघ्न एवं मन्दबुद्धि है और आत्महत्या करनेवालेकी गतिको प्राप्त होता है।'

जौं परलोक इहाँ सुख चहहू। सुनि मम बचन हृदयँ दृढ़ गहहू॥
सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई॥
ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेका॥
करत कष्ट बहु पावइ कोऊ। भक्ति हीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ॥
भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥
पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता॥
पुन्य एक जग महुँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा॥
सानुकूल तेहि पर मुनि देवा। जो तजि कपटु करइ द्विज सेवा॥

औरउ एक गुपुत मत सबहि कहउँ कर जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि॥

(रा०च०मा० ७।४५।१—८, ४५)

'यदि परलोकमें और यहाँ [दोनों जगह] सुख चाहते हो तो मेरे वचन सुनकर उन्हें हृदयमें दृढ़तासे पकड़ रखो। हे भाई! यह मेरी भक्तिका मार्ग सुलभ और सुखदायक है, पुराणों और वेदोंने इसे गाया है। ज्ञान अगम (दुर्गम) है, [और] उसकी प्राप्तिमें अनेकों विघ्न हैं। उसका साधन कठिन है और उसमें मनके लिये कोई आधार नहीं है। बहुत कष्ट करनेपर कोई उसे पा भी लेता है तो वह भी भक्तिरहित होनेसे मुझको प्रिय नहीं होता। भक्ति स्वतन्त्र है और सब सुखोंकी खान है, परंतु सत्संग (संतोंके संग)-के बिना प्राणी इसे नहीं पा सकते और पुण्यसमूहके बिना संत नहीं मिलते। सत्संगति ही संसृति (जन्म-मरणके चक्र)-का अन्त करती है। जगत्‌में पुण्य एक ही है, [उसके समान] दूसरा नहीं। वह है—मन, कर्म और वचनसे ब्राह्मणोंके चरणोंकी पूजा करना। जो कपटरहित होकर ब्राह्मणोंकी सेवा करता है, उसपर मुनि और देवता प्रसन्न रहते हैं। और भी एक गुप्त मत है, मैं उसे सबसे हाथ जोड़कर कहता हूँ कि शंकरजीके भजन बिना मनुष्य मेरी भक्ति नहीं पाता।'

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा॥
सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई॥
मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा॥
बहुत कहउँ का कथा बढ़ाई। एहि आचरन बस्य मैं भाई॥
बैर न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा॥
अनारंभ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी॥
प्रीति सदा सज्जन संसर्गा। तृन सम बिषय स्वर्ग अपबर्गा॥
भगति पच्छ हठ नहिं सठताई। दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई॥

मम गुन ग्राम नाम रत गत ममता मद मोह।
ता कर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह॥

(रा०च०मा० ७।४६।१—८, ४६)

'कहो तो भक्तिमार्गमें कौन-सा परिश्रम है? इसमें न योगकी आवश्यकता है न यज्ञ, जप, तप और उपवासकी। [यहाँ इतना ही आवश्यक है कि] सरल स्वभाव हो, मनमें कुटिलता न हो और जो कुछ भी मिल जाय उसीमें सदा संतोष रखे। मेरा दास कहलाकर यदि कोई मनुष्योंकी आशा करता है तो तुम्हीं कहो उसका [मुझपर] क्या विश्वास है? (अर्थात् उसकी मुझपर आस्था बहुत ही निर्बल है।) बहुत बात बढ़ाकर क्या कहूँ? हे भाइयो! मैं तो इसी आचरणके वशमें हूँ। न किसीसे वैर करे, न लड़ाई-झगड़ा करे, न आशा रखे, न भय ही करे। उसके लिये सभी

दिशाएँ सदा सुखमयी हैं। जो कोई भी आरम्भ (फलकी इच्छासे कर्म) नहीं करता, जिसका कोई अपना घर नहीं है (जिसकी घरमें ममता नहीं है), जो मानहीन, पापहीन और क्रोधहीन है, जो [भक्ति करनेमें] निपुण और विज्ञानवान् है। संतजनोंके संसर्ग (सत्संग)-से जिसे सदा प्रेम है, जिसके मनमें सब विषय—यहाँतक कि स्वर्ग और मुक्ति भी [भक्तिके सामने] तृणके समान हैं। जो भक्तिके पक्षमें हठ करता है पर [दूसरेके मतका खण्डन करनेकी] मूर्खता नहीं करता तथा जिसने सब कुतर्कोंको दूर बहा दिया है, जो मेरे गुणसमूहोंके और मेरे नामके परायण है एवं ममता, मद और मोहसे रहित है, उसका सुख वही जानता है, जो [परमात्मारूप] परमानन्दराशिको प्राप्त है।'

काकभुशुण्डिपर कृपा

भक्तवत्सल दशरथ-अजिर-विहारी श्रीराम काक-भुशुण्डिपर अत्यन्त प्रसन्न होकर बोले—

काकभसुंडि मागु बर अति प्रसन्न मोहि जानि।
अनिमादिक सिधि अपर रिधि मोच्छ सकल सुख खानि॥
ग्यान बिबेक बिरति बिग्याना। मुनि दुर्लभ गुन जे जग नाना॥
आजु देउँ सब संसय नाहीं। मागु जो तोहि भाव मन माहीं॥
(रा०च०मा० ७।८३ (ख) ८४।१-२)

'काकभुशुण्डि! तू मुझे अत्यन्त प्रसन्न जानकर वर माँग ले। अणिमा आदि अष्ट सिद्धियाँ दूसरी ऋद्धियाँ तथा सम्पूर्ण सुखोंकी खान मोक्ष, ज्ञान विवेक वैराग्य विज्ञान (तत्त्वज्ञान) और वे अनेकों गुण जो जगत्में मुनियोंके लिये भी दुर्लभ हैं,ये सब मैं आज तुझे दूँगा इसमें संदेह नहीं। जो तेरे मन भाये सो माँग ले।'

किंतु भुशुण्डिजी कहाँ इतने भोले थे! ऋद्धि-सिद्धि और मोक्ष—ये उन्हें प्रलुब्ध नहीं कर सकते थे। उन्होंने माँगा अविरल भक्तिका वरदान।

कृपासिन्धु यह वरदान माँगनेसे अत्यधिक प्रसन्न हुए। वे उत्फुल्ल-श्रीमुख बोले—

सुनु बायस तैं सहज सयाना। काहे न मागसि अस बरदाना॥
सब सुख खानि भगति तैं मागी। नहिं जग कोउ तोहि सम बड़भागी॥
जो मुनि कोटि जतन नहिं लहहीं। जे जप जोग अनल तन दहहीं॥
रीझेउँ देखि तोरि चतुराई। मागेहु भगति मोहि अति भाई॥
सुनु बिहंग प्रसाद अब मोरें। सब सुभ गुन बसिहहिं उर तोरें॥
भगति ग्यान बिग्यान बिरागा। जोग चरित्र रहस्य बिभागा॥
जानब तैं सबही कर भेदा। मम प्रसाद नहिं साधन खेदा॥
माया संभव भ्रम सब अब न ब्यापिहहिं तोहि।
जानेसु ब्रह्म अनादि अज अगुन गुनाकर मोहि॥
मोहि भगत प्रिय संतत अस बिचारि सुनु काग।
कायँ बचन मन मम पद करेसु अचल अनुराग॥
(रा०च०मा० ७।८५।२—८ ८५)

'काक! सुन तू स्वभावसे ही बुद्धिमान् है। ऐसा वरदान कैसे न माँगता? तूने सब सुखोंकी खान भक्ति माँग ली जगत्में तेरे समान बड़भागी कोई नहीं है। वे मुनि जो जप और योगकी अग्निसे शरीर जलाते रहते हैं, करोड़ों यत्न करके भी जिसे (जिस भक्तिको) नहीं पाते, वही भक्ति तूने माँगी। तेरी चतुरता देखकर मैं रीझ गया। यह चतुरता मुझे बहुत ही अच्छी लगी। हे पक्षी! सुन, मेरी कृपासे अब समस्त शुभ गुण तेरे हृदयमें बसेंगे। भक्ति, ज्ञान विज्ञान—वैराग्य, योग, मेरी लीलाएँ और उनके रहस्य तथा विभाग इन सबके भेदको तू मेरी कृपासे ही जान जायगा। तुझे साधनका कष्ट नहीं होगा। मायासे उत्पन्न सब भ्रम अब तुझको नहीं व्यापेंगे। मुझे अनादि अजन्मा,अगुण (प्रकृतिके गुणोंसे रहित) और [गुणातीत दिव्य] गुणोंकी खान ब्रह्म जानना। हे काक! सुन, मुझे भक्त निरन्तर प्रिय हैं—ऐसा विचारकर शरीर, वचन और मनसे मेरे चरणोंमें अटल प्रेम करना।'

अब सुनु परम बिमल मम बानी। सत्य सुगम निगमादि बखानी॥
निज सिद्धांत सुनावउँ तोही। सुनु मन धरु सब तजि भजु मोही॥
मम माया संभव संसारा। जीव चराचर बिबिधि प्रकारा॥
सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सब ते अधिक मनुज मोहि भाए॥
तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ श्रुतिधारी। तिन्ह महुँ निगम धरम अनुसारी॥
तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी। ग्यानिहु ते अति प्रिय बिग्यानी॥
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥
पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥
भगति हीन बिरंचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई॥
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥
सुचि सुसील सेवक सुमति प्रिय कहु काहि न लाग।
श्रुति पुरान कह नीति असि सावधान सुनु काग॥
(रा०च०मा० ७।८६।१—१० ८६)

'अब मेरी सत्य, सुगम, वेदादिके द्वारा वर्णित परम निर्मल वाणी सुन। मैं तुझे यह 'निज सिद्धान्त' सुनाता हूँ। सुनकर मनमे धारण करके और सब तजकर मेरा भजन कर। यह सारा संसार मेरी मायासे उत्पन्न है। [इसमे] अनेकों प्रकारके चराचर जीव हैं। वे सभी मुझे प्रिय हैं, क्योंकि सभी मेरे उत्पन्न किये हुए हैं। [किंतु] मनुष्य मुझको सबसे अधिक अच्छे लगते हैं। उन मनुष्योंमें भी द्विज द्विजोंमें भी वेदोंको [कण्ठमें] धारण करनेवाले, उनमे भी वेदोक्त धर्मपर चलनेवाले, उनमे भी विरक्त (वैराग्यवान्) मुझे प्रिय हैं। वैराग्यवानोंमें फिर ज्ञानी और ज्ञानियोंसे भी अत्यन्त प्रिय विज्ञानी हैं। विज्ञानियोंसे भी प्रिय मुझे अपना दास है, जिसे मेरी ही गति (आश्रय) है, कोई दूसरी आशा नहीं है। मैं तुझसे बार-बार सत्य ('निज सिद्धान्त') कहता हूँ कि मुझे अपने सेवकके समान प्रिय कोई भी नहीं है। भक्तिहीन ब्रह्मा ही क्यों न हो, वह मुझे सब जीवोंके समान ही प्रिय है। परंतु भक्तिमान् अत्यन्त नीच प्राणी भी मुझे प्राणोंके समान प्रिय है, यह मेरी घोषणा है। पवित्र, सुशील और सुन्दर बुद्धिवाला सेवक, बता, किसको प्यारा नहीं लगता? वेद और पुराण ऐसी ही नीति कहते हैं। हे काक! सावधान होकर सुन।'

एक पिता के बिपुल कुमारा। होहिं पृथक गुन सील अचारा॥
कोउ पंडित कोउ तापस ग्याता। कोउ धनवंत सूर कोउ दाता॥
कोउ सर्बग्य धर्मरत कोई। सब पर पितहि प्रीति सम होई॥
कोउ पितु भगत बचन मन कर्मा। सपनेहुँ जान न दूसर धर्मा॥
सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना। जद्यपि सो सब भाँति अयाना॥
एहि बिधि जीव चराचर जेते। त्रिजग देव नर असुर समेते॥
अखिल बिस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहि बराबरि दाया॥
तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया। भजै मोहि मन बच अरु काया॥

पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥
सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रानप्रिय।
अस बिचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब॥

कबहूँ काल न ब्यापिहि तोही। सुमिरेसु भजेसु निरंतर मोही॥

(रा०च०मा० ७।८७।१—८, ८७ ८८।१)

'एक पिताके बहुतसे पुत्र पृथक्-पृथक् गुण, स्वभाव और आचरणवाले होते हैं। कोई पण्डित होता है, कोई तपस्वी, कोई ज्ञानी कोई धनी, कोई शूरवीर, कोई दानी। कोई सर्वज्ञ और कोई धर्मपरायण होता है। पिताका प्रेम इन सभीपर समान होता है। परंतु इनमेंसे यदि कोई मन, वचन और कर्मसे पिताका ही भक्त होता है, स्वप्नमे भी दूसरा धर्म नहीं जानता तो वह पुत्र पिताको प्राणोंके समान प्रिय होता है, चाहे वह सब प्रकारसे अज्ञान (मूर्ख) ही हो। इसी प्रकार तिर्यक् (पशु-पक्षी), देव, मनुष्य और असुरोंसमेत जितने भी चेतन और जड जीव हैं, [जिनसे भरा हुआ] यह सम्पूर्ण विश्व मेरा ही पैदा किया हुआ है। अतः सबपर मेरी बराबर दया है। परंतु इनमेंसे जो मद और माया छोडकर मन, वचन तथा शरीरसे मुझको भजता है, वह पुरुष हो, नपुंसक हो, स्त्री हो अथवा चर-अचर—कोई भी जीव हो, कपट छोडकर जो भी सर्वभावसे मुझे भजता है, वही मुझे परम प्रिय है। हे पक्षी! मैं तुझसे सत्य कहता हूँ, पवित्र (अनन्य एवं निष्काम) सेवक मुझे प्राणोंके समान प्यारा है। यह विचारकर सब आशा-भरोसा छोडकर मुझीको भज। तुझे काल कभी नहीं व्यापेगा। निरन्तर मेरा स्मरण और भजन करते रहना।'
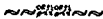
यदाकिंचिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किंचित् किंचिद् बुधजनसकाशादवगतं तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥

जब मैं अत्यन्त अल्पज्ञ था, तब मदोन्मत्त हाथीके समान मदान्ध हो रहा था उस समय मेरा मन 'मैं ही सर्वज्ञ हूँ' यह सोचकर घमंडमें चूर था। परंतु जब विद्वानोंके पास रहकर कुछ-कुछ ज्ञान प्राप्त किया तब 'मैं मूर्ख हूँ' यों समझनेके कारण ज्वरके समान मेरा गर्व दूर हो गया।

(नीतिशतक ८)
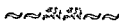
शङ्करावतार जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यजी महाराजके अध्यात्मपरक नैतिक उपदेश

ब्रह्म ही सत्य है

सर्पादौ रज्जुसत्तेव ब्रह्मसत्तैव केवलम्।
प्रपञ्चाधाररूपेण वर्ततेऽतो जगन्न हि॥

(स्वात्मप्रकाशिका ६)

[मिथ्या] सर्प आदिमें रज्जु-सत्ताकी भाँति जगत्के आधार या अधिष्ठानके रूपमें केवल ब्रह्मसत्ता ही है अतएव ब्रह्म ही है, जगत् नहीं।

घटावभासको भानुर्घटनाशे न नश्यति।
देहावभासकः साक्षी देहनाशे न नश्यति॥

(स्वात्मप्रकाशिका १४)

घटका प्रकाशक सूर्य है, किंतु घटके नाश होनेपर जैसे सूर्यका नाश नहीं होता, वैसे ही देहका प्रकाशक साक्षी (आत्मा) भी देहका नाश होनेपर नष्ट नहीं होता।

न हि प्रपञ्चो न हि भूतजातं
न चेन्द्रियं प्राणगणो न देहः।
न बुद्धिचित्तं न मनो न कर्ता
ब्रह्मैव सत्यं परमात्मरूपम्॥

(स्वात्मप्रकाशिका १७)

यह जगत् [सत्य] नहीं है, प्राणिसमूह नहीं है, इन्द्रिय नहीं है, प्राण [सत्य] नहीं है, देह नहीं है, बुद्धि-चित्त नहीं है, मन नहीं है, अहंकार नहीं है, परमात्मस्वरूप ब्रह्म ही सत्य है।

ब्रह्म-प्राप्तिके साधन

विवेकिनो विरक्तस्य शमादिगुणशालिनः।
मुमुक्षोरेव हि ब्रह्मजिज्ञासायोग्यता मता॥

(विवेकचूडामणि १७)

जो सदसद्विवेकी, वैराग्यवान्, शम-दमादि षट्सम्पत्तियुक्त और मुमुक्षु है [illegible] ब्रह्मजिज्ञासाकी योग्यता मानी गयी है।

वैराग्यं च मुमुक्षुत्वं तीव्रं यस्य तु विद्यते।
तस्मिन्नेवार्थवन्तः स्युः फलवन्तः शमादयः॥

(विवेकचूडामणि [illegible])

[illegible] वैराग्य और मुमुक्षुत्व तीव्र होते हैं [illegible] [illegible] और [illegible] होते हैं।

[illegible]
[illegible]॥

([illegible])

मुक्तिकी कारणरूप सामग्रीमें भक्ति ही सबसे बढ़कर है और अपने वास्तविक स्वरूपका अनुसंधान करना ही भक्ति कहलाती है।

अनात्मचिन्तनं त्यक्त्वा कश्मलं दुःखकारणम्।
चिन्तयात्मानमानन्दरूपं यन्मुक्तिकारणम्॥

(विवेकचूडामणि ३८०)

अनात्मपदार्थोंका चिन्तन मोहमय है और दुःखका कारण है। उसका त्याग करके मुक्तिके कारण आनन्दरूप आत्माका चिन्तन करो।

भगवान् श्रीकृष्णका स्वरूप

कन्दर्पकोटिसुभगं वाञ्छितफलदं दयार्णवं कृष्णम्।
त्यक्त्वा कमन्यविषयं नेत्रयुगं द्रष्टुमुत्सहते॥
पुण्यतमाममतिसुरसां मनोऽभिरामां हरेः कथां त्यक्त्वा।
श्रोतुं श्रवणद्वन्द्वं ग्राम्यं कथमादरं वहति॥
दौर्भाग्यमिन्द्रियाणां कृष्णे विषये हि शाश्वतिके।
क्षणिकेषु पापकरणेष्वपि सज्जन्ते यदन्यविषयेषु॥

(प्रबोधसुधाकर १९१–१९३)

जो करोड़ों कामदेवोंसे भी सुन्दर हैं, वाञ्छित फलदाता हैं, उन दयासागर श्रीकृष्णको छोड़कर ये युगल नेत्र और किस विषयका दर्शन करनेको उत्सुक हैं? अति पवित्र, अति सुन्दर और सरस हरि-कथाको छोड़कर ये कर्णयुगल सांसारिक विषयोंकी चर्चा सुननेको क्यों श्रद्धा प्रकट करते हैं? सदा विद्यमान श्रीकृष्णरूपी विषयके रहते हुए भी पापके साधन अन्य क्षणिक विषयोंमें जो इन्द्रियाँ आसक्त होती हैं, यह इनका दुर्भाग्य ही है।

ब्रह्माण्डानि बहूनि पङ्कजभवान् प्रत्यण्डमत्यद्भुतान्
गोपान् वत्सयुतानदर्शयदजं विष्णूनशेषांश्च यः।
शम्भुर्यच्चरणोदकं स्वशिरसा धत्ते च मूर्तित्रयात्
कृष्णो वै पृथगस्ति कोऽप्यविकृतः सच्चिन्मयो नीलिमा॥

([illegible])

जिसने ब्रह्माजीको अनेक ब्रह्माण्ड और [illegible] [illegible] पृथक्-पृथक् अति विचित्र ब्रह्मा [illegible] [illegible] और समस्त विष्णु [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

निर्विकार नीलिमा है।

चित्तको प्रबोध

चतश्चञ्चलता विहाय पुरत सधाय कोटिद्वय
तत्रैकत्र निधेहि सर्वविषयानन्यत्र च श्रीपतिम्।
विश्रान्तिर्हितमप्यहो क्व नु तयोर्मध्य तदालोच्यता
युक्त्या वानुभवन यत्र परमानन्दश्च तत्सव्यताम्॥
पुत्रान् पौत्रमथ स्त्रियोऽन्ययुवतीर्वित्तान्यथोऽन्यद्धन
भोज्यादिष्वपि तारतम्यवशतो नाल समुत्कण्ठया।
नैतादृग्यदुनायके समुदित चतस्यनन्त विभौ
सान्द्रानन्दसुधार्णव विहरति स्वैर यता निर्भयम्॥
काम्योपासनयार्थयन्त्यनुदिन केचित् फल स्वेप्सित
केचित् स्वर्गमथापवर्गमपरे यागादियज्ञादिभि ।
अस्माक यदुनन्दनाङ्घ्रियुगलध्यानावधानार्थिना
कि लाकेन दमन कि नृपतिना स्वगापवर्गैश्च किम्॥
आश्रितमात्र पुरुष स्वाभिमुख कर्षति श्रीश ।
लोहमपि चुम्बकाश्मा सम्मुखमात्र जड यद्वत्॥
अयमुत्तमोऽयमधमो जात्या रूपण सम्पदा वयसा।
श्लाघ्योऽश्लाघ्यो वेत्थ न वेत्ति भगवाननुग्रहावसरे॥
(प्रबोधसुधाकर २४८—२५२)

अर चित्त! चञ्चलताका छाडकर सामने तराजूके दोना पलडामस एकम सब विषयाका और दूसरेम भगवान् श्रीपतिको रख और इसका विचार कर कि दानाक बीचम विश्राम और हित किसमे है? फिर युक्ति आर अनुभवसे जहाँ परमानन्द मिल, उसीका सवन कर। पुत्र पौत्र स्त्रियाँ, अन्य युवतियाँ अपना धन, पर-धन और भाज्यादि पदार्थोंम न्यूनाधिक भाव हानेसे कभी इच्छा शान्त नहीं होती, किंतु जब घनानन्दामृतसिन्धु विभु यदुनायक श्रीकृष्ण चित्तम प्रकट हाकर इच्छापूर्वक विहार करत हैं, तब यह बात नहीं रहती, क्याकि उस समय चित्त स्वच्छन्द एव निर्भय हो जाता है। कुछ लोग प्रतिदिन सकाम उपासनासे मनोवाञ्छित फलकी प्रार्थना करत हैं और काई यज्ञादिस स्वर्ग और यागादिसे माक्षकी कामना करत हैं, किंतु यदुनन्दनके चरणयुगलाक ध्यानम सावधान रहनेके इच्छुक हम लाक, इन्द्रिय-निग्रह, राजा स्वर्ग ओर माक्षसे क्या प्रयाजन है? श्रीपति श्रीकृष्ण अपने आश्रित पुरुषको अपनी आर वैसे ही खींचते ह, जैस सामन आय हुए जड लाहका चुम्बक अपना ओर खींचता ह। कृपा करते समय भगवान् यह नहीं विचार करते कि जाति, रूप धन और आयुस यह उत्तम ह या अधम स्तुत्य है या निन्द्य!

मणिरत्नमालाके और प्रश्नोत्तररत्नमालिकाके कुछ प्रश्नोत्तरोका अनुवाद

बद्ध कौन है? विषयासक्त। मुक्ति क्या है? विषयाम विराग। भयानक नरक क्या है? अपना दह (दहासक्ति)। स्वर्ग क्या है? तृष्णाका क्षय।

ससार-बन्धन किससे कटता हे? श्रुतिजनित आत्मज्ञानसे। मुक्तिका हेतु क्या ह? पूर्वोक्त आत्मज्ञान। नरकका एकमात्र द्वार क्या है? नारी (कामासक्ति—पुरुषकी नारीम आर नारीकी पुरुषम)। स्वर्गकी प्राप्ति किसस होती ह? जीवाका अहिंसासे।

सुखसे कौन सोता है? समाधिनिष्ठ (परमात्माम निरुद्ध-चित्त)। जाग्रत् कौन ह? सत्-असत्का विवकी। शत्रु कौन हैं? अपनी इन्द्रियाँ परतु जीत लेनपर व ही मित्र बन जाती हैं।

दरिद्र कौन है? जिसकी तृष्णा बढी हुई ह। श्रीमान् (धनी) कौन है? जो पूर्ण सतोषी हे। जीता ही कौन मर चुका है? उद्यमहीन। अमृत (जीवित) कौन हे? जो (भागासे) निराश है।

फाँसी क्या हे? ममता और अभिमान। मदिरा-सी मोहित कौन करती है? नारी (कामासक्ति)। महान् अन्धा कौन है? कामातुर। मृत्यु क्या है? अपना अपयश।

गुरु कौन है? जो हितोपदेश करता ह। शिष्य कान है? जो गुरुका भक्त है। लबा रोग क्या हे? भव-राग। उसे मिटानेकी दवा क्या है? असत्-सत्का विचार।

भूषणामे उत्तम भूषण क्या हे? सच्चरित्रता। परम तीर्थ क्या है? अपना विशुद्ध मन। कौन वस्तु हय हे? कामिनी-काञ्चन। सदा क्या सुनना चाहिये? गुरुका उपदेश ओर वेदवाक्य। ब्रह्म-प्राप्तिके उपाय क्या है? सत्सङ्ग, दान, विचार ओर सतोष। सत कौन हैं? जो समस्त विषयास वीतराग हैं, माहरहित हे ओर शिवस्वरूप ब्रह्मतत्त्वम निष्ठावान् हे। प्राणियाका ज्वर क्या है? चिन्ता। मूर्ख कोन है? विवेकहीन। किसको प्रिय बनाना ह? शिव-विष्णु-भक्तिको। यथार्थ जीवन क्या ह? जो दोषवर्जित ह।

विद्या क्या है? जो ब्रह्मकी प्राप्ति कराती ह। ज्ञान किस कहत हैं? जा मुक्तिका हेतु है। लाभ क्या ह? आत्मज्ञान। जगत्को किसने जीता हे? जिसने मनका जीत लिया।

वीरामे महावीर कौन है? जो कामबाणस पीडित नहीं होता। समतावान्, धीर और प्राज्ञ कौन ह? जा ललना-कटाक्षसे माहित नहा होता।

विपका भी विष क्या है? समस्त विपय। सदा दु खी कोन ह? विपयानुरागी। धन्य कान हैं? परापकारी। पूजनीय कोन ह? शिव-तत्त्वम निष्ठावान्।

सभी अवस्थाआम क्या नहीं करना चाहिय? [विपयामें] स्नेह ओर पाप। विद्वानाका प्रयत्नक साथ क्या करना चाहिये? शास्त्र-पठन आर धर्म। ससारका मूल क्या हैं? [विपय-] चिन्ता।

किसका सङ्ग आर किसके साथ निवास नहीं करना चाहिय? मूख, पापा, नाच और खलका सङ्ग तथा उनक साथ निवास नहीं करना चाहिय। मुमुक्षु व्यक्तियाका शीघ्र-स-शीघ्र क्या करना चाहिय? सत्सङ्ग, निर्ममता और ईश्वरभक्ति।

हीनताका मूल क्या है? याचना। महत्त्वका मूल क्या ह? अयाचना। किसका जन्म सार्थक हैं? जिसका पुनर्जन्म न हा। अमर कान हे? जिसकी फिर मृत्यु न हा।

शत्रुआम महाशत्रु कोन ह? काम क्राध असत्य लोभ आर तृष्णा। विपयभागस तृप्त कान नहीं हाता? कामी। दु खका कारण क्या ह? ममता।

मृत्यु समीप होनपर बुद्धिमान् पुरपका क्या करना चाहिय? तन, मन और वचनक द्वारा यमके भयका निवारण करनवाले सुखदायक श्रीहरिके चरणकमलाका चिन्तन।

दिन-रात ध्येय क्या है? ससारकी अनित्यता आर आत्मस्वरूप शिवतत्त्व। कर्म किसे कहत है? जा श्रीकृष्णक लिय प्रीतिकर हा। सदा किसम अनास्था करनी चाहय? भव-समुद्रम।

मार्गका पाथेय क्या है? धर्म। पवित्र कौन है? जिसका मन पवित्र है। पण्डित कौन है? विवकी। विप क्या ह? गुरुजना (बडा)-का अपमान।

मदिराके समान माहजनक क्या है? स्नह। डाकू कौन है? विपय-समूह। ससार-बल क्या है? विपय-तृष्णा। शत्रु कौन है? उद्यागका अभाव (अकर्मण्यता)।

कमल-पत्रपर स्थित जलकी तरह चञ्चल क्या ह? योवन धन ओर आयु। चन्द्र-किरणाक समान निमल कान है? सत-महात्मा।

नरक क्या ह? परवशता। सुख क्या हे? समस्त सङ्गाका त्याग। सत्य क्या है? जिसक द्वारा प्राणियाका हित हा। प्राणियाक प्रिय क्या हैं? प्राण।

[यथार्थ] दान क्या हैं? कामनारहित दान। मित्र कान हैं? जा पापस हटाय। आभूपण क्या हैं? शाल। वाणाका भूपण क्या हैं? सत्य।

अनर्थकारी कौन है? मान। सुखदायक कान है? सज्जनाकी मित्रता। समस्त व्यसनाक नाशम कान समर्थ है? सर्वदा त्यागी।

अन्धा कौन ह? जा अकत्तव्यम लिप्त ह। वहरा कौन है? जा हितकी वात नहीं सुनता। गूँगा कौन है? जा प्रिय वचन वालना नहीं जानता।

मरण क्या है? मूर्खता। अमूल्य वस्तु क्या ह? उपयुक्त अवसरका दान। मरत समयतक क्या चुभता है? गुप्त पाप। साधु कौन है? सच्चरित्रवान्। अधम कौन है? चरित्रहीन। जगत्का जीतनम समर्थ कौन है? सत्यनिष्ठ आर सहनशील (क्षमावान्)। शाचनीय क्या ह? धन हानपर भी कृपणता। प्रशसनीय क्या है? उदारता। पण्डितामें पूजनाय कौन ह? सदा स्वाभाविक विनयशील।

तमागुणरहित पुरुप वार-वार जिसका वखान करते हैं वह 'चतुर्भद्र' क्या ह? प्रिय वचनके साथ दान गर्वरहित ज्ञान, क्षमायुक्त शूरता और त्यागयुक्त धन—यह दुर्लभ चतुर्भद्र है।

रात-दिन ध्येय क्या ह? भगवच्चरण, न कि ससार। आँख हात हुए भी अन्धे कौन हैं? नास्तिक।

पुरपाका सदा किसका स्मरण करना चाहिय? हरिनामका। सद्बुद्धियुक्त पुरुपाका क्या नहीं कहना चाहिय? पराया दाप तथा मिथ्या वात।

मुक्ति किससे मिलती हे? मुकुन्द-भक्तिसे। मुकुन्द कौन ह? जा अविद्यास तार दता है। अविद्या क्या है? आत्माका स्फूर्तिका न हाना।

मायी कौन ह? परमेश्वर। इन्द्रजालकी तरह क्या वस्तु ह? जगत्प्रपञ्च। स्वप्नतुल्य क्या हे? जाग्रत्का व्यवहार। सत्य क्या ह? ब्रह्म।

प्रत्यक्ष देवता कोन ह? माता। पूज्य और गुरु कान ह? पिता। सर्वदवतास्वरूप कौन है? विद्या और कर्मसे युक्त ब्राह्मण।

भगवद्भक्तिका फल क्या है? भगवद्धामकी प्राप्ति या स्वरूप-साक्षात्कार। माक्ष क्या है? अविद्याकी निवृत्ति। समस्त वेदाम प्रधान क्या ह? ॐकार।

भगवान् बुद्धके नीति-वचन

यहाँ (ससारमे) वैरसे वैर कभी शान्त नहीं होता, अवैरसे ही शान्त होता है, यही सनातन धर्म (नियम) है। (धम्मपद १।५)

अन्य (अज्ञ लाग) नहीं जानते कि हम इस (ससार)-से जानेवाले ह। जो इसे जानते हैं, फिर उनके मनके (सभी) विकार शान्त हो जाते हैं। (धम्मपद १।६)

[जो] उद्योगी, सचेत, शुचि कर्मवाला तथा सोचकर काम करनेवाला है और सयत, धर्मानुसार जीविकावाला एव अप्रमादी है, [उसका] यश बढता ह। (धम्मपद २।४)

प्रमादम मत फँसो, कामामे रत मत होओ, काम-रतिम लिप्त मत हाओ। प्रमादरहित [पुरुष] ध्यानद्वारा महान् सुखको प्राप्त होता है। (धम्मपद २।७)

अहो! यह तुच्छ शरीर शीघ्र ही चेतनारहित हो निरर्थक काठकी भाँति पृथ्वीपर पडा रहगा। (धम्मपद ३।९)

इस कायाको फेनके समान जानो या [मरु] मरीचिकाके समान मानो। फदेका तोडकर यमराजको फिर न देखनेवाले बनो। (धम्मपद ४।३)

ताजे दूधकी भाँति किया पापकर्म [तुरत] विकार नहीं लाता, वह भस्मसे ढकी आगकी भाँति दग्ध करता, अज्ञ-जनका पीछा करता है। (धम्मपद ५।१२)

दुष्ट मित्रोका सेवन न करे, न अधम पुरुषोका सेवन करे। अच्छे मित्रोका सेवन करे, उत्तम पुरुषाका सवन करे। (धम्मपद ६।३)

जैसे ठोस पहाड हवासे कम्पायमान नहीं होता, ऐसे ही पण्डित निन्दा और प्रशसासे विचलित नहीं होते। (धम्मपद ६।६)

सारथिद्वारा सुदान्त (सुशिक्षित) अश्वोकी भाँति जिसकी इन्द्रियाँ शान्त है, जिसका अभिमान नष्ट हो गया है, [और] जो आस्रवरहित है, ऐसे उस (पुरुष)-की देवता भी स्पृहा करत हैं। (धम्मपद ७।५)

यदि पुरुष [कभी] पाप कर डाले तो उसे पुन-पुन न करे, उसमे रत न हो [क्याकि] पापका सचय दु ख [-का कारण] होता है। (धम्मपद ९।२)

यदि पुरुष पुण्य करे तो उसे पुन-पुन करे उसम रत हो, [क्याकि] पुण्यका सचय सुखकर होता है। (धम्मपद ९।३)

कठोर वचन न बोलो, बोलनेपर दूसर भी [वैसे ही] तुम्हें बोलगे, दुर्वचन दु खदायक [होते हैं], [बोलनसे] बदलेम तुम्ह दण्ड मिलेगा। टूटा काँसा जैसे नि शब्द रहता है, [वैसे] यदि तुम अपनको [नि शब्द] रखो तो तुमने निर्वाणको पा लिया, तुम्हारे लिये कलह (हिसा) नहीं रहा। (धम्मपद १०।६)

पाप-कर्म करते समय मूढ (पुरुष उसे) नहीं जानता, पीछे दुर्बुद्धि अपने ही कर्मोके कारण आगसे जलेकी भाँति अनुताप करता है। (धम्मपद १०।८)

जिस पुरुषकी आकाङ्क्षाएँ समाप्त नही हो गयीं, उसकी शुद्धि न नगे रहनेसे न जटासे न पङ्क [लपेटने]-से, न फाका (उपवास) करनेसे, न कडी भूमिपर सोनेस, न धूल लपेटनेसे और न ठकडूँ बैठनेसे होती है। (धम्मपद १०।१३)

पाप (नीच धर्म)-का सेवन न करे, प्रमादसे लिप्त न हो, झूठी धारणाका सेवन न करे, [आदमीका] लोक (जन्म-मरण)-वर्धक नहीं बनना चाहिये। (धम्मपद १३।१)

उत्साही बने, आलसी न बने, सुचरित धर्मका आचरण करे, धर्मचारी [पुरुष] इस लोक और परलोकम सुखपूर्वक सोता है। सुचरित धर्मका आचरण करे दुश्चरित कर्म (धर्म)-का सेवन न करे। (धम्मपद १३।३)

धर्मचारी पुरुष जैसे बुलबुलेको दखता है, जेसे [मरु-] मरीचिकाका देखता है, लोकको वैसे ही जो (पुरुष) देखता हे, उसकी ओर यमराज [आँख उठाकर] नहीं देख सकता। (धम्मपद १३।४)

यदि कहापणो (रुपया)-की वषा हो तो भी [मनुष्यकी] कामों (भोगों)-से तृप्ति नहीं हो सकती। [सभी] काम (भाग) अल्प-स्वाद [और] दु खद हैं, यो जानकर पण्डित देवताओके भोगाम भी रति नहीं करता, और सम्यक्-सम्बुद्ध (बुद्ध)-का श्रावक (अनुयायी) तृष्णाका नाश करनेम लगता है। (धम्मपद १४।९)

रागके समान अग्नि नहीं, द्वेपके समान मल नहीं, [पाँच] स्कन्धा* के समान दु ख नहीं, शान्तिस बढकर सुख नहीं। (धम्मपद १५।७)

* रूप, वेदना सज्ञा सस्कार तथा विज्ञान—ये पाँच स्कन्ध हैं। वेदना सज्ञा और सस्कार विज्ञानके अदर हैं। पृथ्वी जल अग्नि वायु ही रूप स्कन्ध है। जिसमे न भारीपन है और जो न जगह घेरता है वह विज्ञान-स्कन्ध है। रूप (Matter) और विज्ञान (Mind)—इन्हींक मलस सारा ससार बना है।

प्रिय [वस्तु]-से शाक उत्पन्न हाता है, प्रियस भय उत्पन्न होता है, प्रिय (-के बन्धन)-से जो मुक्त है, उसे शोक नहीं है, फिर भय कहाँसे [हो] ? (धम्मपद १६।५)

कामस शाक उत्पन्न हाता ह। (धम्मपद १६।७)

जो चढे क्रोधको भ्रमण करते रथकी भाँति पकड ले, उसे मैं सारथि कहता हूँ, दूसरे लोग लगाम पकडनेवाले (मात्र) हैं। (धम्मपद १७।२)

क्राधका अक्रोधस जीते, असाधुका साधु (भलाई)-से जीते, कृपणको दानसे जीते झूठ बालनवालेको सत्यस [जीते]। (धम्मपद १७।३)

सच बोले, क्रोध न करे, थोडा भी माँगनेपर द, इन तीन बातासे [पुरुष] देवताआके पास जाता है। (धम्मपद १७।४)

एक ही आसन रखनेवाला, एक शय्या रखनेवाला अकेला विचरनेवाला [बन] आलस्यरहित हा, अपनेको दमन कर अकेला ही वनान्तम रमण करे। (धम्मपद २१।१६)

तृष्णाके पीछे पडे प्राणी बँधे खरगोशकी भाँति चक्कर काटते हैं, सयोजनो (मनके बन्धनो)-म फँसे [जन] पुन - पुन चिरकालतक दु ख पात हैं। (धम्मपद २४।९)

~~~~

भगवान् महावीरके नीतिविषयक उपदेश

१-सब जीवाक साथ सयमपूर्वक व्यवहार तथा आपसी व्यवहारम समभाव रखना ही निपुण (तेजस्वी) अहिसा है। वही सब सुख दनवाली है।

२-परिगही मनुष्य स्वय प्राणियाको हिसा करता है, दूसरोसे हिसा करवाता है और हिसा करनेवालोका अनुमादन करता है। वह ससारमे अपने लिये वैर ही बढाता है।

३-अपने लिये अथवा दूसरोके लिये क्राध या भयसे, कभी भी दूसरोको पीडा पहुँचानवाला असत्य न तो स्वय बालना चाहिये और न दूसरासे बुलवाना चाहिये।

४-मृषावाद ससारम सभी सत्पुरुषाद्वारा निन्दित माना गया है। वह सभीके लिये अविश्वसनीय है। इसलिये मृषावाद छोड ही देना चाहिये।

५-पदार्थ सचतन हो या अचतन, अल्पमूल्य हो या बहुमूल्य, और तो और दाँत कुरदनेकी सींक तक जिस गृहस्थक अधिकारम हा, उसकी आज्ञा लिय बिना सयमी साधक न तो स्वय ग्रहण करते हैं न दूसराका ग्रहण करनक लिये प्ररित करत हैं न ग्रहण करनवालाका अनुमादन ही करत हैं।

६-अब्रह्मचय अधमका मूल है, महादाषाका स्थान है इसलिय अब्रह्मचर्यका सवथा परित्याग करना चाहिये।

७-जैसे भौंरा पुष्पासे रस ग्रहणकर अपनका तृप्त तो करता है पर पुष्पाका तकलाफ बिलकुल नहीं हाता है एसे ही सन्यासी या गृहस्थ जगत्के लिये अन्य सहयागियो या सहकर्मियासे ऐसा व्यवहार करे कि उनको बिलकुल तकलीफ न हो (यही समतामूलक समाज-व्यवस्था है)।

८-वृक्षके मूलसे सबसे पहले स्कन्ध पदा होता है, स्कन्धसे शाखाएँ और शाखाआसे दूसरी छोटी-छोटी प्रशाखाएँ निकलती है। छोटी शाखाओसे पत्त पैदा होते हैं। इसके बाद क्रमश फूल, फल और रस उत्पन्न हात हैं। इसी तरह धर्मका मूल विनय है और उसका अन्तिम रस है मोक्ष। विनयके द्वारा ही मनुष्य शीघ्र शास्त्रज्ञान प्राप्त करता तथा कीर्ति-सम्पादन करता है। अन्तम मुक्ति भी इसीस प्राप्त हाती है।

९-आठ कारणासे मनुष्य शिक्षाशील कहलाता है—हर समय हँसनेवाला न हो सतत इन्द्रियनिग्रही हा, मर्मभेदी वचन न बोलता हो, सुशील हो, अस्थिराचारी न हो, रसलालुप न हो, सत्यम रत हो क्रोधी न हो—शान्त हो।

१०-अविनीतको विपत्ति प्राप्त होती है और विनीतको सम्पत्ति—य दाना बात जिसन जान ली हैं, वही शिक्षाको प्राप्त कर सकता है।

११-जा मनुष्य निष्कपट तथा सरल हाता है, उसीका आत्मा शुद्ध होता है। जिसका आत्मा शुद्ध हाता है उसीके पास धर्म टिकता है। घीसे सिंचित अग्नि जैसे पूर्ण प्रकाश पाता है वैसे हा सरल और शुद्ध साधक पूर्ण निर्वाणको प्राप्त करता है। (महावीर-वाणी)

~~~~
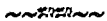
गुरु नानकदेवकी शिक्षा-नीति

सिखपथके आदिगुरु नानकदेवने प्रत्येक मानवके लिये आध्यात्मिक शिक्षाकी प्राप्तिपर बल दिया है। उन्हाने तो यहाँ तक कहा है कि आध्यात्मिक शिक्षाके अतिरिक्त और कुछ पढना निरर्थक है—

पढ़ि-पढि गडी लदी अहि पढि-पढि भरी अहि साथ।

(श्रीगु०ग्र०सा० म० १ पृ० ४६७)

अर्थात् मनुष्य पढ-पढकर पुस्तकाकी चाह गाडियाँ अथवा काफिले लाद ले, चाहे नाव भर ले, चाहे जावनपर्यन्त और अन्तिम श्वासोतक पढता रहे, परतु वास्तवम परमात्माकी प्राप्तिक लिये तो केवल नाम-साधनाकी बात ही महत्त्वपूर्ण है। यही उचित शिक्षा है, शप सभी तो अहकारम अपना सिर खपाना है।

पढि-पढि पडित बाद बखाणै भीतरि होदी बसतु न जाणै।

(श्रीगु०ग्र०सा० म० १ पृ० १५२)

पण्डित लाग पढ-पढकर तर्क-वितर्कपूर्वक व्याख्या करते हैं, किंतु भीतरी तत्त्वरूपी वस्तुको नहीं पहचानते। उन्होने तो यहाँ तक कहा है कि—

पढिआ मूरख आखिए जिस लबु लोभ अहकारा।

(श्रीगु०ग्र०सा० करपउदी ६)

जिस व्यक्तिम लोभ और अहकार आदि विकार हैं उस पढे हुए व्यक्तिको भी मूर्ख कहना चाहिये। गुरुद्वारा दी हुई शिक्षापर विचार करके केवल नामको ही पढना चाहिये और इसीपर चिन्तन करना चाहिये।

विदिआ विचारी ता पर उपकारी।

(श्रागु०ग्र०सा० म० १ पृ० ३५६)

ब्रह्मविद्यापर विचार करनेसे ही मनुष्य परोपकारी बन सकता है।

ब्रह्म ज्ञान बूझे जो कोई पढि आ पडित साई।

(श्रीगु०ग्र०सा० आशापदी ४)

वही वास्तविक रूपम पढा-लिखा पण्डित माना जायगा जो ब्रह्मज्ञानको जानता हागा।

गुरु नानकने ज्ञान देनेवाले—शिक्षा देनवालके गुणापर भी प्रकाश डाला है। उनके अनुसार उस उपाध्यायको वास्तविक रूपम पढा हुआ कहना चाहिये जा ब्रह्मविद्याके अध्ययनद्वारा सत्यकी प्राप्ति करे आर राम-नामम दिल लगाये—

पाधा पढिया आखीए विदिआ विचार सहजि सुभाई।

(श्रीगु०ग्र०सा० रामकली म० १ पृ० ९३७)

वही शिक्षक वास्तविक शिक्षक है जो अपने जिज्ञासु शिष्योको सही मत देता है कि नामका स्मरण आर सग्रह करके जगत्‌म लाभ प्राप्त करना चाहिये, क्याकि इससे वढकर ससारमे अन्य काई लाभ नहीं है। मनम सत्यका होना ही शिक्षाकी सच्ची प्रतिष्ठा है। शब्दका मनन करना ही श्रेष्ठ पढना है। वही व्यक्ति पढा-लिखा और समझदार है जिसके गलेमे राम-नामका हार है—

नानक सो पढिया सो पडितु बीना जिसु राम नामु गति हारन।

(श्रीगु०ग्र०सा० रामकली म० १ पृ० ९३८)

इतना ही नहीं, गुरु नानकदेवजी महाराजन आदर्श विद्यार्थीके स्वरूपपर भी पूर्णत प्रकाश डाला है। पापासे भय सतोष एव सयमको धारण करना आदि उसके चरित्रगत प्रमुख गुण हैं—

सति गुरु दखिया दीखि आसीनी।
मनु तनु अरपिओ अतरगति कीनी॥

(श्रीगु०ग्र०सा० गउदी-१५)

गुरुकी दीखिआ स सचि राते।
नानक आपु गवाई मिलण नहि भाते॥

(श्रीगु०ग्र०सा० म० १ पृ० ९४४)

भिखिया भाई भगति भै चलै।
होव सु तृपति सतोखि अमुलै॥

(श्रीगु०ग्र०सा० म० १ पृ० ८७७)

कहनका तात्पर्य यह है कि गुरु नानकदवन आध्यात्मिक शिक्षा अथवा ब्रह्मज्ञानको अधिक महत्त्व दिया है, क्याकि ऐसी नीति-शिक्षाम कीर्ति आर मानव-मङ्गलका प्रमुख स्थान है। आजकी इस विपम परिस्थितिम जहाँ नयी शिक्षा-नीतिम आध्यात्मिक शिक्षा नहींके बराबर है तथा जिसके चलते हमारा नैतिक एव आध्यात्मिक पतन हा रहा है गुरु नानकदेवकी शिक्षाके नैतिक सिद्धान्त अत्यन्त ही लाभप्रद सिद्ध हागे। (प्रो० श्रीलालमाहरजी उपाध्याय)

'नीतिमान् बनो'

[सब बाते मानो, पर धर्मविरुद्ध बाते मत मानो]

(भगवत्पूज्यपाद अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शकराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर ब्रह्मलीन स्वामी श्रीब्रह्मानन्द सरस्वतीजी महाराजके उपदेश)

१ पहले अपनेको सुधारो, फिर दूसरेकी चिन्ता करो।

२ धर्म इन्द्रियोपर नियन्त्रण करता है, इसीलिये इन्द्रियोके गुलाम धर्मको हौआ समझते हैं।

३ धर्मका मार्ग प्रत्येक क्षेत्रमे स्थायी सफलताका मार्ग है।

४ धर्मका खण्डन करनेवाला सबके हितका विरोधी है।

५ एक (भगवान्)-को दृढतासे पकड लो तो किसी औरकी खुशामद नहीं करनी पडेगी।

६ दुर्जनके लिये दुर्जन मत बनो। दुर्जनकी दुर्जनताको अपनी सज्जनतासे दबाओ।

७ सिद्धियोके चक्करमे ठोकर खाते मत फिरो। भगवद्भजन करो, सिद्धियाँ स्वय तुम्हारे चरणोमे ठोकर खायेगी। पराधीनताका नहीं, स्वाधीनताका मार्ग अपनाओ।

८ परमार्थका मार्ग व्यवहारसे ही होकर जाता है। इसलिये व्यवहारको शास्त्र-मर्यादाके अनुसार बनाओ। व्यवहार अमर्यादित हुआ तो परमार्थका पता नहीं चलेगा।

९ परमात्मा व्यापक है तुम्हारे अदर भी है। पासकी चीजको दूर देखोगे तो ढूँढनेमे देर लगेगी।

१० जो काम स्वय कर सको उसीमें हाथ लगाओ। दूसरोके बलपर कोई भी काम उठानेमे अशान्ति ही भोगनी पडेगी।

११ अपनी दिनचर्या ऐसी बनाओ जिससे अनन्त शक्ति और अखण्ड आनन्द प्राप्त हो। ऐसा न करो कि सारी शक्तिका क्षय हो जाय और दु खके पहाडोसे घिर जाओ।

१२ कहीं भी किसी भी परिस्थितिमे रहो मनमे कमजोरी मत आने दो। जहाँ रहो मस्त रहो।

१३ पापियोके ऐश्वर्यको देखकर धर्म-फलमे सदेह मत करो। फाँसीकी सजाका जो मुलज़िम होता है, उसे फाँसीके पहले इच्छानुसार भोग-सामग्री दी जाती है।

१४ कोई गलती हो जाय तो उसे सुधार लेना चाहिये। दुराग्रह करके गलतीका समर्थन करनेसे अनर्थ-परम्परा बढती जायगी और तुम्हारा जीवन नष्ट होगा तथा दूसरोकी भी हानि होगी।

१५ भगवान्का भजन करो पर उनसे कुछ माँगो मत, क्योकि जितना भगवान् दे सकते है उतना तुम माँग ही नहीं सकते। माँगना और देना दोनो अपनी हैसियतके अनुसार होता है। तुम माँगोगे तो अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान् जीवकी हैसियतसे माँगोगे और यदि भगवान् स्वय देगे तो वे सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान्की हैसियतसे देगे। इसलिये इसीमें लाभ है कि शुभ कर्म करो और उसका फल कुछ माँगो मत, भगवान्पर छोड दो जैसा वे चाहे करें।

१६ यदि कोई तुम्हारी निन्दा करे तो भीतर-भीतर प्रसन्न होना चाहिये, उससे शत्रुता नहीं करनी चाहिये, क्योकि निन्दा करके वह तुम्हारा पाप अपने ऊपर ले रहा है—तुम बिना प्रयत्नके ही पापासे मुक्त हो रहे हो। इसलिये निन्दकको परमार्थमें सहायक ही मानना चाहिये। सत कबीर कहते थे—

'निंदक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।'

१७ जिसे आत्मानन्दका अनुभव है, वह विषयानन्दमे नहीं फँसेगा। क्या कोई चक्रवर्ती सम्राट् दो गाँवकी सीरकी इच्छा कर सकता है?

१८ ऐसा करो कि गर्भमे फिर न आना पडे तभी मनुष्य-जन्म सार्थक होगा।

१९ मालीसे सम्बन्ध रखोगे तो पूरी वाटिकासे लाभ उठा सकोगे। भगवान्से सम्बन्ध बना लोगे तो भगवान्की वाटिकारूप यह सारा ससार तुम्हारा हो जायगा।

२० कोई भी काम सोच-समझकर करो, क्योकि साधुवेषमे भी न जाने कितने सी० आइ० डी० के सदस्य और चोर-डाकू भरे पडे हैं, जिनके सम्पर्कसे हानि हो सकती है। इसलिये सतर्क रहना आवश्यक है।

२१ विषयीका सङ्ग साक्षात् विषयसे भी अधिक भयावह है। विषय तो प्रत्यक्षत अग्नि है और विषयी अग्निके सम्पर्कमे रहनेवाले चिमटेके समान है। अग्नि (अङ्गार)-को हाथमे उठाकर जल्दीसे फेक दो तो उतना नहीं जलोगे किंतु यदि चिमटा कहीं छू जाय तो चाहे जितनी जल्दी करो पर फफोला अवश्य पड जायगा। इसलिये चिमटोसे सदा बचते रहो।

२२ पहले तो यही प्रयत्न करना चाहिये कि विषयी और दुर्जनोसे व्यवहार न करना पडे पर यदि कोई काय

आ ही जाय तो उनसे वैसा ही सम्बन्ध रखो जैसा पाखानेसे रखते हो। आवश्यकता पडनेपर पाखानेमे जाते हो, पर काम हुआ कि वहाँसे हटे, जल्दी-से-जल्दी बाहर आनेकी कोशिश करते हो। इसी प्रकार इन लोगोसे काम लेकर जल्दी-से-जल्दी दूर हट जाना चाहिये।

२३ उचित और अनुचितका सदा ध्यान रखो। ऐसा नहीं कि जिसने टुकडा डाल दिया उसीके दरवाजेपर पूँछ हिलाने लगो। उदर-पोषणके लिये अपने भाग्यपर विश्वास रखो। किसीके दबावमे आकर अनुचित कार्य करके पापका सग्रह मत करो, क्योकि जब उस पापका फल तुम्हारे पास आयेगा, तब तुम्हे अकेले ही भोगना पडेगा। उस समय कोई हिस्सा बँटाने नहीं आयगा। इसलिये जो कुछ करो पाप-पुण्यका विचार करके करो। ऐसा बीज मत बोओ जिसमे काँटे फले।

२४ <u>ठगो मत चाहे ठगा जाओ</u>, क्योकि ससारमे हमेशा नहीं रहना है, जाना अवश्य है और साथ कुछ नहीं जायगा—यह भी निश्चित है। यदि किसीको ठग लोगे तो ठगी हुई वस्तु तो नष्ट हो जायगी या यहीं पडी रह जायगी, पर उसका पाप तुम्हारे साथ जायगा और उसका फल भोगना ही पडेगा। यदि तुमको कोई ठग ले तो तुम्हारा भाग्य तो वह ले नहीं जायगा—विचार कर लो कि उसीके भाग्यकी चीज थी, धोखेसे तुम्हारे पास आ गयी थी, अब ठीक अपनी जगह पहुँच गयी या ऐसा सोच लो कि किसी समयका पिछला ऋण उसका तुम्हारे ऊपर था सो अब चुक गया। इस विचारसे ठगानेमे ज्यादा हानि नहीं, ठगनेमे ही ज्यादा है।

२५ सावधान रहो कि कोई काम यहाँ ऐसा न हो जाय जिसके लिये चलते समय पछताना पडे। यदि सतर्क नहीं रहोगे तो नीचे गिरनेसे बच नहीं सकते। ससारका प्रवाह नीचे ही गिरायेगा।

२६ शासन-सत्ताकी सभी बात मानो पर धर्मविरुद्ध बात मत मानो क्योकि—

'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षित ।'

यह स्वाभाविक नियम है कि जो वेद-शास्त्रोक्त धर्मकी अवहेलना करता है, वह नाशको प्राप्त होता है और जो धर्मानुसार आचरण करता है, उसकी रक्षा धर्म करता है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति और समाजके कल्याणकी दृष्टिसे ही हमारा यह कथन है कि कोई भी शासन-सत्ता हो उसकी सब बाते मानो पर धर्मविरुद्ध बातें मत मानो। राष्ट्र तो हमारा है, जहाँतक राष्ट्रकी उन्नतिका प्रश्न है, हम सर्वथा सहमत है, परतु यदि सरकार धर्मका विरोध करनेमे राष्ट्रका हित समझती है तो इतने अशमे हम उससे सहमत नहीं। हम तो यही कहेगे कि जनताको स्वधर्म-पालनमे लगाना भी शासन-सत्ताका ही कार्य है, क्योकि यह नीति है—

'विषये योजयेच्छत्रु मित्र धर्मेण योजयेत्।'

अर्थात् शत्रुको विषयकी ओर प्रवृत्त करो और मित्रको अर्थात् जिसकी भलाई चाहते हो उसे स्वधर्म-पालनमे लगाओ। इसलिये यदि शासनाधिकारी प्रजाकी भलाई चाहते हैं तो उन्हे स्वधर्म-पालनमे प्रोत्साहन देना चाहिये।

२७ धर्महीन शिक्षा ही समाजमे बढते हुए नैतिक पतनका कारण है।

२८ <u>शासन-सत्ता सावधान</u> रहे। भौतिक उन्नतिके लिये प्रयत्नशील होनेके साथ-साथ यदि शिक्षामे धार्मिक, दार्शनिक और यौगिक तत्त्वोका प्राधान्य न किया गया तो लोगोमे केवल अर्थ तथा कामकी प्रवृत्तियाँ ही जागेगी एव समाज तथा राष्ट्रको पशुभावमय भोगप्रधान बनाकर रसातलमे पहुँचा देगी।

२९ मौखिक उपदेश उतना प्रभावशाली और स्थायी नहीं होता जितना चरित्रका आदर्श। इसलिये यदि दूसरोपर प्रभाव रखना चाहते हो तो चरित्रवान् बनो। चरित्र शुद्ध होनेसे सकल्प-बल बढता है और सकल्प-शक्ति ही क्रिया-सिद्धिका कारण होती है—

'क्रियासिद्धि सत्त्वे भवति महता नोपकरणे।'

३० पेटके लिये धर्म मत छोडो, ईश्वरको अधा बनानेका व्यर्थ प्रयास मत करो। चरित्रवान् बनो, पाप करनेसे डरो।

३१ शास्त्र-मर्यादायुक्त रहोगे तो लोकमे ऐसे ही कार्य होगे जो परलोकको उज्ज्वल बना देगे।

३२ राष्ट्रके चरित्र-बलकी वृद्धि और हर प्रकारसे राष्ट्रकी उन्नतिके लिये देशमे धार्मिक शिक्षाकी आवश्यकता है।

३३ मनमे सदा भगवान्का स्मरण रहे और मर्यादाका कभी उल्लङ्घन न हो, यही महात्मापन है।

३४ जगत्-व्यवहारमे केवल कर्तव्यबुद्धि रखो उसमें इष्ट-बुद्धि मत रखो—यानी ससारमे कमल-पत्रवत् बने रहो।

३५ मनसे भी कभी किसीका अनिष्ट-चिन्तन न करो।

३६ मनुष्य-जीवनकी सफलता भगवत्प्राप्तिमे है। यह तन बार-बार मिलनेका नहीं। इसलिये आगेकी यात्राके लिये अभीसे भगवद्भजनरूपी धन साथ ले लो।

धर्म और राजनीति

(ब्रह्मलीन धर्मसम्राट स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

धर्म ओर नीति

अभ्युदयका धारण जिसस हा वही 'धर्म' आर अभ्युदयकी प्राप्ति जिससे हो वही 'नीति' है। फलत दोनाका एक ही अर्थ होता ह। इसलिय कुछ लाग ता नीतिका ही धर्म कहते ह। पर कुछ लोग लाकिक अभ्युदय (उन्नति)-के साधनका 'नीति' आर पारलोकिक उन्नतिक साधनको 'धर्म' कहते ह। धर्म आर नीतिका परस्पर बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। नीतिसे ही शास्त्र ओर धर्म प्रतिष्ठित हाते है, नीतिके विना शास्त्र आर धर्म नष्ट हा जाते ह— '**नश्येत् त्रयी दण्डनीतौ हतायाम्**' नीतिस ही सामाजिक सुव्यवस्था और शान्ति होनपर धर्मक अनुष्ठानमे सुविधा हाती हे तथा धर्म-भावना फेलनेसे ही नीति भी कार्यान्वित एव सफल हाती है।

धर्म नीतिका पति हे

वास्तवमे धर्म नीतिका पति है। उससे विरहित होकर नीति विधवा है। बिना धर्मरूप पतिके विधवा नीति पुत्रोत्पादन नहीं कर सकती। उसम फलोत्पादनकी क्षमता नहीं रहती। वैधव्यम वह केवल बिलबिलाती है, असफल होकर विलाप करती है। धर्मविरुद्ध नीति कहीं तत्काल अभ्युदयका साधन प्रतीत हाती हुइ भी परिणामम अहितकारिणी ही सिद्ध हाती हैं। दुष्परिणाम-शून्य वास्तविक अभ्युदयके साधनका ही नीति कहा जा सकता हैं। जो परिणाममे अनिष्टकर हा वह सच्चा अभ्युदय नहीं कवल अभ्युदयाभास हैं, अत उसका साधन भी नीति नहीं, कवल नीत्याभास हैं। अथानुबन्ध तथा धर्मानुबन्ध अभ्युदय ही सच्चा अभ्युदय हैं। विषस मिला हुआ मधुर पक्कान्न सेवनम तात्कालिक आनन्द दनवाला हानपर भी मृत्युका कारण हाता है, यह स्पष्ट हा हैं। धमविहीन नाति आरम्भम भले ही चमत्कारिक सफलता दिखलाय पर अन्तम वह पतनकी आर ही ले जायगा। समस्त महाभारत इसका ज्वलन्त उदाहरण है। धमविरुद्ध कूटनीतिका अनुसरण करक दुर्योधनका चौदह वपक लिय अतुल साम्राज्यका उपभाग मिल गया पर अन्तम पूर्ण पतन हा हुआ। धर्म-नातिका अनुगामी बनकर युधिष्ठिरका चौदह वर्ष वनाम भटकना पडा पर अन्तम साम्राज्य—सिंहासन प्राप्त हुआ। इतिहास-पुराणाम सवत्र यही दिखलाया गया है कि '**यतो धर्मस्ततो जय**' अथात् जहाँ धर्म होता है विजय वहीं होती हे।

स्वतन्त्रताका प्राण—आध्यात्मिकता

आध्यात्मिक, धार्मिक सास्कृतिक स्वतन्त्रताके बिना भातिक स्वतन्त्रता बिना प्राणकी अर्थात् मृतप्राय होती है। प्राय विजता लोग विजित राष्ट्रकी केवल भौतिक परतन्त्रतासे ही सतुष्ट नहीं होते, अपितु वहाँके दर्शन साहित्य एव इतिहासका नष्ट करके विकृत साहित्य और शिक्षाद्वारा राष्ट्रकी आत्माका भी पराधीन बनानेका प्रयत्न करते हैं। वे समझते हैं कि आध्यात्मिक, सास्कृतिक स्वतन्त्रतावाला देश कभी-न-कभी जागरित होकर भोतिक पराधीनताकी जजार ताड फकता है, परतु आत्मिक, मानसिक दृष्टिसे पराधीन देश रही-सही स्वाधीनताका भी नष्ट कर देता है और सदाके लिय पराधीन हो जाता है, कभी भी उठने लायक नहीं रहता। किसीका मस्तिष्क क्लोरोफॉर्म आदिद्वारा यदि विकृत या नष्ट कर दिया जाय तो फिर भले ही उसे कारागारसे निकाल दिया जाय हथकडी-बेडी काट दी जाय तो भी क्या लाभ? जैसे देहम प्राण होता है, वैसे ही विश्वमे धर्म हाता है। प्राणाक बिना जैसे देह मुरदा होता है, वैसे ही धर्मके बिना विश्व। धर्म ही विश्वकी चतनता है—'**धर्मो विश्वस्य जगत प्रतिष्ठा**'। आचार्य शकर, गोस्वामी तुलसीदास, समर्थ गुरु रामदास आदिके प्रयत्नसे जबतक देशम आध्यात्मिक स्वतन्त्रता, धर्म-भावना थी तबतक भौतिक दृष्टिसे पराधीन होते हुए भी देशम जीवन था। हकीक़त एव गुरु गाविन्द सिहके बच्चो-जैसे हजारो बालक थे, जा सिर कटवा देना पसद करत थे, परतु किसी सुख-सम्पत्ति या राज्यक प्रलोभनसे शिखाके दो बालतक कटवाना पसद नहीं करते थे। दश बराबर वीरताके साथ अपने धर्म और राष्ट्रका रक्षाके लिये दुश्मनाका सफल मुकाबला करता रहा। अग्रजाकी कूटनीतिमय शिक्षा एव साहित्यके द्वारा धर्म तथा सस्कृतिपर भयकर प्रहार हुआ, जिससे दशके युवक अपन पूवजा एव अपन-आपका भूल गये। अग्रेजाकी शिक्षा तथा बिगाड हुए इतिहासस उन्ह अपने हा पूर्वजा आर्यदर्शन साहित्य और इतिहासापर अविश्वास एव उनसे घृणा हा गयी और व अपनका पश्चिमात्तर एशिया या उत्तरी ध्रुवका

निवासी मान बैठे, विदेशी बन गये, जो काम शत्रुओंके करनेका था, स्वयं करने लग गये और हर बात अपने मस्तिष्कसे नहीं प्रत्युत सात समुद्र पारवाले पाश्चात्योंके मस्तिष्कसे सोचने लगे। परिणाम यह हुआ कि आज भले ही अंग्रेज चले गये, परंतु अंग्रेजियतका राज्य भारतीयोंके मस्तिष्कपर ज्यों-का-त्यों कायम है। समझदार व्यक्ति मानते हैं कि यदि अंग्रेज चले गये तो भी गोरे अंग्रेज नहीं तो काले अंग्रेज सही राज्य अंग्रेजोंका ही रहेगा।

अस्तु, स्वतन्त्र विधान स्वतन्त्र संस्कृति, स्वतन्त्र भाषा और स्वतन्त्र परम्पराके अनुसार सब काम होनेसे ही देशकी स्वतन्त्रता समझी जाती है।

वास्तविक स्वतन्त्रताका स्वरूप

अभ्युदय—निःश्रेयसके अनुकूल स्वतन्त्रता ही स्वतन्त्रता है। अभ्युदय—निःश्रेयसके प्रतिकूल स्वतन्त्रता उच्छृङ्खलता है और वह है आत्महत्याके समान, जिसका कोई भी सभ्य समाज आदर नहीं कर सकता। सदाचार मिटाने, दुराचार फैलानेकी स्वतन्त्रता किसी भी देशको अभीष्ट नहीं। जिस स्वतन्त्रतासे सिंह शृगाल और व्याघ्र गर्दभ बन जाय वह वरदान नहीं अभिशाप है। इसी तरह जिस स्वतन्त्रतामें भारत भारत न रह जाय, आर्य अनार्य, हिंदू अहिंदू, वैदिक अवैदिक हो जाय अपनी संस्कृति, अपना धर्म, अपनी भाषा न रह जाय, वह स्वतन्त्रता भी वरदान नहीं प्रत्युत अभिशाप ही है। वेद, महाभारत रामायण आदिके अनुसार धर्मराज्यका एक आदर्श देशके सामने नहीं रखा गया, जिससे गुमराह जनता कहीं कम्युनिज्म तो कहीं सोशलिज्मकी ओर भटक रही है तथा सरकारके लिये विध्वंसात्मक कार्यवाहियोंद्वारा खतरा उत्पन्न कर रही है।

जिस राज्यमें विद्वान् ब्राह्मणके मुकाबले कुत्तेको भी न्याय सुलभ था, जहाँ शासक प्रजाकी रुचिके अनुसार अपनी निष्कलंक त्रैलोक्यसुन्दरी प्राणेश्वरीको भी वनवास दे सकता था जिस रामराज्यमें लोकतन्त्र साम्यतन्त्र, समाजतन्त्रके गुण सब आ जाते थे परंतु दोष कोई भी नहीं आने पाता था, राजा और पूँजीपति ही नहीं वरन् प्रत्येक व्यक्ति जहाँ जनता और राष्ट्रके हितमें अपना सर्वस्व अर्पण करनेके लिये तैयार रहता था, जहाँ देनेवालेकी ओरसे देने एवं लेनेवालेकी ओरसे न लेनेका हठ चलता था, जहाँ आर्थिक असंतुलनका कोई प्रश्न ही नहीं उठता था जहाँ किसी घरमें अन्न-वस्त्रकी बेकारी तथा किसीमें अन्न-वस्त्रके अभावका प्रश्न ही नहीं उठता था—उस रामायणानुसारी रामराज्यके विधानकी उपेक्षा करके 'सेक्युलर' राज्यकी घोषणा करने और धर्मकी उपेक्षाको प्रोत्साहित करनेसे कुछ भी लाभ न होगा।

'सेक्युलर'का अर्थ धर्महीनता नहीं

धर्मनिरपेक्ष राज्य (सेक्युलर स्टेट)-की घोषणासे लोगोंमें एक प्रकारकी भ्रान्ति उत्पन्न हो गयी है। लोगोंका यह ख्याल है कि धर्मनिरपेक्ष राज्यमें शासक और जनताका धर्मसे सम्बन्ध नहीं रहता। इसी कारण आज धर्मके नामसे उन्हें उद्विग्नता होती है। किंतु यह उनकी भूल है। धर्मनिरपेक्ष राज्यका अभिप्राय यह है कि राज्य किसी धर्मके साथ पक्षपात न करे। यदि वहाँका प्राइम मिनिस्टर या गवर्नर जनरल हिंदू हो तो वह स्वयं हिंदू सभ्यता-संस्कृतिका खूब पालन करे, किंतु दूसरे धर्मवालोंके मस्तिष्कमें उसे घुसानेका प्रयत्न न करे। इसी तरह यदि प्राइम मिनिस्टर या गवर्नर जनरल अहिंदू हो तो निःसंदेह वह अपने धर्मकी उन्नति करे पर साथ ही दूसरे धर्मपर आक्रमण न करे। स्वधर्मपालन अपराध नहीं, अपराध तो यह है कि किसी दूसरेके धर्मसे विद्वेष किया जाय। वास्तवमें धर्मनिरपेक्ष राज्य (सेक्युलर स्टेट)-का यही तात्पर्य है।

साम्प्रदायिकता क्या है?

आज लोग धर्मका नाम, हिंदूका नाम सुनते ही नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। कहते हैं कि ये तो साम्प्रदायिक हैं। किंतु 'सम्प्रदाय' शब्दका अर्थ ही बिलकुल गलत लगाया जा रहा है। सम्प्रदाय शब्द संस्कृतका है इसमें हिंसा कहींसे भी नहीं टपकती। किसी भी ज्ञान-उपासना-शिल्प आदिको अनादि-अविच्छिन्न परम्परासे प्राप्तिका नाम ही साम्प्रदायिकता है। एक जज भी फैसला करते समय देखता है कि पहले हाईकोर्टने कैसा फैसला किया है वहाँ भी परम्पराकी रक्षा की जाती है। इंग्लैंडने ऐसा विचार चलाया था कि अंग्रेजी भाषाका सुधार किया जाय उसके शब्दोंमें जो अनर्थक अक्षर हैं उन्हें निकाल दिया जाय जैसे ब्रिजमें 'डी' और लिपिका भी सुधार हो। किंतु वहाँके लोगोंने परम्पराका जोरदार समर्थन किया और कहा कि प्रत्येक अक्षरका अपना-अपना एक इतिहास है। अतः यह सुधार नहीं होना चाहिये। इस तरह वे लोग परम्पराकी रक्षाके

लिये कटिबद्ध है किंतु 'गुर गुड ही रह गये चेला चीनी हो गया' के अनुसार अंग्रेजियतसे भरे हुए लोग हैं जो परम्परा बिलकुल समाप्त कर देना चाहते हैं। आजकल साम्प्रदायिकताका अर्थ समझा जाता है—किसी वर्गविशेषकी किसी विशेष विचारधारामें हठवादिताके कारण दूसरी विचारधारावालोंको मौतके घाट उतार देनेकी दुरभिसन्धि। अन्ताराष्ट्रिय जगत्‌की उन्नतिको खतरेमें डालकर यदि राष्ट्रकी उन्नति की जाती है तो वह राष्ट्रियता भी व्यक्तिवादके समान ही खतरनाक है। यदि यह भावना कम्युनिस्टोंमें, सोशलिस्टोंमें आती है तो वे भी साम्प्रदायिक हैं। यदि यह भावना हिंदुओंमें, मुसलमानोंमें नहीं आती तो वे भी साम्प्रदायिक नहीं। हिंदू अपनी उन्नति कर सकता है और मुसलमान भी, किंतु एक-दूसरेकी उन्नतिको खतरेमें डालकर नहीं।

अब तो होशमें आओ

राष्ट्रकी सर्वाङ्गीण एवं स्थिर उन्नतिके लिये भौतिक उन्नतिके साथ धार्मिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक उत्थान होना आवश्यक है। जब हमारा राष्ट्र युद्धकी अवस्थामें था स्वतन्त्रता-संग्राम ही हमारे स्वतन्त्रता-वीरोंके मस्तिष्कमें व्याप्त था। सैनिकोंके सामने दुश्मनसे मुकाबला करनेकी बात ही मुख्य रहती है। धार्मिक, सांस्कृतिक बातें गौण ही नहीं कभी-कभी तो रास्तेमें बाधक होनेपर ठुकरा भी दी जा सकती हैं। सैनिकोंको गम्भीरतासे सोचनेका अवकाश नहीं रहता। उस समय संस्कृति और धर्मके सम्बन्धमें सैनिकोंके गलत विचार एवं अनुचित आचरण भी क्षम्य हो सकते हैं। किंतु युद्ध-काल बीत जानेपर वैसी बात नहीं रहती। अतः अब हम जोश छोड़कर होशमें आकर भावुकतासे बचते हुए वस्तु-स्थितिपर गम्भीरतासे विचार करना चाहिये। अब किसी भी नेताद्वारा धार्मिक एवं सांस्कृतिक नियमोंका उल्लंघन क्षम्य नहीं हो सकता क्योंकि इससे सामान्य जनताको भी वैसा करनेका प्रोत्साहन मिलता है।

प्रवाहको रोक दो

हमें यह देखना चाहिये कि आजकी दुनिया क्या चाहती है? उसकी गतिविधिका निर्णय करके उसके कल्याणके लिये युक्तियुक्त बुद्धिगम्य आर्षग्रन्थों एवं मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदोंसे राष्ट्रको अपने कल्याणके मार्गका निर्णय करना चाहिये। हमारा अनन्त दृष्टिकोण भी यही है। आज हिटलरका 'नाजीवाद' लेनिनका 'वर्गवाद' तथा 'लोकतन्त्रवाद' 'साम्राज्यवाद' आदि अनेक 'वाद' हमारे सामने हैं। इनमेंसे किसीने भी प्राचीन वादका अनुसरण नहीं किया। इसलिये उक्त सभी वाद अपने-अपने सिद्धान्तोंके प्रचारमें असफल होते जा रहे हैं। भगवान् शंकराचार्य यदि अपने कालमें प्रचलित वादोंके प्रवाहमें बह गये होते तो वे नास्तिकवादका खण्डन कर उसके स्थानपर प्राचीन वैदिक आस्तिकवादका प्रचार न कर सकते। फलतः प्राचीन वैदिक सिद्धान्त आज हमें देखनेको भी न मिलते। इस तरह किसी प्रवाहमें बह जाना मानवता नहीं। आजकलके व्याख्यानोंमें बहुधा लोग कहते हैं कि 'दुनिया बहुत आगे बढ़ गयी है अतः उसके बदलनेके साथ-साथ अपनेको भी बदलते चलो, ऐसा न करनेवाला व्यक्ति समाज एवं राष्ट्रमें रहनेका अधिकारी नहीं', पर यह ठीक नहीं है। वास्तविक पुरुषार्थ इसीमें है कि मनुष्य प्रवाहमें न बहे। भले ही प्रवाहको रोकनेमें मर-मिटना पड़े भले ही सारा राष्ट्र उस प्रवाहको रोकनेमें तैयार न हो इसकी परवाह नहीं। सच्चे, निर्भीक और स्वार्थत्यागी दस-बीस कर्मठोंके सहयोगसे भी सफलता प्राप्त की जा सकती है।

आध्यात्मिकताकी रक्षा होनी चाहिये

अब देश स्वतन्त्र है। स्वतन्त्रताके बाद अपनी सभ्यता और संस्कृतिकी रक्षाकी आवश्यकता पड़ गयी। हर देशकी अपनी-अपनी विशेषताएँ होती हैं। जर्मनीकी विशेषता उसकी शिल्प-विद्या और आविष्कार है, अमरिकाकी विशेषता उसकी अपार सम्पत्ति है, फ्रांसकी विशेषता उसका सौन्दर्य है, इंग्लैंडकी विशेषता उसकी कूटनीति है इसी प्रकार भारतकी विशेषता इसकी आध्यात्मिकता धार्मिकता और नैतिकता है। इसी विशेषताके कारण भारत जगद्गुरु रहा है। जब स्वराज्यके पूर्व हमारी आध्यात्मिकता नैतिकता और धार्मिकता सुरक्षित रह सकती थी तब कोई कारण नहीं कि स्वराज्यके बाद वे सुरक्षित न रह सके। भगवान्‌की कृपासे भारतको स्वराज्य मिला है इसलिये भगवान्‌के नामपर इसकी आध्यात्मिकताकी रक्षा भी की जानी चाहिये।

धर्महीन स्वराज्य अभिशाप

स्वतन्त्रता-संग्राममें कितने बलिदान हुए, कितने होनहार नौनिहालोंने अपनी माताओंकी गोद और पत्नियोंकी सेज सूनी कर दी और कितने गाँव वीरान हो गये तब कहीं भगवान्‌की कृपासे हमें स्वराज्य मिला है। इसमें यदि हम अपनी विशेषता—आध्यात्मिकता, धार्मिकताकी रक्षा न कर

सके तो यह स्वराज्य हमारे लिये किस कामका? यदि कोई सूर्यसे विमुख हाकर छाया पकडना चाहे तो क्या वह पकड सकता है? जा ईश्वरको छोडकर रोटीके पीछे दौडता है, उसे ईश्वर तो मिलते ही नहीं, रोटी भी नहीं मिलती। राटीकी चिन्ताके कारण स्वराज्य मिलनेपर भी लोगाकी दशा तो जरा दखिये। आज न रोटी सस्ती है, न औषधि सस्ती है और न कपडा सस्ता है। धर्म-विमुख होनेसे न शान्ति मिलती है और न सुख ही। विश्व-शान्तिके लिये आज सयुक्त-राष्ट्रसघ स्थापित है, फिर भी इसके सदस्य राष्ट्र एक-दूसरेसे सशक हैं। इसका कारण यह है कि वे धमसे विमुख हैं। धर्मके विना सच्ची मैत्री असम्भव है।

भारत विश्व-शान्तिका पथ-प्रदर्शक हे

यदि रामराज्यक आदर्शानुसार भारतीय जनता और सरकारम परस्पर पिता-पुत्र-जैसा सहयोग और सद्भावना हा, सभीके रहन-सहन, खान-पानम सादगी हो, शिक्षा ओर स्वास्थ्यका पूर्ण सुधार हो, खाद्य पदार्थोंकी शुद्ध व्यवस्था हा, व्यायामशालाआद्वारा भौतिक बल बढानेके साथ धार्मिक सस्थाआक सहयोगसे जीवनमे नैतिक बल बढानेका भी प्रयत्न हा तो जगद्गुरु भारतवर्ष ही विश्व-शान्तिका पथप्रदर्शक हो सकता है। परतु इसके लिय यह आवश्यक है कि हमारा देश बाह्य चाकचिक्यके प्रलोभनो तथा कृत्रिम आवश्यकताआका शिकार न बने। सादगी और सतोषके साथ अपने कृषि, वाणिज्य एव पशुआके पालन-परिवर्धनादि कार्योंमे तत्पर हो जाय। इससे घृत, दुग्ध, खाद्यान्न, वस्त्र, आराग्य, स्वास्थ्य तथा सुबुद्धि—इन सबकी वृद्धि होगी।

समानता सम्भव नहीं

समानताका स्वप्न देखना भी खतरेसे खाली नहीं, न यह सम्भव ही है। अपने यहाँ आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे सर्वत्र एक ही विशुद्ध ब्रह्मका दर्शन किया जाता है। सूकर, कूकर, कीट-पतगादि सभी प्राणियोम ईश्वराश चैतन्य-आत्माका ही निवास है। तभी ता अपने यहाँ—*'उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध। निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥'*—ऐसा कहा गया है। इस दृष्टिसे समानताका हमारे यहाँ बडा आदर है। रही बात व्यवहारकी ता उसम समानता कभी सम्भव नहीं, क्याकि व्यवहारम समानता लाना अनर्थका ही कारण होगा।

क्या सबको समान बनानेक लिये किसी मोटे आदमीको छीलकर पतला किया जा सकता है? नहीं, हमारे यहाँ यही बतलाया गया है कि वह निर्बल, खूब खा-पीकर मोटा-ताजा हो जाय। अतएव कोई किसीको अपन बराबर निर्बल बनाकर दबाना चाहे तो वह उसकी भूल है। धर्मराज्यम व्यापारी अपनी व्यावसायिक कुशलतासे लाखा, करोडो कमा सकता है। तात्पर्य यह कि उन्नतिक रास्तेसे ही उन्नति की जा सकती है, अवैध उपायासे नहीं। आधुनिक साम्यवादियोका सिद्धान्त है कि सभीका काम, दाम और आरामकी समानता होनी चाहिय। पर क्या यह कभी सम्भव है? क्या सभी आदमी सभी काम कर सकत हैं? जब भाजनतक काई बराबर नहीं कर सकता—काई ढाई सेर खाता है ओर कोइ छटाँकभरम तृप्त हो जाता है—तो और कार्योमे समानताकी बात ही कहाँ? फील्डमार्शल और सेनिक तथा इजीनियर और कुली कभी भी एक समान काम नहीं कर सकते। गाय ओर बकरीम आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे ता समानताका दर्शन किया जा सकता है, पर व्यवहारमे नहीं। वैतरणी पार होनेके लिय गा-दान ही किया जाता है, बकरी-दान कोई नही करता। पारमार्थिक दृष्टिसे समानताका दर्शन करते हुए भी व्यावहारिक भेदको बनाय रखना ही बुद्धिमानी है।

कम्युनिस्ट अपने गुरुओकी ओर देखे

वास्तवमे देशके कर्णधार 'नेतागण' देशको सुखी एव समृद्धिशाली बनानेके प्रयत्नम लगे हुए हैं, इसमे सदेह नहीं। वर्णाश्रम-व्यवस्थाका अन्त आदि समस्त योजनाएँ भी केवल इसीलिये बनायी जा रही हैं कि समानता, स्वतन्त्रतासे देश उन्नतिके सर्वोच्च शिखरपर चढ जाय विषमता मिटे सघटन और सामञ्जस्यकी जडे मजबूत हो। वे धर्म तथा ईश्वरतकको उन्नतिके मार्गमे रोडा समझ रहे है। वास्तवम इन भावासे ही प्रेरित होकर आज भारतीय लनिन और स्टालिनकी नकल करने लगे है। पर वर्तमान सुधारका, सोशलिस्टो एव कम्युनिस्टाको यह जान लेना चाहिये कि आज भी विदेशी लाग हमारे नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक ग्रन्थाके अनुवादम लगे हुए हैं। वे लोग हमारे दर्शन, शास्त्र आदि ग्रन्थोके महत्त्वका भलीभाँति समझते हैं। वर्तमान तथोक्त साम्यवादका जन्मदाता रूस भी इस समय रामायण, महाभारत आदिके अनुवादम लगा हुआ है जिसस कि वह भारतीय उत्तमात्तम तत्त्व और सिद्धान्ताको पा सके।

हमारे देशके सोशलिस्ट, कम्युनिस्ट तथा अन्य उन लोगोको—जिन्हाने ईश्वर और धर्मको अपना शत्रु ही ठहरा

लिया है तथा जिनकी दृष्टिमे वेद, शास्त्र, रामायण और महाभारत आदि पवित्र ग्रन्थ गडरियोके गीत है—अपने इन पाश्चात्य गुरुओकी ओर देखकर शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

'रामराज्य' का साम्यवाद

आज जितने 'वाद' प्रचलित हैं, उन सभी 'वादो'-के गुण रामराज्यमे मौजूद थे। रामराज्यमे समाजवाद, साम्यवाद, लोकतन्त्रवाद आदि 'वादो'-के गुण सम्मिलित हैं। सीता-त्यागकी कथा रामराज्यके अन्तर्गत लोकभावनाका प्रतीक लोकतन्त्रवादका ज्वलन्त उदाहरण है। लोकमतका आदर कर मर्यादापुरुषोत्तम रामने भगवती सीताको वन भेज दिया। यदि रामराज्यमे लोकभावनाका समादर न होता तो रजकका प्राण-दण्ड तक दिया जा सकता था। रामराज्यके अन्तर्गत समाजवादको लीजिये। रामायण पढनेवाले जानते ही होगे कि सप्तद्वीपके चक्रवर्ती राजा रामने अपनी समस्त सम्पत्ति ब्राह्मणोको दे दी थी। आतिथ्य-सत्कारके लिये उनके पास कुछ भी नहीं बचा था। राजा राम स्वय मिट्टीके पात्रोसे काम चलाते थे। लोकतन्त्र और समाजवादकी सभी खूबियाँ रामराज्यमे थी, उनकी बुराइयाँ नहीं। पर आजके समाजवादमे तो यह दोष है कि यह वाद बलात् समता लादनेका प्रयत्न करता है। नीचको ऊपर उठाना ठीक है, पर ऊँचका नीचे गिराना ठीक नहीं। रामराज्यका तो यह उपदेश है कि धनिक राजा ओर भूमि-स्वामी—ये सभी गृहस्थ हैं। रामराज्यमे गृहस्थ भोजन बनाकर भी तबतक भोजन नहीं करता था जबतक आतिथ्य-सत्कार नहीं कर लेता था। उस राज्यकी तो विशेषता ही यह थी कि पूँजीपतिवर्ग दरिद्रताके विनाशमे ही अपनी पूँजीका उपयोग करता था। इस प्रयत्नमे ही अपनेको लगाकर वह धन्य-धन्य मानता था। धनिक अपनी इच्छासे धन देता था, पर लेनेवाला यह कहकर अधिक लेनेसे इनकार कर देता था कि मैंने जितना परिश्रम किया उतना धन मिल गया अब नहीं चाहिये। रामराज्यकी यही विशेषता थी। उस राज्यमे धनवान् मजदूरासे प्रार्थना करता था कि और लो, थोडा और लो पर लेनेवाला यही कहता था कि अब पर्याप्त है आवश्यकता नहीं अपनी कृपा हमलोगोपर रखिये। रामराज्यके साम्यवादकी घोषणा है—'लो-लो—नहीं-नहीं', पर आजके साम्यवादका आदर्श है—'दो-दो—नहीं-नहीं।' आज तो मजदूर किसान कहता है कि आन्दोलन करके लगे, मरकर लगे और इसके उत्तरमे मालिक कहता है कि मर भी जाओगे तब भी नहीं देगे। आजके साम्यवादमे मार-काट और दूषित भावना है, जब कि रामराज्यके साम्यवादमे मधुर और सुस्वादु भावना थी।

धर्म-भावनासे ही रामराज्य सम्भव

जहाँ ब्राह्मण ब्रह्मवर्चस-सम्पन्न हो क्षत्रिय ओज, तेज, बल-वीर्यसे पूर्ण एव धनुर्धर हो, वैश्य अनन्त धन-धान्यसे सम्पन्न हो, स्त्री सती-साध्वी हो, शूद्र विविध कलाओमे पारगत एव द्विजाति-सेवा-परायण हो, महाबलवान्, हृष्ट-पुष्ट-सतुष्ट नरर्षभ हो, वसुमती अनन्त धान्य देनेवाली हो, सौन्दर्य, माधुर्य सौरस्य, सौगन्ध्य-सम्पन्न मधुर मनोहर फल देनेवाली वनस्पतियाँ हो—वही रामराज्य, धर्मराज्य अथवा ईश्वर-राज्य कहलाता है।

यदि किसीका लडका मर जाता था तो उसके लिये राम ही जिम्मेदार होते थे। रामराज्यमे स्त्रियाँ विधवा नहीं होती थीं, कोई ज्वर आदि व्याधियोसे पीडित नहीं होता था। महात्मा गाधीजी भी इसीलिये रामराज्यका गुणगान किया करते थे। वे व्याख्या करते थे कि जिसमें सबको सस्ती रोटी, सस्ता कपडा, सस्ता इलाज और सस्ता न्याय मिले वही रामराज्य है। हमारे रामराज्यमे यही विशेषता है। देश स्वाधीन हो गया। अब रामराज्यकी स्थापनापर ध्यान देना चाहिये। धर्म और ईश्वरकी भावना उत्पन्न हो तो रामराज्य हो सकता है। रामके समान जितेन्द्रिय, धर्मात्मा पक्षपात-विहीन शासक हो तभी चोरबाजारी, घूसखोरी आदि अनाचार बद हो सकते हैं। अन्यथा पुलिसकी आँखमे धूल झोककर अत्याचार, अन्याय आदि किया जा सकता है। पुलिस भी बेईमान हो सकती है, क्योकि वह भी तो जनताके बीचकी ही है कोई सातवे आसमानसे तो आयी नहीं है।

कल्पनासे काम नहीं चलेगा

स्वतन्त्र भारतमे सभ्यता सस्कृति और धर्मकी रक्षाकी आवश्यकता है। स्वराज्य हमे मिल गया है यह सही है फिर भी हमे बहुत कुछ करना है। स्वतन्त्रता कायम रखनेके लिये सरकारके साथ जनताका सद्भावपूर्ण सहयोग आवश्यक है। थोडे समयमे सभीको सस्ते दाममे न्याय औषध रोटी और कपडा मिल जायँ, इसके लिये प्रयत्न होना चाहिये। यद्यपि शासक भी यही कामना करते हैं कि देशमें सबको सभी वस्तुएँ सस्ते मूल्यमे सुलभ हो तथापि

महार्घता देशको छोडकर जाना नहीं चाहती। जनता भी चाहती है कि महार्घता हट जाय पर यह तबतक नहीं समाप्त होगी जबतक चोरबाजारी और घूसखोरी बंद नहीं हो जाती। भ्रष्टाचार रोकनेके लिये भ्रष्टाचार-निवारण-समितिके सदस्य और सरकारके गुप्तचर-विभाग अत्यधिक सचेष्ट हैं, फिर भी उनकी सचेष्टता सफल नहीं हो रही है। इसमे सफलता तभी मिलेगी जब लोगामे धर्मकी भावनाका उदय होगा।

× × × ×

जहाँ राम-जैसा धर्मनिष्ठ राजा, शासक न हो, वहाँ मनमे रामराज्यकी कल्पना कर लनेसे रामराज्य, धर्मराज्य और वास्तविक स्वराज्यकी स्थापना नहीं हो सकती। स्वराज्य मिल जानेपर भी यदि आज हमारी सभ्यता, सस्कृति और धर्मपर खतरा है ही, उनका सरक्षण सम्भव नहीं तो ऐसा स्वराज्य सार्थक नहीं निरर्थक है। किसी देशमें किसी ढगकी शासन-प्रणाली क्यो न हो, पर सभी जगह धर्मनिष्ठा और सत्यनिष्ठाकी आवश्यकता है। ईश्वर और धर्म-भावनाके अभावम कोई शासन चल ही नहीं सकता। आप देखते ही हैं कि जब नये मन्त्रिमण्डलका सघटन होता है तब अपना उत्तरदायित्व ग्रहण करनेके पूर्व मन्त्रियोको शपथ लेनी होती है। इसलिये उत्तरदायित्व-निर्वहनके लिये भी ईश्वर और धर्म-भावनाकी सदा अपेक्षा है। आज लोग रामराज्यकी रट लगाते हैं और भारतमे रामराज्यकी स्थापनाकी कल्पना करते हैं। किंतु वास्तवम रामराज्यमे जो गुण थे उन गुणोके पालनसे ही रामराज्य-जैसा राज्य स्थापित हो सकता है।

रामका धर्म-नियन्त्रित 'राजतन्त्र'

भारतीय प्राचीन धर्म-नियन्त्रित राजतन्त्रमे लोकतन्त्रका बडा आदर किया जाता था। लोकतन्त्रके सभी गुण उसमे आ जाते थे। रामराज्यम एक धोबीकी भी बात सुनी जाती था। इतना ही नहीं, उनके राज्यम कुत्तो और पक्षियो-तकको भी न्याय मिलता था। पर उसम लोकतन्त्रके अवगुण न आने पाते थे। किसीके घरमे लाखो सतरे पडे सड जायँ और किसीको दवाके लिये एक भी न मिले इस प्रकारकी विषमताका अन्त तो होना ही चाहिये। नेता लोग सावधान होकर भारतीय सस्कृतिके महत्त्वको समझे और अपनाये।

पूर्ण स्वतन्त्रता

अनन्त सत्ता अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्दके समान ही अनन्त स्वतन्त्रता भी परमात्माका स्वरूप है। पूर्ण स्वतन्त्रताम पूर्ण ज्ञान पूर्ण आनन्द तथा पूर्ण सत्ता सिद्ध हो जाती है। यही कारण है कि प्राणिमात्र जैसे सत्ता, ज्ञान एव आनन्दको चाहता है, वैसे ही स्वतन्त्रता भी चाहता है। एक नगण्य जन्तु भी बन्धन स्वीकार नहीं करता। किसी पक्षीको स्वर्णपजरमे रत्नसिहासनपर बिठाया जाय, सुन्दर, मधुर, मनोहर फल या पक्वान्न भोजन दिया जाय, शीतल, मधुर, सुगन्धित जल पीनेको दिया जाय, फिर भी पराधीनता स्वीकार करनेको वह तैयार नहीं होता। स्वाधीनतासे वृक्षोकी टहनियोपर बैठकर खट्टे फल और खारे पानीपर वह सतोष करता है। परतु जबतक प्राणीम पूर्ण तत्त्वज्ञान नहीं होता अविद्या-काम-कर्मका बन्धन नहीं टूटता, शरीरत्रय एव कोशपञ्चकसे प्राणी विमुक्त नहीं होता, तबतक जीवभाव बना रहता है। जबतक जीवभावकी निवृत्ति तथा परमात्मभावकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक किसी-न-किसी रूपम पराधीनता बनी ही रहती है। जब प्राणी इष्टका-पाषाणादि-निर्मित कारागारम बद होनेपर एव लोहमयी शृङ्खलामे बद्ध होनेपर अपनेको पराधीन मानता है तब फिर अस्थिचर्ममय शरीरपजरम बद और कर्मरूप बन्धनसे बद्ध प्राणी अपनेको पराधीन क्यो न माने? अत सर्वोपाधिविनिर्मुक्त परमात्मभावकी प्राप्ति होनेपर ही प्राणी पूर्ण स्वतन्त्र होता है।

पीछे हटो

लोग कहते है 'आगे बढो' लेकिन मैं कहता हूँ 'पीछे हटो।' यदि दो हजार वर्ष पीछे हटते हो तो भगवान् शकराचार्य-जैसा उदात्त विचारका आदर्श विद्वान् पाते हो पाँच हजार वर्ष पीछे हटनेपर धर्मराज युधिष्ठिरके राज्यम एव नौ लाख वर्ष पीछे हटनेपर रामराज्यम आ जाते हो। प्रवाहम तो मुरदे बहा करते है जिंदे नहा। जिंदा तो प्रवाहसे बाहर निकलनेके लिये हाथ-पैर फटफटाता है। प्रवाहका सामना करते हुए सस्कृतिकी रक्षाके लिये बढे चलो, इसीम कल्याण है।

कोई राजनीतिसे बच नहीं सकता

आजके जमानेम कोई भी व्यक्ति राजनीतिसे अछूता नहीं रह सकता। सरकार यदि चाहती है कि धर्मका नाम लेनेवाले राजनीतिम न बोले तो राजनीतिम भाग लेनेवालोको भी चाहिये कि धर्मम न बोले। यदि सरकार गलतियाँ करेगी तो धर्मका नाम लेनेवाले अवश्य गलतियोको दूर करनेका प्रयत्न करेगे। गलतियाँ दूर करना भी सरकारका काम करना है।

राजधर्म-नीति

['प्रजारक्षाकरो राजा']

(ब्रह्मलीन स्वामी श्रीअखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज)

सभी शास्त्र मनुष्यको उसकी योग्यताके अनुसार कर्तव्यकी शिक्षा देते हैं—चाहे वह ब्रह्मचारी हो, गृहस्थ हो, वानप्रस्थ हो या त्यागी—सन्यासी हो। सबको योग्यताके विरुद्ध एक ही रास्तेमे ले जाना, यह शास्त्रका उद्देश्य नहीं है। जो कर्म करने योग्य है, वह कर्म करे। जो अध्ययन करने योग्य है, वह अधिक-से-अधिक अध्ययन करे। जो शक्तिशाली है, वह रक्षाका कार्य करे। जो सबका अन्न-वस्त्र देने योग्य है, वह अन्न-वस्त्र देनेका काम करे।

सभी शास्त्र सभी प्रकारके अधिकारियोके लिये, उनकी योग्यताके अनुसार मार्ग बताते हैं। इसलिये सम्पूर्ण मानवताकी और राष्ट्रकी व्यवस्था बनी रहे—इसी दृष्टिकोणसे शास्त्रकी व्याख्या होनी चाहिये। शास्त्रोके हृदयको, रहस्यको, ठीक-ठीक प्रकट करनेकी शैली भी यही है।

श्रीमद्भागवतका कहना है कि धर्मको अपने जीवनमे रहना चाहिये। धर्म एक तो रक्षित होता है और दूसरा रक्षक होता है—'धर्मो रक्षति रक्षित ' मनुस्मृति (८।१५)-के इस श्लोकपर ध्यान देना चाहिये। हमारे जीवनम जो स्वाभाविक धर्म-सयम रहता है वह हमारी रक्षा करता है और हम जो पुण्य, दान, व्रत लोकोपकार करते हैं, उन्हे हम धारण करते हैं। हम अपने धर्मकी रक्षा करते हैं, धर्म हमारी रक्षा करता है। रक्षा करनेवाले धर्म शब्दकी व्युत्पत्ति है—'धरतीति धर्म ' और जिसको हम धारण करते हैं, उस धर्मकी व्युत्पत्ति है—'ध्रियते इति धर्म '।

अत धर्माचरणमे दृष्टिकोण होना चाहिये—यहा सर्वात्मा भगवान्‌की आराधना होगा। किसीको कष्ट न पहुँचे—इस बातको ध्यानमे रखकर आप अपना धर्म कीजिये। अहिंसाकी प्रधानतासे धर्मकी स्थापना जैनोने की और कारुण्यकी प्रधानतासे बौद्धोने। किंतु हमारा जो वैदिक सनातन धर्म है, वह हितकी प्रधानतासे है। जिससे लोकहित होता है, वही पद्धति स्वीकार करके आगे बढना चाहिये। कहीं भी जडता नहीं आनी चाहिये। धर्मका एक काम है—जडतासे छुडाना।

जो लोग भगवान्‌का आश्रय लेकर धर्म नहीं करते, उनके धर्मानुष्ठानमे विघ्न पड जाता है—जैसे दक्षने धर्मानुष्ठान किया और बडा भारी विघ्न उसके धर्मानुष्ठानमे पडा। नृगने बडा भारी काम किया, परतु भगवान्‌का आश्रय न होनेसे और न्याय देनेमे विलम्ब करनेसे उन्हे दुर्गतिकी प्राप्ति हुई। भगवान्‌का आश्रय लेकर धर्म करनेका अर्थ यह है कि एक तो अपने अदर धर्मात्मा होनेका अभिमान न हो और दूसरी यह भावना हो कि उसके द्वारा जो कुछ हो रहा है, वह भगवान् ही करा रहे हैं और जिसका वह उपकृत कर रहा है, दे रहा है, उसका भाग्य ही ऐसा है। उसपर भगवान्‌की कृपा है और भगवान्‌की इस सम्पदामे उसका भी हक है। यही भगवान्‌का आश्रय लेकर धर्म करना है और इस धर्मके फलस्वरूप सर्वात्मा भगवान् प्रसन्न होते है। इस प्रकारका धर्म करनेवालेको चाहिये कि वह उसका फल अपनी ओर न खींचे और सर्वस्वरूप भगवान्‌को समर्पित कर दे।

अब अर्थ और कामकी बात देखो। पुराणोमे यह कथा आती है कि एक बार राजा पुरूरवा इन्द्रलोकमे गये। वहाँ उनका बडा स्वागत-सत्कार हुआ। इन्द्रने स्वय आगे बढकर उनका स्वागत किया और वे उनसे पंक्तिबद्ध खडे हुए देवताओका परिचय कराने लगे—ये वरुण हैं, ये कुबेर हैं, ये अग्नि हैं, ये मित्र हैं, ये अर्थ हैं और ये काम हैं। पुरूरवा मनुष्य—राजा थे। उन्होंने अन्य सब देवताओको तो नमस्कार किया परतु अर्थदेवता और कामदेवताको नमस्कार नहीं किया। इसका फल यह हुआ कि अर्थदेवता और कामदेवता दोनोने उनको शाप दे दिया कि तुम्हारे पास धन तो होगा परतु उसका सुख नहीं मिलेगा और भोगकी सामग्री तो होगी, परतु भोगका सुख नहीं मिलेगा। इस शापके फलस्वरूप पुरूरवाके जीवनमे न तो सम्राट् होनेका सुख रहा और न उर्वशीके सानिध्यका सुख प्राप्त हुआ। वे अर्थ और काम—दोनोसे वञ्चित हो गये।

अत यदि हम अपने जीवनमें अर्थ चाहते हैं तो जैसे ध्रुवने भगवान्‌का आश्रय लेकर अर्थ प्राप्त किया वैसे ही हमे भगवान्‌का आश्रय लेकर अर्थ प्राप्त करना चाहिये। इसका परिणाम यह होता है कि अपने पौरुष बुद्धि और

फलका अभिमान चित्तमें नहीं होता, सर्वत्र भगवान्‌की कृपाका ही दर्शन होता है। जो अपनेसे बड़ेको देखता है, उसका अभिमान कम हो जाता है और जो अपनेसे छोटेकी ओर ज्यादा देखता है उसका अभिमान बढ़ जाता है। भगवान्‌पर जिसकी दृष्टि रहती है, उसके जीवनमें अभिमान नहीं आता। यदि तुम विद्याका अभिमान करोगे तो झूठा करोगे, धनका अभिमान करोगे तो झूठा करोगे और यदि यह अभिमान करोगे कि हमको तो सारा भविष्य सूझता है तो भविष्य केवल भगवान्‌को सूझता है। तुम ऐसा अभिमान लेकर मत बैठो। मनुष्यको तो भगवान् जैसे चला रहे हैं, अपने कर्तव्यका पालन करते हुए वैसे ही चलना चाहिये।

नृसिंहपुराणमें कथा आयी है कि ध्रुव अपने लोकमें रहकर भी अबतक पछताते और रोते हैं कि मैंने भगवान्‌से कुछ चाहा ही क्यों? मुझे तो भगवान्‌की निष्काम सेवा करनी चाहिये थी। यह है श्रीमद्भागवतके भक्तका हृदय। किंतु ऐसे भक्तको भी कितना सावधान रहना चाहिये, इसके लिये मैं उनके जीवनकी एक बातकी ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। ध्रुव अपनी सौतली माँके व्यंग्य-वचनको न सहकर और अपनी माताकी आज्ञा मानकर भगवान्‌की तपस्या करनेके लिये गये। उनको भगवान् मिले और उनका मनोरथ भी पूरा हुआ। परंतु उसके बाद जब उन्होंने यह सुना कि यक्षने उनके भाईको मार दिया है तब वे बड़े कुपित हुए। उनके मनमें भयंकर क्रोधका उदय हुआ।

देखो, भगवान्‌को केवल बाहर ही नहीं, भीतर भी देखना चाहिये और यह ध्यानमें रखना चाहिये कि भगवान् केवल अपने ही हृदयमें नहीं, सबके हृदयमें विराजमान हैं। यदि हम भगवान्‌को अपने हृदयमें देखते हैं तो जो मर गया उसके हृदयमें भी भगवान् और जिसने मारा उसके हृदयमें भी भगवान्। सर्वत्र भगवान्‌का ही दर्शन होना चाहिये। एक बार भगवान् दर्शन देकर कहीं गुप्त नहीं हो जाते, लुप्त नहीं हो जाते, सुप्त नहीं हो जाते। जिसको अपने हृदयमें एक बार परमात्माका दर्शन हो जाता है उसका वह दर्शन कभी टूटता नहीं है, छूटता नहीं है।

जब यक्षने ध्रुवके भाईको मार डाला तब उनके हृदयमें इतना क्रोध आया कि वे केवल उस यक्षका ही नहीं बल्कि समूची यक्ष-जातिका नाश करनेपर उतारू हो गये। फिर जब भगवान्‌के भक्तोंमेंसे मुख्य भक्त स्वायम्भुव मनु, जो ध्रुवके दादाजी लगते थे, आये और उन्होंने उनको समझाया कि 'अलं वत्सातिरोषेण'—(श्रीमद्भा० ४। ११। ७)। मेरे प्यारे बेटे! इतना क्रोध मत करो—तब वे शान्त हुए। इसलिये संत रज्जबने कहा कि—

> रज्जब रोष न कीजिये कोई कहे क्यों ही।
> हँसके उत्तर दीजिये हाँ बाबा यों ही॥

कुछ भी हो जाय मनुष्यको क्रोध नहीं करना चाहिये। क्योंकि क्रोधसे अपने हृदयमें धर्मका रस, श्रद्धाका रस, भजनका रस अथवा तत्त्वज्ञानका रस जल जाता है। क्रोध आग है। जैसे आग लकड़ीमें लग जानेपर उसको जलाती है, वैसे ही जिसके हृदयमें क्रोध आता है, उसको भस्म कर देता है। इसलिये यदि तुम्हें परमात्माका अनुभव है तो सम्पूर्ण प्रपञ्चमें अपनी आत्माका स्वरूप देखो, यदि तुम्हें सम्पूर्ण प्रपञ्च मायामय भासता है तो उसको जादूका खेल समझो। यदि तुम्हें सम्पूर्ण प्रपञ्च ईश्वरमय दिखता है तो सबमें ईश्वरको देखो और यदि तुम्हें सम्पूर्ण प्रपञ्च प्राकृत या पाञ्चभौतिक प्रतीत होता है तो सबमें एक ही प्रकृति एक ही पञ्चभूत देखो।

जब हमारी इच्छामें कोई बाधा पड़ती है, प्रतिरोध होता है तो उसके फलस्वरूप हमारे हृदयमें एक अग्निकी उत्पत्ति होती है और वह हमारे हृदयको ही जला देती है। इसलिये हमारी ही इच्छा पूरी हो, इसका आग्रह-दुराग्रह अपने जीवनमें नहीं रखना चाहिये। हम यह चाहते हैं कि हमारी ही इच्छा पूरी हो। जब हम दूसरेकी इच्छाकी परवाह छोड़ देते हैं और अपनी इच्छा पूरी होनेमें कोई बाधा पड़ती है तब '**कामात्क्रोधोऽभिजायते**' (गीता २। ६२)—कामका बेटा क्रोध अपने जीवनमें आ जाता है। इससे बचनेके लिये ईश्वरका स्मरण करना चाहिये। यह समझना चाहिये कि सबके हृदयमें वही है और दूसरेकी इच्छाका भी ध्यान रखना चाहिये। इसके अतिरिक्त प्रकृतिसे, कालसे, स्वभावसे ईश्वरसे जो कुछ हो रहा है, उसको स्वीकार भी करते जाना चाहिये। जिसके जीवनमें ईश्वरेच्छाकी स्वीकृतिका अभ्यास नहीं है, वह कभी-कभी क्रोधसे अन्धा हो जाता है।

अब यह देखो कि मनुजीके समझानेपर जो ध्रुवके क्रोधकी निवृत्ति हुई—इसका क्या अर्थ हुआ? यह हुआ कि भगवान्‌के दर्शनके पश्चात् भी एक भक्तके द्वारा समझाये जानेकी आवश्यकता होती है।

एक बात और देखो। ध्रुवके वंशमें एक राजा अङ्ग हुए। वे इस बातके लिये बड़े दुःखी थे कि उनको कोई पुत्र नहीं है। उनके यहाँ पुत्रेष्टि-यज्ञ हुआ और उसके फलस्वरूप पुत्र उत्पन्न हो गया। परंतु वह पुत्र दुष्ट निकल गया। कोई भी राजा चाहता है कि उसका पुत्र प्रजाकी रक्षा करे। राजा अङ्ग भी यही चाहते थे। परंतु उनका पुत्र वेन प्रजाका भक्षक बन गया, प्रजाका खून पीनेवाला बन गया, प्रजाको सतानेवाला बन गया। इससे राजा अङ्गको बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने उसको सुधारने-सँवारनेका बहुत प्रयास किया। परंतु उसके तो रक्तमें ही, स्वभावमें ही बुराइयाँ भरी हुई थीं और सब बुराइयोंकी जड़ यह थी कि वह ईश्वरको स्वीकार नहीं करता था। जीवनमें संयम चाहिये और सबसे बड़ा जो प्रकाश है, आधार है, उसके प्रति मनमें आस्था चाहिये। वेनमें इसका सर्वथा अभाव था। राजा अङ्ग बड़े निराश हुए, परंतु वे ध्रुवके वंशमें थे। इसलिये एक दिन रात्रिके समय उनके हृदयमें प्रकाशका अवतरण हुआ। जैसे आकाशमें बिजली कौंध जाती है, वैसा ही प्रकाश राजा अङ्गने देखा और यह अनुभव किया कि भगवान्‌ने मुझको मेरी इच्छाके विरुद्ध काम करनेवाला जो बेटा दिया है, यह हमारे ऊपर भगवान्‌की बड़ी कृपा है। अन्यथा यदि यह अच्छा होता तो मैं इसके रागमें फँसा रह जाता। इसने तो मुझको वैराग्य दे दिया। इसलिये अब मैं भगवान्‌का भजन करूँगा।

इस प्रकार भगवान्‌की प्रत्येक क्रियामें गुण निकाल लेना भक्तका स्वभाव है। ईश्वरके द्वारा जो कुछ हो रहा है उसमें जो अच्छे-से-अच्छा पहलू है, वह हमारे ध्यानमें आ जाना चाहिये कि इसमें भी भला है। अंगुलि कट गयी तो भला है, क्योंकि उसके कारण हम बलिदान चढ़नेसे बच गये। जेलमें चले गये तो भला है, नहीं तो हमारी बलि चढ़ा दी जाती। इस तरहसे ईश्वरकी प्रत्येक क्रियाकी शुभ व्याख्या कर लेनी चाहिये।

राजा अङ्ग तो भजनमें लीन हो गये—प्रजाकी दृष्टिमें गुप्त-लुप्त हो गये और वेनने अपना उपद्रव प्रारम्भ कर दिया। उसके उपद्रवसे भयभीत होकर चोर-डाकू तो शान्त हो गये, परंतु उसने महापुरुषोंपर सत्पुरुषोंपर अपना यह हुक्म चला दिया कि तुमलोग हवन करो तो 'वेनाय स्वाहा' करके बोलो और मुझे ही ईश्वर मानो, मैं ही ईश्वर हूँ। जब कोई व्यक्ति अपनेको जगत्‌का ईश्वर घोषित करता है तब वह अपनी शक्तिसे, बुद्धिसे बाहर हो जाता है, उसकी शक्ति कट जाती है, बुद्धि नष्ट हो जाती है और उसके व्यक्तित्वका विनाश हो जाता है। आत्माको ब्रह्म कहनेवाली जो बात है वह तो दूसरी है। व्यक्तित्वको छोड़कर नित्य-शुद्ध-बुद्ध मुक्त चैतन्यको ब्रह्म कहा जाता है, हड्डी, मांस, चाम अथवा विद्या-बुद्धि-धनवाले व्यक्तित्वको ब्रह्म नहीं कहा जाता। परंतु जब कोई व्यक्ति अपने देहको ही ईश्वर बनानेकी कोशिश करता है तब उसके ऊपर अनुभवी संतोंकी दृष्टि पड़ती है कि यह तो देहमें फँस गया और फिर वे उसके उद्धारका उपाय करते हैं। महात्माओंने वेनके उद्धारका और कोई उपाय न देखकर अपने संकल्पसे उसको भस्म कर दिया—'हुङ्कृतैर्वेन हतम्' (श्रीमद्भा० ४। १४। ३४)।

यहाँ आप इस बातपर ध्यान दें कि जिसे हम बुराई समझते हैं, उसमें भी भलाई होती है और जिसे हम भलाई समझते हैं, उसमें भी बुराई होती है। 'सर्वस्मिन् सर्वम्'—सबमें ईश्वर होता है और ईश्वरमें सब होता है। मैंने एक महात्माको देखा था। आजकल लोग विश्वास करें या न करें, परंतु उनके पास रोगी बहुत आते थे। वे वस्त्र तो पहनते नहीं थे, घास या तृणपर जहाँ भी बैठे होते, वहींसे कोई तृण या घास उठाकर दे देते और कहते कि जाओ इसको पीसकर पी लेना, तुम्हारा रोग दूर हो जायगा और सचमुच लोगोंका रोग दूर हो जाता। एक बार मैंने उनसे पूछा कि बाबा! यह क्या चमत्कार है आपका? वे बोले कि चमत्कार नहीं है बेटा! जितनी भी वस्तुएँ हैं, सबमें सत्त्व, रज, तम और कफ-वात-पित्त रहते ही हैं। सबमें ओषधि रहती है, परंतु वह जाग्रत् नहीं थी। मैंने संकल्प किया कि इस रोगको दूर करनेवाला जो गुण है, वह इस ओषधिमें जाग्रत् हो जाय और संकल्पसे वह सोता हुआ गुण जाग गया।

वेनका जो मृत शरीर था, उसमें भी परमात्मा परिपूर्ण था। उसका जब मन्थन किया गया तो एक ओर निषाद हो गया और दूसरी ओर पृथु एवं अर्चि प्रकट हुए। सबने उनका सत्कार किया। वेनके शरीरमेंसे परमेश्वरका प्रकट होना यह प्रेरणा देता है कि किसीको देखकर निराश न हो, उदास न हो, अपने जीवनमें आस्था रखें। किसीका भी

जीवन हो, वह आगे चलकर बहुत बडा हो सकता है, महान् हो सकता है। आप यह देख सकते हैं कि जिसको हम दुरात्माके रूपमें समझते थे, उसके भीतर कितना बडा महात्मा छिपा हुआ था। इसलिये कभी भी भविष्यके सम्बन्धमें अपनी आस्थाका भङ्ग नहीं करना चाहिये।

वेनके शरीरसे जो पृथु एवं अर्चि निकले उनका नामार्थ क्या होता है? पृथु मान होता है बहुत फैला हुआ, बडा विस्तृत और अर्चि मान प्रकाश। पृथु और अर्चिके रूपमें एक प्रकाशमय विस्तारका उदय हुआ। लोगोंने जब उनकी स्तुति प्रारम्भ की तब उन्होंने कहा कि अभी तो मैं प्रकट ही हुआ हूँ, आया ही हूँ, मेरे कोई गुण प्रकट नहीं हुए हैं और मैंने देशकी, जनताकी कोई सेवा नहीं की है। फिर मेरी झूठी प्रशंसा क्या करते हो?

देखो जो लोग अपनी झूठी प्रशंसा सुनकर खुश होते हैं, वे बडे भ्रममें रहते हैं। सच पूछिये तो ईश्वरकी ओर देखनेपर प्रशंसा जितनी भी है, वह सब झूठी सिद्ध होती है। ईश्वरके सिवाय और कोई प्रशंसाके योग्य नहीं है। इसलिये पृथु और अर्चिने प्रशंसा करना मना कर दिया।

इसके बाद बन्दीजनोंने स्तुति प्रारम्भ की। यह एक भक्त, एक धर्मात्मा, एक प्रजापालक राजाकी बात है। उसके लिये कहा गया है— 'प्रजारक्षाकरो राजा देवांशोऽन्यश्च रक्षसाम्'—जो राजा प्रजाकी रक्षा करता है, उसमें देवता निवास करते हैं और जो राजा प्रजाको पीडा पहुँचाता है, उसमें राक्षस निवास करते हैं। इसलिये राजाको प्रजापालक होना ही चाहिये।

अब जब पृथुने देखा कि प्रजाको अन्न ठीक नहीं मिलता है तब वे विचार करने लगे। पृथुके जीवनकी यह विशेषता है कि उन्होंने अपनेको पृथिवीपति नहीं माना, भूमिपति नहीं माना। उन्होंने कहा कि पृथिवी तो मेरी पुत्री है दुहिता है—'दुहितृत्वे समकल्पयत्'—इसलिये दुहिताके रूपमें ही, पुत्रीके रूपमें ही पृथिवीका पालन-पोषण-रक्षण करना मेरा कर्तव्य है। यदि यह पत्नी है तो लोकपत्नी है। इसका यदि कोई भोक्ता है तो लोग इसके भोक्ता हैं। मैं तो केवल इसका पिता हूँ। इसके बाद पृथिवीने स्वयं कहा कि 'समां च कुरु मां राजन्' (४।१८।११)—हे राजन्! मुझे सम (बराबर) यानी समतल बनाओ। जहाँ वर्षा नहीं होती, वहाँ जल बना रहे—ऐसी व्यवस्था करो। किसानोंके लिये खेतके पास रहनेकी जगह दो। जो पशुओंकी रक्षा करते हैं, उनके लिये वनके पास जगह दो। जो व्यापार करते हैं, उनको व्यापारके लिये अलग व्यवस्था करो और जो सबके लिये वस्तु पहुँचाते हैं, उनके लिये वैसी व्यवस्था करो। पृथिवीके कथनानुसार पृथुने ग्रामकी, पुरकी खेतकी, खर्वटकी सारी व्यवस्था की। पृथिवीको समान बनाया और जिन-जिन उपायोंसे अन्नोत्पादन होता है, उन सबका प्रबन्ध किया। आदिराज पृथुने केवल मनुष्योंके लिये ही नहीं, पशु-पक्षियोंके लिये भी पानी और चारेका प्रबन्ध किया, जिससे कि उनके जीवनका निर्वाह हो। यहाँतक कि मेढकों और साँपों तकके रक्षणकी व्यवस्था उन्होंने अपने राज्यमें की। इस प्रकार जब सब प्राणियोंके भरण-पोषणकी व्यवस्था हो गयी तब उन्होंने वर्णाश्रम-धर्मकी रक्षाके लिये बडे-बडे यज्ञ करवाये। फल यह हुआ कि स्वयं भगवान् विष्णु, जो सम्पूर्ण विश्वको घेरे रहते हैं—'वेवेष्टि विश्वमिति विष्णुः' और सबमें व्याप्त रहते हैं, वे प्रसन्न हो गये और उन्होंने पृथुको अपना दर्शन प्रदान किया। भगवत्-दर्शनके साथ-साथ पृथुकी इन्द्रसे मित्रता स्थापित हो गयी।

इसके बाद जब विष्णुभगवान् और इन्द्र चले गये तब पृथुने अपनी प्रजाके लिये जो शिक्षाकी व्यवस्था की उसकी रूपरेखाका वर्णन श्रीमद्भागवतमें किया गया। उसमें पृथुके आकर्षणका, उनके व्यक्तित्वका, उनके प्रजा-प्रेमका और उनके भाषणका भी वर्णन है। भाषणके बारेमें कहा गया है कि—

चारु चित्रपदं श्लक्ष्णं मृष्टं गूढमविक्लवम्।

(४।२१।२०)

जब पृथु बोलते थे तब ऐसा लगता था मानो मधुकी वर्षा हो रही हो। थोडेमें बोलते थे। बहुत सुन्दर और सारगर्भित बोलते थे। अपशब्दोंका प्रयोग कभी नहीं करते थे। उनकी भाषा बडी शुद्ध होती थी। उसमें विनय भरा रहता था। जब उनसे प्रजावर्गके लोग मिलते तब नम्रतापूर्वक कहते कि आप लोगोंने ही तो मुझको राजा बनाया है। उनके हृदयमें सबका हित भरा हुआ था। वे सबको यह शिक्षा देते थे कि जगत्‌की मूलभूत शक्ति ईश्वर है, उसकी सत्ताको स्वीकार करना चाहिये। उनका कहना था कि जैसे मिट्टीमें

जो सबसे अधिक चमकदार मिट्टी है, उसको हीरा बोलते हैं, वैसे ही समग्र सृष्टिमे सबसे अधिक चमकदार जो चीज है वह बुद्धि है— 'ज्यात्त्रावत्य क्वचिद्भुव '(४।२१।२७)। जो बुद्धिमानोमें सबसे बडा बुद्धिमान् है, वह सर्वज्ञ परमेश्वर है। वही सब शक्तियोमे शक्तिमान् है, सब बुद्धियाका खजाना है। उसकी सत्ता विश्वसृष्टिमे विराजमान है। वह सबके लिये पावर-हाउस है, वहाँसे शक्ति ले-लेकर हमको अपना काम करना चाहिये। उसको जीवनमे स्वीकार करना आवश्यक है।

इसक बाद यह हुआ कि सनत्कुमारादि चार सिद्ध आये और उन्होंने पृथुको गृहस्थाश्रमकी सारी बात बतायीं। उन्होंने बताया कि पृथु, तुम्हारी आत्मा साक्षात् परमात्मा है—

'प्रत्यक् चकास्ति भगवास्तमवहि सोऽस्मि॥'

(४।२२।३७)

राजा पृथुके द्वारा जो पृथिवीका विकास हुआ था और जिससे कीट-पतग और पशु-पक्षियोंसे लेकर सारा मानव-समाज सुखका अनुभव करता था, उसके पीछे पृथुके अग्रज निषादका बहुत बडा हाथ था। विकासकी योजना पृथु बनाते थ और अज्ञातरूपसे उसको क्रियान्वित करता था निषाद। बादम जब पृथुको मालूम हुआ तब वे जगलम जाकर निषादसे मिले और उससे बडा प्रम किया। उन्होंने अपना शेष जीवन अपनी पत्नी अर्चिके साथ वनम व्यतीत किया और परमात्माके साथ एक हो गये। उनका व्यक्तित्व अव्यक्तम और व्यष्टि चैतन्य समष्टि चैतन्यमे लीन हो गया। उनमें जो परिच्छिन्नताका भ्रम था, वह मिट गया।

आगे चलकर यह कथा आती है कि एक राजा थे। उनका नाम था प्राचीनबर्हि। उनक दस पुत्र थे, जो प्रचेता कहलात थे। प्राचीनबर्हि बडे भारी याज्ञिक थे। उन्होंने अपने यज्ञोमें इतने कुश बिछाये थे, उनके यज्ञोमे इतनी कुश-कण्डिकाएँ हुईं थीं, इतना दर्भ-व्यवहार हुआ था कि यदि गणितकी दृष्टिसे उनपर विचार किया जाय तो वे सारी पृथिवीको ढक देनेके लिये काफी थे। जब उनके पुत्र जगलमें गये तब उनको पहले शङ्करजी मिले और उन्होंने शिक्षा दी फिर उन्हे विष्णुभगवान्का दर्शन प्राप्त हुआ। इधर प्राचीनबर्हि जो यज्ञ कर रहे थे, उसम नारदजी पहुँच गये और उन्होंने कहा कि प्राचीनबर्हि, यह जो तुम यज्ञ कर रह हो, इसमें पशुओंकी कितनी हिंसा हो रही है।

देखो, केवल भेड, बकरी, गाय, बैल, भैंसको ही पशु नहीं बोलते। असलम जो नासमझ हैं, वे सब पशु हैं। उन नासमझोंका शोषण करना, वस्तुके भावका नहीं जाननेवालोंसे ज्यादा दाम वसूल कर लेना भी पशु-हत्या है, अनजान आदमीको ठग लेनेका नाम भी पशु-हत्या है। हम जो मूर्खका, बेवकूफको पशु समझकर स्वार्थके लिये उसका बलिदान चढा देते हैं वह भी पशु-हत्या है।

इसलिये नारदजीने कहा कि प्राचीनबर्हि, यह जो तुम यज्ञके नामपर हिंसा कर रहे हो, इसका नतीजा देखना हो तो ऊपर आकाशम देख लो। बडे-बडे असुर हाथमें अस्त्र-शस्त्र लेकर इस प्रतीक्षाम खडे हैं कि जब तुम स्वर्गम जाने लगोगे तब तुमको मार-मारकर चूर-चूर कर देंगे। उधर तो तुम जीवनमे प्राणियोकी हिंसा कर रहे हो और इधर यज्ञशालामें बैठकर धर्मात्मा बन रहे हो?

अब तो आकाशका भयकर दृश्य देखकर प्राचीनबर्हि डर गये और उन्होंने नारदजीसे पूछा कि महाराज! क्या करना चाहिये? नारदजीने कई अध्यायोंम वर्णित पुरञ्जनोपाख्यानके द्वारा प्राचीनबर्हिको समझाया कि इस ससारकी माया ऐसी है कि इसमें जीव मोहित हो जाता है। इससे छूटनेकी प्रक्रिया यह है कि वह अपने आत्माका विचार कर, क्योंकि उसका आत्मा ही नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मस्वरूप है।

इस उपदेशके बाद प्राचीनबर्हि यज्ञ-यागादि छोडकर स्वरूपके चिन्तनम लग गये। उधर उनके पुत्र प्रचेतागण जो तपस्या करने गये थे और जिनको शिव तथा विष्णुके दर्शन प्राप्त हो गये थे जब अपने पिताके राज्यमें लौटे तब उन्होंने देखा कि पिताजी नहीं हैं और राज्यकी बडी भारी दुर्व्यवस्था हो गयी है। अब तो उनको शिव और विष्णुका दर्शन प्राप्त करनेके बाद भी इतना बडा क्रोध आया कि वे पृथिवीके जगलको ही भस्म करने लग गये। उनकी क्रोधाग्निमे सारे वृक्ष, लता और औषधियाँ जलने लगीं। फिर अपनी किरणोंसे वनको जीवन देनेवाले सोम-देवता चन्द्रमाने आकर उन प्रचेताओंको शान्त किया, उनका ब्याह करवाया और उनको राजा बनवाया। अन्ततोगत्वा नारदजी आये और उन्होंने उनको यह उपदेश किया कि सबम भगवान्को

देखो। बिना बुद्धि शुद्ध हुए और बिना चिन्तनकी धारा भगवान्‌की ओर उन्मुख हुए मनुष्यके जीवनमें शान्ति नहीं आ सकती।

वस्तुतः श्रीमद्भागवत भागवतोंका पुराण है। इसमें वर्णित ध्रुवको भगवान्‌के दर्शनके बाद भी शान्ति कब मिली? जब स्वायम्भुव मनुने उपदेश किया। पृथुको भगवान्‌के दर्शनके बाद भी शान्ति कब मिली? जब सनत्कुमारोंने उपदेश किया। प्राचीनबर्हिको यज्ञके बाद भी शान्ति कब मिली? जब नारदने उपदेश किया और प्रचेताओंको शिव और विष्णुके दर्शनके बाद भी शान्ति कब मिली? जब नारदने उपदेश किया। इसका अर्थ यह है कि सत्पुरुषके सत्सग और सत्पुरुषकी दीक्षा—इन दोनोंसे ही मनुष्यके जीवनमें कल्याण होता है।

एक कथा आती है राजा प्रियव्रतकी। वे कितने प्रभावशाली और प्रतापी हुए! उन्होंने द्वीपोंकी रचना की, सूर्यके साथ भी होड़ लगायी, किंतु उनके जीवनकी कथा यह है कि उनके पितामह ब्रह्माजी और पिता स्वायम्भुव मनुने आकर उनसे कहा कि देखो प्रियव्रत! तुम अभीसे सन्यासी मत बनो। तुम्हारा जीवन लोक-कल्याण करनेके लिये है। पहले तुम लोगोंके बीचमें रहकर उनकी सेवा करो। घर-गृहस्थीमें रहकर अपने जीवनको ऐसा ढाल लो कि तुम्हारे भीतर क्षमाका विकास हो, सहिष्णुताका विकास हो, तुम्हारे मनके विरुद्ध होनेपर भी तुमको क्रोध न आये और तुम्हारा चिढ़ना-कुढ़ना बद हो। इसलिये पूरा वैराग्य तथा एकान्त-सेवनकी योग्यता होनेपर ही, एकान्तमें जाना चाहिये। नहीं तो वनमें जानेपर तुम्हे दोष होगा—

वनेऽपि दोषा प्रभवन्ति रागिणाम्।

देखो, ब्रह्माजी वेदके वक्ता हैं, ब्राह्मण हैं और साथ-ही-साथ प्रियव्रतके पितामह हैं। प्रियव्रतने अपने पितामह ब्रह्मा और पिता स्वायम्भुव मनु—दोनोंकी बात मानकर गृहस्थाश्रममें भगवान्‌का भजन किया तथा वहाँ उनका ऐसा प्रताप बढ़ा, जिससे सम्पूर्ण विश्वकी बड़ी-बड़ी सेवा हुई। उन्होंने सप्तद्वीप और वर्षोंके रूपमें पृथिवीका विभाजन किया। रसोंका अनुसधान भी उन्हींके युगमें हुआ और उन्होंने ही इनको प्रकट किया।

ऐसे प्रभावशाली और प्रतापी प्रियव्रतके जो पुत्र हुए वे भी भगवद्भजनके प्रभावसे मन्वन्तराधिपति हुए। फिर उनके वंशमें आग्नीध्र, नाभि और नाभिके पुत्र ऋषभ हुए। ऋषभदेवके सम्बन्धमें तो श्रीमद्भागवतमें स्पष्ट कहा गया है कि वे ज्ञानके अवतार हैं। जैसे धर्मके रूपमें श्रीराम हैं—'रामो विग्रहवान् धर्म ' और सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण हैं वैसे ही ऋषभदेवजी ज्ञानावतार हैं। उन्होंने सभी दिशाओंमें उन्नति की। ब्राह्मणोंकी भी उन्नति उनके द्वारा हुई। उन्होंने इक्यासी उच्चकोटिके ब्राह्मण, नौ अवधूत और नौ राजा उत्पन्न किये। उन सबकी व्यवस्थाके लिये भरत-जैसे पुत्र भी उन्होंने ही उत्पन्न किये। उनके बारेमें श्रीमद्भागवतमें ऐसा आया है कि वे सिद्धियोंको स्वीकार नहीं करते थे।

यहाँ राजा परीक्षित्‌ने श्रीशुकदेवजी महाराजसे पूछा कि ऐसा क्यों हुआ? उन्होंने सिद्धियाँ क्यों नहीं स्वीकार कीं? उसका उत्तर श्रीशुकदेवजीने दिया है कि मनुष्यका मन विश्वास करने योग्य नहीं है। श्रीमद्भागवतका एतत्-विषयक श्लोक देखिये—

न कुर्यात् कर्हिचित् सख्यं मनसि ह्यनवस्थिते।
यद्विश्रम्भाच्चिराच्चीर्णं चस्कन्द तप ऐश्वरम्॥

(५।६।३)

अर्थात् यह मन बड़ा चञ्चल है। अपने मनपर यह विश्वास नहीं करना कि अब इसमें काम और क्रोध एवं लोभ नहीं आयेगा। इससे सावधान रहना, अन्यथा यह क्षणभरमें कहाँ-से-कहाँ पहुँच जाता है। इसलिये मनुष्यको इतना विश्वास नहीं करना चाहिये कि उसका मन जो सोचता है, करता है, वह बिलकुल ठीक है।

ऐसा ही जीवन था ऋषभदेवका। उन्होंने अपने पुत्रोंको यह शिक्षा दी कि अपने व्यक्तित्वके उत्कर्षकी ओर मत देखना, अपने मनको सर्वात्मा भगवान्‌के साथ लगाये रखना। तुम्हारा सच्चा हितैषी वही है, जो तुम्हारे मनको व्यक्तिगत सुख और स्वार्थसे मुक्त रखकर उनके साथ जोड़ता है।

ऋषभदेवके पुत्रोंमें भरत सर्वश्रेष्ठ पुत्र हुए। उन्होंने उनको अपने सामने ही राज्य दे दिया तथा दूसरे पुत्रोंको भी यथोचित भाग बाँट दिया। भरतके यहाँ निरन्तर भगवान्‌की आराधना होती रहती थी, यज्ञ होता रहता था। उनका कोई शत्रु नहीं था। वे इतने प्रतापी थे कि उन्हीं ऋषभदेव-नन्दन भरतके नामपर इस वर्षका नाम भारतवर्ष रखा गया। उसके

पहले इसका नाम अजनाभवर्ष था।

भरत-जैसा धर्मात्मा सम्राट् जो अपना साम्राज्य छोडकर वनमें चला गया था, उसके मनमे वहाँ एक हरिणके बच्चेक प्रति आसक्तिका उदय हो गया। दया करनी दूसरी बात है। आप एक दु खीको देखते है, उसपर दया करत हैं, वडे दयालु हैं सात्त्विक हैं, आपको दया करनी चाहिय। परतु जव आप उसको लकर अपने घरमे आये और उसकी सेवा करने लगे तो आपम दयालुपनेका अभिमान जाग गया। सत्त्वगुणकी जगह रजोगुण आ गया। जव वही रजोगुण आमक्ति और मोहके रूपमे आ गया तो मोहक रूपमे आते ही वह तमोगुण हो गया। इसलिय माधकोको निरन्तर सावधान रहना चाहिये कि सत्कर्म भी कर तो उसम अभिमान न आय, उसम मोह न आये। क्याकि ये जो प्राकृत गुण हैं, वे सत्त्वमे रज और रजसे तममे परिणामको प्राप्त होते रहते हैं, वदलत रहत हैं।

यही हुआ भरतके जीवनमे, वे भी हरिण हो गये। हरिणका शरीर छूटा ता जडभरतके रूपम उत्पन्न हुए। परतु भगवान्‌की पूजा-आराधना व्यर्थ नहीं हुई, वहाँ भी वे भगवत्स्मरणमें ही मग्न रहते थे। उनकी दृष्टिम सव-का-सव परमात्मा ही था। यहाँ तक कि उनको खाना-पीना और सोना भी ठीक नहीं मिले तव भी वे आनन्दमें ही मग्न रहते थे। एक वार उनको डाकुओने ले जाकर बलि देनेका प्रयास किया तब भी वे आनन्दमग्न थे। उसके बाद उनको पकडकर पालकीमे जोत दिया गया तब भी उनके आनन्दमे कमी नहा आयी। वह राजा जो पालकीम वैठा था उसका नाम था रहूगण। स्कन्दपुराणके केदारखण्डम ऐसा कहा गया है कि जिस हरिणसे भरतकी आसक्ति थी, उसी हरिणके रूपम उनको जन्म लेना पडा। उसक वाद तीसर जन्मम व ब्राह्मण हो गय और जडभरत कहलाय। हरिणका जो वच्चा था वह मरनेके वाद सिन्धु-सौवीर देशम राजा रहूगण हा गया था। इसलिये ऐसे कुछ सस्कार उनके अन्त करणमें शेष थे कि वे राजाके सामन जाहिर हो गये। जडभरतम भी अपने पूर्वजन्मकी स्मृतिक कारण राजा रहूगणक प्रति करुणाका उदय हो गया।

राजा रहूगणने जडभरतको ठीक तरहसे पालकीको ढोते न देखकर कहा कि अच्छी तरह चलो। जडभरतने पूछा कि क्या? राजाने उत्तर दिया कि मैं राजा हूँ, तुम कहार हा, पालकी ढोनेवाले हो। जडभरतने कहा कि क्या राजा और क्या पालकी? यह वताओ कि नीचे मिट्टी है कि नहीं? मिट्टीके ऊपर मिट्टीके वने हुए हमार पाँव हैं कि नहीं? टखने है कि नहीं? घुटने ह कि नहीं? कमर है कि नहीं? पेट है कि नहीं? छाती है कि नहीं? कन्धे हैं कि नहीं? कन्धोके ऊपर मिट्टीका बना हुआ बाँस है कि नहीं? उस बाँसके आधारपर मिट्टीकी बनी हुई पालकी है कि नहीं? और पालकीमे मिट्टीका बना हुआ आदमी बैठा है कि नहीं? इस प्रकार जव सब मिट्टी-ही-मिट्टी ह तो इसमें कौन राजा और कौन रक, सव-का-मव मिट्टीका खेल है।

यह सुनते ही राजाको मानो होश आ गया। वह पालकीसे कूदकर गिर पडा उनके चरणामें और जडभरतने उसे सृष्टिका एसा रहस्य बताया कि राजा चकित हो गया। आप उस प्रमगको ध्यानसे पढे और उसका अर्थ समझे। अपने मनसे पढनेपर जग समझमे कम आयेगा। इसलिये सद्गुरुस, सत-महात्माओसे पढे तो अच्छा रहेगा। व कहते हैं कि यह सृष्टि परमाणुओस नहीं बन सकती, क्योकि वे निरवयव होते हैं। उनम सयोग हो नहीं सकता। यह प्रकृतिका परिणाम भी नहीं है। प्रकृतिम परिणाम होगा तो प्रकृति नित्य कैसे रहेगी? शून्यस भी सृष्टि नहीं बन सकती। यह मनोविलास भी नहीं हो सकता। तव यह सृष्टि क्या है? एक विशुद्ध परमार्थ तत्त्व है परमात्मा और उसमे विना हुए ही, हम चूँकि अपनेको एक देहम बैठकर आँख कान नाक—इन सीमित करणासे और अपनी छोटी बुद्धिसे इस दुनियाको दखना चाहते हैं इसलिये यह जैसी ह, वैसा दीखती नहीं है। गीता (१५। ३) भी यही कहती है—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।

अर्थात् यह सृष्टि जैसी है, वैसी दिखायी नहा पडती। इस प्रकार जडभरतने राजा रहूगणको ऐसा उपदेश किया कि वे उसे सुनकर वहीं अपनका जीवन्मुक्तके रूपमें अनुभव करने लग गय।

नीतिका मूलाधार—सदाचरण

(गोलोकवासी परम भागवत प० श्रीरामचन्द्रकेशवडोंगरेजी महाराज)

धर्मनीतिके चार पाद हैं—सत्य, तप, दया और पवित्रता। इनमे सत्य सर्वोपरि है। महाभारतमे राजा सत्यदेवकी कथा इस प्रकार आती है—

एक दिन सुबह जब सत्यदेव उठे तो उन्हाने घरमेसे एक सुन्दर स्त्रीको निकलते देखा। राजाने आश्चर्यमे उस स्त्रीसे पूछा कि आप कौन हैं? जवाब मिला—'मेरा नाम लक्ष्मी है। अब मै इस घरसे जा रही हूँ।' तब राजाने कहा कि आप जा सकती हैं।

लक्ष्मीजी चली गयीं। उनके पीछे एक सुन्दर पुरुषको बाहर जाते देखकर राजाने उनसे पूछा कि आप कौन हैं? उत्तर मिला—'मेरा नाम दान है। लक्ष्मीके जानेके बाद आप दान नहीं कर सकगे, इसलिये मैं आपका घर छोड रहा हूँ।' राजाने कहा कि आप भी जा सकते हैं।

इसके बाद तीसरा 'सदाचार' और चौथा 'यश' पुरुषके रूपमे बाहर आये। राजाके पूछनेपर लक्ष्मी तथा दानके साथ जानेकी बात कहनेपर राजाने उन दोनोको भी जाने दिया। पर पाँचवाँ 'सत्य' जब पुरुष-रूपमे इसी प्रकार जाने लगा तो राजाने हाथ जोडकर विनयपूर्वक कहा कि मैंने तो आपका कभी त्याग नहीं किया। आप मुझे किसलिये छोडकर जा रहे हैं? आपके लिये मैंने लक्ष्मी, दान आदि सबका त्याग किया है। मै आपको नहीं जाने दूँगा—आपके जानेपर मेरा सब कुछ चला जायगा। इसलिये 'सत्य' रह गया। जब 'सत्य' घरमेसे बाहर नहीं आया तो बाहर गयी हुई लक्ष्मी, दान, सदाचार और यश भी वापस आये। सत्य ही सर्वस्व है। सत्य बिना सदाचार, दान कीर्ति और लक्ष्मी किस कामके? इसलिये घबराओ मत—जहाँ सत्य होगा, वहाँ इन सबको रहना ही पडेगा।

सत्य परमात्मा है। सत्य प्रभुसे भिन्न नही है। सत्यके द्वारा मनुष्य नारायणके समीप जा सकता है।

परमात्माके लिये दु ख सहन करना तप है। प्रभुकी आराधना करना तप है। दु ख सहन करते हुए जो प्रभुका भजन करते हैं वे श्रेष्ठ हैं। वाणी और व्यवहारमे सयमपूर्वक तपका पालन करो।

कलियुगमे पवित्रता नहीं है। कपडापर लगा हुआ दाग छूट सकता है, पर कलजेमे लगा दाग नहीं छूटता। इसलिये मरनेके बाद जो साथ देनेवाला है, उस मनकी शान्तिको अक्षुण्ण रखो। मनको स्वच्छ रखो।

'दया' के लिये श्रुतिका निर्देश है कि जो मात्र अपने लिये पकाकर खाता है, वह अन्न नहीं खाता। पाप पकाकर खाता है।

सत्य, तप, दया और पवित्रता—ये धर्मनीतिके चार अङ्ग हैं। ये चारो तत्त्व जिसमे हो, वह धर्मी है।

कलियुगमे दान ही प्रधान है। दया अर्थात् दानके एक पगके ऊपर ही धर्म टिका हुआ है। राजा परीक्षित्ने जब कलियुगसे राज्यको छोडकर जानेको कहा तो कलिने पूछा कि मैं कहाँ रहूँ—मुझे रहनेके लिये जगह दे। तब परीक्षित्ने उसके रहनेके लिये चार स्थान बताये—जुआ, हिसा स्त्री-सग और मदिरा। इन चार स्थानोमे *असत्य, निर्दयता* आसक्ति और मद—ये चार अधर्म रहते हैं। इनसे कलिको सतोष नहीं हुआ। उसने कहा कि ये सब तो गदी जगह हैं, मुझे कोई एक अच्छा स्थान भी दे। राजाने उसे स्वर्णमे रहनेकी अनुमति दी और इस प्रकार स्वर्णके माध्यमसे कलिको राजामे प्रवेश करनेका अवसर मिला।

ज्ञान बहुतोमे होता है, पर ज्ञानकी दृढता सबमे नहीं होती। प्रारब्धके अनुसार जो मिलना है वही मिलेगा। फिर भी मनुष्य झूठ बोलता है। सम्पत्ति, सतान और लक्ष्मी तो प्रारब्ध-परिमाणसे मिलती है। जितना लिखा है उतना तो मिलेगा ही।

यदि प्रभु तुम्हे अधिक दे तो पाप मत करो। पापकी निवृत्ति होनेपर ही इन्द्रियोको भक्तिरसका सुख मिलता है। इन्द्रियाँ भोगकी नहीं भक्तिका साधन है। इसलिये इन्द्रियाँ नहीं बिगडे इसका ध्यान रखो। जितेन्द्रिय होनेकी कोशिश करो।

सम्पत्ति होनेपर यदि सतोष नहीं होता है तो सम्पत्ति दु खका कारण बन जाती है। सतोषी व्यक्तिको जब सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है तो वह विवेकसे उसका उपयोग करता है।

कितनोको तो खानेको नहीं मिलता इसलिये दु खी रहते हैं। पर कितने अधिक खाकर अजीर्णसे पीडित रहते हैं। इस तरह दोनो ही दु खी हैं।

'लक्ष्मी' माता है। उसका उपयोग तो किया जा सकता है पर उसका स्वामी नहीं बना जा सकता। उसका उपभोग नहीं करना है।

लक्ष्मी मेरी है—ऐसा समझनेवालेका लक्ष्मी मारती है, पर लक्ष्मी नारायणकी है ऐसा समझनेवालेका उद्धार करती है।

वृद्धावस्थामें क्रोध और काम तो शान्त होते हैं पर लोभ बढ़ता है। लोभ पापका जनक है। पाप बढ़नेपर लोग दुःखी होते हैं।

लोभको संतोषसे जीतो। मनुष्य जब सोचता है कि मेरेको कम मिला है, तभी पाप करता है। इसलिये जो भी मिला है, वह मेरी योग्यतासे अधिक है—ऐसा समझकर संतोष रखो जिससे पाप न करना पड़े।

जो लोभको संतोषसे मारता है, उसकी बुद्धि भगवान्‌में स्थिर रहती है।

मनको शुद्ध करनेके लिये सत्कर्म करना जरूरी है। मनुष्यको जो मिला है वह कम मिला है, इसलिये वह जप नहीं करता। जीव जब देता है तो उसके देनेमें संकोच रहता है पर ईश्वर जब देता है तो उसमें कोई संकोच—सीमा नहीं रहती।

मनसे पूछो कि मुझे जो मिला है—क्या मैं उसके योग्य हूँ? इसपर जब विचार करोगे तो लगेगा कि जीवने बहुत पाप किये हैं।

मनुष्यको जो भोजन मिलता है वह कर्मसे नहीं, श्रीठाकुरजीकी कृपासे मिलता है।

जीव और ईश्वरका सम्बन्ध पिता-पुत्रका है। जो प्राप्त हुआ है वह कर्मसे नहीं, प्रभु-कृपासे मिला है—ऐसा बारम्बार विचार करोगे तो प्रभुकी कृपा होगी।

संकल्प करो कि अर्थोपार्जनके लिये प्रयत्न तो करना है पर पापसे नहीं कमाना है।

अर्थ अमृत है, पर कभी-कभी वह जहर भी बन जाता है। नीतिसे आये और रीतिसे जिसका उपयोग हो वह अर्थ अमृत है पर अनीतिसे आये तो वही अर्थ जहर हो जाता है।

यदि मनपर धर्मका मर्यादा न रहे तो मन अनर्थ करता है। धन साधन है, धर्म साध्य है।

जहाँ लोभ होता है वहाँ दम्भ होता है। भक्ति वे ही कर सकते हैं जो काम-सुखका त्याग करते हैं। आँखोंमें प्रेम, दया और प्रभुके स्वरूपको रखो। कामका प्रवेश न होने दो।

शरीर घड़ेके समान है। इसमें नौ छेद हैं। कितनोंका ज्ञान तो आँख और कानके मार्गसे निकल जाता है।

मनुष्यमें ज्ञान-भक्ति थोड़े समयके लिये रहते हैं फिर वे चले जाते हैं। ज्ञान प्राप्त करना सरल है पर उसे टिका पाना कठिन है। लोग दूकानमें भगवान्‌की फोटो तो लगाते हैं, पर साथ ही झूठ भी बोलते हैं।

मनको कोई अच्छा काम नहीं मिलता है तो इसमें बुरे विचार उठते हैं। यदि मन वशमें रहेगा तो मित्रका काम देगा, अन्यथा वह शत्रु है।

जबतक शरीर खूब थक न जाय तबतक सत्कर्म करते रहो। आराम हराम है। शरीर, इन्द्रिय, मन और प्राण—सबको सत्कर्ममें लगाये रखो।

संसारको देखनेपर आँखें सफल नहीं होतीं, प्रभुके दर्शनसे सफल होती हैं। जब इन्द्रियोंको भगवत्स्पर्श मिलता है तभी इन्द्रियाँ सफल होती हैं।

जगत् 'कार्य' है और ईश्वर 'कारण' है। कारणका गुण कार्यमें आता है।

जबतक संसार सुन्दर लगता है भक्ति नहीं हो सकती। जैसे फूल कुम्हलाता है इसी प्रकार जगत्‌का सौन्दर्य भी मुरझा जाता है। श्रीकृष्ण नित्य सुन्दर हैं, जो कभी कुम्हलाते नहीं।

शृङ्गार न भी करो तो भगवान् सुन्दर हैं। मनुष्यका—संसारका सौन्दर्य तो सविकार है, क्षणिक है। एकको जो सुन्दर लगता है दूसरेको सुन्दर नहीं लगता। आँखकी रुचिके अनुसार प्रत्येकके लिये सौन्दर्यका रूप भिन्न-भिन्न है। विकारी सौन्दर्य सच्चा सौन्दर्य नहीं है।

परमात्मासे लौकिक सुखकी चाहना करनेवाले अज्ञानी हैं।

भगवान्‌से यदि कोई दूसरी वस्तु माँगोगे तो उसे देकर वे निकल जायँगे। इसलिये उनसे तो उन्हें छोड़कर अन्य वस्तुकी आकांक्षा ही न करो।

ज्ञानीके जीवनकी नीति

(स्वामीजी श्रीचिदानन्द सरस्वतीजी महाराज)

स्वस्मिन् सम्यक् परिज्ञाते किं ज्ञेयमवशिष्यते।
किं हेयं किमुपादेयं किं कार्यं चात्मदर्शिनः ॥

अपने स्वरूपका सम्यक् ज्ञान होनेके बाद ज्ञानीको जाननेके लिये क्या शेष रह जाता है? ऐसे ज्ञानीमें हेय या उपादेय बुद्धि कहाँसे होगी? और आत्मज्ञानीके लिये क्या कर्तव्य शेष रहेगा? तात्पर्य यह है कि आत्मज्ञान होनेके बाद ज्ञानीके लिये कोई कर्तव्य नहीं रह जाता।

यहाँ जो कहा गया है कि 'आत्मज्ञान होनेके बाद ज्ञानीको कोई कर्तव्य नहीं रह जाता'—यह बात पूर्णतः सत्य है, क्योंकि कर्तव्य-बुद्धिका त्याग किये बिना मुक्ति होती ही नहीं। कारण यह है कि जीवनके अन्तिम क्षणतक कर्तव्य-पालन हो ही नहीं सकता।

तथापि इसका अर्थ यह नहीं करना चाहिये कि ज्ञानका निश्चय होनेके बाद ज्ञानी मनमाना कर्म तथा मनमाना आहार कर सकता है और इच्छानुसार संग कर सकता है। ऐसा करनेसे तो 'आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽधः।' योगमें आरूढ हुए पुरुषका भी पतन होता है और इसीलिये—

'निःसङ्गता मुक्तिपदं यतीनाम्।'

—ऐसा कहा जाता है।

ज्ञानीका जीवन स्वभावतः ही त्यागप्रधान होता है, क्योंकि उसकी तो भोगोंके प्रति सहज अरुचि होती है। ऐसा हुए बिना ज्ञानका उदय ही नहीं होता। श्रीअष्टावक्र मुनि कहते हैं—

न जातु विषयाः केऽपि स्वारामं हर्षयन्त्यमी।
सल्लकीपल्लवप्रीतमिवेभं निम्बपल्लवाः ॥

(अष्टावक्रगीता १७।३)

इस संसारका कोई भी विषय ज्ञानीको सुखकर नहीं दीखता और इस कारण उसकी प्राप्ति-अप्राप्तिसे उसे हर्ष-विषाद नहीं होता। मीठे गन्नेको खाकर तृप्त हुआ हाथी जैसे कड़वे नीमकी पत्तियोंकी ओर देखता भी नहीं उसी प्रकार ज्ञानी विषयोंकी ओर कभी भी नहीं देखता। अन्यत्र भी कहा है—

लब्धत्रैलोक्यराज्यो न भिक्षामाकाङ्क्षते यथा।
तथा लब्धपरानन्दः क्षुद्रानन्दं न काङ्क्षति॥

भाव यह है कि त्रिलोकीका राज्य मिल जानेके बाद जैसे पुरुष भिक्षा माँगनेकी इच्छा नहीं करता, उसी प्रकार निरतिशय आत्मानन्दका अनुभव करनेवाला क्षणिक आनन्दकी इच्छा नहीं करता।

परमानन्दका अनुभव होनेके बाद लवानन्द अपने-आप छूट जाता है। एक संतने कहा है—

तिन खान-पान नहिं भावे है। नहिं कोमल बसन सुहावे है॥
तिन विषयभोग सब खारा है। हरि आशिकका मग न्यारा है॥

इसी भावको श्रीविद्यारण्य मुनिने इस प्रकार व्यक्त किया है—

प्रारब्धकर्मप्राबल्याद् भोगेष्विच्छा भवद्यदि।
क्लिश्यन्नेव तदाप्येष भुङ्क्ते विष्टिगृहीतवत्॥

(तृप्तिदीप १४३)

प्रारब्ध-कर्मकी प्रबलतासे ज्ञानीका यदि भोगविषयक इच्छा हो तो भी वह बेगारीमें पकड़े गये पुरुषके समान मनमें क्लेशका अनुभव करते हुए ही भोगोंको भोगता है। ऐसे पुरुषको जैसे उस काममें कोई रस नहीं होता उसी प्रकार ज्ञानीके जीवन धारण करनेमें भी कोई रस नहीं रहता, क्योंकि उसका उससे कोई प्रयोजन ही नहीं है।

इसलिये ज्ञानीको ऐसी सुन्दर दिनचर्या बनानी चाहिये, जिससे अन्तःकरणमें सत्त्वगुणका प्रकाश बना रहे और ज्ञान-निष्ठा भी शिथिल न हो। उसमें (गीता १७।१४—१६ के अनुसार) कायिक, वाचिक तथा मानसिक तप सहज भावसे हुआ करे और (गीता १८।२३ तथा ४२ के अनुसार) ऐसे कर्म भी होते रहें जिनसे सत्त्वगुणकी रक्षा हो। 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'—इसके लिये (गीता १७।८ के अनुसार) सात्त्विक आहारकी व्यवस्था रखी जा सकती है तथा (गीता १७।९-१० के अनुसार) राजसी और तामसी आहारका त्याग आवश्यक हो जाता है।

ज्ञानीका अन्तःकरण 'सत्त्व' कहलाता है यह बात हमलोग जानते हैं। तथापि इसका अर्थ यह नहीं है कि ऐसे अन्तःकरणमें तीनों गुणोंकी उपस्थिति ही न हो। राजसी-तामसी कर्म, आहार और राजसी-तामसी सङ्ग भी यथेच्छ होता रहेगा तो रजोगुण एवं तमोगुणकी

वृद्धि हुए बिना रहेगी ही नहीं तथा वह यदि विशेष जोर पकड लेगी तो सत्त्वगुणको दवा भी सकती है। फलत (गीता १८।३१-३२ के अनुसार) धर्माधर्म और कार्याकार्य-विवेकबुद्धिके क्षीण होनेपर अधर्म ही धर्म और पाप ही पुण्यरूप दिखायी देगा। इससे वढकर पतन और क्या हो सकता है?

यही बात वासनाओकी है। वे पूर्णतया नष्ट नहीं होती हैं। परतु 'तनु' अर्थात् क्षीण हो जाती हैं। भोगप्रधान विलासी जीवनके द्वारा भोग-वासनाओको उत्तेजन मिलता रहे तो भी वे प्रवल नहीं होगी, ऐसा मानना बुद्धिमानी नहीं है और न इसमे कल्याण ही है।

ज्ञानीको तो (गीता १३।१७-१८ के अनुसार) आत्मतृप्तिम ही रहना चाहिये तथा कर्म करने या न करनेमे उदासीन रहना चाहिये। ऐसे ज्ञानीको जीवन-निर्वाहमात्रके लिये भी किये जानेवाले कर्मोमे असुविधा ही प्रतीत होगी। जहाँ कर्म किये विना छुटकारा ही नहीं वहाँ वह कर्म तो करेगा, पर उनम आसक्त नहीं होगा।

'चचरीक जिमि चपक बागा॥'
(रा०च०मा० २।३२४।७)

चम्पाके वनम जसे भ्रमर किसी फूलपर बैठकर उसका रस नहीं लेता, केवल मँडराता रहता है, उसी प्रकार ज्ञानी ससारमे रहता ह।

इस प्रकारकी जिसके जीवनकी नीति हो ऐसा जीवन्मुक्त पुरुप (आत्मज्ञानी) शरीर-पातके अनन्तर कैवल्यका ही प्राप्त होता है।

श्रीवसिष्ठ ऋषि कहते हे—

सम्प्राप्य कस्त्यजति नाम तदात्मतत्त्व
प्राप्यानुभूय च जहाति रसायन क ।
शाम्यन्ति येन सकलानि निरन्तराणि
दु खानि जन्ममृतिमोहमयानि राम॥
(नि०उ० ८५।२८)

जिस आत्मज्ञानके द्वारा जन्म-मृत्यु तथा माहरूप सारे दु ख सदाके लिये सर्वथा नष्ट हा जाते हैं, ऐसा आत्मज्ञान प्राप्त करनेके बाद कोन उसका त्याग करगा (और विषयभोगम रमेगा)? रसायन हाथ लग जाय और उसक सेवनसे लाभ भी दिखायी द, फिर उसे कोन छोडगा (और कौन कुपथ्यमे पैर रखगा)?

देह लब्ध्वा विवेकाढ्य द्विजत्व च विशेषत ।
तत्रापि भारते वर्षे कर्मभूमौ सुदुर्लभम्॥
को विद्वानात्मसात् कृत्वा देह भोगानुगो भवेत्।
(अ० रा० ६।४।५१ ५२)

सदसद्विवेकसे ही जिसकी महत्ता है ऐसा (मानव-) शरीर ईश्वरकी कृपासे ही प्राप्त होता है। उसमे भी द्विजत्वकी प्राप्ति विशेष रूपसे दुर्लभ ह, उसम फिर कर्मभूमि भारतवर्षमे मानव-शरीर पाना तो अत्यन्त ही दुर्लभ हे। ऐसा देवदुर्लभ देह मिलनपर भी ऐसा कान मूढ होगा, जो देहको ही आत्मा—अपना स्वरूप मानकर विपय-भोगमे जीवन वितायगा? कोई भी समझदार मनुष्य ऐसा नहीं कर सकता।

समस्त भूमण्डलम एकमात्र भारतवर्ष ही कर्मभूमि ह। जगत्का शेप भाग तो भागभूमि है क्याकि वहाँके मनुष्य परलोक पुनर्जन्म या मोक्षको नहीं समझते।

श्रीअरविन्दके प्रकाशमे नीतिबोध, अध्यात्म और दिव्य जीवन

सव कुछ वदल जाय यदि मानव एक वार किसी तरह अध्यात्ममय वननको तैयार हा सके। किंतु उसकी प्रकृति इस उच्चतर नियमके प्रति विद्रोह करती है। मानवका अपनी अपूर्णता प्रिय है।

नीतिबोध यथार्थत आध्यात्मिक जीवनके प्रवेश-द्वारकी वह कुजी है, जिसक व्यवहारसे मानव मानवीय गुणोंस विभूपित हाता है। श्रीअरविन्द प्रकृतिस परमश्वरकी आर विकास करनके सोपानक रूपम मानवक पशुत्वका दिव्यत्वकी आर ले जानके लिये नीतिबोधका आश्रय परम उपयागी मानते हैं। मनुप्रणीत मानव-धर्मशास्त्रमें मानवको देहके स्तरपर पशु मानते हुए भा उसकी आत्माभिव्यक्तिक लिय धर्मके दस लक्षणाका उपदश दिया गया है। धर्मपालनसे अभ्युदय और नि श्रेयस दोना ससिद्ध होत हैं। नातिका यदि धर्मका अधिष्ठान मिले ता मानव-जन्म भी सार्थक हा जाता है।

नीतिवाध चतनाक विकासकी व्यावहारिक प्रक्रिया

है। अत स्वाभाविक है कि बुद्धिको नीतिका मार्ग ग्रहण कर उच्चतर चेतनासे प्रेरणा प्राप्त कर नीतिबोधका फलितार्थ— भगवान्‌का साक्षात्कार प्राप्त करते हुए जीवनमे उसकी अभिव्यक्ति बनानी होगी।

इसीलिये श्रीअरविन्दने नीतिबोधको उस सत्यचेतनाकी झलकका परिणाम माना है, जो न तो कोई समझौता करती है और न तो प्रदर्शनके लिये आडम्बरका आश्रय लेती है। नीति प्रतिज्ञा नहीं कार्य करती है, स्वप्न नहीं देखता अपितु साक्षात्कार करती है।

प्रकृति अपने विकासके पशुस्तरपर नीति-अनीतिका विवेक नही करती है। नित्यानित्य-विवेक भी नहीं रखती। प्राणके स्तरपर जब चेतना मानवके मनको मनन करनेके लिये बाध्य करती है तो नीतिबोधका जागरण होता है। मानवका मन जीवनकी समस्याओंका मनन तो कर सकता है, किंतु अपनी चचलता और मोहबद्धताके कारण मार्गदर्शन नहीं कर सकता। यह कार्य नीतिबोधका है। नीतिबोध ही धर्मके प्रकाशमे मार्गदर्शन कर सकता है। अत नीतिबोधके दो आधार सयम और नियम धर्मके शस्त्रमात्र ही नहीं सवाहक भी हैं।

नीतिबोध और धर्मके कारण मर्यादाका उद्भव होता है। मर्यादाका विवेक मनको उच्चतर और पूर्णतर धरातलपर प्रतिष्ठित करता है। मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र और जगज्जननी सीताजी इसके उदाहरण हैं। इन्होने उन सहस्रो मर्यादाओंको नीतिबोधक आदर्शके रूपमे प्रतिष्ठित करके मानव-जातिके समक्ष सहज उदाहरण प्रस्तुत किया है। छोटी-से-छोटी मर्यादाको सम्मान दिया है। ये नीतिबोधकी मर्यादाएँ, गुणोके समुच्चय मानवके धरातलसे किञ्चित् उच्चतर चेतनासे मर्यादाओंका जीवनमे अनुकरण करनेके लिये प्रेरित करते हैं।

नीतिबोध आन्तरिक और सासारिक विकासका अधिष्ठान है। आवेगो और अज्ञानमय प्रतिक्रियाओसे परिचालित होनेकी अपेक्षा यह श्रेय और प्रेय दोनोके लिये कल्याणप्रद है। इसकी उपलब्धिसे मानव सवेगोके खेलका मैदान नहीं बल्कि उनका स्वामी होनेका मार्ग प्राप्त करता है। नीतिबोधका ज्ञान और उसके अभिव्यक्त होनेकी प्रक्रिया ही कर्मको कर्मयोगमें परिवर्तित कर देती है। इस उपलब्धि किये बिना अध्यात्मका प्रारम्भ नहीं होता।

मन और बुद्धि जहाँ मननसे विकास प्रारम्भ करते है, वहीं नीतिबोध प्रबोधसे प्रारम्भ होता है। प्रबोधसे प्राप्त विवेक सत्य, शुभ और सुन्दरकी मौलिक पवित्रताकी उपलब्धि करानेका उपादान बनता है जो आचार और विचारको ऊर्ध्वमुखी बनाता है।

श्रीअरविन्द कहते है कि हमारे कार्यकी नैतिक ऊर्जा नैतिक परिणामोंका निर्धारण करती है, जिसके लक्षण आचार विचार और विवेकमे प्रकट होते है। आचार वह साँचा है जिसमे सत् निवास करके स्थिरताका अनुभव करता है। स्थायित्वका यह भाव ही मूल्यवान् है जो सत्‌को सुरक्षित रखता है और स्थायित्व देता है।

विचार मूल्याकन करता है, परीक्षण करता है मनन करता है और विकल्पोको चेतनाके समक्ष चुनावके लिये उपस्थित करता है।

विवेकका कार्य है चुनाव और मार्गदर्शन। विचार जहाँ समाप्त हो जाता है, आचार जहाँ अभ्यास बन जाता है वहाँसे विवेकका प्रारम्भ होता है। नीतिबोध विवेकपर ही आश्रित है। विवेक स्वाभाविक रूपसे अनीतिका स्पर्श नहीं करता। मानव-जीवनमे जो कुछ भी परम श्रेष्ठ और नीतिसम्मत है उसके पीछे विवेक विद्यमान है।

नीतिबोधसे जब धर्मका उदय होता है तो मानव अपनी अपूर्णताओके प्रति सचेत हो उठता है। व्यक्तित्वका आध्यात्मिक विकास अर्थात् आत्माको केन्द्र बनाकर चलनेवाले दिव्य जीवनका शिलान्यास नीतिबोधपर ही निर्भर है, जो व्यावहारिक जीवनको उच्चतर नियमोके अनुसार चलानेका प्रयास भी है।

साधारण प्रकृति तो नीतिके बन्धनमे रहना नहीं चाहती, किंतु नीतिका पालन कभी-कभी उस हथौड़ेके जैसा भी काम करता है, जिसके द्वारा प्रकृतिको नीतिका अनुगमन करनेके लिये तैयार किया जाता है। यही नीतिबोधकी पराकाष्ठा और सार्थकता है।

नीतिबोधकी सार्थकता भी इसीमे है कि वह दिव्य जीवनकी ओर अग्रसर हो उसीमे पर्यवसित और प्रतिष्ठित हो। [प्रेषक— श्रीदेवदत्तजी]

भारतीय राजनीतिशास्त्र

(पण्डितराज श्रीराजेश्वरशास्त्रीजी द्रविड)

सम्पूर्ण भारतका अर्थ-समृद्ध रखनेके लिये नीतिशास्त्रमें भगवान् (अर्थशास्त्र)-को निम्न विग्रहसे माना गया है यथा—

अर्थशास्त्रं भवेद् गौरं सारिकावदनं शुभम्।
अक्षसूत्रं फलं बिभ्रदन्नाहारं कमण्डलुम्॥

चतुर्भुजरूपधारी भगवद्विग्रहस्वरूप अर्थशास्त्रका वर्ण गौर है। मुख सारिका (मैना)-के समान मङ्गलकारी है। वे एक हाथमें (चतुर्वर्गपुरुषार्थरूप) फल तथा दूसरे हाथमें अक्षमाला (रुद्राक्षमाला) धारण किये हैं। उनके तीसरे हाथमें भक्ष्य भोज्य सामग्रीयुक्त पात्र तथा चौथे हाथमें कमण्डलु है।

पौर्वात्य* एवं पाश्चात्त्य राजनीतिकी परस्पर तुलना करनेपर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पाश्चात्त्य नीतिज्ञोंकी विचारसरणिकी अपेक्षा भारतीय नीतिशास्त्रज्ञोंकी विचारसरणि सभी दृष्टियोंसे श्रेष्ठ तथा परिपूर्ण है। भारतीय राजनीतिमें न केवल पाश्चात्त्य राजनीतिका समन्वय पाया जाता है बल्कि पाश्चात्त्य राजनीतिमें जो त्रुटियाँ हैं उनका अनुशीलन करके उनके संशोधनोंपर भी विचार किया गया है। इसपर प्रकाश डालनेके पूर्व यह समझ लेना चाहिये कि नीति किसे कहते हैं? तभी पौर्वात्य तथा पाश्चात्त्य नीतिका अन्तर समझ सकेंगे साथ ही पाश्चात्त्य नीतिके विशेष लक्षण इसमें किस प्रकार गर्भित हैं यह भी जान सकेंगे। नीतिका लक्षण इस प्रकार कहा गया है—

'प्रत्यक्षपरोक्षानुमानप्रमाणत्रयनिर्णीतायाः फलसिद्धौ देशकालानुकूल्ये सति यथासाध्यमुपायानुष्ठानलक्षणा क्रिया-नीतिर्नय ।'

अर्थात् प्रत्यक्ष, परोक्ष और अनुमान—इन तीनों प्रमाणोंसे जो फलसिद्धि निश्चित हो उसके लिये देश और कालके अनुकूल यथाशक्ति योजना करनेका नाम ही नीति है।

उक्त लक्षण इतना दूरदर्शितापूर्ण है कि किसी भी मतवादीको छिद्रान्वेषणका अवसर कहीं नहीं मिल सकता। शब्दप्रमाणपर आधारित अनुष्ठान केवल धर्म नामसे सम्बोधित होते हैं पर जब प्रत्यक्ष एवं तर्कके द्वारा भी हितका प्रतिपादन मिलता है तो वह धर्म न होकर नीति सम्बोधनको प्राप्त हो जाता है। इसका मतलब यह हुआ कि नीति-धर्म या धर्म-नीति एक ही होकर एक-दूसरेके पूरक हैं पृथक् नहीं। अतः प्रत्यक्ष एवं अनुमानके द्वारा जिस अनुष्ठान या क्रियाका हित समझमें आता है, उसे न करना या उसपर शङ्का-कुशङ्का करना भयानक भूल ही कही जायगी।

इस नीतिमें चार्वाक, बौद्ध एवं आस्तिक सभीका मतैक्य होना चाहिये। कोई शङ्का करे कि अदृष्टसे दृष्ट (प्रत्यक्ष)-का मेल कैसे सम्भव है, तो इसके लिये 'वेदान्तसूत्र-मुक्तावली'में कहा गया है कि 'अदृष्ट सर्वथा अदृष्ट नहीं होता। कुछ अवस्थामें वह दृश्यकोटिमें आता ही है। जैसे आँखमें लगा अंजन अपनेको नहीं दीखता, पर आँखमें अंजन नहीं है यह कोई नहीं कहता अथवा यों समझें कि नवनिर्मित होनेवाले शरीर तथा मनमें यदि बल बुद्धि, पुष्टि, स्फूर्ति, संस्कार, धारणा, मेधा और तुष्टि आदि गुणोंका संग्रह करना अपेक्षित हो तो संस्कारयुक्त बीजरूपी आहुतिकी शुद्धि सुरक्षित रखनी ही होगी।'

इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो गयी कि उलके रूपमें भिन्नता न रखनेके कारण ही अदृष्ट प्रत्यक्षरूपमें आ सका इससे नीतिके लक्षणमें कोई आघात नहीं आता। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

'तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।'
(६।४३)

इस प्रकार शाब्दी भावनाको समझ लेनेके बाद उसके निर्दिष्ट अनुष्ठानमें प्रवृत्त होनेके पहले यदि तर्कपूर्वक उसकी हितकारिताका विश्वास अपने मनमें जम जाय तब ऐसा माना जा सकता है कि शाब्दी भावनाका सम्बन्ध आर्थी भावना (अर्थात् जनप्रवृत्ति)-से हुआ। इस प्रकार नीतिके साथ घुला-मिला धर्मानुष्ठान मानवमात्रके चित्तको आकर्षित करनेवाला होना ही चाहिये।

यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम्।
अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति॥

अर्थात् जनहितपूर्वक न्यायपर चलनेवालेकी सहायता पशु-पक्षी भी करते देखे गये हैं और अन्यायपर चलनेवालेका सहारा सगा भाई भी छोड देता है।

* पश्चिमी देशोंको 'पाश्चात्त्य' तथा भारत आदि देशोंको 'पौर्वात्य' शब्दसे सम्बोधित किया जाता है।

मानव-समाजमे अनेक दल दिखायी देनेपर भी उन सभीको दो ही दलामे विभक्त मानना चाहिये—शब्दप्रमाणवादी और प्रत्यक्ष तथा अनुमानवादी। सृष्टिके आरम्भसे ही इन्हीं दो दलोके आधारपर विश्वकी समृद्धि स्थिर रही है। उक्त दानो ही दृष्टिका समन्वय करनेपर यही निष्कर्ष निकलता है कि धर्म, अर्थ और काम—इस त्रिवर्गकी ही सिद्धि उनका लक्ष्य है। प्रत्यक्षवादी चार्वाकका भी यही मत है कि **'नीतिकामशास्त्रानुसारेण वर्तन धर्म '** अर्थात् नीतिके अनुसार चलना ही धर्म है। इस प्रकार सर्वप्रमाण—सर्वदलाका समन्वय करते हुए भारतीय राजनीति सभीक हितोका उपदेश करती है, जिसकी प्रशसा मुक्तकण्ठसे वेद भी करते हैं। यथा—

तस्य श्रद्धेव शिर । ऋत दक्षिण पक्ष । सत्यमुत्तर पक्ष । योग आत्मा। मह पुच्छ प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति। (तै० उपनिषद् वल्ली २ अनुवाक ४ मन्त्र २)

इस मन्त्रका आशय यह है कि प्रत्यक्षानुमान-प्रमाणादिसे पुष्ट ज्ञानका नाम ही विज्ञान है। इसी विज्ञानका यहाँ गरुड पक्षीके रूपमे वर्णन किया गया है, श्रद्धाको मस्तक तथा ऋत और सत्य—इन दोनोका पख कहा गया है। सत्यसे आशय प्रत्यक्ष और अनुमानका तथा ऋतका आशय शब्दप्रमाणसे लिया गया है। इन तीना प्रमाणाका समन्वय करते हुए चित्त-वृत्तिको स्थिर करना—यही उस गरुडकी आत्मा हे। यदि इस सत्य ओर ऋतके बीच किसी प्रकारका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाय तो फिर उस ज्ञान-विज्ञानका रहना अथवा न रहना बराबर ही है।

नीतिपर लक्ष्य न रहा तो सर्वत्र पथ-भ्रष्टता छा जायगी और कामन्दक आचार्यका यह उद्घोष सत्य हो जायगा कि दण्डनीतिके अभावम सत्यकी भी प्रतिष्ठा नही रह पायेगी—**'सत्यस्यापि न हि सत्यता दण्डनीतेस्तु विप्लवे'**—अत **'सत्य वर्तेन परिषिञ्चामि'** सत्य-व्यवहारसे आप्लावित करता हूँ—आदि मन्त्राका भाव होना चाहिये। नीति-नियम सभीके लिये समान रूपसे माननीय होने चाहिये भले ही उसे कोई हठधर्मी न माने, पर हम भारतीय विशपरूपेण नियमम बँधे हैं। कारण यह है कि उस विधिसे सम्भव हानवाल अदृष्टाका रक्षण हमारे लिये परम आवश्यक है यह वात मीमासा (यज्ञ)-के उदाहरणसे स्पष्ट समझम आ जायगी। दर्श-पूर्णमास यज्ञमे **'व्रीहीन् वहन्ति'** वाक्य वैदिकाके सामने आता है। इस विधिका मतलब ह कि चावल निकालनक लिये धान कूटा जाय। चावल तो नख-मशीन आदिक द्वारा भी निकाला जा सकता हे, पर इनमे कान-सी विधि अपनायी जाय तब शास्त्रद्वारा निर्णय हुआ कि चावल निकालनतक धान कूटा जाय अर्थात् फल-प्राप्तितक प्रयत्न किया जाय। यह बात अलग है कि एकाध चावलमें भूसी रह जाय तो उस नखसे हटा देना उचित हे, कूटनेपर तो चावल ही टूट जायगा वह अक्षत न रहेगा—क्षत-विक्षत हा जायगा। इसम तात्कालिकी बुद्धिसे भी काम लेना चाहिये, जेसे दाहिने हाथसे भोजन करना और अदालत जाते समय बायसे चलना आदि।

इसलिये गीताके महावाक्य **'तस्माच्छास्त्र प्रमाण त कार्याकार्यव्यवस्थितौ'** (१६। २४)-के अनुसार भारतीय शास्त्रोके आधारपर नीतिनिर्धारण करके चलना चाहिय। हितोपदेश ग्रन्थम चार भाग हैं—मित्रलाभ सुहृद्भद विग्रह और सधि। इसम सधिको भी भारतीय नीतिज्ञान नीतिका अभिन्न अङ्ग माना है। आचार्य चाणक्यके अनुसार सधिक तीन पर्यायवाची नाम हैं—**'शम समाधि सधि '** (का० अर्थशास्त्र) और **'राज्ञा विश्वासोपगम सधि '** यह भी कहा है। सधियाँ दो प्रकारकी होती हैं—(१) चरसधि और (२) स्थिरसधि। अल्पावधि निभनवाली चरसधि और चिरस्थायी निभनेवाली स्थिरसधि होती है।

'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्ट गुणकर्मविभागश '—गीताक इस वाक्यानुसार शासन-पद्धतिमे राज्य (शासन) चलानेम चारा वर्णोका बहुत सहयोग रहता था। पर आज ता स्थितियाँ सर्वथा इसक विपरीत हो गयी हैं।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरत ससिद्धि लभते नर ।

ब्राह्मणका दायित्व विद्वान् हाकर सभीका सन्मार्ग सिखाना क्षत्रियको दशकी रक्षाका भार, वैश्यको व्यापार एव अथसमृद्धिका भार तथा अन्य वर्गको सेवाका भार सौंपा जाता था।

प्रशासनके स्थिरता-हेतु चार सधि-नियमाका पालन बतलाया गया है—प्रतिग्रह प्रतिभू, शपथ और सत्य। यहाँ सत्यस तात्पर्य अपौरुपेय वेदाद्वारा परलाकमे विश्वास करना भी है। इसलिये राजा या शासकका अपनी सभाम विद्वानाको ही सभासद्‌क रूपम रखना चाहिये चाटुकार या मूर्खोंको नहीं। जैसा कि योगी याज्ञवल्क्यजीन कहा है—

श्रुताध्ययनसम्पन्ना धर्मज्ञा सत्यवादिन ।
राज्ञा सभासद कार्या रिपौ मित्रे च य समा ॥

राजा वेदाध्ययनसम्पन्न ब्राह्मणो (विद्वानो)-को जो धर्मज्ञ तथा सत्यवादी हो तथा शत्रु एवं मित्रमें भी समबुद्धि रखकर उचित निर्णय देनेवाले हों, उन्हें ही सभासद् बनाये। मनुने भी कहा है कि निम्न मान्यताएँ उत्तरोत्तर गुरुतर मानी जाती हैं—

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्॥

(मनु० २। १३६)

प्रथम धनको मान्यता दे, उससे अधिक अपने भाईको, उससे अधिक वयोवृद्धको, उससे अधिक कर्मको और सबसे अधिक मान्य स्थान विद्याको दे।

पूर्वोक्त स्थिरमेधिके चारों उपादानोंमें शपथ उपादानकी आज अवहेलना हो रही है, तात्पर्य यह है कि सही शपथ (प्रतिज्ञा)-को भूलकर मिथ्यात्वका आश्रय लिया जा रहा है। शपथके वास्तविक स्वरूपको भुला दिया गया है। शपथका साक्षात् सम्बन्ध आत्मासे सत्यस्वरूप भगवान्से है, किंतु अब तो शपथकी मर्यादा ही समाप्त-सी हो गयी है। पहले सर्वत्र मंत्री करते समय शपथको प्राथमिकता दी जाती थी, शपथ एक सही प्रण था— *'निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह'* यह शपथ अन्तरात्माकी अभिव्यक्ति ही तो थी। जो भी ब्रह्मचर्याश्रममें प्रथम आ गया गुरुकुलमें उसे शपथ (प्रतिज्ञा) दिलायी जाती थी, जिसे वह आजीवन नहीं भूलता था। गुरु शिष्यको उपदेश देते थे—

दिवा मा स्वाप्सीः, ब्रह्मचार्यसि, स्वाध्यायान्मा प्रमदः, सत्यं वद, धर्मं चर, मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, अतिथिदेवो भव, आचार्यदेवो भव, कुशलान्न प्रमदितव्यम्, धर्मान्न प्रमदितव्यम्, सत्यान्न प्रमदितव्यम्, यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि। (तैत्तिरीय आरण्यक)

उपर्युक्त पङ्क्तियोंका आशय यही है कि निरालस्य होकर देशकी सेवा करो और यह तभी सम्भव होगा जब आप माता-पिता, अतिथि-आचार्यको देवता मानकर जो अनिन्द्य सत्कर्म हैं उन्हींका सेवन करेंगे तथा लोकापवादसे डरकर काम करेंगे। इसी प्रतिज्ञा-पालनको आचार या सदाचार कहा गया है—

आचारः परमो धर्मः।' 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः।'

राजमन्त्रियोंमें सुशीलता आदि तैंतीस गुण बताये गये हैं, वे योग्यताके आधारपर ही चुने जाने चाहिये। योग्यताका मापदण्ड अवश्य निर्धारित करना चाहिये, यदि ऐसा न होगा तो योग्यकी जगह अयोग्य बैठ जायगा और उसका परिणाम विपरीत होगा।

अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यानां च विपर्ययः।
त्रीणि तत्र भविष्यन्ति दुर्भिक्षं मरणं भयम्॥

जहाँ अपूज्य पूजे जाते हैं और योग्य व्यक्तिका अपमान होता है वहाँ दुर्भिक्ष, अपमृत्यु और भय सर्वदाके लिये छा जाता है। मन्त्रियोंको कम-से-कम बारह व्यसनोंसे दूर ही रहना चाहिये। 'कामन्दकनीतिसार'के चौदहवें सर्गमें कहा गया है—कटुभाषण, कठोर दण्ड, लोभ, मद्यपान, स्त्रीलम्पटता, शिकार, जुआ, आलस्य, अकड़, अभिमान, प्रमाद और कलहप्रियता—इन बारह व्यसनोंका जो त्याग करे वही देशका हित कर सकता है। इन बारह व्यसनोंका त्याग राजासहित मन्त्रियोंमें भी होना ही चाहिये। 'कामन्दकनीतिसार'में कहा गया है कि सभासद् तथा मन्त्री बनाते समय इन सात गुणोंकी भी परीक्षा कर लेनी चाहिये—निर्भीकता, लोकप्रियता, प्रतिभा, वाक्पटुता, सत्यवादिता, विरोधवारकवृत्ति और क्षुद्रताका अभाव।

राज्य या शासनका मतलब यों समझा जाय कि जैसे पैरसे लेकर सिरतक जितने भी अङ्ग हैं सभी मिलकर शरीर कहलाते हैं, वैसे ही मन्त्री, राष्ट्र, दुर्ग, कोश, बल और मित्र—इन सभीके समुच्चयका नाम ही राज्य है—

स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रं च दुर्गं कोशो बलं सुहृद्।
एतावदुच्यते राज्यं सत्त्वबुद्धिव्यपाश्रयम्॥

(कामन्दकनीतिसार)

इसलिये शासक या राजा स्वतन्त्र न होकर राज्यका ही अङ्ग माना जाता है। शासकको प्रजामें अपना वर्चस्व रखनेके लिये साम, दान, दण्ड तथा भेद—इन चारों नीतियोंका पालन निर्दोषरूपसे करना ही चाहिये अर्थात् राजा अपनी प्रजाको यदि पुत्रवत् मानकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावनासे काम करेगा तो वही प्रजापति कहलायेगा। यथा—

प्रजानां विनयाधानाद् रक्षणाद् भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः॥

(रघुवंश १। २४)

जिस प्रकार चिकित्सा लक्षणोंके आधारपर नहीं, कारणोंके आधारपर चलती है अर्थात् किसी भी रोगका निदान (कारण) जाने बिना केवल लाक्षणिक चिकित्सा

सफल नहीं हाती उसी प्रकार शासकको भी जन-समस्याआकी बाह्य-रूपरखा मात्र न देखकर ठोस कारणाका भी ज्ञान करना होगा तभी शासक सफल हो सकेगा। इसके लिये शासकको प्रभुशक्ति मन्त्रशक्ति, उत्साहशक्तिका भी सहारा लेना पडता है इनम भी उत्साहशक्तिकी प्रधानता है।

देवताआने समुद्र-मन्थनके समय दैत्यासे सामनीतिद्वारा मिलकर काम वना लिया। कहाँ राजाका पद और कहाँ प्रजाजनका कार्य। इनके मध्यम मधुर-पेशल वचन ही ऐसी कडी हे जा राजा-प्रजाम अभदकी पुष्टि करती है। इस ही 'साम' कहते हैं।

य प्रियाणि भाषन्ते प्रयच्छन्ति च सत्कृतिम्।
श्रीमन्तो वन्धचरणा देवास्ते नरविग्रहा ॥

अर्थात् जा प्रिय वचन बोलकर दानादिस जनताका सत्कार करते हैं, व देवतारूप मानव-शरीरधारी ही वन्दनीय होते हैं। वडे-वडे कार्य भी साम-दानादिकी नीतिस सुकर हाते देखे गय हैं।

राजा वृषपर्वासे शुक्राचार्यने अपनी कन्या देवयानीकी सवाके लिय उनकी कन्या शर्मिष्ठाको माँगा और यह भी कहा कि तभी व उनक राज्यम रहेगे। इसपर राजाने दान-नातिपर विचार करते हुए यह भी स्वीकार कर लिया। इस नीतिसे उनकी प्रशसा होती है ओर इसके विपरीत पाँच गाँव पाण्डवाको न देनेके कारण सर्वनाश करानेवाले दुर्योधनकी निन्दा होती है।

कामन्दकको भेद-नीतिके तीन रूप मान्य हैं—(१) स्नेह—रागको नष्ट करना (२) परस्पर सघर्ष उत्पन्न करना तथा (३) दूसराको डरा देना—

स्नेहरागापनयन सघर्षोत्पादन तथा।
सतर्जनस्तु भेदज्ञैर्भेदस्तु त्रिविध स्मृत ॥

दण्डनीतिके विषयमे कामन्दकका वचन हे—

वधोऽर्थहरण चैव परिक्लेशस्तथैव च।
इति दण्डविधानज्ञैर्दण्डस्तु त्रिविध स्मृत ॥

अर्थात् वध द्रव्यापहरण ओर क्लेश—ये ही तीन भेद दण्डके हैं।

राजा या शासकका चाहिय कि अधिकारीवर्ग, चोर, शासनसे सम्बन्धित लागा लोभी ओर शत्रु—इन पाँच महाभयासे जनताकी रक्षा करे—

आयुक्तेभ्योऽथ चौरेभ्य परेभ्यो राजवल्लभात्।
पृथ्वीपतिलोभाच्च प्रजाना पञ्चधा भयम्॥

राजाको बिना विचार किये दण्डका निर्धारण नहीं करना चाहिये। यदि वह अदण्ड्यको दण्डित ओर दण्ड्यको पुरस्कृत करता है ता वह अपयशका भागी तथा नरकगामी होता है। मनुने कहा है—

अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्।
अयशा महदाप्नोति नरक चैव गच्छति॥
(८।१२८)

इस प्रकार भारतीय नीतिम साम दाम, दण्ड तथा भेद—इन चारा उपायोका समुचित व्यवहार बतलाया गया है। भारतीय राजनीतिके बताये गये इन चारो उपायाक अतिरिक्त ऐसी कोई नयी नीति नहीं है जिसका व्यवहार पाश्चात्य राजनीतिमे देखा जाय। इन नीतियाके उलटे-सीधे उपयाग मात्रम इसकी विशेषता देखी जा सकती है। आज देशम छात्र-वर्गको राष्ट्र-प्रकृतिके अनुकूल नैतिक शिक्षाकी बहुत जरूरत है। विद्यार्थी विलासी न बनकर कर्मठ राष्ट्रसेवी वने। पाश्चात्य शिक्षा-प्रणालीक कारण आज उच्छृखलता, ज्ञानहीनता, अभिमान आदि सभी दुर्गुण उनमे पनप रहे हैं। बिना विद्वानाका सहारा लिये कोई सन्मार्ग नहीं मिल सकता। समस्त विद्याओका यथार्थ बाध करानेवाली एव समस्त कुशङ्काआका निवारण करनेवाली आन्वीक्षिकी विद्या, स्थिरसधिके प्राणस्वरूप और परलोक-विश्वासको सम्भव करनेवाली वैदिकी त्रयीविद्या तथा अर्थागम सम्भव करनेवाली व्यापार-विद्या, कृषि पशुपालन (वार्ता)-विद्याके साथ ही अपने कर्तव्य तथा सुरक्षाका मार्ग दिखानेवाली राजनातिविद्या (दण्डविद्या)—इन्हीं चार विद्याआका प्रचार-प्रसार अभीष्ट है।

यदि धर्म, अर्थ, काम ओर मोक्ष—इस चतुर्वर्ग-पुरुषार्थकी प्राप्ति अभीष्ट हो जाय तो प्रत्येक समझदार व्यक्ति कर्तव्यपरायण होकर भारतीय राजनीतिका अनुसरण करे और यह तभी सम्भव है जब हम निम्न महावाक्यका यथार्थरूपसे पालन करे—

यत्र योगेश्वर कृष्णा यत्र पार्थो धनुर्धर ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

[प्रेषक—प० श्रीप्रकाशचन्द्रजी शास्त्री]

महाराज युधिष्ठिरके जीवनसे आदर्श नीतिकी शिक्षा

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

महाराज युधिष्ठिरके सम्बन्धमें यह कहना अयुक्त न होगा कि इस संसारमें उनका जीवन महान् आदर्श था। जिस प्रकार त्रेतायुगमें साक्षात् मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी धर्म-पालनमें परम आदर्श थे, लगभग उसी प्रकार द्वापरयुगमें नीति और धर्मका पालन करनेमें महाराज युधिष्ठिर आदर्श थे। अतः महाभारतके समस्त पात्रोंमें नीति और धर्मका पालन करनेके विषयमें महाराज युधिष्ठिरका आचरण सर्वथा आदर्श एवं अनुकरणीय है। भारतवासियोंके लिये तो युधिष्ठिरका जीवन सन्मार्गपर ले चलनेवाला एक अलौकिक पथ-प्रदर्शक है। वे सद्गुण और सदाचारके भण्डार थे। जहाँ उनका निवास हो जाता था, वह स्थान सद्गुण और सदाचारसे परिप्लावित हो जाता था। वे अपनेसे वैर करनेवाले व्यक्तियोंसे भी दयापूर्ण प्रेमका व्यवहार करते थे, इसलिये उनको लोग अजातशत्रु कहा करते थे। क्षात्रधर्ममें उनकी इतनी दृढ़ता थी कि प्राण भले ही चले जायँ, परंतु उन्हें युद्धमें मुँह मोड़ना कभी नहीं आता था—इसी कारण वे 'युधिष्ठिर' नामसे प्रसिद्ध थे। उनके जैसा धर्म-पालनका उदाहरण संसारके इतिहासमें कम ही मिलता है। उनमें प्रायः ऐसी कोई भी बात नहीं थी जो हमारे लिये शिक्षाप्रद न हो। एक जुआ खेलनेको छोड़कर उनमें और कोई भी दुर्व्यसन नहीं था। वह भी बहुत कम मात्रामें था। ऐसे तो बड़े-से-बड़े धार्मिक पुरुषोंके जीवनकी सूक्ष्म आलोचना करनेपर ऐसी कई बातें प्रतीत हो सकती हैं जो अनुकरणके योग्य न हों, किंतु महाराज युधिष्ठिरकी प्रायः सभी बातें अनुकरणीय हैं। गुरु द्रोणाचार्यके पूछनेपर अश्वत्थामाकी मृत्युके सम्बन्धमें उन्होंने जो छलयुक्त मिथ्या भाषण किया था, उसके लिये वे सदा पश्चात्ताप किया करते थे। घरमें उनका बर्ताव इतना शुद्ध और उत्तम होता था कि उनके भाई, माता, स्त्री, नौकर आदि सभी उनसे सदा प्रसन्न रहते थे। इतना ही नहीं, वे जिस देशमें निवास करते थे, वहाँकी सारी प्रजा भी उनके सद्व्यवहारके कारण उनको श्रद्धा और पूज्यभावसे देखा करती थी। ब्राह्मण और साधु-समाज तो उनके विनम्र एवं मधुर स्वभावको देखकर सदा ही उनपर मुग्ध रहा करता था। तात्पर्य यह है कि महाराज युधिष्ठिर एक बड़े भारी सद्गुणसम्पन्न, सदाचारी, स्वार्थत्यागी सत्यवादी और क्षमाशील धर्मात्मा थे। 'कल्याण' के पाठक महानुभावोंके लाभार्थ उनके जीवनकी कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओंका दिग्दर्शन मात्र यहाँ कराया जाता है। मेरा विश्वास है कि महाराज युधिष्ठिरके नैतिक गुणों और आचरणोंको समझकर तदनुसार आचरण करनेसे बहुत भारी लाभ हो सकता है।

निर्वैरताकी नीति

एक समयकी बात है। राजा दुर्योधन कर्ण, शकुनि और दुःशासन आदि भाइयोंके सहित बड़ी भारी सेना लेकर गौओंके निरीक्षणका बहाना करके पाण्डवोंको संताप पहुँचानेके विचारसे उस द्वैत नामक वनमें गया जिसमें पाण्डव निवास करते थे। दुर्योधनका उद्देश्य बुरा तो था ही देवराज इन्द्र उसकी इस बातको जान गये। बस, उन्होंने चित्रसेन गन्धर्वको आज्ञा दी कि 'जल्दीसे जाकर उस दुष्ट दुर्योधनको बाँध लाओ।' देवराजकी यह आज्ञा पाकर वह गन्धर्व बात-की-बातमें दुर्योधनके पास पहुँचा और युद्धमें परास्त करके उसको साथियोंसहित बाँधकर ले गया। किसी प्रकार जान बचाकर दुर्योधनका वृद्ध मन्त्री कुछ सैनिकोंके साथ तुरंत महाराज युधिष्ठिरकी शरणमें पहुँचा और वहाँपर उसने इस घटनाका सारा समाचार सुनाया और उसने दुर्योधन आदिको गन्धर्वके हाथसे छुड़ानेकी भी प्रार्थना की। इतना सुनकर महाराज युधिष्ठिर कब चुप रहनेवाले थे? वे तुरंत दुर्योधनकी रक्षाके लिये प्रस्तुत हो गये। उन्होंने कहा—'नरव्याघ्र अर्जुन, नकुल, सहदेव और अजेय वीर भीमसेन! उठो, उठो, तुम सब लोग शरणमें आये हुए इन पुरुषोंकी और अपने कुलवालोंकी रक्षाके लिये शस्त्र ग्रहण करके तैयार हो जाओ! जरा भी विलम्ब मत करो, देखो दुर्योधनको एक गन्धर्व कैद करके लिये जा रहा है। उसे तुरंत छुड़ाओ।'[१] महाराज युधिष्ठिरने फिर कहा—'मेरे

१ शरणं च प्रपन्नानां त्राणार्थं च कुलस्य च। उत्तिष्ठध्वं नरव्याघ्राः सज्जीभवत मा चिरम्॥
अर्जुनश्च यमौ चैव त्वं च भीमापराजितः। मोक्षयध्वं नरव्याघ्रा ह्रियमाणं सुयोधनम्॥ (महा० वन० २४३।६-७)

वीरश्रेष्ठ बन्धुओ! शरणागतकी यथाशक्ति रक्षा करना सभी क्षत्रिय राजाओंका महान् कर्तव्य है। शत्रुकी रक्षा करनेका माहात्म्य तो और भी बड़ा है। जिन पुण्यकर्मोंके द्वारा वरप्राप्ति, राज्यप्राप्ति और पुत्रप्राप्ति हो सकती है, उन सबके माहात्म्य एक साथ मिलकर शत्रुरक्षाके अकले माहात्म्यके बराबर हैं। यदि यह यज्ञ मैंने आरम्भ न किया होता तो स्वयं ही उस बंदी दुर्योधनको छुड़ानेके लिये दौड़ पड़ता, पर अब विवशता है। इसीलिये कहता हूँ, वीरवरो, जाओ—जल्दी जाओ, हे कुरुनन्दन भीमसेन! यदि वह गन्धर्वराज समझानेसे न माने तो तुम लोग अपना प्रबल पराक्रम दिखाकर किसी तरह अपने भाई दुर्योधनको उसकी कैदसे छुड़ाओ।' इस प्रकार अजातशत्रु धर्मराजके इन वचनोंको सुनकर भीमसेन आदि चारों भाइयोंके मुखपर प्रसन्नता छा गयी। उन लोगोंके अधर और भुजदण्ड एक साथ फड़क उठे। उन सबकी ओरसे महावीर अर्जुनने कहा—'महाराज! आपकी जो आज्ञा! यदि गन्धर्वराज समझाने-बुझानेपर दुर्योधनको छोड़ देंगे, तब तो ठीक ही है, नहीं तो यह पृथ्वीमाता गन्धर्वराजका रक्त-पान करेगी।' अर्जुनकी इस प्रतिज्ञाको सुनकर दुर्योधनके बूढ़े मन्त्री आदिको शान्ति मिली। इधर ये चारों पराक्रमी पाण्डव दुर्योधनको मुक्त करनेके लिये चल पड़े। सामना होनेपर अर्जुनने धर्मराजकी आज्ञानुसार दुर्योधनको यों ही मुक्त कर देनेके लिये गन्धर्वोंको बहुत समझाया परंतु उन्होंने इनकी एक न सुनी। तब लाचार होकर अर्जुनने घोर युद्धद्वारा गन्धर्वोंको परास्त कर दिया। तत्पश्चात् परास्त चित्रसेनने अपना परिचय दिया और दुर्योधन आदिको कैद करनेका कारण बताया। यह सुनकर पाण्डवोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे चित्रसेन और दुर्योधन आदिको लेकर धर्मराजके पास आये। धर्मराजने दुर्योधनकी सारी करतूत सुनकर भी बड़े प्रेमके साथ दुर्योधन और उसके सब साथी बंदियोंको मुक्त करा दिया। फिर उसको स्नेहपूर्वक आश्वासन देते हुए उन्होंने सबको घर जानेकी आज्ञा दे दी। दुर्योधन लज्जित होकर सबके साथ घर लौट गया। ऋषि-मुनि तथा ब्राह्मण लोग धर्मराज युधिष्ठिरकी प्रशंसा करने लगे।

यह है महाराज युधिष्ठिरके आदर्श जीवनकी एक घटना! निर्वैरता तथा धर्मपालनका अनूठा उदाहरण! उनके मनमें दुष्ट दुर्योधनकी काली करतूतोंको सुनकर क्रोधकी छायाका भी स्पर्श नहीं हुआ। इतना ही नहीं, उसके दोषोंकी ओर उनकी दृष्टि भी नहीं गयी। बल्कि उनका हृदय उलटे दयासे भर गया। उन्होंने जल्दी ही उसको गन्धर्वराजके कठिन बन्धनसे मुक्त करवा दिया। यहीं तक नहीं उनकी इस क्रियासे दुर्योधन दुखी और लज्जित न हो, इसके लिये उन्होंने प्रेमपूर्ण वचनोंसे उसको आश्वासन भी दिया! मित्रोंकी तो बात ही क्या दुःखमें पड़े हुए शत्रुओंके प्रति भी हमारा क्या कर्तव्य है, इसकी शिक्षा स्पष्टरूपसे हमें धर्मराज युधिष्ठिर दे रहे हैं।

धैर्य-नीति

यह बात तो संसारमें प्रसिद्ध ही है कि दुर्योधनने कर्णकी सम्मतिसे शकुनिके द्वारा धर्मराज युधिष्ठिरको छलसे जुएमें हराकर दाँवपर रखी हुई द्रौपदीको जीत लिया था। उसके पश्चात् दुर्योधनकी आज्ञासे दुःशासनने द्रौपदीको केश पकड़कर खींचते हुए भरी सभामें उपस्थित किया। द्रौपदी अपनी लाज बचानेके लिये रुदन करती हुई पुकारने लगी। सारी सभा द्रौपदीकी व्याकुलतासे भरे हुए करुणापूर्ण रुदनको देखकर दुखी हो रही थी। किंतु दुर्योधनके भयसे विदुर और विकर्णके सिवा किसीने भी उसके इस घृणित कुकर्मका विरोध तक नहीं किया। द्रौपदी उस समय रजस्वला थी और उसके शरीरपर एक ही वस्त्र था। ऐसी अवस्थामें भी दुःशासनने भरी सभामें उसका वस्त्र खींचकर

उसे नगी कर दना चाहा। कर्ण नाना प्रकारके दुर्वचनाद्वारा द्रोपदीका अपमान करने लगा। दुष्ट दुर्योधनने तो अपनी वायी जाँध दिखलाकर उसपर बठनेका सकेत करके द्रोपदीके अपमानकी हद कर दी। वस्तुत भारतका एक सती अबलाके पति अत्याचारकी यह पराकाष्ठा थी। अब भामसेनसे नहीं रहा गया। क्रोधके मारे उनके होठ फडक उठे, रोमकूपासे चिनगारियाँ निकलने लगीं, किंतु धर्मराजकी आज्ञा और सकेतके बिना उनसे कुछ भी करते न बना। अर्जुन नकुल, सहदेव भी आँखासे अगारे बरसाकर होठ चबाते ही रह गये। परतु धर्मात्मा युधिष्ठिर तो वचनबद्ध थे इसलिये वे यह सब देख-सुनकर भी मौनव्रत धारण किये हुए चुपचाप शान्तभावमे बैठे रहे। द्रोपदी चीख उठी, उसने अपनी रक्षाके लिये आँखाम आँसू भरकर भरी सभामे सबसे अनुरोध किया पर सबने सिर नीचा कर लिया। अन्तमे उसने सबसे निराश होकर भगवान् श्रीकृष्णको सहायताके लिये पुकारा और आर्त भक्तकी पुकार सुनकर भगवान्ने ही द्रौपदीकी लाज बचायी। हम यहाँ युधिष्ठिर महाराजके धैर्यको देखना है। वे जरा-सा इशारा कर देते तो एक क्षणमे वहाँपर प्रलयका दृश्य उपस्थित हो गया होता परतु उन्होंने उस समय धैर्यका सच्चा स्वरूप क्या हो सकता है, इसको प्रत्यक्ष करके दिखला दिया। धन्य हैं अपूर्व धैर्यवान् युधिष्ठिरजी महाराज।

अक्रोध एवं क्षमाकी नीति

महाराज युधिष्ठिर अक्रोध और क्षमाके मूर्तिमान् विग्रह थे। महाभारतके वनपर्वमे[1] एक कथा आती है कि द्रोपदीने एक बार महाराज युधिष्ठिरके मनमे क्रोधका संचार करानेके लिये अतिशय चेष्टा की। उसने महाराजसे कहा—'नाथ। मैं राजा द्रुपदकी कन्या हूँ, पाण्डवाकी धर्मपत्नी हूँ, धृष्टद्युम्नकी भगिनी हूँ मुझको जगलामे मारी-मारी फिरती देखकर तथा अपने छोटे भाइयाको वनवासके घोर दु खसे व्याकुल देखकर भी यदि आपको धृतराष्ट्रके पुत्रोपर क्रोध नहीं आता तो इससे मालूम होता है कि आपमे जरा भी तेज और क्रोधकी मात्रा नहीं है। परतु देव। जिस मनुष्यमे तेज और क्रोधका अभाव है, जो क्रोधके पात्रपर भी क्रोध नहीं करता, वह तो क्षत्रिय कहलाने योग्य ही नहीं है। जो उपकारी हो, जिसने भूल या मूर्खतासे कोई अपराध कर दिया हो अथवा अपराध करके जो क्षमाप्रार्थी हो गया हो उसको क्षमा करना तो क्षत्रियका परम धर्म है, परतु जो जान-बूझकर बार-बार अपराध करता हो उसको भी क्षमा करते रहना क्षत्रियका धर्म नहीं है। अत स्वामी। जान-बूझकर नित्य ही अनेको अपराध करनेवाले ये धृतराष्ट्रपुत्र क्षमाके पात्र नहीं, बल्कि क्रोधके पात्र हैं। इन्हें समुचित दण्ड मिलना ही चाहिये।' यह सुनकर महाराज युधिष्ठिरने उत्तर दिया—'द्रौपदी। तुम्हारा कहना ठीक है, किंतु जो मनुष्य क्रोधके पात्रको भी क्षमा कर देता है वह अपनेको और उसको दोनाको ही महान् सकटसे बचानेवाला होता है।[2] अत हे द्रोपदी। धीर पुरुषाद्वारा त्यागे हुए क्रोधको मैं अपने हृदयमें कैसे स्थान दे सकता हूँ?[3] क्रोधके वशीभूत हुआ मनुष्य तो सभी पापाको कर सकता है। वह अपने गुरुजनाका नाश कर डालता है। श्रेष्ठ पुरुषाका तिरस्कार कर देता है। क्रोधी पुत्र अपने पिताको तथा क्रोध करनेवाली स्त्री अपने पति तकको मार डालता है। क्रोधी पुरुषको अपने कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान बिलकुल नहीं रहता वह जो चाहे सो अनर्थ बात-की-बातमे कर डालता है। उसे वाच्य-अवाच्यका भी ध्यान नहीं रहता[4] वह जो मनमे आता है वही बकने लगता है। अत तुम्हीं बतलाओ, ऐसे अनर्थोके मूल क्रोधको मैं कैसे आश्रय दे सकता हूँ? द्रौपदी। क्रोधको तेज मानना मूर्खता है। वास्तवमे जहाँ तेज है, वहाँ तो क्रोध रह ही नहीं सकता। ज्ञानियाका यह वचन है तथा मेरा भी यही निश्चय है कि जिस पुरुषमे क्रोध होता ही नहीं अथवा क्रोध होनेपर भी जो अपने विवेकद्वारा उसे शान्त कर देता है, उसीको तेजस्वी कहते हैं, न कि क्रोधीको तेजस्वी कहा जाता है। सुनो, जो क्रोधपात्रको भी क्षमा कर देता है, वह सनातन लोकको प्राप्त होता है।

---

१ वनपर्वमे २७ २८ २९ अध्याय देखिये।

२ आत्मान च पराश्चैव त्रायते महतो भयात्। क्रुध्यन्तमप्रतिक्रुध्यन् द्वयोरेष चिकित्सक॥ (वन० २९।९)

३ त क्रोध वर्जित धीरै कथमस्मद्विधश्चरेत्। एतद् द्रौपदि सधाय न मे मन्यु प्रवर्धते॥ (वन० २९।८)

४ वाच्यावाच्य हि कुपिता न प्रजानन्ति कर्हिचित्। नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्य विद्यते तथा॥ (वन २९।५)

महामुनि कश्यपन तो कहा है कि क्षमा ही धर्म है, क्षमा ही यज्ञ है, क्षमा ही वेद है आर क्षमा ही शास्त्र है। इस प्रकार क्षमाके स्वरूपका जाननेवाला सबको क्षमा ही करता ह।[१] क्षमा ही ब्रह्म, क्षमा ही भूत भविष्य तप, शौच, सत्य सब कुछ हे। इस चराचर जगत्को भी क्षमाने ही धारण कर रखा है।[२] तेजस्वियाका तेज तपस्वियोंका ब्रह्म, सत्यवादियोंका सत्य याज्ञिकोका यज्ञ तथा मनको वशमे करनेवालोकी शान्ति भी क्षमा ही है।[३] जिस क्षमाके आधारपर सत्य, ब्रह्म, यज्ञ ओर पवित्र लोक स्थित हैं, उस क्षमाको मैं कैसे त्याग सकता हूँ?[४] तपस्वियाको, ज्ञानियाको कर्मियोको जो गति मिलती है, उससे भी उत्तम गति क्षमावान् पुरुषाको मिलती है। जो सब प्रकारसे क्षमाको धारण किये होते हैं, उनको ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। अत सबको निरन्तर क्षमाशील बनना चाहिये।[५] हे द्रौपदी! तू भी क्रोधका परित्याग करके क्षमा धारण कर।'

कितना सुन्दर उपदेश है, कितन भव्य भाव हैं। जगलम दु खसे कातर बनी हुई अपनी धर्मपत्नीके प्रति निकले हुए धर्मराजके ये वचन अक्रोधके ज्वलन्त उदाहरण हैं। तेज क्षमा और शान्तिका इतना सुन्दर सम्मिश्रण और किसीम प्राय ढूँढनेसे भी नहीं मिलता।

सत्य-नीति

महाराज युधिष्ठिर सत्यवादी थे यह शास्त्र तथा लोक दोनोमे ही प्रसिद्ध है। भीमसेनने एक समय धर्मराजसे अपने भाइयो तथा द्रौपदीके कष्टाकी ओर ध्यान दिलाकर जुएम हारे हुए अपने राज्यको बलपूर्वक वापस कर लेनकी प्रार्थना की।[६] इसपर महाराज युधिष्ठिरा उत्तर दिया—'भीमसेन! राज्य, पुत्र, कीर्ति, धन—ये सब एक साथ मिलकर सत्यके सोलहवे हिस्सेके समान भी नहीं हे। अमरता और प्राणास भी बढकर में सत्यपालनरूप धर्मको मानता हूँ। तू मरी प्रतिज्ञाको सच मान।[७] कुरुवशियाके सामन की गयी अपनी उस सत्य प्रतिज्ञासे में जरा भी विचलित नहीं हो सकता। तू बीज वाकर फलकी प्रतीक्षा करनेवाले किसानकी तरह वनवास तथा अज्ञातवासके समाप्तिकालकी प्रतीक्षा कर।' भीमसेनने फिर प्रार्थना की—'महाराज! हमलाग तेरह महीनेतक तो वनवास कर ही चुके है, वदके आज्ञानुसार आप इसीको तेरह वर्ष क्या न समझ ले?'[८] कितु धर्मराजन इसको भी छलयुक्त सत्यका आश्रय लेना समझा आर उसे स्वीकार नहीं किया। व अपने यथार्थ सत्यपर ही डटे रह।

धर्मराजकी सत्यतापर उनके शत्रु भी विश्वास करते थे। सत्यपालनकी महिमाके कारण उनका रथ पृथ्वीसे चार अगुल ऊपर उठकर चला करता था। सत्यपालनका इतना माहात्म्य है। महाभारतम तो एक जगह कहा गया है कि यदि एक सहस्र अश्वमेधयज्ञाका फल केवल सत्यक महाफलके साथ तोला जाय तो उसकी अपेक्षा सत्यका फल ही अधिक भारी सिद्ध होगा।[९]

परतु कहाँ सत्यके आदर्शस्वरूप महाराज युधिष्ठिर और कहाँ प्राय पग-पगपर मिथ्याका आश्रय ग्रहण करनेवाला आजकलका साधारण जनसमुदाय।

विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता एव समताकी नीति

एक समय साक्षात् धर्मने महाराज युधिष्ठिरकी परीक्षा लेनेके उद्देश्यसे हरिणका रूप धारण किया। व किसी अग्निहोत्री ब्राह्मणकी अरणी (वह यन्त्र जिसस अग्नि प्रकट

---

१ क्षमा धर्म क्षमा यज्ञ क्षमा वेदा क्षमा श्रुतम्। य एतदेव जानाति स सर्वं क्षन्तुमर्हति॥ (वन० २९। ३६)

२ क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्य क्षमा भूत च भावि च। क्षमा तप क्षमा शौच क्षमयेद धृत जगत्॥ (वन० २९। ३७)

३ क्षमा तेजस्विना तेज क्षमा ब्रह्म तपस्विनाम्। क्षमा सत्य सत्यवता क्षमा यज्ञ क्षमा शम॥ (वन० २९। ४०)

४ ता क्षमा तादृशीं कृष्णे कथमस्मद्विधस्त्यजेत्। यस्या ब्रह्म च सत्य च यज्ञा लोकाश्च धिष्ठिता॥ (वन० २९। ४१)

५ क्षन्तव्यमव सतत पुरुषेण विजानता। यदा हि क्षमते सर्वं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ (वन० २९। ४२)

६ महाभारत वनपर्वके अध्याय ३३-३४ में यह प्रसग है।

७ मम प्रतिज्ञा च निबोध सत्या वृणे धर्मममृताज्जीविताच्च।
राज्य च पुत्राश्च यशा धन च सर्वं न सत्यस्य कलामुपैति॥ (वन० ३४। २२)

८ अस्माभिरुषिता सम्यग्वने मासास्त्रयोदश। परिमाणेन तान् पश्य तावत परिवत्सरान्॥ (वन० ३५। ३२)
या मास स सवत्सर इति श्रुते।

९ अश्वमेधसहस्र च सत्य च तुलया धृतम्। अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥ (शान्ति० १६२। २६)

किया जाता है)-को अपने सींगोमे उलझाकर जगलमे चले गये। ब्राह्मण व्याकुल होकर महाराज युधिष्ठिरके पास पहुँचा और उनसे हरिणद्वारा अपनी अरणीके ले जानेकी बात कही। ब्राह्मणने धर्मराजसे याचना की कि वे किसी प्रकार उस अरणीको ढुँढवाकर उसे दे दे ताकि अग्निहोत्रका काम बद न हो। यह सुनना था कि महाराज युधिष्ठिर अपने चारो भाइयोको साथ लेकर उस हरिणके पदचिह्नोका अनुसरण करते हुए जगलमे बहुत दूरतक चले गये। किंतु अन्तमें वह हरिण अन्तर्धान हो गया और सभी भाई प्याससे व्याकुल होकर और थककर एक वटवृक्षके नीचे बैठ गये। कुछ देर बाद धर्मराजकी आज्ञा लेकर नकुल जलकी खोजमे निकले। वे जल्दी ही एक जलाशयपर पहुँच गये, परतु ज्यो ही उन्होने वहाँके निर्मल जलको पीना चाहा त्यो ही यह आकाशवाणी हुई—'माद्रीपुत्र नकुल! यह स्थान मेरा है। मेरे प्रश्नोका उत्तर दिये बिना कोई इसका जल नहीं पी सकता। इसलिये तुम पहले मेरे प्रश्नोका उत्तर दो, फिर स्वय जल पीओ तथा भाइयोके लिये भी ले जाओ।' किंतु नकुल तो प्यासके मारे बेचैन हो रहे थे उन्होने उस आकाशवाणीकी ओर ध्यान नहीं दिया और जल पी लिया। फलस्वरूप जल पीते ही उनकी मृत्यु हो गयी। इधर नकुलके लौटनेमें विलम्ब हुआ देखकर धर्मराजकी आज्ञासे क्रमश सहदेव, अर्जुन और भीम—ये तीनो भाई भी उस जलाशयके निकट आये और इन तीनोने भी प्याससे व्याकुल होनेके कारण यक्षके प्रश्नोकी परवा न करते हुए जल-पान कर ही लिया और उसी प्रकार इन लोगोकी भी क्रमश मृत्यु हो गयी। अन्तमे महाराज युधिष्ठिरको स्वय ही उस जलाशयपर पहुँचना पडा। वहाँ उन्हे अपने चारो भाइयोको मरा हुआ देखकर बडा भारी दु ख तथा आश्चर्य हुआ। वे उनकी मृत्युका कारण सोचने लगे। जलकी परीक्षा करनेपर उसमे कोई दोष नहीं दिखायी पडा और न उन मृत भाइयोके शरीरपर कोई घाव ही दीख पडा। अत उन्हे उनकी मृत्युका कोई कारण समझमे नहीं आया। थोडी देर बाद अत्यन्त प्यास लगनेके कारण जब वे भी जल पीनेके लिये बढे तब फिर वही आकाशवाणी हुई। उसे सुनकर धर्मराजने आकाशचारीसे उसका परिचय पूछा। आकाशचारीने अपनेको यक्ष बतलाया तथा उसने यह भी कहा कि 'तुम्हारे भाइयोने सावधान करनेपर भी मेरे प्रश्नोका उत्तर नहीं दिया—लापरवाहीके साथ जल पी लिया। इसलिये मैंने ही

इनको मार डाला है। तुम भी मेरे प्रश्नोका उत्तर देकर ही जल पी सकते हो। अन्यथा तुम्हारी भी यही गति होगी।' महाराज युधिष्ठिरने कहा—'यक्ष! तुम प्रश्न करो। मैं अपनी बुद्धिके अनुसार तुम्हारे प्रश्नोका उत्तर देनेकी चेष्टा करूँगा।' इसपर यक्षने बहुतेरे प्रश्न किये और महाराज युधिष्ठिरने उसके सब प्रश्नोका यथोचित उत्तर दे दिया। यहाँ विस्तारभयसे उन सारे-के-सारे प्रश्नोका उल्लेख न करके केवल धर्मराजद्वारा दिये गये उत्तरोका अधिकाश भाग दिया जाता है। महाराज युधिष्ठिरने यक्षसे कहा—

वेदका अभ्यास करनेसे मनुष्य श्रोत्रिय होता है। तपस्यासे महत्ताको प्राप्त करता है। धैर्य रखनेसे दूसरे सहायक बन जाते हैं। वृद्धोकी सेवा करनेसे मनुष्य बुद्धिमान् होता है। तीनो वेदोके अनुसार किया हुआ कर्म नित्य फल देता है। मनको वशमे रखनेसे मनुष्यको कभी शोकका शिकार नहीं होना पडता। सत्पुरुषोके साथ की हुई मित्रता जीर्ण नहीं होती। मानके त्यागसे मनुष्य सबका प्रिय होता है। क्रोधके त्यागसे शोकरहित होता है। कामनाके त्यागसे उसे अर्थकी सिद्धि होती है। लोभके त्यागसे वह सुखी होता है। स्वधर्मपालनका नाम तप है, मनको वशमे करना दम है सहन करनेका नाम क्षमा है अकर्तव्यसे विमुख हो जाना लज्जा है। तत्त्वको यथार्थरूपसे जानना ज्ञान है

चित्तके शान्तभावका नाम शम है, सबको सुखी देखनेकी इच्छाका नाम आर्जव है। क्रोध मनुष्यका वैरी है। लोभ असीम व्याधि है। जो सब भूतोंके हितमें रत है वह साधु है और जो निर्दयी है वह असाधु है। धर्मपालनमें मूढता ही मोह है, अभिमान ही मान है, धर्ममें अकर्मण्यता ही आलस्य है, शोक करना ही मूर्खता है, स्वधर्ममें डटे रहना ही स्थिरता है। इन्द्रियनिग्रह धैर्य है, मनके मैलका त्याग करना स्नान है। प्राणियोंकी रक्षा करना दान है। धर्मको जाननेवाला ही पण्डित तथा नास्तिक ही मूर्ख है। जन्म-मरणरूप संसारको प्राप्त करानेवाली वासनाका नाम काम है। दूसरेकी उन्नतिको देखकर जो मनमें संताप होता है उसका नाम मत्सरता है। अहङ्कार ही महा अज्ञान है। मिथ्या धर्माचरण दिखानेका नाम दम्भ है। दूसरेके दोषोंको देखना पिशुनता है। जो पुरुष वेद, धर्मशास्त्र, ब्राह्मण, देवता, श्राद्ध और पितर आदिमें मिथ्याबुद्धि रखता है वह अक्षय नरकको पाता है। प्रिय वचन बोलनेवाला लोगोंका प्रिय होता है। विचारकर कार्य करनेवाला प्रायः विजय पाता है। मित्रोंकी संख्या बढ़ानेवाला सुखपूर्वक रहता है। धर्ममें रत पुरुष सद्गुणोंको प्राप्त करता है। प्रतिदिन प्राणी यमलोककी यात्रा करते हैं, इसको देखकर भी बचे हुए लोग सदा स्थिर रहना चाहते हैं, इससे बढ़कर और आश्चर्य क्या है?[१] जिसके लिये प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख, भूत-भविष्य आदि सब समान हैं वह निःसंदेह सबसे बड़ा धनी है।[२] इस प्रकार अनेक प्रश्नोंका समुचित उत्तर पानेके बाद यक्ष प्रसन्न हुआ। उसने महाराज युधिष्ठिरको जल पीनेकी आज्ञा दी और कहा—'इन चारों भाइयोंमेंसे तुम जिस एकको कहो मैं उसे जिला दूँगा।' इसपर महाराज युधिष्ठिरने अपने सबसे छोटे भाई नकुलको जिलानेके लिये कहा। यक्षने आश्चर्यचकित होकर पूछा—'अजी! दस हजार हाथियोंका बल रखनेवाले भीमको तथा जिसके अपार बाहुबलका तुम लोगोंको भरोसा है उस अर्जुनको छोड़कर तुम नकुलको क्या जिलाना चाहते हो?' महाराज युधिष्ठिरने कहा—'जो मनुष्य अपने धर्मका नाश कर देता है, या यों कहो कि त्याग कर देता है, उसको धर्म भी नष्ट कर देता है। परंतु जो धर्मकी रक्षा करता है उसकी रक्षा धर्म करता है।[३] यक्ष! मुझको लोग सदा धर्मपरायण रहनेवाला समझते हैं, इसलिये मैं धर्मको नहीं छोड़ सकता।[४] मेरे पिताकी कुन्ती और माद्री दो स्त्रियाँ थीं वे दोनों पुत्रवती बनी रहें, ऐसा मेरा निश्चित विचार है।[५] क्योंकि मेरे लिये जैसी मेरी माता कुन्ती है, वैसी ही माद्री है। उन दोनोंमें कोई भी मेरे लिये न्यूनाधिक नहीं है। इसलिये मैं उन दोनों माताओंपर समान भाव रखना चाहता हूँ। (कुन्तीका पुत्र मैं तो जीवित हूँ ही, अब माद्रीका पुत्र) नकुल भी जीवित हो जाय।[६] क्योंकि समता ही सब धर्मोंमें सबसे बड़ा धर्म है।' महाराज युधिष्ठिरका यह धर्ममय उत्तर सुनकर यक्ष बड़ा ही प्रसन्न हुआ। उसने कहा—'हे युधिष्ठिर! तुम सचमुच बड़े धर्मात्मा हो, अर्थ और काममें बढ़कर तुम धर्मको मानते हो। तुम्हारे सभी भाई जीवित हो जायँ।' यक्षके यह कहते ही चारों भाई तत्काल जी उठे। महाराज युधिष्ठिरने यक्षसे यथार्थ परिचय देनेकी प्रार्थना की। तब यक्षने खुलकर कहा—'वत्स युधिष्ठिर! मैं तुम्हारा पिता साक्षात् धर्म हूँ। तुम्हारी परीक्षा लेनेके लिये मैंने ही हरिणका रूप धारण किया था और उस ब्राह्मणकी अरणी उठा ले आया था।' इसके पश्चात् धर्मने महाराज युधिष्ठिरको अरणी लौटा दी तथा उनसे वर माँगनेके लिये कहा। महाराज युधिष्ठिरने प्रार्थना की—'देव! आप सनातन देवोंके देव हैं। मैं आपके दर्शनोंसे ही कृतार्थ हो गया। आप जो कुछ भी मुझे वर देंगे उसे मैं शिरोधार्य करूँगा। विभो! मुझको आप यही वर दें कि मैं क्रोध, लोभ, मोह आदिको सदाके लिये

१ अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्। शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥ (वनपर्व ३१३।११६)

२ तुल्ये प्रियाप्रिये यस्य सुखदुःखे तथैव च। अतीतानागते चोभे स वै सर्वधनी नरः॥ (वनपर्व ३१३।१२१)
सम्पूर्ण प्रश्नोत्तर वनपर्वके ३१३ वें अध्यायमें देखिये।

३ धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः। (वनपर्व ३१३।१२८)

४ धर्मशीलः सदा राजा इति मां मानवा विदुः। स्वधर्मान्न चलिष्यामि नकुलो यक्ष जीवतु॥ (वनपर्व ३१३।१३०)

५ कुन्ती चैव तु माद्री च द्वे भार्ये तु पितुर्मम। उभे सपुत्रे स्यातां वै इति मे धीयते मतिः॥ (वनपर्व ३१३।१३१)

६ यथा कुन्ती तथा माद्री विशेषो नास्ति मे तयोः। मातृभ्यां सममिच्छामि नकुलो यक्ष जीवतु॥ (वनपर्व ३१३।१३२)

जीत लूँ तथा मरा मन दान तप आर सत्यम निरन्तर लगा रहे।'[१] धर्मने कहा—'पाण्डव! ये गुण ता स्वभावस ही तुमम वर्तमान हैं। तुम ता साक्षात् धर्म हा, तथापि तुमन मुझस जितनी वस्तुएँ माँगी ह वे सब तुम्ह प्राप्त हा।'[२] यह कहकर धर्म अन्तधान हो गये।

महाराज युधिष्ठिरद्वारा दिये गये इन उत्तराकी मार्मिकताको सम्भव ह आजक नास्तिकयुगम पदा होनके कारण हमलोग न समझ सके तथा महाराज युधिष्ठिरका मूल्य न आँक सक किंतु यदि सरल मनस विचार किया जाय तो हमलोगाको धर्मराजक महान् व्यक्तित्वका प्रत्यक्षीकरण हो सकगा आर हम सब लोग उनकी विद्वत्ता बुद्धिमत्ता एव ममतास भर हुए इन वचनाको सुनकर 'धन्य धन्य' कह उठग! धर्मराजक जीवनम क्राध लोभ, मोह आदि दुगुणाका लश भी नहीं था दान तप, सत्य आदि दवा गुणाके व अधिष्ठान थ फिर भी उन्हान उपर्युक्त वरकी ही याचना की! धन्य ह उनकी निरभिमानता!!

पवित्रताकी नीति

जब महाराज युधिष्ठिर अपन सब भाइयाक साथ विराटनगरम छिप हुए थे तब कौरवाक द्वारा उन लागाका खोजक लिय अनेक प्रयत किय गय, पर कहीं भी उनका पता न चला। सभासदान नाना प्रकारक उपाय बतलाय परतु सभी निष्फल हा गय। अन्तम भीष्मपितामहने एक युक्ति बतलायी। उन्हान कहा—'अबतक पाण्डवाका पता लगानेक लिय जितन भा उपाय कामम लाये गय हैं तथा अभी कामम लाय जानवाल ह वे सब मरी सम्मतिम सर्वथा अनुपयुक्त हैं। क्याकि साधारण दूताद्वारा क्या उनका पता लग सकता ह? उनकी खोज करनेका साधन यह ह आपलोग इसको ध्यानपूर्वक सुने—जिस दश और राज्यम पवित्रात्मा जितेन्द्रिय राजा युधिष्ठिर हाग, वहाँके राजाका अमङ्गल नहीं हा सकता।' उस देशके मनुष्य निश्चय हा दानशील उदार, शान्त, लज्जाशील प्रियवादी, जितेन्द्रिय सत्यपरायण, हृष्ट-पुष्ट, पवित्र तथा चतुर हाग। वहाँकी प्रजा असूया ईर्ष्या, अभिमान और मत्सरतास रहित हागा तथा सब लाग स्वधर्मके अनुसार आचरण करनवाल हाग।[३] वहाँ नि सदह अच्छी तरहसे वर्षा होगी। सारा-का-सारा दश प्रचुर धन-धान्यस सम्पन्न और पीडारहित हागा। वहाँके अन्न सारयुक्त होंगे फल रसमय हाग, पुष्प सुगन्धित हाग वहाँका पवित्र पवन सुखदायक हागा, वहाँ प्रचुर मात्राम दूध दनवाली हृष्ट-पुष्ट गाय हागी। धर्म वहाँ स्वय मूर्तिमान् होकर निवास करगे। वहाँके सभी मनुष्य सदाचारी प्रीति करनवाले सतोषी तथा अकालमृत्युस रहित हाग। दवताआका पूजामे प्रीति रखनवाल उत्साहयुक्त और धर्मपरायण होंग। वहाँके मनुष्य सदा परापकारपरायण हागे। हे तात! महाराज युधिष्ठिरके शरीरम सत्य, धैर्य दान, परम शान्ति ध्रुव क्षमा शील कान्ति कीर्ति प्रभाव, सोम्यता सरलता आदि गुण निरन्तर निवास करत हैं। ऐसे महाराज युधिष्ठिरको बड-बड ब्राह्मण भी नहीं पहचान सकते फिर साधारण मनुष्यका तो बात ही क्या है?'[४] इस प्रकार भीष्म महाराजके वचनाको सुनकर कृपाचार्यन उनका समर्थन किया।

पाठक विचार करे, महाराज युधिष्ठिरक जीवनम कितना पवित्रता थी। इस वर्णनम ता पवित्रताकी पराकाष्ठा हा गया है। जिस धर्मराजक निवास करनस वहाँका दश

---

१ जयय लाभमाहं च क्राध चाह सदा विभा। दान तपसि सत्य च मना म सतत भवत्॥ (वन० ३१४।२४)

२ उपपन्नो गुणरेतै स्वभावेनासि पाण्डव। भवान् धर्म पुनश्चैव यथाक्त त भविष्यति॥ (वन० ३१४।२५)

३ तत्र तात न तस्य हि राज्ञा भाव्यमसाम्प्रतम्॥
पुर जनपद चापि यत्र राजा युधिष्ठिर।
दानशाला वदान्यश्च निभृता ह्रीनिषेवक। जना जनपदे भाव्या यत्र राजा युधिष्ठिर॥
प्रियवादी सदा दान्ता भव्य सत्यपरा जन। हृष्ट पुष्ट शुचिर्दक्षा यत्र राजा युधिष्ठिर॥
नासूयका न चापि पुनर्भिमाना न मत्सरा। भविष्यन्ति जनस्तत्र स्वय धर्ममनुव्रत॥ (विराट० २८।१४—१७)

४ धर्मात्मा शक्यत ज्ञातु नापि तात द्विजातिभि॥
किं पुन प्राकृतस्तात पार्थो विज्ञायत क्वचित्। यस्मिन् सत्य धृतिदान परा शान्तिर्ध्रुवा क्षमा॥
ह्री श्री कीर्ति पर तेज आनृशस्यमथार्जवम्। (विराट० २८।३०—३२)

पवित्रताकी चरम सीमापर पहुँच जाता था, उनकी पवित्रताकी हमलोग कल्पना भी नहीं कर सकते।

उदारताकी नीति

महाराज युधिष्ठिरम इसी प्रकार उदारता भी अद्भुत थी। जिस धृतराष्ट्रने पाण्डवाको जला देनके लिय लाक्षाभवनम भेजा था, जिसके हृदयम पाण्डवोको तेरह वर्षके लिये वनवासकी यात्रा करते देखकर जरा भी दया नहीं आयी, उसी धृतराष्ट्रने महाभारतकी लडाईके पद्रह वर्ष बाद तपस्या करनेके लिये वन जाते समय दान-पुण्यम खर्च करनेके लिय विदुरको भेजकर जब धनकी याचना की और उसपर उसके साथ महाराज युधिष्ठिरने जैसा व्यवहार किया उसको देखकर हृदय मुग्ध हो जाता ह। महाराज युधिष्ठिरने धृतराष्ट्रका यह सदेश सुनते ही विदुरसे कहला भेजा कि 'मेरा शरीर और मेरी सारी सम्पत्ति आपकी ही है। मरे घरकी प्रत्येक वस्तु आपकी है। आप इन्हं इच्छानुसार

सकोच छोडकर व्यवहारमे ला सकते हैं।' इस वचनको सुनकर धृतराष्ट्रकी प्रसन्नताका ठिकाना न रहा। वे भीष्म, द्रोण सोमदत्त, जयद्रथ दुर्योधन आदि पुत्र-पोत्राका एव समस्त मृत सुहृदोका श्राद्ध करके दान देने लगे। वस्त्र, आभूषण सोना, रत्न तथा गहनोसे सजाये हुए घाड ग्राम, गौएँ आदि अपरिमित वस्तुएँ दान दी गयीं। बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरकी आज्ञासे धृतराष्ट्रने जिसको सो दनको कहा था, उसे हजार और जिसे हजार देनेको कहा था उसे दस हजार दिये।'[१] तात्पर्य यह कि जिस प्रकार मेघ वृष्टिद्वारा भूमिको तृप्त कर देता है, उसी प्रकार भाँति-भाँतिक द्रव्योके प्रचुर दानसे ब्राह्मणाको तृप्त कर दिया गया। लगातार दस दिनोतक इच्छापूर्वक दान देते-देते धृतराष्ट्र थक गये।

हमलाग महाराज युधिष्ठिरकी इस अनुपम उदारताकी ओर दख आर फिर आजकलकी सकीर्णतासे उसका मुकाबला कर। आकाश-पातालका अन्तर दिखायी देगा। अपनी बुराई करनेवालाकी बात तो दूर रही, आजकलके अधिकाश लाग अपन माता-पिता एव सुहृदोक प्रति भी कैसा व्यवहार करते है, यह किसीसे छिपा नहीं ह। उनकी वृद्धावस्था आनेपर उनके लिये साधारण अन्न-वस्त्रकी भी व्यवस्था नहीं हो पाती।

त्यागकी नीति

स्वर्गारोहणके समयकी कथा है। महाराज युधिष्ठिर हिमालयपर चढने गये। द्रौपदी तथा उनक चारा भाई एक-एक करके बर्फम गिरकर मर गये। किसी प्रकार साथका एक कुत्ता बच गया था वही धर्मराजका अनुसरण करता जा रहा था। उसी समय देवराज इन्द्र रथ लकर महाराज युधिष्ठिरके सम्मुख उपस्थित हुए। उन्हान महाराज युधिष्ठिरका रथपर बैठनेके लिये आज्ञा दी। धर्मराजने कहा—'यह कुत्ता अबतक मेरे साथ चलता चला आ रहा हे। यह भी मेरे साथ स्वर्ग चलेगा।' देवराज इन्द्रन कहा—'नहीं कुत्ता रखनेवालाके लिये स्वर्गमे स्थान नहीं है। तुम कुत्तको छाड दो।' इसपर महाराज युधिष्ठिरने कहा—'दवराज। आप यह क्या कह रहे हैं? भक्ताका त्याग करना ब्रह्महत्याके समान महापातक बतलाया गया हे। इसलिय मैं अपन सुखके लिय इस कुत्तेको किसी प्रकार नहीं छाड सकता।[२] डर हुएको भक्तको, 'मेरा काई नहीं है'—ऐसा कहनेवाल शरणागतको निर्बलको तथा प्राणरक्षा चाहनेवालेको छाडनेकी चष्टा मैं कभी नहीं कर सकता, चाहे मेरे प्राण भी क्या न चले जायँ।

१ शतदेये दशशत सहस्रे चायुत तथा। दीयते वचनाद् राज्ञ कुन्तापुत्रस्य धीमत ॥ (आश्र० १४। १०)

२ भक्तत्याग प्राहुरत्यन्तपाप तुल्य लोके ब्रह्मवध्याकृतन । तस्मान्नाह जातु कथञ्चनाद्य त्यक्ष्याम्यन स्वसुखार्थी महन्द्र॥ (महाप्र० ३। ११)

यह मरा सदाका दृढ व्रत है।[1] यह सुनकर देवराज इन्द्रने कहा—'हे युधिष्ठिर! जब तुमने अपने भाइयोंको छोड दिया, धर्मपत्नी प्यारी द्रौपदी छोड दी, फिर इस कुत्तेपर तुम्हारी इतनी ममता क्यों है?' धर्मराजने उत्तर दिया—'देवराज! उन लोगोंका त्याग मैंने उनके मरनेपर किया है, जीवित-अवस्थामें नहीं। मरे हुएको जीवनदान देनेकी क्षमता मुझमें नहीं है। मैं आपसे फिर निवेदन करता हूँ कि शरणागतको भय दिखलाना, स्त्रीका वध करना, ब्राह्मणका धन हरण कर लेना और मित्रोंसे द्रोह करना—इन चार प्रकारके पापोंके बराबर केवल एक भक्तके त्यागका पाप है, ऐसी मेरी सम्मति है।[2] अतः मैं इस कुत्तेको किसी प्रकार नहीं छोड सकता।'

युधिष्ठिरके इन दृढ वचनोंको सुनकर साक्षात् धर्म, जो कि कुत्तेके रूपमें विद्यमान थे, प्रकट हो गये। उन्होंने बडी प्रसन्नतासे कहा—'युधिष्ठिर! कुत्तेको तुमने अपना भक्त बतलाकर स्वर्ग तकका परित्याग कर दिया। अतः तुम्हारी समता कोई भी स्वर्गवासी नहीं कर सकता। तुमको दिव्य उत्तम गति मिल चुकी।' इस प्रकार साक्षात् धर्मने तथा उपस्थित इन्द्रादि देवताओंने महाराज युधिष्ठिरकी प्रशंसा की और वे प्रसन्नतापूर्वक महाराज युधिष्ठिरको रथमें बैठाकर स्वर्गमें ले गये।

पाठक! तनिक आधुनिक जगत्की ओर तो ध्यान दें। आज भी सहस्रों नर-नारी बदरिकाश्रम आदि तीर्थोंकी यात्रा करते हैं, परंतु साथियोंके प्रति उनका व्यवहार कैसा होता है? कुत्ते आदि जानवरोंकी बात छोड दें, आजकलके तीर्थयात्रियोंके निकट-सम्बन्धी भी यदि संयोगवश मार्गमें बीमार पड़ जाते हैं तो वे उन्हें वहीं छोडकर आगे बढ जाते हैं। उनके करुण क्रन्दनकी उपेक्षा करके वे मुक्तिकी खोजमें चले जाते हैं। परंतु यह उनका भ्रममात्र है। दयामय भगवान् केवल भावके भूखे हैं। भावरहितके लिये उनका द्वार सदा बंद है। यथार्थ बात तो यह है कि भगवान् हमारी परीक्षाके लिये ही ऐसे अवसर उपस्थित करते हैं। यदि ऐसा अवसर प्राप्त हो जाय तो हमलोगोंको बडी प्रसन्नतासे, प्रेमपूर्वक भगवान्की आज्ञा समझकर अनाथों, व्याधिपीडितों और दुःखग्रस्तोंकी सहायता करनी चाहिये। उन्हें मार्गमें छोड जाना तो स्वयं अपने हाथोंसे मङ्गलमय भगवान्के पवित्र धामके पटको बंद कर देना है। यदि हम अपने इन कर्तव्योंका पालन करते हुए तीर्थयात्रा करें तो इसमें कोई संदेह नहीं कि जिस प्रकार धर्मके लिये कुत्तेको अपनानेके कारण महाराज युधिष्ठिरके सामने साक्षात् धर्म प्रकट हो गये थे, ठीक उसी प्रकार हमारे सामने भगवान् भी प्रकट हो सकते हैं।

उपसंहार

इस संसारमें बहुतसे धार्मिक महापुरुष हुए हैं, किंतु 'धर्मराज' शब्दसे केवल महाराज युधिष्ठिर ही सम्बोधित किये गये हैं। महाराज युधिष्ठिरका सम्पूर्ण जीवन ही धर्ममय था। इसी कारण आजतक वे 'धर्मराज' के नामसे प्रसिद्ध हैं। शास्त्रोंमें धर्मके जितने लक्षण बतलाये गये हैं प्रायः वे सभी उनमें विद्यमान थे। स्मृतिकार महाराज मनुने जो धर्मके दस लक्षण बतलाये हैं[3] वे तो मानो उनमें कूट-कूटकर भरे थे। गीतोक्त दैवी सम्पदाके छब्बीस लक्षण[4] तथा महर्षि पतञ्जलिके बतलाये हुए दस यम-नियमादि[5] भी प्रायः उनमें मौजूद थे और महाभारतमें वर्णित सामान्य धर्मके तो वे आदर्श ही थे। इस लेखमें उनके जीवनकी कुछ ही घटनाओंका उल्लेख किया गया है, परंतु उनका सारा जीवन ही सद्गुण और सदाचारसे ओतप्रोत था। लेखका कलेवर बढ जानेके भयसे उनके जीवनकी अन्यान्य महत्त्वपूर्ण घटनाओंका उल्लेख नहीं किया गया।

महाराज युधिष्ठिरने अवसर उपस्थित होनेपर अपनी निर्वैरताका तथा अपने धैर्य, क्षमा, अक्रोध आदि सद्गुणोंका

---

१ भीत भक्त [illegible] प्रणाशनमुभ् । प्राणत्यागादप्यहं नैव मोक्तुं यतेय वै नित्यमेतद् व्रतं मे ॥ (महा० ३।१२)

२ प्रदानं शरणागतस्य स्त्रिया वधो ब्राह्मणस्वापहारः । मित्रद्रोहस्तानि चत्वारि शक्र भक्तत्यागश्चैव समो मतो मे ॥ (महा० ३।१६)

३ धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः । धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ (मनुस्मृति ६।९२)

४ गीता अ० १६ श्लोक १—३ देखिये।

५ अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ (२।३० ३२)

कवल वाचिक ही नहीं वल्कि क्रियात्मक आदर्श भी सामन रखा। सत्यपालन ता उनका प्राण था। इस विपयम आज भी व अद्वितीय एव अप्रतिम माने जाते हैं। धर्मराजका प्रत्यक वचन विद्वत्ता आर वुद्धिमत्तास परिपूर्ण होता था, यह यक्षकी आख्यायिकास आर भी स्पष्ट हो जाता है। समताकी रक्षाक लिय ता उन्हान अपन सहोदर भाइया तककी उपेक्षा कर दी थी। आर उनकी पवित्रता ता यहाँ तक वढा हुई था कि उनकी निवासभूमि भी परम पवित्र वन जाती थी। उनक शम-दमादि शुभ गुणास प्रभावित होकर प्राय समूचा दश सयमी वन जाता था। स्वार्थ-त्यागकी ता उनम वात ही निराली थी। एक क्षुद्र कुत्तक लिय उन्हान स्वगको भी ठुकरा दिया। उनका प्रत्येक कर्म स्वाथ-त्याग आर दयास परिपूण हाता था। धृतराष्ट्रकी याचनापर उन्हाने जो महान् आदार्य दिखलाया, वह भी उनक अपूर्व स्वार्थ-त्यागकी भावनाका ही परिचायक ह। यज्ञ दान, तप तज, शान्ति लज्जा सरलता, निरभिमानता, निर्लोभता, भक्तवत्सलता आदि अनेका गुण उनम एक साथ ही भर थे। एस सर्वगुणसम्पन्न महाराज युधिष्ठिरक जीवनका यदि हम आदर्श मानकर चल ता हमार कल्याणम तनिक भी सदह न रह जायगा। प्रमी पाठक महानुभावासे मरा यह विनम्र निवदन ह कि व महाराज युधिष्ठिरके इन नेतिक गुणाका तथा उनक आदश आचरणाका यथाशक्ति अपनानेकी चेष्टा कर।
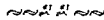
धर्मशास्त्रोकी नीतिके अनुसार चलनेमें ही कल्याण है

(गोलोकवासी भक्त श्रीरामशरणदासजा)

अनादिकालसे धमशास्त्र ही मानवका सन्मार्गदर्शन कर उसक लौकिक-पारलौकिक कल्याणका माग प्रशस्त करते रहे हैं। धमशास्त्राम ही प्रत्यक वर्णक प्रत्यक आश्रमक कर्तव्य-पालनकी प्ररणा निहित है। ब्रह्मचयाश्रम, गृहस्थाश्रम वानप्रस्थाश्रम तथा सन्यासाश्रमम क्या-क्या कर्तव्य पालन करन चाहिय ? क्या करनस धर्म होता है तथा किस कृत्यक कारण पापका भागी हाना पडता है—यह सव जाननके मुख्य आधार हमार धर्मशास्त्र ही हैं। सन्यासीका कर्तव्य क्या है ? गृहस्थका कर्तव्य क्या ह ? राजाका कर्तव्य क्या है ?—इन वाताका जाननके लिये हम विभिन्न धर्मशास्त्राका मार्ग-दर्शन प्राप्त करना हाता है। साधारण मानवके दनिक प्रवोधके लिये धर्मशास्त्र कहत ह—

सत्य वद। धर्म चर। स्वाध्यायान्मा प्रमद । सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्य न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्या न प्रमदितव्यम्।

(तैत्तिरीय० १।११।१)

सत्य वाला। धर्मका आचरण करा। स्वाध्याय (धर्मशास्त्रा तथा सत्साहित्यक निरन्तर अध्ययन)-से कभी आलस्य न करा। सत्यसे कभी न डिगो। धर्मसे कभी न डिगो धर्मपर अटल रहो। शुभ कर्म करनेम सदैव तत्पर रहो। उन्नतिके साधनोसे लाभान्वित हानम कभी चूकना नहीं चाहिये। देवकार्य और पितृकायसे कभी नहीं चूकना चाहिये। यह ह धर्मशास्त्राका सार जा प्रत्यक मानवको धर्म, सत्य सद्विचार, सत्कम तथा दवकाय ओर पितृकार्यम तत्पर रहते हुए मानव-जीवनका सफल वनानका मार्ग प्रशस्त करता ह।

नैतिक मूल्योका ह्रास

आज पूरा ससार अतिभातिकवाद तथा नय-नये वज्ञानिक अनुसधानाक नामपर मानवको मानवकी जगह जडवत् मशीन वना देनकी हाडम नेतिक मूल्याके तजीस हो रहे ह्रासक कारण अशान्ति हिसा तथा अनाचारका शिकार वन कराह रहा ह। इस अशान्तिका मूल कारण यह भा है कि हमने अपन धर्मशास्त्रा नीतिनिर्धारक शास्त्राकी उपेक्षा करक मर्यादाहीन स्वेच्छाचारी दुराचरणका अपना रखा ह। धन ऐश्वर्य भातिकवादी सुखसाधनाकी असीमित चाहकी होडने हमार हृदयकी दया, करुणा ओर सेवा-भावना-जेसे मानवीय सद्गुणाका लील लिया हे। सत्य-असत्य धर्म-अधर्मका विचार न करनेके कारण ही मानवमात्र दानव वनता जा रहा है। इससे वचनेके लिय हमें धर्मशास्त्रके वचनासे प्रेरणा लेनी चाहिये जेस कहा गया ह कि दयाक समान न धर्म ह न तप, न दान। यहाँ तक कि दयाके समान कोई मित्र भी नहीं ह—

न दयासदृशो धर्मो न दयासदृश तप ।
न दयासदृश दान न दयासदृश सखा॥

इस शास्त्र-सारका जीवनम पालन करनका मकल्प

लेनेसे घोर हिंसा, अनाचार तथा अत्याचारोंसे मुक्ति पायी जा सकती है। आज संसारमें जो अमानवीय हत्याओं, अपहरणों, शोषण और उत्पीडनका नग्न नृत्य हो रहा है, धनकी लिप्सामें मानव मानवकी हत्याएँ कर रहा है, वृद्ध माता-पिताकी घोर उपेक्षा की जा रही है, प्रतिदिन लाखों गाय-बैलोंकी नृशंस हत्याएँ कर दी जा रही हैं— इन समस्त पातकोंसे बचाव धर्मशास्त्रोंद्वारा प्रेरित दया-भावनाका पालन करनेसे ही हो सकता है। पुराणोंमें सदाचारका सार बताते हुए कहा गया है—

न हिंस्यात् सर्वभूतानि नानृतं वा वदेत् क्वचित्।
नाहितं नाप्रियं वाच्यं न स्तेनः स्यात् कदाचन॥
तृणं वा यदि वा शाकं मृदं वा जलमेव वा।
परस्यापहरञ्जन्तुर्नरकं प्रतिपद्यते॥

अर्थात् किसी भी प्राणीकी हिंसा न करे। कभी झूठ न बोले। किसीका अहित न करे तथा अप्रिय वचन मुँहसे न निकाले। कभी चोरी न करे यहाँ तक कि चाहे तिनका हो या साग तथा मिट्टी या जल ही क्यों न हो—उसे चुरानेवाला नरकका भागी होता है।

आज पूरा संसार हिंसा, झूठ, फरेब, ठगी, भ्रष्टाचार-जैसे दुष्कृत्योंमें फँस जानेके कारण अशान्तिकी आगमें जला जा रहा है। चोरी ही क्या लूट-पाट, हत्याएँ तथा अपहरण करके दूसरोंकी धन-सम्पत्तिपर कब्जा करनेकी प्रवृत्ति पनपती जा रही है। यदि हम धर्मशास्त्रोंपर विश्वास करके चोरीको पापकर्म मानते, हिंसा-झूठ-फरेब-भ्रष्टाचारको अधर्म मानते तो ऐसी दुर्दशा कदापि न होती।

धर्म-विहीन दुर्नीतिके दुष्परिणाम

धर्मशास्त्रोंके 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव' के अनुसार भारतमें माता-पिताकी सेवाका आदर्श उपस्थित होता रहा। 'पातिव्रतधर्म' के शास्त्रीय महत्त्वके कारण भारतमें एक बार अग्निके समक्ष विवाह-सूत्रमें बँध जानेवाले दम्पति पूरा जीवन एक साथ आनन्दपूर्वक व्यतीत करते थे। ऐसी महान् पतिव्रता महिलाओंकी असीम विलक्षण शक्तिको समस्त संसार स्वीकार करता था। आज धर्मशास्त्रोंकी अवहेलना करने तथा भोगप्रधान देशोंकी सामाजिक विकृतियोंके अन्धानुकरणके कारण धर्मप्राण भारतमें संयुक्त परिवार टूटने लगे हैं। नवविवाहित पुत्र-पुत्रवधू माता-पिताके साथ रहनेको तैयार नहीं होते। वे वृद्ध माता-पिता जिन्होंने खून-पसीना एक करके उन्हें पाला-पोसा तथा शिक्षा दिलायी उनको भार समझकर उन्हें अलग रहनेको विवश कर देते हैं। पति-पत्नीके बीच छोटी-छोटी बातोंपर तलाककी प्रवृत्ति बढ़ने लगी है।

आज धर्मशास्त्रों एवं मनुस्मृति आदिमें वर्णित राजनीतिक नैतिक तत्त्वोंकी अवहेलना किये जानेका ही यह दुष्परिणाम है कि अनाचार, पापाचार, भ्रष्टाचार-जैसे घोर अमानवीय कृत्योंमें लिप्त लोग अपने बुद्धि-चातुर्य, वाक्चातुर्य, धन-बल, जन-बलके सहारे नेता, राजनेता बनकर देशकी राजनीतिको दूषित कर रहे हैं। धर्म-निरपेक्षताके नामपर राजनीतिको धर्म तथा नैतिक मूल्योंसे विहीन कर दिया गया है। ब्रह्मलीन धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज तथा महान् विरक्त संत स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराजने चेतावनी दी थी कि धर्मविहीन राजनीति देशको पतनकी ओर ले जायगी। जिस प्रकार धर्मविहीन व्यक्ति पशुके समान है उसी प्रकार धर्मविहीन राजनीति दुर्नीति बनकर उच्छृङ्खलता, मर्यादा-हीनताका नग्न ताण्डव करके देशको अधःपतनकी ओर ले जायगी। इन संत-महात्माओंकी बात अक्षरशः सत्य सिद्ध हो रही है।

धर्मप्राण भारतको पापाचार, अनाचार, दुराचार, हिंसा, मिथ्याचरण, भ्रष्टाचार आदिके गर्तसे निकालनेका केवल एक ही उपाय है कि प्रत्येक बच्चेको प्रारम्भसे ही धार्मिक संस्कार दिये जायँ। धर्मशास्त्रोंमें वर्णित सदाचार एवं नैतिक मूल्योंका पालन करनेका सब लोग संकल्प लें। धर्मविरुद्ध नीतिविरुद्ध कोई कार्य न किया जाय। सभी वर्णों, वर्गोंके लोग अपने-अपने कर्तव्यका धर्मशास्त्रानुसार पालन करनेको प्रवृत्त हों अन्यथा धर्मविरुद्ध नीतिविरुद्ध उच्छृङ्खल जीवन जीनेके दुष्परिणाम घोर अशान्तिकी आगमें जलते रहनेके रूपमें यथावत् सामने आते ही रहेंगे।

हमारे धर्मशास्त्रोंके वचन अक्षरशः सत्य तथा कल्याणकारी हैं। धर्मके मर्यादानुसार जीवन जीकर ही हम लोक-परलोक दोनोंका कल्याण करके अपना मानव-जीवन सार्थक कर सकते हैं।

व्यावहारिक नीति

(नित्यलालालान श्रद्धेय भाईजा श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

श्रूयता धमसवस्व श्रुत्वा चैयावधार्यताम्।
आत्मन प्रतिकूलानि परषा न समाचरत्॥

एक सज्जनन व्यवहारक सम्बन्धम कुछ कहनका कहा ता यह एक श्लाक सम्पूर्ण व्यवहारका सुधारनक लिय पयाप्त है। यह श्लाक पुराणा तथा नीति-ग्रन्थाम कइ जगह आया है। इस श्लोकम 'आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरत्' अथात् 'जा अपनका बुरा लगे, वह दूसरक साथ न कर' इस धर्मका सर्वस्व बताया गया है और सुनकर धारण करनकी सम्मति दी गयी है। दूसरके साथ बर्ताव करत समय यह बात ध्यानम रखनकी है। दूसरा हम गाली द कटु वचन बाल हमारा अहित कर हमार साथ असत्-व्यवहार कर हमारा अपमान करे हमार घरवालाका गाली द हमार देशका गाला द अथात् किसी भी प्रकार हमारा जी दुखाय, *मनम वाणीम, शरारस और जिह्वास हमारा अहित* कर ता वह हमार प्रतिकूल है। व सार काम हमार पतिकूल हैं ता जा-जो अपन मनक प्रतिकूल हैं दूसरक साथ वह-वह न करा और जा अपने अनुकूल हा वैसा ही करा।

अपनका मान अच्छा लगता है, बडाई अच्छी लगती है, हित अच्छा लगता ह सत्य-वर्ताव अच्छा लगता है, काइ हमारा सम्मान कर तो अच्छा लगता है, हमारी सवा कर ता अच्छा लगता है, हम काई कुछ द, पर माँग नहीं ता बडा अच्छा लगता है। इसा प्रकारस जा अपनेको अच्छा लग वह दूसरक साथ कर और अपनको जा बुरा लग वह दूसरक साथ न कर। यह व्यवहारशास्त्रका एक नियम ह।

इसम सारी चीज अपन-आप आ जाती हैं। यह ता व्यवहारका नियम है। व्यवहारके नियमम दा-तीन बाताकी बहुत ध्यान रखनेकी आवश्यकता है। किसीकी भी उसके पराक्षम भी कभी चुगली न कर कटु आलाचना न कर। दीवार भी सुनती है आत्मा भी सुनती है भगवान् भी सुनता है।

यह बहुत ध्यानसे समझनेका विषय है—एक विचार-जगत् है जा हमारा आँखाके सामन नहीं है पर वातावरणम है। इसका प्रयोग करके कोई दख सकता ह। विचारके क्षेत्रकी बात बतायी जाती है—यदि अपन किसी विरोधीका अपने अनुकूल बनाना हा ता उसके प्रति सद्भावना रख। मनसे उसके भलेका, उसके प्रति सद्भावका उसक हितका उसक सुखका उसकी सेवाका विचार कर और मन-ही-मन उसका प्ररित करे कि हम तुम्हार लिये एसा चाहत हैं तो एसा करनमे उसपर धार-धीर जा एक स्वाभाविक आत्माका आत्मास सम्बन्ध है वह स्थूल जगत्तक आ जाता है। विचार शब्दम आत हैं, शब्द क्रियाम आत हैं और क्रिया जीवन बनती ह। कहींपर भी किसी प्रकारसे भी दूसरेका हित-चिन्तन करा तो वह हित-चिन्तनकी हमारी भावना दूसरक चित्तपर जाकर असर करेगा। यदि अहित-चिन्तन करा दूसरका बुरा चाहा ता चाहे हम मुँहसे नहीं कह पर उसक पास हमार इन *विचाराक भाव भी पहुँच जायँगे।*

मनस किसी भी दूसरका अहित-चिन्तन, असुख-चिन्तन न करे, दु ख-चिन्तन न करे, वैर-चिन्तन न कर, विरोध-चिन्तन न कर और ईर्ष्या-चिन्तन न कर, प्रत्युत प्रेम-चिन्तन कर, सवा-चिन्तन करे आर शुभ-चिन्तन कर। यह एक बात है।

दूसरा बात है—वाणीसे ऐसा काई शब्द न कह जा उसक कानतक पहुँचकर उसे दुखी कर दे। भल ही वह शब्द उस व्यक्तितक न पहुँच, दूसरेन सुन लिया ता सुननेवालेके मनम आयेगा कि यह उसका विराधी ह। एक पारस्परिक मनोमालिन्यकी भावना दूसरक हृदयपर जाकर वहाँ अपना कार्य करने लगेगी और वही हृदय उसीकी वाणीक द्वारा कभी-कभी हम दानाका लडा देगा।

चूँकि शब्द *नित्य होता हे, इसका विनाश नहीं हाता* अत हमार यहाँ इस शब्दकी बडी महिमा है। यह शब्द जहाँ मुँहस निकला कि तत्काल सार आकाश-मण्डलम व्याप्त हो जाता है। यह भगवान्‌की बडा विचित्र महिमा है। अमेरिकामे काइ बोलता है, उसी समय उस हम यहाँ सुन लते हैं। आवाज पहचान लते ह और आजकल ता चित्र तक साथम दख जात है। इस प्रकारकी एक शक्ति ह जो तत्काल हमारे मुँहसे निकली हुई चीजका सारे विश्वक

आकाश-मण्डलम फला देती ह आर वह चीज नित्य रहती है। जबतक यह आकाश रहेगा तबतक वह चीज आकाशम रहगी। आकाश इतना विस्तृत है और इतना बडा इसका काप है कि न मालूम अनादिकालमे कितन शब्द इसम भर गये और अभी भी बहुत खाली हैं।

ऋतु दिन काल भाव तथा व्यक्तिके अनुसार शब्दाकी आकृति बनती ह। शब्दोकी पहचान होती हे। हमलोग दूरस पहचान लेत हैं कि यह आदमी क्रोधम बोल रहा है यह आदमी प्रेममे बोल रहा है। शब्दाके उच्चारणम एक चीज हाती है जा समझदार आदमीका समझा दती है कि ये ता अमुकके शब्द हैं। ये शब्द प्रमक है, य कामके हैं य क्रोधके हैं और ये लोभके हैं। इस प्रकार मनोभावानुसार शब्दोकी आकृति बनती है। भोजनक बादके शब्दाकी आकृति दूसरी उससे पहलकी दूसरी, प्रात कालका दूसरी मध्याह्नकी दूसरी रात्रिकी दूसरी, वर्षाकालकी दूसरी, ग्रीष्मकी दूसरी हमन्तकी दूसरी तथा शरद्की दूसरी आदि। हम समझते हैं कि यह तो सर्दीस भर्रायी हुई आवाज है। जाडकी आवाज और गरमीकी आवाजम अन्तर हाता ह। इस ध्वनि-शास्त्रका यदि ठीक-ठीक ज्ञान हो तो व्यवहार सुधर जाय। बोलत-बालते, व्याख्यान देत हुए कहीं बीचम करुण रस आ गया तो व्याख्याताकी आवाज भरा जाती है और वह रान-सा लगता है ता दूसरे भी रान लगत हैं।

अपने मुँहसे यदि हमन किसीक लिय भी दुभावनापूर्ण शब्द निकाल दिया तो समझना चाहिये कि हमने जगत्क आकाश-मण्डलम दुभाव दे दिया। इसलिय वाणीस कभी असत्-उच्चारण न करे अशुभ उच्चारण न करे। उसमे हमारा अहित ता है ही हम जगत्को भी अहित दे दते हैं। मनस यदि हम अशुभ उच्चारण करते हैं तो अशुभका दान देते हैं। वाणीसे हम अशुभ उच्चारण करत हैं तो अशुभका दान दत हैं। इससे आकाश-मण्डलम अशुभ फैल जाता है। इटलीकी बात है, वहाँ एक जगलमें यात्री जा रहे थ ता उनका वहाँ रानेकी आवाज सुनायी दी। पता लगाया गया तो मालूम हुआ कि वहाँपर अमुक समयपर रोनेकी आवाज हमेशा ही आती है। पुन अनुसधान किया गया तो यह पता लगा कि वहाँपर वर्षोपूर्व खून हुआ था, डकैती हुई थी। किसीकी हत्या हुई थी और वह चिल्लाया था। वह चिल्लाहट अव्यक्तरूपम वातावरणम भर गयी। इसी कारण ठीक उसी समय वह चिल्लाहट—वह क्रन्दन-ध्वनि आती है। जहाँ उसके व्यक्त हानेक अनुकूल साधन मिल जाते हैं वहाँ व्यक्त होती है नहा तो अव्यक्त हाकर वह शब्दध्वनि वहाँ व्याप्त रहती ह।

इसी प्रकार यूरापकी बात है—वहाँ एक गिरजाघर था। उस गिरजाघरम लाग प्रार्थनाके लिय रविवारको इकट्ठा होते थे। एक साहब थ, व जब गिरजाघरम प्रार्थनाके लिय जाते तब उनके मनम बकरा मारनकी आवाज आती। उन्हाने मनमे सोचा कि हम तो यहाँ आते हैं भगवान्की प्रार्थनाके लिये और यहाँ आते ही हमार मनम यह गदी हिंसक धारणा क्या होती है। पता लगानपर मालूम हुआ कि वहाँ साठ वर्ष पहल एक कसाईखाना था। उसम बकर काट जाते थे। उसके बाद वह मकान बिका किसीने ले लिया। उसने फिर बेच दिया पादरियोको, फिर वहाँ गिरजाघर बना। गिरजेमे प्रार्थना होती है। वहाँका वायुमण्डल बदल रहा है, पर अभीतक उस वायुमण्डलम हिंसाके परमाणु मोजूद हैं। वहाँ जानेपर जिनक अनुकूल यह विचार होते हैं, उनको जल्दी वह बात दिखती है, मनम आता है।

यह तीथ क्या है? 'तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि (नारद-भक्तिसूत्र ६९)। यह क्या चीज है? महात्मा लोग जिन स्थानोपर रह, वहाँ दवाराधन हुआ भगवदाराधन हुआ भगवच्चर्चा हुई सतोके ज्ञानसत्र हुए। वहाँ-वहाँपर वायुमण्डलमें जलम, आकाशम, धूलिकणोम वृक्षाम सब जगह एक महान् सात्त्विकता भर गयी। उस सात्त्विकताने उस भूमिको उस जलको, वहाँके वातावरणका पवित्र करनेवाला बना दिया तो उसका नाम हो गया 'तीर्थ'। वह वातावरण जो पहलेका बना हुआ है यदि दबता गया उसम दूसर-दूसरे परमाणुआक पदार्थ भरते गय ता वह चीज दब जायगी। फिर तीर्थम जात ही इसका नाम चाह तीर्थ हो बुरी बात, गदी बात याद आयेगी। अपने मुँहसे कभी गदी जुबान किसीका बुरा हानेकी जुबान किसीका शाप दनकी जुबान किसीके दोषकी चर्चा—निन्दा न कर क्योकि वातावरणम वह भर जायगी। अत व्यवहारम बहुत सावधानी रखनेकी आवश्यकता है।

एक और विचारकी बात यह है कि हम जिसक सम्बन्धम जैसा विचार करते हैं, उस प्रकारकी चीज हम

उसको देते हैं। अंग्रेजीकी एक किताब है Rolls Wando Tryme की, In to with Infinite उसका नाम है। उस किताबमें सुन्दर बात लिखी हैं। एक बात वे लिखते हैं कि एक आदमीके सम्बन्धमें हमने क्रोधका विचार किया तो उसमें यदि क्रोध और द्वेष पहलेसे वर्तमान है तो हमने उस विचारके द्वारा उसे कुछ और पुष्ट कर दिया, एक अंश और बढ़ा दिया और यदि हमने उसके सम्बन्धमें प्रेमका, दयाका, क्षमाका, सहनशीलताका विचार किया तो उसके भी इन विचारोंको बढ़ावा दिया।

इसलिये दूसरेके सम्बन्धमें कभी भी असत्-विचार न करें। असत्-चर्चा न करें, असत्-भावना न करें और अशुभ कल्पना न करें। यदि हमारे विचार प्रबल है तो अपने विचारोंके द्वारा हम पुण्यात्माको भी पुण्यमार्गसे हटाकर पापमार्गमें लगानेमें सहायक बन सकते हैं। दिन-रात उसमें पापकी भावना करें। यह बहुत बुरा है। अशुभ भावना किसीको न दें, सदा शुभ भावना ही दें। यदि हम यह देख सकें कि सभी भगवान्‌के रूप हैं। नरकके कीटमें भी भगवान् हैं, पापीमें भी भगवान् हैं, पुण्यात्मामें भी भगवान् है तो क्या होगा कि हमारे लिये तो वे भगवान् हो जायँगे क्योंकि वे हैं। हम तो उसमें भगवत्-दर्शन होंगे और उसको हम भगवत्ताके प्रकाशका दान देंगे और इसके विपरीत उसमें हम यदि राक्षसकी कल्पना करेंगे तो हमें तो राक्षस ही मिलेगा। हमारे लिये वह राक्षस हो जायगा और उसके राक्षसत्वको बढ़ानेमें हम सहायक होंगे।

इसलिये कभी भी किसीके सम्बन्धमें दुर्भावना न करें। एक बात और ध्यान रखनेकी है—यह कभी समझें ही नहीं कि अमुक आदमी तो पतित है वह तो बुरा है—ऐसी निश्चित धारणा न करें। यह धारणा करनी तो ठीक है कि कोई कैसा भी हो वह तत्त्वतः विशुद्ध आत्मा ही है। यह भगवान्‌की अभिव्यक्ति ही है। पर किसीके सम्बन्धमें कभी भी यह धारणा बद्धमूल न करें कि यह आदमी तो चोर, बदमाश खराब ही है। यह तो हमारा वैरी ही है। इससे तो कभी हमारा मेल हो ही नहीं सकता। ऐसी धारणा कभी न करें। निरन्तर यह सोचें कि यह तो इसमें आगन्तुक चीज है और शायद इसमें न हो और हमारी आँख ऐसा देखती हो।

बहुत बार ऐसा होता है हमारे मनमें स्थित दोषकी भावना दूसरेमें दोषकी कल्पना करती है और फिर हम वैसा व्यवहार करते हैं तो उसके दोषको उभारते हैं। जैसे एक आदमीके प्रति हमने अपने मनमें यह धारणा कर ली कि यह तो हमारा विरोधी है, वस्तुतः वह विरोधी है नहीं। हमने दूसरे व्यक्तिको बताया कि देखो, वह आदमी हमारा बड़ा विरोधी है। इसपर उसने कहा कि नहीं, वह विरोधी नहीं, वह तो बड़ा अच्छा है तो हमने कहा कैसे विरोधी नहीं वह तो विरोधी है। पुनः कभी उसी आदमीसे वह व्यक्ति मिला जिसे हमने अपना विरोधी बताया है। बात चलनेपर उसके द्वारा यह कहना स्वाभाविक है कि अमुक व्यक्ति कहता है कि तुम उसके विरोधी हो। इसपर निषेध भी करता है, पर उसके मनमें आयेगा कि वह व्यक्ति मुझसे विरोध मानता है। विरोधकी वहाँपर कल्पना आरम्भ हो गयी। विरोध हमने भेजा उसके पास, उसके पास था नहीं। पर हमने उसके मनमें विरोधका बीज बो दिया कि तुम मेरे विरोधी हो। अब यहाँ बीज बोया गया वहाँ वह सचेत हो गया। अब वह हमारे आचरणको सदहसे देखने लगा। प्रतिक्रियामें उसने भी यह बात कह दी। देखो हमपर विरोधी होनेका दोष लगाता है और स्वयं बड़ा भला आदमी बनता है। यह बात आकर किसीने हमसे कह दी। हमने कहा—देखिये, आप ही पहले कहते थे कि विरोधी नहीं है। देखिये न! आज वही हमारी निन्दा कर रहा है। हमारा दोष बता रहा है। यह क्या ठीक है? पहले भी हम सच कहते थे। आपको सही बात मालूम नहीं। हम पहले सच कहते थे कि वह विरोध कर रहा है। ठीक है अब हम भी उसको देखेंगे। यही बात कोई आदमी उससे जाकर कह दे कि तुम्हारे बारेमें वह ऐसा कह रहा है तो वह बोला—यूँ कह रहे थे? अच्छी बात तो हम भी देख लेंगे। अब वैर बद्धमूल हो गया। बिना हुए हमने वैरके बीज बोये और बिना कुछ हुए किसी मित्रको वैरी बना लिया। ये व्यवहार-शास्त्रकी बात है, नीति-ज्ञानकी बात हैं।

किसीको मित्र बनाना हो तो उसमें कहीं दोष दीखे तो उसको पी जाय और गुणको प्रकट करें—'गुह्यं च गूहति गुणान् प्रकटीकरोति।' *'गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा॥'*

एक बड़ी सुन्दर बात याद रखनेकी है—किसीके सम्बन्धमें किसी आदमीने तारीफकी बात कही हो तो उससे कहे और निन्दा किसीने यदि की हो तो उसको पी

जाय। उसे कभी न कहे। क्योंकि वह यदि बतायी जायगी तो द्वेषकी आगमे आहुति देनेवाली चीज होगी या द्वेष नहीं है तो द्वेषको उत्पन्न करनेका बीज हो जायगा। संत दूसरोंके कलहकी आगमे जल डालते हैं और विषयी कलहकी आगको बढा देते है। बिना हुई कल्पनाकी बातको सच कर देते है।

मेरठकी एक पुरानी बात है। एक लडकेके पास खोटी चवन्नी थी तो वह चाहता था कि किसी तरह यह चल जाय। घूमते-घूमते वह एक हलवाईकी दूकानपर गया। वहाँ भीड लगी थी। उसने चार आनेकी मिठाई माँगी एवं चवन्नी उसे दे दी और हलवाईने बिना ध्यानसे देखे चवन्नी अपने गालकमे डाल दी। लडकेको बडी प्रसन्नता हुई कि बहुत दिनोसे मेरे मनमे चवन्नी चलानेकी बात थी, आज वह चल गयी। वह हर्षके मारे उन्मत्त-सा हो गया। बच्चा था—'चल गयी, चल गयी' कहता हुआ दौडने लगा। उस समय मेरठमे हिन्दू-मुसलमानोंमे कुछ आपसमे तनाव था। अपनी-अपनी आँखसे लोग शब्दका अर्थ करते हैं। शब्दका अर्थ अपने मनका होता है। बच्चेमे तो कोई दोषकी बात थी नहीं, न ही उसका कोई उद्देश्य ही था—चल गयी चल गयी कहनेके पीछे। परंतु जिनमे तनाव था उन लोगोंने समझा कि लाठी चल गयी। चल गयी, चल गयी लाठी चल गयी। अब लाठी उसके साथ जुड गयी। दूसरे आकर कहने लगे कि लाठी चल गयी। अपने-अपने मुहल्लेमे लाठी लेकर खडे हो गये। दंगा हो गया। कई खून हो गये। आदमी मर गये। अब बताइये क्या चीज थी? मूर्खता उसकी हुई 'चल गयी' कहनेमे। इसलिये बोलनेमे आदमीको समझकर बहुत विचारकर बोलना चाहिये। कहीं झूठ ही चल न जाय और चल जाती है ऐसे ही।

तीन बातोंका ख्याल रखना चाहिये—एक तो अपना दूसरा कोई भूल मानता हो तो कभी अपमान न समझकर उससे बिना किसी शर्तके क्षमा माँग ले। इसमे अपना कुछ नहीं घटता कुछ नहीं बिगडता। आदमी भूल समझकर भी भूल स्वीकार करनेमे कमजोरीसे हिचकता है। पर होना तो यह चाहिये कि चाहे हमारी भूल न दीखे, पर दूसरा यदि भूल मानता है तो हम भूल स्वीकार कर लेनी चाहिये। उसके सामने क्षमा माँग लेनी चाहिये। दूसरी बात यह मनमे रख लेना चाहिये कि हम आगे उसका पुनः किसी प्रकारके दोषकी बातकी चर्चा, दोषकी भावना नहीं करना है। तीसरी बात, उसके जो गुण हैं उनका बखान करे। वास्तवमे गुण सबमे होते हैं—कोई ऐसा प्राणी नहीं है जो सर्वथा रजोगुणी-तमोगुणी हो। उसमे कुछ सत्त्व होता है जिससे जगत्का उपकार होता है।

एक डॉक्टरने लिखा कि यदि संसारमे साँप न होते तो विषैली गैस इतनी भर जाती कि जगत्के समस्त प्राणी मर जाते। साँप विषैली गैस पिया करते हैं। साँपोंकी भी जो सृष्टि है यह भी सृष्टिके उपकारके लिये ही हुई है। हम पता नहीं कि भगवान् उसका क्या, कब किस प्रकार उपयोग करते हैं। भगवान्ने क्यों बनाया उन्हें, यह भगवान् जानते हैं। किसीमे गुण नहीं है ऐसा न समझे और गुण ही-गुण देखे। गुण देखकर उसे खुश करनेके लिये नहीं बल्कि स्वाभाविक रूपसे उसके गुणोंका वर्णन करे गुणोंकी तारीफ करे। उसके कानमे जब बात पहुँचेगी तो वह सोचेगा कि उसे हम शत्रु मानते थे और वह तो दूसरी जगह हमारा गुण गा रहा है, हमारे पक्षमे। हृदय उसके प्रति आकर्षित हो जायगा कि वह तो हमारी भूल थी। कटु आलोचना किसीकी कभी न करे।

एक अमेरिकन कारनेगी (Carnegi)-की एक किताब है। अपने मित्रोंपर कैसे विजय प्राप्त की जाय— How to win friends इसमे तरीके बताये हैं और बहुत-से उदाहरण दिये हैं कि किस प्रकारसे मनुष्य बिगडे हुएको सुधार सकता है। खराब हुए मनको सुधार सकता है। हम किस प्रकार दूसरेको अपना बना सकते हैं, हम कैसे उसके बन सकते हैं? मामूली-सी बात है—जरा-सा ख्याल रखे अपने बर्तावमे और दूसरेको तत्काल दोषी न मान ले तथा उसके दोषकी घोषणा न कर दे, तो बात बन जायगी। गुण देखे और गुणकी घोषणा करे। यदि भूल हो जाय तो स्वीकार कर ले। भूल किससे नहीं होती है? क्या हम कह सकते हैं कि हम सर्वथा निर्दोष हैं? क्या हम कह सकते हैं कि हमको कभी गुस्सा नहीं आता? क्या हमारे मनमे कभी किसीके प्रति द्वेष नहीं होता? क्या लोभ नहीं आता? आजके जगत्में तो ऐसा कौन है? बहुत कम लोग होंगे जो लोभवश अन्याय नहीं करते पाप नहीं करते। अतः कोई दूसरा जो ऐसा

करता है, हम उससे अपना मिलान करके देखें कि हम उसके मुकाबलेमें कितने अच्छे हैं। अच्छे होनेपर भी यदि उसे हम अपनी अच्छाई देना चाहते हैं तो उसकी बुराईकी ओर ध्यान नहीं देना होगा। अपनी अच्छाईका उसके प्रति उपयोग करके ही हम अपनी अच्छाई उसे दे सकते हैं। अपनी अच्छाई देकर हम उसकी बुराईको मिटा सकते हैं। यह तरीका अच्छा बनानेका है। अपनी बुराईसे हम उसकी बुराई भेदना चाहेंगे तो बुराई-बुराई मिलकर बुराईका बल बढ़ जायगा।

दूसरेकी भूलको सुधारनेमें कटु आलोचना दण्ड—यह उतना काम नहीं करता जितना प्रेम और सद्व्यवहार करता है। वह मन बदल देता है। दण्ड एक बार रोकता है पर मन नहीं बदलता।

एक आदमी था उसने कोर्टमें मजिस्ट्रेटको जूता मार दिया। पचास रुपया फाइन हो गया। उसने फिर जूता उठाया बोला कि फिर फाइन करो पचास रुपये एक जूता और मारते हैं। तो पचास रुपया फाइनसे जूता मारनेकी प्रवृत्ति नहीं हटी। दण्ड होगा इसलिये अपराधसे नहीं बचना है बल्कि अपराध करना ही नहीं है। अपराधकी मनमें भावना ही नहीं रखनी है और प्रेमसे सद्भावसे सुधार करना है।

बाजीराव पेशवा थे। एक बार उनके एक बड़े ऊँचे अफसरने यह भूल की कि वह शत्रुओंसे मिल गया और बाजीरावकी कुछ भूमि शत्रुओंके हाथमें चली गयी। लड़ाई चलती रही। वह अफसर बाजीरावके सैनिकोंके द्वारा पकड़ा गया और उसे बाजीरावके सामने लाया गया। बाजीरावने उसकी ओर देखा और कहा कि तुम जानते हो किसके सामने हो? वह बोला—हाँ महाराज! मैं जानता हूँ। तुम जानते हो कि इसकी सजा क्या हो सकती है? बोला—जानता हूँ। गोलीसे उड़ा दिये जाओगे क्या तुम तैयार हो? वह बोला—पकड़ा हुआ हूँ इसलिये मजबूर हूँ। बाजीरावने कहा—दण्ड देंगे। इसपर बोला—दीजिये आप स्वतन्त्र हैं। बाजीरावने कहा कि हम तुम्हारे दण्डका विधान करते हैं, सुनो—आजसे तुम बाजीरावकी सेनाके प्रधान सेनापति हो। और अब तुम जाओ, जितनी भूमि गयी है उससे दुगुनी भूमि लेकर आओ। उसे प्रधान सेनापतिका पद दे दिया गया। यह ऐतिहासिक सत्य है, उसका हृदय बदल गया। उसके मनमें आया कि कहाँ मैं बागी और कहाँ इनका मुझपर इतना विश्वास। मैं चाहता तो आज कुछ भी कर देता। पर इनका मेरे प्रति कितना विश्वास है कि इन्होंने मुझको प्रधान सेनापति बना दिया। सचमुच वह अत्यन्त भक्त हो गया और लड़कर दुगुनी-तिगुनी जमीन ले आया।

इस प्रकार अपने सद्व्यवहार, उदारता शालीनता, विनय, सच्चे प्रेम और हितसे दूसरेके हृदयपर विजय की जा सकती है।

इसीलिये किसीके प्रति कठोर व्यवहार मत करो, प्रतिकूल मत बोलो। दूसरेकी भूल सह लो, प्रेमसे उसे सुधारो। एकान्तमें भी कटु आलोचना—चुगली मत करो। दूसरेके गुणोंका एकान्तमें भी गान करो। किसीको बुरा मानकर सदाके लिये उससे घृणा मत करो। सबमें भगवान् हैं यह देखकर सबका आदर करो। सबका दुःख हमारे ही समान है, यह समझकर किसीका दुःख अपना सुख मत बनाओ। अपने सुखको देकर दुखीके दुःखका हरण करो। यह सब व्यवहार आरम्भकी बात हैं। इनको यदि हम जीवनमें उतारें मानें तो हम अपना भी हित करेंगे और जगत्‌का भी हित करेंगे। नहीं तो क्या होगा कि आगमें पलीता लगा देंगे किसी लकड़ीमें। उसके बाद तो वह आग हमारे बुझाये भी नहीं बुझेगी और यदि हम उसके पास खड़े हो जायँ तो हम भी झुलस जायँगे। यह अनुभवसिद्ध बात है तथा ये व्यावहारिक नीतिके व्यापक नियम हैं। इन नियमोंका अनुसरण किया जाय।

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' इस श्लोकार्धको ध्यानमें रखनेसे आचरण ठीक हो सकता है। भगवान् समझकर सबकी पूजा की जाय तब तो कहना ही क्या? यह तो परम साधन है और भगवत्-प्राप्तिका बड़ा सुन्दर मार्ग है।

आशीर्वाद
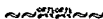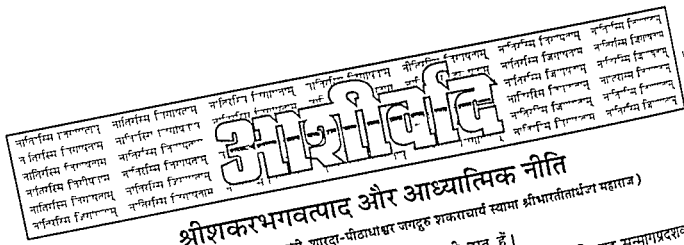
श्रीशंकरभगवत्पाद और आध्यात्मिक नीति

(अनन्तश्रीविभूषित दक्षिणाम्नायस्थ शृंगेरी शारदा-पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीभारतीतीर्थजी महाराज)

इस सृष्टिम विद्यमान समस्त प्राणियाम मनुष्य श्रष्ठ है। अनेक जन्मसचित पुण्यविशपके परिणामस्वरूप प्राप्त मनुष्य-जन्मकी श्रष्ठताक विपयम 'श्रुति'का उद्धरण देत हुए भगवान् श्री आद्यशकराचार्यजीन तैत्तिरीयापनिपद्‌क भाष्यम कहा ह कि पुरुपका ही कर्म करन आर ज्ञान प्राप्त करनेका अधिकार ह। कर्म करने ओर ज्ञान प्राप्त करनेके साधनम समर्थ तथा उनके फलकी प्राप्तिम इच्छा रखनेवाला मनुष्य उस ओर प्रवृत्त हाता है। उसम ही पूर्णतया आत्माका आविभाव हुआ ह वही सर्वश्रेष्ठ ज्ञानस सवस अधिक सम्पन्न ह वह अपनी जानी हुई वात भलीभाँति प्रकट कर सकता ह जानी हुई वस्तुआका भलीभाँति दख सकता ह कल घटित हानवाली वात भी वह जा न सकता है, उस उत्तम आर अधम लाकाका भी ज्ञान है एव वह कर्म-ज्ञानरूप नश्वर साधनके द्वारा अमरपदकी इच्छा करता ह— इस प्रकार वह विवक-सम्पन्न ह। उसको छोडकर अन्य प्राणियाम तो कवल भूख-प्यास मिटानेका ही विशेप ज्ञान हाता ह—

'पुरुपे त्ववाविस्तरामात्मा स हि प्रज्ञानेन सम्पन्नतमो विज्ञात वदति विज्ञात पश्यति वद श्वस्तन वेद लाकालाकौ मर्त्येनामृतमीप्सति एव सम्पन्न ।अथतरेपा पशूनामशनायापिपासे एवाभिविज्ञानम्।' (ब्रह्मानन्दवल्ली)

वेदविहित कर्माचरण आर ज्ञानमागक द्वारा मनुष्य अपनेका सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित कर सकता है। दूसर शब्दाम यह कहा जा सकता ह कि मनुष्य-जीवनका सार्थकता इस वातम ह कि वह अपनेको विरासतमे प्राप्त सद्विचाराको समादरकी दृष्टिस देखे यथोचित रूपसे उनको स्वीकार कर और परस्पर प्ररणादायक शक्तिका सवर्धन करे। इस हेतु उसके समक्ष नाना प्रकारक उपाय आर अवलम्ब ह जिनम 'नाति भी एक है। नाति सूक्ति और सुभापित प्राय समान परिणामकारी हात हैं।

'नीति' शव्दसे ही स्पष्ट है कि वह सन्मागप्रदशक है। नीतिशास्त्र नयशास्त्र हैं तथा जीवनके नाना पहलुआका किवा विविध प्रकारके अनुभवाका वह दर्पण है। अतएव कहनकी आवश्यकता नहीं ह कि उसम सभी विपय समाहित हो जाते हैं। जो घटित ह आर जा घटित हानवाला है उसका वह सकेतक ह। वह भूतका इतिहास है वर्तमानकी कडी हैं आर भविष्यका आलाक है। वह सर्वशास्त्राका निचोड ह आर जीवनका सार है। साग्का सार ग्रहण करनेकी प्रवृत्तिवाल सहज ही उस आर उन्मुख हा जात हैं।

मानव-जीवनका सार क्या ह? मानव-जावनकी सार्थकता किस वातम ह? खाना-पीना आर माज उडाना ही जीवन नहीं है। यदि यही जीवनका लक्ष्य हो ता मानवका क्या आदर्श रहा? उसकी सर्वश्रेष्ठता कैसे सिद्ध हागी? श्रीभगवत्पाद शकराचायजी कहते हैं कि कुत्ता सुअर और गधा सदा खा-पीकर मौज उडात हैं। जिनका प्रवृत्ति उनके समान ही है, उनम कान-सी विशेपता ह?—

खादते मादते नित्य शुनक सूकर खर ।
तेपामेपा विशेप को वृत्तिर्येपा तु तै समा॥

व्यक्ति ओर समाजके सर्वाङ्गीण विकासके लिये भगवत्पादन जो कार्य किये ह वे चिरस्थायी महत्त्वके ह। उनक भाष्य प्रकरण-ग्रन्थादि इस वातक प्रमाण है कि वे 'श्रुति-स्मृति-पुराण' क आलय हैं आर उन्हान हा अपार करुणासे मानवके उद्धारके लिये अधिकार-भेदके अनुसार भिन्न-भिन्न शलाम अनेक उपाय वताये हैं। आध्यात्मिकताकी प्रधानता हानपर भी उनकी रचनाआमे नीतिका भण्डार है जिनक अवलोकनमात्रस उनकी प्रत्युत्पन्नमति आर व्यक्तित्वक अनुपमेय ओनत्यका आकलन हो जाता है।

मनुष्यके मनमें काम उत्पन्न होनेसे वह कर्मजालमें फँसता है और अपनेको बन्धनयुक्त मानता है। वेदान्त-सिद्धान्त है कि कर्मके मूलमें काम है। तैत्तिरीयोपनिषद्के भाष्यमें भगवत्पाद कहते हैं— कर्महेतु काम स्यात्। प्रवर्तकत्वात्।' यदि यह बात नहीं रही और आत्मदर्शनकी स्थिति हो तो आत्मा और ब्रह्मके ऐक्यका बोध हो जाता है, इसलिये यहाँ कहा गया है कि 'आत्मकामत्वे चाप्तकामता आत्मा हि ब्रह्म, तद्विदो हि परप्राप्तिं वक्ष्यति।

आत्मा और ब्रह्मके ऐक्यका प्रमाण श्रुति है। तर्कसे न तो आत्मदर्शन सम्भव है न ब्रह्मका निरूपण ही। ब्रह्मसूत्रभाष्यमें कहा गया है कि 'श्रुत्यवगाह्यमेवेदमतिगम्भीरं ब्रह्म, न तर्कावगाह्यम्। वाक्के लिये अगोचर होनेसे समस्त उपनिषदोंमें विशेषके प्रतिषेध 'नेति नेति' 'अस्थूल' 'अनणु' इत्यादि रूपमें ब्रह्मका निर्देश किया गया है। गीताभाष्यका यह वाक्य यहाँ उल्लेखनीय है— सर्वासु हि उपनिषत्सु ज्ञेयं ब्रह्म 'नेति नेति', 'अस्थूलमनणु' इत्यादि 'विशेषप्रतिषेधेनैव निर्दिश्यते 'न इदं तत्' इति वाचः अगोचरत्वात्।' शब्दैकप्रमाण अर्थात् श्रुतिप्रमाण है कि ब्रह्म अतीन्द्रियत्वसे ज्ञेय है यह घटादिवत् उभयबुद्ध्यनुगत विषय नहीं है—'इदं तु ज्ञेयम् अतीन्द्रियत्वेन शब्दैकप्रमाणगम्यत्वात् न घटादिवत् उभयबुद्ध्यनुगतप्रत्ययविषयम्।' ब्रह्मको 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' कहा गया है। उसको निर्गुण मानते हुए भी उसके सगुणत्वका भी स्वीकार किया गया है। जैसा कि सूत्रभाष्यमें उल्लेख है—'निर्गुणमपि सद् ब्रह्म नामरूपगतैर्गुणैः सगुणमुपासनार्थं तत्र तत्र उपदिश्यते। सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपलब्ध्यर्थं स्थानविशेषो न विरुध्यते, शालग्राम इव विष्णोः ।' नाम-रूप और गुणोंके साथ सगुण उपासनाके लिये जहाँ-तहाँ निर्गुण होनेपर भी सद्ब्रह्मका उपदेश दिया गया है। ब्रह्म सर्वगत होनेपर भी शालग्राममें विष्णुके जैसे स्थानका उल्लेख करनेसे कोई विरुद्धता नहीं होती। इसके अतिरिक्त अध्यारोप नाम-रूप-कर्मद्वारा 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म', 'विज्ञानघन एव', 'ब्रह्म' 'आत्मा' आदि शब्दोंके आरोपसे ब्रह्मका निर्देश किया गया है—'अध्यारोपितनामरूपकर्मद्वारेण ब्रह्म निर्दिश्यते' 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म', 'विज्ञानघन एव', 'ब्रह्म', 'आत्मा' इत्येवमादिशब्दैः।'

सर्वज्ञ ईश्वर ब्रह्म है जिसमें अविद्याकल्पित नाम-रूप इस प्रकार आत्मभूत या आत्मसात् हैं कि उनको पृथक्‌रूपमें कहना असम्भव होनेके कारण वे अनिर्वचनीय हैं और वे संसार-विस्तारके बीज हैं। श्रुतिमें इनको ही ईश्वरकी माया-शक्ति और प्रकृति कहा गया है। सूत्रभाष्यकी पंक्तियाँ हैं— 'सर्वज्ञस्य ईश्वरस्यात्मभूते इवाविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये संसारप्रपञ्चबीजभूते सर्वज्ञेश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिरिति च श्रुतिस्मृत्योरभिलप्येते।'

अविद्याके कारण ही दूसरी वस्तु विभक्त होकर गोचर होती है। अनेकत्व मिथ्याज्ञानका ही परिणाम है। मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं जीवित हूँ, मैं मर जाऊँगा—ये सब अनात्मभावके लक्षण हैं। जन्म दुःख है, मृत्यु दुःख है, वृद्धावस्था दुःख है और रोग आदि दुःख हैं इत्यादि दुःखदोषानुदर्शनसे देहेन्द्रियादि-विषयभोगमें वैराग्य उत्पन्न होता है या आत्मदर्शनकी प्रवृत्ति होती है। जिसमें सुख-दुःखका भोग होता हो वही संसार है (जिनका सम्बन्ध देहेन्द्रियादिसे है)। गीताभाष्यमें पुरुषके सुख-दुःख-भोक्तृत्व-संसारित्वके सम्बन्धमें बताया गया है—'यह संसार माने क्या है? सुख-दुःखका सम्भोग। पुरुषका सुख-दुःखका सम्भोग करनेका नाम संसारित्व है'—'कः पुनः अयं संसारो नाम? सुखदुःखसम्भोगः संसारः। पुरुषस्य सुखदुःखानां सम्भोक्तृत्वं संसारित्वम् इति।' नैसर्गिक अविद्या या माया अथवा अध्यास जबतक है, तबतक लौकिक व्यवहार और वैदिक व्यवहार भी घटित होते हैं— सत्यमेव नैसर्गिक्यामविद्यायां लोकवेदव्यवहारावतारः' (शा०भा०) यही तो अनर्थका कारण है जिसको स्पष्ट शब्दोंमें गीताभाष्यमें इस प्रकार कहा गया है—'सर्वं संसारः क्रियाकारकफललक्षणः सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकः अविद्यापरिकल्पितः समूलः अनर्थः।'

इस अनर्थके परिहारके लिये किया जानेवाला प्रयत्न मानव-जन्मको सार्थक बनानेका वास्तविक या सही प्रयत्न होगा। तदर्थ गुरुकी आवश्यकता है। सद्गुरु ही शिष्यको लक्ष्यतक पहुँचा सकता है। भगवत्पादका कहना है—

अविद्याहृदयग्रन्थिविमोक्षोऽपि भवेद्यतः ।

तमेव गुरुरित्याहुर्गुरुशब्दार्थवेदिन ॥

जो सच्चा प्रकाश चाहता है, उसका यह कर्तव्य ह कि वह कभी गुरु और शिवमे भेद न दखे। गुरुको साक्षात् शिव और शिवको गुर माने—

शिव एव गुरु साक्षाद् गुरुरेव शिव स्वयम्।
उभयोरन्तर किञ्चिन्न द्रष्टव्य मुमुक्षुभि ॥

ऊपर उद्धृत 'सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसग्रह' के नीति-वाक्याके अतिरिक्त कुछ अन्य आध्यात्मिक नीतिवाक्य भी देखिये—

पुत्रमित्रकलत्रादिसुख जन्मनि जन्मनि।
मर्त्यत्व पुरुपत्व च विवेकश्च न लभ्यते॥

अत्यन्त दुर्लभ और पुण्यके परिणाम ह मर्त्यत्व या मनुष्यत्व पुरुपत्व और विवक पुत्र-मित्र-कलत्रादिका सुख तो जन्म-जन्मम प्राप्त हो सकता है। अर्थात् विवकवान्को जन्मराहित्यकी बात साचनी चाहिय, पुन -पुन जन्म लनकी बात नहीं। ज्ञान-प्राप्ति या आत्मदर्शन उसके जीवनका लक्ष्य होना चाहिये। इस कथनका समर्थन अन्य प्रकारसे भी किया गया है—'मनुष्यत्वकी सिद्धि, पुरुपत्वकी सिद्धि, विप्रत्वकी सिद्धि और विवेक या ज्ञानकी सिद्धि तभी समझनी चाहिये जब इन सबका फल मोक्ष सिद्ध हो। यदि मोक्ष न हो तो ये सभी व्यर्थ हो जात ह—

मर्त्यत्वसिद्धेरपि पुस्त्वसिद्धेर्विप्रत्वसिद्धश्च विवकसिद्ध ।
वदन्ति मुख्य फलमेव मोक्ष व्यर्थ समस्त यदि चेन्न माक्ष ॥

बाह्याकाशाम अपनी आत्माका अन्वपण करनस कैस सफलता मिल सकती है? वस्तुक तत्त्वको भूलकर वस्तुपर अध्याराप (या अध्यास) करनम वृथा ही चिन्तित होना पडेगा—

स्वमात्मान पर मत्वा परमात्मानमन्यथा।
विमृग्यन पुन स्वात्मा बहि कोशेषु पण्डितै ॥
विस्मृत्य वस्तुनस्तत्त्वमध्याराप्य च वस्तुनि।
अवस्तुतां च तद्धर्मान् मुधा शोचति नान्यथा॥

बन्धन और मोक्ष मान क्या है? वास्तवमें मनके कारण ही इनकी स्थिति है। जब मन विशुद्ध रहता है तब मोक्ष है और मलिनताके कारण बन्धन है, विवेकसे पुरुषार्थकी सिद्धि है और अविवेकसे दु ख—

बन्धश्च मोक्षा मनसैव पुसामर्थोऽप्यनर्थोऽप्यमुनैव सिध्यति।
शुद्धेन मोक्षो मलिनेन बन्धो विवेकतोऽर्थोऽप्यविवेकतोऽन्य ॥

जिसे शान्तिकी अपेक्षा है, वह कैसे प्राप्त होती है? इसका बहुत ही सरस शैलीमे वर्णन किया गया है—'जिसका मन परद्रव्य, परद्रोह, परनिन्दा तथा परस्त्रियोंपर आधारित नहा रहता, उसको चित्तप्रसाद प्राप्त होता है। जो अपने सदृश सभी भूताको समत्वसे और सुख-दु खको विवेकसे देखता हे, उसको चित्तप्रसाद प्राप्त होता है। जो अत्यन्त श्रद्धा-भक्तिसे, क्षान्तभावसे सदा गुरु और ईश्वरका भजन करता ह, उसका चित्तप्रसाद प्राप्त होता है'—

परद्रव्यपरद्रोहपरनिन्दापरस्त्रिपु ।
नालम्बते मनो यस्य तस्य चित्त प्रसीदति॥
आत्मवत् सर्वभूतेपु य समत्वेन पश्यति।
सुख दु ख विवेकेन तस्य चित्त प्रसीदति॥
अत्यन्त श्रद्धया भक्त्या गुरुमीश्वरमात्मनि।
यो भजत्यनिश क्षान्तस्तस्य चित्त प्रसीदति॥

अध्यात्मपथगामियाको सदा स्मरण रखनेकी बात यह है कि 'आत्मा तो साक्षी है, तटस्थ है, कर्तृत्व या कारयितृत्व उसपर नहीं है। कर्मक अनुसार गुणोका आविर्भाव होता है, गुणानुरूप मन प्रवृत्ति होती है, मन प्रवृत्ति उभयविध कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियाके कारण यहाँ पुण्य-पापका व्यवहार होता है तथा इन्द्रियमनोरूपम बुद्धि 'मैं ही कर्ता हूँ' इस प्रकारके अहकारक कारण बनती है'—

कर्मानुरूपेण गुणादयो भवेद् गुणानुरूपेण मन प्रवृत्ति ।
मनोऽनुवृत्तेरुभयात्मकेन्द्रियैर्निवर्त्यते पुण्यमपुण्यमात्रम्॥
करोति विज्ञानमयोऽभिमान कर्ताऽहमेवेति तदात्मना स्थित ।
आत्मा तु साक्षी न करोति किञ्चिन्न कारयत्येव तटस्थवत् तदा॥

अहकार ही तो द्रष्टा श्रोता वक्ता तथा कर्ता है आत्मा तो इन विकृतियाका स्वय साक्षी है, पर निर्लिप्त ही है—

द्रष्टा श्रोता वक्ता कर्ता भोक्ता भवत्यहकार ।
स्वयमेतद्विकृतीना साक्षी निर्लेप एवात्मा॥

'साधनपञ्चकम्' म जो उपदेश दिया गया है उसमें साधकाक लिय जहाँ आचरणयोग्य बात हैं, वहाँ सामान्य व्यक्तियाके लिय भी ग्राह्य विचार हैं। जितनी भी बातें कही गयी हैं, वे सब नीतियाँ ही हैं जिनका संक्षेपमें कतिपय

उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है—

१-वेदाध्ययन नित्य ही करना चाहिये—'वेदो नित्यमधीयताम्।' तथा उससे सिद्ध कर्मोका आचरण करना चाहिये अर्थात् वैदिक कर्मोका आचरण करना चाहिये—'तदुदितं कर्मस्वनुष्ठीयताम्।' अतः ईश्वरकी उपासना करनी चाहिये—'तेनेशस्य विधीयतामपचितिः।'

२-कामनाओंको छोड़नेकी बुद्धि होनी चाहिये—'काम्ये मतिस्त्यज्यताम्।'

३-सज्जनोंके साथ संगति करनी चाहिये—'सङ्गः सत्सु विधीयताम्।'

४-भगवान्‌में दृढ़ भक्ति रहनी चाहिये—'भगवतो भक्तिर्दृढा धीयताम्।'

५-शान्ति (सहनशीलता)-के साथ गठबन्धन होना चाहिये—'शान्त्यादिः परिचीयताम्।'

६-दृढ़तर कर्मोंका शीघ्र छोड़ देना चाहिये—'दृढतरं कर्माशु संत्यज्यताम्।'

७-सद्विद्वान्‌के पास पहुँचना चाहिये—'सद्विद्वानुपसर्प्यताम्।' और प्रतिदिन उनकी पादसेवा करना चाहिये—'प्रतिदिनं तत्पादुके सेव्यताम्।'

८-बुरे तर्कसे दूर रहना चाहिये—'दुस्तर्कात् सुविरम्यताम्।'

९-श्रुतिका वास्तविक अभिप्राय क्या है, इसको सही रूपमें जाननेका प्रयत्न होना चाहिये—'श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसंधीयताम्।'

१०-सदा गर्वका परित्याग करे—'अहरहर्गर्वः परित्यज्यताम्।'

११-'मैं देह हूँ' ऐसी बुद्धि छोड़ देनी चाहिये—'देहेऽहमतिरुज्झीयताम्।'

१२-विद्वानोंके साथ वाद-विवाद न करे—'बुधजनैर्वादः परित्यज्यताम्।

१३-भूखरूपी रोगकी चिकित्सा करे—'क्षुद्व्याधिश्च चिकित्स्यताम्।

१४-प्रतिदिन भिक्षा औषधरूपमें स्वीकार करे—'भिक्षौषधं भुज्यताम्।'

१५-स्वादिष्ट खान-पानकी याचना न करे—'स्वादिष्ठं न तु याच्यताम्।'

१६-नियतिवश जो कुछ प्राप्त हो उससे संतुष्ट रहे—'विधिवशात् प्राप्तेन संतुष्यताम्।'

१७-शीत-उष्ण (सुख-दुःख) जो भी हो, सहन करना चाहिये—'शीतोष्णादि विषह्यताम्।'

१८-अनावश्यक कोई बात नहीं बोलनी चाहिये—'न तु वृथा वाक्यं समुच्चार्यताम्।'

१९-प्रारब्धको भोग यहीं कर ले—'प्रारब्धं त्विह भुज्यताम्।' फिर परब्रह्ममें अपनेको लीन कर ले—'अथ परब्रह्मात्मना स्थीयताम्।'

'द्वादशपञ्जरिका' और 'चर्पटपञ्जरिका' स्तोत्रोंमें प्रत्येक वाक्य इतना प्रभावी है कि पाठक मन्त्रमुग्ध हो जाता है। वे सब जीवनके व्यापक अनुभवके निदर्शन हैं। धन कमाते हैं, धनका व्यामोह होता है, पर धनसे शान्तिकी अपेक्षा भीति ही अधिक है। इसलिये उसे अनर्थका कारण मानना चाहिये। पुत्र आदिके कारण मन शान्ति समाप्त हो जाती है। सर्वत्र यही बात देखी गयी है। अतः 'द्वादशपञ्जरिका'का यह नीतिसार है—

अर्थमनर्थं भावय नित्यं नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम्।
पुत्रादपि धनभाजां भीतिः सर्वत्रैषा विहिता रीतिः॥

जीवनकी अस्थिरताके सम्बन्धमें मनुष्य जानते हुए भी नहीं जानता है। कमलपत्रपर जैसे जल अस्थिर रहता है, वैसे ही जीवन भी अत्यन्त चञ्चल है। इसको अहंकार-व्याधिने ग्रस लिया है, ऐसा समझना चाहिये। संसारमें सर्वत्र तो शोक है, यहाँ कौन ऐसा है जो शोकका शिकार नहीं होता?

नलिनीदलगतजलमतितरलं तद्वज्जीवितमतिशयचपलम्।
विद्धि व्याध्यभिमानग्रस्तं लोकं शोकहतं च समस्तम्॥

काल किसीकी प्रतीक्षा नहीं करता। शिशिर-वसन्त ऋतुओंका आगमन और पुनरागमन होता ही रहता है, कालकी क्रीडाको कौन जानता है? आयु भी घटती रहती है, फिर भी आशा नहीं छूटती। जबतक साँस तबतक आस। 'चर्पटपञ्जरिका'का प्रारम्भिक छंद इस वास्तविकताका परिचय कराता है—

दिनमपि रजनी सायं प्रातः शिशिरवसन्तौ पुनरायातः।
कालः क्रीडति गच्छत्यायुस्तदपि न मुञ्चत्याशावायुः॥

मनुष्यका शरीर वृद्धावस्थाम शिथिल हो जाता है सिरके बाल सफेद हो जाते हैं, मुँहम दाँत नहीं रहते। वह हाथम डडा लिये चलता है। इतनी असामर्थ्यकी स्थितिम भी आशा उसे नहीं छोडती। यह कितना कटु सत्य है—

अङ्ग गलित पलित मुण्ड दशनविहीन जात तुण्डम्।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्ड तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम्॥

जबतक शरीरम प्राण रहते हैं तबतक ससारम परस्पर प्रीति प्रेमकी बात है। प्राण-पक्षीके उड जानके बाद इस शरीरका कुशल-क्षेम पूछनेवाला कौन है? पत्नी भी इस शरीरको देखकर भयभीत हो जाती है—

यावत् पवनो निवसति देहे
तावत् पृच्छति कुशल गेहे।
गतवति वायौ देहापाये
भार्या बिभ्यति तस्मिन् काये॥

सरल सुबोध और सद्य प्रभावकारी शैलीम 'चर्पटपञ्जरिका' की निम्नाङ्कित पक्तियाँ सत्यका दर्शन कराती हैं—

वयसि गते क कामविकार शुष्के नीरे क कासार।
क्षीणे वित्ते क परिवारो ज्ञाते तत्त्वे क ससार॥

बूढा होनेपर कामविकार कहाँ? पानी ही न रहे तो तालाबका क्या महत्त्व है? धनका नाश हो जानेपर परिजन-परिवारमे पूछनेवाला कौन रहता है? तत्त्वको जान लेनेपर अर्थात् आत्मज्ञान हो जानेपर फिर ससार कहाँ?

भगवत्पादकी कई उक्तियाँ सुभाषितवत् प्रयुक्त होती हैं। यथा—

'सिद्धमन्न परित्यज्य भिक्षामटति दुर्मति ।' (दुर्बुद्धिवाला व्यक्ति सम्यक् प्रस्तुत खान-पानको छोडकर भिक्षार्थ निकल पडता है।)

'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।' (पुत्र कुपुत्र हो सकता है, पर माता कुमाता कभी भी नहीं होती।)

'प्रमाद एव मृत्युरप्रमादोऽमृतत्वम्।' (प्रमाद ही मृत्यु है अप्रमाद अमृतत्व है।)

'ज्ञानेन चात्मानमुपैति विद्वान्।' (विद्वान् ज्ञानसे आत्मसाक्षात्कार प्राप्त करता है।)

'मानात् ससारप्राप्तिर्मौनेन ब्रह्मप्राप्ति ।' (मान अर्थात् भोगभावसे ससारकी प्राप्ति होती है और मौनसे ब्रह्मकी प्राप्ति होती है।)

'शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो वसन्तवल्लोकहित चरन्त ।' (शान्तचित्त सत-महात्मा वसन्त-ऋतुके समान सबका हित करते हुए लोकम विचरण करते हैं।)

सुन्दर उपमानासे परिपूर्ण उनकी अनेक उक्तियाँ अविस्मरणीय हैं। यथा—

(१) 'यथा अन्धा कूपादिक विवेक्तुमशक्ता कूपादिषून्मुखा पतन्ति एव स्त्र्यादिकमभिकाङ्क्षन्तो विषय विषान्धा उन्मुखा नरकेष्वेव पतन्ति।' (जैसे अन्धे कुएँ आदिको जाननेम अशक्त होकर आगे बढकर कुएँम गिर पडते हैं वैसे ही स्त्री आदिकी आकाक्षाम विषयविषान्ध आगे नरकोंम ही पड जाते हैं।) (स०सु०भाष्य १४)

(२) 'यथा सविता स्वय प्रकाश प्रकाशान्तर नापेक्षते अथ च प्रकाशते तद्वदात्मापीति भाव ।' (जिस प्रकार सूर्य स्वय प्रकाश है उसको अन्य प्रकाशकी आवश्यकता नहीं है उसी प्रकार आत्मा भी, ऐसा भाव है।)(ह०म०भाष्य)

(३) 'न हि पित्तशमनार्थिनो वैद्येन मधुर शीतल च भोक्तव्यमिति उपदिष्टे 'तयोरन्यतरत् पित्तशमनकारण ब्रूहि' इति प्रश्न सम्भवति।' (वैद्यके पित्तशमनके लिये मधुर और शीतल पदार्थ खाओ ऐसा कहनेपर 'इनमेसे कोई एक पित्तशमनका कारण बताओ' ऐसा प्रश्न उत्पन्न नहीं होता।) (गी०भाष्य)

(४) यथा अगस्त्येन ब्राह्मणेन समुद्र पीत इति इदानीन्तना अपि ब्राह्मणाब्राह्मणत्वसामान्यात् स्तूयन्ते। (जैसे ब्राह्मण अगस्त्यद्वारा समुद्र-जल पिया गया है इसलिये आजके भी ब्राह्मण इस ब्राह्मणत्व-सामान्य लक्षणसे प्रशसित होते हैं।)(गी०भाष्य)

अन्तमे यह कहना समीचीन होगा कि श्रीभगवत्पादके नीतिसौधम प्रवेश करनेवालेको उसकी असीम भव्यताके दर्शनका भाग्य प्राप्त होता है और साथ-ही-साथ उन लोकगुरुकी सर्वज्ञताका भी परिचय मिल जाता है।

धर्मनीतिके पालनसे ही भारतकी जगद्गुरुके पदपर प्रतिष्ठा

(अनन्तश्रीविभूषित श्रीद्वारका शारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीस्वरूपानन्द सरस्वतीजी महाराज)

प्राचीन कालसे ही भारतवर्ष एक आध्यात्मिक तथा धर्मप्रधान देश रहा है। इसी कारण इसे 'विश्वका गुरु' होनेकी प्रतिष्ठा भी प्राप्त रहा है। धर्मशास्त्रके परम प्रामाणिक मनीषी आचार्य मनु अपनी मनुस्मृति (२।२०)-में कहते हैं—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

संसारमें अर्थ, काम, पद, प्रतिष्ठा, यश एवं अन्य सभी विषयोंकी प्राप्तिमें परस्पर ईर्ष्या, द्वेष, संघर्ष, कलह और अशान्ति तो प्रत्यक्ष हैं, किंतु धर्म ही ऐसा तत्त्व है जो पूर्ण निरापद, शान्तिप्रदायक, रक्षक, मोक्षसाधक, विष्णुका रूप, अनस्पर्ध, मानवताका पर्याय एवं अखण्ड ब्रह्माण्डको संतुलित बनाये रखनेवाला और पुरुषार्थचतुष्टयरूप प्रासादमें प्रवेशके लिये आदिद्वार है, जिसके बिना समूचा जीव-जगत् आधारहीन, अशान्त, अव्यवस्थित, असंतुलित, प्रभु-विरहित, मानवता-विहीन और लोक-परलोककी सिद्धिसे सर्वथा रहित हो जाता है, क्योंकि जो लोकद्वारा धारण किया जाता है अथवा जो लोकका धारण करता है—ये दोनों धर्म हैं—'ध्रियते लोकोऽनेन इति धर्मः, धरति लोकं वा धर्मः।' इसी प्रकार धर्म ही सबकी रक्षा करता है और लोग धर्मका रक्षण (पालन) करते हैं—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

सांसारिक सम्बन्धी जीवका साथ शरीर-धारणतक ही देते हैं, किंतु धर्म परलोकतक साथ देता है, जहाँ अन्य कोई सहयोगी नहीं होता, कहा गया है कि—

धर्मानुगो गच्छति जीवलोकः।

भारतीय चिन्तन-शृंखलामें चिरकालसे ही इसके स्वरूपपर विचार होता आया है। मनुस्मृतिकार धर्मके सामान्य लक्षणोंपर दृष्टिपात करते हुए कहते हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥
(६।९२)

—तात्पर्य यह है कि धर्मके इन—धृति-क्षमा आदि दस लक्षणोंको ध्यानमें रखते हुए यदि आचरण किया जाय तो समूचा मानव-जगत् न केवल शान्तिमय ही होगा, प्रत्युत यह स्वर्गसे भी श्रेष्ठ बन जायगा। अपने धर्म-प्राधान्यके कारण ही भारतकी धरा स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूता कही जाती थी।

समस्त सृष्टिमें प्रत्येक प्राणी सतत सुखका आकांक्षी तथा अन्वेषी होता है, किंतु इस प्रपञ्चात्मक विश्वमें उसे दुःख ही मिलता है। इसलिये भारतीय मनीषी और ऋषि-मुनि सभी सांसारिकतासे अलग रहकर अरण्यमें निवास करके अहिंसा, सत्य, संतोष, अनीर्ष्या, करुणा, प्रेम, भक्ति, निःस्पृहता, संघर्षहीनता, जप-तप, पूजा-पाठ तथा यज्ञ-यागादियुक्त पावन आचारका पालन करते हुए धर्ममय जीवन व्यतीत करते थे। उन महान् चिन्तकों, भारत-भूमिके पुजारियों, जीव-जगत्के रक्षकों, जड-चेतनके प्रेमियों, समदर्शियों एवं शास्त्रीय अनुशासनोंको स्वीकार करनेवाले महर्षियोंकी विचार-सरणिको ध्यानमें रखते हुए महर्षि वेदव्यासने यक्षमुखेन महाभारतके अन्तर्गत धर्मके स्वरूपको प्रस्तुत करते हुए कहा—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥
(महाभारत वनपर्व ३१३।११७)

अर्थात् तर्ककी कहीं स्थिति नहीं है, श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं, एक ही ऋषि नहीं है जिसका मत प्रमाण माना जाय तथा धर्मका तत्त्व गुहामें निहित है अर्थात् अत्यन्त गूढ है, अतः जिस मार्गसे महापुरुष जाते रहे हैं, वही मार्ग है।

इसी प्रकार वेदके कर्मकाण्डभागको महत्त्व देते हुए व्यासजी पुनः कहते हैं—

दर्शं च पौर्णमासं च अग्निहोत्रं च धीमतः।
चातुर्मास्यानि चैवासंस्तेषु धर्मः सनातनः॥
(महाभारत, [illegible] १८९।१९)

अर्थात् दाश, पार्णमास, अग्निहोत्र एव चातुमास्य—ये याग यज्ञ सनातनधर्मके रूप हैं। इनका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये। दार्श-पोर्णमास समस्त इष्टियोंके प्रकृतिरूप हैं, जिनमे क्रमश आग्नेयपुरोडाशयाग, इन्द्रदेवताक दधि-द्रव्ययाग तथा पयोद्रव्ययाग अग्निदेवताक अष्टकपाल-पुरोडाशयाग, अग्नीषोमीय आज्यद्रव्यक उपांशुयाग और एकादशकपालपुरोडाशयाग होते है।

शतपथ ब्राह्मणके अनुसार दर्शयज्ञ और पार्णमासयज्ञ स्वर्गमे प्रवेश करनेके द्वार है। दर्शपौर्णमासयाग अग्निहोत्र और चातुमास्याकी भाँति पर्व हैं, क्योंकि अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास तथा चातुर्मास्य प्रजापतिरूपी संवत्सरके अङ्ग किंवा पर्व है। ऋषियोंकी दृष्टिमे यज्ञ विष्णुका रूप है—'यज्ञो वै विष्णु ' (अर्थसंग्रह पृ० ३)। अत यज्ञमे वे सभी गुण विद्यमान हैं, जो भगवान् विष्णुमे हैं। जैसे—लोक-कल्याण व्यापकता, पालन, जगत्-रक्षा एव पवित्रता प्रभृति। अत यज्ञ-यागादि ही धर्म है, ऐसा कुछ लोगोंका मत है, यथा—'यागादिरेव धर्म ।' (अर्थसंग्रह पृ० ३)। इसी प्रकार मीमांसा-ग्रन्थोंमें वेदप्रतिपादित प्रयोजनवान् अर्थको धर्म स्वीकारा गया है—'वेदप्रतिपाद्य प्रयोजनवदर्थो धर्म ' (जै० सूत्र १।१।२)। ध्यातव्य है कि यहाँ अव्याप्ति, अतिव्याप्ति एव असम्भव—इन तीनों दोषोंसे बचनेके लिये 'वेदप्रतिपाद्य ', 'प्रयोजनवत्' और 'अर्थ ' शब्दोंका प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार आचार्य जैमिनिने धर्मकी एक अन्य परिभाषा भी दी है—

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म ।

इनकी दृष्टिमे 'चोदना' शब्द पूर्णतया वेदवाचक है। अत विध्यादि सभी भागोंके इसमे पठित होनेके कारण तथा समस्त वेदोंके धर्ममे तात्पर्य होनेके कारण समस्त वेद धर्म-प्रतिपादक ही हैं यथा—'चोदनाशब्दस्य वेदमात्रपरत्वात्। वेदस्य सर्वस्य धर्मतात्पर्यवत्त्वेन धर्मप्रतिपादकत्वात्।' (अर्थसंग्रह पृ० १४)।

धर्म-प्रामाण्यपर विचार करना मीमांसाका प्रयोजन है—'धर्माख्य विषय वक्तु मीमांसाया प्रयोजनम्' (श्लोकवार्तिक)। यही कारण है कि मीमांसासूत्रकार जैमिनि अपने ग्रन्थका श्रीगणेश धर्मकी जिज्ञासासे करते हैं—'अथातो धर्मजिज्ञासा' (मीमांसासूत्र १।१।१)। इस सूत्रकी व्याख्यामे लौगाक्षिभास्कर कहते है—

अथ परमकारुणिको भगवान् जैमिनिर्धर्मविवेकाय द्वादशलक्षणीं प्रणिनाय तत्रादौ धर्मजिज्ञासा सूत्रयामास। अत्र 'अथ' शब्दो वेदाध्ययनानन्तर्यवचन । तथा च वेदाध्ययनानन्तर यतोऽर्थज्ञानरूपदृष्टार्थक तदध्ययनम्। अतो हेतोर्धर्मस्य वेदार्थस्य जिज्ञासा कर्तव्या। इति शेष । जिज्ञासा पदस्य विचारे लक्षणा। अतो धर्मविचारशास्त्रमिदमारम्भणीयमिति शास्त्रारम्भसूत्रार्थ । (अर्थसंग्रह पृ० २)।

इसके अतिरिक्त धर्मके स्वरूप-चिन्तनको लेकर अपनी परम्परामे अनेक स्मृतियोंकी रचना हुई जिनमे याज्ञवल्क्य, पराशर गौतम, देवल बृहस्पति, शुक्र और हारीत आदिकी स्मृतियोंका प्रमुख स्थान है, क्योंकि विद्याके चौदह स्थानोंमे धर्मशास्त्र महत्त्वपूर्ण है—

पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिता ।
वेदा स्थानानि विद्याना धर्मस्य च चतुर्दश॥

(या०स्मृति आचाराध्याय श्लोक ३)

इसी प्रकार कहीं 'यतोऽभ्युदयनि श्रेयससिद्धि स धर्म ' कहा गया है तो कहीं 'आचारो प्रथमो धर्म ' कहीं 'अहिंसा परमो धर्म ' तो कहीं 'नहि सत्यात् परो धर्म ' और कहीं 'अय च परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्' उल्लिखित है तो कहीं 'न दयासदृश धर्म ' स्वीकृत है। इसीलिये भूत अनागत तथा वर्तमान तीनोंको एक बिन्दुपर करके देखनेवाले—क्रान्तद्रष्टा जो ऋतम्भरा प्रज्ञाके धनी हैं, ऐसे ऋषि धर्मकी व्याख्या करते है प्रपञ्चात्मक विधेयकी नहीं, यथा—'अथातो धर्म व्याख्यास्याम ।' इसी क्रममे यदि विचार किया जाय तो महाभारतकार धर्मके प्रति सर्वाधिक सतर्क दिखायी देते हैं। यहाँ तक कि उनका दुर्योधन तक धर्माधर्मके ज्ञानकी बात करता है—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति-
र्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्ति ।
केनापि देवेन हृदिस्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥

(पाण्डवगीता)

यही कारण है कि इतिहासकार धर्ममर्यादित

पुरुषार्थचतुष्टयको इतिहास कहते हैं—

धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम् ।
पूर्ववृत्तं कथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते॥
(महाभारत)

क्योंकि महाभारतके लिये व्यासजीकी प्रतिज्ञा है—

धर्मे ह्यर्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥

धर्म ही वह तत्त्व है, जो पशु और मनुष्यकी पहचान पृथक्-पृथक् रूपमें इस प्रकार कराता है—

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥

धर्मपथकी सुदीर्घ विचार-यात्राके सिद्ध पथिक भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी धर्मके प्रति अनुरक्तिको रेखाङ्कित किया जा सकता है। उनके अनुसार धर्मकी हानिमें प्रलयकी सम्भावना दीखती है। अतः वे धर्मकी ही प्रतिष्ठाको अपने अवतरणका कारण बताते हैं, यथा—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
(गीता ४।७)

भारतीय परम्परा परोपकारको भी धर्म मानती है, क्योंकि व्यासजी कहते हैं—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी श्रीरामचरितमानसके अन्तर्गत कहते हैं—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥
(रा०च०मा० ७।४१।१)

यही कारण है कि उपनिषद् जहाँ सत्य और स्वाध्यायके लिये उपदेश करते हैं, वहीं धर्मको भी पर्याप्त महत्त्व देते हैं—

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। (तै० उप० १।११)

इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् भी धर्मको सत्यका स्वरूप घोषित करते हुए कहता है—

धर्मात् परं नास्त्यथो अबलीयान् बलीयांसमाशंसते धर्मेण यथा राज्ञैवं यो वै स धर्मः सत्यं वै तत् तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तः सत्यं वदतीति ।
(बृहदारण्यक० १।४।१४)

अर्थात् धर्मसे उत्कृष्ट कुछ भी नहीं है। जिस प्रकार राजाकी सहायतासे निर्बलमें भी प्रबल शत्रुको जीतनेकी महान् शक्ति आ जाती है, उसी प्रकार धर्मके द्वारा निर्बल पुरुष भी बलवान् पुरुषको जीतनेकी इच्छा करने लगता है। अतः धर्म ही सत्य है' इत्यादि।

इसलिये सभी प्राणियोंमें धर्म ही भगवद्रूप है और वही परम गति है—

धर्मो हि भगवान् देवो गतिः सर्वेषु जन्तुषु।

वेदान्तदर्शनके तपोनिष्ठ मनीषी भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि—

'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।'
(गीता ४।३८)

अर्थात् ज्ञान वह सर्वपवित्र तत्त्व है, जिसके द्वारा सदसत्का विचार करके सत्पथका अनुगामी संसारसागरसे पार हो जाता है, क्योंकि इसके द्वारा मानवके हृदयकी अज्ञानग्रन्थि खुल जाती है और सभी संशय मिट जाते हैं—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥
(मुण्डकोप० २।८)

इस प्रकार जीव इसके द्वारा सच्चिदानन्दघन शुद्धबुद्धमुक्तचैतन्याद्वैताखण्ड नित्य आनन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्माके साथ तदाकाराकारित होकर सदाके लिये जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त हो जाता है। इसी कारण भागवतकार कहते हैं कि—

धर्मं भजस्व सततं त्यज लोकधर्मान्
सेवस्व साधुपुरुषाङ्घ्रि कामतृष्णाम्।
अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा
सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम्॥
(श्रीमद्भागवत माहात्म्य ४।८०)

शास्त्रकारोंके अनुसार भगवान्के चतुर्विध भक्तोंमें ज्ञानी भक्त ही सर्वाधिक प्रिय हैं। सभी भगवदवतारोंमें रामको मर्यादापुरुषोत्तम कहते हैं, क्योंकि वे

जीवनके धनी और सत्यसन्ध महापुरुष हैं। रामायणमें सीताजी उनसे कहती हैं कि—

धर्मिष्ठ सत्यसंधश्च पितुर्निर्देशकारक ।
त्वयि धर्मश्च सत्यं च त्वयि मय प्रतिष्ठितम्॥

(वा० रा० अरण्यकाण्ड ९।७)

आदिकवि वाल्मीकिके मतसे संसारमें धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है तथा सत्य भी उसीमें प्रतिष्ठित है। धर्मात्मा पुरुषको माता-पिता अथवा ब्राह्मण-वचनोंका पालन करना चाहिये। उनके अनुसार धर्मसे धन और वास्तविक सुख दोनों प्राप्त होते हैं। महाभारत धर्म तथा भगवान् श्रीकृष्णमें अभेद मानता है। उसके अनुसार—जहाँ धर्म है वहाँ श्रीकृष्ण हैं और जहाँ श्रीकृष्ण हैं वहीं विजय होती है। यथा—

यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः ।

(महाभारत भीष्मपर्व ४३।६०)

ज्ञानमहिमामण्डित विद्वद्धुरीण महापुरुषोंका मानना है कि अहिंसा, ऋजुता एवं धर्ममें अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है—

आर्जवं धर्ममित्याहु ।

इसी प्रकार सूक्ष्मतया विचार करनेपर वैदिक वाङ्मयसे लेकर अर्वाचीन साहित्यपर्यन्त भारतीय विचार-प्रवाहमें सर्वत्र धर्मके स्वरूप तथा धर्मकी महत्ता-उपयोगिता, प्रासंगिकता-अनिवार्यता, व्यापकता-अपरिहार्यता एवं शाश्वतताका वर्णन सरलतया देखा जा सकता है।

यह निर्विवाद सिद्धान्त है कि धर्मद्वारा ही निखिल ब्रह्माण्डमें संतुलन, शान्ति, सुख, ऐहिक और आमुष्मिक प्रगति तथा अन्तमें मोक्ष तककी प्राप्ति सम्भव है। अन्य मार्गोंके आश्रयणमें मनुष्यका सर्वांगीण तथा निर्विघ्न विकास कथमपि सम्भव नहीं है, क्योंकि अन्य पथोंके पालनसे संसारमें अशान्ति, वैमनस्य, कलह और परस्पर संघर्ष बना रहेगा।

सनातन धर्मकी सुदीर्घ शृंखलामें नानकी श्रेष्ठता सर्वविध प्रमाणित है। यद्यपि उसकी प्राप्ति और तदनुपालन बहुत कठिन है। ज्ञानी जन तो उस मार्गको छुरेकी-सी धार (असिधार)-की भाँति मानते हैं, यथा—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।

(कठोपनिषद् १।३।१४)

इस संदर्भमें गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि—

ग्यान पंथ कृपान कै धारा।

(रा०च०मा० ७।११९।१)

अतः इसकी प्राप्ति-हेतु उत्तम गुरुकी आवश्यकता बतायी गयी है इसके अभावमें नानाजन सम्भव है ही नहीं। आज समूचे विश्वको शान्ति, सुख, स्नेह और निर्विघ्नताकी प्राप्ति-हेतु नानके मार्गका अनुपालन करना अति अनिवार्य है जो धर्मका पर्याय है। ध्येय है कि धर्म जिसका तात्पर्य सनातन वैदिक चिन्तन, संस्कृति और परम्परासे है, वह अखण्ड काल-धाराकी अप्रतिम कसौटीपर इन सांसारिक समस्याओंके समाधान-कर्ताके रूपमें अनेक बार खरा सिद्ध हो चुका है और आज भी विश्वको संचालन करनेमें समर्थ है। कहना न होगा कि पूरे संसारमें भारत-जैसा धर्मधनका विशाल भण्डार अन्य देशके पास नहीं है और न ही आजकी ज्वलन्त स्थितियोंके उपशमनार्थ धर्मातिरिक्त कोई दूसरा मार्ग ही है—'नान्यः पन्था'। अतः सम्प्रति धर्मके प्रतिष्ठापनार्थ विश्वके लिये पुनः भारतवर्षके जगद्गुरुत्वकी आवश्यकता है क्योंकि भारतवर्षकी सनातन वैदिक धार्मिक पद्धति ही संसारको इन भौतिक झंझावातोंसे उबार सकती है। आज लोग जो अन्यान्य मार्गों किंवा उपायोंद्वारा दुनियाकी रक्षाका चिन्तन कर रहे हैं वह मात्र दिवास्वप्न किंवा मृगमरीचिका है। इससे निःश्रेयसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। पुनः लोगोंको भारतीय सनातन धर्मगुरुओंकी ही शरणमें जाना पड़ेगा। अतः आज प्रत्येक भारतवासीको अपने धर्म और राष्ट्रियताके प्रति सचेष्ट और दत्तचित्तभावसे आचरण करना चाहिये जिससे देश पुनः धर्मके द्वारा जगद्गुरुके पद और प्रतिष्ठाकी प्राप्ति कर सके।

'नीतिशास्त्रनिरूपणम्'

[नीतिशतक]

(अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य पुरीपीठाधीश्वर स्वामी श्रीनिश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज)

[प्रस्तुत लेखमें पुरीपीठाधीश्वर शंकराचार्यजीने विभिन्न शास्त्रीय ग्रन्थोंसे नीतिशतकके रूपमें लगभग एक सौ नीतिश्लोकोंका सानुवाद-संग्रह कृपापूर्वक प्रस्तुत किया है, जो सर्वजनोपयोगी होनेके कारण विशेष महत्त्वका है।—सं०]

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥ १॥
(महाभारत आदि० १। १)

ऋषिपुङ्गव नारायणको उनके सखा नरोंमें उत्तम ऋषिप्रवर नरको, नर-नारायणकी लीला प्रकट करनेवाली ब्रह्मविद्यास्वरूपा देवी सरस्वतीको और लीलाप्रचारक ज्ञानावतार श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासको नमस्कार करके जयोच्चारणपूर्वक जयसंज्ञक पुराणेतिहासका प्रवचन करे॥ १॥

जगतः पितरं शम्भुं जगतो मातरं शिवाम्।
तत्पुत्रं च गणाधीशं नत्वैतद्वर्णयाम्यहम्॥ २॥
(शिवपुराण ज्ञानसंहिता १। १)

जगत्के पिता शिवजीको, जगत्की माता उमाजीको और उनके पुत्र श्रीगणेशजीको नमस्कार करके मैं यह वर्णन कर रहा हूँ॥ २॥

नीतिसारं प्रवक्ष्यामि अर्थशास्त्रादिसंश्रितम्।
राजादिभ्यो हितं पुण्यमायुःस्वर्गादिदायकम्॥ ३॥
(गरुडपुराण नीतिसार १। १०८। १)

अब मैं उस नीतिसारको कहता हूँ, जिसमें अर्थशास्त्रादि संनिहित हैं, जो राजा आदिके लिये हितप्रद, पुण्यायुष्प्रद तथा स्वर्गादिदायक है॥ ३॥

न हि बुद्ध्यान्वितः प्राज्ञो नीतिशास्त्रविशारदः।
निमज्जत्यापदं प्राप्य महतीं दारुणामपि॥ ४॥
(महाभारत शान्ति० १३८। ३९-४०)

बुद्धिमान्, विद्वान् और नीतिशास्त्रमें निपुण व्यक्ति भारी और भयंकर विपत्तिमें पड़नेपर भी उसमें निमग्न नहीं होता॥ ४॥

सद्भिः सङ्गं प्रकुर्वीत सिद्धिकामः सदा नरः।
नासद्भिरिह लोकाय परलोकाय वा हितम्॥ ५॥
(गरुडपुराण नीतिसार १। १०८। २)

सिद्धि चाहनेवाला पुरुष सदा ही सत्पुरुषोंसे संग करे न कि असत्पुरुषोंसे। असत्पुरुषोंका संग इहलोक या परलोकमें कभी भी हितकर नहीं होता॥ ५॥

पण्डितैश्च विनीतैश्च धर्मज्ञैः सत्यवादिभिः।
बन्धनस्थोऽपि तिष्ठेच्च न तु राज्ये खलैः सह॥ ६॥
(गरुडपुराण नीतिसार १। ११३। ३)

पण्डित, विनीत, धर्मज्ञ और सत्यवादियोंके साथ बन्धनयुक्त (कष्टयुक्त) रहते हुए भी निवास करे, परंतु राज्यप्राप्ति होनेपर भी दुष्टोंके साथ निवास न करे॥ ६॥

न स्वप्नेन जयेन्निद्रां न कामेन स्त्रियं जयेत्।
न चेन्धनैर्जयेद्वह्निं न मद्येन तृषां जयेत्॥ ७॥

निद्रापर विजय सुषुप्तिसे न करे अर्थात् अधिक सोकर निद्रापर विजय सम्भव न माने। कामके द्वारा स्त्रीको न जीते, अर्थात् अधिक कामुक होकर स्त्रीपर विजय सम्भव न माने। ईंधनके द्वारा अग्निको न जीते अर्थात् ईंधन डालकर अग्निको बुझा पाना सम्भव न माने। मद्यके द्वारा प्यासको न जीते अर्थात् मद्यपान करके प्यासपर विजय पाना सम्भव न माने॥ ७॥

धृतिं लज्जां च बुद्धिं च पानं पीतं प्रणाशयेत्।
तस्मान्नराः सम्भवन्ति निर्लज्जा निरपत्रपाः॥ ८॥
पानपस्तु सुरां पीत्वा तदा बुद्धिप्रणाशनात्।
कार्याकार्यस्य चाज्ञानाद् यथेष्टकरणात् स्वयम्।
विदुषामविधेयत्वात् पापमेवाभिपद्यते॥ ९॥
(महाभारत अनुशासनपर्व १४५ दा०)

पी हुई मदिरा मनुष्यके धैर्यको तथा उसकी लज्जा और बुद्धिको नष्ट कर देती है। इससे मनुष्य निर्लज्ज और निकृष्ट हो जाता है॥ ८॥ शराब पीनेवाला मनुष्य उसे पीकर बुद्धिका नाश हो जानेसे, कर्तव्य और अकर्तव्यका ज्ञान न रह जानेसे, इच्छानुसार कार्य करनेसे तथा विद्वानोंकी आज्ञाके अधीन न रहनेसे पापको ही प्राप्त होता है॥ ९॥

परिभूतो भवेल्लोके मद्यपो मित्रभेदकः।
सर्वकालमशुद्धश्च सर्वभक्षस्तथा भवेत्॥ १०॥
गुरूनतिवदेन्मत्तः परदारान् प्रधर्षयेत्।
संविदं कुरुते शौण्डैर्न शृणोति हितं क्वचित्॥ ११॥
(महाभारत अनुशासनपर्व १४५ दा०)

मदिरा पीनेवाला पुरुष जगत्‌मे अपमानित होता है। मित्रोमे फूट डालता है, सब कुछ खाता और हर समय अशुद्ध रहता है॥ १०॥ वह मतवाला होकर गुरुजनोसे बहकी-बहकी बात करता है, परायी स्त्रियोसे बलात्कार करता है, धूर्तो और जुआरियोके साथ बैठकर सलाह करता है और कभी किसीकी कही हुई हितकर बात भी नहीं सुनता है॥ ११॥

सत्येन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते।
मृजया रक्ष्यते पात्रं कुलं शीलेन रक्ष्यते॥ १२॥
(गरुडपुराण नीतिसार १।११३।१०)

धर्म सत्यसे रक्षित होता है। विद्या योगसे रक्षित होती है। पात्र स्वच्छतासे रक्षित होता है। कुल शीलसे रक्षित होता है॥ १२॥

वर्तितव्यं शमिच्छद्भिर्भक्तवन्न तु कृष्णवत्।
इत्येवं भक्तिशास्त्राणां तात्पर्यस्य विनिर्णयः॥ १३॥
(उज्ज्वलनीलमणि हरिवल्लभाप्रकरण २३)

शुभ चाहनेवालेको भक्तिशास्त्रोक्त विधियोके अनुरूप भगवद्भक्तोके आचरणके तुल्य आचरण करना चाहिये, न कि श्रीकृष्णतुल्य। यही भक्तिशास्त्रोके तात्पर्यका विनिश्चय है॥ १३॥

रामादिवद्वर्तितव्यं न क्वचिद्रावणादिवत्।
इत्येष मुक्तिधर्मादिपराणां नय इष्यते॥ १४॥
(उज्ज्वलनीलमणि हरिवल्लभाप्रकरण २४)

रामादितुल्य बर्ताव करना चाहिये न कि कभी भी कहीं भी रावणादितुल्य। यह मुक्ति और धर्मादिपरायण महानुभावोकी परिपाटी कही जाती है॥ १४॥

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः॥ १५॥
(गरुडपुराण नीतिसार १।१११।१२)

परायी स्त्रियोमे जिसकी मातृवत् दृष्टि है, पराये द्रव्यो (वैभवो)-को जो मिट्टीके ढेलेके तुल्य समझता है और जो सभी प्राणियोको आत्मतुल्य समझता है, वह पण्डित है॥ १५॥

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥ १६॥
(मनुस्मृति ३।५६)

जिस कुलमे वस्त्र, आभूषण और मधुर वचन आदिद्वारा स्त्रीकी पूजा (सम्मान) होती है, उस कुलपर देवता प्रसन्न रहते हैं, किंतु जिस कुलमे इनकी पूजा नहीं होती, उस कुलमे सब कर्म निष्फल होते हैं॥ १६॥

येन प्रीणाति पितरं तेन प्रीतः प्रजापतिः।
प्रीणाति मातरं येन पृथिवी तेन पूजिता॥ १७॥
येन प्रीणात्युपाध्यायं तेन स्याद् ब्रह्म पूजितम्।
सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः॥ १८॥
(महाभारत अनुशासनपर्व ७।२५-२६)

मनुष्य जिस व्यवहारसे पिताको प्रसन्न करता है, उससे भगवान् प्रजापति प्रसन्न होते हैं। जिस बर्तावसे वह माताको संतुष्ट करता है, उससे पृथ्वी देवीकी भी पूजा हो जाती है तथा जिससे वह उपाध्यायको तृप्त करता है, उसके द्वारा परब्रह्म परमात्माकी पूजा सम्पन्न हो जाती है॥ १७॥ जिसने इन तीनोका आदर किया, उसके द्वारा सभी धर्मोका आदर हो गया और जिसने इन तीनोका अनादर कर दिया उसकी सम्पूर्ण यज्ञादिक क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं॥ १८॥

दशाचार्यानुपाध्याय उपाध्यायान् पिता दश॥ १९॥
दश चैव पितॄन् माता सर्वां वा पृथिवीमपि।
गौरवेणाभिभवति नास्ति मातृसमो गुरुः॥ २०॥
माता गरीयसी यच्च तेनैतां मन्यते जनः।
ज्येष्ठो भ्राता पितृसमो मृते पितरि भारत॥ २१॥
स ह्येषां वृत्तिदाता स्यात् स चैतान् प्रतिपालयेत्।
कनिष्ठास्तं नमस्येरन् सर्वे छन्दानुवर्तिनः॥ २२॥
तमेव चोपजीवेरन् यथैव पितरं तथा।
शरीरमेतौ सृजतः पिता माता च भारत॥ २३॥
आचार्यशास्ता या जातिः सा सत्या साजरामरा।
ज्येष्ठा मातृसमा चापि भगिनी भरतर्षभ।
भ्रातुर्भार्या च तद्वत् स्याद् यस्या बाल्ये स्तनं पिबेत्॥ २४॥
(महाभारत अनुशासनपर्व १०५।१४-२०)

गौरवमे दस आचार्योसे बढ़कर उपाध्याय, दस उपाध्यायोसे बढ़कर पिता है॥ १९॥ दस पिताओसे बढ़कर माता है। माता अपने गौरवसे समूची पृथ्वीको भी तिरस्कृत कर देती है। अतः माताके समान दूसरा कोई गुरु नहीं है॥ २०॥ भारत! माताका गौरव सबसे बढ़कर है, यही कारण है कि लोग माताका विशेष आदर करते हैं। भरतनन्दन! पिताकी मृत्यु हो जानेपर बड़े भाईको ही पिताके समान समझना चाहिये॥ २१॥ बड़े भाईको उचित है कि वह अपने छोटे भाइयोको जीविका प्रदान करे तथा

उनका पालन-पोषण करे। छोटे भाइयोंका भी कर्तव्य है कि वे सब-के-सब बड़े भाईके सामने नतमस्तक हों और उनकी इच्छाके अनुसार चलें। बड़े भाईको ही पिता मानकर उनके आश्रयमें जीवन व्यतीत करें॥ २२॥ भारत! पिता और माता केवल शरीरकी सृष्टि करते हैं, किंतु आचार्यके उपदेशसे जो ज्ञानरूप नवीन जीवन प्राप्त होता है, वह सत्य अजर और अमर है॥ २३॥ भरतश्रेष्ठ! बड़ी बहन भी माताके समान है। इसी तरह बड़े भाईकी पत्नी तथा बचपनमें जिसका दूध पिया गया हो वह धाय भी माताके समान है॥ २४॥

शुश्रूषते य पितरं न चासूयेत् कदाचन।
मातरं भ्रातरं वापि गुरुमाचार्यमेव च॥ २५॥
तस्य राजन् फलं विद्धि स्वर्लोके स्थानमर्चितम्।
न च पश्यति नरकं गुरुशुश्रूषयाऽऽत्मवान्॥ २६॥

(महाभारत अनुशासनपर्व ७५। ०-४१)

राजन्! जो पिता-माता, बड़े भाई, गुरु और आचार्यकी सेवा करता है और कभी उनके गुणोंमें दोषदृष्टि नहीं करता है, उसको मिलनेवाले फलको जान लो—उसे स्वर्गलोकमें सर्वसम्मानित स्थान प्राप्त होता है। मनको वशमें रखनेवाला वह पुरुष गुरु-शुश्रूषाके प्रभावसे कभी नरकका दर्शन नहीं करता॥ २५-२६॥

देवतातिथिभृत्येभ्यः पितृभ्यश्चात्मनस्तथा।
ऋणवान् जायते मर्त्यस्तस्मादनृणतां व्रजेत्॥ २७॥
स्वाध्यायेन महर्षिभ्यो देवेभ्यो यज्ञकर्मणा।
पितृभ्यः श्राद्धदानेन नृणामभ्यर्चनेन च॥ २८॥
वाचा शेषावहार्येण पालनेनात्मनोऽपि च।
यथावद् भृत्यवर्गस्य चिकीर्षेत् कर्म आदितः॥ २९॥

(महाभारत शान्तिपर्व २९२।९—११)

प्रत्येक मनुष्य देवता, अतिथि, भरण-पोषणके योग्य कुटुम्बीजन, पितर तथा अपने-आपका भी ऋणी होकर जन्म लेता है, अतः उसे ऋणसे मुक्त होनेका यत्न करना चाहिये॥ २७॥ वेद-शास्त्रोंके स्वाध्यायद्वारा ऋषियोंके, यज्ञकर्मद्वारा देवताओंके, श्राद्ध और दानमें पितरोंके तथा स्वागत-सत्कार, सेवा आदिसे अतिथियोंके ऋणसे छुटकारा होता है॥ २८॥ इसी प्रकार अधिकारानुसार वेद-वाणीके पठन, श्रवण एवं मननमें, यज्ञशेष अन्नके भोजनसे तथा जीवोंकी रक्षा करनेसे मनुष्य अपने ऋणमें मुक्त होता है। भरणीय कुटुम्बीजनके पालन-पोषणका आरम्भसे ही प्रबन्ध करना चाहिये। इससे उनके ऋणसे भी मुक्ति हो जाती है॥ २९॥

क्रोधमुत्पतितं हित्वा सुशीलो वीतमत्सरः।
अर्चयेदतिथिं प्रीतः परत्र हितभूतये॥ ३०॥
अतिथिं नावमन्येत नानृतां गिरमीरयेत्।
न पृच्छेद् गोत्रचरणं नाधीतं वा कदाचन॥ ३१॥
चण्डालो वा श्वपाको वा काले यः कश्चिदागतः।
अन्नेन पूजनीयः स्यात् परत्र हितमिच्छता॥ ३२॥
पिधाय तु गृहद्वारं भुङ्क्ते योऽन्नं प्रहृष्टवान्।
स्वर्गद्वारपिधानं वै कृतं तेन युधिष्ठिर॥ ३३॥

(महाभारत आश्वमेधिकपर्व ९२ दा०)

परलोकमें कल्याणकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको अपने प्रकट हुए क्रोधको भी रोककर मत्सरताका त्याग करके सुशीलता और प्रसन्नतापूर्वक अतिथिकी पूजा करनी चाहिये॥ ३०॥ गृहस्थ पुरुष कभी भी अतिथिका अनादर न करे, उससे झूठी बात न कहे तथा उसके गोत्र, चरण (शाखा) और अध्ययनके विषयमें भी कभी प्रश्न न करे॥ ३१॥ भोजनके समयपर चाण्डाल या श्वपाक (महा चाण्डाल) भी घर आ जाय तो परलोकमें हित चाहनेवाले गृहस्थको अन्नके द्वारा उसका सत्कार करना चाहिये॥ ३२॥ युधिष्ठिर! जो (किसी भिक्षुकके भयसे) अपने घरका दरवाजा बंद करके प्रसन्नतापूर्वक भोजन करता है, उसने मानो अपने लिये स्वर्गका दरवाजा बंद कर दिया है॥ ३३॥

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते।
स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति॥ ३४॥

(महाभारत शान्तिपर्व १९१।१२)

जिस गृहस्थके दरवाजेसे कोई अतिथि भिक्षा न पानेके कारण निराश होकर लौट जाता है, वह उस गृहस्थको अपना पाप दे उसका पुण्य लेकर चला जाता है॥ ३४॥

पितॄन् देवानृषीन् विप्रानतिथींश्च निराश्रयान्।
यो नरः प्रीणयत्यन्नैस्तस्य पुण्यफलं महत्॥ ३५॥

(महाभारत आश्वमेधिकपर्व ९२ दा०)

जो देवताओं, पितरों, ऋषियों, ब्राह्मणों, अतिथियों और निराश्रय मनुष्योंको अन्नसे तृप्त करता है, उसको महान् पुण्यकी प्राप्ति होती है॥ ३५॥

अन्नदः प्राणदो लोके प्राणदः सर्वदो भवेत्।
तस्मादन्नं विशेषेण दातव्यं भूतिमिच्छता॥ ३६॥

अन्नं ह्यमृतमित्याहुरन्नं प्रजननं स्मृतम्।
अन्नप्रणाशे सीदन्ति शरीरे पञ्च धातवः ॥ ३७॥
(महाभारत आश्रमधिकपर्व ९२ दा०)

संसारमें अन्न देनेवाला पुरुष प्राणदाता माना जाता है और जो प्राणदाता है, वही सब कुछ देनेवाला है। अतः कल्याण चाहनेवाले पुरुषको अन्नका दान विशेषरूपसे करना चाहिये। अन्नको अमृत कहते हैं और अन्न ही प्रजाको जन्म देनेवाला माना गया है। अन्नके नाश होनेपर शरीरके पाँचों धातुओंका नाश हो जाता है॥ ३६-३७॥

अन्नमेव प्रशंसन्ति देवा ब्रह्मपुरस्सराः।
अन्नेन सदृशं दानं न भूतं न भविष्यति॥ ३८॥
(महाभारत आश्रमधिकपर्व ९२ दा०)

ब्रह्मा आदि सभी देवता अन्नकी ही प्रशंसा करते हैं अतः अन्नके समान दान न कोई हुआ है न होगा॥ ३८॥

अन्नाद् रक्तं च शुक्रं च अन्ने जीवः प्रतिष्ठितः।
इन्द्रियाणि च बुद्धिश्च पुष्णन्त्यन्नेन नित्यशः॥ ३९॥
अन्नहीनानि सीदन्ति सर्वभूतानि पाण्डव।
तेजो बलं च रूपं च सत्त्वं वीर्यं धृतिर्द्युतिः।
ज्ञानं मेधा तथाऽऽयुश्च सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम्॥ ४०॥
देवमानवतिर्यक्षु सर्वलोकेषु सर्वदा।
सर्वकालं हि सर्वेषामन्ने प्राणाः प्रतिष्ठिताः॥ ४१॥
अन्नं प्रजापते रूपमन्नं प्रजननं स्मृतम्।
सर्वभूतमयं चान्नं जीवश्चान्नमयः स्मृतः॥ ४२॥
अन्नेनाधिष्ठितः प्राणः अपानो व्यान एव च।
उदानश्च समानश्च धारयन्ति शरीरिणः॥ ४३॥
शयनोत्थानगमनग्रहणाकर्षणानि च।
सर्वसत्त्वकृतं कर्म चान्नादेव प्रवर्तते॥ ४४॥
चतुर्विधानि भूतानि जङ्गमानि स्थिराणि च।
अन्नाद् भवन्ति राजेन्द्र सृष्टिरेषा प्रजापतेः॥ ४५॥
यस्मादन्नात् प्रवर्तन्ते धर्मार्थौ काम एव च।
तस्मादन्नात् परं दानं नामुत्रेह च पाण्डव॥ ४६॥
(महाभारत आश्रमधिकपर्व ९२ दा०)

पाण्डव! अन्नसे रक्त और वीर्य उत्पन्न होता है। अन्नमें ही जीव प्रतिष्ठित है। अन्नसे ही इन्द्रियोंका और बुद्धिका सदा पोषण होता है। बिना अन्नके समस्त प्राणी दुःखित हो जाते हैं॥ ३९॥ तेज, बल, रूप, सत्त्व, वीर्य, धृति, द्युति, ज्ञान, मेधा और आयु—इन सबका आधार अन्न ही है॥ ४०॥ समस्त लोकोंमें सदा रहनेवाले देवता, मनुष्य और तिर्यक्-योनिके प्राणियोंमें सब समय सबके प्राण अन्नमें ही प्रतिष्ठित हैं॥ ४१॥ अन्न प्रजापतिका रूप है। अन्न ही उत्पत्तिका कारण है। अतः अन्न सर्वभूतमय है और समस्त जीव अन्नमय माने गये हैं॥ ४२॥ प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान—ये पाँचों प्राण अन्नके ही आधारपर रहकर देहधारियोंको धारण करते हैं॥ ४३॥ सम्पूर्ण प्राणियोंद्वारा किये जानेवाले—सोना, उठना, चलना, ग्रहण करना, खींचना आदि कर्म अन्नसे ही चलते हैं॥ ४४॥ राजेन्द्र! प्रजापतिकी इस सृष्टिमें (अण्डज, उद्भिज्ज, जरायुज आदि) चार प्रकारके जो ये स्थावर-जङ्गम प्राणी हैं, सभी अन्नसे ही उत्पन्न होते हैं॥ ४५॥ पाण्डव! धर्म, अर्थ और कामका निर्वाह अन्नसे ही होता है। अतः इस लोक और परलोकमें अन्नसे बढ़कर कोई दान नहीं है॥ ४६॥

दानेन तपसा चैव सत्येन च दमेन च।
ये धर्ममनुवर्तन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः॥ ४७॥
ये तु भोजनकाले तु निर्याताश्चातिथिप्रियाः।
द्वाररोधं न कुर्वन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः॥ ४८॥
रसानामथ बीजानामोषधीनां तथैव च।
दातारः श्रद्धयोपेतास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥ ४९॥
क्षेमाक्षेमं च मार्गेषु समानि विषमाणि च।
अर्थिनां ये च वक्ष्यन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः॥ ५०॥
मधुमांसासवेभ्यस्तु निवृत्ता व्रतिनस्तु ये।
परदारनिवृत्ता ये ते नराः स्वर्गगामिनः॥ ५१॥
पर्वद्वये चतुर्दश्यामष्टम्यां सन्ध्ययोर्द्वयोः।
आर्द्रायां जन्मनक्षत्रे विषुवे श्रवणेऽथवा।
ये ग्राम्यधर्मविरतास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥ ५२॥
वैवाहिकं तु कन्यानां दरिद्राणां च ये नराः।
कारयन्ति च कुर्वन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः॥ ५३॥
मातरं पितरं चैव शुश्रूषन्ति च ये नराः।
भ्रातृणामपि सस्नेहास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥ ५४॥
शुश्रूषयाप्युपाध्यायाच्छ्रुतमादाय पाण्डव।
ये प्रतिग्रहनिःस्नेहास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥ ५५॥
(महाभारत आश्रमधिकपर्व ९२ दा०)

जो दान, तपस्या, सत्य-भाषण और इन्द्रियसंयमके द्वारा निरन्तर धर्माचरणमें लगे रहते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं॥ ४७॥ जो भोजनकालमें घरसे बाहर निकलकर अतिथि-सेवा करते हैं, अतिथियोंसे प्रेम रखते हैं और

उनके लिये कभी अपना दरवाजा बंद नहीं करते, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं॥ ४८॥ जो श्रद्धापूर्वक रस बीज और ओषधियोंका दान करते हैं वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं॥ ४९॥ जो मार्गमें जिज्ञासा करनेवाले पथिकोंको अच्छे-बुरे, सुखदायक और दुःखदायक मार्गका ठीक-ठीक परिचय दे देते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं॥ ५०॥ जो मधु, मांस, आसव (मदिरा)-से निवृत्त होकर उत्तम व्रतका पालन करते हैं और परस्त्रीके संसर्गसे बचे रहते हैं, वे मनुष्य स्वर्गको जाते हैं॥ ५१॥ जो अमावस्या, पूर्णिमा चतुर्दशी तथा अष्टमी—इन तिथियोंमें दोनों संध्याओंके समय, आर्द्रा नक्षत्रमें, जन्म-नक्षत्रमें विषुव योगमें और श्रवण नक्षत्रमें स्त्री-समागमसे बचे रहते हैं, वे मनुष्य स्वर्गमें जाते हैं॥ ५२॥ जो दरिद्र मनुष्योंकी कन्याओंका ब्याह करा देते हैं अथवा स्वयं धनी होते हुए भी दरिद्रकी कन्यासे ब्याह करते हैं वे मनुष्य स्वर्गमें जाते हैं॥ ५३॥ जो माता-पिताकी सेवा करते हैं और भाइयोंके प्रति स्नेह रखते हैं, वे मनुष्य स्वर्गको जाते हैं॥ ५४॥ पाण्डुनन्दन! जो उपाध्यायकी सेवा करके उनसे वेद पढ़ते हैं तथा जो प्रतिग्रहमें आसक्ति नहीं रखते वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं॥ ५५॥

कृत्वोपनयनं वेदान् योऽध्यापयति नित्यशः।
सकल्पान् सरहस्यांश्च स चोपाध्याय उच्यते॥ ५६॥
उपाध्यायाद् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
पितुः शतगुणं माता गौरवेणातिरिच्यते॥ ५७॥
साङ्गांश्च वेदानध्याप्य शिक्षयित्वा व्रतानि च।
विवृणोति च मन्त्रार्थानाचार्यः सोऽभिधीयते॥ ५८॥
एतेषामपि सर्वेषां गरीयान् ज्ञानदो गुरुः।
गुरोः परतरं किञ्चिन्न भूतं न भविष्यति॥ ५९॥
निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
अध्यापयति चैवैनं स विप्रो गुरुरुच्यते॥ ६०॥
लौकिकं वैदिकं वापि तथाऽऽध्यात्मिकमेव वा।
यस्माज्ज्ञानमिदं प्राप्तं तं पूर्वमभिवादयेत्॥ ६१॥
सव्येन सव्यं संगृह्य दक्षिणेन तु दक्षिणम्।
न कुर्यादेकहस्तेन गुरोः पादाभिवादनम्॥ ६२॥
धर्मार्थौ यदि न स्यातां शुश्रूषा वापि तद्विधा।
विद्या तस्मिन् न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे॥ ६३॥
नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम्।
द्वेषं दम्भं च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यं विवर्जयेत्॥ ६४॥
(महाभारत आश्वमेधिकपर्व ९२ दा०)

जो उपनयन-संस्कार कराकर कल्प और रहस्यसहित वेदोंका नित्य अध्ययन कराता है उसे उपाध्याय कहते हैं॥ ५६॥ गौरवमें दस उपाध्यायोंसे बढ़कर एक आचार्य सौ आचार्योंसे बढ़कर पिता और सौ पिताओंसे भी बढ़कर माता है॥ ५७॥ जो षडङ्गयुक्त वेदोंको पढ़ाकर वैदिक व्रतोंकी शिक्षा देता है और मन्त्रार्थोंकी व्याख्या करता है वह आचार्य कहलाता है॥ ५८॥ किंतु जो ज्ञान देनेवाला गुरु है वह इन सबकी अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ है। गुरुसे बढ़कर न कोई हुआ न होगा॥ ५९॥ जो गर्भाधान आदि सब संस्कार विधिवत् कराता है और वेद पढ़ाता है, वह ब्राह्मण गुरु कहलाता है॥ ६०॥ जिस पुरुषसे लौकिक वैदिक तथा आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त हुआ हो उस गुरुको पहले प्रणाम करना चाहिये॥ ६१॥ अपने दाहिने हाथसे गुरुका दाहिना चरण और बायें हाथसे उनका बायाँ चरण पकड़कर प्रणाम करना चाहिये। गुरुको एक हाथसे कभी प्रणाम नहीं करना चाहिये॥ ६२॥ जिससे न धर्मका लाभ होता हो न अर्थका तथा विद्याप्राप्तिके अनुकूल जो सेवा भी नहीं करता हो उस शिष्यको विद्या नहीं पढ़ानी चाहिये ठीक उसी तरह जैसे ऊसर खेतमें उत्तम बीज नहीं बोया जाता॥ ६३॥ नास्तिकता वेदोंकी निन्दा देवताओंपर दोषारोपण द्वेष दम्भ अभिमान क्रोध तथा कठोरता—इनका परित्याग कर देना चाहिये॥ ६४॥

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते॥ ६५॥
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥ ६६॥
(मनुस्मृति २।१२०-१२१ महा० उद्योग० ३८।१ ३९।७४)

जब कोई माननीय वृद्ध पुरुष निकट आता है, उस समय नवयुवक व्यक्तिके प्राण ऊपरको उठने लगते हैं फिर जब वह वृद्धके स्वागतमें उठकर खड़ा होता है और प्रणाम करता है तब प्राणोंको पुनः वास्तविक स्थितिमें प्राप्त करता है॥ ६५॥ जो नित्य गुरुजनोंको प्रणाम करता है और वृद्ध पुरुषोंकी सेवामें लगा रहता है उसकी आयु, विद्या यश और शक्ति (बल)—ये चार बढ़ते हैं॥ ६६॥

सत्यं रूपं श्रुतं विद्या कौल्यं शीलं बलं धनम्।
शौर्यं च चित्रभाष्यं च दशमे स्वर्गयोनयः॥ ६७॥
(महाभारत उद्योग० ९०)

सत्य विनयकी मुद्रा शास्त्रज्ञान विद्या कुलीनता शील बल धन शूरता और चमत्कारपूर्ण बात कहना—

ये देस स्वर्गके हेतु हैं॥ ६७॥

अश्वत्थो ब्राह्मणा गावो मन्मयास्तारयन्ति हि।
तस्मादेतत् प्रयत्नेन त्रयं पूजय पाण्डव॥ ६८॥

(महाभारत आश्वमेधिकपर्व ९२ दा०)

पाण्डुनन्दन! मेरे स्वरूप होनेके कारण पीपल, ब्राह्मण और गौ—ये तीनों मनुष्यका उद्धार करनेवाले हैं इसलिये तुम यत्नपूर्वक इन तीनोंकी पूजा किया करो॥ ६८॥

गावः पवित्रं परमं गोषु लोकाः प्रतिष्ठिताः।
कथंचिन्नावमन्तव्या गावो लोकस्य मातरः॥ ६९॥
गवां मूत्रपुरीषाणि नोद्विजेत कदाचन।
न चासां मांसमश्नीयाद् गोषु भक्तः सदा भवेत्॥ ७०॥

(महाभारत अनुशासनपर्व १४५ दा०)

गाएँ परम पवित्र वस्तु हैं, गौओंमें सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं। अतः किसी तरह गौओंका अपमान नहीं करना चाहिये क्योंकि वे सम्पूर्ण जगत्‌की माताएँ हैं॥ ६९॥ गौओंके मल-मूत्रसे कभी उद्विग्न नहीं होना चाहिये और उनका मांस कभी नहीं खाना चाहिये। सदा गौओंका भक्त होना चाहिये॥ ७०॥

नाकीर्तयित्वा गाः सुप्यात् तासां संस्मृत्य चोत्पतेत्।
सायंप्रातर्नमस्येच्च गास्ततः पुष्टिमाप्नुयात्॥ ७१॥
गाश्च संकीर्तयेन्नित्यं नावमन्येत तास्तथा।
अनिष्टं स्वप्नमालक्ष्य गां नरः सम्प्रकीर्तयेत्॥ ७२॥

(महाभारत अनुशासनपर्व ७८। १६-१८)

गौओंका नाम-कीर्तन किये बिना न सोये। उनका स्मरण करके ही उठे और सायं-प्रातः उन्हें नमस्कार करे। इससे मनुष्यको बल एवं पुष्टि प्राप्त होती है॥ ७१॥ प्रतिदिन गौओंका नाम ले। उनका कभी अपमान न करे। यदि बुरे स्वप्न दिखायी दें तो मनुष्य गोमाताका नाम ले॥ ७२॥

गावः प्रतिष्ठा भूतानां तथा गावः परायणम्।
गावः पुण्याः पवित्राश्च गोधनं पावनं तथा॥ ७३॥

(महाभारत अनुशासनपर्व ८१। १२)

गौएँ सम्पूर्ण भूतोंकी प्रतिष्ठा हैं। गौएँ परम आश्रय हैं। गौएँ पुण्यमयी एवं पवित्र होती हैं तथा गोधन सबको पवित्र करनेवाला है॥ ७३॥

प्राप्त्या पुष्ट्या लोकसंरक्षणेन
गावस्तुल्याः सूर्यपादैः पृथिव्याम्।
शब्दश्चैकः संततिश्चोपभोगा-
स्तस्माद् गोदः सूर्य इवावभाति॥ ७४॥

(महाभारत अनुशासनपर्व ७१। ५०)

प्राप्ति, पुष्टि तथा लोकरक्षा करनेके द्वारा गाएँ इस पृथ्वीपर सूर्यकी किरणोंके समान मानी गयी हैं। एक ही 'गो' शब्द धेनु और सूर्य-किरणोंका बोधक है। गौओंसे ही संतति और उपभोग प्राप्त होते हैं अतः गोदान करनेवाला मनुष्य किरणोंका दान करनेवाले सूर्यके ही समान माना जाता है॥ ७४॥

तुल्यनामानि देयानि त्रीणि तुल्यफलानि च।
सर्वकामफलानीह गावः पृथ्वी सरस्वती॥ ७५॥
मातरः सर्वभूतानां गावः सर्वसुखप्रदाः।
वृद्धिमाकाङ्क्षता नित्यं गावः कार्याः प्रदक्षिणाः॥ ७६॥

(महाभारत अनुशासनपर्व ६९। ८-९)

गाय, भूमि और सरस्वती—ये तीनों समान नामवाली हैं, इन तीनों वस्तुओंका दान करना चाहिये। इन तीनोंके दानका फल भी समान ही है। ये तीनों वस्तुएँ मनुष्योंकी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण करनेवाली हैं॥ ७५॥ गाएँ सम्पूर्ण प्राणियोंकी माता कहलाती हैं। वे सबको सुख देनेवाली हैं। जो अपने अभ्युदयकी इच्छा रखता हो, उसे गौओंको सदा दाहिने करके चलना चाहिये॥ ७६॥

गावो मे माता वृषभः पिता मे
दिवं शर्म जगती मे प्रतिष्ठा।
प्रपद्यैवं शर्वरीमुष्य गोषु
पुनर्वाणीमुत्सृजेद् गोप्रदाने॥ ७७॥
ऊर्जस्विन्य ऊर्जमेधाश्च यज्ञे
गर्भोऽमृतस्य जगतोऽस्य प्रतिष्ठा।
क्षितेः रोहः प्रवहः शश्वदेव
प्राजापत्याः सर्वमित्यर्थवादाः॥ ७८॥

(महाभारत अनुशासनपर्व ७६। ७-१०)

'गौ मेरी माता है। वृषभ (बैल) मेरा पिता है। वे दोनों मुझे स्वर्ग तथा ऐहिक सुख प्रदान करें। गौ ही मेरा आधार है।' ऐसा कहकर गौओंकी शरण ले और उन्हींके साथ मौनधारणपूर्वक रात बिताकर सबेरे गोदानकालमें ही मौन भंग करे—बोले॥ ७७॥ गाएँ उत्साहसम्पन्न, बल और बुद्धिसे युक्त, यज्ञमें काम आनेवाले अमृतस्वरूप हविष्यकी उत्पत्तिस्थान, इस जगत्‌की प्रतिष्ठा (आश्रय), पृथ्वीपर बैलोंके द्वारा खेती उपजानेवाली, संसारके अनादि प्रवाहको प्रवृत्त करनेवाली और प्रजापतिकी पुत्री हैं। यह सब गौओंकी प्रशंसा है॥ ७८॥

यज्ञाङ्गं कथिता गावो यज्ञ एव च वासव।
एताभिश्च विना यज्ञो न वर्तेत कथंचन॥ ७९॥

धारयन्ति प्रजाश्चैव पयसा हविषा तथा।
एतासां तनयाश्चापि कृषियोगमुपासते॥ ८०॥
जनयन्ति च धान्यानि बीजानि विविधानि च।
ततो यज्ञाः प्रवर्तन्ते हव्यं कव्यं च सर्वशः॥ ८१॥
पयोदधिघृतं चैव पुण्याश्चैताः सुराधिप।
वहन्ति विविधान् भारान् क्षुत्तृष्णापरिपीडिताः॥ ८२॥

(महाभारत अनुशासनपर्व ८३। १७—२०)

इन्द्र! गौओंको यज्ञका अङ्ग और साक्षात् यज्ञरूप बतलाया गया है क्योंकि इनके दूध, दही और घीके बिना यज्ञ किसी तरह सम्पन्न नहीं हो सकता॥ ७९॥ गौएँ अपने दूध-घीसे प्रजाका भी पालन-पोषण करती हैं। इनके पुत्र (बैल) खेतीके काम आते तथा नाना प्रकारके धान्य एवं बीज उत्पन्न करते हैं उन्हींसे यज्ञ सम्पन्न होते हैं और हव्य-कव्यका भी सर्वथा निर्वाह होता है। सुरेश्वर! इन्हीं गौओंसे दूध, दही और घी प्राप्त होते हैं। ये गौएँ बड़ी पवित्र होती हैं। बैल भूख-प्याससे पीडित होकर भी नाना प्रकारके बोझ ढोते रहते हैं॥ ८०—८२॥

गावो भूतं च भव्यं च गावः पुष्टिः सनातनी।
गावो लक्ष्म्यास्तथा मूलं गोषु दत्तं न नश्यति॥ ८३॥
गा वै पश्याम्यहं नित्यं गावः पश्यन्तु मां सदा।
गावोऽस्माकं वयं तासां यतो गावस्ततो वयम्॥ ८४॥

(महाभारत अनुशासनपर्व ७८। ६, २४)

गौएँ ही भूत और भविष्य हैं। गौएँ ही सदा रहनेवाली पुष्टिका कारण तथा लक्ष्मीकी जड़ हैं। गौओंको जो कुछ दिया जाता है, उसका पुण्य कभी नष्ट नहीं होता॥ ८३॥ मैं सदा गौओंका दर्शन करूँ और गौएँ मुझपर कृपादृष्टि रखें। गौएँ हमारी हैं और हम गौओंके हैं। जहाँ गौएँ रहें, वहीं हम रहें॥ ८४॥

सवत्सां पीवरीं दत्त्वा दृतिकण्ठामलंकृताम्।
वैश्वदेवमसम्बाधं स्थानं श्रेष्ठं प्रपद्यते॥ ८५॥
दृतिकण्ठमनड्वाहं सर्वरत्नैरलंकृतम्।
दत्त्वा प्रजापतेर्लोकान् विशोकः प्रतिपद्यते॥ ८६॥

(महाभारत अनुशासनपर्व ७१। १८, २३)

जो लटकते हुए गलकम्बलसे युक्त मोटी-ताजी सवत्सा गौको अलंकृत करके ब्राह्मणको दान देता है, वह बिना किसी बाधाके विश्वेदेवोंके श्रेष्ठ लोकमें पहुँच जाता है॥ ८५॥ जो लटकते हुए गलकम्बल और ककुद (कूबड़)-वाले तथा गाड़ीका बोझ ढोनेमें समर्थ बैलको सम्पूर्ण रत्नोंसे अलंकृत करके ब्राह्मणको देता है वह शोकरहित हो प्रजापतिके लोकोंमें जाता है॥ ८६॥

अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति।
महच्चकाराकुशलं वृषं गां वाऽऽलभेत् तु यः॥ ८७॥

श्रुतिमें गौओंको अघ्न्या (अवध्य) कहा गया है फिर कौन उन्हें मारनेका विचार करेगा? जो पुरुष गौओं और बैलोंको मारता है वह महान् पाप करता है। 'अघ्न्यम्' (ऋ० १। ३७। ५)। 'नीचीनमघ्न्या दुहे' (ऋ० १०। ६०। ११) 'अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय' (ऋ० १। १६४। २७)—न मारने योग्य यह गाय हमारे महान् सौभाग्यके लिये दूध बढ़ावे' आदि श्रुतियोंने गायको 'अघ्न्या' कहा है॥ ८७॥

सर्वेषां मङ्गलं भूयात् सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥ ८८॥

(गरुडपुराण २। ३५। ५१ भविष्यपुराण ३। २। ३५। १४)

सभीका मङ्गल हो, सभी नीरोग रहें सभी भद्र दर्शन करें, किसीको दुःखभाजन न बनना पड़े॥ ८८॥

पृथ्वी सगन्धा सरसास्तथाऽऽपः
स्पर्शश्च वायुर्ज्वलनं सतेजः।
नभः सशब्दं महता सहैव
यच्छन्तु सर्वे मम सुप्रभातम्॥ ८९॥

(वामनपुराण १४। २६)

गन्धयुक्त पृथ्वी, रसयुक्त जल, स्पर्शयुक्त वायु, प्रज्वलित तेज, शब्दसहित आकाश एवं महत्तत्त्व और महत्तत्त्व—ये सभी मेरे प्रातःकालको मङ्गलमय करें॥ ८९॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः॥ ९०॥

(वाल्मीकीय रामायण पाठविधि)

समयपर वर्षा हो पृथ्वी सस्यशालिनी रहे यह देश क्षोभरहित रहे और सबके हितमें संलग्न ब्राह्मण निर्भय रहें॥ ९०॥

समुद्रमेखले देवि पर्वतस्तनमण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे॥ ९१॥

(नारदपुराण पूर्व० ३। ६६। १-२)

हे देवि! समुद्र तुम्हारी मेखला (करधनी) और पर्वत स्तनमण्डल हैं। हे विष्णुपत्नि! तुम्हें नमस्कार है मैंने जो तुम्हें चरणोंसे स्पर्श किया है, मेरे इस अपराधको क्षमा करो॥ ९१॥

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र संततिः॥ ९२॥

नीतिशास्त्र महाभारतके नीतिसारस्वरूप दो मौलिक श्लोकोकी व्याख्या

(अनन्तश्रीविभूषित ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकाशासुमेरुपीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी श्रीचिन्मयानन्द सरस्वतीजी महाराज)

नीतिशास्त्र—महाभारत धर्मशास्त्र अर्थशास्त्र कामशास्त्र और मोक्षशास्त्र होनेसे नीतिशास्त्र है। अध्यात्मविदोके मतमे 'नीयेतेऽभ्युदयनि श्रेयसावनया इति नीति ' 'जो अभ्युदय और नि श्रेयसरूप भोग और मोक्ष सुलभ कराये वह नीति है। वैशेषिक दर्शनके अनुसार फलबलकल्प्य धर्मका भी यही लक्षण है।' 'यतोऽभ्युदयनि श्रेयससिद्धि स धर्म ' 'जिससे अभ्युदय और नि श्रेयसकी सिद्धि हो वह धर्म है। भौतिकवादियोके मतमे 'नीयतेऽभ्युदयोऽनया इति नीति ' जिससे अभ्युदय सुलभ किया जा सके वह नीति है।

उक्त वैशेषिक सूत्रमे अभ्युदय नि श्रेयस और धर्म तीन पारिभाषिक शब्दोका प्रयोग हुआ है। नि श्रेयसका अर्थ स्पष्ट ही मोक्ष है। 'नि श्रेयसकरावुभौ' (गीता ५।२) आदि स्थलोमे नि श्रेयसका अर्थ मोक्ष ही ग्रहण किया गया है। इस प्रकार पुरुषार्थचतुष्टयमे धर्म और मोक्षका उल्लेख उक्त सूत्रमे सिद्ध हुआ। योगादि प्रस्थानोमे अभ्युदय और नि श्रेयसके लिये क्रमश भोग और अपवर्गका प्रयोग हुआ है। प्रसगानुसार वैशेषिक दर्शनमें अभ्युदयका अर्थ नि श्रेयसप्रद तत्त्वज्ञान है। पुरुषार्थचतुष्टयकी दृष्टिसे भोगसज्ञक अभ्युदयका तात्पर्य अर्थ और काम है।

धर्म, अर्थ काम और मोक्षके विषयमे जो कुछ महाभारतमे कहा गया है वही अन्यत्र है, जो इसमे नहीं है वह अन्यत्र भी नहीं है—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥

(महाभारत आदिपर्व ६२।५३ स्वर्गा० ५।५०)

सखा अर्जुनके लिये धर्म अर्थ काम और मोक्षरूप पुरुषार्थचतुष्टयके निर्वाहक श्रीहरिका महाभारतमे आद्यापान्त निरूपण है—

भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातन ।
स हि सत्यमृत चैव पवित्र पुण्यमेव च॥

(महाभारत आदिपर्व १।२५६)

अर्थात् इस (महाभारत) ग्रन्थके मुख्य विषय है स्वय सनातन परब्रह्मस्वरूप वासुदेव भगवान् श्रीकृष्ण। उन्हीका इसमे सकीर्तन किया गया है। वे ही सत्य, ऋत, पवित्र एव पुण्य है।

महाभारतमे नीतिको विजयका मूल माना गया है तथा विजयके मूलमे नीति और शक्तिरूप विवेक एव बलका साहचर्य सिद्ध किया गया है—

'नीतिरस्मि जिगीषताम्।' (गीता १०।३८)
यत्र योगेश्वर कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धर ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

(श्रीमद्भगवद्गीता १८।७८)

नीति और शक्ति-साहचर्य—ब्राह्मणोके पास अनुपम दृष्टि (विचारशक्ति) होती है और क्षत्रियके पास अप्रतिम बल होता है। इन दोनोके साथ रहनेपर लोकका कल्याण होता है—

ब्राह्मण्यनुपमा दृष्टि क्षात्रमप्रतिम बलम्।
तौ यदा चरत सार्ध तदा लोक प्रसीदति॥

(महाभारत वनपर्व २६।१६)

ब्राह्मणोमे नीतिरूप विवेक और क्षत्रियोमे शक्तिरूप बलके साहचर्यसे राष्ट्रके सर्वविध कल्याणको महाभारतने सुनिश्चित सिद्ध किया है। तपोबल और मन्त्रबलसे सम्पन्न विवेकी ब्राह्मण राष्ट्रको अदृष्टभयसे तथा बाहुबलसे राजा राष्ट्रको दृष्टभयसे मुक्त रखते हैं। श्रीब्रह्माजीने ब्राह्मणोको उत्पन्न कर उनमे नीतिबलका तथा क्षत्रियोको उत्पन्न कर उनमे बाहुबलका आधान किया। दोनोके साहचर्यसे राष्ट्रका उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ।

योगक्षेमो हि राष्ट्रस्य राजन्यायत्त उच्यते।
योगक्षेमो हि राज्ञो हि समायत्त पुरोहित॥
यत्रादृष्ट भय ब्रह्म प्रजाना शमयत्युत।
दृष्ट च राजा बाहुभ्या तद् राज्य सुखमेधते॥
ब्रह्मक्षत्रमिद सृष्टमेकयोनि स्वयम्भुवा।
पृथग्बलविधान तन्न लोक परिपालयत्॥
तपो मन्त्रबल नित्य ब्राह्मणेषु प्रतिष्ठितम्।
अस्त्रबाहुबल नित्य क्षत्रियेषु प्रतिष्ठितम्॥
ताभ्या सम्भूय कर्तव्य प्रजाना परिपालनम्।

(महाभारत शान्तिपर्व ७४।१-२ १३—१५)

इस प्रकार जो धर्मज्ञ राजा पहले ब्राह्मणोंका आश्रय लेकर उसकी सहायतासे राज्यकार्यमें प्रवृत्त होता है, वह बिना जीती हुई पृथ्वीको भी जीतकर महान् यशका भागी होता है—

एवं यो धर्मविद् राजा ब्रह्मपूर्वं प्रवर्तते।
जयत्यविजितामुर्वीं यशश्च महदश्नुते॥

(महाभारत शान्तिपर्व ७४। २१)

महाभारतमें पर्वोंके प्रारम्भमें नारायण और नररूपसे श्रीकृष्ण और अर्जुनकी स्तुतिका भी अन्तर्निहित भाव यही है कि नीति और शक्तिके साहचर्यमें जयघोष और जयोपलब्धि सम्भव है। नर-नारायणका यश स्फुरण सरस्वतीजीके अनुग्रहसे सम्भव है और यशोगान व्यासजीके अनुग्रहसे सम्भव है—

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥

(महाभारत आदिपर्व १। १)

धर्मराज युधिष्ठिरने श्रीकृष्णकी सुन्दर नीति और भीम तथा अर्जुनकी शक्तिसे बलोन्मत्त जरासन्ध एवं चेदिराज शिशुपालको मरवाकर राजसूय महायज्ञका सम्पादन किया—

सुनयाद् वासुदेवस्य भीमार्जुनबलेन च।
घातयित्वा जरासन्धं चैद्यं च बलगर्वितम्॥

(महाभारत आदिपर्व १। १३१)

युधिष्ठिरने श्रीकृष्णकी नीति और भीमसेनकी शक्तिका आश्रय लेकर दुर्योधनको मरवाकर सारी पृथ्वीपर विजय प्राप्त कर ली। भीमसेन भी भाग्यवश माता कुन्ती और उनके क्रोध—दोनोंके ऋणसे मुक्त हो गये—

गतो वैरस्य निधनं हतो राजा सुयोधनः।
कृष्णस्य मतमास्थाय विजितेयं वसुन्धरा॥
दिष्ट्या गतस्त्वमानृण्यं मातुः कोपस्य चोभयोः।
दिष्ट्या जयति दुर्धर्ष दिष्ट्या शत्रुर्निपातितः॥

(महाभारत शल्यपर्व ६०। ४७-४८)

नीतिशास्त्रके अनुसार जिनकी बुद्धि सोचती है, वे कभी मोहित नहीं होते—

यथा शास्त्रानुगा बुद्धिर्न ते मुह्यन्ति भारत।

(महाभारत आदिपर्व १। २४४)

जिस प्रकार वनसे व्याघ्रकी रक्षा होती है और व्याघ्रसे वनकी रक्षा होती है, उसी प्रकार नीति और बलके साहचर्यसे कुलकी रक्षा होती है। जिस प्रकार लताका शाल आदि महान् वृक्षका आश्रय मिलनेपर ही उसकी वृद्धि सम्भव है, उसी प्रकार नीतिके समाश्रयसे ही शक्ति सुरक्षित रह सकती है। नीतियुक्त बुद्धि-बलके समाश्रयसे ही बाहुबल, मन्त्रीका बल, धनबल और जनबलका अर्जन रक्षण और वर्धन सम्भव है।

नीति और शक्तिके साहचर्यको महाभारतमें 'ध्रुवा नीति' की संज्ञा दी गयी है (गीता १८। ७८)।

जीवनमें ज्ञान, धन और बलका महत्त्व अवश्य है, परंतु विद्या विवादमें विनियुक्त हो, धन मदकारक बन जाय और बल परोत्पीडनमें प्रयुक्त हो जाय तो विनाश सुनिश्चित है। दुर्जन विद्याका उपयोग विवादमें, धनका उपयोग मदमें और शक्तिका उपयोग परपीडामें करते हैं, अतः वे स्वयंके और अन्योंके विनाशक सिद्ध होते हैं। इसके विपरीत सज्जन विद्याका उपयोग तत्त्वनिर्णय और अधिकारोंके लिये दानमें, धनका उपयोग समुचित वितरण और उपभोगमें तथा शक्तिका उपयोग आत्मरक्षण और राष्ट्ररक्षणमें करते हैं। दुर्जनोंका कामरागसमन्वित बल विनाशक तथा सज्जनोंका कामरागविवर्जित बल विमोक्षक होता है।

नीतिसारस्वरूप दो मौलिक श्लोकोंकी व्याख्या

धर्मनिष्ठके प्रति वैरको ही महाभारतमें विनाशका मूल सिद्ध किया गया है। इस संदर्भमें सम्पूर्ण महाभारतमें आसुरी और दैवी सम्पत्का विभागपूर्वक वर्णन करनेके लिये जिन दो मौलिक श्लोकोंकी रचना की गयी है, वे इस प्रकार हैं—

प्रथम श्लोक—

दुर्योधनो (सुयोधनो) मन्युमयो महाद्रुमः
स्कन्धः कर्णः शकुनिस्तस्य शाखाः।
दुःशासनः पुष्पफले समृद्धे
मूलं राजा धृतराष्ट्रोऽमनीषी॥

(आदिपर्व १। ११० उद्योग० २९। ५२)

अर्थात् दुर्योधन क्रोधमय विशाल वृक्षके समान है कर्ण स्कन्ध शकुनि शाखा और दुःशासन समृद्ध पुष्प और फल है। अमनीषी (अज्ञ) राजा धृतराष्ट्र ही इसके मूल हैं।

द्वितीय श्लोक—

युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुम
स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखा ।
माद्रीसुतौ (पुत्रौ) पुष्पफले समृद्धे
मूलं कृष्णो (त्वह) ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च ॥

(आदिपर्व १।१११ उद्योगपर्व २९।५३)

अर्थात् युधिष्ठिर धर्ममय विशाल वृक्ष हैं। अर्जुन स्कन्ध, भीमसेन शाखा और माद्रीनन्दन इसके समृद्ध पुष्प-फल हैं। श्रीकृष्ण वेद और ब्राह्मण ही इस वृक्षके मूल हैं।

महाभारतमें दुर्योधनको कलिके अंशसे समुत्पन्न माना गया है—

कलेरंशस्तु संजज्ञे भुवि दुर्योधनो नृपः ।

(आदिपर्व ६७।८७)

महाभारतमें सर्वशस्त्रधारक शत्रुविनाशक कर्णको दुर्योधनका सचिव एवं सूर्यके अंशसे समुद्भूत माना गया है[1] और दुर्योधनपर सम्पूर्ण संकटका मूल भी इसी दुर्मति कर्णको बताया गया है।[2] श्रीकृष्णके सम्मुख कर्णने स्वयंको शकुनि-दुःशासन तथा दुर्योधनको निमित्तमात्र मानकर विपरीत स्वप्नादि निमित्तोंको आकलनकर भावीको ही प्रबल माना है।[3]

इसी प्रकार महाभारतमें शत्रुमानमर्दक महारथी शकुनिको द्वापरका अवतार माना गया है और क्रूरकर्मा दुःशासनादि पौलस्त्य (राक्षसों)-के अवतार माने गये हैं।[4]

अरिष्टानन्दन हंसनामक गन्धर्वपतिका महर्षि व्यासके शाप और माताके दोषसे जन्मान्ध धृतराष्ट्रके रूपमें जन्म हुआ।[5]

महाभारतमें युधिष्ठिरको धर्मराजके अंशसे, भीमको वायुके अंशसे, अर्जुनको इन्द्र और नर-ऋषिके अंशसे तथा नकुल एवं सहदेवको अश्विनीकुमारोंके अंशसे प्रादुर्भूत माना गया है।[6]

भगवान् श्रीकृष्णके शब्दोंद्वारा अर्जुनमें दिव्य गुणोंका संनिवेश इस प्रकार है—

बलं वीर्यं च तेजश्च शीघ्रता लघुहस्तता।
अविषादश्च धैर्यं च पार्थान्नान्यत्र विद्यते॥

(उद्योगपर्व ५९।२९)

अर्थात् बल पराक्रम, तेज, शीघ्रकारिता, हाथोंकी स्फूर्ति विषादहीनता तथा धैर्य—ये सद्गुण अर्जुनके अतिरिक्त किसी अन्य पुरुषमें नहीं हैं।

अर्जुनके जन्मके बाद रात्रिमें उनके सम्बन्धमें अन्तर्हित देववाणी (आकाशवाणी)-का कुन्तीने इस प्रकार निरूपण किया है—

यस्मिन् वागब्रवीद्रक्तं सूतके सव्यसाचिनं ।
पुत्रस्ते पृथिवीं जेता यशश्चास्य दिवं स्पृशत्॥
हत्वा कुरून् महाजन्ये राज्यं प्राप्य धनञ्जय ।
भ्रातृभिः सह कौन्तेयस्त्रीन् मेधानाहरिष्यति॥

(उद्योगपर्व ९०।६५-६६)

अर्थात् अर्जुनके जन्मकालमें जब मैं सूतिकागृहमें थी

---

१ कर्णं नरवरश्रेष्ठं सर्वशस्त्रभृतां वरम्।
दुर्योधनस्य सचिवं मित्रं शत्रुविनाशनम् । दिवाकरस्य तं विद्धि राजन्नंशमनुत्तमम्॥ (आदिपर्वणि ६७।१४९-१५०)

२ अनयो योऽयमागन्ता पुत्राणां ते दुरात्मनाम् । तदस्य कर्म जानीहि सूतपुत्रस्य दुर्मतेः ॥ (उद्योगपर्व ४९।३५)

३ जानन् मां किं महाबाहो सम्मोहयितुमिच्छसि । योऽयं पृथिव्याः कार्त्स्न्येन विनाशः समुपस्थितः ॥
निमित्तं तत्र शकुनिरहं दुःशासनस्तथा । दुर्योधनश्च नृपतिर्धृतराष्ट्रसुतोऽभवत्॥ (उद्योगपर्व १४३।२-३)

४ शकुनिर्नाम यस्त्वासीद् राजा लोके महारथः । द्वापरं विद्धि तं राजन् सम्भूतमरिमर्दनम्॥
शतं दुःशासनादीनां सर्वेषां क्रूरकर्मणाम् । दुर्मुखो दुःसहश्चैव ये चान्ये नानुकीर्तिताः ॥
दुर्योधनसहायास्ते पौलस्त्या भरतर्षभ । (आदिपर्व ६७।७८ ९०-९१)

५ अरिष्टायास्तु यः पुत्रो हंस इत्यभिविश्रुतः । स गन्धर्वपतिर्जज्ञे कुरुवंशविवर्धनः ॥
धृतराष्ट्र इति ख्यातः कृष्णद्वैपायनात्मजः । दीर्घबाहुर्महातेजाः प्रज्ञाचक्षुर्नराधिपः ॥
मातुर्दोषादृषेः कोपादन्ध एव व्यजायत॥ (आदिपर्व [illegible])

६ धर्मस्यांशं तु राजानं विद्धि राजन् युधिष्ठिरम् ॥
भीमसेनं तु वातस्य देवराजस्य चार्जुनम् । अश्विनोस्तु तथैवांशौ रूपेणाप्रतिमौ भुवि॥
नकुलः सहदेवश्च सर्वभूतमनोहरौ।
ऐन्द्रिर्नरस्तु भविता यस्य नारायणः सखा । सोऽर्जुनेत्यभिविख्यातः पाण्डोः पुत्रः प्रतापवान्॥ (आदिपर्व ६७।११०—११२, ११६)

उस रात्रिम आकाशवाणीने मुझस यह कहा था—'भद्रे! तरा यह पुत्र सारी पृथ्वीको जीत लेगा। इसका यश स्वर्गलोकतक फेल जायगा। यह महान् सग्रामम कौरवोका सहार करक राज्यपर अधिकार कर लेगा फिर अपन भाइयोके साथ तीन अश्वमधयज्ञोका अनुष्ठान करेगा।' 'श्रीकृष्ण और भीमसेनक सहयोगसे इन्द्रके समान पराक्रमी पार्थ (अर्जुन) विजयश्री और अनुपम यशका लाभ करेगा'—दिव्यरूपा मनोहरा आकाशवाणीन ऐसा भी कहा।[1]

महाभारतम श्रीकृष्णचन्द्रको पृथ्वीशोधनके लिये सनातनदेव नारायणका अंशावतार माना गया है—

यस्तु नारायणो नाम देवदेव सनातन।
तस्यांशो मानुषष्वासीद् वासुदेव प्रतापवान्॥
त भुव शोधनायेन्द्र उवाच पुरुषोत्तमम्।
अंशेनावतरस्वेव तथेत्याह च त हरि॥
(आदिपर्व ६७।१५१ ६४।५४)

अर्थात् देवताओंके भी देवता जो सनातन पुरुष भगवान् नारायण हैं उन्हींके अंशस्वरूप प्रतापी वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण मनुष्योंम अवतीर्ण हुए थे। उन भगवान् पुरुषोत्तमक पास जाकर इन्द्रने उनस कहा—'प्रभो। आप पृथ्वीका शोधन (भार-हरण) करनेके लिये अपने अंशसे अवतार ग्रहण करें।' तब श्रीहरिने 'तथास्तु' कहकर उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली।

महाभारतम सजयने कालचक्र, जगच्चक्र युगचक्रके नियन्ता श्रीकृष्णकी विद्यमानताको जयका मूल माना है—

यत सत्य यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जव यत।
ततो भवति गोविन्दो यत कृष्णस्ततो जय॥
कालचक्र जगच्चक्र युगचक्र च केशव।
आत्मयोगेन भगवान् परिवर्तयतेऽनिशम्॥
(उद्योगपर्व ६८।९ १२)

'जिस ओर सत्य धर्म लज्जा और सरलता है उस ओर भगवान् श्रीकृष्ण रहते हैं और जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है। ये भगवान् केशव ही अपनी योगशक्तिम निरन्तर कालचक्र संसारचक्र तथा युगचक्रको घुमाते रहते हैं।'

महाभारतम श्रीब्रह्माजीने वेदोंको अपना उत्तम नेत्र परम बल, परमाश्रय तथा सर्वोत्तम उपास्य माना है—

वेदा म परम चक्षुर्वेदा म परम बलम्।
वेदा म परम धाम वेदा म ब्रह्म चोत्तमम्॥
(शान्तिपर्व ३४७।३२)

महाभारतने सूर्य तथा अग्नितुल्य तेजस्वी ब्राह्मणोंको परब्रह्म परमात्मासे प्रथम अभिव्यक्त और सबका मूल एव धर्मकोशका रक्षक माना है।[2] भाष्यकार भगवत्पाद शङ्कराचार्य महाराजने भगवद्गीताभाष्यके प्रारम्भम लिखा है कि अधर्मसे धर्मके अभिभूत होने और अधर्मके प्रवृद्ध होनेपर जगत्‌की स्थितिके परिपालनकी इच्छाम वे आदिकर्ता नारायण नामक विष्णु अपने अंशसे भौमब्रह्म (भूदेव) ब्राह्मणोंके ब्राह्मणत्वकी रक्षाके लिये वसुदेवके अंश और देवकीके गर्भसे श्रीकृष्णरूपम समुत्पन्न हुए। ब्राह्मणोंके अधीन ही वर्णाश्रम-विभाग है।

'अधर्मेण अभिभूयमाने धर्मे प्रवर्धमाने च अधर्मे, जगत स्थितिं परिपिपालयिषु स आदिकर्ता नारायणाख्यो विष्णु भौमस्य ब्रह्मणो ब्राह्मणत्वस्य रक्षणार्थं देवक्यां वसुदेवाद् अंशेन कृष्ण किल सम्बभूव। ब्राह्मणत्वस्य हि रक्षणेन

1 अथान्तरिक्षे वागासीद् दिव्यरूपा मनोरमा। सहस्राक्षसम कुन्ति भविष्यत्येष त सुत॥
एष जेष्यति सग्रामे कुरून् सर्वान् समागतान्। भीमसेनद्वितीयश्च लोकमुद्वर्तयिष्यति॥
पुत्रस्ते पृथिवीं जेता यशश्चास्य दिव स्पृशेत्। हत्वा कुरून् सग्रामे वासुदेवसहायवान्॥
पित्र्यमंश प्रणष्ट च पुनरप्युद्धरिष्यति। भ्रातृभि सहित श्रीमांस्त्रीन् मेधानाहरिष्यति॥ (उद्योग० १३७।२—८)
[कुन्ती बोली—केशव। अर्जुनके जन्मके समय जब मैं नारियोंसे घिरी हुई आश्रमके सूतिकागारम बैठी थी उसी समय आकाशम यह दिव्यरूपा मनोरमा वाणी सुनायी दी—] कुन्ती। तेरा यह पुत्र इन्द्रके समान पराक्रमी होगा। यह भीमसेनके साथ रहकर युद्धम आये हुए समस्त कौरवोंको नष्ट कर देगा और शत्रुसमुदायको व्याकुल कर देगा। तेरा यह पुत्र भगवान् श्रीकृष्णके साथ रहकर इस भूमण्डलको जीत लेगा इसका यश स्वर्गलोकतक फैल जायगा और यह सग्रामम विपक्षी कौरवोंको मारकर अपने पैतृक राज्य-भागका पुनरुद्धार करेगा। यह शोभासम्पन्न बालक अपने भाइयोंके साथ तीन अश्वमेधयज्ञोंका अनुष्ठान करेगा।

2 असृजद् ब्राह्मणानेव पूर्वं ब्रह्मा प्रजापतीन्। आत्मतेजोऽभिनिर्वृत्तान् भास्कराग्निसमप्रभान्॥
न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्। ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्॥
ब्राह्मणा जायमाना हि पृथिव्यामनुजायते। ईश्वर सर्वभूताना धर्मकोशस्य गुप्तये॥ (शान्तिपर्व १८८।१ १० ७२।६)
[भृगुजी कहते हैं—मुने।] ब्रह्माजीने सृष्टिके प्रारम्भम अपने तेजसे सूर्य और अग्निके समान प्रकाशित होनेवाले ब्राह्मणों मरीचि आदि प्रजापतियोंको उत्पन्न किया। पहले वर्णोंम कोई अन्तर नहीं था ब्रह्माजीसे उत्पन्न होनेके कारण यह सारा जगत् ब्राह्मण ही था। पीछे विभिन्न कर्मोंके कारण उनमें वर्णभेद हो गया। ब्राह्मण जन्मकालसे ही भूतलपर धर्मकोषकी रक्षाके लिये अन्य सब वर्णोंका नियन्ता होता है।

रक्षित स्याद्वैदिको धम तदधीनत्वाद्वर्णाश्रमभेदानाम्॥'

ऊपर नीतिसारस्वरूप श्लाकद्वयम सनिहित लीलापात्रोक अशावतरणका निरूपण किया गया। अब क्रमश दुर्योधनादि लीलापात्राक गुणधर्मोका ध्यान रखते हुए उन्हीं दो श्लाकाका अर्थ पुन किया जाता है—

दुर्योधन महामन्युमय विशाल वृक्ष माना गया है। अजुनसे स्पृहायुक्त और पाण्डवाके अपमानम सलग्न अति अमर्षमय (असहनशील) कर्ण उसका स्कन्ध है। छद्मद्यूतकारी कपटी धर्महन्ता अनीतिमूल शकुनि उसकी शाखा है। कितव (धूर्त) और मन्दबुद्धि (मूर्ख) दु शासन पुष्प-फल है। अचक्षु (अन्धे) हानस कार्पण्ययुक्त (दीन) तथा दुर्योधनम आसक्तिक कारण दुर्योधनक विमाहित हानपर स्वय विमाहित होनवाले अमनीषी धृतराष्ट्र उस वृक्षक मूल हैं।

शौच धृति, स्थैय सहिष्णुता अहिसा, आर्जव, सबकापर अनुकम्पा स्थिर सौहार्द शील (उत्तम स्वभाव), वृत्त (सदाचार और सद्व्यवहार) और समाधि (मनायागपूवक दायित्व-निर्वाह)-रूप दिव्य गुणास सम्पन्न युधिष्ठिर धममय महावृक्ष हैं। धर्मावतार होनस युधिष्ठिरम धमकी प्रतिष्ठा है। विक्रम और धैर्यसम्पन्न अर्जुन धर्ममय महावृक्षके स्कन्ध हैं। धृतियुक्त पराक्रमी भीमसन शाखा हैं। श्रद्धा गुरु-शुश्रूषा, क्षमाशीलता और विनययुक्त नकुल तथा सहदेव पुष्प और फल हैं। युधिष्ठिरके पिता राजा पाण्डु धर्ममय महावृक्षक मूल नहीं मान गये हैं अपितु भगवान् श्रीकृष्ण वेद और ब्राह्मण उस धर्ममय एव वृक्षरूप युधिष्ठिरके मूल मान गय हैं।

परिणाम यह हुआ कि दुर्योधनका भीमने मार गिराया[1] और कणका अर्जुनने मारा।[2] इसी प्रकार शकुनिका सहदेवने[3] और दु शासनको भीमने मार गिराया।[4]

महाभारतयुद्धक बाद वनवासी धृतराष्ट्रका ब्राह्मणाद्वारा विसर्जित उनकी वदाग्नि (अग्निहात्रकी आग)-ने दावानलका रूप धारणकर जलाया।[5]

योगश्वर श्रीकृष्ण ओर नीतिज्ञ विदुरजीक सहयागन पाण्डवाको विजयी बनाया। राजा द्रुपद और विराटके साथ सम्बन्धन, सात अक्षौहिणी सनाके सचयन भीमसनद्वारा जरासन्धकी पराजयने युधिष्ठिरके अनुगमनन, अर्जुनपर शिव-इन्द्रादिक अनुग्रहन युधिष्ठिरपर व्यास, भीष्म द्राण, कृप शौनक लोमशादिके अनुग्रहने पाण्डवाको विजयी बनाया।

पाण्डवाकी श्रीसमृद्धिकी असहिष्णुताके कारण दुर्योधनके मनमें ईर्ष्याका उदय हुआ। ईर्ष्यास उसके हृदयम सताप और महान् मन्यु (क्राध) उत्पन्न हुआ। क्राधस स्वजनाके अपकर्षम प्रीति-प्रवृत्ति उत्पन्न हुई।

दुर्योधनके स्वभाव और उसकी दुर्नीतिका चित्रण— सञ्जयने दुर्योधनक स्वभावका चित्रण करते हुए धृतराष्ट्रसे कहा है—

तव पुत्रा दुरात्मान प्रतप्ताश्चैव मन्युना।
लुब्धा दुर्वृत्तभूयिष्ठा न ताञ्छोचितुमर्हसि॥

(महाभारत आदिपर्व १।२४३)

महाराज! आपके पुत्र दुर्योधन आदि ता दुरात्मा

---

१ सा वज्रनिष्पेषसमा प्रहिता भीमकर्मणा। ऊरू दुर्योधनस्याथ बभञ्ज प्रियदर्शनौ॥
स पपात नरव्याघ्रा वसुधामनुनादयन्। (शल्यपर्व ५८।४७-४८)

२ पार्थोऽपराह्णे शिर उच्चकर्त वैकर्तनस्याथ महेन्द्रसूनु ॥ (कर्णपर्व ९१।५१)

३ तता भूया महाराज सहदव प्रतापवान्। शकुन प्रेषयामास शरवृष्टि दुरासदम्॥
स तच्छिरा वेगवता शरण सुवर्णपुङ्खेन शिलाशितेन।
प्रावेरयत् कुपित पाण्डुपुत्रा यत्तत् कुरूणामनयस्य मूलम्॥ (शल्यपर्व २८।५८ ६३)

४ एवं क्रुद्धा भीमसेन करेण उत्पाटयामास भुज महात्मा।
दु शासन तन स वीरमध्ये जघान वज्राशनिसनिभेन॥
उत्कृत्य वक्ष पतितस्य भूमावथापिबच्छोणितमस्य कोष्णम्।
तता निपात्यास्य शिरोऽपकृत्य तेनासिना तव पुत्रस्य राजन्॥
सत्या चिकीर्षुर्मतिमान् प्रतिज्ञा भीमोऽपिबच्छाणितमस्य काष्णम्।
आस्वाद्य चास्वाद्य च वीक्षमाण क्रुद्धो हि चैन निजगाद वाक्यम्॥ (कर्णपर्व ८३।२७—२९)

५ नासौ वृथाग्निना दग्धा यथा तत्र श्रुत मया। वैचित्रवीर्यो नृपतिस्तत् ते वक्ष्यामि सुव्रत॥
स राजा जाह्नवीतीरे यथा ते कथित मया। तेनाग्निना समायुक्त स्वेनैव भरतर्षभ॥ (आश्रमवासिकपर्व ३९।१ ५)

क्रोधसे जल-भुने, लोभी एवं अत्यन्त दुराचारी थे। उनकी मृत्युपर आपको शोक नहीं करना चाहिये और न तो क्रोध ही करना चाहिये।

धर्मका प्रथम लक्षण धृति है। मन्यु (क्रोध) धृतिका अपहारक है। अतः क्रोधी व्यक्तिमें धर्मका होना असम्भव है—

मन्युस्तु हन्यात् पुरुषस्य धैर्यम्॥

(वनपर्व ३४।५)

क्रोध मनुष्यके धैर्यको नष्ट कर देता है।

दुर्योधनने युधिष्ठिरकी समृद्धि देखकर अपनी मनोदशाका वर्णन करते हुए कहा है—

सपत्नानृध्यतोऽऽत्मानं हीयमानं निशम्य च।
अदृश्यामपि कौन्तेयश्रियं पश्यन्निवोद्यताम्॥
तस्मादहं विवर्णश्च दीनश्च हरिणः कृशः।

(सभापर्व ४९। १६-१७)

अर्थात् शत्रुओंको बढ़ते और अपनेको हीनदशामें जाते देख तथा युधिष्ठिरकी उस अदृश्य लक्ष्मीपर भी प्रत्यक्षकी भाँति दृष्टिपात करके मैं चिन्तित हो उठा हूँ। यही कारण है कि मेरी कान्ति फीकी पड़ गयी है तथा मैं दीन, दुर्बल और सफेद हो गया हूँ।

महाभारतने दुर्योधनकी पराजयका कारण विदुर, भीष्म द्रोणादि हितैषियोंकी उपेक्षा एवं दुर्बुद्धियोंकी कुमन्त्रणाको ही माना है—

निरस्य विदुरं भीष्मं द्रोणं शारद्वतं कृपम्।
विग्रहे तुमुले तस्मिन् दहन् क्षत्रं परस्परम्॥
तदैवैष हतः पापो यदैव निरपत्रपः॥
लुब्धः पापसहायश्च सुहृदां शासनातिगः।

(आदिपर्व १।१४० शल्यपर्व ६१।१९-२०)

'कुरुवंशका संहार दुर्योधन, सुबलपुत्र शकुनि, कर्ण तथा दुःशासनके अपराधसे ही हुआ है।' गान्धारीका यह कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

दुर्योधनापराधेन शकुनेः सौबलस्य च।
कर्णदुःशासनाभ्यां च कृतोऽयं कुरुसंक्षयः॥

(स्त्रीपर्व १४।१६)

कर्णने दुर्योधनके सम्भावित पराजयके मुख्य हेतुओंका स्वयं ही वर्णन करते हुए भगवान् श्रीकृष्णको बताया कि 'मधुसूदन! दुर्योधन पहले ब्राह्मणोंसे द्वेष करता है फिर गुरुजनोंसे तथा अपने प्रति भक्ति रखनेवाले भृत्योंसे भी द्रोह करने लगता है, यह उसकी पराजयका ही लक्षण है—'

ब्राह्मणान् प्रथमं द्वेष्टि गुरूंश्च मधुसूदन।
भृत्यान् भक्तिमतश्चापि तत् पराभवलक्षणम्॥

(उद्योगपर्व १४३।२७)

दुर्योधनके मतमें स्वजनोंकी सम्पत्ति और समृद्धि संतप्त करनेवाली हो तो स्वजनोंको भी शत्रु समझकर उन्हें छल-बलका आलम्बन लेकर नष्ट कर देना ही उत्तम नीति है। स्वजनोंकी समृद्धिको अपनी समृद्धि मानकर संतुष्ट रहना श्रीका मूल नहीं है। जो अपनी समुन्नतिके लिये प्रयत्न करता है, उसका वह प्रयत्न ही सर्वोत्तम नय (नीति) है। जन्मसे कोई शत्रु या मित्र नहीं होता। जिनकी एकसरीखी जीवन-यापनकी विधा होती है, वही सगे-सम्बन्धी उत्कर्षको प्राप्त हो तो शत्रु समझने योग्य हैं। स्वजन कहे जानेवाले उन शत्रुओंकी लक्ष्मी जिसे अच्छी लगती है, वह हर समय नय (न्याय नीति)-को सिरपर चढ़ाये रखनेके कारण बुद्धिमान् होता हुआ भी नीतिका भार ढोनेवाला है—

असंतोषः श्रियो मूलं तस्मात् तं कामयाम्यहम्।
समुच्छ्रये यो यतते स राजन् परमो नयः॥
शत्रुश्चैव हि मित्रं च न लेख्यं न च मातृका।
यो वै संतापयति यं स शत्रुः प्रोच्यते नृप॥
नास्ति वै जातितः शत्रुः पुरुषस्य विशाम्पते।
येन साधारणी वृत्तिः स शत्रुर्नेतरो जनः॥
आजमीढ रिपोर्लक्ष्मीर्मा ते रोचिष्ट भारत।
एष भारः सत्त्ववता नयः शिरसि विष्ठितः॥

(सभापर्व ५५।११ १० १५ १८)

पाण्डवोंके स्वभावका चित्रण—युधिष्ठिरके धर्मावतार होनेसे उनमें धर्मकी प्रतिष्ठा है। धर्ममय महावृक्षके धैर्यशाली अर्जुन स्कन्ध हैं, पराक्रमी भीमसेन उसकी शाखा हैं। श्रद्धा और गुरुसेवासम्पन्न नकुल-सहदेव पुष्प-फलतुल्य हैं।

त्वयि धर्मोऽर्जुने धैर्यं भीमसेने पराक्रमः॥
श्रद्धा च गुरुशुश्रूषा यमयोः पुरुषाग्र्ययोः।

(सभापर्व ७३।१५ १६)

[धृतराष्ट्र युधिष्ठिरसे कहते हैं—] तुममें धर्म है, अर्जुनमें धैर्य है, भीमसेनमें पराक्रम है और नरश्रेष्ठ नकुल-सहदेवमें

श्रद्धा एव विशुद्ध गुरसवाका भाव हैं।

युधिष्ठिरमे कोमलता दया, धैर्य, शील, इन्द्रियसयम और मनोनिग्रहरूप छ सद्गुण सदा सनिहित रहते हैं—

आनृशस्यमनुक्रोशो धृति शील दम शम ।
पाण्डव शोभयन्त्येते षड् गुणा पुरुषोत्तमम्॥
(सभापर्व ७९ दा०)

भगवान् श्रीकृष्णके कथनानुसार युधिष्ठिरमे मान्धाताके तुल्य शत्रुजय, भगीरथके तुल्य प्रजापालन कार्तवीर्य सहस्रबाहु अर्जुनके समान धर्मरूप तपोबल भरतके तुल्य ऋद्धि (धन) और भरतके तुल्य नयबल (नीतिबल)-की प्रतिष्ठा है अतएव वे सुगमतापूर्वक सम्राट् बन सकते हैं।[1]

युधिष्ठिरमे राजोचित समस्त दिव्य गुणोंकी प्रतिष्ठा थी। महाभारतमें वैशम्पायनजी कहते हैं—

'राजन्! तदनन्तर एक वर्ष बीतनेपर धृतराष्ट्रने पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको धृति स्थिरता, सहिष्णुता दयालुता, सरलता तथा अविचल सौहार्द आदि सद्गुणोंके कारण पालन करने योग्य प्रजापर अनुग्रह करनेके लिये युवराजपदपर अभिषिक्त कर दिया। इसके बाद थोड़े ही दिनोंमें कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने अपने शील (उत्तम स्वभाव), वृत्त (सदाचार एव सद्व्यवहार) तथा समाधि (मनोयोगपूर्वक प्रजापालनकी प्रवृत्ति)-के द्वारा अपने पिता महाराज पाण्डुकी कीर्तिको भी ढक दिया।[2]

विदुरजीके शब्दोंमें युधिष्ठिरमे मृदुता दया धर्म सत्य तथा पराक्रमकी प्रतिष्ठा और गुरुजनोंमें पूज्यबुद्धिरूप दिव्य गुणोंका संनिवेश है—

आनृशस्यादनुक्रोशात् धर्मात् सत्यात् पराक्रमात्।
गुरुत्वात् त्वयि सम्प्रेक्ष्य बहून् क्लेशांस्तितिक्षत॥

अर्थात् युधिष्ठिरमे क्रूरताका अभाव दया, धर्म, सत्य तथा पराक्रम है, वे आपमे पूज्यबुद्धि रखते है। इन्हीं सद्गुणोंके कारण वे सोच-विचारकर बहुत-से क्लेश सह रहे हैं।

राष्ट्रकी सम्पूर्ण प्रजा युधिष्ठिरके शुद्धाचरण भीमसेनकी धृति, अर्जुनके विक्रम (अद्भुत बल) और नकुल-सहदेवकी गुरुशुश्रूषा, क्षमाशीलता एव विनयसे बहुत ही प्रसन्न होती थी। सब लोग पाण्डवोंके शौर्यसे सतुष्ट थे।

पाण्डवोंके पारस्परिक प्रेम और उनपर गुरुओं एव महर्षियोंकी अनुकम्पाका चित्रण स्वय दुर्योधनने धृतराष्ट्रके सम्मुख किया है। दुर्योधनने धृष्टद्युम्न पाँचों पाण्डव सात्यकि और श्रीकृष्ण—इन आठोंको सात्त्विक, पराक्रमी और एक-दूसरेका प्रिय करनेवाला माना है—

धृष्टद्युम्न पाण्डवाश्च सात्यकि केशवोऽष्टम ।
सत्त्वस्था वीर्यसम्पन्ना ह्यन्योन्यप्रियदर्शना ॥
(सभापर्व ५३।१९)

दुर्योधनने बताया है कि धौम्य और महातपस्वी व्यासजीके द्वारा प्रेरित नारद देवल, असित, परशुरामजी तथा वेदपारगत महर्षियोंने प्रीतिपूर्वक युधिष्ठिरका राज्याभिषेक किया।[3]

दुर्योधनने आर्य, सत्यप्रतिज्ञ महाव्रती, विद्वान्, वेदोक्त यज्ञोंके अन्तमें अवभृथ स्नान करनेवाले, धैर्यवान्, लज्जाशील धर्मात्मा, यशस्वी तथा मूर्धाभिषिक्त राजाओंके द्वारा भी युधिष्ठिरकी आराधना-उपासनाका वर्णन किया है।[4]

कर्णने श्रीकृष्ण और योद्धा अर्जुनके प्रभावसे राजा युधिष्ठिरका राजा होना सुनिश्चित माना है—

स एव राजा धर्मात्मा शाश्वतोऽस्तु युधिष्ठिर ।

---

१ जित्वा जय्यान् यौवनाश्वि पालनाच्च भगीरथ । कार्तवीर्यस्तपोवीर्याद् बलात् तु भरतो विभु ॥
ऋद्ध्या मरुत्तस्तान् पञ्च सम्राजस्त्वनुशुश्रुम । साम्राज्यमिच्छतस्ते तु सर्वाकार युधिष्ठिर॥
निग्राह्यलक्षण प्राप्तिर्धर्मार्थनयलक्षणै ॥ (सभापर्व १५।१५—१७)

२ तत संवत्सरस्यान्ते यौवराज्याय पार्थिव । स्थापितो धृतराष्ट्रेण पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिर ॥
धृतिस्थैर्यसहिष्णुत्वादानृशस्यात् तथार्जवात् । भृत्यानामनुकम्पार्थं तथैव स्थिरसौहृदात्॥
ततोऽदीर्घेण कालेन कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिर । पितुरन्तर्दधे कीर्ति शीलवृत्तसमाधिभि ॥ (आदिपर्व १३८।१—३)

३ अभ्यषिञ्चत् ततो धौम्यो व्यासश्च सुमहातपा । नारद च पुरस्कृत्य देवल चासित मुनिम्॥
प्रीतिमन्त उपातिष्ठन्नभिषेक महर्षय । जामदग्न्येन सहितास्तथान्ये वेदपारगा ॥ (सभापर्व ५३।१०-११)

४ आर्यास्तु ये वै राजान सत्यसन्धा महाव्रता । पर्याप्तविद्या वक्तारो वेदान्तावभृथप्लुता ॥
धृतिमन्तो ह्रीनिषेवा धर्मात्मानो यशस्विन । मूर्धाभिषिक्तास्ते चैन राजान पर्युपासते॥ (सभापर्व ५३।१-२)

नेता यस्य हृषीकेशो योद्धा यस्य धनञ्जय ॥

(उद्योगपर्व १४१। २३)

[कर्णने भगवान् श्रीकृष्णस कहा—] 'मैं यही चाहता हूँ कि जिनके नेता हृषीकेश और योद्धा अर्जुन हैं, व धर्मात्मा युधिष्ठिर ही सर्वदा राजा बने रहे।'

श्रीकृष्ण और अर्जुनके पारस्परिक प्रेमका चित्रण— स्वय दुर्योधनने श्रीकृष्ण और अर्जुनक अगाध प्रेमका चित्रण करते हुए कहा है—

आत्मा हि कृष्ण पार्थस्य कृष्णास्यात्मा धनञ्जय ॥
यद् ब्रयादर्जुन कृष्ण सर्व कुर्यादसशयम्।
कृष्णा धनञ्जयस्यार्थे स्वर्गलाकमपि त्यजेत्॥
तथैव पार्थ कृष्णार्थे प्राणानपि परित्यजत्।

(सभापर्व ५२। ३१—३३)

अर्थात् श्रीकृष्ण अर्जुनके आत्मा हैं ओर अर्जुन श्रीकृष्णके आत्मा हैं। अर्जुन श्रीकृष्णस जो कह दगे, वह सब वे नि सदह पूर्ण करगे। श्रीकृष्ण अर्जुनके लिये परमधामका भी त्याग सकते हैं, इसी प्रकार अर्जुन भी श्रीकृष्णक लिये अपन प्राणा तकका त्याग कर सकते हैं।

स्वय श्रीकृष्णने अजुनसे कहा है—

ममैव त्व तववाह ये मदीयास्तवैव ते।
यस्त्वा द्वेष्टि स मा द्वेष्टि यस्त्वामनु स मामनु॥
नरस्त्वमसि दुर्धर्ष हरिर्नारायणो ह्यहम्।
काले लोकमिम प्राप्तौ नरनारायणावपी॥
अनन्य पार्थ मत्तस्त्व त्वत्तश्चाह तथैव च।
नावयोरन्तर शक्य वेदितु भरतर्षभ॥

(वनपर्व १२। ४५—४७)

'तुम मेरे ही हा, मैं तुम्हारा ही हूँ। जो मेरे ह वे तुम्हारे ही हैं। जा तुमसे द्वेप रखता है, वह मुझसे भी द्वेप रखता है। जो तुम्हारे अनुकूल ह, वह मेरे भी अनुकूल है। दुर्धर्ष वीर! तुम नर हो और मैं श्रीहरि नारायण हूँ। इस समय हम दाना नर-नारायण ऋषि ही इस लाकम आये हैं। पार्थ! तुम मुझसे अभिन्न हा और मैं तुमस पृथक् नहीं हूँ। भरतश्रेष्ठ! हम दानोका अन्तर (भेद) जाना नहीं जा सकता।'

स्वय श्रीकृष्णने अपने सारथि दारुकस अजुनका प्रियतर बताते हुए कहा है—मुझे स्त्री, मित्र, कुटुम्बीजन, भाई-बन्धु तथा दूसरा कोई भी कुन्तीपुत्र अर्जुनसे अधिक प्रिय नहीं है। दारुक! मे अर्जुनसे रहित इस ससारको दा घडी भी नहीं देख सकता।[1]

जो अर्जुनसे द्वेप करता है, वह मुझसे द्वेप करता है और जा अजुनका अनुगामी है, वह मेरा अनुगामी है, तुम अपनी बुद्धिसे यह निश्चय कर लो कि अर्जुन मरा आधा शरीर है—

यस्त द्वेष्टि स मा द्वेष्टि यस्त चानु स मामनु॥
इति सकल्प्यता बुद्ध्या शरीरार्ध ममार्जुन।

(द्रोणपर्व ७९। ३३ ३४)

खाण्डववनदाहक समय श्रीकृष्णार्जुनक दिव्य पराक्रमस प्रमुदित दवराज इन्द्रने श्रीकृष्णसे मर्त्यलाकक लिय दुर्लभ वर माँगनको कहा तब श्रीकृष्णचन्द्रने यह वर माँगा कि अर्जुनक साथ मरा प्रम निरन्तर बढता रह।[2]

युधिष्ठिरकी सुनीतिका निरूपण—जब पाण्डव वनवासमें थे ता उस समय गन्धर्वोंने दुर्योधन आदि सभा कारवोंका युद्धमें पराजित कर दिया था। यह बात जानकर भीमसनको तो अच्छा लगा पर युधिष्ठिरने भीमसेनको समझाते हुए कहा—

परै परिभवे प्राप्ते वय पञ्चोत्तर शतम्।
परस्परविरोध तु वय पञ्च शत तु ते॥

(वनपर्व २४३ दा०)

अर्थात् भीमसन! दूसरोके द्वारा पराभव प्राप्त होनेपर उनका सामना करनेके लिये हमलोग एक सा पाँच भाई हैं। आपसम विरोध होनेपर ही हम पाँच भाई अलग ह और वे सौ भाई अलग हैं।

भवन्ति भेदा ज्ञातीना कलहाश्च वृकोदर।
प्रसक्तानि च वैराणि कुलधर्मो न नश्यति॥
यदा तु कश्चिज्ज्ञातीना बाह्य पोथयते कुलम्।
न मर्षयन्ति तत् सन्तो बाह्येनाभिप्रधर्षणम्॥

(वनपर्व २४३। २ ३)

---

१ न [illegible] दारा न मित्राणि ज्ञातयो न च बान्धवा ॥
कश्चिदन्य प्रियतर कुन्तीपुत्रान्ममार्जुनात्। अनर्जुनमिम लाक मुहूर्तमपि दारुक॥
उदीक्षितु न शक्ताऽह भविता न च तत् तथा। (द्रोणपर्व ७९। २६—२८)

२ वासुदेवोऽपि जग्राह प्रीति पार्थेन शाश्वताम्। ददौ सुरपतिश्चैव वर कृष्णाय धीमते॥ (आदिपर्व २३३। १३)

भीमसेन! भाई-बन्धुओमे मतभेद और कलह होते ही रहते हैं। कभी-कभी उनमे वैर भी बँध जाता है, इससे कुलका धर्म अर्थात् अपनापन नष्ट नहीं होता। जब कोई बाहरका मनुष्य उनके कुलपर आक्रमण करता है, तब श्रेष्ठ पुरुष उस बाहरी मनुष्यके द्वारा होनवाल अपने कुलके तिरस्कारको सहन नहीं करते।

इसी प्रकार अन्य स्थलपर युधिष्ठिरने भीमसेनसे पुन कहा—

धर्मस्य जानमानोऽह गतिमग्र्या सुदुर्विदाम्।
कथ बलात् करिष्यामि मेरोरिव विमर्दनम्॥

(वनपर्व ३६।३)

अर्थात् धर्मकी श्रेष्ठ गति अत्यन्त दुर्बोध है, उसे जानता हुआ भी मै कैसे बलपूर्वक मेरुपर्वतके समान महान् उस धर्मका मर्दन करूँगा।

भरतनन्दन भीमसेन! जो महान् पापमय कर्म केवल साहसके भरोसे आरम्भ किये जाते है, वे सभी कष्टदायक होते हैं। महाबाहो! अच्छी तरहस सलाह और विचार करके पूरा पराक्रम प्रकट करते हुए सुन्दररूपसे जो कार्य किये जाते है, वे सफल होते है और उसम दैव भी अनुकूल हो जाता है—

महापापानि कर्माणि यानि केवलसाहसात्।
आरभ्यन्ते भीमसेन व्यथन्त तानि भारत॥
सुमन्त्रिते सुविक्रान्ते सुकृते सुविचारिते।
सिध्यन्त्यर्था महाबाहो दैव चात्र प्रदक्षिणम्॥

(वनपर्व ३६।६-७)

पाण्डवोको विजय राज्य भोग, जीवन और सुख दुर्योधन एव भीष्मादि स्वजनाके लिये चाहिये, न कि अकेले अपने लिये।[१]

नीतिसावित्री—

धर्मे मतिर्भवतु व सततोत्थिताना
स ह्येक एव परलोकगतस्य बन्धु ।
अर्था स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना
नैवाप्तभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम्॥

(आदिपर्व २।३९१)

आप लोग सदा सासारिक आसक्तियोसे ऊँचे उठे और आपका मन सदा धर्ममे लगा रहे, क्याकि परलोकम गये हुए जीवका बन्धु या सहायक एकमात्र धर्म ही है। चतुर मनुष्य भी धन और स्त्रियाका सेवन तो करते हैं, किंतु वे उनकी श्रेष्ठतापर विश्वास नहीं करते और न उन्हे स्थिर ही मानते हैं।

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतो ।
नित्यो धर्म सुखदु खे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्य ॥

(स्वर्गारोहणपर्व ५।६३)

कामनासे, भयसे, लोभसे अथवा प्राण बचानेके लिये भी धर्मका त्याग न करे। धर्म नित्य है और सुख-दु ख अनित्य, इसी प्रकार जीवात्मा नित्य है आर उसके बन्धनका हेतु अनित्य है।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षित ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो वधीत्॥

(मनुस्मृति ८।१५)

'अतिक्रमण (उल्लघन) किया हुआ धर्म ही व्यक्तिको नष्ट कर देता है और धर्मपालनसे रक्षित धर्म ही व्यक्तिका सुरक्षित रखता है। अत 'नष्ट किया हुआ धर्म हमे नष्ट नहीं करे'—इस भावनासे धर्मका हनन (त्याग) न करे।'

सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्ग च साधुषु।
दया मैत्रीं प्रश्रय च भूतेष्वद्धा यथाचितम्॥

(श्रीमद्भा० ११।३।२३)

मनकी अनासक्ति सबसे पहले शरीर तथा सतान आदिमें सीखे। फिर भगवान्के भक्तासे प्रेम कैसे करना चाहिये—यह सीखे। इसके पश्चात् प्राणियोंके प्रति यथायोग्य दया मैत्री और विनयकी निष्कपट-भावसे शिक्षा ग्रहण करे।

१ न काङ्क्षे विजय कृष्ण न च राज्य सुखानि च। किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा॥
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्य भोगा सुखानि च। त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणास्त्यक्त्वा धनानि च॥ (भीष्मपर्व २५।३२-३३)

धर्म और नीति

(स्वामी श्रीविज्ञानानन्दजी सरस्वती)

आज देखनम आ रहा है कि मानव-समाजकी दशा उत्तरोत्तर विकृत होती जा रही है। मानव अनेक प्रकारक दु खा, क्लशो, प्राकृतिक आपदाओं तथा विघ्नाका शिकार बनता जा रहा है। सर्वत्र हिंसा तथा उच्छृखलताआका बोलबाला है। शोषण, उत्पीडन, आतकवाद, लूटपाट तथा भ्रष्टाचार आदिसे मानव-समाज आज क्षत-विक्षत हो रहा है। इस जर्जरित मानव-समाजक लिये धर्म और नीतिका पालन ही समुचित औषध है। धर्मके बिना मानव उच्छृखलताकी चरम सीमापर पहुँचकर ध्वंसोन्मुख हो सकता है और ईश्वरीय सत्ताके अवलम्बनक बिना तत्क्षण ही इसका अस्तित्व मिट सकता है। अत इसे धर्म-कर्मोंसे रहित नहीं होना चाहिये, अपितु परम धार्मिक और परम नीतिमान् बननेका प्रयत्न करना चाहिये। इस सदर्भम यहाँ धर्म और नीतिके विषयमे ही किंचित् चर्चा की जा रही है—

धर्म

'धर्म' शब्द 'धृञ् धारणे' धातुमे 'मन्' प्रत्यय लगानेपर निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है धारण, पोषण और रक्षण करना आदि इसलिये जो धारण किया जाता है वह धर्म है 'धारणाद् धर्म '। वैशेषिक दर्शनकार कणाद मुनिने भी धर्मका लक्षण बतलाते हुए लिखा है— 'यतोऽभ्युदयनि श्रेयससिद्धि स धर्म ॥' (सूत्र० १।१।२) अर्थात् जिन कर्मोंका अनुष्ठान करनसे मनुष्य-जीवनका अभ्युदय हो और अन्तम नि श्रेयसकी प्राप्ति हो वह धर्म है। यहाँ अभ्युदयका तात्पर्य ह जीवनम सर्वाङ्गीण विकास अर्थात् उत्थान या उन्नति। इसमे लौकिक तथा आध्यात्मिक दोनो आ जाते है। इससे भिन्न नि श्रेयसका अभिप्राय है कैवल्य—मोक्षकी प्राप्ति।

जिसे धारण किया जाय वह धर्म है। प्रजाजन धर्मका धारण करते हैं, धर्मका आचरण एव पालन करते हैं, इसलिये वह धर्म है और धर्म भी प्रजाका धारण करता है अर्थात् उन्नति या उत्थानके मार्गपर ले जाता है इसलिये इसका नाम धर्म है। अत जो व्यक्तिका समाजको तथा राष्ट्रको धारण करता है, उसका रक्षण करता है तथा कल्याण करता है, वह निश्चय धर्म ही है। वेदने कहा है—

'त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्य । अतो धर्माणि धारयन्'॥ (ऋक्० १।२२।१८)

परमेश्वरने व्योम-मण्डलके बीच त्रिपद-परिमित स्थानमें त्रिलोक (पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्युलोक)-का निर्माण करके उनके भीतर धर्मों (—जगत्-निर्वाहक कर्मों)-को स्थापित किया अर्थात् व्यवस्थित किया है। इसलिये शास्त्रोंमें कहा गया है— 'धर्मं चर'। मानवको चाहिये कि वह धर्म-कर्मोंका आचरण करे, धर्मके मार्गपर चले, क्योंकि 'धर्मेण सुखमाप्नोति' धर्मसे ही परम सुख तथा शान्ति सनिहित है, इसलिये मनुष्य धर्मके मार्गपर चलकर ही सुख, शान्ति सद्दर्शन तथा मोक्षरूप परमपदको प्राप्त कर सकता है। अत 'धर्मान्न प्रमदितव्यम्'— धर्म-कर्मोंके आचरणमें कदापि प्रमाद नहीं करना चाहिये। हमारे प्राचीन कालके भारतीय ऋषि महर्षिगण इसी धर्मके बलपर ही महान् बने थे और धर्मके बलपर ही उन्होंने इस देशको 'स्वर्गादपि गरीयसी' बना दिया था। मनुने कहा है—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षित ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो वधीत्॥
(८।१५)

जो मनुष्य धर्मका अतिक्रमण—उल्लघन करता है अर्थात् धर्मका परित्याग कर देता है, तो धर्म भी उसे क्षमा नहीं करता, उसका समूल नाश कर डालता है। परतु जो धर्मकी रक्षा करता है, सच्चे हृदयसे धर्मका अनुष्ठान करता है, धर्म भी उसकी रक्षा करता है। नष्ट हुआ धर्म कहीं हमें नष्ट न कर दे, इसलिये धर्मका नाश अर्थात् परित्याग कदापि नहीं करना चाहिये। कारण यह है कि इसी सत्य-धर्मके आचरणसे कितने ही राजपद तथा मोक्षपदको प्राप्त हो गये हैं और धर्मका परित्याग करके अधर्माचरणसे कितने ही राजा-महाराजा राजपद तथा स्वर्गके इन्द्र-पदको प्राप्त करके भी कोप तथा वाहनासहित नष्ट-भ्रष्ट हो गये हैं, इनकी भी कोई गणना नहीं है। इसलिये शास्त्रमें स्पष्ट कहा गया है—

वेनो विनष्टोऽविनयान्नहुषश्चैव पार्थिव ।
सुदा पैजवनश्चैव सुमुखो निमिरेव च॥

पृथुस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान् मनुरेव च।
कुबेरश्च धनैश्वर्यं ब्राह्मण्यं चैव गाधिजः॥

(मनु० ७।४१-४२)

प्राचीन कालके राजा वेन, स्वर्गके इन्द्र-पदको प्राप्त करनेवाला नहुष, पिजवनके पुत्र सुदास, सुदासके पुत्र सुमुख और निमि आदि बड़े-बड़े राजा-महाराजा धर्मनीतिके मार्गसे भ्रष्ट होकर अधार्मिक बन जानेके कारण ही पतित हो गये अर्थात् सर्वनाशको प्राप्त हो गये, परंतु राजा पृथु, महाराज मनु तथा कुबेर आदिने सत्यधर्मका अनुष्ठान करनेवाले होनेके कारण अनेक दास-दासियासहित अतुल वित्त-वैभवके साथ सर्वालङ्कारसे विभूषित राजसिंहासन प्राप्त किया। कुबेर धनके स्वामी बने। अतः मनुष्यको धर्मका परित्याग कदापि नहीं करना चाहिये। मनुस्मृतिमें धर्मके दस लक्षण बतलाये गये हैं। यथा—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(६।९२)

धृति (धैर्य) क्षमा (क्षमाभाव) दम (मन-बुद्धि आदि अन्तःकरणका निग्रह करना), अस्तेय (चोरी न करना), शौच (बाह्याभ्यन्तरकी शुद्धि), इन्द्रियोंका निग्रह करना, धी (आस्तिक्य-बुद्धि) विद्या—'सा विद्या या विमुक्तये'—विद्या वही है जो मुक्ति प्रदान करे, सत्य (यथार्थ कथनको सत्य कहते हैं) अक्रोध (क्रोधका सर्वथा अभाव)—ये धर्मके दस लक्षण कहे गये हैं।

धर्म मानवताका मेरुदण्ड है। अतः धर्म मानवताको तोड़ता नहीं जोड़ता है। विघटन नहीं करता प्रत्युत सामञ्जस्य स्थापित करता है। संकटमें नहीं डालता किंतु संकटसे उबारता है। शत्रुता नहीं करता बल्कि प्रेम प्रीति तथा मित्रताकी भावनाको उजागर करता है। युद्ध नहीं करता वरन् शान्तिका साम्राज्य स्थापित करता है। केवल इतना ही नहीं—'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावनाको जाग्रत् करके विश्वबन्धुत्व स्थापित करता है।

धर्म-नीतिकी रक्षाके लिये ही राजा हरिश्चन्द्रने अपनी पत्नी और पुत्रको बेच दिया था। केवल यही नहीं, अन्तमें अपनेको भी एक चाण्डालके हाथों बेच डाला था—कितने बड़े आश्चर्यकी बात है। धर्मराज युधिष्ठिरने भी जुएमें सब कुछ हारकर बारह वर्षोंतक वनवासका जीवन व्यतीत किया और एक वर्ष अज्ञातवास भी किया। फिर भी धर्मका परित्याग नहीं किया। धर्ममें ऐसी शक्ति होती है, जिसके बलपर राजा हरिश्चन्द्रने अपनी पत्नी पुत्र तथा अयोध्याका राजसिंहासन पुनः प्राप्त किया। इधर महाभारत-युद्धमें भी पाण्डवोंकी ही विजय हुई और उन्हें सब कुछ धर्मके बलपर ही प्राप्त हुआ। इसलिये कहा गया है—'एष धर्मः सनातनः' इसीका नाम सनातन धर्म है। सनातन शब्दका अर्थ है—'सनातनस्य धर्मः इति सनातनधर्मः।' सनातनकालिक धर्म होनेसे इसे सनातन धर्म कहते हैं। अतः इस धर्मका परित्याग कदापि नहीं करना चाहिये।

नीति

नीतिका तात्पर्य है—'नीयन्ते उन्नीयन्ते अर्था अनया'। णीञ्=नी+क्तिन् अर्थात् जिसके द्वारा जाना जाय अर्थ समझा जाय वह नीति है। 'शुक्रनीति' ग्रन्थमें नीतिकी परिभाषा करते हुए लिखा है—

सर्वोपजीवकं लोकस्थितिकृन्नीतिशास्त्रकम्।
धर्मार्थकाममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः॥

(१।५)

नीतिशास्त्र सभीकी जीविकाका साधन है तथा वह लोककी स्थिति सुरक्षित करनेवाला और धर्म अर्थ तथा कामका मूल एवं मोक्ष प्रदान करनेवाला है।

यहाँ नीतिका शाब्दिक अर्थ है—१-सदाचार २-आचार-पद्धति ३-व्यवहारकी रीति, ४-राजा और प्रजाकी रक्षाके लिये निर्धारित व्यवस्था, ५-लोक या समाजके कल्याणके लिये उचित ठहराया हुआ आचार और ६-राज्यकी रक्षाके लिये काममें लायी जानेवाली युक्तियाँ आदि। ये सब नीति शब्दके अर्थ हैं।

नीतिशास्त्र

नीति यद्यपि धर्मके अन्तर्गत है फिर भी नीति-बोधक स्वतन्त्र नीतिशास्त्र भी विद्यमान है। जैसे कहा है—'नीतिबोधकं शास्त्रम्' अर्थात् नीति सिखानेवाला शास्त्र भी है। उदाहरणार्थ बृहस्पतिजीका 'बार्हस्पत्यनीतिशास्त्र' प्रसिद्ध है जो राजनीतिका ग्रन्थ माना जाता है। शुक्राचार्यकी 'शुक्रनीति' प्रसिद्ध है। इसमें राजनीति धर्मनीति तथा लोकाचारनीति आदिका पूर्ण वर्णन प्रस्तुत किया गया है। चाणक्यका 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' अति प्रसिद्ध है। आज भी इसकी प्रसिद्धि है। इसके अतिरिक्त

चाणक्यके द्वारा रचित 'चाणक्यनीति' नामक लघुकलेवर-युक्त एक अन्य नीति-ग्रन्थ भी प्रचलित है। कामन्दकका 'कामन्दकीय नीतिसार' नामक अन्य ग्रन्थ भी है, जिसमे राजनीतिपर अधिक बल दिया है। विदुरजीकी 'विदुरनीति' प्रसिद्ध है जिसमें धर्माधर्म न्याय-अन्यायका निर्णय न कर पानेवाले अपने बड़े भाई धृतराष्ट्रको दिये गये उपदेश हैं। भर्तृहरिका 'नीतिशतक' ग्रन्थ समाजमे अतिप्रसिद्ध है और विष्णुशर्मा आदिके द्वारा रचित 'पञ्चतन्त्र' तथा 'हितोपदेश' आदि नीतिपरक ग्रन्थ भी प्रसिद्ध ही हैं।

परतु इन नीतिपरक ग्रन्थोके अतिरिक्त हमारे सम्पूर्ण आर्षवाङ्मयमे ही नीति-वाक्योकी भरमार है अर्थात् वेद, उपनिषद्, स्मृति तथा समस्त पुराण नीतिपरक वाक्योसे भरे पड़े हैं। यदि उन सबका एकत्र कर लिया जाय तो एक विशाल ग्रन्थ बन सकता है। कारण यह है कि नीतिशास्त्र धर्मशास्त्रका ही एक अङ्गविशेष है। धर्मसे पृथक् नहीं, क्योकि नीतिके बिना धर्म भी एक आडम्बरमात्र ही बन कर रह जाता है और धर्मके बिना अधर्ममे नीतिवाक्योकी क्या आवश्यकता या उपयोगिता हो सकती है अर्थात् कुछ नहीं। अत नीतिवाक्योकी सार्थकता धर्ममे ही हो सकती है अधर्ममे नहीं। इसलिये धर्मसे नीतिको पृथक् नहीं किया जा सकता। धर्म और नीति एक ही सिक्केके दो पहलू हैं। अत धर्म और नीति एक ही है दो नहीं।

आगे मानव-समाजके उत्थानहेतु कतिपय शास्त्रोके नीतिपरक वाक्योका उद्धरण दिया जा रहा है, जो समाजके लिये अनुकरणीय होगा।

सगठनसे उन्नति

स गच्छध्व स वदध्व स वो मनासि जानताम्।
देवा भाग यथा पूर्वे सजानाना उपासते॥
समानो मन्त्र समिति समानी समान मन सह चित्तमेषाम्।
समान मन्त्रमभि मन्त्रये व समानेन वो हविषा जुहोमि॥
समानी व आकूति समाना हृदयानि व।
समानमस्तु वो मनो यथा व सुसहासति॥
(ऋक्० १०।१९१।२—४)

हे श्रेष्ठ वीर मनुष्यो! तुम सब सगठित होकर एक साथ मिलकर प्रगति करो उन्नतिकी ओर बढो। राग-द्वेष तथा वैर-भाव आदिसे रहित होकर प्रेमपूर्वक परस्पर सवाद करो। तुम सबके मन पवित्र एव उत्तम सस्कारोसे युक्त हो और पूर्वकालके बड़े-बड़े ज्ञानीलोग अपने-अपने कर्तव्य (ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र)-का विभाग करते आये हैं ठीक उसी प्रकार तुमलोग भी अपने-अपने कर्तव्योका विभाग उत्तम रीतिसे करो। इस प्रकार व्यवहार करनेसे तुम्हे अपेक्षित उन्नति अवश्य प्राप्त हो जायगी। तुम सभाका उद्देश्य, विचार, चिन्तन और भावना एक हो। तुम्हारी आयोजित सभा एक-जैसी हो और सभामे जानेका सबको एक समान अधिकार हो। तुम सबका मन एक ही विचारसे युक्त हो अर्थात् एक विचारवाला हो। सबका चित्त एक-जैसा हो, एक-समान हो, तुम एक सगठित बने रहनेवाले हो। अत तुम सब एक विचारवाले हो और उपभोगहेतु अन्नादि प्राप्तिका भी समान अधिकार प्राप्त करनेवाले हो। तुम सबका ध्येय—लक्ष्य एक-समान हो। तुम सबके विचार हृदयकी धड़कनकी तरह एक-समान हो। तुम सबका मन एक-समान मनन-चिन्तन करनेवाला हो, जिससे तुम सभीका बल पराक्रम तथा सामर्थ्य प्रबल हो जाय दुर्निवार बन जाय।

उक्त मन्त्रोमे सभी मनुष्योको एक—सगठित होकर मिलकर रहनेके लिये कहा गया है, क्योकि एकतामे ही बल होता है। जिस राष्ट्रमे एकताका बल होगा वही राष्ट्र उन्नतिके मार्गपर अग्रसर हो सकता है यह निश्चित बात है। नारदपुराणमे भी कितना सुन्दर कहा गया है—

गुरोरवज्ञा साधूना निन्दा भेद हरे हरौ।
वेदनिन्दा हरेर्नामबलात् पापसमीहनम्॥
अर्थवाद हरेर्नाम्नि पाखण्ड नामसग्रहे।
अलसे नास्तिके चैव हरिनामोपदेशनम्॥
नामविस्मरण चापि नाम्न्यनादरमेव च।
सत्यजेद् दूरतो वत्स दोषानेतान् सुदारुणान्॥

हे वत्स! गुरुका अपमान करना साधु-महात्माओकी निन्दा करना, भगवान् विष्णु और भगवान् शिवजीमे भेदबुद्धि करना वेदकी निन्दा करना भगवान्के नामके बलपर पाप करना, भगवान्के नामकी महिमाको केवल अर्थवाद समझना नाम लेनेमे पाखण्ड फैलाना धर्म-कर्मोंमे आलस्य यानी प्रमाद करना नास्तिकको भगवन्नामका उपदेश करना भगवन्नामको ही भूल जाना और नाममे अनादरबुद्धि कर लेना—मनुष्योके लिये ये दस भयकर दोष माने गये हैं। इनके रहते जीवनमे कल्याण नहीं हो सकता। अत दूरसे ही इनका त्याग कर देना चाहिये।

नीति एव नैतिक जीवनका वैशिष्ट्य

(महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीबजरगबलीजी ब्रह्मचारी)

मानवको पूर्ण मानव बनानेवाली रीति (विद्या)-को नीति-निर्धारणका आश्रयण माना जाता है और उसीके परिपालनसे व्यष्टि-समष्टि सबकी सर्वतामुखी ऐहिक गति, प्रगति, उन्नति और अन्तम आमुष्मिक श्रेयकी प्राप्ति भी होती है।

यही कारण है कि नीति और नैतिक जीवनकी स्थापनाके लिये औरोकी कौन कहे, वह जगन्नियन्ता जगदाधार, सर्वाधिष्ठान सर्वशक्तिमान्, स्वयप्रकाशमान प्रभु परमात्मा स्वय मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामरूप धारणकर नैतिक जीवनका और लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्णरूप धारणकर ध्रुवा नीतिका उच्च-उदात्त, अनुकरणीय-अनुसरणीय आदर्श प्रस्तुत करता है।

ज्ञानके मुख्यतया चार स्रोत हैं—आन्वीक्षिकी त्रयी, वार्ता और दण्डनीति। इन्हीं चारोके सम्यक् विवेचन, विश्लेषण गवेषण और व्यवहृत आचरणके कारण हमारा भारत देश जगद्गुरुके सर्वश्रेष्ठ पदपर प्रतिष्ठित रहा है।

नीति शब्दकी व्युत्पत्ति है—'नयति इति नीति' अथवा 'नीयते पुरुषार्थफलाय सर्वं जगत् यया सा नीति' अर्थात् जो विद्या अपनी युक्तियोके द्वारा सारे जगत्को तथा प्रत्येक मानवको उसके प्रधान उद्देश्योकी ओर अर्थात् धर्म, अर्थ काम और मोक्षके सम्पादनमे उचित मार्गसे ले चले, उसीका नाम नीति है।

देवगुरु आचार्य बृहस्पतिने अपने अर्थशास्त्रमे त्रिवर्ग अर्थात् धर्म अर्थ और कामकी प्राप्तिको ही नीतिका फल बतलाया है। यथा—'नीते फल धर्मार्थकामावाप्ति' (बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र २ अ० ४३)। इनके मतानुसार त्रिवर्गके सिद्ध हो जानेपर चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्ष तो फिर स्वत ही सिद्ध हो जाता है।

वेदोसे लेकर अर्वाचीन काव्यग्रन्थोतकमे नीतिविषयक बहुमुखी वर्णन निर्दिष्ट है। नीतिका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। प्राय आचार-विचार, रहन-सहन सयम-साधना, भाषा-भाव सभ्यता-सस्कृति—इन सभीका समावेश नीतिके अन्तर्गत आ जाता है।

'छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम्'-की रीतिके अनुसार नीतिशास्त्रकी उपेक्षा करके, नीति-नियमोका उल्लघन करके न तो समाजमे समरसता उत्पन्न हो सकती है और न भक्ति, मुक्ति तथा शान्तिके क्षेत्रमे शक्ति एव सामर्थ्य ही प्राप्त की जा सकती है।

चाहे लौकिक बात हो या पारलौकिक, प्रवृत्तिमार्ग हो अथवा निवृत्तिमार्ग, प्रत्येक प्रकारकी साधना, आराधना और उपासनाकी सफलतामे, श्रवण, मनन और निदिध्यासनमे तीव्रता लानेके लिये नीति-नियमोके पालन और नैतिक जीवन-यापनपर अत्यधिक बल दिया जाता है।

जैसे घटाकाशका जीवन महाकाश है और तरङ्गका समुद्र, जैसे कटक मुकुट और कुण्डलका जीवनाधार स्वर्ण है और वस्त्रका जीवनाधार है सूत्र, ठीक उसी प्रकार कर्म, उपासना और ज्ञानपथपर चलनेवालोके लिये भी शिक्षाएँ, दीक्षाएँ, आदेश, उपदेश, निर्देश और सदेश नीति-नियमोके दृढतापूर्वक परिपालनपर ही आधारित माने गये हैं।

सदाचार, सद्विचार समता और मानवतामूलक नीतिसारसूत्रोके पालन, पोषण एव क्रियान्वयनसे ही लघु साधन भी महान् कल्याणकारी हो जाता है।

चाहे कोई आस्तिक हो अथवा नास्तिक ईश्वरवादी, हो या अनीश्वरवादी विद्वान् हो अथवा अल्पज्ञ महान् वैभव-विभवका अधिपति हो या परम अकिचन—दीन हीन साधनहीन, किसी भी मत पथ, धर्म सम्प्रदायका अनुयायी हो—प्राय सभीको अपने लक्ष्यतक पहुँचनेके लिये, कार्यमे सफलता अर्जित करनेके लिये—नैतिकताके मार्गसे ही होकर जाना पडता है।

जैसे खटाईसे खटास, मिठाईसे मिठास और दूधसे घी निकल जानेपर इनमे नि सारता और तेजोहीनता आ जाती है, उसी प्रकार नीतिरहित जीवनमे ओज-तेज और गतिशीलता समाप्त हो जाती है।

जैसे भगवान्से भिन्न जो कुछ भी प्रतीत होता है व्यावहारिक सत्यताके होते हुए भी पारमार्थिक दृष्टिसे वह मिथ्या है, प्रपञ्च है, आभासमात्र है वैसे ही नीतिरहित सभी प्रकारके चिन्तन, मनन और ध्यान अधे तथा पगुकी भाँति गति प्रगति एव सच्ची उन्नतिकी ओर अग्रसर करनेमे

असमर्थ रहते हैं। इसके अनेकों उद्धरण और प्रमाण विद्यमान हैं।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥
(मनु० ६।९२)

—ये दसविध धर्म-लक्षण नीतिधर्मके लिये अति महत्त्वपूर्ण हैं। इनका पालन देवकोटिकी ओर ले जाता है और त्याग ही राक्षस बना देता है। यथा—

नीतिविरुद्ध जीवन-यापन करनेके कारण महान् पण्डित होते हुए भी रावण राक्षस कहा गया और प्रजापति बन करके भी दक्ष दम्भी हो गये। अनीतिके अपनानेसे ही कंस आततायी बन गया और धृतराष्ट्रपुत्र सुयोधनसे दुर्योधन हो गया।

ठीक इसके विपरीत धर्मके नीतिपथपर चलनेसे, नीति-नियमोंके परिपालनसे दासीपुत्र होकर भी नारद देवर्षि बन गये और एक सामान्य व्याध भी महर्षि वाल्मीकि बन गये। विभीषण राक्षससे रामदास कहे गये और शबरी नीति-रीतिके पालनसे भीलनीसे भामिनी बन गयी और उसने भगवत्प्रेमको प्राप्त कर लिया।

धर्म और नीतिका ज्ञान प्रायः सभीके लिये आवश्यक माना जाता है। इसलिये पुरातन योगारूढ ऋषि-महर्षियोंने अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञाद्वारा नीति-अनीति धर्म-अधर्म सत्-असत् और न्याय-अन्यायके सूक्ष्म परिणामोंका अवलोकन कर जीवोंके उद्धारार्थ अपने-अपने ग्रन्थोंमें इन नीति-नियमोंका कहीं संक्षिप्त और कहीं विस्तृत निरूपण किया है।

मुक्तपुरुष और भक्तपुरुष सच्चे नीतिनिपुण माने जाते हैं इसी कारण उनकी व्याकुलता दुःखित पीडित, प्रताडित, अज्ञानान्धकारमें भटकते प्राणियोंके उद्धारमें क्रियाशील देखी जाती है। नैतिक पुरुष दीन-दुखियोंके दुःखको दूर करनेके नीतिपरक सच्चे उपाय जानते हैं। इसलिये वे अपने नीति-वचनोंद्वारा आत्मविश्वास उत्पन्न करके उन पीडितोंको निर्भीक बनाकर अत्याचारसे जूझनेका उनमें साहस और संकल्प जाग्रत् कर देते हैं। परमात्माके दीनवत्सल और असुरनिकन्दन स्वरूपका स्मरण कराकर वे दुर्बलोंकी हताशा और निराशाको सदाके लिये दूर भगा देते हैं।

धर्मका मर्म और नीतिका सारसर्वस्व यही है कि नीतिमान् पुरुषोंको सम्पत्तिका प्रलोभन लक्ष्यच्युत नहीं कर पाता, विपत्ति उनकी मुखमुद्राको म्लान नहीं कर पाती। उच्च आदर्शोंकी रक्षा ही उनके जीवनका व्रत बन जाता है।

धन्य है वह देश, प्रदेश, धरती और धन्य है वह संस्कृति—जहाँके आप्तकाम, पूर्णकाम परमनिष्काम अमलात्मा शुद्धात्मा महर्षियों और राजर्षियोंने अपनी-अपनी नीति और नैतिकताके अनेकों प्रकाश-स्तम्भ स्थापित कर रखे हैं, जिनके प्रकाशमें आज भी हम मानव-जीवनके सही-सच्चे लक्ष्य, इष्ट-अभीष्ट और प्रेयके साथ श्रेयकी भी प्राप्ति सरलता और सुगमतासे कर सकते हैं।

वेदोंकी ऋचाएँ, पुराणोंकी गाथाएँ, उपनिषदोंके मन्त्र सूत्रग्रन्थोंका सार, भाष्यकारोंका विस्तार सत्-साहित्यकी पुकार काव्यकारोंकी ललकार रामायणकी प्रीति और भगवद्गीताकी ध्रुवा नीति—ये सभी एकमत होकर नीति और नैतिकताको जानने-मानने और अपनानेका बार-बार आवाहन करते हैं एवं इस बातके लिये हम सबको सद्भावनापूर्वक निमन्त्रण देते हैं। अस्तु, इस आमन्त्रणको स्वीकारकर हम अपने जीवनको सफल बना लें ऐसी सतत चेष्टा करनी चाहिये।

~~~~~

तन्नामरूपचरितादिसुकीर्तनानुस्मृत्योः क्रमेण रसनामनसी नियोज्य।
तिष्ठन् व्रजे तदनुरागिजनानुगामी कालं नयेदखिलमित्युपदेशसारम्॥
(उपदेशामृत ८)

श्रीकृष्णके नाम, रूप, चरितादिकोंके कीर्तन और स्मरणमें क्रमसे रसना और मनको लगा दे—जिह्वासे श्रीकृष्ण-नाम रटता रहे और मनसे उनकी रूप-लीलाओंका स्मरण करता रहे तथा श्रीकृष्णके अनन्य भक्तोंका दास होकर व्रजमें निवास करते हुए अपने जीवनके सम्पूर्ण कालको व्यतीत करे। यही सारे उपदेशोंका सार है।

~~~~~

राजनीति और धर्म

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

सामाजिक व्यवस्थापर समाजका अधिकार है, राजा (शासक या सरकार)-का अधिकार नहीं। अत समाजके नियम बनाना राजाका कर्तव्य नहीं है। विवाह, व्यापार, जीविका, संतानोत्पत्ति, वर्णाश्रमधर्मका पालन आदि प्रजाके धर्म हैं। प्रजाके धर्मोंमें हस्तक्षेप करना राजाका कर्तव्य नहीं है। अगर राजा उनमें हस्तक्षेप करता है तो यह अन्याय है। राजाका मुख्य कर्तव्य है—प्रजाकी रक्षा करना और उससे बलपूर्वक धर्मका पालन करवाना।

कोई धर्मका उल्लंघन न करे, इसलिये धर्मका पालन करवाना राजाका अधिकार है। परंतु धर्मशास्त्रके विरुद्ध कानून बनाना राजाका घोर अन्याय है। हिन्दू एकसे अधिक विवाह न करे, अमुक उम्रमें विवाह करे, दोसे अधिक संतान पैदा न करे आदि कानून बनाना राजाका अधिकार नहीं है। राजाका कर्तव्य अपने राज्यमें जन्म लेनेवाले प्रत्येक व्यक्तिके जीवन-निर्वाहकी व्यवस्था करना है, न कि उसके जन्मपर ही रोक लगा देना। अपने धर्म, वर्ण, आश्रम जाति आदिके अनुसार आचरण करना प्रजाका अधिकार है। अगर प्रजा धर्म, वर्णाश्रम आदिकी मर्यादाके विरुद्ध चले तो उसको शासनके द्वारा मर्यादामें लगाना राजाका कर्तव्य है।

एष राज्ञां परो धर्मो ह्यार्तानामार्तिनिग्रह ।

(श्रीमद्भा० १। १७। ११)

'राजाओंका परम धर्म यही है कि वे दु खियोंका दु ख दूर करें।'

राज्ञो हि परमो धर्म स्वधर्मस्थानुपालनम्।
शासतोऽन्यान् यथाशास्त्रमनापद्युत्पथानिह॥

(श्रीमद्भा० १। १७। १६)

'बिना आपत्तिकालके मर्यादाका उल्लंघन करनेवालोंको शास्त्रानुसार दण्ड देते हुए अपने धर्ममें स्थित लोगोंका पालन करना राजाओंका परम धर्म है।'

य उद्धरेत्करं राजा प्रजा धर्मेष्वशिक्षयन्।
प्रजानां शमलं भुङ्क्ते भगं च स्वं जहाति स ॥

(श्रीमद्भा० ४। २१। २४)

'जो राजा प्रजाको धर्ममार्गकी शिक्षा न देकर केवल उससे कर वसूल करनेमें लगा रहता है वह केवल प्रजाके पापका ही भागी होता है और अपने ऐश्वर्यसे हाथ धो बैठता है।'

श्रेय प्रजापालनमेव राज्ञो
यत्साम्पराये सुकृतात् षष्ठमंशम्।
हर्तान्यथा हृतपुण्य प्रजाना-
मरक्षिता करहारोऽघमत्ति॥

(श्रीमद्भा० ४। २०। १४)

'राजाका कल्याण प्रजापालनमें ही है। इससे उसे परलोकमें प्रजाके पुण्यका छठा भाग मिलता है। इसके विपरीत जो राजा प्रजाकी रक्षा तो नहीं करता पर उससे कर वसूल करता जाता है, उसका सारा पुण्य प्रजा छीन लेती है और बदलेमें उसे प्रजाके पापका भागी होना पड़ता है।'

यस्य राष्ट्रे प्रजा सर्वास्त्रस्यन्ते साध्व्यसाधुभि ।
तस्य मत्तस्य नश्यन्ति कीर्तिरायुर्भगो गति ॥

(श्रीमद्भा० १। १७। १०)

'जिस राजाके राज्यमें दुष्टोंके उपद्रवसे सारी प्रजा त्रस्त रहती है, उस मतवाले राजाकी कीर्ति, आयु, ऐश्वर्य और परलोक नष्ट हो जाते हैं।'

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृपु अवसि नरक अधिकारी॥

(मानस अयोध्या० ७१। ३)

प्रजाका शासक राजा होता है और राजाके शासक वीतराग संत-महात्मा होते हैं। धर्म और धर्माचार्यपर राजाका शासन नहीं चलता। उनपर शासन करना राजाका घोर अन्याय है। धर्म और धर्माचार्यका राजापर शासन होता है। यदि उनका राजापर शासन न हो तो राजा उच्छृंखल हो जाय। निर्बुद्धि राजा ही धर्म और धर्माचार्यपर शासन करता है उनपर अपनी आज्ञा चलाता है क्योंकि वह समझता है कि बुद्धि मेरेमें ही है। दूसरा भी कोई बुद्धिमान् है—यह बात उसको जँचती ही नहीं।

पहले हमारे देशमें राजालोग राज्य तो करते थे पर

सलाह ऋषि-मुनियोंसे लिया करते थे। कारण कि अच्छी सलाह वीतराग पुरुषोंसे ही मिल सकती है, भोगी पुरुषोंसे नहीं। इसलिये कानून बनानेका अधिकार वीतराग पुरुषोंको ही है। महाराज दशरथ और भगवान् राम भी प्रत्येक कार्यमें वसिष्ठजीसे सम्मति लेते थे और उनकी आज्ञासे सब काम करते थे। परंतु आजकलके शासक संतोंसे सम्मति लेना तो दूर रहा, उलटे उनका तिरस्कार, अपमान करते हैं। जो शासक खुद वोटोंके लोभमें, स्वार्थमें लिप्त हैं, उसके बनाये हुए कानून कैसे ठीक होंगे? धर्मके बिना नीति विधवा है और नीतिके बिना धर्म विधुर है। अतः धर्म और राजनीति—दोनों साथ-साथ होने चाहिये, तभी शासन बढ़िया होता है। बढ़िया शासनका नमूना महाराज अश्वपतिके इन वचनोंसे मिलता है—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥
(छान्दोग्य० ५। ११। ५)

'मेरे राज्यमें न तो कोई चोर है, न कोई कृपण है, न कोई मदिरा पीनेवाला है, न कोई अनाहिताग्नि (अग्निहोत्र न करनेवाला) है, न कोई अविद्वान् है और न कोई परस्त्रीगामी ही है, फिर कुलटा स्त्री (वेश्या) तो होगी ही कैसे?'

जो वोटोंके लिये आपसमें लड़ते हैं, कपट करते हैं, हिंसा करते हैं, लोगोंको रुपये दे-देकर फुसला-फुसलाकर वोट लेते हैं, उनसे क्या आशा रखी जाय कि वे न्याययुक्त राज्य करेंगे? नेतालोग वोट लेने तो आ जाते हैं, पर वोट मिलनेके बाद सोचते ही नहीं कि लोगोंकी क्या दशा हो रही है? वोट लेनेके लिये तो खूब मोटर दौड़ायेंगे, तेल फूँकेंगे, लाखों-करोड़ों रुपये खर्च करेंगे, अपना और लोगोंका समय बरबाद करेंगे, पर वोट मिलनेके बाद आकर पूछेंगे ही नहीं कि भाई, तुमलोगोंकी सहायतासे हमें वोट मिले हैं, तुम्हारे घरमें कोई तकलीफ तो नहीं है? तुम्हारा जीवन-निर्वाह कैसा हो रहा है? पहले राजालोग शासन करते थे तो वे राज्यकी सम्पत्तिको अपनी न मानकर प्रजाकी ही मानते थे और उसको प्रजाके ही हितमें खर्च करते थे। प्रजाके हितके लिये ही वे प्रजासे कर लेते थे। सूर्यवंशी राजाओंके विषयमें महाकवि कालिदास लिखते हैं—

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥
(रघुवंश १। १८)

'वे राजालोग अपनी प्रजाके हितके लिये प्रजासे उसी प्रकार कर लिया करते थे, जिस प्रकार सहस्रगुना करके बरसानेके लिये ही सूर्य पृथ्वीसे जल लिया करता है।'

जब राजाओंमें स्वार्थभाव आ गया और वे प्रजाकी सम्पत्तिका खुद उपभोग करने लगे, तब उनका परम्परासे अरबों वर्षोंसे चला आया राज्य भी नहीं रहा। आज झूठ-कपट आदिके बलपर जीतकर आये हुए नेतालोग सोचते हैं कि हमें तो पाँच वर्षोंतक कुर्सीपर रहना है, आगेका कोई भरोसा नहीं, अतः जितना संग्रह करके लाभ उठा सकें उतना उठा लें, देश चाहे दरिद्र हो जाय। वे यह सोचकर नीति-निर्धारण करते हैं कि धनियोंका धन कैसे नष्ट हो? यह नहीं सोचते कि सब-के-सब धनी कैसे हो जायँ? महाभारतमें आया है—

यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः।
तद्वदर्थान् मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया॥
(उद्योगपर्व ३४। १७)

'जैसे भौंरा फूलोंकी रक्षा करता हुआ ही उनके मधुको ग्रहण करता है, उसी प्रकार राजा भी प्रजाको कष्ट दिये बिना ही उनसे धन (कर) ग्रहण करे।' परंतु आज सरकार धनियोंका धन छीननेके लिये उनके घरों और दूकानोंमें छापा मारती है, जो कि डाका डालना ही है और धनीलोग टैक्ससे बचनेके लिये तरह-तरहकी बेईमानी सीखते हैं। दोनों ही देशका हित नहीं सोचते कि इस नीतिसे भविष्यमें देशकी क्या दशा होगी? सरकार धनियोंसे जबर्दस्ती धन लेनेकी चेष्टा करेगी तो धनियोंके भीतर भी जबर्दस्ती धन छिपानेका भाव पैदा होगा। इसलिये सरकारको चाहिये कि वह धनियोंका धन न छीनकर उनके भीतर उदारताका, परोपकारका भाव जाग्रत् करे। यह भाव वीतराग पुरुषोंके द्वारा ही जाग्रत् किया जा सकता है।

वर्तमान राजनीति संघर्ष पैदा करनेवाली है। हमें वोट दो, दूसरी पार्टीको वोट मत दो, यह ठीक नहीं है—इससे संघर्ष पैदा होता है। वोट-प्रणालीमें मूर्खताकी प्रधानता है। जिस समाजमें मूर्खोंकी प्रधानता होती है, वहीं वोट-प्रणाली लागू की जाती है। महात्मा गाँधीको भी एक वोट और भेड़

चरानेवालेका भी एक वोट। सज्जन पुरुषका भी एक वोट और दुष्ट पुरुषका भी एक वाट। यह समानता मूर्खोंम ही होती है। 'अँधेर नगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा।' वोट-प्रणालीमे भी वइमानी हाती है। जिनक हाथम सत्ता होती है, वे वाट-प्रणालीका खूब दुरुपयोग करते हैं। वोट प्राप्त करनेके लिय विधर्मियाका पक्ष लते हैं, समाजकण्टकाका पक्ष लेत हैं, अपराधियाका सहारा लेते हैं। ये बात किसीस छिपी नहीं हैं।

वास्तवम वाट देनका सरकार चुननका अधिकार कवल उन्हीं पुरुषाको है, जा मच्चे समाजसवक, त्यागी, धमात्मा, सदाचारी, परोपकारी हैं। उनमे भी विशेष अधिकार जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ महापुरुषाका है। माँ कोई कार्य करती है तो बालककी सलाह नहीं लेती, क्योकि बालक मूर्ख (वसमझ) होता है। परतु वोट दनकी वर्तमान प्रणालीके अनुसार यदि बुद्धिमानाकी सख्या निन्यानवे है और मूर्खोकी सख्या सो है तो एक वोट अधिक हानेस मूर्ख जीत जायँग बुद्धिमान् हार जायँग जब कि वास्तवमे सो मूर्ख मिलकर भी एक बुद्धिमान्की बराबरी नहीं कर सकते*। वर्तमान वाट-प्रणालीके अनुसार जिसकी सख्या अधिक हाती ह, वह जीत जाता है और राज्य करता है तथा जिसकी सख्या कम होती है, वह हार जाता है। विचार कर, समाजम विद्वानाकी सख्या अधिक हाती है या मूर्खोकी? सज्जनाकी सख्या अधिक होती हे या दुष्टाकी? ईमानदाराकी सख्या अधिक हाती ह या बेईमानोकी? अध्यापकोकी सख्या अधिक होती है या विद्यार्थियाकी? जिनकी सख्या अधिक हागी, वे ही वाटासे जीतेगे और देशपर शासन करग, फिर दशकी क्या दशा होगी— विचार कर।

कुछ व्यावहारिक सच्चाइयाँ

(श्रीमनोजकुमारजी मिश्र)

को लाभा गुणिसगम किमसुख प्राज्ञेतरै सगति का हानि समयच्युतिर्निपुणता का धर्मतत्त्वे रति ।
क शूरो विजितन्द्रिय प्रियतमा कानुव्रता कि धन विद्या कि सुखमप्रवासगमन राज्य किमाज्ञाफलम्॥

(नीतिशतक १०४)

'गुणी व्यक्तियाकी सगतिसे वढकर काई लाभ नहीं आर मूर्खोके ससर्गसे अधिक कोई दु ख नहीं है। समयकी हानि सबसे बडी हानि हैं। धमानुकूल आचरणमे अनुराग ही निपुणता ह। शूर वही है जा जितेन्द्रिय है। पत्नी वह अच्छी है जो पतिक अनुकूल आचरण करे। विद्यासे बडा कोई धन नहीं है। अपने घरमे रहनसे अधिक कोइ सुख नहीं है। राज्य वही हे जहाँ राजाका अनुशासन सफल है।' तात्पर्य यह कि साधुस्वभाववाल, गुणी व्यक्तियाके सगम रहनेसे अधिक लाभप्रद और काई बात नहीं। व्यक्ति प्राय अपनी परिस्थितियास ही प्रभावित होकर नहीं रहना चाहता है। सामाजिक प्राणी हानेके कारण मनुष्य कभी अकेला नहीं रहना चाहता और साथीकी तलाश उसके जीवनके प्रारम्भम ही शुरू हो जाती है। यदि साथी अच्छे मिल जायें तो वह भी अच्छे मार्गपर चल पडता है। मनुष्यका कोशल इसम नहीं ह कि वह अपनी कुटिल चालोसे दूसराका ठगकर आगे बढ। वरन् कौशल तो यह है कि वह सदाचारकी मान्यताआ और महापुरुषाद्वारा सम्मत विश्वासोका सम्मान करते हुए अपनेमे सद्गुणाकी प्रतिष्ठा करता जाय। धर्मानुकूल चलनम कुछ कठिनाइयाँ अवश्य आती हे किंतु कठिनाइयाको पार करनेकी शक्ति भी उसीसे मिलती है। धर्म मनुष्यका सयमकी शिक्षा देता है सच्चा सयमी ही शूर-वार होता है। ससारपर वही विजय पाता है जा सयमसे अपनेपर ही विजय पाय।

* चन्दनका चुटका भला गाडी भला न काठ। बुद्धिवान एकहि भलौ मूरख भलौ न साठ॥

धर्म-नीतिका तत्त्व-रहस्य—अनन्य शरणागति

(महामहिम आचार्य श्रीविष्णुकान्तजी शास्त्री राज्यपाल-उत्तरप्रदेश)

आस्तिक जनो—धर्मनीतिज्ञोका प्रभुमे प्रयोजन दो प्रकारका होता है—पहला यह कि प्रभुसे हमे कुछ मिले और दूसरा यह कि स्वय प्रभु हमे मिल। साधारण तौरपर जीव (प्राणी) विषयासक्त रहते हैं। विषयोके प्रति महत्त्व-बुद्धि होनेके कारण वे उन्हे प्राप्त करना चाहते है। आस्तिक होनेपर भी अधिकाश लोग विषय-सुखकी लालसासे ग्रस्त रहते हैं। ऐसे व्यक्ति भगवान्‌से प्रार्थना करत हैं—'प्रभो! हम अमुक वस्तु प्राप्त हो जाय, अमुक नौकरी मिल जाय, हम रोगमुक्त हो, परीक्षामे उत्तीर्ण हो आदि-आदि।' निश्चय ही अन्यसे याचना करनेकी तुलनामें प्रभुसे माँगना लाखगुना बेहतर है। फिर भी विचारशील व्यक्तियोका यह चुभन होती ही रहती है कि अनजानमे सही, ये लोग कितना बडा अनर्थ कर रहे ह। ये लोग भौतिक वस्तु, पद, प्रतिष्ठा आदिको साध्य मानकर उन्हें प्राप्त करनेके साधनके रूपमें प्रभुका उपयोग कर रह हैं। यह बात सोचनेपर जितनी भी कडवी लगे परतु सचाई यही है कि प्रभुसे अधिकाश लोगोंका सरोकार ऐसा ही है।

आस्तिकामे भी बहुत थोडे लोग ऐसे हैं जो प्रभुको पाना चाहते हैं। किंतु जिन लोगोका साध्य है प्रभुको पाना वे भी साधनके सम्बन्धमें एक-मत नहीं है। प्रभुको पानेके लिये कर्म योग, ज्ञान, भक्ति आदि अनेकानेक साधन बताये गये है। अपने स्वभाव, सस्कार आदिके अनुसार किसी एक साधनका अवलम्बन कर अपने साध्य-स्वरूप प्रभुको पाया जा सकता है, यह विश्वास साधकामे सामान्य-रूपसे सुलभ है। इसी विश्वासके कारण विभिन्न साधना-मार्गोंपर चलनेवाला साधक इसी जन्मम और यदि इस जन्मम सम्भव न हो तो अगले किसी जन्मम सही अपने लक्ष्य—प्रभु-प्राप्तितक पहुँचनेका दावा करत हैं। ये साधक निश्चय ही वन्दनीय है, पूजनीय हैं। शास्त्र इसके साक्ष्य हैं कि इनमे बहुतेरे अपने लक्ष्यतक पहुँचनेमे सफल हुए हैं।

किंतु इसी वर्गमे आनेवाले अर्थात् प्रभु-प्राप्तिको ही अपने जीवनका लक्ष्य माननेवाले कुछ लोग ऐसे भी हैं जो साधनाके प्रति पूज्य-भाव रखकर भी प्रभु-प्राप्तिकी दृष्टिसे इन्हे अपने लिये पर्याप्त नहीं मानते। उनकी विचारधारा कुछ इस प्रकारकी चलती है—प्रभु तो हैं असीम और हम हैं काम क्रोध लोभ आदिसे ग्रस्त साधारण जीव। प्रत्यक्षत हमारी शक्ति सीमित है। हम सीमित शक्तिवाले लोग जो भी साधन करगे वे सीमित ही होग। सीमित साधनोका फल भी सीमित ही होगा, फिर उनसे असीम प्रभुकी प्राप्ति कैसे सम्भव हो सकती है? फिर एक बात और भी है कि इन सीमित साधनोकी साधना भी क्या हम निर्विघ्न-रूपसे कर पाते हैं? हमारी दुर्बलताओका लाभ उठाकर काम क्रोध लोभ—हमारे आन्तरिक रिपु और आकर्षणोसे भरा बाहरी विश्व क्या हम पद-पदपर प्रवञ्चित नहीं करत? जब अपने बलबूतेपर हम सामान्य लौकिक कार्य ही प्राय सम्पन्न नहीं कर पाते तो फिर भगवत्प्राप्ति-जैसा महत्तम लक्ष्य हम अपने बलबूतेपर कैसे पूर्ण कर सकते हैं? हमारा यह कहना भी नहीं है कि कर्म योग, ज्ञान, भक्ति आदि साधनोमे कोई कमी है। हम मान लेते हैं कि ये कर्म, योग आदि साधन समर्थ हैं पर हम अपनी असमर्थताको क्या करें कि हम इन साधनोका निर्वाह ही नहीं कर पाते। मायाके कठोर बन्धनसे हम बँधे हुए हैं। जो लोग योग और ज्ञानका साधन स्वीकार करते हैं, वे वस्तुत मायाके बन्धनसे बडे बनकर उसे उसी प्रकार तोड देना चाहते हैं, जिस प्रकार शक्तिशाली लोग दुर्बल बन्धनोको झटककर तोड डालते है। पर हम तो मायासे बडे बननेमे नितान्त असमर्थ हैं। दूसरा तरीका बन्धनसे छोटा बनकर बन्धनसे मुक्त होनेका है। हनुमान्‌जीने लकादहनसे पहले अत्यन्त लघु रूप धारण करके ही अपनेको बन्धनमुक्त किया था। इसे हम भक्तिकी पद्धति कह सकते हैं, जिसमे साधक अपनेको तिनकेसे भी तुच्छ और प्रभुके दासानुदासका भी दासानुदास मानता है। हमारा दुर्भाग्य यह है कि इसमे भी हमारा अभिमान आडे आता है जिससे हममे भक्तिका आविर्भाव ही नहीं हो पाता। अत ये सब साधन सम्मान्य होकर भी हमारे लिये अनुपयुक्त हैं। जब हम मायाके बन्धनसे मुक्त ही नहीं हो सकते तो हम प्रभुको कैसे पा सकते हैं?

फिर उपाय क्या है? इन लोगोका कहना है कि उपाय

एक ही है कि प्रभु स्वय हम बन्धन-मुक्त करके अपनी गोदमे ले ल। जिसने वाँधा ह वह चाह ता अनायास खाल सकता है। अपनी लीलाके व्याजस सर्वत्र हाकर भी जो सबसे अलग है, उसके लिय क्या कठिन है किसीको अपना बना लना, अपना बनाकर सुधार लेना। अत इन लागाका आग्रह है कि प्रभु ही हमारे साध्य हैं और प्रभु हा हमारे साधन हैं। प्रभु हमार साधन हैं, इसका अर्थ ही है कि हम सर्वथा नि साधन हैं। प्रभु हमारे साध्य हैं, इसका मतलब ही है कि हम प्रभुके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिये। सर्वथा नि साधन हाकर—अकिचन होकर, सब सहाराका त्याग करके प्रभुके लिय प्रभुका चाहना, उनसे और कुछ न माँगना इनकी टक है। इस टककी विलक्षणता यह है कि अपनी नि साधनताम खरे उतरनेपर अर्थात् सचमुच सम्पूण साधनोका त्याग कर देनपर य पराक्षार्थीस परीक्षक बन जाते हैं। जिसे किसी साधनका भरोसा ह, प्रभु जरूर जाँच करगे कि उसका साधन पक्का हे या नही, किंतु प्रभुक अतिरिक्त जिसका काई आर साधन ही नहीं है, उसकी जाँच प्रभु करना भी चाह तो किस बातकी जाँच वे करेगे? सच कहा जाय तो वह नि साधन ही प्रभुकी कृपाकी जाँच करेगा कि वह सचमुच अहेतुक है कि नहीं। कृपापरवश होकर ही प्रभु उस अपना लगे। नि साधनताके इसी अनूठे मार्गका नाम है—प्रपत्ति-मार्ग या शरणागति और धर्मनीतिका भी तत्त्व-रहस्य यही अनन्य शरणागति ह। जा सचमुच इसपर चल सका वह अनायास ही तर गया।

'वचने का दरिद्रता'

[वाक्सयम —वचोगुप्ति]

(स्वामी श्रीआकारानन्दजी महाराज आदिबदरी)

जिस सविता देवन इस मानव-शरीरका निर्माण किया उसने इस सामपात्रम अपन सभी सर्वोत्तम पदार्थ भरनम तनिक भी कृपणता नहीं की। 'श्रेष्ठ सर्व मविता साविषन्नो ऽभीद्धो धर्मस्तदु पु प्र वोचम्' (ऋक्० १।१६४।२६) ऊष्मा आर प्रकाशके बिना जीवन असम्भव है। विधाताने अग्निका निर्माण करके इस आवश्यकताकी पूर्ति की और उसे वाणीम स्थान दिया—'अग्निर्वाग्भूत्वा मुख प्राविशद्वायु प्राणो भूत्वा नासिके' (ऐतरेयोपनिषद् १।२।४)।

भक्षण किये हुए तजका जो सूक्ष्माश होता हे वह एकत्र होकर ऊपर आ जाता है और वाणीरूप हो जाता है। इसलिये मन अन्नमय है और वाणी तेजामयी है—

'तेजस सोम्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्व समुदीपति सा वाग्भवति॥' 'अन्नमय*हि साम्य मन आपोमय प्राणस्तेजोमयी वागिति भूय०' (छान्दोग्योपनिषद् ६।६।४ ६।५।४)। इस आधारपर उपनिषद् वाणीको ब्रह्म समझकर उसकी उपासनाका निर्देश करता ह—'वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्वेति'।

देव मानव या दानव सभी तनुधारियाका प्राणशक्ति सीमित है, असीम नहीं। ठीक उसी प्रकार जैस दीपकम तेल। जैसे-जैसे दीपकम तल कम होता जाता हे, प्रकाश भी उसी अनुपातमे कम होत हुए तेलकी समाप्तिके साथ मिट जाता है। ठीक उसी प्रकार प्राणशक्तिका पूर्ण लाभ वही पा सकता हे, जो सयमसे उसका उपयाग करता ह। सयम ही समस्त सिद्धियाका आधार ह और सयमका प्रथम सोपान है—'वचोगुप्ति' अर्थात् वाक्सयम।

सयमविहीन जिह्वा अनावश्यक शब्दाका प्रयाग करनकी अभ्यस्त हो जाती है और इस प्रकारक निरर्थक शब्द विग्रह आर वैमनस्य पैदा करते हैं, जो प्राणशक्तिक शोषक हैं। समस्त अनर्थ-परम्पराको दग्ध-बीज करने-हतु हमार शास्त्राम मौनको व्रतकी सज्ञा दी गयी ह—'एव प्राप्नोति पुण्यन मौनेनाज्ञा महामुने' (वाराहपुराण २०७।३८) अर्थात् मानव्रतका पालन करनेस अव्याहत आज्ञाशक्ति प्राप्त हाता है।

आपके दा माठ बोल यदि किसीके जीवनम वसन्तका-सा वातावरण बना द ता समझ लीजिय आपका हदय पूजाके धूप-दानकी तरह स्नेह और परदु ख-

कातरताका मारभ उगल रहा ह। अथर्ववेदमे कहा गया है—'सम्यञ्च सव्रता भूत्वा वाच वदत भद्रया'॥ (३।३०।३)

समान गति, कर्म, ज्ञान और समान नियमवाले बनकर परस्पर कल्याणमयी वाणीसे बोलो।

सत्यसे पवित्र वचन बोले और पवित्र मनसे सब कार्य करे। दूसरेका कटु वचन सह ले, परंतु किसीका अपमान न करे और इस क्षणभङ्गुर देहका आश्रय लेकर किसीके साथ वैर न करे—

सत्यपूता वदेद्वाच मन पूत समाचरेत्॥
अतिवादास्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन।
न चेम देहमाश्रित्य वैर कुर्वीत केनचित्॥
(मनुस्मृति ६। ४६-४७)

मनु महाराजने बहुत विचारके बाद 'नित्य वृद्धोपसेविन ' का निर्देश दिया है। वर्तमानमें दिग्भ्रान्त पीढी भले ही वृद्धोंको पाश्चात्त्य जगत्की वैचारिक तुलापर तौलनेको आतुर दीख पड़े परंतु आँवलेके स्वादकी भाँति वृद्ध-वचनोंकी उपादेयता उनके लिये अत्यन्त हितकर है। महर्षि वेदव्यासजी इस सम्बन्धमें नीतिका उपदेश देते हुए कहते है—

ये वृद्धवाक्यानि समाचरन्ति
श्रुत्वा दुरुक्त्यान्यपि पूर्वतस्तु।
स्निग्धानि पश्चान्नवनीतशुद्धा
मोदन्ति ते नात्र विचारमस्ति॥
आपद्भुजगदष्टस्य मन्त्रहीनस्य सर्वदा।
वृद्धवाक्यौषधा नून कुर्वन्ति किल निर्विषम्॥
वृद्धवाक्यामृत पीत्वा तदुक्तमनुमान्य च।
या तृप्तिर्जायते पुसा सोमपाने कुतस्तथा॥
(वामनपुराण ९४। ६५—६७)

अर्थात् पूर्वमें कठोरतापूर्वक कहे गये और बादमें नवनीतके समान स्निग्ध एव शुद्ध वृद्ध-वाक्योंका श्रवण करके तदनुसार आचरण करनेवाले नि सदेह आनन्द प्राप्त करते हैं। वृद्ध-वाक्यरूप ओषधि आपत्तिरूपी सर्पसे दंशित मन्त्रहीन पुरुषोंको विषविहीन बना देती है। वृद्धवचनरूपी अमृतको पीने एव उनके कथनानुसार आचरण करनेसे मनुष्यको जो तृप्ति होती है वैसी तृप्ति सोमपानमें कहाँ है।

वाणीका सयम हमारे जीवनका समन्वय-सेतु बनकर ऐसा प्रभावोत्पादक समाधान प्रस्तुत करनेकी क्षमता रखता है जहाँ सभी विरोध और विग्रह विगलित हो जाते हैं। भले ही हम भौतिक शरीरको क्षणभङ्गुर कहे, परंतु अपने अस्थायित्वमें भी 'जिह्वा' देहकी दिव्य दैवीय अभिव्यक्ति है। कहा भी गया है—

न तथा शीतलसलिल न चन्दनरसा न शीतला छाया।
प्रह्लादयति च पुरुष यथा मधुरभाषिणी वाणी॥
(भविष्यपुराण ब्राह्मपर्व ७३। ४८)

अर्थात् शीतल जल, चन्दनका रस अथवा ठंडी छाया भी मनुष्यके लिये उतनी आह्लादजनक नहीं होती जितनी मीठी वाणी।

रावणद्वारा तिरस्कृत किये जानेपर विभीषण नीतियुक्त वचन कहकर समझाते हैं—

सुलभा पुरुषा राजन् सतत प्रियवादिन ।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभ ॥
(वा०रा० युद्ध० १६।२१)

राजन्! सदा प्रिय लगनेवाली मीठी-मीठी बात कहनेवाले लोग तो सुगमतासे मिल सकते हैं परंतु जो सुननेमें अप्रिय किंतु परिणाममें हितकर हो, ऐसी बात कहने और सुननेवाले दुर्लभ होते हैं।

दयापूरित वाणी सभ्य पुरुषकी पहचान है। व्यक्तिका प्रत्येक कठोर वचन प्रतिध्वनित होकर स्वयके लिये ही जीवन-मार्गका कटक सिद्ध होता है। भगवान् आशुतोष भगवती सतीको समझाते है—

देवि! शत्रुओके बाणसे बींध जानेपर भी एसी व्यथा नहीं होती जैसी कुटिलबुद्धि स्वजनोके कुटिल वचनोंसे होती है क्योंकि बाणोंसे शरीर छिन्न-भिन्न हो जानेपर तो जैसे-तैसे निद्रा आ जाती है पर कुवाक्योंसे मर्मस्थान विद्ध हो जानेपर तो मनुष्य हृदयकी पीडासे दिन-रात बेचैन रहता है—

तथारिभिर्न व्यथते शिलीमुखै
शेतेऽर्दिताङ्गो हृदयेन दूयता।
स्वाना यथा वक्रधिया दुरुक्तिभि-
र्दिवानिश तप्यति मर्मताडित ॥
(श्रीमद्भा० ४।३।१९)

महाभारत ता नीतिवाक्याका महासागर है—

नारुन्तुद स्यान्न नृशसवादी
न हीनत परमभ्याददीत।
यथास्य वाचा पर उद्विजत
न ता वदेदुषतीं पापलोक्याम्॥
सम्मुच्चरन्त्यतिवादाश्च वक्त्राद्
यैराहत शाचति रात्र्यहानि।
परस्य नामर्मसु त पतन्ति
तान् पण्डितो नावसृजेत् परपु॥
(महाभारत सभापर्व ६६।६-७)

अथात् किसीका ममभेदी बात न कहे। किसीसे कठार वचन न बाल। नीच कर्मद्वारा शत्रुको वशम करनेकी चष्टा न करे। जिस बातस दूसरका उद्वेग हो, जो जलन पैदा करनवाला और नरककी प्राप्ति करानेवाली हो, एसी बात मुँहस कभी न निकाले। मुँहसे जा कटु वचनरूपी बाण निकलते हैं, उनस आहत हुआ मनुष्य रात-दिन शोक और चिन्ताम डूबा रहता है। वे दूसरक मर्मपर ही आघात करते हैं, अत गुणीजनाका दूसराक प्रति निष्ठुर वचनाके प्रयागसे बचना चाहिय।

गरुडपुराणक गीता-सारम भगवान् कहते हें—

सत्य ब्रूयात् प्रिय ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रिय च नानृत ब्रूयादेष धर्म सनातन ॥
(गरुडपुराण आचार० २३८।४)

भाव यह हे कि सदा सत्य और प्रिय वचन बोलना चाहिये। कभी भी अप्रिय सत्य नहीं बालना चाहिय। प्रिय-मिथ्या वचन भी नहीं बालना चाहिय। यही सनातन धर्म है।

भर्तृहरिने दनिक जीवनके गूढ एव प्रत्यक्ष सत्याका नीति-सिद्धान्ताक माध्यमसे बडे हृदयग्राही ढगसे प्रस्तुत किया है। दैन्य-सूचक शब्दोका प्रयोग भर्तृहरिको अभीष्ट नहीं—

र रे चातक सावधानमनसा मित्र क्षण श्रूयता-
मम्भोदा बहवो वमन्ति गगन सर्वेऽपि नैतादृशा ।
केचिद् वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधा गर्जन्ति केचिद् वृथा
य य पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीन वच ॥
(नीतिशतक ५१)

प्रिय मित्र चातक। क्षणभरके लिये मेरी बात ध्यानपूर्वक सुनो। आकाशम बहुत प्रकारके बादल हैं कितु व सभी तुम्हे तृप्त करनेवाले नहीं ह। उनमेसे कुछ तो पृथ्वीपर जल बरसाते हैं, पर कुछ व्यर्थ ही गरजत रहते हैं। अत जिस-जिसको तुम देखो उसीके सम्मुख दैन्य-सूचक शब्दाका प्रयोग मत करो।

भगवान्ने तो सयमको तपकी सज्ञा दी है और बताया है कि जो वचन किसीका भी उद्विग्न करनवाला न हो तथा सत्य, प्रिय और हितकारक हो वह वाणीका तप कहलाता है— 'वाङ्मय तप उच्यते' (गीता १७।१५)।

अत वाणीके प्रयोगम बहुत ही सावधान रहनेकी आवश्यकता ह।

स्वामी श्रीरामानन्द सरस्वतीजी महाराजके नीति-वाक्य

आज तुम जिस सुख समझ रहे हो, वह कल दु ख बन जायगा और आज जिसे तुम दु ख (सदाचाररूप पालन) समझ रहे हो, वही कल तुम्ह चरम सुख एव परम आनन्दकी प्राप्ति करायेगा।

बात ता सभी सुनते हैं, पर जो अमल करता है, उसीका सुनना सार्थक है।

अकेले चलना सीखो, किसीका साथ मत ढूँढो, ईश्वर सदा तुम्हारे साथ है और उसका ता जन्मा-युगाका साथ है।

बनना है तो नदीकी लहरक समान बना, देखा ये कैसी सतत कार्यशील है, कभी तुमने इन्हे स्थिर देखा है? न ता ये कभी रुकती है और न ही कभी पीछे मुडकर देखती है। लहरोके मार्गम कितनी ही बाधाएँ हा ये आग बढती ही रहती है। जिसने अपने-आपको नदीकी लहरोके समान बना लिया, वह कभी असफल नहीं हो सकता। वह सत्यके मार्गपर बढता चला जाता ह। [प्रे०—कु० विभूति पाठक]

'नीति निपुन सोइ परम सयाना'

(श्रीनारायणदासजी भक्तमाली 'मामाजी')

मानव-शरीर ब्रह्म-सृष्टिकी उत्कृष्टतम रचना है। इसके निर्माणसे स्वयं रचयिता ब्रह्माजी तथा सर्वेश्वर प्रभुको भी प्रसन्नता हुई, किंतु जैसा श्रेष्ठतम यह शरीर कहा गया है, वैसा ही दुर्लभतम भी बताया गया है। यदि मिल भी गया तो इसमें स्थायित्व नहीं है। यह क्षणभंगुर भी है, परंतु इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इससे परमतत्त्व अर्थात् भगवत्तत्त्वकी उपलब्धि सम्भव है। यथा—

> कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह।
> दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्॥
> (श्रीमद्भागवत ७।६।१)

इसे विष्ठाभोजी शूकर-कूकरकी तरह विषयोपभोगमात्रमें ही नहीं गँवाना चाहिये, अपितु इसके द्वारा दिव्य तपोमय धर्मका आचरण करके अनन्त भगवदीय सुखकी प्राप्ति करनी चाहिये। यथा—

> नायं देहो देहभाजां नृलोके
> कष्टान् कामानर्हते विड्भुजां ये।
> तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं
> शुद्ध्येद्यस्माद् ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम्॥
> (श्रीमद्भागवत ५।५।१)

भगवत्प्राप्ति ही मानव-जीवनका चरम लक्ष्य है—ऐसी मान्यता हमारे मनीषियोंकी रही है और इसके लिये दिव्य तपोमय धर्मका पालन आवश्यक है तभी सत्त्वकी शुद्धि होगी एवं शुद्ध सत्त्वमय अन्तःकरणमें ही दिव्य भगवदीय सुखकी अनुभूति की जा सकेगी। उस दिव्य तपोमय धर्मका आचरण करनेके लिये एक पद्धति एवं आचारसंहिताकी आवश्यकता होती है। उसीका नाम है 'नीति'। नीति हमारे जीवनको हमारे मन-वाणी-बुद्धि एवं क्रिया-कलापोंका नियमन करके हमारे लक्ष्यतक ले जानेमें सहयोगी बनती है।

नीतिकी आवश्यकता मानवको ही पड़ती है पशुको नहीं। पशुको तो लगाम, नकेल, नाथ एवं चाबुक आदिके द्वारा नियन्त्रित किया जाता है, किंतु मानवको नियन्त्रित करनेके लिये नीतिशास्त्र आदिका विधान किया गया है। जो व्यक्ति मानवकी आकृति तो पा चुका है, किंतु मानवताका त्याग करके पशुता अथवा दानवताकी ओर जाना चाहता है, उसे नियन्त्रित करके सही मार्ग एवं सही ठिकानेपर लानेके लिये ही नीतिकी आवश्यकता होती है। यदि हमारी नीति शास्त्र एवं संतसे समर्थित है तब तो हमारा कल्याण कर देगी अन्यथा विनाशका भी कारण हो सकती है। श्रीमद्भगवद्गीतामें जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि पद्धति शास्त्र-सम्मत होनी चाहिये जैसे-तैसे लोगोंकी मतिसे उपजी हुई मन-गढ़त नहीं—

> यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
> न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
> तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
> ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
> (१६।२३-२४)

> मन मुख तन सुख साधना, बहै अगम भव धार।
> गुरु मुख, हरि-सन्मुख चलै, पहुँचै परला पार॥

गुरुमुखसे अर्थात् संतसे निर्गत नीति श्रेयस्कर होती है। वह नीति पात्रभेदसे, अवस्थाभेदसे, स्तरभेदसे, भावभेदसे देश एवं कालके भेदसे कई प्रकारकी हुआ करती है। यथा—धर्मनीति, अर्थनीति, राजनीति, कूटनीति, साम-दान-दण्ड-भेद नीति, पारिवारिक नीति, सामाजिक नीति इत्यादि। नीति सज्जनके सम्पर्कसे सुनीति होती है तथा स्वार्थान्ध दुर्जनके संगसे दुर्नीति हो जाती है। यदि नीति व्यक्ति परिवार-समाज एवं लौकिक स्वार्थतकको ही लक्ष्य रखकर कुछ निर्णय लेती है तो अपनी दृष्टिसे चाहे जितनी भी उच्च स्तरकी लगती हो परमार्थसे वञ्चित कर देती है, किंतु यदि भौतिकतासे ऊपर उठकर भक्ति, ज्ञान, वैराग्य एवं आत्म-परमात्मविषयक विचार प्रस्तुत करती है तो परम श्रेयस्कर हो जाती है।

अब इसके व्यावहारिक स्वरूप एवं परिणामकी ओर थोड़ा-सा दृष्टिपात करनेसे बात स्पष्ट हो जायगी। श्रीशुक्राचार्यने अपने शिष्य बलिको अपनी राजनीति-धर्मनीति एवं कूटनीति आदिकी दृष्टिसे परामर्श दिया कि—

स्त्रीषु नर्मविवाहे च वृत्त्यर्थे प्राणसकटे।
गोब्राह्मणार्थे हिंसाया नानृत स्याज्जुगुप्सितम्॥
(श्रीमद्भागवत ८। १९। ४३)

स्त्रियोको प्रसन्न करनेके लिये, हास-परिहासमें, विवाहम कन्या आदिकी प्रशसा करते समय, अपनी जीविकाकी रक्षाके लिय, प्राण-सकट उपस्थित होनेपर, गा ओर ब्राह्मणके हितके लिये तथा किसीको मृत्युसे बचानेके लिये असत्य भाषण भी उतना निन्दनीय नहीं ह।

उपर्युक्त प्रसगाम कुछ असत्य भाषण करके सत्यसे थोडा दूर भी हा जायँ तो वह असत्य निन्दनीय एव जघन्य नहीं माना जायगा। अत तुम इस वामन बटुकरूपमे पधारे हुए छली नारायणको फटकारकर भगा दो, इसीम तुम्हारा

हित निहित है। विचार कर, यदि इस नीतिके अनुसार बलि श्रीवामन प्रभुसे विमुख हो गये हाते तो कलकके ही भागी हाते। अत उन्होने भक्ति-नीतिको हा अपनाकर प्रभुके चरणाम सर्वात्म-समर्पण किया और परम कल्याणके भागी बने।

त्रेताम श्रीदाशरथि भरतजीने माता ककेयीके द्वारा प्रस्तावित तथा मन्त्रिमण्डल-समर्थित एव गुरु-अनुमोदित राजनीतिका पालन करक प्रभुक प्रति समर्पणका जो भाव प्रस्तुत किया है उससे बढकर काई भी नीति नहीं हो सकती। इस राम-प्रेमावतार भरतजीकी आदर्श प्रेम-भक्तिनीतिपर विश्वकी समस्त नीतियाँ न्योछावर की जा सकती हैं।

और तो ओर, स्वय प्रभु श्रीराम जिनके सम्बन्धमे गुरुवर श्रीवसिष्ठजीका उद्घाष हे—

नीति प्रीति परमारथ स्वारथु। कोउ न राम सम जान जथारथु॥

—वे नीति-प्रीतिके परम सुजान प्रभु श्रीरामजी भी श्रीविभीषण-शरणागतिके प्रसगम श्रीसुग्रीवजीसे कहते हैं—*'सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी। मम पन सरनागत भयहारी॥'* अर्थात् आपकी राजनीति अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है परतु मेरी शरणागति एव भक्तिकी नीति मात्र कथनम ही नहीं, व्यवहारमे भी है। उन्हाने इस कथनका क्रियान्वयन करके भी दिखाया— *'जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं॥'* युद्धके प्रसगमे जब रावणने विभीषणजीपर परम प्रचण्ड और अमोघ शक्तिका प्रहार किया तो प्रभु श्रीरामने अपने उस शरणागत सखा विभीषणकी रक्षाके लिये उसके सामने अपनी छाती अडा दी—

आवत देखि सक्ति अति घोरा। प्रनतारति भजन पन मारा॥
तुरत बिभीषन पाछें मेला। सन्मुख राम सहेउ साइ सेला॥

अन्य प्रकारकी नीतियाँ 'नीति' कहला सकती है किंतु नीतिसार तो वास्तवम—

'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेक शरण व्रज।'
अथवा
सकृदव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचत।
अभय सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रत मम॥

—के अनुसार भगवत्-शरणागति एव भगवद्भक्तिकी ही नीति है। तभी तो त्रिभुवन-गुरु भगवान् भोलेनाथ भगवती गिरिजाके सम्मुख बडे जोरदार शब्दाम उद्घोषित करते हैं—

नीति निपुन सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धात नीक तेहि जाना॥
सोइ कवि कोबिद सोइ रनधीरा। जो छल छाड़ि भजइ रघुबीरा।

कि बहुना—

इतर नीति भव-भीतिप्रद सन्तन कियो विचार।
नीतिसार हरिभक्ति-पथ भव-भय भजनिहार॥

इस प्रकार हरिभक्तिके मार्गपर चलना ही नीतिका परम प्रयोजन हे।

'पुरुषसूक्त'के आधारपर अर्थशास्त्रका उद्भव

(महामहोपाध्याय श्रीविश्वनाथजी शास्त्री दातार)

'ह्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ'* इस पुरुषसूक्तसे भगवान् विष्णुकी सवाम तत्पर उनकी दो पत्नियाका स्मरण किया गया है जिनके नाम क्रमश 'ह्री' एव 'लक्ष्मी' हैं। इनकी यथार्थता स्पष्ट करने-हेतु परम्परा-प्राप्त अर्थशास्त्रका सक्षिप्त करते हुए आचार्य चाणक्यने अर्थशास्त्र प्रकाशित करके सामाजिक अर्थकी नीति सुदृढ बनायी। इससे स्पष्ट होता है कि जो अर्थार्थी है वे यदि 'ह्री' का आदर नहीं करते तो *विष्णुजीकी द्वितीय पत्नी लक्ष्मीजी उन अर्थार्थियाको छोडकर* अपना चञ्चलत्व प्रकट करती है।

ज्ञातव्य है कि पुरुषसूक्त 'ह्री' के उल्लेखसे सम्पूर्ण समाजको धर्माचरणकी ओर प्रेरित कर रहा है क्योकि धर्माचरणकी कार्यताको अपनाये बिना 'ह्री' का होना असम्भव है। जैसा कि मार्कण्डेयपुराणान्तर्गत श्रीदुर्गासप्तशतीके मन्त्रसे स्पष्ट है—

या श्री स्वय सुकृतिना भवनेष्वलक्ष्मी
पापात्मना कृतधिया हृदयेषु बुद्धि ।
श्रद्धा सता कुलजनप्रभवस्य लज्जा
ता त्वा नता स्म परिपालय देवि विश्वम्॥

'ह्री'-पदसे बोध्य लज्जा साधारण नहीं अपितु पुरुषसूक्तकी दृष्टिसे जगज्जननी जगदम्बिकाका अवतार है। जैसा कि कहा गया है—

या देवी सर्वभूतेषु लज्जारूपेण सस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नम ॥
(५।४४—८६)

इस लज्जाका प्रधान केन्द्र-स्थान भारतवर्षीय वर्णाश्रमसमाज है क्योकि इस शास्त्रप्रमाणाधीन समाजको शास्त्रीय प्रमाणके विपरीत कार्य करनेमे अत्यन्त दु खका अनुभव होता है। अत अनादि-कालसे यह समाज शास्त्राज्ञाका उल्लघनमे लज्जाका अनुभव कर अकार्य करनेसे दूर रहा। जैसा कि श्रीमद्देवीभागवतमे राजा परीक्षित्‌का लज्जामे स्पष्ट है—

नाह प्रतिग्रह काङ्क्षे क्षत्रियोऽह सुमध्यमे॥
याचन खलु विप्राणा क्षत्रियाणा न विद्यते।
(७।२१।१४-१५)

इसी लज्जाका अनुभव कर गुरुजनो, मतज्ञो एव विद्वानोने उन-उन स्थानोपर स्थित लोगोको लज्जारूप कवचका भय दिखाकर उन्हे अकार्यसे निवृत्त किया तथा सम्पूर्ण भारतवर्षको एक सूत्रमे पिरो दिया। जबसे शास्त्रके प्रति समाजमे अश्रद्धा बढती गयी तभीसे अकार्यके प्रति अकर्तव्यका भाव समाप्त हो गया। लज्जा भी समाप्त हो गयी, जिसका फल समाजके विघटनके रूपमे सामने आया। इस प्रकार यह *निर्णय हुआ कि लज्जा वहीं उत्पन्न होती है, जहाँ* यह भय होता है कि अकार्य करनेसे सर्वत्र उसकी निन्दा होगी। जैसा कि स्पष्ट है—

अकार्यकरणाज्ञानगुर्वाज्ञादिव्यतिक्रमात् ।
अनिर्वाहात् प्रतिज्ञायास्त्यागे भूयोऽनुपातत ॥
व्रीडा तदनुभावा स्युरुर्वीलेखनचिन्तनम्।
मुखावनम्रताऽव्यक्तवचन नखकर्तनम्॥
वस्त्राङ्गुलीयकस्पर्शौ दूरादेवावगुण्ठनम्।
अनिर्गमो बहि क्वापि सर्वत्राप्यनवस्थिति ॥
(भावप्रकाशन पृ० ११)

इन श्लोकोमे उक्त अकार्य शब्दसे शास्त्राज्ञाका उल्लघन विवक्षित है। लज्जासम्बन्धी इस तथ्यका विचार करके पुरुषसूक्तने लोगोको सत्कार्य करनेके प्रति उत्साहित करते हुए कहा है कि जो व्यक्ति ह्रीमान् होकर सबके सामने आयेगा, उसीका विराट् पुरुषत्व प्रकाशित होता रहेगा। फलत सम्पूर्ण देव वैसे व्यक्तिके अधीन होकर उसकी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण करते हैं। जैसा कि कहा गया है—

'तस्य देवा असन्वशे'। (पुरुषसूक्त)

प्रारम्भमे कहे हुए पुरुषसूक्तके मन्त्रमे उक्त लक्ष्मीजीके तीन अर्थ हैं—(१) आध्यात्मिक (२) आधिदैविक तथा (३) आधिभौतिक। आध्यात्मिक पदसे वे लक्ष्मी ग्राह्य हैं जो विराट् पुरुषके सम्पूर्ण शरीरके साथ एक सूत्रकी तरह एकात्मभाव रखती हैं वे ही आद्या शक्ति लक्ष्मीजी हैं। उन्होने ही श्रीमद्देवीभागवतके अनुसार सरस्वतीजी लक्ष्मीजी तथा कालीजीके रूपमे त्रिदेवियाँ प्रकट कीं। उनमसे एक श्रीब्रह्माजीके दूसरी श्रीविष्णुजीके तथा तीसरी श्रीशिवजीके हृदयमे आधिदैविकरूपमे स्थित हैं। अधिभूता लक्ष्मी

* [illegible]

सुवर्ण, भाण्ड आदिके रूपमे ह्रीमान् पुण्यवानोके घरमे स्थित होती हैं। वे ही अधिभूता लक्ष्मी अर्थशास्त्रमे मनुष्यवती भूमिके रूपमे मर्यादित की गयी हैं। जैसा कि अर्थशास्त्र (अधि० १५।१)-मे कहा गया है—

'मनुष्याणा वृत्तिरर्थ । मनुष्यवती भूमिरित्यर्थ ।'

यहाँ मनुष्याकी अनेक वृत्तियाके अन्तगत भूमिको प्रधान वृत्तिके रूपमे लिया गया है। जैसा कि अर्थशास्त्रकी टीका जयमगलामे कहा गया है—'यतो भूम्यादीनामर्थाना पूर्वं पूर्वं * प्रधानम्। अर्थं प्रधान च मनुष्यवती भूमि सर्वकर्मणा योनित्वात्' (अर्थशास्त्रीय जयमगला १५।१)।

पुरुषसूक्तमें भगवान् विष्णुकी पत्नीके रूपमे प्रतिगृहीत आधिदैविक शक्ति लक्ष्मीजी लोकका पालन करनेमे तभी समर्थ होती हैं जब व 'ह्री' से सामानाधिकरण्य स्थापित करती हैं। यह पारस्परिक सम्बन्ध सत्त्वगुणके अभावमे सम्भव नहीं होता। इस प्रकार पुरुषसूक्तने 'ह्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ' कहकर पत्नीका द्वैविध्य स्फुट किया। भारतीय सस्कृतिके परिपोषक मनीषी श्रीभर्तृहरिने अर्थकी महत्ताके विषयमे अपनी एक कड़ी और जोड़ दी है, जैसे—

जातिर्यातु रसातल गुणगणस्तस्याप्यधो गच्छता-
च्छील शैलतटात् पतत्वभिजन सदह्यता वह्निना।
शौर्ये वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोऽस्तु न केवल
यनैकेन विना गुणास्तृणलवप्राया समस्ता इमे॥

(नीतिशतक ३९)

इस श्लोकके गूढ रहस्यको न समझकर लोग अर्थको ही प्रधान मानते हैं। आचार्य कौटिल्य भी 'अर्थ एव प्रधान' कहकर अर्थकी प्रधानता स्वीकार करते हैं यह सत्य है फिर भी उनके मतके अनुसार अर्थ वही प्रधान है जो जनानुरागके माध्यमसे ह्रीपूर्वक प्राप्त किया जाय। अन्य उपायोसे प्राप्त किया गया धन पुरुषार्थ नहीं होता, क्योकि वैसा अर्थ दु खको बढानेवाला एव सुखका क्षय करनेवाला होता है। अत अर्थ-बोधक यह शास्त्र अर्थशास्त्र पदसे बोध्य होते हुए भी नीतिशास्त्र कहा गया है। जैसा कि स्पष्ट है—

जितेन्द्रियत्व विनयस्य लक्षण गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते।
गुणाधिके पुंसि जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पद ॥

(कामन्दकायनीतिसार जयमगला १।२४)

यही आशय कौटिलीय अर्थशास्त्रसे भी स्फुट होता है। 'अर्थ एव प्रधान' (अर्थ० अधि० १५।१) कहकर धर्मप्रधान होते हुए भी अर्थका प्राधान्य किस प्रकारसे है, इस शङ्काका उत्तर ग्रन्थकार इस प्रकार देते हैं—'अर्थमूलौ हि धर्मकामाविति' (अर्थ० १।७)। आशय यह है कि यदि अन्यायसे धन अर्जित किया जाता है और उसका विनियोग याग, दान, पूजा आदि धार्मिक कार्योंमे किया जाता है तो इस प्रकारके अर्जित धनसे किया गया धार्मिक कार्य धर्म नहीं अपितु वह दाम्भिक भाव ही प्रदर्शित करता है।

'अर्थ एव प्रधान इति कौटिल्य' इस उक्तिको पढकर यह समझा जाता है कि इतना मात्र ही उनका मत है, किंतु ऐसा नहीं है। लक्ष अध्यायके अर्थशास्त्रमहोदधिसे थोड़ा-थोड़ा भाग पढकर बृहस्पति आदि ऋषियोके शिष्योने अपने-अपने सम्प्रदायमे उसे प्रचारित किया। इस सीमित ज्ञानका परिणाम हुआ कि आन्वीक्षिकी वार्ता एव त्रयी आदि विद्याओके लोपके साथ अर्थादि पदोके वास्तविक अर्थके लोपका प्रसग उपस्थित हो गया। दण्डनीतिका अर्थ भी उलटा किया जाने लगा। इसको समझकर आचार्य कौटिल्यने आन्वीक्षिकी एव त्रयीका अनुगमन करते हुए अपनी गुरुभक्ति, तपस्विता एव विवेकसे उक्त अर्थशास्त्रमहोदधिका अभिप्राय प्रकाशित कर लोकयात्राकी सुचारता पुन सम्पादित कर सम्पूर्ण भारतको एक सूत्रमे बाँधा। यही अभिप्राय बताते हुए आचार्य कौटिल्यने अर्थशास्त्रमे जहाँ-तहाँ 'नेति कौटिल्य' कहा है अर्थात् यह उनका मत नहीं अपितु पूर्वपरम्परासे प्राप्त अर्थ ही है।

उपर्युक्त विचारोसे स्पष्ट है कि पुरुषसूक्तने यथार्थ तत्त्वका विचारकर भगवान् श्रीविष्णुके स्तवनके प्रसगमे पत्नीद्वयका निरूपण कर जिस तत्त्वका ध्वनन किया उसी तत्त्वको सिद्ध करनेके लिये कौटिलीय अर्थशास्त्र आगे आया। इसी उद्देश्यसे समाज यदि व्यवहार करता है तो 'ह्री' एव 'लक्ष्मी' जीका सामानाधिकरण्य स्थापित होते हुए समाजके ऊपर उनकी पूर्ण अनुकम्पा बनी रहेगी।

---

* भूमि हिरण्य धान्य पशु, भाण्ड उपस्कर (अर्थशास्त्र १५।१)।

सच्चरित्र और नीतिमान्

(आचार्य श्रीसीतारामजी चतुर्वेदी एम्० ए०)

ससारके सभी देशामे प्रत्यक नागरिकसे सदा यह आशा की जाती रही है कि वह समाजका उपयोगी अङ्ग बनकर समाजम शाश्वत शान्ति, सद्भाव और सहयोगके साथ दूसरेका हित करनकी भावनासे कार्य करता रहेगा। शिष्ट, सभ्य आर सुशील नागरिक बननेके लिये वाणी और व्यवहारकी शुद्धि या भाव-शुचिता आवश्यक आर अपरिहार्य है। प्रत्येक नागरिकको अपनी वाणी और व्यवहारस अपने सम्पर्कम आनवाले प्रत्यक व्यक्तिको सतुष्ट करनका प्रयत्न करना चाहिये। यही शील है। यही चरित्रका आधार है। वाणी और व्यवहारकी शुचिताके लिये यह आवश्यक है कि प्रारम्भिक अवस्थामे ही माता-पिता, अभिभावक या गुरु उसे सामाजिक शिष्टाचारकी शिक्षा प्रदान कर। इससे वह अपने घरम और समाजमे अपनसे बडा, बराबरवाला और छोटोके साथ आदर, सद्भाव एव स्नेहका व्यवहार करगा। इसीलिय प्राचीन कालम गुरुकुलोमे यह नियम था कि बालकका गुरु सवप्रथम शौच शिष्टाचार आदि ही सिखाते थे—

> उपनीय गुरु शिष्य शिक्षयेच्छौचमादित ।
> आचारमग्निकार्यं च सध्योपासनमेव च॥
>
> (मनु० २।६९)

शिष्टाचारके अन्तर्गत घरके वृद्धजन—पितामह-पितामही माता-पिता और चाचा आदिके प्रति आदरपूर्ण श्रद्धापूर्ण तथा सेवाभावित व्यवहार, अपने भाई-बहनोमेंस बडाका आदर और सम्मान छोटाके प्रति स्नेह और सद्भाव, उनकी भावनाओका आदर उन्हे सुखी, प्रसन्न और सतुष्ट करनेका प्रयत्न घरके सबकाके प्रति सदय व्यवहार, अपने पडोसियास स्नेह और सहयागके साथ निर्वाह, गुरुकुला या विद्यालयाम अपने गुरुजनाके प्रति आदर और सेवा-भाव, अपनेस बड छात्राके प्रति आदर और अपन समवयस्क साथी-सहपाठियाके प्रति सहयाग सत्यनिष्ठा एव सहायताका भाव तथा अपनेस छोटो कक्षाके छात्राके प्रति उदारता सहयाग स्नेहका भाव आदि सब सनिहित हैं। समाजमे वृद्धजनोका आदर और सम्मान करना, मन्दिर, सभा आदि सार्वजनिक स्थलामें शान्त एव मान हाना, वहाँके क्रियाकलापोमे मर्यादा और शान्तिपूर्वक आवश्यक सहयाग एव परामर्श दना, अपने देशके प्रति पूर्ण भक्ति तथा निष्ठा रखते हुए पर्वत नदी, नगर, ग्राम, पशु, पक्षी, वृक्ष, वनस्पति आदि सबके प्रति ममत्वपूर्ण स्नेह बनाये रखना और उनकी निरन्तर रक्षा करनेमे तत्पर रहना, कोई भी ऐसा काम न करना जिससे देशका असम्मान हो तथा अन्य धर्मो, धर्म-स्थानों एव धर्मावलम्बियोके प्रति हार्दिक सद्भाव और सहनशालता बनाये रखना—शिष्टाचार, नीति, शील या चरित्रका प्रथम सोपान है।

इन समस्त शिष्टाचाराका बीज वाणीके सस्कारपर पूर्णत निहित है। इसीलिये—'वाण्येका समलङ्करोति पुरुष या सस्कृता धार्यते'[1] कहा गया है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

> तुलसी मीठे बचन त सुख उपजत चहुँ ओर।
> बसीकरन इक मत्र है, परिहरु बचन कठोर॥

वाणी और व्यवहारका यह माधुर्य ही समष्टिरूपमे शील या चरित्र कहलाता है। अपनेको अहकाररहित होकर ऐसी स्निग्ध वाणीका प्रयोग करना चाहिये, जिसका प्रयोग स्वयको भी अच्छा लगे और दूसराको भी सुख दे। शीलवान् पुरुषका मुख्य लक्षण भी यही है कि वह अपनी वाणीसे कभी किसीको किसी प्रकारका मानसिक कष्ट नहीं पहुँचाता। वह जिसस बात करता है, वह उसकी बातपर मुग्ध हाता रहता है। इसीलिये कहा जाता है कि गुड न दे ता गुडकी-सी बात ही करे। ऐसी वाणीका व्यवहार करनेवाले पुरुषका सर्वत्र समादर होता है। उसका लक्षण ही यह है कि वह न ता स्वय अपनी बडाई करता है, न दूसराम ही अपनी बडाई कराता है और यदि कोई उसकी प्रशसा करने भी लगता है तो वह तत्काल उसे टाल जाता है। शीलवान् पुरुषका दूसरा लक्षण यह है कि वह 'त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभि

1. सुसंस्कृत वाणी ही मनुष्यका एक सिद्ध अलकार है जिससे मनुष्य सदा सम्मानित और लोकप्रिय होता है।

प्रीणयन्त'—सदा दूसराका उपकार करता रहता है। मर वह भूलकर भी कभी किसीस उसकी चर्चा नहीं करता। फारसीम कहावत ह—'*नकी कुन् बदरिया अदाज*'—'दूसरकी भलाई करा आर उस भलाईका बात नदीमें बहा दा।' भलाई करक उसका डका पीटना, उसके महत्त्वका समाप्त कर देता ह।

शीलवान् पुरुषका तीसरा लक्षण ह—यदि उसक प्रति किसीन छोटा-स-छाटा भी उपकार किया हा या उसकी सहायता की हा ता वह उस सदा बहुत बडा बनाकर निरन्तर कृतज्ञतापूर्वक उसकी प्रशसा ही करता रहता है। अपन प्रति किये गये उपकारका जो नही मानता वह कृतघ्न नराधम व्यक्ति समाजम रहनक अयोग्य है। भगवान् रामके शालक सम्बन्धम कहा जाता ह—

सुनि सातापति-सील-सुभाउ।
माद न मन, तन पुलक, नयन जल, सो नर खेहर खाउ॥

(विनय-पत्रिका १००)

श्रीहनुमान्जीने उनके लिये सीताजीकी खोजका सवा-कार्य किया था। उसक लिय वे हनुमान्जीक प्रति निरन्तर कनौड (कृतज्ञ) वन रहे। शबरीन जा उन्ह बेर खिला दिये थ उन बराक स्वादका व मिथिला और अयाध्याके गजसी भागाकी अपेक्षा कहीं अधिक स्वादिष्ठ बताते रह। इसक अतिरिक्त अपन पिता-माता—यहाँ तक कि वनवास दिलानवाली विमाताक प्रति भी उन्हान सदा शालयुक्त व्यवहार किया। अपन भाइया, अपने मित्र विभीपण और सुग्रीव तथा अपनी प्रजाक प्रति भी उनका प्रेम आदश रहा। महर्षि विश्वामित्र और गुरु वसिष्ठक प्रति उनका आदर-भाव समारम अद्वितीय रहा है। एमा शीलयुक्त व्यवहार आर नीतिका अनुपालन मनुष्यका प्रथम और नितान्त अभीष्ट अङ्ग ह जिसका आधार हदयकी उदारता आर वाणीका माधुय है।

शीलयुक्त वाणाके चार अङ्ग माने जाते हैं—वह शुद्ध हो अर्थात् वाणीम व्याकरण अथवा सामाजिक शालकी काई त्रुटि न हा कलात्मक हो अथात् उस सुनकर श्राता तत्काल उसका आर आकृष्ट हाकर खिल उठ। वह वाणी इतना मधुर हा कि श्राता उसक बालनक ढगपर ही मुग्ध हा उठ, साथ ही वह प्रभावशाली भी हा अथात् एसी मधुरताक साथ कही गयी हा कि श्रातापर उसका समुचित प्रभाव पड आर वह कहनवालक मतका समथन करने लगे। इसीलिय ससारक सभी दशाके महापुरुषा, मनीषिया तथा महान् शिक्षा-शास्त्रियान शीलका ही सवस अधिक महत्त्व दिया हे तथा सभी देशाम समान रूपस उन सब तत्त्वाका आवश्यक शिक्षाक अन्तर्गत स्वीकृत कर लिया गया ह, जिनस मनुष्यम मनुष्यता आती है। सार्वभाम, सर्वकालीन अर्थात् शाश्वत शिक्षाक सर्वमान्य सिद्धान्ताक अनुसार प्रत्यक श्रेष्ठ नागरिकको अनुशिष्ट सभ्य स्वस्थ परहितकारी तथा परार्थभावित नागरिक हाना ही चाहिय। इन गुणाकी पुष्टिक लिये उपर्युक्त वाणीका माधुर्य ओर व्यवहारका शुद्धि अर्थात् सत्यनिष्ठा परम आवश्यक ह। यही सच्चरित्रता एव नीतिमत्ता है।

योगक्षेम—प्रत्येक व्यक्तिको अपना जीवन-निर्वाह ता करना ही पडता ह। इसक लिय उसे अपनी याग्यता परिस्थिति वातावरण, साधन तथा परिवेशके *अनुसार तत्तत्स्थानाय* सुलभ पदार्थो ओर अवसराक आधारपर सत्यता आर सद्वृत्ति (इमानदारी)-क साथ अपना और अपन आश्रितोका योगक्षेम वहन करनक लिय अपन परिवारक बड-वृढा अथवा गुणीजनास अपन कुल व्यवसायका वह आवश्यक कौशल अवश्य प्राप्त कर लना चाहिये जिसक द्वारा वह सबका सतुष्ट करते हुए सद्वृत्तिक साथ अपन कतव्य और अधिकारका निर्वाह एव परिवारका पोषण कर सक। साथ ही जिन व्यक्तियाके सम्पर्कम वह आये, उन्ह अपना मधुर वाणी, स्नहपूर्ण व्यवहार, सत्यनिष्ठा तत्परता और सद्भावस तृप्त भी कर सके। केवल अर्थकरी विद्या प्राप्त करना ही अर्थ-सिद्धिक लिय आवश्यक नहीं है उसक साथ व्यवहारशुद्धि (इमानदारा), शील ओर वचनपालन भा निनान्त आवश्यक है—'अर्थशौच पर स्मृतम्।' (मनु० ५। १०६)

पारिवारिक चरित्र—प्रत्यक व्यक्ति अपन परिवारका स्वाभाविक अङ्ग होता हैं चाह वह परिवार माता-पिता भाइ-बहनका हा चाहे किसी आश्रमम गुरु अथवा सहयागी *अन्तवासिया या सहाध्यायिया या अन्य* किसी समुदायका हा। पर आवश्यक यह है कि प्रत्यक व्यक्तिका अपन उस

परिवारके लिये उपकारी अवश्य सिद्ध होना चाहिये अर्थात् मनुष्य जिस प्रकारके परिवारमें भी रहे, वह शुद्धतम पारस्परिक सद्भाव, सहयोग, सहायता और सेवाकी भावनासे कार्य करे, दूसरोंपर आतङ्क जमाने, प्रभुत्व दिखाने और दूसरोंको वशमें करनेकी भावना उसमें न हो। उसका धर्म यह होना चाहिये कि वह स्वयं कष्ट और असुविधा सहकर भी अपने परिवारके अन्य सदस्योंके हित और कल्याणकारी उपाय सोचे तथा यथाशक्ति सबकी सहायता करता रहे।

सामाजिक शील—प्रत्येक व्यक्ति जहाँ एक ओर परिवारका आवश्यक और स्वाभाविक अङ्ग होता है वहीं वह उस समाजका भी अङ्ग होता है, जिसमें वह जन्म लेता, रहता, काम करता, अपनी जीविका चलाता तथा व्यवहार करता है। इस दृष्टिसे प्रत्येक व्यक्तिके कई प्रकारके समाज बन जाते हैं। परिवारका पहला, जातिका दूसरा, पड़ोसका तीसरा, धर्मका चौथा, व्यवसायका पाँचवाँ, खेलकूद या विनोद आदिका छठा, विद्या और शिल्पका सातवाँ, विचार या राजनीतिक वादका आठवाँ समाज आदि अनेक प्रकारके समाजोंमें प्रत्येक व्यक्ति एक होते हुए भी अलग-अलग ढंगसे अपने विभिन्न समाजोंकी नीतिके अनुसार व्यवहार करता है। इन सभी प्रकारके समाजोंमें उसे उपकारी, सहयोगी, सहनशील और सेवापरायण होनेके साथ-साथ सद्भावभावित भी होना ही चाहिये। तभी वह अपने इष्ट समाजकी समुचित सेवा, उस समाजमें आदर भी प्राप्त कर सकता है, उसे समुन्नत भी कर सकता है और उसके द्वारा लोक-कल्याणके कार्य भी कर सकता है।

देशभक्ति और मानवता—जैसे प्रत्येक व्यक्ति एक परिवार या समाजमें रहता और व्यवहार करता है, उसी प्रकार वह एक देशमें भी रहता है। उस देशके जनमानसकी भावनाओं, कामनाओं, आकाङ्क्षाओं, अभिलाषाओं आदि—सबमें उसका भी यथोचित भाव, अधिकार और कर्तव्य ग्रथित रहता है। देश-निवासीके रूपमें वह अपने देशके विभिन्न समुदायों, धार्मिक सम्प्रदायों, राजनीतिक दलों तथा सम्पूर्ण जन-समाजका अनिवार्य अङ्ग बन जाता है। ऐसी स्थितिमें उसका कर्तव्य हो जाता है कि न तो स्वयं वह कोई ऐसा काम करे न दूसरोंको करने दे, जिससे देशके सम्मान, सम्पत्ति और स्वात्माभिमानको ठेस लगे। उसे सबसे मिलकर इस प्रकार प्रयत्न करना चाहिये कि देश समृद्ध, शक्तिशाली और समुन्नत हो। उसपर किसी अन्य देश, जाति अथवा व्यक्तिका शासन न होने पाये। जो देशके विरोधी या शत्रु हों, उन्हें नष्ट करनेके लिये उसे अपना सर्वस्व त्याग करनेको भी सर्वदा उद्यत रहना चाहिये। जो व्यक्ति, जाति, राष्ट्र या समाज अपने देशको किसी प्रकारकी हानि पहुँचानेका प्रयत्न करें अथवा अपना या अपने परिवारका स्वार्थ सिद्ध करना चाहें उनका निर्भय और निष्पक्ष होकर विरोध करना चाहिये। उस विरोधके लिये जो भी कष्ट सहना पड़े, उसके लिये भी सदा तत्पर रहना चाहिये।

देश-भक्तिकी भावनासे भी ऊँची मानववादी या विश्वहितकी भावना है, जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्तिको प्रयत्नपूर्वक यह मनाते रहना चाहिये कि विश्वके सारे प्राणी सदा सुखी हों और सुखी रहें। परस्पर बन्धुत्वभावसे एक-दूसरेकी सहायता करें। प्रेम और सद्भावके साथ रहें समष्टिरूपसे लोक-कल्याणका उपाय करते रहें और कोई भी ऐसा कार्य न करें, जिससे मानवजाति यहाँ तक कि पशु-पक्षी या वृक्षादिके भी संहार और विनाशकी किसी भी प्रकार सम्भावना हो—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

स्वस्थ शरीर और संतुलित मन—ऊपर प्रत्येक सच्चरित्र नागरिकके लिये जो अनेक प्रकारके व्यवहारों और कर्तव्योंका निर्देश दिया गया है, वह तबतक सम्भव नहीं है, जबतक मनुष्यका शरीर पूर्णतः स्वस्थ और सक्रिय न हो, उसका मन अडिग, निर्भय और संतुलित न हो एवं उसमें उदार शीलयुक्त व्यवहार-बुद्धि न हो। जबतक मनुष्यका शरीर सक्रिय नहीं होता, उसका मन व्यवस्थित, स्थिर और संतुलित नहीं होता तथा उसकी बुद्धि व्यवहारशील नहीं होती, तबतक वह परिवार, समाज या देशमें रहकर भी अपने कर्तव्यका पालन नहीं कर सकता। इसलिये सर्वतोभावेन मनुष्यको नीरोग

रहनेके लिये सरल सात्त्विक भोजन नियमित और संयत जीवन निरलस कार्य-संलग्नता और तत्परता नितान्त आवश्यक है। जबतक यह सामर्थ्य नहीं होती, तबतक वह किसी प्रकारसे भी अपना या दूसरोंका कोई हित-साधन नहीं कर सकता। समाजका प्रत्येक व्यक्ति सब प्रकारके मादक पदार्थोंका त्याग करके यदि संतुलित सात्त्विक आहारका आश्रय ले ठीक समयपर रातको शीघ्र सोकर प्रातः शीघ्र उठकर समयसे व्यायाम, प्राणायाम, भोजन एवं भगवद्भजन करके अपना नित्य और नैमित्तिक कर्म करता रहे तथा गरमी, सर्दी, वर्षासे सुरक्षित रहकर ऋतु-परिवर्तनके दोषोंसे बचता हुआ जीवन-यापन करे, ईश्वरमें श्रद्धा रखकर और निर्वैर होकर कार्य करे तो वह चरित्रवान् पुरुष निश्चय ही दीर्घजीवी होकर आत्मकल्याण तथा लोक-कल्याण करता हुआ सबका श्रद्धा-भाजन बनकर यश एवं कीर्ति अर्जित कर सकता है—

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान् नरः।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति॥

(मनु० ४।१५८)

धार्मिक सहिष्णुता—संसारमें बहुत-से देश हैं। उनमें अनेक प्रकारके सम्प्रदाय और धर्म प्रचलित हैं। उन सभीकी उपासना-पद्धति, कर्मकाण्ड और सिद्धान्त भिन्न-भिन्न हैं। प्रत्येक व्यवस्थित बुद्धि और संतुलित व्यक्तित्ववाले सदाचारी पुरुषका धर्म है कि वह अपने विश्वासके अनुसार अपनी उपासना-पद्धति और कर्मकाण्डका अनुगमन करे पर यथासम्भव उसे दूसरोंकी उपासना-पद्धति, कर्मकाण्ड तथा उनके धार्मिक उत्सवों और पर्वोंका भी सम्मान करना चाहिये। देश और विश्वमें शान्ति बनाये रखनेके लिये इस प्रकारकी धार्मिक सहनशीलता आवश्यक है। यह वृत्ति तभी आ सकती है, जब प्रत्येक व्यक्तिमें धर्मबुद्धि अर्थात् सदा दूसरेका हित सोचने, किसीकी हिंसा न करने और लोक-कल्याण करनेकी भावना विद्यमान हो। यह तभी पुष्ट होती है, जब प्रत्येक देशका नागरिक अपने देशके सब निवासियोंकी भावनाओंका आदर करना सीख ले और अपने देशके महापुरुष, पर्वत, नदी, नद, तीर्थस्थान, नगर, पशु, पक्षी, बिल्व, तुलसी आदि वृक्ष-पौधे सबको अपना आदरणीय एवं आत्मीय समझकर उनके संरक्षण और समुद्धरणके लिये निरन्तर प्रयास करता रहे। जब हम इस प्रकारकी व्यापक उदार भावना अपने देशके नागरिकोंमें भर सकें, तब हमें समझना चाहिये कि हम उन्हें उच्च चरित्रकी ओर अग्रसर कर रहे हैं—नीतिमान् बना रहे हैं।

आजकल प्रायः लोग यह कहते सुने जाते हैं कि हमारी शिक्षा-प्रणाली बड़ी दूषित है, किंतु इसी शिक्षा-प्रणालीमेंसे ही तो महामना मालवीयजी, महात्मा गाँधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा अन्य अनेक उदारचेता देशभक्त, यशस्वी, सदाचारवान् महापुरुष उत्पन्न हुए हैं। अतः शिक्षा-प्रणाली जो भी हो, हम निश्चितरूपसे इसी शिक्षा-प्रणालीके अन्तर्गत चरित्र-शिक्षाकी योजना भी सिद्ध कर सकते हैं। किंतु उसके लिये ऐसे नियोजित और सुव्यवस्थित व्यक्तित्ववाले अध्यापकों और धार्मिक नेताओंकी आवश्यकता है, जो चारित्रिक शिक्षामें निष्ठाके साथ विश्वास रखते हों और स्वयं आदर्शचरित्र हों। चारित्रिक आदर्श पुस्तकों, व्याख्यानोंकी अपेक्षा आचरणसे अधिक प्रभावकारी होता है। अतः उसकी विशेष आवश्यकता है। सारे संसारको चरित्रकी शिक्षा देनेवाला, नीतिकी शिक्षा देनेवाला भारत तभी अपना आदर्श पुनः स्थापित कर सकता है।

नीचा सिर क्यों?

एक सज्जन बड़े ही दानी थे, उनका हाथ सदा ही ऊँचा रहता था, परंतु वे किसीकी ओर नजर उठाकर देखते नहीं थे। एक दिन किसीने उनसे कहा—'आप इतना देते हैं पर आँखें नीची क्यों रखते हैं? चेहरा न देखनेसे आप किसीको पहचान नहीं पाते, इसलिये कुछ लोग आपसे दुबारा भी ले जाते हैं।' इसपर उन्होंने कहा—'भाई!—

देनहार कोई और है देत रहत दिन रैन। लोग भरम हम पर धरैं यातें नीचे नैन॥

देनेवाला तो कोई दूसरा (भगवान्) ही है। मैं तो निमित्तमात्र हूँ। लोग मुझे दाता कहते हैं। इसलिये शर्मके मारे मैं आँखें ऊँची नहीं कर सकता।'

'नीतिरस्मि जिगीषताम्'

(आचार्य श्रीकृपाशंकरजी महाराज, रामायणी)

आदर्श जीवनमें 'नीति' का अत्यन्त महत्त्व है। नीति-पालनके द्वारा ही ऐहिकामुष्मिक—लौकिक-पारलौकिक कल्याण सम्भव है। मर्यादापुरुषोत्तम नयनागर—नीतिनिपुण भगवान् श्रीरामचन्द्रजी मानव-मात्रके प्रशिक्षणके लिये स्वयं नीतिका पालन करते हैं—

धरम धुरीन धीर नय नागर। सत्य सनेह सील सुख सागर॥
देसु कालु लखि समउ समाजू। नीति प्रीति पालक रघुराजू॥
(श्रीरामचरितमानस २।३०४।५-६)

जिसके मनमें यशकी इच्छा हो, ऐश्वर्यकी कामना हो एवं सुन्दर गतिकी अभिलाषा हो उसको नीतिका अवलम्बन अवश्य ही करना चाहिये—

धरम नीति उपदेसिअ ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥
(श्रीरामचरितमानस २।७२।७)

आनन्दकन्द-व्रजेन्द्रनन्दन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी अपने परम प्रिय सखा कुन्तीनन्दन श्रीअर्जुनके समक्ष अपनी अविकम्प भक्तियोग-संवर्धक दिव्य विभूतियोंका ज्ञान और कल्याणमय गुणगणोंके ज्ञानका निरूपण करते हुए नीतिके महत्त्वका अति संक्षिप्त वर्णन करते हुए कहते हैं—

'नीतिरस्मि जिगीषताम्' (श्रीमद्भगवद्गीता १०।३८)

अर्थात् विजयकी इच्छावालोंकी विजयकी उपायभूत नीति मैं हूँ।

श्रीमद्भागवत और श्रीमद्भगवद्गीताके प्राचीन टीकाकार स्वामी श्रीश्रीधरजी 'नीतिरस्मि जिगीषताम्' की व्याख्या करते हुए लिखते हैं— 'जेतुमिच्छतां सम्बन्धिनी सामाद्युपायरूपा नीतिरस्मि'। अर्थात् जीतनेकी इच्छा रखनेवालोंकी साम दान आदि उपायरूप नीति मैं ही हूँ। तात्पर्य यह है कि 'नीति' शब्दका अर्थ यहाँ साम, दान, दण्ड और भेद-रूप शास्त्रविहित राजनीति है। जो लोग ग्राह्य शत्रुको पराजित करना चाहते हैं, वे यदि शास्त्रानुकूल नीतिका—धर्मानुकूल नीतिका पालन नहीं करते हैं तो उन्हें विजय नहीं मिल सकती है, यदि किसी प्रकार मिल भी जाय तो वह विजय लोकदृष्टिमें निन्दित होनेके कारण संसारमें कीर्ति देनेवाली नहीं होती। धर्मसे रहित होनेके कारण परलोककी प्राप्ति भी नहीं हो सकती है। परंतु धर्मानुकूल नीतिसे जो विजयश्री उपलब्ध होती है, वह लोकमें यश तथा परलोकमें सद्गति प्राप्त करानेवाली होती है। काम, क्रोध और लोभ आदि आभ्यन्तर शत्रुओंको जीतनेके लिये तो शास्त्रानुकूल—धर्मानुकूल नीतिका पालन अनिवार्य ही है।

परम भागवत श्रीअङ्गदजी रावणकी सभामें जाकर उसका मान-मर्दन करके अपने परम कृपालु स्वामी मर्यादापुरुषोत्तम रघुनन्दन श्रीरामचन्द्रजीके पास आये। तब करुणामय श्रीरामजीने अतिशय भावपूर्ण शब्दोंमें प्रश्न किया—हे वालिनन्दन! मुझे अत्यन्त आश्चर्य है, इसलिये हे तात! मेरे प्रश्नका सत्य-सत्य उत्तर दो कि जिसके असीम बलकी संसारमें प्रसिद्धि है, जो राक्षस-कुलमें शिरोमणि है, उस महाबलवान् रावणके चार मुकुट तुमने मेरे पास फेंक दिये। हे वत्स! उन्हें तुमने किस प्रकार प्राप्त किया?

बालितनय कौतुक अति मोही। तात सत्य कहु पूछउँ तोही॥
रावनु जातुधान कुल टीका। भुज बल अतुल जासु जग लीका॥
तासु मुकुट तुम्ह चारि चलाए। कहहु तात कवनी बिधि पाए॥
(श्रीरामचरितमानस ६।३८।५-७)

श्रीअङ्गदजीने भगवान् श्रीरामके प्रश्नका उत्तर बड़ी चतुरता एवं भक्तिपूर्ण वचनोंसे दिया—हे सर्वज्ञ! हे भक्तसुखकारी! ये चारों मुकुट मुकुट नहीं हैं, ये तो राजाके चार गुण साम, दान, दण्ड और भेद हैं। हे नाथ! वेद कहते हैं कि ये चारों गुण राजाके हृदयमें निवास करते हैं। हे प्रभो! ये नीति-धर्मके मङ्गलमय चार चरण हैं। आपके मङ्गलमय श्रीचरण नीतिधर्मसे सुशोभित हैं, ऐसा समझकर ये चारों श्रीमान्के पास आये हैं। हे कमलनेत्र! सुनिये दशग्रीव रावण धर्मसे रहित है, वह जीवमात्रके परमाराध्य आपके श्रीचरणोंसे विमुख है और कालके वशमें है इसलिये ये चारों दिव्य गुण रावणका परित्याग करके आपके चरणोंमें आये हैं—

सुनु सर्बग्य प्रनत सुखकारी। मुकुट न होहिं भूप गुन चारी॥
साम दान अरु दंड बिभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा॥
नीति धर्म के चरन सुहाए। अस जियँ जानि नाथ पहिं आए॥

धर्महीन प्रभु पद बिमुख काल बिबस दससीस।
तेहि परिहरि गुन आए सुनहु कोसलाधीस॥
(श्रीरामचरितमानस ६।३८।८—१०, दोहा ३८ (क))

तात्पर्य यह है कि जो धर्महीन है और भगवच्चरणोंकी भक्तिसे रहित है, उसके पास नीतिके प्रधान चार गुण साम दान, दण्ड और भेद नहीं रहते हैं। नीति—सुदृढ नीति तो

श्रीठाकुरजीके भक्तके पास ही रहती है। श्रीमद्भगवद्गीताके अन्तम दिव्यदृष्टि-सम्प्राप्त श्रीसजय कहते हे—

यत्र योगश्वर कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धर ।
तत्र श्रीर्विजया भूतिर्धुवा नीतिर्मतिर्मम॥
(१८।७८)

'मतिर्मम' का भाव यह है कि यह मेरा अपना व्यक्तिगत बुद्धिवैभव हे अर्थात् श्रीसजयसे धृतराष्ट्रने सम्भवत कहा होगा कि हे सजय! तुम यह निर्णय करो कि इस समुपस्थित महाभारतके युद्धमे अन्तत विजयश्री किसका वरण करगी? मरा तो प्राय यही विश्वास है कि सुयोधनका पराक्रम प्राय सफल होता हे, और यदि पाण्डवोक सैन्यबलके साथ तुलना की जाय तो मरे पुत्र सुयोधनकी सना भी डेढ गुनी हे। अत मैं तो यही समझता हूँ कि अन्तम विजय उसकी ही हागी। फिर भी इस विषयम तुम्हारा अपना क्या विचार ह, यह मुझ बताओ। उसके उत्तरम श्रीसजय कहते हैं कि मेरी बुद्धि तो यह कहती है कि यागश्वर वसुदवनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र जिसके पक्षम है आर जिसके पक्षम पृथानन्दन, एकमात्र श्रीकृष्णचन्द्रके चरणयुगलका आश्रय लनेवाले गाण्डीवधारी अर्जुन हैं वहीं श्री, विजय, विभूति आर ध्रुवा—निश्चल नीति है। 'ध्रुवा नीति' अर्थात् नीतिम दृढता होनी चाहिये।

नीति विजय आर बलका सम्मिलित रूप ही विजय प्राप्त करनेम समर्थ हो सकता ह। इस भावकी पुष्टिके लिये महाभारतका एक आख्यान प्रस्तुत है। उसका मनोयागपूर्वक मनन कर—

एक बार धर्मराज श्रीयुधिष्ठिर राजसभाम विराजमान थे। अनेक आचार्य कुलवृद्ध, अनेक मुनि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव सजातीय लोग सम्बन्धीगण और कुटुम्बी लोग उपस्थित थे। श्रीधर्मराजने सबके सामने अपन जीवन-सर्वस्व श्रीकृष्णचन्द्रसे कहा—'हे गोविन्द! मेरी अभिलाषा है कि सर्वश्रेष्ठ राजसूय यज्ञके माध्यमसे आपका ओर आपके परम पावन विभूतिस्वरूप दवताआका यजन करूँ। हे स्वामिन्! आप अनुग्रहपूर्वक मेरे इस सत्सकल्पका सम्पादन करे'—

क्रतुराजेन गोविन्द राजसूयेन पावनी ।
यक्ष्ये विभूतीर्भवतस्तत् सम्पादय न प्रभो॥
(श्रीमद्भा० १०।७२।३)

श्रीकृष्णचन्द्रने कहा—'हे शत्रुदमन! आपका विचार अत्यन्त श्रेष्ठ है। निश्चय ही राजसूय यज्ञक अनुष्ठानसे आपकी कल्याणी कीर्तिका समस्त लोकाम विस्तार हागा'—

सम्यग् व्यवसित राजन् भवता शत्रुकर्शन।
कल्याणी येन ते कीर्तिर्लोकाननुभविष्यति॥
(श्रीमद्भा० १०।७२।७)

श्रीयुधिष्ठिरने कहा—'हे मधुसूदन! मात्र मरी चाहस ही कार्य सम्पन्न नहीं हा सकता है। अन्य यज्ञासे राजसूय यज्ञ श्रेष्ठ है, परतु उसे सम्पन्न करनेके लिय कर्ताम विशेष योग्यता होनी चाहिये। जो राजा सर्वमान्य हा, सर्वेश्वर हो वही राजसूय यज्ञ सम्पन्न कर सकता ह'—

यस्मिन् सर्वं सम्भवति यश्च सर्वत्र पूज्यते।
यश्च सर्वेश्वरो राजा राजसूय स विन्दति॥
(महाभारत सभापर्व १३।४७)

श्रीकृष्णचन्द्रन कहा—देशक वीरशिरामणि आपका गौरव मानकर युद्ध नहीं करगे, परतु महान् शक्तिसम्पन्न जरासन्ध जवतक जीवित हे तबतक आपका राजसूय यज्ञ सम्पन्न नहीं हागा—

न तु शक्य जरासन्धे जीवमाने महाबले।
राजसूयस्त्वयावाप्तुमेषा राजन् मतिर्मम॥
(महाभारत सभापर्व १४।६२)

श्रीकृष्णचन्द्रकी यथार्थ बात, नीतिपूर्ण बात श्रवण करक श्रीयुधिष्ठिरने कहा—'हे केशव! मेरे लिये समस्त कार्योंम आप ही प्रमाण हैं।' महाबलवान् आर परम वाक्य-विशारद श्रीभीमसेनने कहा—'हे महाराज! जो व्यक्ति अतन्द्रित होकर युक्ति और नीतिसे कार्य करता हे, वह दुर्बल होकर भी बलवान् शत्रुक ऊपर विजय प्राप्त कर लेता है और अपना हित तथा अभीष्ट उपलब्ध करता है'—

अतन्द्रितश्च प्रायेण दुर्बलो बलिन रिपुम्।
जयेत् सम्यक् प्रयोगेण नीत्यार्थानात्मना हितान्॥
(महाभारत सभापर्व १५।१२)

इसके पश्चात् श्रीभीमन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात कही है, जिसम नीतिके महत्त्वका प्रतिपादन किया गया है। उन्हाने कहा—'हे भ्रात! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रम नीति है, मुझम बल हे आर मेरे अनुज अर्जुनम विजयकी शक्ति है। हम तीना सम्मिलित प्रयास करके मगधनरेश जरासन्धका विनाश ठीक उसी तरह कर लगे जिस तरह तीनो अग्नियाँ यज्ञका सम्पादन कर लेती हैं'—

कृष्णा नयो मयि बल जय पार्थे धनञ्जये।
मागध साधयिष्याम इष्टिं त्रय इवाग्रय ॥
(महाभारत सभापर्व १५।१३)

नीति-विशारद श्रीकृष्णचन्द्रजीने कहा—'हे राजन्! सम्राट्-पदकी प्राप्तिके लिये शत्रुविजय प्रजापालन तप शक्ति, धनसमृद्धि आर उत्तम नीति—इन पाँच गुणोका राजनीतिशास्त्रम वर्णन ह। हे अजातशत्रो! आपम ये पाँचा गुण विद्यमान हैं।'

इसके अनन्तर पाण्डव-हितैपी श्रीकृष्णचन्द्र जरासन्धके जन्म और पराक्रमकी कथा सुनाकर बोल—'ह कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर! मुझम अनेक प्रकारकी नीतियाँ हैं। धर्मनीति राजनीति, युद्धनीति आदि समस्त नीतियाँ मुझम विद्यमान हैं। भीमसेन महाबली हैं आर अर्जुन नीति तथा बल दोनोकी रक्षा करनेम परम प्रवीण ह। एतावता जेसे तीन प्रकारकी अग्नियाँ यज्ञकी सिद्धि करती हैं उसी प्रकार हम तीनो मिलकर जरासन्धके वधका काय सम्पन्न करके आपको राजसूय यज्ञ करनेकी योग्यता पदान करेगे।'

मयि नीतिर्बल भीमे रक्षिता चावयोर्जय।
मागध साधयिष्याम इष्टि त्रय इवाग्रय ॥
(महाभारत सभापर्व २०।३)

परम नीति-विशारद भगवान् श्रीकृष्णके कहनेका यह तात्पर्य है कि जहाँ शक्ति युक्ति और नीति तीनो एकत्र होती हैं, वहाँ सफलता असदिग्ध ह। केवल नीतिद्वारा अथवा कवल शक्ति तथा युक्तिद्वारा कायमे पूर्ण सफलताकी सम्भावना नहीं हाती है। केवल बल नेत्रहीन और जड है एतावता विचक्षणोका—नीतिनिपुण पुरुपोका कर्तव्य है कि बलका मागदर्शन कर—बलका उचित दिशाम प्रयोग कर—नीतिपूर्वक प्रयोग कर। नीतिनिपुण भगवान् श्रीकृष्णके नीतिपूर्ण वचन सुनकर श्रीभीम तथा श्रीअर्जुन सम्प्रहृष्ट हो गये। श्रीयुधिष्ठिरने भावपूर्ण शब्दाम कहा—'ह गाविन्द! आप जिम प्रकार कहते हैं वह सब उचित है। आप ता मूर्तिमान् यज्ञ हैं। आपका आज्ञा-पालन करनेमात्रसे—आपकी इच्छानुसार कार्य करनसे ही मरा राजसूय यज्ञ पूर्ण हो गया। यज्ञके अन्तरायभूत मगध-नरेश जरासन्धका वध हो गया और उसक बदीगृहम ममस्त राजा मुक्त हो गये एसा मैं हृदयम मानता हूँ—

निहतश्च जरासन्धो मोक्षिताश्च महीक्षित।
राजसूयश्च मे लब्धो निदेशे तव तिष्ठत ॥
(महाभारत, सभापर्व २०।११)

हे जगन्नाथ! हे द्वारकानाथ! मरा पूर्ण विश्वास है कि देवकीनन्दन वासुदेव श्रीकृष्णचन्द्रके बिना पृथानन्दन अर्जुन और पाण्डुनन्दन अर्जुनके बिना दवकानन्दन श्रीकृष्ण नहीं रह सकते हैं। इन दानो कृष्णाक लिये—श्रीकृष्ण आर अजुनके लिये त्रैलोक्यमे कोई भी अजय नहीं ह—

न शौरिणा विना पार्थो न शौरि पाण्डव विना।
नाजेयोऽस्त्यनयोर्लोके कृष्णयोरिति मे मति ॥
(महाभारत सभापर्व २०।१४)

राजेन्द्र श्रीयुधिष्ठिर कहते हैं—'एतावता हम नाति विधानके तत्त्वत परिज्ञाता विश्वविश्रुत महापुरुष श्रीगाविन्दका आश्रय ग्रहण करके कार्यसिद्धिके लिय प्रयत्न आरम्भ करते हैं'—

तस्मान्नयविधानज्ञ पुरुष लोकविश्रुतम्।
वयमाश्रित्य गोविन्द यताम कार्यसिद्धये॥
(महाभारत सभापर्व २०।१८)

हे यदुकुलशिरोमणे! इसी प्रकार सवक लिये यह उचित है कि समस्त कार्यकी मफलताके लिये सभा कार्योंमे श्रीकृष्णका ही चरणाश्रय स्वीकार कर। उनके बलसे ही समस्त कार्य सम्पन्न करे, क्योंकि वे प्रज्ञा नाति बल, क्रिया और उपायसे युक्त हैं—

एव प्रज्ञानयबल क्रियोपायसमन्वितम्।
पुरस्कुर्वीत कार्येपु कृष्ण कार्यार्थसिद्धये॥
(महाभारत सभापर्व २०।१९)

अन्तम धर्मराज श्रीयुधिष्ठिरने कहा—'अर्जुन नातिविशारद श्रीकृष्णका अनुसरण करें और महाबलवान् भामसेन अर्जुनका अनुसरण कर।'

इस प्रकार नीति, विजय और बल तीनो मिलकर पराक्रम कर तो जरासन्ध-वधके कठिन कार्यमें अवश्य सफलता मिलेगी—

अर्जुन कृष्णमन्वेतु भीमोऽन्वेतु धनञ्जयम्।
नयो जयो बल चैव विक्रमे सिद्धिमेष्यति॥
(महाभारत सभापर्व २०।२०)

इस प्रकार नीतिक मूर्तिमान् स्वरूप अनुग्रह-विग्रह श्रीकृष्णचन्द्रजीक साथ श्रीअर्जुन तथा भीमने जरासन्ध जैसे महापराक्रमीका पराजित करके उसके बदीगृहसे राजाओंको बन्धन-मुक्त किया।

~~~~~
~~~~~

नारदजीकी नीतिका अनुसरण आज अत्यन्त अपेक्षित

(पं० श्रीलालबिहारीजी मिश्र)

स्वार्थने आज इस मानवोंको बुरी तरह ग्रस लिया है। दो पैसेके लिये एक आदमी दूसरेकी हत्या कर देता है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रको पीडित करता है। इस तरह आज स्वार्थियोंने हिंसा, द्वेष और उत्पीडनासे विश्वको लुज-पुज बना दिया है। पीडितोंके आर्तनादसे आज कण-कण सिहर उठा है। प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति इस नारकीय स्थितिको बदलकर फिरसे सुख-शान्ति और सौमनस्यको लौटाना चाहता है, किंतु सफलता नहीं मिलती। फिर भी निराशाकी बात नहीं है, क्योंकि देवर्षि नारदकी नीतिका अनुसरणकर हम आज भी पहलेकी तरह विश्वको बचा सकते हैं और सुख-शान्ति एवं सौमनस्यको फिरसे प्रतिष्ठित कर सकते हैं।

इतिहाससे पता चलता है कि पहले विश्व आजकी अपेक्षा अधिक घायल हो चुका था। उस समय नारदकी नीतिने विश्वको बचा लिया था तथा कण-कणमें सुख-शान्ति एवं सौमनस्यको स्थापित कर लिया था।

इतिहासका वह पृष्ठ

उस समय हिरण्यकशिपुकी तानाशाही चल रही थी। वह घोर स्वार्थी था। अपने स्वार्थकी पूर्तिहेतु उसने देवताओं, नागोंकी सत्ताओं एवं सम्पत्तियोंको हथिया लिया था। परंतु उतनेसे उसके स्वार्थकी पूर्ति नहीं हो रही थी क्योंकि वित्तैषणाके साथ लोकैषणाका भी वह शिकार हो चुका था। उस समय लोग आस्तिक थे ईश्वरको महान् मानकर उनकी पूजा करते थे। यह बात हिरण्यकशिपुको कैसे सुहाती। उसने घोषणा कर दी कि ईश्वर मैं हूँ, मुझसे भिन्न कोई ईश्वर नहीं है—'परमेश्वरसंज्ञोऽहं किमन्यो मय्यवस्थिते' (विष्णुपुराण १।१७।२३)।

उसने अपने खूँखार सैनिकोंको आदेश दे दिया कि जो व्यक्ति मुझसे भिन्न ईश्वर एवं उसके विधानको मानता हो उसकी बोटी-बोटी कर जला दो—'सूदयध्वं तपोयज्ञस्वाध्यायव्रतदानिनः' (श्रीमद्भागवत ७।२।१०)। वे सैनिक हमारी पृथ्वीपर भी उतर आये और निरीह मानवोंपर अत्याचार करने लगे। उन्होंने गाँव-के-गाँव, नगर-के-नगर फूँक डाले, गोशालाएँ, बाग-बगीचे खेत-खलिहान टहलनेके स्थान, रत्नादिकी खान, किसानोंकी बस्तियाँ तराईके गाँव सब-के-सब जला दिये।

पुरग्रामव्रजोद्यानक्षेत्रारामाश्रमाकरान्।
खेटखर्वटघोषांश्च ददहुः पत्तनानि च॥
(श्रीमद्भागवत ७।२।१४)

नारदकी वह नीति—अब नारदकी नीतिसे परिचित हो जाना आवश्यक हो जाता है। उनकी इस नीतिको संक्षेपमें 'नयी पीढ़ीका निर्माण करना' कहा जा सकता है। नारदजीने विचार किया कि यदि ईश्वर और उसके विधानको लोग मान लें तो निश्चितरूपसे पृथ्वीपर सौ-सौ स्वर्ग उतार जा सकते हैं क्योंकि ईश्वरका स्वरूप सत्य और प्रेम है। अतः ईश्वर माननेका अभिप्राय होता है सत्य और प्रेमको मानना। प्रेम स्वार्थ नहीं चाहता। वह तो प्रेमास्पदके सुखको अपना सुख एवं उसके दुःखको अपना दुःख मानता है। ऐसी स्थितिमें स्वार्थकी भावना ही समाप्त हो जाती है। यही कारण है कि भगवान्‌के उस विधानको पहले समझाना पड़ता है जिसे समदर्शन कहते हैं—

समत्वमाराधनमच्युतस्य। (वि०पु० १।१७।९०)

समका अर्थ होता है ईश्वर। प्रत्येक वस्तुमें उस ईश्वरको देखना ही समदर्शन है। प्रत्येक जीव ईश्वरका अंश है—आत्मा है। जो ईश्वर मुझमें है वही अन्य प्राणियोंमें भी है। दूसरे शब्दोंमें प्रत्येक जीव दूसरे प्राणीमें भी सम (आत्मा)-रूपमें अवस्थित है। ऐसी स्थितिमें जैसे कोई अपनेको प्यार करता है वैसे ही दूसरेको भी प्यार करता है—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥
(मनुस्मृति १२।९१)

इस समदर्शनसे स्वार्थकी भावना ही मिट जाती है, क्योंकि प्राणी मनसे प्रेम-ही-प्रेम करने लगता है और प्रेम दूसरेके सुखको ही अपना सुख मानता है।

नारदीय नीतिके क्रियान्वयनमें बाधा—अब नारदजीके सम्मुख यह समस्या थी कि ईश्वर एवं समदर्शनके सिद्धान्तको समझायें कैसे? क्योंकि जब ईश्वरको माननेवाले ही मारे जा रहे थे तब ईश्वर और समदर्शनको समझाने और माननेवाले

दोनों ही महान् अपराधी माने जाते और तुरंत मार डाले जाते।

आध्यात्मिक शक्तिसे उस बाधाका परिहार—इस बाधाको देवर्षि नारदने अपनी आध्यात्मिक शक्तिसे हटाया। उन्होंने भीतरी शक्तिसे देख लिया कि हिरण्यकशिपु अभी हजारों वर्षतक तपमें लगा हुआ है, ऐसी स्थितिमें वह युद्ध नहीं कर पायेगा। इस बीच इन्द्र आक्रमण करके अपना सभी सामान वापस ले लेंगे और हिरण्यकशिपुकी पत्नी कयाधूको भी, जो गर्भवती होगी बंदिनी बना लेंगे। कयाधू मारे डरके कुररीकी भाँति रोती-चिल्लाती रहेगी। ठीक यही स्थिति जब आयी तब नारदजी वहाँ उपस्थित हो गये तथा कयाधूका पक्ष लेते हुए देवराज इन्द्रसे बोले कि आप देवताओंके राजा हैं, आप एक साध्वी स्त्रीका अपमान क्यों कर रहे हैं? कयाधूको छोड़ दें। इन्द्रने कहा कि मैं कयाधूकी हत्या नहीं करूँगा बल्कि इसके गर्भस्थ शिशुकी हत्या अवश्य करूँगा, क्योंकि हिरण्यकशिपुका बच्चा भी हिरण्यकशिपु-सा ही लोगोंका संहार कर डालेगा। ऐसी स्थितिमें अरबों मनुष्योंकी जान बचानेके लिये एककी जान लेना अधर्म नहीं है।

देवर्षि नारदने इन्द्रको समझाया कि कयाधूके गर्भमें स्थित बच्चा महाभागवत है। मैंने इसी बालकको नयी पीढ़ीके निर्माणके लिये चुना है। इस नीतिसे शिक्षित यह बालक सारे विश्वमें सुख-शान्ति एवं सौमनस्यकी स्थापना कर देगा। इस तरह आपका साध्य तो सिद्ध हो जायगा और साधन तो शुद्ध ही रहेगा। देवराज इन्द्रने नारदका सम्मान करते हुए कहा कि आपके कहनेसे मैं कयाधूको मुक्त करता हूँ।

देवर्षि नारदके इस उपकारसे कयाधूका कृतज्ञ होना स्वाभाविक था। वह जान चुकी थी कि यदि देवर्षि नारद बीच-बचाव नहीं करते तो मेरा गर्भस्थ शिशु तो बचता ही नहीं। अब देवर्षि नारदको अपनी नीति सफल करनेके लिये यह आवश्यक था कि कयाधू उनके आश्रममें रहे। उन्होंने कयाधूसे अपनी इच्छा प्रकट करते हुए कहा कि तुम मेरे आश्रममें सुरक्षित रहोगी अन्यथा यह घटना फिर हो सकती है। डरी हुई कयाधू नारदजीके विचारोंसे सहमत होकर उनके आश्रममें रहने लगी और उनके उपदेशोंको ध्यानपूर्वक सुनने लगी।

नारदनीतिको मानकर घटनाका प्रयोग—देवर्षि नारदने घटनाएँ सुना-सुनाकर व्याख्यानद्वारा बताया कि हिरण्यकशिपुके अतिरिक्त एक अन्य ईश्वर है। उन्होंने समझाया कि जिसने सूर्य, चन्द्र, ग्रहादि नक्षत्रों एवं तारोंको बनाया वही ईश्वर है। इसके बाद नारदजीने आपबीती घटनाओंको सुनाते हुए बताया कि जगत्‌को बनानेवाले उस ईश्वरको मैंने अपनी आँखोंसे देखा है एवं उनसे पटा भी है। इसके बाद नारदजी रोचक ढंगसे मरीचि अत्रि अंगिरा पुलस्त्य पुलह आदि महर्षियोंकी घटनाएँ सुनाते गये एवं उनकी व्याख्या भी करते गये। इस तरह नारदजीका उपदेश तो एक ही रहा, परंतु सुननेवाले दो थे—कयाधू एवं उसका गर्भस्थ शिशु। कयाधू अपने पतिके अतिरिक्त ईश्वरको मान तो गयी परंतु ईश्वरके रंगमें रँगी नहीं, किंतु गर्भस्थ शिशु बिलकुल ईश्वरके रंगमें रँग गया। जैसे कच्ची मिट्टीके घड़ेपर जो चिह्न लगाया जाता है वह पक जानेपर भी नहीं छूटता, उसी प्रकार गर्भस्थ शिशुपर ईश्वर और समदर्शिताका वह सिद्धान्त सदाके लिये अमिट हो गया। कालान्तरमें पैदा होनेपर यही बालक प्रह्लादके नामसे सुविख्यात हुआ।

इतिहासके पृष्ठ बताते हैं कि देवर्षि नारदकी नीतिसे निर्मित प्रह्लादने विश्वके कण-कणमें सुख शान्ति एवं सामनस्यकी स्थापना की थी। इस तरह पृथ्वीपर सैकड़ों स्वर्ग उतर आये।

नारदजीकी वह नीति आज भी सफल हुई है—यहाँ इस जिज्ञासाका उठना स्वाभाविक है कि क्या नारदकी इस नीतिका प्रयोग आज भी किया गया है? और इसमें सफलता मिली है क्या?

आपको प्रसन्नता होगी कि इसका उत्तर है—हाँ। लगभग ५० वर्षपूर्व इस नीतिका प्रयोग घरों मुहल्लों विद्यालयों एवं गाँवोंमें किया गया था। सभी जगह सप्ताहमें एक बार घटनाओंके माध्यमसे नयी पीढ़ीके निर्माणका प्रयास किया गया था। प्रायः हर जगह सफलता ही मिली। यहाँ मात्र दो उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

(१) उदाहरण—वाराणसी जिलेके अन्तर्गत स्थित

पन्नीपुर स्टेशनसे दक्षिणमें एक गाँव है। यहाँका एक युवक काशी हिन्दू विश्वविद्यालयसे 'ड्राफ्ट्समैन' का कोर्स कर रहा था। वह महीनेमें एक बार राशन लानेके लिये गाँव जाया करता था। उसकी इच्छा हुई कि वह भी गाँवके बच्चोंको प्रह्लाद बनानेके लिये नारदजी नीतिको क्रियान्वित करे। उन्हें घटनाएँ व्याख्याके साथ बतला दी गयीं। करीब चार माहके पश्चात्से ही बच्चोंमें बहुत सुधार हो गया। ये बच्चे माता-पिताको ईश्वरकी मूर्ति समझकर सम्मान करने लगे एवं उनकी प्रत्येक आज्ञाका पालन करने लगे। बच्चोंमें परस्पर प्रेम हो गया। सभी बच्चोंमें समदर्शनभाव आ गया और उनका प्रत्येक पद धर्मके पथपर पड़ने लगा। दूसरे शब्दोंमें ये बच्चे प्रह्लाद ही बन गये थे। गाँवके प्रत्येक व्यक्ति बच्चोंके इस परिवर्तनको स्पष्टरूपसे देख रहे थे।

कुछ महीने बाद नारदजी नीतिका प्रयोग करनेवाले युवककी कहीं अन्यत्र सरकारी नौकरी लग गयी। उसने अपनी नियुक्तिकी बात गाँववालोंको बतायी तो गाँवके लोग उसे छोड़नेके लिये तैयार नहीं हुए और कहने लगे कि आपको सरकारी नौकरीमें जितना पैसा मिलेगा उतना पैसा हम गाँववाले मिलकर देंगे। आगे भी आपको प्रान्तिक हिसाबसे पैसे देते रहेंगे। क्योंकि आपने हमारे बच्चोंमें बहुत परिवर्तन ला दिया है। यदि इसी प्रकारसे इनमें सुधार हुआ तो ये सचमुच प्रह्लाद बन जायँगे।

किंतु उस नवयुवकको कहा गया कि वह अपनी नौकरी न छोड़े बल्कि पहलेकी भाँति हर माह यहाँ आकर बच्चोंको शिक्षित करता रहे। यह राय इसलिये दी गयी कि अपने भविष्यको देखकर वह समाजसेवाका भी कार्य करे।

(२) **उदाहरण**—एक गाँवके लोग आस्तिक थे। वे पूजा-पाठमें लगे रहते थे। सप्ताहमें सब लोग मिलकर अखण्डपाठ या हरिकीर्तन किया करते थे। उन्हें अलौकिक आह्लाद मिलता था। वे यह सोचकर संतुष्ट भी रहते थे कि उनका जीवन सार्थक हो रहा है।

किंतु उस गाँवमें कुछ आधुनिक शिक्षासे शिक्षित युवक भी थे जो कार्लमार्क्सके विचारोंसे प्रभावित थे। कार्लमार्क्सने लिखा है कि ईश्वर और धर्म दुनियाको ठगनेके लिये कुछ स्वार्थियोंके मनगढ़ंत विचार हैं। उसने इनको अफीम कहा है। वस्तुतः ईश्वर नामका कोई पदार्थ है ही नहीं।

ये युवक सामूहिक कीर्तनमें पहुँच जाते थे और आयोजकोंसे कहते थे कि जब ईश्वर नामकी कोई चीज नहीं है तो उसके नामपर इतने समय एवं धनकी बरबादी आप क्यों करते हैं? आप मेरे प्रश्नोंका उत्तर दें।

युवक—क्या आपने ईश्वरको देखा है?

आयोजक—नहीं।

युवक—तो क्या आपके घरके किसी सदस्यने देखा है?

आयोजक—नहीं।

युवक—तो क्या गाँवके किसी व्यक्तिने देखा है?

आयोजक—नहीं।

युवक—तो जिसको किसीने देखा ही नहीं उस झूठी चीजको क्यों मानते हैं? यहाँ गाँवके बहुतसे लोग बैठे हैं इनमेंसे किसीने भी यदि ईश्वरको देखा है तो बताये। उसके बाद गाँवके लोग चुप हो गये। परंतु उन्होंने अपना पूजा-पाठ नहीं छोड़ा व सोचने लगे कि युवकोंके प्रश्नोंका समुचित उत्तर तो मिलना ही चाहिये। उन लोगोंने पूछा कि क्या नारदजीकी नीतिसे हमारे इन युवकोंको संतोष मिल सकता है और उनके तर्कोंको चुप किया जा सकता है? उन्हें बताया गया कि हाँ नारदजीकी नीतिसे उनके तर्कोंको चुप कराया जा सकता है। इन्हें कह दिया जाय कि पंद्रहवें दिन हमलोग मिलकर इस विषयपर फिर विचार करेंगे।

नारदजीकी नीतिका मुख्य माध्यम है—सत्य घटना। उन दिनों तीन ऐसी घटनाओंको प्रायः सभी समाचार-पत्रोंने प्रकाशित किया था जिनकी व्याख्यासे उनके तर्कोंको चुप कराया जा सकता था।

पहली घटना है—दिल्लीके आर्यनिवासमें बाबा गोपालदासद्वारा ईश्वरीय शक्तिसे ईंटको मिस्री बनाना।

दूसरी घटना है—ईश्वरीय शक्तिसे पानीको दूध बनाना एवं उससे घी निकालना।

तीसरी घटना है—ताँबेकी चमचाको सोनेकी चमची बना देना।

उपर्युक्त तीनों घटनाओंका पूरा विवरण प्रायः सभी

समाचार-पत्रोंने प्रकाशित किया था। 'कल्याण' ने भी उक्त घटनाओंको प्रकाशित किया था। यहाँ मैं हिन्दुस्तान टाइम्स एवं सन्मार्गके उद्धरण प्रस्तुत कर रहा हूँ—

हिन्दुस्तान टाइम्स एवं सन्मार्गके उद्धरण—हिन्दुस्तान टाइम्सका प्रतिनिधि लिखता है—

अनुमानतः दो-ढाई मासपूर्व यहाँ एक वैष्णव साधु आये। वे यहाँ (दिल्लीमें) अभी हालतक रहे और यहाँसे वृन्दावन चले गये। उनका नाम बाबा गोपालदास था। वे यहाँ आर्यनिवासमें ठहरे थे। उन्होंने गोपाल (कृष्ण)-का एक चित्र काठकी चौकीपर रख छोड़ा था। उस चित्रके चारों ओर कनरके पुष्प चढ़ाये रखे रहते थे। बाबा गोपालदास उस चौकीके पास ही एक दरीपर बैठे तुलसीकी माला फेरते रहते थे। जो लोग उनके पास जाते वे भी उसी दरीपर बैठ जाते थे। उनके पास जानेवालोंको प्रसादके रूपमें बाबाजी ईंटके छोटे-छोटे टुकड़े गोपालजीकी मूर्तिके सामने आधा मिनट रखकर उठा लेते थे। ईंटके टुकड़े सफेद मिस्रीके टुकड़ोंके रूपमें बदल जाते थे और वे उन मिस्रीके टुकड़ोंको उन लोगोंको दे देते थे जो उनके दर्शनके लिये आते थे। कभी-कभी ईंटके टुकड़े कलाकन्दके रूपमें भी परिवर्तित हो जाते थे। यह किस प्रकार सम्भव होता था यह तो बाबाजी ही जानें या फिर विज्ञानवेत्ता इस कारणको ढूँढ़ निकालें।*

उक्त बाबाजीके पास जर्मन राजदूत, जापानी राजदूत श्रीमावलंकर, श्रीसत्यनारायणसिंह, राय बहादुर लक्ष्मीकान्त मिश्र आदि गये थे। इन्हें भी इसी प्रकारका प्रसाद दिया गया था। जर्मन राजदूतके साथ एक जर्मनी निवासी भी आये थे। उन्होंने तो यह चमत्कार देखकर बाबाजीसे अपना शिष्य बनानेकी प्रार्थना की थी। इन चमत्कारोंके अतिरिक्त तीन अन्य चमत्कार भी विशेष उल्लेखनीय हैं—

पहला यह है कि श्रीयुगलकिशोर बिड़लाने ताँबेकी एक चमची केलेके हरे पत्तेमें लपेटकर अपने हाथमें ली और वे बाबाजीके कहनेके अनुसार सूर्यके सामने खड़े हो गये। बाबाजी भी पासमें खड़े कुछ मन्त्र जपते रहे। दो-तीन मिनट बाद ही चमची निकाली गयी तो सोनेकी बन गयी थी। अभीतक वह चमची श्रीबिड़लाजीके मुनीम श्रीडालूरामजीके पास उसी आर्यभवनमें रखी है।

दूसरा यह हुआ कि मिस्रीके प्रसादका वृत्तान्त सुनकर एक महाशयने बाबाजीके पास जानेवालोंमेंसे किसीको यह बात कह दी कि हम तो बाबाजीकी मन्त्रसिद्धि तब मानें जब कि वह पूरी-की-पूरी एक नम्बरी ईंटको मिस्रीकी ईंट बना दें। यह बात बाबाजीसे कही गयी तो बाबाने कहा कि 'गोपालजीकी कृपासे मिट्टीकी ईंटके टुकड़े मिस्रीके टुकड़े बन जाते हैं तो पूरी ईंट मिस्रीकी बन जाना कौन-सा बड़ी बात है।' अतएव १८ सितम्बर, बृहस्पतिवारकी रात्रिको ८ बजे श्रीबिड़लाजी तथा कई अन्य सज्जनोंके सामने एक नम्बरी ईंट मँगायी गयी और धो-पोंछकर एक सज्जनके हाथसे काष्ठकी एक चौकीपर केलेके पत्तेसे लपेटकर रखवा दी गयी। (तीन-चार मिनटतक बाबाजी कुछ मन्त्र जपते रहे) फिर उस ईंटको उठाया गया तो केलेके पत्तेमेंसे एकदम श्वेत मिस्रीकी ईंट निकली। वह ईंट श्रीयुगलकिशोरजी बिड़लाके पास आज भी रखी हुई है। ये दोनों चीजें तो मौजूद हैं, कोई भी देख सकता है।

तीसरी अद्भुत घटना मैंने स्वयं आँखोंसे देखी है। उस समय बाबू युगलकिशोरजी बिड़ला, गायनाचार्य पण्डित रमेशजी ठाकुर तथा 'नवनीत'के सम्पादक श्रीगोपालजी नेवटिया उपस्थित थे। किसीने बाबाजीसे कहा कि आपने पानीको जो दूध बनाया था उसमें उस दिन कई लोगोंको संतोष नहीं हुआ। इसपर बाबाजी बहुत ही हँसे और बोले—'उन लोगोंकी श्रद्धाकी शायद परीक्षा की गयी होगी।' उसके बाद बाबाजीने कहा—'अच्छा एक काठ पट्ट बाहर रखो और उसपर अपनी यह बाल्टी रख दो।' बाबाजीने जैसा कहा वैसा ही किया गया। बाबाजीने जो चादर ओढ़ रखी थी वह भी उतार दी और एक कौपीन तथा उसपर एक तौलिया ही रखकर स्वयं दूर खड़े हो गये एवं सबको कह दिया कि—'उस बाल्टीको फिर एक बार अपनी आँखोंसे देख लो।' सबने वैसा ही किया। बाबाजीने

* चमत्कारकी इन घटनाओंको लिखा गया है यद्यपि यह सत्य है परंतु आजकलके समयमें ठग और धूर्त अधिक हैं इसलिये ऐसे चमत्कारी घटनाओंसे अवश्य सावधान रहना चाहिये।

एक आदमीसे कहा कि 'तुम इस पटरपर बाल्टीके पास बैठकर मन्त्रका जप करते रहो।' फिर बाबाजी भी उस बाल्टीके पास बैठकर मन्त्रका जप करते रहे। तदनन्तर उन्होंने बाल्टीमेंसे एक कटोरी पानीकी भरी। सबको वह पानी दिया गया। सबने कहा कि यह तो पानी ही है। फिर बाबाजी श्रीगोपालजीकी मूर्तिके पास जाकर बैठ गये और वह बाल्टी अपने पास मँगा ली। बाल्टी गमछेसे ढक दी और एक लाल फूल जो गोपालजीकी मूर्तिपर चढ़ा था अपने हाथसे बाल्टीमें डाल दिया। उसके बाद जब गमछा हटाया गया तो एक दम सफेद दूध देखनेमें आया। सबको एक-एक कटोरा दूध दिया गया। शेष दूध बिरला भवन पहुँचाया गया जो अनुमानतः ढाई सेर था। वह दूध गर्म करके जमाया गया और दूसरे दिन उसमेंसे मक्खन निकाला गया।

विज्ञानको खुली चुनौती—बाबाजीकी सिद्धियोंके ऐसे ही अनेक चमत्कार गोस्वामी गणेशदत्तजीने सुनाये। अबतक मुझे मन्त्रसिद्धिका चमत्कार देखनेका कोई अवसर नहीं मिला था परंतु ये चमत्कार अपनी आँखोंसे देखकर मुझे पूर्णतया विश्वास हो गया। साथ ही एक प्रकारका विस्मय भी उत्पन्न हो गया। इसी विस्मयके कारण आधुनिक विज्ञानवेत्ताओंसे यह निवेदन है कि वे भी ऐसे ही चमत्कार अपने विज्ञानद्वारा कर दिखायें और यदि दिखानेमें समर्थ न हों तो भारतीय [illegible] मन्त्रसिद्धिकी महत्ता स्वीकार करें क्योंकि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible]

परिवर्तित कर दिया था। उस चित्रमें ईंटके पार्श्वभागमें शास्त्रार्थ-महारथी श्रीमाधवाचार्य, महापण्डित दीनानाथजी शास्त्री सारस्वत और पिलखुआके निवासी प्रसिद्ध समाजसेवी भक्त रामशरणदासजीके भी चित्र हैं। अब इस गाँवके कुछ बालकोंको इन उद्धरणोंको पूरे विवरणके साथ याद करा दिया गया। दूसरे बालकको उन घटनाओंके माध्यमसे उत्तर देनेके लिये पंद्रहवें दिन पूरे गाँवके लोग एकत्र हुए और उन दो बालकोंको उनके बीच खड़ा किया गया। अब पूर्वपक्ष रखनेवाले बालकने उत्तरपक्षी बालकसे पूछा—

क्या आप ईश्वरको मानते हैं?

उत्तरपक्षी—हाँ।

पूर्वपक्षी—क्या आपने ईश्वरको देखा है?

उत्तरपक्षी—नहीं।

पूर्वपक्षी—आपने नहीं देखा तो आपके घरके किसी सदस्यने ईश्वरको देखा है?

उत्तरपक्षी—नहीं।

पूर्वपक्षी—तो क्या गाँवके किसी व्यक्तिने देखा है?

उत्तरपक्षी—नहीं।

पूर्वपक्षी—जिस ईश्वरको किसीने नहीं देखा है उस ईश्वरको आप कैसे मानते हैं?

उत्तरपक्षी—क्या आप हवाको मानते हैं?

पूर्वपक्षी—हाँ।

उत्तरपक्षी—तो क्या आपने हवाको देखा है?

पूर्वपक्षी—नहीं।

उत्तरपक्षी—तो क्या आपके घरके किसी सदस्यने हवाको देखा है?

पूर्वपक्षी—नहीं।

उत्तरपक्षी—तो क्या गाँवके किसी व्यक्तिने देखा है?

पूर्वपक्षी—नहीं।

उत्तरपक्षी—जिस हवाको किसीने नहीं देखा है [illegible]

[illegible]

धूलके कण लाती है, पेड़ोंको भी गिरा देती है। इन घटनाओंके माध्यमसे अदृश्य हवाको हम मानते हैं।

उत्तरपक्षी—इस घटनात्मक पद्धतिसे हम अदृश्य ईश्वरको माननेके लिये बाध्य हैं जिसकी दी हुई शक्तिसे गोपालदास बाबाने ईंटको मिस्री बना दिया, पानीको दूध बना दिया। इन घटनाओंके माध्यमसे ईश्वरकी सत्ताको स्वीकार करना पड़ेगा।

इसके बाद उत्तरपक्षी बालक समाचारपत्रकी इन घटनाओंको पढ़कर फिर सुनाता है।

पूर्वपक्षी—हम इन घटनाओंको झूठी मानते हैं।

उत्तरपक्षी—बिना जाँच-पड़ताल किये किसी घटनाको झूठ कहनेका अधिकार आपको नहीं है।

आप पत्रके उद्धरणमें सुन चुके हैं। ये घटनाएँ विदेशी राजदूतों और देशके प्रतिष्ठित लोगोंके सामने घटित हुई हैं। और नकरी ईंटकी बनी मिस्री, घी, चमची आदि वस्तुएँ आज भी चलकर देखी जा सकती हैं। आर्यनिवासमें उन्हें सँजोकर रखा गया है। सभी लोग देख सकते हैं।

अब नवयुवक बोले—हवाको तो हम इसलिये मानते हैं कि देहमें टकराने आदिकी घटनाएँ जो वह घटाती हैं, उनका हम अनुभव करते हैं।

उत्तरपक्षी बालकने कहा—यदि घटनाएँ सत्य हैं तो उनके आधारपर हम दूसरोंके अनुभवोंसे भी लाभ उठाते हैं। कार्लमार्क्सने इतिहासको प्रमाण माना है। इतिहासका अर्थ होता है बीती हुई सत्य घटना—(इति=एसा, ह=निश्चय ही, आस=हुआ था)।

दक्षिणी ध्रुवको यहाँ उपस्थित लोगोंमेंसे किसीने नहीं देखा। एक बलिदानी आप्त पुरुषने उसे देखा था और आज तो सभी देशके लोग वहाँ जाते हैं। हम उन्हींके अनुभवोंके आधारपर दक्षिणी ध्रुवको मानते हैं। विष खानेसे मनुष्य मर जाता है, यह सत्य सभी लोग मानते हैं। यह मान्यता भी बताती है कि हम दूसरेके अनुभवोंसे भी सत्यका स्वीकार करते हैं।

गाँववालोंने नवयुवकोंसे कहा कि हमलोगोंमेंसे कुछ लोग जाकर मिस्री आदिको देखें। राजदूतोंसे भी मिलें जिन्होंने उस घटनाको देखा है।

इसके बाद उस गाँवमें किसीने ईश्वरके विरुद्ध आवाज नहीं उठायी।

इस तरह देवर्षि नारदकी नीतिसे आज सत्य और असत्यका विवेक तथा नयी पीढ़ीका निर्माणकर फिरसे सुख, प्रेम, शान्ति और सौमनस्यकी स्थापना की जा सकती है।

अन्तमें निवेदन है कि पहले ऐसी घटनाएँ बच्चोंको सुनायी जायँ और फिर उन घटनाओंमें छिपे नीति-तत्त्वको उन्हें समझाया जाय तो निश्चित ही उनका चरित्र-निर्माण हो सकता है। नारदीय नीतिसे नयी पीढ़ीका निर्माण हो सकता है।

'बोलै नहीं तो गुस्सा मरै'

एक घरमें स्त्री-पुरुष दो ही आदमी थे वे दोनों आपसमें नित्य ही लड़ा करते थे। एक दिन स्त्रीने अपनी पड़ोसिनके पास जाकर कहा—'बहिन! मेरे स्वामीका मिजाज बहुत चिड़चिड़ा है, वे जब-तब मुझसे लड़ते ही रहते हैं, इससे हमारी बनी-बनायी रसोई बेकार चली जाती है।' पड़ोसिनने कहा—'अरे! इसमें कौन-सी बात है! मेरे पास एक ऐसी अचूक दवा है कि जब तुम्हारे पति तुमसे लड़ें तब तुम उस दवाको अपने मुँहमें रख लिया करो, बस, वे तुरत चुप हो जायँगे।' पड़ोसिनने शीशी भरकर दवा दे दी। उस स्त्रीने दो-तीन बार पतिके क्रोधके समय दवाकी परीक्षा की और उसे बड़ी सफलता मिली। अब तो उसने खुशी-खुशी जाकर पड़ोसिनसे कहा—'बहिन! तुम्हारी दवा तो बड़ी कीमिया है! उसमें क्या-क्या चीजें पड़ती हैं, बता दो तो मैं भी बना लूँ।' पड़ोसिनने हँसकर कहा—'बहिन! शीशीमें साफ जलके सिवा और कुछ भी नहीं था। काम तो तुम्हारे मौनने किया। मुँहमें पानी भरा रहनेसे तुम बदलेमें बोल नहीं सकी और तुम्हें शान्त पाकर उनका क्रोध भी जाता रहा। बस, *'एक मौन सब दुख हरै, बोलै नहीं तो गुस्सा मरै।'*

नीतिरस्मि जिगीषताम्

नीतितत्त्व-विमर्श

'नीति' शब्दका व्युत्पत्तिमूलक अर्थ और उसकी व्यापकता

(आचार्य डॉ० श्रीजयमन्तजी मिश्र पूर्वकुलपति)

नीयन्ते प्राप्यन्त लभ्यन्ते अवगम्यन्ते धर्मार्थकाममोक्षोपाया अनया अस्या वा इति नीति । 'णीञ् प्रापणे' इस प्राप्त्यर्थक णी (नी) धातुसे करण तथा अधिकरणमे 'क्तिन्' प्रत्ययके यागसे 'नीति' शब्द निष्पन्न होता हे। धर्म-अर्थ तथा काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थो तथा इन्ह प्राप्त करनेके उपायाका निर्देश जिसके द्वारा अथवा जिसम होता है, उसे 'नीति' कहते हैं। इस तरह मानव-जीवनके लक्ष्यकी सिद्धिम नीतिके द्वारा ही उचित मार्गका निर्देश होता है। मानव यदि नाति-वचनाके अनुसार व्यवहार करता है तो अपना अभीष्ट फल प्राप्त करता हे और यदि नीति-विरुद्ध आचरण करता है तो असफल हो जाता है। यह अनुभवसिद्ध है।

विषयकी दृष्टिसे नीतिका मुख्यत दो वर्गोमे विभाजित किया गया है। एक राजनीति जिसे दण्डनीति भी कहते हैं तथा दूसरी धर्मनीति। अर्थ एव कामविषयक नीतिको राजनीति तथा धर्म और मोक्षविषयक नीतिको धर्मनीति माना गया ह। राजनीतिके अन्तर्गत ही कूटनीति तथा साम दान, दण्ड और भद-नीति एव सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव एव समाश्रयरूप—इन षड्विध प्रयागात्मक नीतियाका भी समावेश हुआ हे। लोकनीतिके कुछ भाग धर्मनीतिम और कुछ अश राजनीतिम आ जाते हैं। अत साधारणत नीतिक दा ही वर्ग माने जाते हैं राजनीति तथा धर्मनीति।

भारतीय दर्शन तत्त्वत अनेकताम एकताको देखता है। इस तरह मौलिक रूपम राजनीतिका भी अन्तर्भाव धर्मनीतिमे हा जाता है। इसीलिये राजनीतिको राजधर्म भी कहा गया है। श्रीमद्भगवद्गीताक दसवें अध्यायम भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने अपनी विभूतियाके वर्णन-प्रसगम 'नीतिरस्मि जिगीषताम्' कहा है। इस भगवन्नीतिरूप धमनीतिके अनुपालनसे सासारिक एव पारलौकिक अभ्युदय और सच्चिदानन्दकी उपलब्धि—नि श्रेयस दानाकी प्राप्ति [illegible] है। अत मानव-जीवनम धर्मनीतिके अनुसरणका [illegible] महत्त्व है।

व्यक्ति अपन जीवनमे जब चौराहेपर खडा होकर गन्तव्य स्थलतक पहुँचनेके लिये उचित मार्गका निश्चय नहीं कर पाता तब नीतिके उपदेश उसे सही मार्गका निर्देश देत है और उस मार्गका अनुसरण ही उसकी लक्ष्य-सिद्धिमे अद्वितीय साधन बन जाता है।

भारतीय मनीषियोका सिद्धान्त है कि वर्तमान जीवन पूर्वजन्मोपार्जित कर्मोका परिणाम है और इस जीवनके कार्य-कलाप भावी जीवनके निर्माणके असाधारण कारण है। अत भविष्यम मधुर फल खानके लिय वतमानमें तदनुरूप बीजारापण आवश्यक है। नीतिके द्वारा [illegible] अनुरूप बीजका निर्देश प्राप्त होता है। अतएव आदि[illegible] ही मानवको सही मार्ग दिखलानेके लिय नीति-[illegible] प्रतिपादन होता आ रहा है। इस तरह [illegible] वाङ्मयम नीति-वचनाका बृहद् भण्डार है। [illegible] उपदेशोके शतश सग्रह हें।

एक ओर वैदिक सस्कृत-[illegible] विशाल भण्डार है और दूसरी [illegible] रामायण तथा महाभारत-[illegible] वचनामृतकी विभिन्न [illegible] सागर अनुस्यूत है।

नीति-वचनोंके [illegible] हैं। वाल्मीकीय [illegible] मग्रहाके अतिरिक्त '[illegible] नीति-वचनोंके [illegible] अध्[illegible]-वचन 'विदुर[illegible] [illegible]

नीति-वचन 'पञ्चतन्त्र', 'हितोपदेश' आदि नीति-ग्रन्थाम उद्धृत है। इन ग्रन्थोमे खग, मृग आदि जीव-जन्तुओक माध्यमस नीतिकी ही शिक्षा दी गयी है। महामनीषी चाणक्यने अपन प्रसिद्ध 'कौटिलीय अर्थशास्त्र'म नीति-वचनाको अनुस्यूत किया है। तदतिरिक्त 'चाणक्य-नीति', 'चाणक्य-नीतिदर्पण', 'चाणक्य-नीतिसूत्र' आदिम उनक नीति-वचन सगृहीत हैं।

शुक्राचार्यकी 'शुक्रनीति', 'कामन्दकीय नीतिसार' कामदेवक्षेमेन्द्रकृत 'नीति-कल्पतर', सोमदेवसूरिका 'नीतिवाक्यामृत', भर्तृहरिका 'नीतिशतक', चण्डेश्वर ठाकुरका 'राजनीति-रत्नाकर' विद्यापतिकृत 'पुरुषपरीक्षा', द्या द्विवेदकी 'नातिमञ्जरी' आदि प्रत्यक्षत नीतिके निर्देशक ग्रन्थ हैं।

इनक अतिरिक्त शिक्षा, मन्त्रणा, हित, परामर्श, व्यावहारिक ज्ञान आदिके उपदेशद्वारा परोक्षत नीतिके शतश ग्रन्थ हैं, जो नीत्युपदेश-काव्यकी कोटिमें आत हैं।

नीतिकाव्य तथा नीत्युपदेश-काव्यके बीच विभाजक रेखा अत्यन्त सूक्ष्म है, जिसस दोनाका दो वर्गोंम बाँटन कठिन है। फिर भी स्थूल दृष्टिस विवेचकाने इनका विभाजन किया है। मानव-जीवनके हित और अहितक साक्षात्-प्रत्यक्षत प्रतिपादक नीति-वचनाको नीति-काव्य माना गया है आर परोक्षरूपसे कर्तव्याकर्तव्यक निर्देशक उपदेशात्मक नीति-वचनाको नीत्युपदश-काव्य कहा जाता है।

नीत्युपदशात्मक काव्यकी रचना विभिन्न शैलियामें की गयी है, यथा—कहीं दम्पतियाक परिसवादम, कहीं दो पशुआके आलापम, कहीं पार्वती-परमेश्वरक परिसवादमें कहा अन्योक्ति-रूपम, कहीं प्रहलिका आदिक रूपमें।

नाति-काव्य या नीत्युपदेश-काव्य सबका उद्देश्य एक ही है। इनम कहीं प्रभुसम्मित वाक्यद्वारा, कहीं सुहृत्सम्मित वाक्यक माध्यमसे और कहीं कान्तासम्मित वाक्यके रूपम सन्मार्गपर निरन्तर चलनेका निर्देश किया गया हे जिसका अनुपालन करनेसे मानव अपन पुरुषार्थकी सिद्धिम सफल हो सकता है।

नीतितत्त्व-विमर्श

(आचार्य श्रीमुरलीधरजी पाण्डेय डी० लिट्०)

नीति, नय और न्याय—ये तीनो समानार्थक शब्द हैं, तीनाकी व्युत्पत्ति भी समान ही है। ये तीनों एक धातुसे ही निष्पन्न हैं, केवल प्रत्यय भिन्न-भिन्न हैं। प्रत्यय-भेदस तीनाक अर्थोंम साधारण भेद हो जाता है जिसको लेकर व्यवहारम आंशिक भेद लक्षित होता है। किसी वस्तुके ले जाने या पहुँचाने अथवा प्राप्त करनेके अर्थमे णीञ्—नी धातुसे 'नीयतऽनया विद्यया' इस विग्रहम करण अर्थम (बाहुलकात्) क्तिन् प्रत्यय करनपर नीति शब्द बनता है जिसका अर्थ होता है—जिस विद्याके द्वारा अपन अभीष्ट अर्थपर पहुँचा जाय अथवा अपने अभीष्ट प्रयोजनकी प्राप्ति जिस विद्यासे हो वह नीति है। जैसा कि महाकवि माघने कहा है—'नीतिरापदि यद् गम्य परस्तन्मानिनो ह्रिये' (शिशुपालवध २।६१)

'नय' शब्दमें भी णीञ्—'नी' धातु है। 'नयति य स' इस विग्रहमें कर्तृ अर्थमें अच् प्रत्यय करनेपर 'नय' बनता है। अर्थात् अभीष्ट अर्थ या प्रयोजनतक जो पहुँचा देता है वह नय है। इसका भाव यह है कि जिस पद्धतिसे जिस सिद्धान्तस, जिस निर्णयसे अथवा जिस मार्गस अभीष्ट अर्थतक पहुँचा जाय वह नय है।

महाकवि भारविने अपने 'किरातार्जुनीय' महाकाव्यमें यही कहा है—

> विषमोऽपि विगाह्यते नय कृततीर्थ पयसामिवाशय ।
> स तु तत्र विशेषदुर्लभ सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्म य ॥
> (२।३)

जिस प्रकार अच्छा सोपान बन जानेपर विषम जलाशयम प्रवेश करना सुगम हो जाता है उसी प्रकार अच्छे नय या नीतिके अपना लेनेपर विषम परिस्थिति भी सरल बन जाती है। भगवान् विष्णुको भी नय कहा गया है—'रामो विरामो विरजो मार्गो नेयो नयोऽनय' भगवान् विष्णु भक्ताको ससारस पार पहुँचा देते हैं—'नयति ससारपार भक्तम् इति विष्णु'। 'विष्णुसहस्रनाम'में भगवान्का एक नाम 'न्याय' भी है—

अग्रणीर्ग्रामणी श्रीमान्न्याया नेता समीरण ।
(३७)

इसी प्रकार न्याय शब्दकी भी व्युत्पत्ति है—'**नीयन्ते निर्धार्यन्ते प्रमाणैरर्थो येन स न्याय ।**' अर्थात् विवाद-स्थलम प्रमाणाके द्वारा जिस प्रकारके सिद्धान्त—सही अर्थका निधारण किया जाता है वह प्रकार ही न्याय है। इस न्यायकी निष्पत्ति तीन प्रकारसे की जाती है—(१) नि उपसर्ग इण् गतौ धातुसे घञ् प्रत्यय करके, (२) नि उपसर्ग अय गतौ धातुस तथा (३) कवल णीञ्—नी प्रापणे-गतौ धातुसे घञ् प्रत्यय करक। भगवत्पाद आद्यशकराचार्यजीने बृहदारण्यकोपनिपद्भाष्यम यही बात कही है—'**अयनम् आय नियमेन आय न्याय । नियमपूर्वक गमन ज्ञानमिति॥**' यथा—'**प्रतिन्याय प्रतियान्या द्रवति स्वप्रान्तायैव**' (७।३।१६) इसकी व्याख्या भामतीम भी है। वहाँ भी यही स्पष्ट किया गया है। न्यायवार्तिकभाष्यम लिखा ह—'**प्रमाणैरर्थपरीक्षण न्याय ।**' न्यायवार्तिककी शब्दावली यह है—'**समस्तप्रमाणव्यापारादर्थाधिगतिर्न्याय ।**' न्यायकोषम कहा है—'**वदार्थनिणयसाधनमधिकरणात्मक पदार्थ न्याय ।**' इस अन्तिम अर्थको ध्यानम रखकर पूवमीमासा-शास्त्र जैमिनाय मीमासा-शास्त्रको न्यायशास्त्र कहत हैं। उत्तरमीमासा—वेदान्तको अथवा वयासिकशास्त्रका भी न्याय कहते हैं। इसीलिये श्रीमाधवाचार्यजीने जैमिनीय शास्त्रके न्यायाको एकत्र करके जैमिनीय न्यायमाला तथा वैयासिकशास्त्रके न्यायाका एकत्र करक वयासिकन्यायमाला ग्रन्थाकी रचना की है। इन दाना शास्त्राम अधिकरण होत हैं। अधिकरणमे किमाके मतसे पाँच अङ्ग ओर किसीके मतसे छ अङ्ग होते हैं—

विपया विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।
सङ्गतिश्चति पञ्चाङ्ग शास्त्रऽधिकरण स्मृतम्॥

आर—

विपया विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।
निर्णय सङ्गतिश्चेति शास्त्रेऽधिकरण स्मृतम्॥

—इन दोनो मीमासा-शास्त्राम शास्त्रीय विवाद उत्पन्न होनेपर निर्णयार्थ अधिकरणकी कल्पना की गयी है। पहले विषय उपस्थापित करके फिर सशय उपस्थापित किया जाता ह तब पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष-निर्णय एव पूर्वापरग्रन्थकी सगति बैठायी जाती हे। अधिकरणका अर्थ न्यायालय होता है। इन पाँचा अङ्गाके द्वारा वदार्थका निर्णय किया जाता है। जेसे पूर्वमीमासाम '**यजमान प्रस्तर**' कहा गया ह। '**प्रस्तर**' अर्थात् दर्शपूर्णमासमें उपयोगके लिये कुश लाया जाता हे, इस कुशकी एक मुष्टिका प्रस्तर कहत हैं। यहाँ सशय है कि यजमानका नाम प्रस्तर हे या प्रस्तरका नाम यजमान हे। विपय आदि पाँचो अङ्गोके द्वारा निर्णय लिया जाता ह कि यजमान शब्दस प्रस्तरका विधान है (जैमिनिन्यायमाला १।४।१३)। इसी प्रकार उत्तरमीमासामे विचार किया गया ह—'**अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमय**' (तत्ति० उप० २५)—इस श्रुतिम जीव-सामान्य आत्माको आनन्दमय कहा गया ह या परब्रह्म परमात्माको—यह सशय है। आत्माम प्रियाप्रिय-सस्पर्श कहा गया ह यह सस्पर्श ससारी आत्माम ही सम्भव ह। अत आनन्दमय ससारी आत्मा है, यह पूर्वपक्ष है। परमात्मा परब्रह्मके लिये बार-बार आनन्दमयक अभ्यासके कारण आनन्दमय परमात्मा ही है, यह निर्णय ह (ब्र० सू० आनन्दमयाधिकरण १।१।१२)।

इसीलिये मीमामाके अनक ग्रन्थाक नाम न्यायपरक रख गये हैं—जैमिनीय न्यायमाला, न्यायसुधा, न्यायरत्नमाला आदि।

महर्षि गौतमके गोतमीय शास्त्रको भी न्यायशास्त्र कहते हैं। जिस प्रकार मीमासाशास्त्रके अधिकरणाम न्यायके पाँच अङ्ग कहे गय हैं, वैसे ही गौतमीय न्यायशास्त्रम भी पाँच अवयव होते हैं—

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणापनयनिगमनानि पञ्चावयवा ।

जैसे—**पर्वतो वह्निमान् धूमादिति लिङ्गात् यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानस यत्रैव तत्रैव यथा ह्रद ।**

अथवा **क्षित्यकुरादिक कर्तृजन्य कार्यत्वाद् घटवद् यन्नेव तन्नवम्।**' अत '**क्षित्यकुरादिवज्जगत कोऽपि कर्ता। य कर्ता स ईश्वर ।**' अर्थात् पृथिवी, अकुर आदि किसी कर्तासे निर्मित हैं। कार्य होनेके कारण जो कार्य होता है वह किसी कर्तासे जन्य होता है। जैसे घट कुम्हाररूपी कर्तासे बना है, इसी प्रकार पृथ्वी आदिको किसीने बनाया है, जिसने बनाया वही ईश्वर हे।

न्याय ता दोना ही हैं पर भेद इतना ही हे कि मीमासा-न्यायका उपयोग मुख्यत वेदार्थ-निर्णयके लिय किया जाता ह, गौणरूपसे लाक्कि अर्थमे, आर गौतमाय न्यायका प्रयोग लोक एव वद दोनाके लिये हाता है इसम लौकिकार्थ निर्णयकी प्रधानता रहती है। अर्थात् गातमाय न्याय तर्कप्रधान

एव युक्तिप्रधान हाता है जिमस लक्षण आदिका निरूपण करते हैं और तर्कसे निरूपित अर्थका उपयोग वेदार्थ-निर्णयके लिये मीमासाम करत हैं। इस प्रकार नीति, नय और न्याय—इन तीनों शब्दोंके अर्थ सामान्यत एक-से हैं, परतु सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर थाडा-थोडा भेद लक्षित होता है। इमीलिये मीमामा-पादुका ग्रन्थमे एक श्लोकम तीना शब्दोंका प्रयोग एक साथ किया गया है—

> न्यायाख्य धर्मविद्यास्थितिपदमुदित तत्रतत्राप्तशास्त्रे
> तेनैवाल तदन्यद् भवति कृतकर नीतिमात्रप्रवृत्ते ।
> इत्यतत्रानुयोज्य नयपथविपयो मानतर्कादिमात्र
> मीमासाया तु तत्तच्छ्रुतिगतिविपया नीतिभेदा निरूप्या ॥

इसीलिये जैमिनीय न्यायमालाके सदृश ग्रन्थका नाम मीमासानयमञ्जरी भी रखा गया है। श्रीमद्भगवद्गीताके—

> तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥
> (१८।७८)

—इस श्लोकम प्रयुक्त नीति शब्दकी व्याख्यामे श्रीश्रीधरस्वामीजीने लिखा है—'नीति न्याय '। यद्यपि शाब्दिक व्युत्पत्ति तथा शास्त्रकारोके द्वारा किये गये प्रयोगाक अनुसार ये तीना समानार्थक प्रतीत होत हैं, पर शब्दोंका अपना एक स्वारस्य भी हाता है। जैस गौ, धनु वष्कयणी, सुव्रता और गृष्टि—ये मव गोके वाचक हैं। किंतु इन शब्दाक स्वारस्यमे इनक अर्थम सूक्ष्म भेद प्रतीत होने लगता हे। सद्य प्रसूताका धेनु कहते हैं चिर-पसूता वष्कयणी कहलाती है और सकृत्-प्रमूता गृष्टि कही जाती है। इसी प्रकार मीमासकाभिमत विपय आदि पञ्च अङ्गाके द्वारा और पक्षहेतु आदि पञ्च अवयवोंके द्वारा निर्णीत अर्थको न्याय कहते हैं। जैस सदशन्याय, तत्प्रख्यानन्याय और गोवलीवर्दन्याय आदि। न्यायक बाद जो एक सिद्धान्त निकलता है उस नय कहा जाता है। न्याय तथा नयके बाद जो सार या तात्पर्य अथवा निष्कर्षरूप अर्थ निकलता है, वह नीति कहा जाता है। नीतिके लिय पञ्चाङ्ग वाक्य या पञ्चावयव-वाक्योंकी आवश्यकता नहीं होती। हम नीतिका पर्याय नय या न्याय अवश्य लिखते हैं पर न्याय और नयका सारभूत जो तत्त्व होता है वह नीति है। जैस महर्षि चाणक्यका प्रथम नीति-सूत्र है—'सुखस्य मूल धर्म ।' इसके लिये पञ्चाङ्ग-वाक्य या पञ्चावयव-वाक्य-जैसे विपय सशय पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष आदिकी आवश्यकता नहीं होती। यह नहीं कहा जाता कि धर्मसे सुख होता है या नहीं क्या सुख होगा, सुख नहीं होता और सुख होता ही है इत्यादि पञ्चाङ्ग विचार न करक एक वाक्य कह दिया गया—'सुखस्य मूल धर्म ' (१) यही नीति-वाक्य कहा जाता है। इसी प्रकार उनक अगल नीतिसूत्र भी हैं—धर्मस्य मूलमथ (२), अर्थस्य मूल राज्यम् (३), इन्द्रियजयस्य मूल विनय (५), जितात्मा सर्वार्थै सयुज्यते (१०) आदि।

नीतिका आश्रयण कोई करता है तो वह अपने सुखके लिये ही करता ह। कोई भी अपनी विपत्तिक लिये नीतिको नहीं अपनाता। नीतिशास्त्रक महान् विद्वान् चाणक्यका पहला वाक्य है—'सुखस्य मूल धर्म ।' इसलिये सर्वोत्तम नीति धर्माचरण है। आगे और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि धर्म केवल इसी शरीरके लिय नहीं है किंतु देहत्यागके बाद भी धर्मका साथ रहता है। उनका कहना है—'प्रेतमपि धर्माधर्मावनुगच्छत '(३५)। यहाँपर प्रेत शब्दमे आत्मा लिया गया है—प्र+प्रकर्षेण इतम्=गतम्। आत्मा ही तो जाता हे, शरीर तो यहीं पडा रहता है। सुख भी आत्माका ही तो स्वरूप है। बृहदारण्यकोपनिपद्के मैत्रयी-याज्ञवल्क्य सवादम बताया गया है कि सबसे बढकर प्रिय आत्मा है और आत्माके प्रियका साधन धर्म हे। इस तत्त्वका जिस प्रकार सरल-सुगम उपायसे समझानेका उपाय किया जाय, वही नीति है। हम प्रतिदिन अपने व्यवहारमे निर्णय शब्दका प्रयोग करते हैं। यही नीति या नय निर्णय ह। 'नि -अशेषेण नय निर्णय '। सर्वाङ्गपूर्ण दोपरहित सही सिद्धान्तित (नीति) ही निर्णय है। तात्कालिक लाभ उठाना ही निर्णय नहीं होता। सही निर्णय वह कहा जाता हे जिससे वर्तमानम और भविष्यत् कालमें भी अनिष्ट-सम्भावना न हो। नय और नीति तो वही है जो ऊपर ले जाय। ऊपर तो सर्वोत्तम सर्वोपरि आत्मा ही है। चाणक्यने कहा है इसके विपरीत जो ले जाय वह नीति नहीं दुर्नीति है और दुर्नीति ही कपट ह। उन्होंने कपटका अर्थ किया है—'कुत्सित पट कपट' अर्थात् निन्दित दुष्ट वस्त्र कपट है। जैसे काला कपडा या वस्त्र दोपाको ढककर रखता है, वैस ही दुर्नीति भी दोप ढककर रखती है।

ब्रह्मलीन धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज कहा करते थे कि नीति लक्ष्मी हैं। लक्ष्मीका तात्पर्य यहाँ केवल रुपये-पैमेस नहीं है। यहाँ लक्ष्मीका तात्पर्य सभी शुभ अर्थोंमे है। जहाँ लक्ष्मी रहती हैं, वहाँ विष्णु रहत हैं और जहाँ

विष्णु रहते हैं वहाँ लक्ष्मी रहती हैं। विष्णुका तात्पर्य धर्म है। भगवान्‌का स्वरूप ही धर्म है। अत धर्मके बिना नीति विधवा ह और नीतिके बिना धर्म विधुर है। जिस प्रकार पतिके बिना पत्नी अनियन्त्रित हो जाती है उसी प्रकार धर्मके बिना नीति अनियन्त्रित हो जाती है, अत धर्मनियन्त्रित नीति उभयलोकसाधिका है। लौकिक आर पारलौकिक—उभयलोककी कल्याण-कामनासे जा निर्णय या सिद्धान्त लिया जाता हे, वही नीति सुनीति कही जाती हे। विषय-भेदसे नीतियाँ भी अनेक हो जाती हैं—राजनीति, दण्डनीति अर्थनीति, वाणिज्यनीति, धर्मनीति तथा व्यवहारनीति आदि। धर्मशास्त्रग्रन्थोंम आचाराध्याय व्यवहाराध्याय तथा प्रायश्चित्ताध्याय आदि जो विभाजन किये गये हैं, व तत्तद्‌विषयविशिष्ट नीतियाँ ही हैं। धर्मशास्त्राक अतिरिक्त वाल्मीकीय रामायण, महाभारत तथा पुराणाम अनेक स्थलापर नीतितत्त्व वर्णित हैं। अग्निपुराण तथा मत्स्यपुराण तो मानो नीतिकाप ही हैं। पुराणाके अतिरिक्त चाणक्यका नीतिसूत्र, कामन्दकका नीतिसार, शुक्राचार्यका शुक्रनीतिग्रन्थ, सोमदेवका नीतिवाक्यामृत, चण्डेश्वरका राजनीतिरत्नाकर और वीरमित्रोदयका राजनीतिप्रकाश आदि ग्रन्थ अति प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त अनेक छोटे-छाटे नीतिविषयक ग्रन्थ हैं—जेसे विदुरनीति, विदुलोपाख्यान, शीलनिरूपणाध्याय तथा सनत्सुजातीयम् आदि। सस्कृत एव हिन्दीके महाकवियान भी अनेक नीतिपरक काव्य बनाये हैं। इस दृष्टिसे महाकवि भारविका किरातार्जुनीयम्, महाकवि माघका शिशुपालवधम् तथा महाकवि बाणभट्टकी कादम्बरीम वर्णित शुकनासोपदश आदि अति प्रसिद्ध हैं। हिन्दीम महाकवि गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीका श्रीरामचरितमानस गिरिधरकी कुण्डलियाँ, रहीमके दाहे तथा बिहारीके कुछ पद्य आदि अधिक प्रसिद्ध हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि लाक-परलोक-साधक, आत्मनि श्रेयस्कर, सच्छास्त्रसम्मत मर्यादित, सद्धर्मनियन्त्रित आर चराचर विश्वके कल्याणकारी सिद्धान्त ही शुद्ध नीतितत्त्व हैं।

नीतितत्त्व-विमर्श

(आचार्य डॉ० श्रीशुकरत्नजी उपाध्याय एम्०ए० पी-एच्०डी०)

नीति शब्दका सम्बन्ध सस्कृतकी 'णीञ्=नी' धातुस है, जिसका अर्थ हे—'ले जाना' अथवा 'पथ-प्रदर्शन करना'। मानव-व्यवहारका उचित अथवा न्यायसगत हाना अर्थात् किन-किन नियमाके पालनसे जीवनको लक्ष्यकी ओर ले जाया जा सकता हे—

(नीयन्ते सलभ्यन्ते उपायादय ऐहिकामुष्मिकार्था वास्यामनया वा, नी-अधिकरणे, करणे वा क्तिन्) (शब्दकल्पद्रुम)—अथवा समाजको स्वस्थ एव सतुलित पथपर अग्रसर करने एव व्यक्तिका धर्म, अर्थ काम एव माक्षकी उचित रीतिसे प्राप्ति करनेके लिय जिन विधि-निषधमूलक सामाजिक, व्यावहारिक, आचारिक, धार्मिक अथवा राजनैतिक आदि नियमाका विधान दश काल और पात्रक सदर्भमे किया जाता है—यह सब नीतिपदसे अभिहित होता है।

ससारमे काई उद्देश्य अथवा लक्ष्य है, जिसक प्राप्त्यर्थ हम नेतिक बनना चाहते हैं। वह उद्देश्य क्या है? भारतीय सस्कृतिमे उसका चार पुरुषार्थोंक नामसे स्मरण किया गया हे, उनम भी विशेषरूपसे जीवनके अन्तिम लक्ष्य 'मोक्ष' को ध्यानम रखकर नैतिक कर्तव्याका विधान किया गया है। चार पुरुषार्थोंम धर्म एव अर्थ साधन हैं और काम तथा मोक्ष साध्य। अन्तिम दोनाम भी मोक्ष चरम साध्य है। माक्ष ही जीवनका परम पुरुषार्थ है और यही उसकी पूर्णता भी है। अत सामान्य और विशिष्ट कर्तव्याका विधान इन्हींकी प्राप्तिके लिये किया गया है। व्यक्तिगत स्वार्थ अथवा प्रदर्शनको छोडकर सभी कर्तव्याका पालन शुद्ध भावसे करनेपर साध्यकी सही उपलब्धि होती है।

धर्मका व्यावहारिक प्रयोग भी नीतिसे मिलता-जुलता है। वास्तवम नीति अथवा धर्म ही मानव-जीवनकी वह विशेषता है जो पशु-जीवनसे उसको पृथक् करती है। भारतीय चिन्तन और जीवन-दर्शनके अनुसार 'अर्थ' भी जीवनके चार पुरुषार्थोंमे परिगणित है वह उपेक्षणीय नहीं है। वह 'काम' का साधन है, किंतु उसका अर्जन धर्म-नियन्त्रित

होना चाहिये, तभी वह लोकमङ्गलकारी बनता है।

धर्म, आचार एवं कर्तव्य शब्द भी 'नीति' शब्दके अर्थको स्पष्टता और व्यापकता प्रदान करते हैं—धर्म शब्द संस्कृतके 'धृञ्=धृ' धातुसे बना है—जिसका अर्थ है धारण करना अथवा धारण किया जाना। अर्थात् धर्मके नियम हैं—जिनसे जीवन व्यर्थ न जाय, भलीभाँति स्थित रहे, चलता रहे। धर्मका ही व्यावहारिक रूप नीति और नीतिका व्यावहारिक रूप विधि है। आचार शब्दका अर्थ है—जीवनका नियमित व्यवहार, संयमित, नियन्त्रित जीवन। कर्तव्यका अर्थ है, वे कर्म जो मनुष्यको अपने लक्ष्यपर पहुँचनेके लिये अथवा जीवनको ठीक चलानेके लिये करने चाहिये। कर्तव्यपालन जीवनकी आध्यात्मिक पूर्णताका एक सोपान है।

आधुनिक दृष्टिसे हम कह सकते हैं कि नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, आचारशास्त्र या कर्तव्यशास्त्र जीवनका वह विज्ञान है जो हमें जीवनका उचित निर्माण सिखाता है।

वैदिक साहित्यमें नीतिके लिये 'ऋत' शब्दका प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ है—'नियम' अथवा 'सुव्यवस्था'। सम्पूर्ण वैदिक साहित्यमें नीतिशास्त्रीय सिद्धान्त और उपदेश बिखरे पड़े हैं। प्रत्येक मनुष्य विश्वके प्रति निश्चित दायित्वोंको लेकर उत्पन्न होता है, जिन्हें पूरा करना उसके लिये अनिवार्य है।

इसी अर्थमें नीति शब्दके प्राचीन प्रयोग 'महाभारत' तथा 'मनुस्मृति' आदिमें मिलते हैं। कामन्दक-नीतिसार, शुक्रनीति और नीतिवाक्यामृतमें नीति शब्दका ग्रहण राजनीतिके अर्थमें हुआ है। कामन्दकने दण्डनीतिका लक्षण बताते हुए नीति शब्दकी व्याख्या 'नयनान्नीतिरुच्यते' (नयन करनेसे नीति कही जाती है) की है। शुक्राचार्यने नीतिशास्त्रकी परिभाषा इस प्रकार दी है—

सर्वोपजीवकं लोकस्थितिकृन्नीतिशास्त्रकम्।
धर्मार्थकाममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः॥

(शुक्रनीति १।५)

अर्थात् नीतिशास्त्र, सबकी जीविकाका साधन और लोककी स्थिति बनाये रखनेवाला एवं धर्म, अर्थ तथा कामका मूल होनेसे मोक्ष देनेवाला है। नीतिकी इस परिभाषामें नैतिक विकासके सभी स्तरों—शुद्ध उपयोगितावादसे र्थतकका समावेश है। सरल परिभाषामें नीतिशास्त्र वह है जिसमें शुद्ध-अशुद्ध, सत्य-असत्य, उचित-अनुचित एवं शुभ तथा अशुभके आधारपर मानव-चरित्र और जीवन-मूल्योंका विवेचन किया गया है।

नैतिक सिद्धान्तों और सद्गुणोंकी प्रयोगशाला समाज है। सामाजिक संस्थाओं, प्रथाओं, रीति-रिवाजोंमें उनकी अभिव्यक्ति होती है। भारतीय समाजमें भी उनका प्रयोग हुआ है।

नैतिक आचरण प्राणिमात्रके सम्पूर्ण दोषों और अपूर्णताओंका वैसे ही निराकरण करता है, जैसे प्रकाश अन्धकारका। नैतिक आचरणसे बुद्धिको भ्रष्ट करनेवाले वेगों और वासनाओंके झोंके जब रुक जाते हैं तभी बुद्धि सात्त्विक, स्थिर, पारदर्शी और आत्माके प्रतिबिम्बको प्रकाशित करनेमें समर्थ होती है। नीतिके अनुसार जीवन जीनेसे अभ्युदय तथा निःश्रेयस—दोनोंकी प्राप्ति होती है। नैतिक जीवन जीनेसे चेतना निर्मल तथा प्रबुद्ध होती है, अनैतिकरूपसे वह मलिन तथा धूमिल हो जाती है। नीतिपूर्ण शुभाचरणद्वारा जबतक चित्त शान्त और निर्मल नहीं हो जाता, तबतक जीवनके उच्चतम सत्य तथा उच्चतम मूल्य समझमें नहीं आते। नैतिकता और मानसिक शान्तिका भी अभिन्न सम्बन्ध माना गया है।

ब्रह्म-मीमांसामें ब्रह्म अर्थात् परमात्माको समझनेका वही अधिकारी है, जो साधनचतुष्टय-सम्पन्न हो। साधनचतुष्टयमें अनेक गुणों—विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति—शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा और समाधान तथा मुमुक्षाका समावेश है। सच्चा ज्ञानी भी वही है, जो अपने ज्ञानके अनुरूप जीवनके कार्य तथा जीवनका निर्माण करे।

नैतिक जगत्‌में भारतकी जो देन है, वह विस्तृत और बहुमूल्य है। किसी भी देशकी नीतिकी तुलनामें वह गर्वके साथ रखी जा सकती है। हमारे ऋषियोंने अपनी उग्र तपस्या, ऋतम्भरा प्रज्ञा, सहजबोध तथा ध्यानद्वारा प्राप्त निर्मल चेतना और अनुभवके द्वारा नीतिके अनेक मौलिक तत्त्वोंका साक्षात्कार किया। ऋत, सत्य, धर्म, यज्ञ, तप, व्रत आदिकी नैतिक कल्पनाएँ मौलिक और अमर हैं। ये केवल भारतीय नीतिकी ही नहीं अपितु नीतिमात्रकी आधारशिला मानी जा सकती हैं। ऋणत्रय और नित्य पञ्च महायज्ञोंका सामाजिक एवं नैतिक महत्त्व स्थायी है। पञ्च महाव्रतों और यम-नियमोंकी नैतिक ऊँचाईतक अभी

ससारका नीति पहुँच नहीं सकी है।

नैतिक आचरणका वर्गीकरण—सामान्य विशिष्ट, नमित्तिक, आपद्धर्म आदि भी भारतकी मौलिक सूझ है। नैतिक जावनम यन्ध और मोक्ष तथा व्यवहार ओर परमार्थका समन्वय भी भारतकी बहुमूल्य देन है। इष्टापूर्तकी कल्पनाम पारलौकिक और ऐहलौकिक लाकमङ्गलकी पूण व्यवस्था अपना विशप महत्त्व रखती है। केवल मानवतावादस ऊपर उठकर सर्वात्मभाव और सर्वभूतहितका सिद्धान्त सम्भवत समारके नैतिक इतिहासम अनुपम है।

मानव ही युग-निर्माता है। ऐतरेय ब्राह्मणम इसी नैतिक प्रेरणाका उद्घाप किया गया है—जा साता है उसके लिये कलियुग है आर जो जँभाई लता हे उसक लिय द्वापर तथा जा उठकर खडा हाता है उसके लिय त्रेता एव जो उठकर चलन लगता है उसक लिय कृतयुग (सत्ययुग) हाता है—

कलि शयानो भवति सञ्जिहानस्तु द्वापर ।
उत्तिष्ठन् त्रेता भवति कृत सम्पद्यत चरन्॥

(एतरेय ब्राह्मण)

नीति-क्षेत्रम भारतीय साहित्य भी विश्व-साहित्यमे अपना अनुपम स्थान रखता ह—विदुरनीति, शुक्रनीति, चाणक्यनीति भर्तृहरिका नीतिशतक तथा कामन्दकीय नीति आदि (सस्कृत), जातक, धम्मपद आदि (पालि) और दशमाला, गाहा सतसई आदि (प्राकृत)-से हाती हुई इस नीतिपूर्ण साहित्यकी परम्परा सभी भारतीय भाषाओ तथा राष्ट्रभाषा हिन्दीतक चली आयी हे। वैयक्तिक और सामाजिक आवश्यकताओंको ध्यानम रखकर अतीतके अनुभवापर आधारित निष्कर्षोका नीतिग्रन्थाम अभिव्यक्ति प्रदान की गयी है जा व्यष्टि तथा समष्टि दानोका पथ प्रशस्त कर सके।

'नीति' शब्दका अर्थ, परिभाषा एव स्वरूप

(आचार्य श्रीआद्याचरणजी झा)

'नीति' शब्दका अर्थ हाता है पहुँचाना ले जाना, दिग्दर्शन कराना, नेतृत्व करना तथा उपायाको बतलाना—नीयन्ते सलभ्यन्ते उपायादय इति वा।

यथा—

नयस्य विनया मूल विनय शास्त्रनिश्चय ।
विनयो हीन्द्रियजयस्तद्युक्त शास्त्रनिश्चय ॥
जितन्द्रियस्य नृपतेर्नीतिशास्त्रानुरागिण ।
भवन्त्युज्ज्वलिता लक्ष्या कीर्तयश्च नभ स्पृश ॥

(नीतिमयूख)

अर्थात् नयका मूल है विनय, विनय शास्त्राद्वारा निश्चित क्रम है। विनयस ही इन्द्रियापर विजय प्राप्त हाती है क्याकि विनय शास्त्रीय निश्चय हे। नीतिशास्त्रके अनुरागी जितन्द्रिय राजाके लक्ष्य उज्ज्वल होते हे और उनकी कीर्ति आकाशका छूनेवाली हाती ह।

और—

यानाश्रयासनद्वैधसन्धयो विग्रहस्तथा।
अभ्यसत् षड्गुणानेतान् तेषा स्थान च शाश्वतम्॥
तथा—
य प्रमाण न जानाति स्थाने वृद्धौ तथा क्षये।
क्रोध जनपदे दण्डे न स राज्यऽवतिष्ठते॥

(कालिकापुराण राजनीति अध्याय ८५)

अर्थात् यान आश्रय आसन द्वैध, सन्धि तथा विग्रह—इन छ गुणाका अभ्यास कर। इनके स्थान नित्य, शाश्वत और स्थायी हैं। तात्पर्य यह कि जो शासक कब प्रस्थान कर, कहाँ आश्रय ल, कब रुक जायँ कहाँ द्वैध (दोना तरहके व्यवहार) रखे, कहाँ सन्धि-मेल करे और कहाँ विग्रह करे—इनकी गहन समीक्षा नहीं करेगा वह शासन नहीं कर सकेगा। इन बातोसे स्पष्ट हाता है कि 'नीति' शब्द कितना गहन अर्थ रखता ह।

पहले ही कहा गया हे कि जा उपायाको बतलाये वह 'नीति' है। यह तो हुआ 'नीति' शब्दका अर्थ और उसकी परिभाषा। अब कुछ विस्तृत रूपमे 'नीति' के अति महत्त्वपूर्ण वचनाको उद्धृतकर उनके गूढार्थपर विचार किया जा रहा है—

(क) मातृवत् परदारेषु०—इस वचनम समग्र जीवनयात्राका उच्चतम शिखर-रहस्य निहित है। यथा—अजेय कामदेव जिसे महादेवने भस्मीभूत कर दिया था वही कामदेव निरूप होकर 'मनाज'—'मनसिज' होकर

पुन विश्वविजयी बन बैठा। परतु विश्वमे एकमात्र शब्द है 'माता'—माँ जिसके आगे कामदेव आत्मसमर्पण कर देता है। अपने पाँच बाणाको पटक देता है और यदि 'माता' शब्द अर्थ-रूपमे सद्य उपस्थित हो जाय तो फिर वही काम मातृ-दृष्टिमे सम्पन्न होकर पुत्र बन बैठता है।

यदि एकमात्र इस 'मातृवत् परदारेषु' का अर्थ मनुष्यको उसकी बाल्यावस्थामे ही समझा दिया जाय तो आज जो राष्ट्रके समक्ष चारित्रिक क्षरणकी एक जाज्वल्यमान समस्या उपस्थित है उसका निराकरण स्वत ही हो जायगा।

समस्त विश्वमे कामवासनाका कोई प्रभाव 'माता' पर पडनेका उदाहरण सृष्टिके आदिसे लेकर आजतक न सुना गया और न ही देखा गया है। क्योकि कामदेव 'माँ' शब्दके अर्थके आगे सर्वथा पराजित है।

(ख)—

सर्प क्रूर खल क्रूर सर्पात् क्रूरतर खल ।
मन्त्रौषधिवश सर्प खल केन निवार्यते॥

अर्थात् साँप और दुष्ट दोनो क्रूर—कठोर कर्मवाले होते हैं। परतु सर्प-विष जहाँ मन्त्रसे और दवासे छूट सकता है वही खल—दुष्टका न कोई मन्त्र है न दवा। ध्यान देनेकी बात है कि इससे बढकर दुष्टासे सावधान रहनेका और कोई उपाय नहीं। यह है गहन नीति। अत दुर्जनोका साथ छोडकर सत्सङ्गको अपने जीवनमे उतारना चाहिये।

(ग)—

अजातमृतमूर्खाणा वरमाद्यौ न चान्तिम ।
सकृद् दु खकरावाद्यावन्तिमस्तु पदे पदे॥

अर्थात् पुत्र नहीं होना, होकर मर जाना और मूर्ख रहना—इन तीनोमे पहले दोनो—नहीं होना और मर जाना अच्छा है परतु मूर्ख पुत्र रहना अच्छा नहीं है क्योकि पहले दोनो तो कुछ दिन ही दु खदायी हैं, परतु अन्तिम—मूर्ख पुत्र पग-पगपर दु खदायी है। शिक्षा-सम्बन्धी इतना महत्त्वपूर्ण कथन और क्या हो सकता है।

(घ)—

'शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा
यस्तु क्रियावान् पुरुष स विद्वान्॥'

अर्थात् केवल शास्त्रज्ञ हो जानेसे कोई विद्वान् नहीं हो सकता जो शास्त्रानुकूल क्रिया करे वही विद्वान् है। असत्य-भाषण हिंसा, वञ्चना आदि कर्म निन्दनीय निषिद्ध और नीतिविरुद्ध है, यह जानते हुए भी जो इनमें लगे रहते हैं, क्या वे विद्वान् कहे जायँगे?

उपर्युक्त नाममात्रके कुछ ज्वलन्त और तथ्यपूर्ण उद्धरणोद्वारा नीतिके विस्तृत स्वरूपका दिग्दर्शन अवश्य ही सम्भव है। वैसे तो श्रीमद्भागवत, श्रीमद्भगवद्गीता और उपनिषद्—ये सब-के-सब नीतिके अति विशाल आयाम हैं ही साथ ही चाणक्यनीति, विदुरनीति, भर्तृहरिनीति आदि भी नीतिके अच्छे स्रोत हैं।

अन्तमे *'नीतिरस्मि जिगीषताम्'* श्रीमद्भगवद्गीताके इस वाक्यसे प्रमाणित है कि साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण भी नीतिस्वरूप है।

कठोर वाणीसे मर्माघात मत करो

नारुन्तुद स्यान्न नृशसवादी न हीनत परमभ्याददीत।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत न ता वदेद् रुशतीं पापलोक्याम्॥
वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति यैराहत शोचति रात्र्यहानि।
परस्य वा मर्मसु ये पतन्ति तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु॥

(महाभारत अनु० १०४। ३१-३२)

दूसरोके मर्मपर आघात न करे क्रूरतापूर्ण बात न बोले औरोको नीचा न दिखाये। जिसके कहनेसे दूसरोको उद्वेग होता हो ऐसी रुखाईसे भरी हुई बात पापियोके लोकोमे ले जानेवाली होती है। अत वैसी बात कभी न बोले। वचनरूपी बाण मुँहसे निकलते है जिनसे आहत होकर मनुष्य रात-दिन शोकमे पडा रहता है। अत जो दूसरोके मर्मस्थानोपर चोट करते हैं ऐसे वचन विद्वान् पुरुष दूसरोके प्रति कभी न कहे।

नीतिशास्त्रका आविर्भाव और उसकी आचार्य-परम्परा

[देवताओंके अनुरोधपर सर्वप्रथम ब्रह्माजीद्वारा नीतिशास्त्रका प्रणयन हुआ। इस ग्रन्थमे जितने विषय समाहित हुए है, उन सबका विस्तृत विवेचन महाभारतके शान्तिपर्वमे हुआ हे, जिसे यहाँ प्रस्तुत किया गया हे। कालक्रमसे यह नीतिशास्त्र भगवान् शङ्कर, देवराज इन्द्र, बृहस्पति तथा शुक्राचार्यद्वारा सक्षिप्त होता गया। —स०]

महाभागवत भीष्मपितामह जब शर-शय्यापर शयन कर रह थे तब भगवान् श्रीकृष्ण, वेदव्यास आदि महर्षि तथा युधिष्ठिर आदि पाण्डव उनक पास गये। युधिष्ठिरके प्रश्न करनेपर पितामह भीष्मने उन्ह सम्पूर्ण राजधर्मका उपदश दिया। इमी सदर्भम धर्मराज युधिष्ठिरने भीष्मजीका विधिपूर्वक पूजन करके हाथ जोडकर उनसे पूछा—

पितामह। लोकम यह जो राजा शब्द चल रहा है, इसका उत्पत्ति कैसे हुई ह? यह मुझे बतानकी कृपा कर। जिस हम राजा कहत ह, वह सभी गुणाम दूसराक समान ही है। उसके समस्त अङ्ग भी ओराकी ही भाँति ह। बुद्धि ओर इन्द्रियाँ भी दूसरे लागाके ही तुल्य हैं। उसक भी मनम दूसरे मनुष्याके समान ही सुख-दु खका अनुभव हाता ह। मुँह पेट, पीठ, वीर्य हड्डी मज्जा मास, रक्त उच्छ्वास नि श्वास प्राण, शरीर जन्म और मरण आदि सभी बाते दूसराके समान ही राजाम भी हैं। फिर वह विशिष्ट बुद्धि रखनवाले अनेक शूरवीरापर अकेल ही कैस अपना प्रभुत्व स्थापित कर लता हे?[1] अकला होनेपर भी वह शूरवीर एव सत्पुरुपास भरी हुई इस सारी पृथ्वीका कैस पालन करता है और कैसे सम्पूर्ण जगत्‌की प्रसन्नता चाहता है? यह निश्चितरूपसे देखा जाता ह कि एकमात्र राजाकी प्रसन्नतासे ही सारा जगत् प्रसन्न होता है आर उस एकके ही व्याकुल होनेपर सब लोग व्याकुल हा जाते हैं।

भरतश्रेष्ठ। इसका क्या कारण है? यह मै यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ। वक्ताआम श्रेष्ठ पितामह। यह सारा रहस्य मुझ यथावत् रूपस बतानकी कृपा करे।

इसपर भीष्मजीने कहा—पुरुषसिह। आदि सत्ययुगम जिस प्रकार राजा और राज्यकी उत्पत्ति हुई, वह सारा वृत्तान्त तुम एकाग्र होकर सुनो—पहल न कोई राज्य था, न राजा न दण्ड और न दण्ड दनवाला ही था, समस्त प्रजा धर्माचरणक द्वारा ही एक-दूसरेकी रक्षा करती थी। भारत। सब मनुष्य धर्मके द्वारा परस्पर पालित और पोषित होते थे—

न वै राज्य न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिक ।
धर्मेणैव प्रजा सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥
पाल्यमानास्तथान्योन्य नरा धर्मेण भारत।

(महा०, शान्ति० ५९। १४-१५)

कुछ दिनाके बाद सब लोग पारस्परिक सरक्षणके कार्यम महान् कष्टका अनुभव करने लगे फिर उन सबपर मोह छा गया। जब सारे मनुष्य मोहक वशीभूत हो गये तब कर्तव्याकर्तव्यके ज्ञानसे शून्य होनेके कारण उनके धर्मका नाश हा गया। उपर्युक्त ज्ञानके नष्ट हा जानेपर मोहक वशीभूत हुए सब मनुष्य लोभके अधीन हो गये। फिर जो वस्तु उनके पास नहीं थी, उसे प्राप्त करनेका वे प्रयत्न करने लगे। इतनहीम वहाँ काम नामक दूसरे दोषने उन्ह घर लिया। युधिष्ठिर। कामके अधीन हुए उन मनुष्योपर रागरूपी शत्रुने आक्रमण कर दिया और रागके वशीभूत होकर वे यह न जान सके कि क्या कर्तव्य है ओर क्या अकर्तव्य? उन्होने अगम्यागमन वाच्य-अवाच्य, भक्ष्य-अभक्ष्य तथा दोष-अदोष इत्यादि कुछ भी नहीं छोडा। इस प्रकार मनुष्यलोकमे धर्मका विप्लव हो जानेपर वेदाके स्वाध्यायका भी लाप हा गया। राजन्। वैदिक ज्ञानका लाप होनेसे यज्ञ-याग आदि कर्मोका भी नाश हो गया—

विप्लुत नरलोके वै ब्रह्म चैव ननाश ह।
नाशाच्च ब्रह्मणो राजन् धर्मो नाशमथागमत्॥

(महा० शान्ति० ५९। २१)

इस प्रकार जब वेद और धर्मका नाश होने लगा तब देवताआका मन भययुक्त हो गया। वे भयभीत होकर ब्रह्माजीकी शरणमे गय। लाकपितामह भगवान् ब्रह्माको प्रसन्न करके दु ख-पीडित समस्त देवता उनस हाथ जोडकर इस प्रकार बोले—

---

१ तुल्यपाणिभुजग्रीवस्तुल्यबुद्धीन्द्रियात्मक । तुल्यदु खसुखात्मा च तुल्यपृष्ठमुखोदर ॥
तुल्यशुक्रास्थिमज्जा च तुल्यमासासृगेव च। नि श्वासोच्छ्वासतुल्यश्च तुल्यप्राणशरीरवान्॥
समानजन्ममरण सम सर्वगुणैर्नृणाम्। विशिष्टबुद्धीन् शूराश्च कथमेकोऽधितिष्ठति॥ (महा० शान्ति० ५९। ६—८)

'भगवन्! मनुष्यलोकमे लोभ, मोह आदि दूषित भावोने सनातन वैदिक ज्ञानका विलुप्त कर डाला है इसलिये हमे बडा भय हो रहा है। वैदिक ज्ञानका लोप होनेसे यज्ञ-धर्म नष्ट हो गया। इससे हम सभी देवता मनुष्योके-से हो गये है। मनुष्य यज्ञ आदिमे घीकी आहुति देकर हमारे लिये ऊपरकी ओर वर्षा करते थे और हम उनके लिये नीचेकी ओर पानी बरसाते थे, परतु अब उनके यज्ञ-कर्मका लोप हो जानेसे हमारा जीवन सशयमे पड गया है। पितामह! अब जिस उपायसे हमारा कल्याण हो सके वह सोचिये। आपके प्रभावसे हमे जो देवस्वभाव प्राप्त हुआ था, वह नष्ट हो रहा है।'

तब भगवान् ब्रह्माने उन देवताओसे कहा—'सुरश्रेष्ठगण! तुम्हारा भय दूर हो जाना चाहिये। मै तुम्हारे कल्याणका उपाय सोचूँगा।'

ब्रह्माजीद्वारा प्रणीत नीतिशास्त्र

ब्रह्माजीने अपनी बुद्धिसे एक लाख अध्यायोका एक ऐसा नीतिशास्त्र रचा, जिसमे धर्म, अर्थ और कामका विस्तारपूर्वक वर्णन है। जिसमे इन वर्गोंका वर्णन हुआ है, वह प्रकरण 'त्रिवर्ग' नामसे विख्यात है। चौथा वर्ग मोक्ष है, उसके प्रयोजन और गुण इन तीनो वर्गोसे भिन्न हैं—

ततोऽध्यायसहस्राणा शत चक्रे स्वबुद्धिजम्।
यत्र धर्मस्तथैवार्थ कामश्चैवाभिवर्णित ॥
त्रिवर्ग इति विख्यातो गण एष स्वयम्भुवा।
चतुर्थो मोक्ष इत्येव पृथगर्थ पृथग्गुण ॥

(महा० शान्ति० ५९।२९-३०)

मोक्षका त्रिवर्ग दूसरा बताया गया है। उसमे सत्त्व रज और तमकी गणना है। दण्डजनित त्रिवर्ग उससे भिन्न है। स्थान वृद्धि और क्षय—ये ही उसके भेद हैं (अर्थात् दण्डसे धनियोकी स्थिति, धर्मात्माओकी वृद्धि और दुष्टोका विनाश होता है)।

ब्रह्माजीके नीतिशास्त्रमे आत्मा, देश, काल, उपाय, कार्य और सहायक—इन छ वर्गोका वर्णन है। ये छहो नीतिद्वारा सचालित होनेपर उन्नतिके कारण होते हैं—

आत्मा देशश्च कालश्चाप्युपाया कृत्यमेव च।
सहाया कारण चैव षड्वर्गो नीतिज स्मृत ॥

(महा०, शान्ति० ५९।३२)

भरतश्रेष्ठ! उस ग्रन्थमे वेदत्रयी (कर्मकाण्ड), आन्वीक्षिकी (ज्ञानकाण्ड), वार्ता (कृषि, गोरक्षा एव वाणिज्य) और दण्डनीति—इन विपुल विद्याओका निरूपण किया गया है—

त्रयी चान्वीक्षिकी चैव वार्ता च भरतर्षभ।
दण्डनीतिश्च विपुला विद्यास्तत्र निदर्शिता ॥

(महा० शान्ति० ५९।३३)

ब्रह्माजीके उस नीतिशास्त्रमे मन्त्रियोकी रक्षा (उन्हें कोई फोड न ले इसके लिये सतर्कता), प्रणिधि (राजदूत), राजपुत्रके लक्षण, गुप्तचरोके विचरणके विविध उपाय विभिन्न स्थानोमे विभिन्न प्रकारके गुप्तचरोकी नियुक्ति तथा साम दान, भेद, दण्ड और उपेक्षा—इन पाँचो उपायोका पूर्णरूपसे प्रतिपादन किया गया है—

अमात्यरक्षा प्रणिधी राजपुत्रस्य लक्षणम्।
चारश्च विविधोपाय प्रणिधेय पृथग्विध ॥
साम भेद प्रदान च ततो दण्डश्च पार्थिव।
उपेक्षा पञ्चमी चात्र कार्त्स्न्येन समुदाहृता॥

(महा० शान्ति० ५९।३४-३५)

सब प्रकारकी मन्त्रणा, भेद-नीतिके प्रयोगके प्रयोजन, मन्त्रणामे होनेवाले भ्रम या उसके फूटनेके भय तथा मन्त्रणाकी सिद्धि और असिद्धिके फलका भी इस शास्त्रमें वर्णन है। सधिके तीन भेद है—उत्तम, मध्यम और अधम, इनकी क्रमश वित्तसधि, सत्कारसधि और भयसधि—ये तीन सज्ञाएँ हैं। धन लेकर जो सधि की जाती है वह वित्तसधि उत्तम है। सत्कार पाकर की हुई दूसरी सधि मध्यम है और भयके कारण की जानेवाली तीसरी सधि अधम मानी गयी है। इन सबका उस ग्रन्थमे विस्तारपूर्वक वर्णन है।

शत्रुओपर चढाई करनेके चार अवसर[१], त्रिवर्गके विस्तार धर्म-विजय, अर्थ-विजय तथा असुर-विजयका भी उस ग्रन्थमे पूर्णरूपसे वर्णन किया गया है। मन्त्री राष्ट्र दुर्ग सेना और कोष—इन पाँच वर्गोके उत्तम मध्यम और अधम-भेदसे तीन प्रकारके लक्षणोका भी प्रतिपादन किया गया है। प्रकट और गुप्त दो प्रकारकी सेनाओका भी वर्णन किया गया है। उनमे प्रकट सेना आठ प्रकारकी बतायी गयी है और गुप्त सेनाका विस्तार

१ शत्रुपर चढाई करनेके चार अवसर ये हैं—(१) अपने मित्रोकी वृद्धि (२) अपने कोशका भरपूर सग्रह (३) शत्रुके मित्रोका नाश और (४) शत्रुके कोशकी हानि।

बहुत अधिक कहा गया है। कुरुवंशी पाण्डुनन्दन! हाथी घाडे, रथ, पैदल बेगारमे पकडे गये बोझ ढोनेवाले लाग, नौकारोही, गुप्तचर तथा कर्तव्यका उपदेश करनेवाले गुरु—ये सनाके आठ अङ्ग हैं। सेनाके गुप्त अङ्ग हैं जङ्गम (सर्पादिजनित) और अजङ्गम (पड-पाधासे उत्पन्न) विष आदि चूर्णयाग अर्थात् विनाशकारक ओपधियाँ। यह गापनीय दण्डसाधन (विप आदि) शत्रुपक्षके लोगोके वस्त्र आदिके साथ स्पर्श करान अथवा उनके भोजनमे मिला दनके उपयोगमे आता हे। विभिन्न मन्त्राके जपका प्रयोग भी पूर्वोक्त नीतिशास्त्रमे बताया गया है। इसके सिवा इस ग्रन्थमे शत्रु, मित्र आर उदासीनका भी बारबार वर्णन किया गया हे तथा मार्गके गुण, भूमिके गुण, आत्मरक्षाके उपाय आश्वासन तथा रथ आदिके निर्माण और निरीक्षण आदिका भी वर्णन ह। सनाको पुष्ट करनेवाल अनक प्रकारके याग हाथी घाडा रथ और मनुष्य-सनाकी भाँति-भाँतिकी व्यूह-रचना नाना प्रकारके युद्ध-काशल जसे ऊपर उछल जाना, नीच झुककर अपनेका वचा लना सावधान होकर भलीभाँति युद्ध करना, कुशलतापूर्वक वहाँसे निकल भागना—इन सब उपायाका भी इस ग्रन्थमे वणन है। भरतश्रेष्ठ! शास्त्राके सरक्षण और प्रयोगके ज्ञानका भी उसमे उल्लेख हे। विपत्तिसे सेनाआका उद्धार करना सेनिकाका हर्ष और उत्साह बढाना पीडा आर आपत्तिक समय पदल सैनिकोकी स्वामि-भक्तिका परीक्षा करना—इन सब बाताका उस शास्त्रमे वर्णन किया गया ह।

दुर्गके चारा ओर खाई खुदवाना, सेनाका युद्धके लिय सुसज्जित होना तथा रणयात्रा करना, चोरा और भयानक जगली लुटेराद्वारा शत्रुके राष्ट्रका पीडित करना, आग लगानेवाल, जहर देनेवाल, छद्मवेशधारी लोगाद्वारा भी शत्रुको हानि पहुँचाना तथा एक-एक शत्रुदलके प्रधान-प्रधान लागोमे भद उत्पन्न करना, फसल आर पौधाको काट लेना हाथियाको भडकाना, लागोमे आतङ्क उत्पन्न करना शत्रुआमे अनुरक्त पुरुपका अनुनय आदिके द्वारा फाड लेना और शत्रु-पक्षके लोगामे अपने प्रति विश्वास उत्पन्न कराना आदि उपायासे शत्रुके राष्ट्रका पीडा देनेकी कलाका भी ब्रह्माजीके उक्त ग्रन्थमे वर्णन किया गया है। सात अङ्गासे युक्त राज्यके ह्रास, वृद्धि और समान भावसे स्थिति, दूतके सामर्थ्यसे होनेवाली अपनी तथा अपने राष्ट्रकी वृद्धि, शत्रु, मित्र ओर मध्यस्थोका विस्तारपूर्वक सम्यक् विवेचन, बलवान् शत्रुआको कुचल डालने तथा उनसे टक्कर लेनेकी विधि आदिका उक्त ग्रन्थमे वर्णन किया गया है।

शासनसम्बन्धी अत्यन्त सूक्ष्म व्यवहार, कण्टक-शोधन (राज्यकार्यमे विघ्न डालनेवालेको उखाड फेकना), परिश्रम, व्यायाम-योग तथा धनके त्याग ओर सग्रहका भी उसमे प्रतिपादन किया गया है। जिनके भरण-पोपणका कोई उपाय न हो, उनके जीवन-निर्वाहका प्रबन्ध करना, राज्यकी आरसे जिनके भरण-पोषणकी व्यवस्था की गयी हो उनकी देखभाल करना, समयपर धनका दान करना दुर्व्यसनमे आसक्त न होना आदि विविध विपयाका उस ग्रन्थमे उल्लेख है—

अभृताना च भरण भृताना चान्ववेक्षणम्।
अर्थस्य काले दान च व्यसने चाप्रसङ्गिता॥

(महा० शान्ति० ५९।५४)

राजाके गुण, सेनापतिके गुण, अर्थ, धर्म ओर कामके साधन तथा उनके गुण-दोपका भी उसमे निरूपण किया गया है—

तथा राजगुणाश्चैव सनापतिगुणाश्च ह।
कारण च त्रिवर्गस्य गुणदोपास्तथैव च॥

(महा०, शान्ति० ५९।५५)

भाँति-भाँतिकी दुरचेष्टा, अपने सेवकोकी जीविकाका विचार, सबके प्रति सशङ्क रहना, प्रमादका परित्याग करना अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करना प्राप्त हुई वस्तुका सुरक्षित रूपसे बढाना आर बढी हुई वस्तुका सुपात्राको विधिपूर्वक दान दना—यह धनका पहला उपयोग है। धमके लिय धनका त्याग उसका दूसरा उपयोग हे, कामोपभोगके लिये उसका व्यय करना तीसरा आर सकट-निवारणके लिये उस खर्च करना उसका चाथा उपयोग है। इन सब बाताका उस ग्रन्थमे भलीभाँति वर्णन किया गया है।[१]

कुरुश्रेष्ठ! क्रोध और कामसे उत्पन्न हानेवाले जो यहाँ

१ दुर्श्चेष्टित च विविध वृत्तिश्चैवानुवर्तिनाम्। शङ्कितत्व च सर्वस्य प्रमादस्य च वर्जनम्॥
अलब्धलाभा लब्धस्य तथैव च विवर्धनम्। प्रदान च विवृद्धस्य पात्रेभ्यो विधिवत्तत ॥
विसर्गोऽर्थस्य धर्मार्थं कामहैतुकमुच्यते। चतुर्थं व्यसनाघाते तथैवात्रानुवर्णितम्॥ (महा० शान्ति० ५९।५६—५८)

दस प्रकारके भयंकर व्यसन हैं, उनका भी उस ग्रन्थमें उल्लेख है। नीतिशास्त्रके आचार्योंने मृगया, द्यूत, मद्यपान और स्त्रीप्रसङ्ग—ये चार प्रकारके कामजनित व्यसन बताये हैं, उन सबका इस ग्रन्थमें ब्रह्माजीने प्रतिपादन किया है। वाणीकी कटुता, उग्रता, दण्डकी कठोरता, शरीरका कैद कर लेना, किसीको सदाके लिये त्याग देना और आर्थिक हानि पहुँचाना—ये छः प्रकारके क्रोधजनित व्यसन उक्त ग्रन्थमें बताये गये हैं—

वाक्पारुष्यं तथोग्रत्वं दण्डपारुष्यमेव च।
आत्मनो निग्रहस्त्यागो ह्यर्थदूषणमेव च॥
(महा० शान्ति० ५९।६१)

उसमें नाना प्रकारके यन्त्रों और उनकी क्रियाओंका भी वर्णन किया गया है। शत्रुके राष्ट्रको कुचल देना, उसकी सेनाओंपर चोट करना और उनके निवासस्थानोंको नष्ट-भ्रष्ट कर देना—इन सब बातोंका भी इस ग्रन्थमें उल्लेख है। शत्रुकी राजधानीके चैत्य वृक्षोंका विध्वंस करा देना आदि उपायोंका तथा कृषि एवं शिल्प आदि कर्मोंका उपदेश, रथके विभिन्न अवयवोंका निर्माण, ग्राम और नगर आदिमें निवास करनेकी विधि तथा जीवन-निर्वाहके अनेक उपायोंका भी उक्त ग्रन्थमें वर्णन है। युधिष्ठिर! ढाल, नगारे, शङ्ख, भेरी आदि रणवाद्योंको बजाने, मणि, पशु, पृथ्वी, वस्त्र, दास-दासी तथा सुवर्ण—इन छः प्रकारके द्रव्योंका अपने लिये उपार्जन करने एवं शत्रु-पक्षकी इन वस्तुओंका विनाश कर देनेका भी इस नीतिशास्त्रमें उल्लेख है।

अपने अधिकारमें आये हुए देशोंमें शान्ति स्थापित करना, सत्पुरुषोंका सत्कार करना, विद्वानोंके साथ एकता (मेल-जोल) बढ़ाना, दान और हवनकी विधिको जानना, माङ्गलिक वस्तुओंका स्पर्श करना, शरीरको वस्त्र और आभूषणोंसे सजाना, भोजनकी व्यवस्था करना और सर्वदा आस्तिक बुद्धि रखना—इनका भी उस ग्रन्थमें वर्णन है—

लब्धस्य च प्रशमनं सतां चैवाभिपूजनम्।
विद्वद्भिरेकीभावश्च दानहोमविधिज्ञता॥
मङ्गलालम्भनं चैव शरीरस्य प्रतिक्रिया।
आहारयोजनं चैव नित्यमास्तिक्यमेव च॥
(महा०, शान्ति० ५९।६५-६६)

मनुष्य अकेला होकर भी किस प्रकार उत्थान (उन्नति) करे—इसका विचार, साथ ही सत्यता, उत्सवों और समाजोंमें मधुर वाणीका प्रयोग तथा गृहसम्बन्धी क्रियाएँ—इन सबका वर्णन किया गया है। समस्त न्यायालयोंमें जो प्रत्यक्ष और परोक्ष विचार होते हैं तथा वहाँ जो राजकार्य पुरुषोंके व्यवहार होते हैं, उन सबका प्रतिपादन, निरीक्षण करना चाहिये—यह भी उक्त शास्त्रमें उल्लिखित है।

ब्राह्मणोंको दण्ड न देनेका, अपराधियोंको युक्तिपूर्वक दण्ड देनेका, अपने पीछे जिनकी जीविका चलती हो उनकी, अपने जाति-भाइयोंकी तथा गुणवान् पुरुषोंकी भी उन्नति करनेका उसमें उल्लेख है। राजन्! पुरवासियोंकी रक्षा, राज्यकी वृद्धि तथा द्वादश[1] राजमण्डलोंके विषयमें जो चिन्तन किया जाता है, उसका भी उस ग्रन्थमें उल्लेख हुआ है। वैद्यक शास्त्रके अनुसार बहत्तर प्रकारकी शारीरिक चिकित्सा तथा देश, जाति और कुलके धर्मोंका भी भलीभाँति वर्णन किया गया है।

प्रचुर दक्षिणा देनेवाले युधिष्ठिर! उक्त ग्रन्थमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका एवं इनकी प्राप्तिके उपायोंका तथा नाना प्रकारकी धन-लिप्साका भी वर्णन है—

धर्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्चात्रानुवर्णिताः।
उपायाश्चार्थलिप्सा च विविधा भूरिदक्षिण॥
(महा० शान्ति० ५९।७२)

उक्त ग्रन्थमें कोषकी वृद्धि करनेवाले जो कृषि, वाणिज्य आदि मूल कर्म हैं, उनके करनेका प्रकार बताया गया है। इतना ही नहीं, जिन-जिन उपायोंद्वारा यह जगत्

१ पहला शत्रु राजा, दूसरा मित्र राजा, तीसरा शत्रुका मित्र राजा, चौथा मित्रका मित्र राजा, पाँचवाँ शत्रुके मित्रका मित्र राजा, छठा अपने पृष्ठभागकी रक्षाके लिये स्वयं उपस्थित हुआ राजा, सातवाँ शत्रुकी सहायता एवं पृष्ठपोषणके लिये स्वयं उपस्थित राजा, आठवाँ अपने पक्षमें बुलानेपर आया हुआ राजा, नवाँ शत्रुपक्षमें बुलानेपर आया हुआ राजा, दसवाँ स्वयं विजयाभिलाषी नरेश, ग्यारहवाँ अपने और शत्रु दोनोंके मध्यस्थ राजा, बारहवाँ सबसे अधिक शक्तिशाली एवं उदासीन राजा—ये द्वादश राजमण्डल कहे गये हैं।

सन्मार्गसे विचलित न हो उक्त नीति-शास्त्रमे प्रतिपादन किया गया है—

यैर्यैरुपायैर्लोकस्तु न चलेदार्यवर्त्मन ।
तत् सर्व राजशार्दूल नीतिशास्त्रेऽभिवर्णितम्॥
(महा० शान्ति० ५९।७४)

युधिष्ठिर! पुराणशास्त्र महर्षियाकी उत्पत्ति, तीर्थसमूह, नक्षत्रसमुदाय, ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रम, होता आदि चार प्रकारके ऋत्विजासे सम्पन्न होनेवाले यज्ञकर्म, चारा वर्ण और चारा विद्याआका पूर्वोक्त नीतिशास्त्रम प्रतिपादन किया गया है। इतिहास वेद न्याय—इन सबका उसम पूरा-पूरा वर्णन है। तप ज्ञान, अहिसाका तथा जो सत्य-असत्यसे परे है उसका और वृद्धजनाकी सवा, दान, शौच, उत्थान एव समस्त प्राणियोपर दया आदि सभी विषयोका उस ग्रन्थम वणन है।[१]

पाण्डुनन्दन! अधिक क्या कहा जाय? जो कुछ इस पृथ्वीपर है और जो इसके नीचे है, उन सबका ब्रह्माजीके पूर्वोक्त शास्त्रम समावश किया गया है इसम सशय नहीं है—

भुवि चाधोगत यच्च तच्च सर्व समर्पितम्।
तस्मिन् पैतामह शास्त्रे पाण्डवैतन्न सशय ॥
(महा० शान्ति० ५९।१४३)

इस प्रकार इस शुभ शास्त्रका निर्माण करके जगत्के स्वामी भगवान् ब्रह्मा बड प्रसन्न हुए और इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवताआसे इस प्रकार बोले—

'देवगण! सम्पूर्ण जगत्के उपकार तथा धर्म, अर्थ एव कामकी स्थापनाके लिये वाणीका सारभूत यह विचार यहाँ प्रकट किया गया—

उपकाराय लोकस्य त्रिवर्गस्थापनाय च।
नवनीत सरस्वत्या बुद्धिरेषा प्रभाविता॥
(महा० शान्ति० ५९।७६)

'दण्ड-विधानसे युक्त यह नीति सम्पूर्ण जगत्की रक्षा करनवाली है। यह दुष्टोके निग्रह ओर साधु पुरुषाके प्रति अनुग्रहम तत्पर रहकर सम्पूर्ण जगत्म प्रचलित होगी —

दण्डेन सहिता ह्येषा लोकरक्षणकारिका।
निग्रहानुग्रहरता लोकाननुचरिष्यति॥
(महा० शान्ति० ५९।७७)

'इस शास्त्रके अनुसार दण्डके द्वारा जगत्का सन्मार्गपर स्थापन किया जाता हे अथवा राजा इसके अनुसार प्रजावर्गम दण्डकी स्थापना करता हे, इसलिये यह विद्या दण्डनीतिके नामसे विख्यात है। इसका तीना लोकाम विस्तार होगा—

दण्डेन नीयते चेद दण्ड नयति वा पुन ।
दण्डनीतिरिति ख्याता त्रील्लोकानभिवर्तत॥
(महा० शान्ति० ५९।७८)

'यह विद्या सधि-विग्रह आदि छहा गुणाका सारभूत है। महात्माआम इसका स्थान सबसे आगे होगा। इस शास्त्रमे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारा पुरुषार्थोका निरूपण किया गया है'—

षाड्गुण्यगुणसारैषा स्थास्यत्यग्रे महात्मसु।
धर्मार्थकाममोक्षाश्च सकला ह्यत्र शब्दिता ॥
(महा० शान्ति० ५९।७९)

भगवान् शङ्करका नीतिशास्त्र

सबसे पहले भगवान् शङ्करने ब्रह्माप्रोक्त नीतिशास्त्रको ग्रहण किया। व बहुरूप, विशालाक्ष, शिव, स्थाणु, उमापति आदि नामास प्रसिद्ध हैं—

ततस्ता भगवान् नीति पूर्व जग्राह शङ्कर ।
बहुरूपो विशालाक्ष शिव स्थाणुरुमापति ॥
(महा० शान्ति० ५९।८०)

विशालाक्ष भगवान् शिवने प्रजावर्गकी आयुका ह्रास होता जानकर ब्रह्माजाके रचे हुए इस महान् अर्थसे भरे हुए शास्त्रका सक्षिप्त किया था, इसीलिय इसका नाम 'वैशालाक्ष-नीतिशास्त्र' हा गया—

प्रजानामायुषो ह्रास विज्ञाय भगवाञ्छिव ।
सचिक्षेप तत शास्त्र महार्थ ब्रह्मणा कृतम्॥
वैशालाक्षमिति प्रोक्त............ ।
(महा० शान्ति० ५९।८१-८२)

१ आगमश्च पुराणाना महर्षीणा च सम्भव । तीर्थवशश्च वशश्च नक्षत्राणा युधिष्ठिर॥
सकल चातुराश्रम्य चातुर्होत्र तथैव च । चातुर्वर्ण्य तथैवात्र चातुर्विद्य च कीर्तितम्॥
इतिहासाश्च वेदाश्च न्याय कृत्स्नश्च वर्णित । तपा ज्ञानमहिंसा च सत्यासत्यन य पर ॥
वृद्धोपसेवा दान च शौचमुत्थानमव च । सर्वभूतानुकम्पा च सर्वमत्रोपवर्णितम्॥ (महा० शान्ति० ५९।१३९—१४२)

देवराज इन्द्रका नीतिशास्त्र

भगवान् शिवके अनन्तर इसे इन्द्रने ग्रहण किया। महातपस्वी सुब्रह्मण्य भगवान् पुरन्दरने जब इसका अध्ययन किया, उस समय इसमें दस हजार अध्याय थे। फिर उन्होंने भी इसका सक्षेप किया, जिसमें यह पाँच हजार अध्यायवाला ग्रन्थ हो गया। तात! वही ग्रन्थ 'बाहुदन्तक' नामक नीतिशास्त्रके रूपमे विख्यात हुआ—

तदिन्द्र प्रत्यपद्यत।
दशाध्यायसहस्राणि सुब्रह्मण्यो महातपा ॥
भगवानपि तच्छास्त्र सचिक्षेप पुरन्दर ।
सहस्रै पञ्चभिस्तात यदुक्त बाहुदन्तकम्॥
(महा० शान्ति० ५९।८२-८३)

देवगुरु बृहस्पतिका नीतिशास्त्र

इसके बाद सामर्थ्यशाली बृहस्पतिजीने अपनी बुद्धिसे इसका सक्षेप किया, तबसे इसमे तीन हजार अध्याय रह गये। यही 'बार्हस्पत्य' नामक नीतिशास्त्र कहलाता है—

अध्यायाना सहस्रैस्तु त्रिभिरेव बृहस्पति ।
सचिक्षेपेश्वरो बुद्ध्या बार्हस्पत्य तदुच्यते॥
(महा० शान्ति० ५९।८४)

आचार्य शुक्रप्रणीत नीतिशास्त्र

फिर महायशस्वी, योगशास्त्रके आचार्य तथा अमित बुद्धिमान् शुक्राचार्यने एक हजार अध्यायोमे उस शास्त्रका सक्षेपण किया—

अध्यायाना सहस्रेण काव्य सक्षेपमब्रवीत्।
तच्छास्त्रममितप्रज्ञो योगाचार्यो महायशा ॥
(महा०, शान्ति० ५९।८५)

इस प्रकार मनुष्योकी आयुका ह्रास होता जानकर जगत्के हितके लिये महर्षियोने इस शास्त्रका सक्षेप किया और आगे फिर इसका प्रचार-प्रसार होता गया। इस प्रकार नीतिशास्त्रके आदि आचार्य पितामह ब्रह्मा हैं और उनसे शङ्करजीने ग्रहण किया। फिर इन्द्रको प्राप्त हुआ। तदनन्तर क्रमश बृहस्पति और शुक्राचार्यके पास यह आया। सभी आचार्योंद्वारा कालकी गतिको देखते हुए इसका सक्षेपण किया गया। इस प्रकार नीतिशास्त्रका आरम्भ सृष्टिसे ही हुआ है।

~~~

धर्मनीतिके पालक महाराज पृथु

आख्यान—

(डॉ० श्रीसर्वानन्दजी पाठक, एम०ए० पी-एच०डी० (द्वय) डी०लिट्० शास्त्री काव्यतीर्थ, पुराणाचार्य)

यद्यपि अभिज्ञानशाकुन्तल (५। ३-४) एव महाभारत आदिमे भी 'लोकतन्त्र'-पद्धतिका उल्लेख मिलता है, तथापि उस कालमे प्रशासनका सारा भार प्राय राजाके ही ऊपर रहता था और जनताके कल्याणके लिये राजा सर्वदा तथा सर्वथा सचेष्ट रहता था। राजाका जीवन सदाचारपूर्ण एव सरल होता था, वह स्वय तो कष्ट सहन कर लेता था, किंतु प्रजावर्गकी सुख-सुविधाओमे कोई न्यूनता न हो इस ओर उसकी पूरी सावधानता रहती थी। दाशरथि राम आदि राजा इसके लिये उदाहरणीय हैं। इसके विपरीत अपवादस्वरूप कतिपय वेदविरोधी निरकुश या स्वेच्छाचारी शासकोका भी उल्लेख इतिहास-पुराणोमे मिलता है, जिन्हे समाजद्वारा दण्डित भी होना पडता था।

'राजृ दीप्तौ' धातुसे निष्पन्न 'राजा' शब्दका अर्थ होता है—वह शासक—जो सदाचारिता नि स्वार्थता, प्रजाहितैषिता एव नीतिमत्ता आदि सद्गुणोके कारण राष्ट्रमे प्रकाशमान प्रजाओंका श्रद्धास्पद हो। पर यत्र-तत्र अनाचारी शासकोका भी वर्णन भारतीय वाङ्मयमे मिलता है। ऐसे राजाकी तानाशाही बढते-बढते जब चरम सीमापर पहुँच जाती थी, तब उनका पतन होनेमे भी देर नहीं लगती थी।

पुरातनकालमे ऐसे ही अहकारी, नीतिविरुद्ध उद्दण्ड तथा स्वेच्छाचारी राजा वेनका प्रसग मिलता है। उनके पिता अङ्ग थे, जो परम सदाचारी राजा थे। पुत्र वेनकी उद्दण्डतासे ऊबकर राजर्षि अङ्गने घर छोडकर वनका आश्रय ले लिया था। अत शासकके अभावमे सम्पूर्ण राष्ट्रमे पाशविक उच्छृङ्खलताएँ बढ गयीं। मुनियोने राज्यकी कल्याण-कामना-हेतु पुत्रवत्सला वेनकी माता सुनीथाकी प्रेरणासे मन्त्रियोके सहमत न होनेपर भी वेनको ही भूमण्डलके राजपदपर अभिषिक्त कर दिया था। परिणाम यह हुआ कि राजपदपर आसीन होते ही वह आठो लोकपालोंकी ऐश्वर्य कलाके आत्मनिष्ठ हो जानेके कारण उन्मत्त हो उठा और अहकारवश अपनेको ही सर्वश्रेष्ठ मानकर महापुरुषोंका अपमान करने लगा। ऐश्वर्यमदमे अन्धा हुआ वह रथारूढ
~~~

होकर, निरकुश गजराजके समान पृथ्वी और आकाशको कँपाता हुआ सर्वत्र विचरण करने लगा। ढिढोरा पिटवाकर उसने सम्पूर्ण राष्ट्रमे धार्मिक एव सास्कृतिक कार्य बद करवा दिय। सम्पूर्ण भूमण्डलम हाहाकार मच गया। अहकारवश मदोन्मत्त होकर उसने अपनेको ही जगत्क ईश्वर-रूपमे घोपित कर दिया। अपनेको छोडकर किसी अन्य अतीन्द्रिय शक्तिशाली परमात्माके अस्तित्वको उसने कथमपि स्वीकार नहीं किया। सारे प्रजावर्गको मूर्ख मानकर वह कहने लगा था—'प्रजाजनो, तुम अधर्ममे ही धर्मबुद्धि रखते हो। जो लोग मूर्खतावश प्रत्यक्ष राजारूप परमेश्वरका अनादर करते हैं, उन्हे न तो इस लोकम सुख मिलता है और न परलोकम ही। जिसमे तुम लोगोकी इतनी भक्ति ह, वह परमेश्वर है कौन? यह ता एसी बात हुई जैसे कुलटा स्त्रियाँ अपने विवाहित पतिसे प्रेम न कर किसी परपुरुषमे आसक्त हो जायँ। ब्रह्मा, विष्णु, महादव, इन्द्र वायु, यम, सूर्य, मेघ चन्द्रमा, पृथ्वी, अग्नि और वरुण तथा इनके अतिरिक्त जो दूसरे समर्थ देवता है, वे प्रत्यक्ष राजाके शरीरम विद्यमान रहते हैं, इसलिये राजा सर्वदेवमय है और देवता उसके अशमात्र हैं। अतएव तुम लोग मत्सरता छोडकर अपने अशेष कर्मोंके द्वारा एकमात्र मेरा ही पूजन करो और मुझे ही बलि समर्पित करो। भला मेरे सिवा और कौन अग्रपूजाका अधिकारी हो सकता है?'

इस प्रकार विपरीत बुद्धि होनेके कारण वह अत्यन्त पापी और कुमार्गगामी हा गया था। उसका पुण्य सर्वथा क्षीण हो चुका था इसलिये 'विनाशकाले विपरीतबुद्धि 'के अनुसार वेनको किसी हितैपीका सदुपदेश भी अच्छा नहीं लगता था।* उसने अपना दुराचरण नहीं छोडा और उसकी तानाशाही दिन-पर-दिन बढती ही गयी।

ऐसी दु स्थितिमे धर्म एव समाजके हितचिन्तक मुनिवराने वेनको राजसिहासनके अयोग्य समझकर अपने छिपे हुए क्रोधको प्रकटकर धर्म एव समाजकी रक्षाके लिये उसे मार डालनेका निश्चय किया। यद्यपि वेन तो अपने पापाचरणके कारण पहले ही मर चुका था, अत मुनियाने केवल हुकारसे ही उसका काम तमाम कर दिया। अब वेनकी शोकाकुला माता सुनीथा माहवश मन्त्रादि-बलसे तथा अन्य युक्तियासे अपने मृत पुत्रके शवकी रक्षा करने लगी।

नीतिशास्त्रके मतानुसार राष्ट्रमे एक सुयोग्य राजा या शासकका होना परम आवश्यक माना गया है, क्योकि शासकके अभावमे प्रजावर्गमे निर्भीकता एव उच्छृखलता बढ जाती है। दुराचारी रहनेपर भी राजा वेनके मर जानेपर सारे भूमण्डलमे अराजकता फैल गयी, चोर-डाकुओका उपद्रव बढने लगा, लूट-खसाट शुरू हो गयी। निरकुशताके कारण बलवान् निर्बलोंका तरह-तरहसे सताने लगे। यह देखकर मुनियाने विचार किया—'ब्राह्मण यदि समदर्शी और शान्तस्वभाव हो तो भी दीनोके दैन्यकी उपेक्षा करनसे उसका तपोबल उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जेसे फूटे हुए घडमसे जल। फिर राजर्षि अङ्गकी वशपरम्पराका भी नाश नहीं होना चाहिये, क्योकि इसम अनेक अमोघ शक्तिसम्पन्न तथा कर्तव्यपरायण राजा हो चुके हैं।' ऐसा सोचकर ब्राह्मणोने पुत्रहीन राजा वेनकी भुजाओका मन्थन किया। उससे एक स्त्री-पुरुषका जोडा प्रकट हुआ। ब्रह्मवादी ऋषि उस जोडेको उत्पन्न हुआ देखकर और उसे भगवान्‌का अश जानकर बहुत प्रसन्न हुए। वे बाले—'इनमे जो पुरुष है, उसके अङ्ग-अङ्गमे चक्रवर्तीके चिह्न हैं, यह अपने सुयशका प्रथन अर्थात् विस्तार करनेक कारण परम यशस्वी 'पृथु' नामक सम्राट् होगा एव राजाआमें सर्वप्रथम राजमान्या तथा सर्वगुणसम्पन्ना यह सुन्दर स्त्री पृथुका अपने पतिके रूपमे वरेगी और यह 'अर्चि' नामसे विख्यात होगी।'

पृथुके जन्मके उपलक्ष्यमे सम्पूर्ण राष्ट्रमे गीत-वाद्यादिके द्वारा महान् उत्सव मनाये गये। ब्रह्मा आदि प्रमुख देवता भी उस कुमारको देखने आये।

स्वच्छाचारी राजा वेनके शासनकालमे सारे राज्यम असतोपकी स्थिति हो गयी थी। सर्वत्र दुर्भिक्ष छा गया था—धरा शक्तिहीन हो गयी थी। अन्न और औपधादिक पदार्थ लुप्तप्राय हो गये थे। वेनकी तानाशाहीके कारण प्रजावर्गमे क्षुधाके मारे व्याकुलता थी। सर्वत्र 'त्राहि त्राहि' का आर्तनाद सुनायी देता था।

जब समाजम दुराचरणकी अतिशयिता चरम शिखरपर

---

* नीतिकारका यह कथन ठीक ही है कि—

सुहदा हितकामाना य शृणाति न भाषितम्। विपत् सनिहिता तस्य स नर शत्रुनन्दन ॥
दीपनिर्वाणगन्ध च सुहृद्वाक्यमरुन्धतीम्। न जिघ्रन्ति न शृण्वन्ति न पश्यन्ति गतायुप ॥

(हितापदश १। ७४ ७६)

पहुँच जाती है, तब उसके निवारणके लिये प्रकृति निश्चय ही कुछ प्रबन्ध कर देती है। जब रावणके दर्पकी मात्रा बढी, तब राजधानी लकासहित उसका सर्वनाश हुआ। अभिमानके चरम सीमापर पहुँचनेपर कौरवाका पतन हुआ और जब राजा बलिका अपनी दानशीलताके लिये गर्व हुआ, तब उन्हे बन्धनम आना पडा—

अतिदर्पे हता लङ्का ह्यतिमाने च कौरवा ।
अतिदाने बलिर्बद्ध सर्वमत्यन्तगर्हितम्॥

(सुभाषितरत्नभाण्डागारम्)

ऐसी ही अवस्थाके आ जानेपर वेनके सहारके पश्चात् प्रजावत्सल सदाचारी नीतिमान् राजा पृथुके हाथम शासनाधिकार आया। ससम्मान उनका राजतिलक हुआ। पृथुके अशेष आचरण प्रजातान्त्रिक थे। प्रजावर्गकी सुख-सुविधाके लिये

पृथु सम्पूर्ण व्यवस्था करते थे। सारे राज्यम प्रसन्नता एव अद्भुत शान्ति छा गयी। दु ख-दारिद्र्यका कहीं नाम तक सुनायी नहीं देता था आनन्द-ही-आनन्दकी अनुभूति हो रही थी। पृथिवीपति राजा पृथुके द्वारा शासित पृथ्वी अपन 'वसुधरा' नामको चरितार्थ करने लगी। उससे विविध प्रकारके अन्न प्रचुर मात्रामे उपजने लगे। वृक्ष-लताएँ भाँति-भाँतिके सुस्वादु फलो एव सुगन्धित पुष्पोसे लदने लगीं। गव्य (गोदुग्ध आदि) पदार्थोंका बाहुल्य हो गया। ऐसी अवस्था देख महाराज पृथु प्रसन्नताका अनुभव करन लगे। तत्कालीन सर्वकामदुधा पृथ्वीके प्रति उनका पुत्रीके समान स्नेह होने लगा अत उसे अपनी कन्याके रूपम उन्हाने स्वीकार कर लिया। [मनुजीने इन्हे ९। ४४ म पृथुकी स्त्री भी बतलाया है।] उन्हाने पूर्वसे अव्यवस्थित आकृतिवाल ऊबड-खाबड सारे भूमण्डलको प्राय समतल कर दिया। जनताके लिये उन्हाने जहाँ-तहाँ यथायोग्य निवासस्थानाका व्यवस्था कर दी। उन्हाने अनेक गाँव, कस्बे, नगर दुर्ग घोष (अहीराकी बस्ती), पशुआके रहनेके स्थान, छावनियाँ खानियाँ, किसानोके गाँव और पहाडाकी तलहटीके गाव बसाये और जनताकी शिक्षा-दीक्षा आदिकी सारी सुविधाओंकी व्यवस्था कर दी। इनके पहल इस भूमण्डलपर पुर-ग्रामादिका विभाग नहीं था, सब लोग अपने-अपने सुभीतके अनुसार जहाँ-तहाँ बसते थे।

विधिका प्राकृतिक विधान विचित्र एव आकस्मिक परिवर्तनशील है। एक स्थितिका दूसरी स्थितिम परिवर्तन अवश्यम्भावी है। रात्रि-दिन, दु ख-सुख, अशान्ति-शान्ति दुर्भिक्ष-सुभिक्ष तथा विषाद-प्रसाद आदि विविध विपरीत तत्त्वयुगलका परिवर्तनचक्र अबाधगतिसे निरन्तर चलता रहता है। जब हिरण्यकशिपुके अत्याचारसे प्रह्लाद-प्रमुख सदाचारी जनता पीडित हुई तब भगवान्ने नरसिहरूपमें प्रकट होकर शान्ति स्थापित की। रावणके अत्याचारसे सत्रस्त हुई जनताका श्रीरामने उद्धार किया। कसके अत्याचारसे व्याकुल प्रजावर्गको श्रीकृष्णने शान्ति प्रदान की उसी प्रकार वेदविरोधी पापी वनके उद्दण्ड शासनसे उद्विग्न जनताके कल्याणके लिये महाराज पृथुका चक्रवर्ती राजाके रूपमे आविर्भाव हुआ था। अथर्ववेदमे इनका चरित्र विस्तारसे वर्णित है।

प्रकृतिका एक अकाट्य नियम है—राष्ट्र या समाजमें जब जनताके धर्म नीति, मर्यादा एव सस्कृतिके ऊपर भीषण सकट आता है और घोर अधर्मका उत्थान हाने लगता है, तब कोई नियामक शक्ति किसी रूपमे अवश्य आकर सार्वत्रिक शान्तिकी व्यवस्था कर देती है।

आदिशक्तिकी घोषणा है कि—

इत्थ यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति॥
तदा तदावतीर्याह करिष्याम्यरिसक्षयम्॥

(श्रीदुर्गासप्तशती ११। ५४-५५)

अर्थात् इस प्रकार जब-जब ससारम दानवी बाधा उपस्थित होगी तब-तब अवतार लेकर मैं शत्रुओंका सहार करूँगी।

नीतिशास्त्रका वैशिष्ट्य

(दण्डी स्वामी श्रीमद् दत्तयोगेश्वरदेवतीर्थजी महाराज)

'नीति शास्त्रेण वर्तनम्।' 'यथाशास्त्र व्यवहार करना', अर्थात् शास्त्रके आज्ञानुसार 'कर्म' का अनुष्ठान करना- इसे 'नीति' कहते हैं। संस्कृत भाषाके व्याकरणानुसार 'नी' (नय) (अर्थात् लेना, आगे चलाना) धातुसे 'क्तिन्' प्रत्ययके योगसे 'नीति' पद निष्पन्न होता है। सत्प्रवृत्ति सदाचरण सारासारविवेक अहिंसा सत्य अस्तेयादि गुण एवं 'अन्तिम सत्य' के प्रति ले जानेवाले मार्ग इत्यादि अर्थ 'नीति' शब्दद्वारा दर्शित हैं। अर्थशास्त्र, राज्यशास्त्र, समाजशास्त्र जीवनशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र आदिके साथ 'नीति' का घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतः नीतिका विचार ही व्यापक है। ऐसे व्यापक नीति-विचारको 'नीतिशास्त्र' कहते हैं।

'नीतिशास्त्र' का अर्थ है 'कर्माकर्म-विवेक'। समाजमें व्यक्ति, परिवार, जाति, वर्ग, राष्ट्र आदि भिन्न-भिन्न घटक होते हैं। उसमें व्यक्ति, जाति, संस्थाको कैसा व्यवहार करना चाहिये कैसे रहना चाहिये—इस सम्बन्धमें कतिपय विशेष नियम होते हैं जिन्हें 'नीतिशास्त्र' कहते हैं।

'धर्म' का एक भाग ही 'नीतिशास्त्र' है। सत्य, अहिंसा दया परोपकार अस्तेय औदार्य मातृ-पितृ- गुरु-भक्ति, पातिव्रत्य, बन्धुभाव, मनोनिग्रह, जितेन्द्रियत्व, निर्लोभत्व, वचनबद्धता, समबुद्धि, सहिष्णुता इत्यादि 'नीति' के तत्त्व हैं।

धर्मग्रन्थोंका अच्छी तरहसे परिशीलन करनेपर प्रतीत होता है कि तत्त्वज्ञानकी अपेक्षा 'आचारधर्म' का अधिक महत्त्व है। त्याग संयम तप दया, क्षमा शान्ति सत्य- निष्ठा इत्यादि नैतिक गुणोंसे सम्पन्न व्यक्तिको ही समाजने वन्दनीय-पूजनीय मान्य किया है और विविध दूषणोंसे भरे व्यक्तिका निषेध किया है। 'वसिष्ठस्मृति' (६।३) कहती है— 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदा यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः।' अर्थात् छः अङ्गोंके सहित 'वेद' पढ़ा हुआ व्यक्ति भी यदि 'आचारहीन' है तो किसी भी प्रकारसे वह शुद्ध नहीं हो सकता। इसलिये 'आचार' को प्रथम धर्म कहा है— 'आचारः प्रथमो धर्मः।' अतः 'श्रीमद्भगवद्गीता' (३।२१)- में श्रीकृष्णने कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

अर्थात् 'श्रेष्ठ पुरुष (धर्मवान्, नीतिमान् पुरुष) जो- जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी उसका अनुसरण करते हैं (वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं)। वह जो कुछ प्रमाण प्रस्तुत कर देता है, समस्त मनुष्य-समुदाय उसीके अनुसार व्यवहार करने लग जाता है।'

भगवान्ने 'श्रीमद्भगवद्गीता' (१०।३८)-में स्पष्ट कहा है कि 'नीतिरस्मि जिगीषताम्।' अर्थात् विजयेच्छुकी 'नीति' (शास्त्रानुसार व्यवहार) मैं ही हूँ। अतः नीतिशास्त्रके पथका 'पथिक' होना ही श्रेयस्कर है। 'परम पद' (मोक्ष)- की प्राप्तिका सरल उपाय चार सोपानोंमें बताते हुए भगवान् 'श्रीदत्तात्रेय' अपने शिष्य 'श्रीकार्तिकस्वामी'को उपदेश करते हैं—

रागद्वेषविनिर्मुक्तः सर्वभूतहिते रतः।
दृढबोधश्च धीरश्च स गच्छेत् परमं पदम्॥

(अवधूतगीता २।२४)

अर्थात् (१) 'राग' (आसक्ति ममत्व) एवं 'द्वेष' (ईर्ष्याभाव)-से विमुक्त होना, (२) सर्वप्राणियोंके हित (कल्याण)-में रत (कार्यरत, लगे) रहना, (३) ब्रह्मज्ञानविषयक 'बोध' दृढ होना और (४) धैर्यवान् होना—ये परमपद-प्राप्तिके चार सोपान हैं।

उपर्युक्त श्लोकको 'दत्तात्रेय-नीतिसार' कहें तो उपयुक्त ही होगा।

वेद स्मृति, सज्जनोंका आचार और स्वतःके मनको प्रिय (योग्य) प्रतीत हो—इन साधनोंके द्वारा धर्माधर्मका निश्चय करना चाहिये, ऐसा 'मनुस्मृति' (२।१२) में कहा गया है।

हिंदू-धर्मशास्त्रने नीति-नियमोंको विशेष महत्त्व प्रदान किया है अतः वेद उपनिषद्, रामायण, महाभारत स्मृति

पुराणादिमे नीतितत्त्वका कथन हुआ है। प्राचीन शास्त्रकाराके मतानुसार 'धर्म' एवं 'नीति' का अद्वैत (ऐक्य) है, 'धर्म' और 'नीति' के परिपालन बिना कोई भी पुरुषार्थ साध्य नहीं होता ऐसा उनका सिद्धान्त है। सत्य, अहिंसा, दया, क्षमा, परोपकार, दान, मनोनिग्रह—ये धर्मके 'सार' हैं, ऐसा उपर्युक्त ग्रन्थोंमें पुनः-पुनः कहा गया है। प्राचीन भारतमें वैभव एवं ऐश्वर्य जीवनके सभी क्षेत्रोंमें प्राप्त था और इसका कारण परमोदात्त नीतितत्त्वका 'आचरण' ही था इसमें शंका नहीं है। महर्षि व्यास एवं महर्षि वाल्मीकि-जैसे महाकवि, श्रीराम एवं श्रीकृष्ण-जैसे भगवदीय अवतारी पुरुषपुङ्गव, सीता-सावित्री-अनसूया-जैसी महापतिव्रता नारियाँ और जनक, रघु, पृथु, पूरु बलि-प्रभृति राजर्षि तथा ध्रुव, प्रह्लाद-जैसे भगवद्भक्त एवं कपिल, पतञ्जलि कणाद गौतम-जैसे तत्त्ववेत्ता बुद्ध महावीर, आदिशंकराचार्य-जैसे भगवदीय धर्मगुरु—इनके उदात्त चरित्र प्राचीन भारतके 'नैतिक आदर्श' माने गये हैं।

हिंदू समाजमें मनुष्यका अन्तिम प्राप्तव्य (लक्ष्य) मोक्ष बताया गया है। जन्म-मृत्युके चक्रसे विमुक्त होना ही 'मोक्ष' है। ऐसा भी कहा है कि कर्मसे मनुष्य 'बद्ध' होता है और परमेश्वरकी कृपासे किंवा परमार्थज्ञानसे मनुष्य 'मुक्त' होता है। वह ज्ञान तथा कृपा केवल बौद्धिक ज्ञानसे किंवा तर्कसे प्राप्त नहीं होते। उनके लिये तो मनुष्यको विवेक-वैराग्य तपस्या मनोनिग्रह, वासनाक्षय इत्यादिकी आवश्यकता होती है। यही 'नीति' की नींव है।

मनुष्य धर्मनीतिका आश्रय ग्रहण करके सुसंस्कृत हुआ है यह वेदादि ग्रन्थोंका अध्ययन करनेसे प्रतीत होता है। 'अथर्ववेद' (३।३०।२-३)-में आया है—

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥

अर्थात् पुत्रको पितृ-व्रतका और माताकी आज्ञाका पालन करना चाहिये। पत्नीको पतिसे मृदु एवं मधुर वाणीमें बोलना चाहिये। भाईको भाईसे तथा बहिनको बहिनसे विद्वेष नहीं करना चाहिये। परस्पर प्रेम रखकर और समानव्रत धारण करके भद्र (कल्याणकारी) वाणीसे बोलना चाहिये।

सहकार्य संघटन एवं समता इत्यादिका नीतिपूर्ण उपदेश वैदिक ऋषियोंद्वारा इस प्रकार दिया गया है—

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
(ऋग्वेद १०।१९१।२)

अर्थात् 'तुम मिलकर चलो, एक साथ होकर स्तोत्रगान करो, तुम्हारे मनोभाव एकरूप हों।'

'ऋग्वेद' आगे उपदेश देता है—

'समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।'
(१०।१९१।४)

तुम्हारा 'अध्यवसाय' (निश्चय) एक हो, तुम्हारा हृदय भी एक हो।

'कठोपनिषद्' उपदेश देता है—

सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै ""।

अर्थात् 'परमात्मा हम दोनोंका रक्षण करें। हम दोनोंका पालन करें। हम दोनोंको एक ही समय सामर्थ्य सम्पादन करायें।'

ऐसे अनेक नीतिवचन वेदवाङ्मयमें प्रदर्शित हैं। नीतिपालनका तात्पर्य यह है कि परिवार, स्वसमाज और स्वराष्ट्रके उस पार दृष्टिक्षेप करके हम अखिल मानवजाति किंवा प्राणिमात्रसे प्रेमका व्यवहार करें, विश्वबन्धुत्वका उदात्तभाव रखें, सभीके साथ मैत्री करें—ऐसा अत्यन्त विशाल और उदार मनोभाव प्राचीन ऋषियोंने अभिव्यक्त किया है। प्राणिमात्रके प्रति मैं मित्रभावसे ही देखूँ और मेरे मनसे सभी अपवित्र विचार-शृंखलाएँ नष्ट हो जायँ मेरे मनमें किसीके भी विषयमें शत्रुभाव न हो। कोई बड़ा हो अथवा छोटा हो मेरा स्नेहभाव उसपर सदा हो ऐसी प्रशस्त नीतिकी प्रार्थना वैदिक ऋषि करते थे।

परिवार एवं राष्ट्र किंवा सम्पूर्ण जगत् अखण्ड रहे, सबका कल्याण हो इसके लिये स्नेह, सद्भाव सहकार्य संघटन समता सत्य सुचारित्र्य, दान मनोनिग्रह इत्यादि नैतिक तत्त्वोंकी अत्यावश्यकता है—ऐसा जानकर वैदिक ऋषिगणोंने इन गुणोंकी महत्ताका गान किया है—

प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आ दधत्॥

(अथर्ववेद ११।४।११)

अर्थात् 'सत्यवादी पुरुषको प्राणने उत्तम लोकम रखा।'

'सा मा सत्योक्ति परि पातु विश्वतो०'

(ऋग्वेद १०।३७।२)

अर्थात् 'वह सत्यवाणी सभी ओरसे मरी रक्षा करे।' इसी प्रकार वेदिक ऋषियाकी निम्न वाणियामे भी नीतिके तत्त्व ही अनुस्यूत हैं—(१) हे अग्न! असत्यका त्याग करके सत्यका आश्रय ग्रहण करनेकी मुझे शक्ति दीजिये (२) उत्तम 'दान' दाता तथा ग्रहण करनेवाले—दानाको ही धन्य करता है। (३) 'धन-अन्न आदिका दान करना चाहिये क्याकि 'धन' तो चक्र-नेमिक्रमसे आज एक व्यक्तिके पास तो कल दूसरेके पास आता-जाता रहता है।' (४) 'हे अग्ने! हम सन्मार्गगामी बनाइये।' (५) हे अग्ने! हमारे दारिद्र्य दौर्बल्य, मत्सर, द्वेष दुर्बुद्धि इत्यादि दुर्गुणाका नाश कीजिये। हमे ऐसा बनाइये कि हम शाप दनेवालेके प्रति शाप न दे। आघात करनेवालेपर प्रत्याघात न कर। शाप एव आघातका प्रत्युत्तर 'प्रेम' (स्नेहभाव)-से दे।'

'उपनिषद्' तो नीतिसूक्तोंका 'भण्डार' ही माना गया है। 'तैत्तिरीय-उपनिषद्' म विद्या पूर्ण करके स्वगृह जानेवाले स्नातकको गुरु उपदेश करते हैं—'सत्य वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमद ' अर्थात् 'सत्य बोलो धर्मका आचरण करो, स्वाध्यायम प्रमाद मत करो।' 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदवो भव, अतिथिदेवो भव'। मातामें देवबुद्धि रखनेवाले बनो पितामें देवबुद्धि रखनेवाले वनो, आचार्यम देवबुद्धि रखनेवाल बना तथा अतिथिमे देवबुद्धि रखनवाले बनो। इसी प्रकार अन्य उपदशाम कहा गया है—'सम्पत्तिका गर्व मत करा। अनिन्द्य एव पुण्यकारक कर्म ही करो। सदाचारका अनुपालन करा।'

—इन श्रुतिवचनोमे 'नीतितत्त्व' का सार समाहित है।

'कठोपनिषद्' म एक विशिष्ट नीतिवचनम बतलाया गया है कि इन्द्रियसुखका 'प्रेय' मार्ग छाडकर शाश्वत सुख-शान्तिका नैतिक श्रेयमार्ग ग्रहण करना चाहिये।

मुक्त कौन होता है?

सुखदु खे समे यस्य लाभालाभौ जयाजयौ।
इच्छाद्वेषौ भयाद्वेगो सर्वथा मुक्त एव स॥
वलीपलितसयोगे कार्श्यं वैवर्ण्यमेव च।
कुब्जभाव च जरया य पश्यति स मुच्यते॥
पुस्त्वोपघात कालेन दर्शनापरम तथा।
बाधिर्यं प्राणमन्दत्व य पश्यति स मुच्यते॥

(महा० शान्ति० २८८। ३७ ३९-४०)

'जिसकी दृष्टिमे सुख-दु ख लाभ-हानि, जय-पराजय सम है तथा जिसके इच्छा-द्वेष, भय और उद्वेग सर्वथा नष्ट हा गय ह, वही मुक्त है। बुढापा आनेपर इस शरीरमे झुर्रियाँ पड जाती हैं, सिरके बाल सफेद हो जात हैं, देह दुबली-पतली एव कान्तिहीन हो जाती हे तथा कमर झुक जानेके कारण मनुष्य कुबडा-सा हो जाता ह। इन सब बाताकी ओर जिसकी सदा ही दृष्टि रहती हे, वह मुक्त हो जाता है। समय आनेपर पुरुषत्व नष्ट हो जाता है आँखासे दिखायी नहीं देता है, कान बहरे हो जाते है और प्राणशक्ति अत्यन्त क्षीण हा जाती है। इन सब बाताका जो सदा देखता और इनपर विचार करता रहता है वह ससार-बन्धनसे मुक्त हा जाता है।'

आख्यान—

आतिथ्य-नीतिके आदर्श महर्षि मुद्गल

एक बात स्पष्ट समझ लेने योग्य है कि अधिकाश ऋषि-मुनि गृहस्थ ब्राह्मण थे। वे वीतराग, तपस्वी तथा भजन-निष्ठ होनेके कारण प्राय जनपदसे दूर झोपडियोंमे रहते थे और अध्ययन-अध्यापन करते थे।

महर्षि मुद्गलने शिलोञ्छ-वृत्ति अपना रखी थी। कृषक जब खेतसे अन्न काटकर ले जा चुके होते तो जो अन्न खेतमे गिरा रह गया होता, उसे 'शिल' कहते हैं और अन्नके बाजारमे दूकाने बद हो जानेपर जो कुछ दाने गिरे पड रह गये होते, उन्हे 'उञ्छ' कहते हैं। मुद्गलजी तथा उनके परिवारके लोग समयके अनुसार 'शिल' और 'उञ्छ' के दाने चुन लाते थे और इसीसे उनकी आजीविका चलती थी। इसमे भी उन्होने यह नियम कर रखा था कि ३४ सेरसे अधिक अन्न कभी नहीं रखेगे।

विषयी पुरुष भोगप्रिय होते है। ऋषि एव ऋषि-परिवार तो तपस्वी था। जीवनका एक-एक क्षण मूल्यवान् है उसे भगवान्‌के स्मरण-भजनमे लगना चाहिये। अत भोजन तो महर्षि मुद्गलके परिवारमे केवल अमावास्या और पूर्णिमाको होता था। उस समय भी चूल्हा-चौकाकी खटपटमे समय व्यर्थ न जाय, इसके लिये एकत्र अन्नका सत्तू भून-पीसकर रख लिया जाता था। अमा या पूर्णिमाको सत्तू खा लेते और भजनमे लगे रहते। शरीर-धारणके लिये इतना आहार पर्याप्त था।

'भगवन्! इस कगालका आतिथ्य ग्रहण करके इसे कृतार्थ करे!' एक अमावास्याको महर्षि दुर्वासा मुद्गलजीकी झोपडीपर पधारे तो मुद्गलने उनके चरण धोये, आसन दिया पूजा की और आहार-ग्रहणकी प्रार्थना की।

'मैं क्षुधापीडित ही आया हूँ!' दुर्वासाने प्रार्थना स्वीकार कर ली। इतना शुद्ध सात्त्विक आहार इतने स्नेह-श्रद्धासे प्राप्त हो तो क्षुधा तो नित्यतृप्त सर्वलोकमहेश्वर तकको लग आती है। दुर्वासाजी भोजन करने बैठे और जितना सत्तू था, सब साफ कर गये। सुप्रसन्न विदा हुए। मुद्गलजीको तो भजनकी भूख थी, अब अन्न एकत्र करनेके लिये खटपट

कौन करता? भोजन टाल दिया गया अगले पर्वके लिये और सब लोग भजनमे लग गये। परतु दुर्वासाजीको यह सत्तू इतना स्वादिष्ठ लगा कि वे अगले पर्वपर भी आ पहुँचे। इस प्रकार वे ६ पर्व—अमावास्या एव पूर्णिमाके आते रहे। महर्षि मुद्गल उनका उसी उत्साह तथा श्रद्धासे आतिथ्य करते रहे। पूरे तीन महीने उनका परिवार अनाहार रहा।

'महाभाग! आप विमानमे बैठे। स्वर्ग आपको पाकर अपनेको धन्य मानेगा।' देवदूत विमान लेकर मुद्गलजीको सशरीर स्वर्ग ले जानेके लिये आये, किंतु धन्य ऋषिका विवेक एव त्याग। उन्होने देवदूतासे स्वर्गका विवरण विस्तारपूर्वक पूछा और अन्तमे कह दिया—'मैं नहीं जाता वहाँ। वहाँ भी अतृप्ति असतोष, अपनेसे अधिक भोग एव पदप्राप्तिके प्रति ईर्ष्या असूयादि हैं, तो वहाँ जानेसे क्या लाभ? वहाँ तो दु ख एव अभाव साथ ही लगे हैं।'

ऐसे त्यागीको तो परमपद प्राप्त होना ही था।

सर्वोत्तम शासकीय नीति राजतन्त्र या प्रजातन्त्र

(शास्त्रार्थ-पञ्चानन पं० श्रीप्रेमाचार्यजी शास्त्री)

सुदूर अतीतमे जब समाज राजस एव तामस गुणासे प्राय अछूता था और अधिकाश प्रजा सात्त्विक भावसे परिपूर्ण थी, तब एकमात्र धर्म ही उन्हे सम्पूर्ण सुरक्षा प्रदान किया करता था। आत्मानुशासित जनता स्वत ही सन्मार्गपर आरूढ रहा करती थी। इसलिये उस समय न कोई राजा था, न राज्य था ओर दण्डनीय व्यक्तियाके अभावके कारण न ही कोइ दण्डाधिकारी ही था। सतोष ओर शान्तिसे भरपूर कितना अद्भुत था वह समय—

न राज्य न च राजासीन्न दण्ड्यो न च दाण्डिक ।
धर्मेणैव प्रजा सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥

शनै -शनै समयमे जब परिवर्तन आया। राजस भाव जाग्रत् हुआ। तामस विचाराकी तन्द्रा भी टूटने लगी। वैषम्यके भाव पनपने लगे। बडी मछलियाँ छोटी मछलियाको निगलनेके लिये लालायित हो उठीं। समाजमे 'मात्स्य-न्याय' की प्रवृत्ति बढने लगी, जिसके फलस्वरूप सामाजिक उच्छृखलताका जन्म हुआ। किसी भयानक सक्रामक रोगकी भाँति फैलते उस सामाजिक उपप्लवके उपशमनके लिये फिर किसी शासक—राजाकी आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। उस युगके मनु आदि राजर्षियोने वेदामे इस विप्रतिपत्तिका समाधान ढूँढा आर उन्हे बीजरूपमे यह सूत्र मिल गया—

त्वा विशो वृणुता राज्याय।

अर्थात् प्रजाको चाहिये कि वह दुष्टाके दमन एव साधुजनोके सरक्षणके लिये राजाका वरण करे।

ओर इस प्रकार राज्यसस्थाका सूत्रपात हुआ, जिसके द्वारा सामाजिक विपत्तियाके उन्मूलनका मार्ग प्रशस्त हुआ। चूँकि प्रजा अपने राजाका चयन अपनी सर्वविध सुरक्षाके उद्देश्यसे ही किया करती थी, इसलिये राजाका प्रधान कर्तव्य प्रजारजन किवा लोकाराधन ही हुआ करता था। इस प्रयोजनसे 'राजा' शब्दकी 'प्रजारजनाद् राजा' यह अन्वर्थ व्युत्पत्ति प्रसिद्ध हुई। इतिहासकी धारामे श्रीराम एक आदर्श शासकके रूपमे मात्र इसी सद्गुणके कारण सुप्रतिष्ठ हुए कि उनकी प्रजा-वत्सलता अभूतपूर्व थी। प्रजाकी प्रसन्नताके लिये व अपने स्नेह, दया एव सुख यहाँ तक कि भगवती जानकीतकको निछावर करनेके लिये सदा तत्पर रहा करते थे। महाकवि भवभूतिने श्रीरामके इस लाकोत्तर गुणको उन्हींके श्रीमुखसे इस प्रकार कहलवाया है—

स्नेह दया च सौख्य च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकाना मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥

(उत्तररामचरितम्)

मैं प्रजाकी प्रसन्नताके लिये किसी भी प्रकारके स्नेह तथा दया और सुख प्राप्त होनेके साधनका छोड सकता हूँ यदि जानकीको भी छोडना पडे तो उन्हे भी छाडनेमे मुझे कोई कष्ट नहीं हागा। प्रजाकी प्रसन्नताके लिये एसा सर्वोच्च आदर्श इतिहासमे अन्यत्र कहीं भी नहीं है।

प्रजाद्वारा अनुशासित राजतन्त्र

वर्तमान समयमे राजतन्त्र ओर प्रजातन्त्र चाहे दो पृथक्-पृथक् शासन-प्रणालियाँ प्रतीत होती हो परतु प्राचीन भारतवर्षके इतिहासका सम्यक् अवलोकन करनेपर ज्ञात होता है कि तत्कालीन राजतन्त्रोका निर्धारण एव सचालन प्रजाके अनुशासनद्वारा ही सम्पन्न हुआ करता था। वैदिक साहित्यमे प्रजातन्त्रके लिये 'जानराज्य' शब्द उपलब्ध होता है। सम्राट्के राज्याभिषेकके अनन्तर राजपुरोहित जनसमुदायको सम्बोधित करते हुए यह घोषणा किया करते थे—

इम देवा असपत्न महते जानराज्याय।
विश एष वोऽमी राजा।

हे प्रजाजनो! इस महान् जानराज्यके लिये (प्रजातन्त्रात्मक पद्धतिसे निर्वाचनके अनुरूप) ये आजसे आपके राजा हैं। जिन्हे दैवी शक्तियोने शत्रुओपर विजय प्राप्त करनेकी सामर्थ्यसे सम्पन्न बनाया है।

सम्राट् सर्वसमर्थ होते हुए भी 'निरकुश' नहीं हुआ

करत थ। पोरपरिषद् (जनताके विभिन्न वर्गोक प्रतिनिधियाकी सयुक्त सभा—जा राजाक निर्वाचनसे लकर शासकीय नीतिनिर्धारणतकम महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाया करती थी)-का अनुशासनात्मक अकुश उन्हे सदा नियन्त्रणमे रखा करता था। राजतन्त्र आर प्रजातन्त्रक समन्वयका मणि-काञ्चनसयोगकी भाँति दुलभ तथा सुन्दर स्वरूप हम वाल्मीकीय रामायणम देखनेका मिलता है।

श्रीरामक राज्याभिषेकका प्रकरण है। तत्कालीन सविधानके अनुसार राजाका ज्येष्ठ पुत्र राजसिहासनपर अभिषिक्त किया जाता था, इसलिय श्रीरामके राज्याराहणम किसी भी प्रकारकी सवेधानिक बाधा नहीं थी। वे राजाके ज्येष्ठ पुत्र हानक कारण राज्यसिहासनके निर्विवाद अधिकारी थे। परतु सविधानद्वारा सिद्धान्तित इस प्रक्रियाक यथावत् क्रियान्वयनम चक्रवर्ती सम्राट् महाराज दशरथ ही अन्तिम निर्णायक नहीं थे। कैकयीके समक्ष कही गयी—

यावदावर्तते चक्र तावती म वसुधरा॥

(२।१०।३६)

—अपनी इस उक्तिके अनुसार व समस्त भारतभूमिके एकच्छत्र शासक थे ओर किसीके भी निग्रह अथवा अनुग्रहकी असीम सामर्थ्य उनम थी। परतु अपने ज्येष्ठ पुत्रको राजगद्दा सौंपनेके विषयम वे स्वतन्त्र नहीं थे, अपितु पोरपरिषद्क अधीन थे। पौरपरिषद्के सम्मुख महाराज दशरथन अत्यन्त विनयपूर्वक श्रीरामक राज्याभिषेकका प्रस्ताव रखा था।

पौरपरिषद्के पास असीम अधिकार हाते थे। वह राजाके प्रस्तावको यथावत् स्वीकार करनक लिये बाध्य नहीं हाती थी। प्रस्तावम सशाधन कर सकती थी उससे भी अधिक लाकहितकारी काई अन्य प्रस्ताव उपस्थित कर सकता थी गहन मन्त्रणाक अनन्तर असगत पाय जानवाल प्रस्तावका ठुकरा सकती था अथवा सर्वानुमतिस प्रस्तावका स्वीकार भ। कर सकती थी। परतु राजा पौरपरिषद्के निणयको माननक लिये विवश होता था। परिषद्के निर्णयका निरस्त कराको सामर्थ्य उसम नहीं रहती थी। राजतन्त्रम भा राज्यसचालनकी नीतियाँ पौरपरिषद् निर्धारित किया करती थी और सम्राट्पर परिषद्का कितना दबदबा रहा करता था, यह तथ्य महाराज दशरथके निम्नांकित शब्दासे भलीभाँति प्रकट हो रहा है—

यदिद मेऽनुरूपार्थं मया साधु सुमन्त्रितम्।
भवन्तो मेऽनुमन्यन्ता कथ वा करवाण्यहम्॥
यद्यप्येषा मम प्रीतिर्हितमन्यद् विचिन्त्यताम्।
अन्या मध्यस्थचिन्ता तु विमर्दाभ्यधिकोदया॥

(वा०रा० २।२।१५ १६)

अर्थात् यदि मेरा यह प्रस्ताव मरी परम्पराके अनुरूप है आर सुविचारित ह तो आप मुझे आज्ञा द कि मे क्या करूँ? यद्यपि श्रीरामका राज्याभिषेक मेरा प्रिय है तथापि यदि इससे भी अधिक कोई अन्य लोकहितकारी प्रस्ताव हो ता आपलोग उसपर विचार करनेक लिये स्वतन्त्र हैं। आप सभी निर्णायक ओर मध्यस्थ हें तथा आपका विचारपूर्वक निर्णय अधिक महत्त्वपूर्ण है।

पौरपरिषद्ने सम्राट्के प्रस्तावपर सागोपाग विवेचना की। गहन मन्त्रणा तथा गुण-दाषाके सम्बन्धमें पूर्वापरका विश्लेषण करनेके अनन्तर ही उसने राजाको निर्देश दिया कि वह युवराज-पदपर श्रीरामका यथाशीघ्र अभिषेक कर दे—

स राम युवराजान अभिषिचस्व पार्थिवम्।

(२।२।२१)

यहाँ 'अभिषिचस्व' आज्ञार्थक लाट् लकारके क्रियापदका प्रयाग किया गया है, इसलिये पौरपरिषद्ने महाराजा दशरथको श्रीरामके राज्याभिषककी आज्ञा दी ऐसा तात्पर्य भी कुछ विश्लेषकाने प्रकट किया।

परिषद्के द्वारा सर्वानुमतिसे किये गये उक्त निर्णयक आधारपर ही श्रीरामके राज्याभिषेककी योजना बनायी जा सकी थी। महाराज दशरथ श्रीरामका इस निर्णयकी सूचना दत हुए कहते हैं कि आज सम्पूर्ण जनता तुम्हे राजाके रूपमें दखना चाह रही है इसलिय हे पुत्र! अब युवराजपदपर मैं तुम्हारा अभिषक करूँगा—

अद्य प्रकृतय सर्वास्त्वामिच्छन्ति नराधिपम्।
अतस्त्वा युवराजानमभिषेक्ष्यामि पुत्रक॥

(वा०रा० २।४।१६)

प्रजातन्त्रका कितना प्रभावशाली स्वरूप है यह। राजा और प्रजाके मध्य पारस्परिक सद्भाव सौमनस्य एव कर्तव्य-परायणताकी भावनाएँ बनी रहे दोनो एक-दूसरेके पूरक बनकर लौकिक तथा पारलौकिक प्रगतिके पथको प्रशस्त करते रहें, इसीमें शासकीय नीतियाकी सार्थकता है। वस्तुत तन्त्र कोई भी हो, राजतन्त्र अथवा प्रजातन्त्र, उसकी सफलता किंवा असफलताको आँकनेका एक ही मापदण्ड है कि सर्वसाधारण उससे कितना सतुष्ट सुखी और कितना निर्भय है। जो राजा प्रजासे कर तो वसूल लेता है परतु उसके बदलेम न तो प्रजाको न्याय प्रदान करता और न ही पुत्रवत् उसका सरक्षण करता है महर्षि वाल्मीकिकी दृष्टिम वह राजा पापी है ओर नि सदह घोर नरकम धकेलने लायक है—

अधर्म सुमहान् नाथ भवेत् तस्य तु भूपते ।
यो हरेद् बलिषड्भाग न च रक्षति पुत्रवत्॥
(वा०रा० ३।६।११)

पौरकार्याणि यो राजा न करोति दिने दिने।
सवृते नरके घोरे पतितो नात्र सशय ॥
(वा०रा० ७।५३।६)

शासनकी सफलता चूँकि प्रजाकी निर्भयताम निहित है, इसलिये श्रीराम अपने राज्याभिषेकके तुरत बाद एक विशाल जन-सभाका आयोजन करते हैं और उसम अतिशय उदारताके साथ घोषणा करते हैं कि आपने मुझे राजा बनाया है, अत मेरा अनुशासन मानना आपके लिये आवश्यक है। परतु यदि मैं ही कोई नीतिविरुद्ध अनुचित व्यवहार करूँ तो आप बिना किसी भयके मुझे अधर्माचरणसे रोकिये। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके शब्दोम इस प्रकरणको देखिये—

एक बार रघुनाथ बोलाए। गुर द्विज पुरबासी सब आए॥
सुनहु सकल पुरजन मम बानी । कहउँ न कछु ममता उर आनी॥
नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई । सुनहु करहु जो तुम्हहि सोहाई॥
सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥
जौं अनीति कछु भाषौं भाई । तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥
(रा०च०मा० ७।४३।१ ३—६)

राजाका अनुशासन प्रजापर और प्रजाका अनुशासन राजापर—तन्त्राकी सफलताका बस यही रहस्य है तथा यही सर्वोच्च आदर्श भी है।

नीतिका सर्वोत्तम स्वरूप—विनय और शील

(डॉ० श्रीराजीवजी प्रचण्डिया बी०एस्-सी०, एल् एल्०बी० एम्०ए० पी-एच्०डी०)

नीति मनुष्यको कुमार्गसे सन्मार्गकी ओर ले जाती है। मनुष्य सन्मार्गकी ओर प्रवृत्त बना रहे, इसके लिये उसम दो बातोका होना परम आवश्यक है—(१) विनय और (२) शील। विनय ओर शील वे आधारस्तम्भ हैं जिनपर कोई भी मनुष्य अपना चारित्रिक महल खडाकर अभ्युदय और नि श्रेयसकी प्राप्ति कर सकता है। अस्तु, नीतिका जो सर्वोत्तम स्वरूप स्वीकारा गया है, उसम विनय और शीलको विशेष महत्त्व दिया गया है। जो विनयी और शीलस्वभाववाला होता है वह अपना तो उत्थान करता ही है दूसरोका भी उत्थान उसमे निहित है।

मनुष्य कितना ही ज्ञान एव पाण्डित्यका धनी हो, सर्वशक्तिसम्पन्न तथा बुद्धिशाली हो यदि उसपर मान और लोभरूपी कषायोका परदा पडा है तो उसकी क्रियाम अनीति या दुर्नीति प्रतिबिम्बित रहेगी। इसका साक्षात् उदाहरण है—दुर्योधनद्वारा द्रौपदीका चीरहरण और रावणका मदान्ध होकर भगवान् श्रीरामके साथ युद्ध करना। क्या इन दोनो महारथियोद्वारा यह अनीतिपूर्ण दुराचरण नहीं था? इसके पीछे मूल कारण है, कषायोका आवेग। यह आवेग जब पराकाष्ठापर होता है तब व्यक्तिका विवेक लुप्त हो जाता है। ऐसी स्थितिम उसमें कुत्सित मनोवृत्तियाँ प्रबलरूपसे उभरती हैं और उसे पतनके गर्तमें ढकेल देती हैं। ये काषायिक आवेग विनय और शीलकी उपस्थितिम निस्तेज बने रहते हैं। इसलिये उन्नत जीवनम विनय और शीलकी महत्ता सर्वोपरि मानी गयी है।

विनयके सदर्भमे धर्मशास्त्रोमे कहा गया है कि मनुष्यमे जबतक अहकार विद्यमान रहता है तबतक उसमे अकड बनी रहती है। यह अकड उसे विनयी होनेसे तो रोकती ही है पतनका द्वार भी खोल देती है। विनयका स्वभाव है मनुष्यमे गुणोके प्रति अनुराग पैदा करना। किंतु अकड उसे ऐसा करनेसे रोकती है। श्रद्धा

और समर्पणका भाव मनुष्यम तभी जगता है जब वह विनयान्वित हो। विनयम नमनकी प्रधानता रहती है। यह नमन छोटे-बडे, युवा और वृद्ध सभी गुणीजनो श्रेष्ठजनोके प्रति रहता है। जैसा कि ऋग्वेद (१।२७।१३)-म कहा गया है— नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यो नमो युवभ्यो नम आशिनभ्य ।

नमनम मनुष्य फलोसे लदे वृक्षोकी भाँति सदा झुका रहता है। उसका यह झुकाव गुणोके प्रति होता है, दुर्गुणोके प्रति नहीं। जो गुणो और गुणीजनोके प्रति सदा नतमस्तक रहता है, उसके लिये मनुस्मृतिम कहा गया है कि उसकी आयु, विद्या यश और बल—ये चारो निरन्तर बढते रहते हैं। यथा—

अभिवादनशीलस्य नित्य वृद्धोपसेविन ।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥
(२।१२१)

'नमन'के स्वरूपपर यदि हम विचार कर तो आज नमनम जो चापलूसी या जी-हुजूरी अपना उल्लू सीधा करनेके लिये अपना काम निकलवानेके लिये अथवा फिर न जाने ऐसे ही कौन-कौनसे मन्तव्यो प्रयोजनोके लिये जो विकृति बरसाती बेलकी भाँति बडी द्रुतगतिसे फल-फूल रही है, उससे हमारी संस्कृति-सभ्यता और अस्मिता संकटम है।

नमनके कुल तीन अक्षर हैं। इन तीनोम 'न' की आवृत्ति दो बार हुई है और वह भी 'म' अक्षरको आदि और अन्त दोनो ओरसे घेरे हुए हैं। 'न' के अर्थसे सब परिचित हैं किंतु इसम जो 'म' अक्षर है उसीपर सर्वाधिक ध्यान दिया गया है। 'म' मोहका प्रतीक है। मोह जहाँ होगा वहाँ स्वार्थ संकीर्णता तथा संघर्षकी सम्भावना दिन-प्रतिदिन बनी रहती है। मोहके वशीभूत मनुष्य अहंकारको जंजालमे जकडा रहता है जिसके रहते उसे जीवनमें न तो कभी संतोष मिलता है न आनन्दकी अनुभूति होती है और न अभीष्टकी प्राप्ति ही होती है। प्रत्युत इससे घुटन [illegible] बनी तनावोंका [illegible] प्रतिष्ठित [illegible] बना देता है। [illegible] 'म' [illegible] 'न' [illegible] दिखायी न देता। इस नमनम 'न' ने 'म' की दोनो ओरसे नाकेबंदी की हुई है लेकिन इस 'म' के प्रभावमें आकर हमने इस नाकेबंदीमे दरार डालकर उसे कमजोर बना दिया। 'म' की इस कपटताको हम समझे और दोनों ओरसे इसे घेरनेवाले 'न' को महत्त्व दे तो 'म' का क्या हिम्मत कि वह हमारे जीवनको प्रभावित कर सके। नमनम 'म' की अपेक्षा जब 'न' को महत्त्व मिलता है तब सार्थक नमनम विनम्रता मृदुता, कोमलता सहजता अर्थात् विनय, मार्दव, आर्जव आदि आत्माके ये शाश्वत गुण प्रदीप्त होने लगते हैं, जिनकी प्रदीप्ततामे न अहंकार रहता है और न क्रोध, न मोह और न लोभ। बस वहाँ तो भक्ति, समर्पण तथा श्रद्धाके स्वरूपोकी अनुगूँज रहती है। मनुष्य मन, वचन तथा कर्म—इन तीनोसे मृदु-कोमल बना रहता है। विनयी मनुष्य अपनी मृदुतासे शत्रुओका भी पराभव कर देता है। महाभारतके वनपर्व (२८।३१)-मे कहा गया है कि मृदुतासे मनुष्य कठोरको नष्ट कर देता है, मृदुतासे ही अकठोरको भी विजित कर लेता है। मृदुताके प्रयोगसे कुछ भी असाध्य नहीं है। इसलिये मृदुता ही सर्वोत्तम नीति है। यथा—

मृदुना दारुण हन्ति मृदुना हन्त्यदारुणम्।
नासाध्य मृदुना किंचित् तस्मात् तीव्रतर मृदु॥

जो मनुष्य विनयवान् होता है उसका जीवन शील अर्थात् सदाचारसे सदा मण्डित रहता है। महाभारतके उद्योगपर्व (३४।४८)-म बताया गया है कि मनुष्यमें शील (सदाचार)-की ही प्रधानता होती है। जिसका शील ही इस संसारम नष्ट हो जाता है उसका न जीवनसे न धनसे और न बन्धुओसे ही कोई प्रयोजन रहता है। यथा—

शील प्रधान पुरुषे तद् यस्यह प्रणश्यति।
न तस्य जीवितेनार्थो न धनेन न बन्धुभि ॥

महाभारतम इन्द्र और प्रह्लाद आदिकी कथाओमे उल्लेख मिलता है, उनम शीलका माहात्म्य प्रदर्शित है। शील आचरणकी पवित्रता है जिसपर धर्म सत्य [illegible] बल और लक्ष्मी-जैसे दिव्य गुण टिके रहते हैं। बल और लक्ष्मीकी शोभा तभीतक है जबतक वह दूसरोंके लिये उपयोगी है। यह उदात्तता शीलके द्वारा ही सम्भव है। [illegible] अर्थ और बलको मर्यादित बनाने [illegible] [illegible] उत्पन्न करता है। यह उस [illegible]

परमात्मभक्तिकी ओर प्रेरित करता है। परमात्मदर्शन शीलकी साधनासे ही सम्भव है।

एक बार भीष्मपितामहने युधिष्ठिरसे कहा—'युधिष्ठिर! मन, वाणी और शरीरद्वारा किसी भी प्राणीसे द्रोह न करना, शक्तिके अनुसार दान देना ओर वह कार्य करना जिससे सभी प्राणियाका मङ्गल हो।' युधिष्ठिरके प्रति कहे गय उक्त कथनमे शीलका सुन्दर निदर्शन है। आचारकी यह महिमा प्रत्येक व्यक्तिम जब व्याप्त हो जाती है तब प्रत्येकका जीवन शीलसे युक्त हो जाता हे। शीलवान्‌की दृष्टिम विराटता, विचारोमे दिव्यता ओर आचरणमे उदात्तता पायी जाती है। जैसा कि मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका शीलयुक्त आदर्श जीवन हम सबके सामने है। वे वनवास दिलानेवाली कैकेयाजीक प्रति भी सहृदय हैं। उन्हे राज्यसिहासनके प्रति कोई लोभ—आकाङ्क्षा नहीं है। बस अपने कर्तव्यपथपर व सतत आरूढ रहते हैं। सीताहरणक प्रसगम पत्नी सीताके प्रति जहाँ एक आर उनका असीम प्रेम है, करुण क्रन्दन है, वहीं दूसरी ओर सीता-निर्वासनके अवसरपर उनम कठारता दृढता, आदर्शवादिता, नैतिकता तथा मर्यादाशीलता है। किंतु सीताके निर्दोष सिद्ध होनेपर वे सरल, मृदु एव क्षमाशील भी दिखायी देते हैं। उनका ऐसा शील, जिसमे मोह मुरझा जाता है और समत्व खिल उठता हे, सारे विग्रह शान्त हो जाते हैं एव जीवनकी धारा सहज तथा सतत हा जाती ह। वास्तवम शील धर्मनिधान है, वह इस जगत्‌म मनुष्यका अकृत्रिम शृङ्गार है और है सर्वसुखोकी खान।

इस प्रकार यह कहा जा सकता हे कि नीतिका जा सर्वोत्तम स्वरूप हे—विनय और शील, उससे सम्पृक्त सदाचारपूर्ण जीवन अनन्त गुणासे सदा देदीप्यमान रहता है। महाभारतके उद्योगपर्व (३९। ४२)-मे यह स्पष्ट उल्लेख है कि विनयभाव अपयशका नाश करता हे, पराक्रम अनर्थको दूर करता है, क्षमा सदा ही क्रोधका नाश करती हे और सदाचार कु-लक्षणका अन्त कर दता है। यथा—

अकीर्तिं विनयो हन्ति हन्त्यनर्थं पराक्रम ।
हन्ति नित्य क्षमा क्रोधमाचारो हन्त्यलक्षणम्॥

वास्तवमे विनय ओर शील चरित्रकी उत्कृष्टता हे जीवनयात्राका पवित्र पाथेय हे, जीवनकी तेजस्विता है, स्वर्गका आरोहण ह और अनन्त आनन्द तथा अनन्त शक्तिका स्रोत हे।

नीति, आचार और धर्म

(डॉ० श्रीश्यामजी शर्मा वाशिष्ठ)

'नीति' शब्द 'णीञ्=नी' धातुसे 'क्तिन्' (ति) प्रत्यय करनेपर बना हे इसका अर्थ है—अभीष्टका प्राप्त करानेवाली, बतलानेवाली या लक्ष्यतक पहुँचानेवाली पद्धति अथवा प्रकार। कोष-ग्रन्थोंमें नीतिका अर्थ निर्देशन योजना, प्रबन्धन, व्यवहार, आचरण ओचित्य, कौशल तथा बुद्धिमत्ता आदि किया गया हे। इसका तात्पर्य यह है कि नीति शब्द प्रयागके अनुसार ही भिन्न-भिन्न अर्थ व्यंजित करता है, फिर भी नीतिका सर्वस्वीकार्य अर्थ है—व्यवहार-ज्ञान या वह आचारशास्त्र जो जीवनमे सर्वविध सफलताके लिये उत्कृष्ट दिशा-निर्देश प्रदान करता है। 'नय' (नी+अच्)' शब्दका प्रयाग भी इसी अर्थम होता रहा है, किंतु इसका अर्थ कौशल, बुद्धिमत्ता तथा कूटनीति समझा जाता है।

सूक्ष्मरूपसे दख ता नीति धर्म एव आचार शब्द प्राय समानार्थक हें। भारतीय साहित्यम जहाँ भी नीति शब्दका प्रयोग हुआ है, उसका अर्थ आचार, धम या कर्तव्यके रूपम ही ग्रहण किया गया है। नीतिके प्रतिपादक ग्रन्थाम इसीलिये विधि-निषध, करणीय-अकरणीय तथा ग्राह्य एव त्याज्यको लक्ष्यमे रखकर ही विषय-विवचन होता है।

दर्शन और नीति—ये दो मानव-जीवनको सत्पथपर ले जानेवाले तथा जीवनकी सफलताके आधार हैं। नीतिक अन्तर्गत देश, काल एव परिस्थितिक अनुसार प्रयागकी कसौटीपर खरे ठतरे सिद्धान्ता तथा अनुभवाका निर्देश हाता है। अत नीति मनुष्यको सफलताके प्रति आश्वस्त भी करती है और उसके व्यावहारिक अनुभवको समृद्ध भी बनाती है। नीतिम जीवन एव जगत्‌के सर्वाङ्गीण सार्वजनीन व्यापक अनुभवा और विषयोंका बोधगम्य बुद्धिसम्मत सारभूत सूक्ष्म तथा सूत्रबद्ध रोचक विवेचन हाता है। इसम

धर्म, आचार आदि सभी समाहित होत हैं तथा सार्वभौमिक जीवनके कल्याणकारी अनुभवाकी व्याप्ति होती है।

नीति एक आचार-सापेक्ष शास्त्र हे, जिसम जीवनका व्यवहारशास्त्र, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, समाजशास्त्र तथा राजशास्त्र आदि सभी समाहित हें।

आचार नीतिका केन्द्र-बिन्दु ह। आचार एव सदाचारको ही शील कहा गया हे। मानव-सभ्यता एव सस्कृतिम शील, चरित्र आदिका विशिष्ट स्थान ह। जिसका चरित्र नष्ट हो जाता है, उसका सर्वस्व नष्ट हा जाता हे— 'वृत्ततस्तु हतो हत।' चरित्र एव शील मनुष्यके व्यक्तित्वकी कसौटी हात हें। इसीस कहा गया ह— 'वृत्त यत्नेन सरक्षेत्' अर्थात् चरित्रकी सावधानीसे रक्षा करनी चाहिय, क्याकि यही मनुष्यका सर्वोत्तम आभूपण है—

ऐश्वर्यस्य विभूषण सुजनता शौर्यस्य वाक्सयमो
ज्ञानस्योपशम श्रुतस्य विनया वित्तस्य पात्रे व्यय।
अक्रोधस्तपस क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजता
सर्वेषामपि सर्वकारणमिद शील पर भूषणम्॥
(भर्तृ०नीति० ८३)

अर्थात् एश्वर्यका आभूपण सज्जनता (सुजनता), शूरताका वाणीपर सयम ज्ञानका शान्ति शास्त्रज्ञानका नम्रता, धनका सत्पात्रम दान, तपस्याका आभूपण क्रोधका अभाव समर्थका क्षमा और धर्मका आभूपण निश्छलता है, किंतु शील एव सदाचार तो सभीका कारणस्वरूप सर्वोत्कृष्ट आभूपण हे।

धर्मका फलक बहुत व्यापक है। धर्म जड-चतनका आधार हे, मानवताका द्योतक हे एव हमारे अस्तित्वका कारण है। राजर्षि मनुने धर्मकी परिभाषा इस प्रकार बतायी है—

वद स्मृति सदाचार स्वस्य च प्रियमात्मन।
एतच्चतुर्विध प्राहु साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥
(२।१२)

'वेद स्मृतिशास्त्र सदाचार तथा अपनी आत्माको प्रिय लगना—ये चारा धर्मके प्रत्यक्ष लक्षण हैं।'

'धारणाद्धर्ममित्याहु' अर्थात् धारण करनेकी याग्यताके कारण ही धर्म धम है। धम हम धारण करता है हम धर्मको धारण करते हें। मनुजीन सज्जना एव साधु जनाक आचारको भी धर्म कहा है— आचारश्चैव साधूनाम्' (मनु० २।६) यहाँतक कि 'आचारका सर्वोत्कृष्ट धर्म कहा है' 'आचार परमो धर्म' (१।१०८)। राजर्षि मनुने धमके दस लक्षण बतलाये हैं। वे इस प्रकार हैं—

धृति क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशक धर्मलक्षणम्॥
(६।९२)

अर्थात् धैर्य, क्षमा (सहनशीलता), दम (इन्द्रियाका दमन करना), अस्तेय (चोरी न करना), शौच (पवित्रता) इन्द्रियाको वशम रखना (मन एव ज्ञानेन्द्रियापर निग्रह) धी (बुद्धि), विद्या, सत्य और अक्रोध—ये धर्मक दस लक्षण हैं।

स्पष्ट हे कि उक्त धर्मके लक्षण भी सदाचार ही हैं। वस्तुत धर्म प्रत्येक रूपम प्रत्येक प्रकारसे कल्याणकारी होता है। धर्म मनुष्यताका प्रतीक ही नहीं वरन् उसका रक्षक भी हे। महर्षि वेदव्यासने लिखा है—

धर्म सता हित पुसा धर्मश्चैवाश्रय सताम्।
धर्माल्लाकास्त्रयस्तात प्रवृत्ता सचराचरा॥

'धर्म ही सत्पुरुपोका हित है, धर्म ही सत्पुरुपाका आश्रय है। यहाँतक कि तीना लाक एव चर-अचर प्राणी भी धर्मसे ही सचालित होते हैं।'

धर्म प्राणियाके अस्तित्वका कारण है। धर्मसे ही सुख आदि प्राप्त होते हैं। धर्मकी उपादयताके विपयम कहा गया हे—

धर्मात् सुख च ज्ञान च यस्मादुभयमाप्नुयात्।
तस्मात् सर्वं परित्यज्य विद्वान् धर्मं समाचरेत्॥
(स्कन्दपु०)

क्याकि धर्मसे सुख और ज्ञान दोना प्राप्त होते हैं इसलिये सब कुछ छोडकर विद्वान्‌को धर्मका ही आचरण करना चाहिये।

वस्तुत आचरण करनेके लिये धर्म होता है अत धर्म तथा आचरण मूलत एक ही हैं। नीति देश-काल-परिस्थितिके अनुरूप आचरणीय धर्मका विधान करती है, इसलिये कल्याणकर हानेसे सदा सार्वजनीन एव सार्वभौमिक रूपसे नीति स्पृहणीय तथा वरणीय है। नीति आत्मोत्थान तथा सफलताका ही सर्वोत्तम साधन नहीं है वरन् ससारकी जटिलताओं एव लोक-व्यवहारकी कुटिलताओं तथा जीवनके सघर्पम विजय पाने एव रक्षा करनेका भी श्रेष्ठ साधन है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है— नीतिरस्मि जिगीषताम्।(१०।३८)

अर्थात् विजयकी इच्छा रखनेवालोंके लिये मैं नीतिस्वरूप हूँ।

आर्य-धर्मनीतिसार

(श्रीदत्तपादाचार्य भिषगाचार्य)

(१) 'धर्म' ही मनुष्यका एक ऐसा 'बन्धु' हे जो 'मृत्यु' हानेपर भी उसका साथी (सहायक) रहता है। अन्य सभी स्त्री-पुत्रादि तो शरीरस जीवके निकल जानेपर उसका साथ छोड देते हैं— 'सर्वमन्यद्धि गच्छति' (मनुस्मृति ८। १७)।

(२) परलाकम पिता, माता, पुत्र, स्त्री और ज्ञातिवाले कोई भी सहायक नहीं होते, केवल 'धर्म' ही सहायक हाता है (मनुस्मृति ४। २३९)।

(३) 'जीव' अकेला ही जन्म लेता है अकेला ही मृत्युको प्राप्त होता है ओर अकेला ही अपने अच्छे-बुरे कर्मोके 'फल' को भोगता है— 'एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम्' (मनुस्मृति ४। २४०)।

(४) अपनी सहायताके लिये शनै-शनै धर्मका नित्य सचय करना चाहिये। धर्मके सहयागस ही मनुष्य दुस्तर अन्धकारका पार कर जाता है— 'तमस्तरति दुस्तरम्' (मनुस्मृति ४। २४२)।

(५) जैसे नदीके प्रवाहम प्रवाहित जल फिर वापस नहीं आता, वैसे ही रात्रि एव दिनके साथ व्यतीत हुई आयु पुन वापस नहीं आती (महा०, शान्ति० ३३१।५)।

(६) जैसे कोई यात्री मार्गस्थ वृक्षकी छायाम विश्राम करक पुन आगे चलने लगता है, वेसे ही इस ससारमे प्राणियोका सयाग-वियोग होता रहता है (हितापदेश-६६७)।

(७) युवावस्था, रूप, जीवन, द्रव्य-सग्रह, ऐश्वर्य एव प्रियजनोका सहवास आदि—ये सभी नाशवान् हैं। अत ज्ञानीजन उनमे आसक्त न हा— 'गृध्येत् तत्र न पण्डित ' (महा०, शान्ति० ३३०। १४)।

(८) धर्मम आस्था न रखनेवाले आर सत पुरुषाका उपहास करनवाल लोग विनाशको प्राप्त होते हे, इसमे सशय नहीं है— 'नश्यन्ति न सशय ' (महा०, वन० २०७। ४७)।

(९) सत्यम प्रतिष्ठित होनेपर ही इस जगत्के सभी व्यवहार चलते हैं। सत्य यदि शिष्टाचारसहित हो ता वह अति उत्तम है।

(१०) 'सत्य' ब्रह्मस्वरूप हे 'तप' सत्यस्वरूप है सत्य ही प्रजाको उत्पन्न करता है, सत्यसे ही जगत् स्थिर है, सत्यस ही मनुष्य स्वर्गम जाता हे— 'स्वर्ग सत्येन गच्छति' (महा०, शान्ति० १९०। १)।

(११) असत्य तो अज्ञानरूप हे। अज्ञानसे मनुष्यकी अधोगति हाती है— 'तमसा नीयते ह्यध '। अज्ञानमे डूबे हुए और अज्ञान-ग्रस्त मनुष्य ज्ञानरूपी प्रकाशको देख नही सकते (महा०, शान्ति० १९०। २)।

(१२) ज्ञान ही स्वर्ग है— 'स्वर्ग प्रकाश इत्याहु ' और अज्ञान ही नरक हे। मनुष्याका शुभ एव अशुभ—य दोना अपने (अच्छे-बुरे) कर्मोके अनुसार प्राप्त हाते हे (महा०, शान्ति० १९०। ३)।

(१३) तीना लोकाम धर्म ही विजयप्रदायक हे— 'धर्मो हि विजयावह '।

(१४) इस देहम मृत्यु तथा अमरत्व दाना ही अवस्थित है। मोहसे मनुष्य मृत्युको और सत्यसे अमरत्वको प्राप्त होता हे— 'सत्येनापद्यतेऽमतम्' (महा० शान्ति० १७५। ३०)।

(१५) सत्य-जैसा अन्य धर्म नहीं ह ओर सत्यसे उत्कृष्ट अन्य वस्तु नहीं है।

(१६) धैर्य, क्षमा, दम अस्तेय (चोरी करना), पवित्रता इन्द्रियनिग्रह, धी (बुद्धि), विद्या, सत्य ओर अक्रोध—ये दस धर्मके लक्षण (गुण) हे— 'दशक धर्मलक्षणम्' (मनुस्मृति ६। ९२)।

(१७) मनुष्यका कब धर्मका पालन करना चाहिये वह समय निश्चित नहीं हे, क्योकि मृत्यु किसीकी राह नहीं दखती (प्रतीक्षा नहीं करती)। अत प्रतिक्षण धमका ही सचय करना चाहिये। मृत्यु कब आ जाय काई ठीक नहीं।

(१८) जो कार्य कल्याणकारी है उसे आज ही प्रारम्भ करना चाहिये समयकी प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिय, क्योकि निर्धारित कार्य पूरा भी नहीं हो पाता, इतनेम ही मृत्यु आ धमकती है— 'मृत्युर्वै सम्प्रकर्षति' (महा० शान्ति० १७५। १४)।

(१९) मनुष्यको शुभ आचरणवाला हाना चाहिय और किसी भी प्रकारका पाप-कर्म नहीं करना चाहिय क्याकि

पाप करनेपर बुद्धि नष्ट हो जाती है।

(२०) हे भद्र! 'मैं अकेला हूँ' ऐसा तू मनमें मत समझ, क्योंकि पुण्य एवं पापको देखनेवाला पुरुष—परमात्मा तुम्हारे हृदयमें सर्वदा अवस्थित है—'नित्यं स्थितस्ते हृद्येष पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥' (मनुस्मृति ८।९१)।

(२१) धर्मसे रहित कार्य करनेपर कदाचित् पुष्कल (विपुल) धनका लाभ होता हो, फिर भी बुद्धिमान् मनुष्य वैसा कार्य न करे वैसा करना हितकारी (लाभप्रद) नहीं कहा जाता।

(२२) धर्माचरण करना चाहिये, किंतु धर्माचरणका ढिंढोरा पीटनेवाला नहीं होना चाहिये—'न धर्मध्वजिको भवेत्'। जो लोग कीर्ति आदिके फलको भोगनेके लिये धर्मका आचरण करते हैं, वे तो धर्मके व्यापारी हैं (महा०, अनु० १६२।६१)।

(२३) सभीके प्रति मन वाणी एवं कर्मसे वैररहित होना और दया तथा दान-परायण होना—यह सत्पुरुषोंका सनातन धर्म है—'एष धर्मः सनातनः'।

(२४) धीर पुरुषको सत्य, कोमल तथा कर्णप्रिय वचन बोलने चाहिये और अपनी बड़ाई तथा दूसरोंकी निन्दाका परित्याग करना चाहिये (महानिर्वाण ८।६२)।

(२५) निन्दक, अन्यका अपमान करनेवाला मित्रद्रोही, नीच मनुष्यका सेवक, अभिमानी, दुराचारी असभ्य और पीडाकारक वचन बोलनेवाला नहीं होना चाहिये—' रूक्षां वाचं रुषतीं वर्जयीत' (महा०, उद्योग० ३६।६)।

(२६) सर्वत्र दया करनेवाले तथा करुणा बरसानेवाले संतोषी संत जन अति उत्तम धर्ममार्गमें विचरण करते हैं—'धर्मपन्थानमुत्तमम्' (महा० वन० २०७।९४)।

(२७) निरन्तर मन तथा इन्द्रियोंको नियन्त्रित रखनेवाले पुरुषको कष्ट नहीं होता। जिसने मनको वशमें किया है उसे परायी लक्ष्मी देखकर संताप नहीं होता—(महा० वन० २५९।२३)।

(२८) धर्ममार्गमें पीडा होनेपर भी अधर्मकर्ता पापी लोगोंको शीघ्र प्राप्त होनेवाले दुःखोंको देखकर मनको अधर्ममें नहीं लगाना चाहिये—

'न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत्।
अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन्विपर्ययम्॥

(मनुस्मृति ४।१७१)

(२९) जो अधार्मिक है जिसका धन पापकर्मोंसे प्राप्त किया हुआ है, जो हिंसारत है उसे इस लोकमें सुख नहीं मिलता—'नहासौ सुखमेधते' (मनुस्मृति ४।१७०)।

(३०) अपना भला होनेपर अतिशय हर्षित, बुरा होनेपर क्रोधित और धनाभाव हो जानेपर मोहके वशीभूत नहीं होना चाहिये तथा धर्मका परित्याग नहीं करना चाहिये (महा०, वन० २०७।४३)।

(३१) जो सज्जन है वह शाश्वत धर्मका पालक है। सज्जन कभी भी आकुल तथा व्यथित नहीं होता। सज्जनोंका समागम कभी निष्फल नहीं होता। सज्जनसे सज्जन भयभीत नहीं होता। (महा० वन० २९७।४७)।

(३२) क्रोधसे दूर रहकर तपस्याकी ईर्ष्या (मत्सर) से दूर रहकर लक्ष्मी (धन-सम्पत्ति)-की मानापमानसे दूर रहकर विद्याकी और प्रमादसे दूर रहकर आत्माकी रक्षा करनी चाहिये—'आत्मानं तु प्रमादतः' (महा०, शान्ति० ३२९।११)।

(३३) विपुल धन-सम्पत्तिकी प्राप्तिमें जो हर्षित नहीं होता और अधिक दुःखमें भी जो दुःखी नहीं होता सुख दुःखकी अवस्थामें जो स्थिरता बनाये रखता है वही सर्वोत्तम पुरुष है—'स धुरंधरो नरः' (महा० शान्ति० २२६।१६)।

(३४) विद्या-जैसा चक्षु नहीं, सत्य-जैसा तप नहीं विषयासक्ति-जैसा दुःख नहीं और त्याग-जैसा सुख नहीं है (महा० शान्ति० ३२९।६)।

(३५) जिसकी दृष्टिमें सत्य ही महाव्रत है जिसके हृदयमें दीनजनोंके प्रति सदा दया है, जिसने काम एवं क्रोधको वशमें कर लिया है—उसने तीनों लोकोंपर विजय प्राप्त कर ली है— 'तेन लोकत्रयं जितम्' (महानिर्वाण ८।६५)।

हमारी नीति आचार-परम्पराका अनुपालन

(श्रीमती विमला कौशिक एम्० ए० (सस्कृत-हिन्दी) एम्० एड्०)

भारत अति प्राचीन कालसे ही विश्वका नैतिक तथा चारित्रिक और आध्यात्मिक शिक्षक रहा है। हमारा नैतिक स्वरूप आध्यात्मिक स्वरूपके अधीन हे। वर्तमान कर्मका बीज अवान्तरमे अकुरित होता है, यह धारणा हमे अनैतिक कर्मोंसे बचाये रखती है। हमारे यहाँ मनीपी महापुरुपाके अवताराका उद्देश्य ससारको नैतिक शिक्षासे समन्वित करना तथा धर्मकी व्यवस्था करना रहा है।

जन-जनस परिवार, परिवार-परिवारसे समाज और समाज-समाजसे देश अथवा राष्ट्र बनता है, जिसका शासक और नियामक एक राजा होता ह। राजा प्रजाके रजनमे तत्पर रहता है। वह वही कार्य करता है, जिसम प्रजाका हित हो। राजा रामने लोकरजनार्थ सीताको वनवास दे दिया। राजा भी नैतिक नियमासे बँधा है। महर्पि वाल्मीकिने राजाके आचार-व्यवहार एव आदर्श गुणोका विवेचन राम और भरतके प्रश्नोत्तररूपमे किया हे। राजा नैतिकताका आश्रय लेकर नैतिक नियमाका पालन करने तथा करवानेके लिये प्रतिवद्ध होता हे।

नीतिके प्रादुर्भावका इतिहास सृष्टिसे ही है। इसकी परम्परा मृष्टिकर्ता ब्रह्मासे चली आयी है, इसीलिये हमे नैतिक आचरणकी सुदृढ परम्परा इन्हींसे प्राप्त है। मनीपी जनोंके अनुभवोका यदि हम लाभ उठाये तो हर समस्याका समाधान हो जाय। हमारे वेद सार्वभौम नैतिक आचरणके मूल स्रोत हैं। उनम मनुष्य, देश, परिवार तथा समाजके सुखी होनेकी उच्च विचारधारा प्रवहमान है। जैसे—

'अनुव्रत पितु पुत्र '=पुत्र पिताका अनुव्रती (निर्धारित कर्तव्यका समुचितरूपसे पालन करनेवाला) हो, 'मा भ्राता भ्रातर विद्विक्षन्'=भाई भाईसे द्वेप न रखे 'अतिथिदेवो भव'=अतिथिकी सेवा करो, 'स गच्छध्व स वदध्वम्'=मिलकर चलो, मिलकर बोलो 'माता भूमि पुत्रोऽह पृथिव्या '=भूमि मगे माता है मैं इसका पुत्र हूँ-जैसी हितैपी धरोहर हम थातीम प्राप्त है। ये ऋचाएँ, उपदेश नैतिक आदेश सार्वभौम एव सार्वकालिक हैं। 'द्या द्विवेद' की नीतिमञ्जरी उपदेशप्रद आख्यायिकाओका भण्डार है। वेदकी ऋचाआम आख्यानोके माध्यमसे नीतिके सुन्दर उपदेश व्याप्त हे—इम नीतिमञ्जरीमे बडे ही विलक्षण ढगसे रोचक भापाम समझाया गया है।

ब्राह्मण-ग्रन्थोके सासारिक क्रिया-कलाप और गम्भीर अध्यात्म-चिन्तनके मणिकाञ्चन-योगने विदेशी विद्वानो तकको प्रभावित किया।

उपनिषद् साहित्यके कुछ उपयागी सुभाषित वचन देखिये—'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा ' अर्थात् त्यागपूर्वक उपभोग करो (ईशावास्योपनिपद् १)। इसी प्रकार कठोपनिपद्के नचिकेताका आदर्श, प्रश्नोपनिषद्का सयम और जिज्ञासासे अभीष्ट ज्ञानकी प्राप्ति, तैत्तिरीयोपनिपद्की शीक्षावल्ली आजके विद्यार्थियोके लिये प्रासगिक तथा 'सह भाववतु। सह नौ भुनक्तु।' यह शिष्य-आचार्यके एकीकरणका मूल मन्त्र, छान्दोग्योपनिपद्की सत्यकाम जाबालकी कथा बृहदारण्यकका प्रजापतिद्वारा देव तथा मनुष्य एव दानवोको दिया गया 'द'-का उपदेश ईशावास्योपनिपद्के 'असतो मा सद्गमय ' जैसे निर्देश यह स्पष्ट करते हैं कि आचार, कर्तव्य और व्यवहारक मानदण्ड सदैव एक-से रहते हैं। हमे भी 'ऋत वदिष्यामि सत्य वदिष्यामि'के अनुसार नैतिक आचरणमे प्रवृत्त हो जाना चाहिये। शुद्ध वाणी सदाचरणका दर्पण है। धर्मसूत्राम सदाचरणको ही परम धर्म बताया गया है और यह भी स्पष्ट रूपसे कहा गया है कि—'धर्मो रक्षति रक्षित ' धर्मकी रक्षा करनेपर धर्म भी उसकी रक्षा करता है।

महर्षि वाल्मीकि-विरचित 'रामायण' से प्राणिमात्र ही नहीं, राजसत्ताके उन्नायक भी सीख लेकर अपना जीवन सँवार सकते हैं। महाभारत तो ज्ञानका विश्वकोश ही है। राजधर्मकी व्याख्या देखिये—राजधर्मकी नाका धर्मक समुद्रम स्थित है। उसका सचालन सत्त्व-गुणस हाता है और वह धर्मशास्त्रसे बँधी है तथा त्यागरूपी वायुसे वह अनुकूल मार्गपर चलती है।

राजा वेन-पुत्र पृथुने धर्मकी स्थापना की और वे प्रथम राजा कहलाये।

नीतिकाव्यामे भर्तृहरिका नीतिशतक तथा चाणक्यनीति आर कश्मीरी कवियाके नीतिपरक मुक्तक काव्य—य सभी उपदेशके साथ ही सदाचरणकी शिक्षा दते हैं। पञ्चतन्त्र और हितापदशकी कथाएँ वाल-वुद्धिको भी नीतिशास्त्र-निपुण नना सकती हैं।

जैन धर्मने जहाँ आचरणको श्रेष्ठ ठहराया वहीं बौद्ध धर्मने सदाचारकी शिक्षा दी। वोधिसत्त्वके लिय पालनीय षट् पारमिताओके उत्स वेदोपनिषद् हैं।

सस्कृत साहित्यसे वहती हुई नैतिक आचारकी मन्दाकिनीने सत-साहित्यम और अधिक विस्तार प्राप्त किया है। सताके काव्यामे रीति-नीतिकी बात आयी हुई हैं। यहाँ नीतिसे सम्बद्ध कुछ उदाहरण द्रष्टव्य ह—

कबीर

ऐसी यानी वोलिये, मन का आपा खोय।
औरन कौ सीतल करै आपहु सीतल होय॥
सील छिमा जब ऊपजे, अलख दृष्टि तब होय।
अकल बड़ी उपकार कर जीवन का फल येह॥
दाया दिल म राखिये तूँ क्या निरदइ होय।
साँईं के सव जीव है, कीड़ी कुजर सोय॥

सुन्दरदास

सुन्दर तृष्णा है छुरी, लोभ खड्ग की धार।
इन तै आप वचाइए, दोनों मारणहार॥

सूरदास

काहू के कुल तन न विचारत।
कौन जाति अरु पाँति विदुर की, ताही कैं पग धारत॥

तुलसी

प्रभु श्रीरामका निवास कहाँ है इस विषयम गोस्वामीजी कहते हैं—

काम कोह मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा॥
जिन्ह के कपट दंभ नहिं माया। तिन्ह क हृदय वसहु रघुराया॥

राम-सुग्रीव-मैत्रीम मित्रके गुण अवलाकनीय हैं।

गिरिधर

परमारथ के काज सीस आगे धर दानै।

विहारी

वड़े न हूजै गुनन विन विरद वड़ाई पाइ।
कहत धतूरे सौं कनक, गहनौ गढ़यौ न जाइ॥

कवि भूषणका कहना है—

आपस की फूट ही सों सारे हिंदुवान टूटे,
टूट्यो कुल रावन अनीति मति करते।

गग

नवै दाता धन देतो'' । नवै घन जल वरसता''॥
नवै पुरुष गुणवान् । नवै सो भारी होय ॥

अर्थात् नैतिक आचारकी यह गगा-धारा रीतिकालमें भी व्यक्त होती रही। आगे चलकर भारतन्दु तथा हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त, जयशकर प्रसाद एव निराला आदिका साहित्य साधनामे नैतिकताके बीज प्रस्फुटित हुए हैं।

जयशकर प्रसादकी कामायनीके पारिवारिक सामाजिक राजनीतिक ओर नेतिक मूल्य सर्वोपयोगा हैं। श्रद्धापूत व्यक्ति इसी जीवनम आनन्दका उपभाग कर सकता है।

सत्त्वकी तमपर जयकी उद्घोषणा करनवाली निरालाजी 'रामकी शक्ति-पूजा' कविता जहाँ जीवनम ठहर हुए लोगोका मार्गदर्शन करती हे, वहीं महादवी वर्माका 'शृखलाकी कडियाँ' नारी-जीवनके ज्वलन्त प्रश्नासे हमें सावधान करती है।

प्रेमचन्दने स्वस्थ सामाजिक मूल्याक आधारपर आदर्शोन्मुखी यथार्थका चित्रण अपने उपन्यासा एव कहानियोंके माध्यमसे किया ताकि समाज अपनी भूल सुधार करनेक लिये प्रस्तुत हो।

दिनकरने अपने 'रश्मिरथी' में कर्णकी जीवनशैली प्रदर्शित कर नीतिकी व्यञ्जना अभिव्यक्त की है। साहनलाल द्विवेदी जैसे कवियोक काव्यमे वर्णित पीडिताक दुःख-निवारण स्वदश-प्रेम तथा सास्कृतिक धराहरके गौरवका नैतिक पाठ भला आजके सदर्भम और कौन वता सकता है?

इस प्रकार सत्-वाङ्मयक आयामम नातिक तत्त्व और उसके सैद्धान्तिक रहस्य यत्र-तत्र आय हुए हैं। समग्र अध्ययनसे यही समझम आता है कि वदासे लेकर आजतक उपलब्ध सत् साहित्यम नीतिपथपर चलते हुए अपन गन्तव्यतक पहुँचनका आदश तथा परामर्श हमें प्राप्त हाता रहता है। सभीने आचरण अनुपालनका सदेश दिया है और यह सदश अपकल्याणक लिय परमोपयोगी है।

~~~~~~
~~~~~~

नीति एव अनीति

(डॉ० श्रीआ३म्प्रकाशजी द्विवेदी)

नीतिका उद्देश्य अभ्युदय है। अभ्युदयके दो रूप है—ऐहलौकिक और पारलौकिक। विद्वानोंका अभिमत है कि नीति एव धर्मका प्राय एक ही अर्थ है। जहाँ धर्मका पालन होगा वहीं विजय होगी—'यतो धर्मस्ततो जय '। शस्त्र एव शास्त्रसे राष्ट्रकी रक्षा होती है। भगवान्ने गीतामे नीतिको अपनी विभूति बताया है—'नीतिरस्मि जिगीषताम्' विजयकी इच्छा रखनेवालेकी मैं नीति हूँ। नीतिहीन व्यक्ति एव समाज दोनो नष्ट हो जाते है। 'नश्येत् त्रयी दण्डनीतौ हतायाम्'—दण्डनीतिकी उपेक्षासे वेदोकी रक्षा असम्भव है।

कुछ विचारकोंने बताया है कि लौकिक अभ्युदय (उन्नति)-के साधनको नीति और पारलौकिक उन्नतिके साधनको धर्म कहते हैं। नीतिसे ही सामाजिक सुव्यवस्था-शान्ति होनेपर धर्मके अनुष्ठानमे सुविधा होती है। धर्म-भावना फैलनेसे ही नीति भी कार्यान्वित एव सफल होती है। अनुचित मार्गसे किसी व्यक्तिको उचित मार्गपर ले जानेकी क्रिया ही परमार्थत नीति है। शुक्राचार्यने कहा है—'नयनान्नीतिरुच्यते' (१।५६)। जो समाजको अभ्युदयके मार्गपर ले चले वह नीति है। शुक्राचार्यने दण्डविद्याको ही नीतिविद्याका पर्याय माना है। दण्डनीतिके बिना किसी भी विद्याकी सुरक्षा नहीं हो सकती। अत सभी विद्याओमे प्रधान नीतिविद्या है।

छान्दोग्योपनिषद्मे प्रयुक्त 'एकायन' शब्दकी व्याख्यामे शंकराचार्यने कहा है— एकायन नीतिशास्त्रम्।' (७।१।२) यह नीतिविद्या सभी विद्याओमे श्रेष्ठ है। आचार्य शंकरके मोहमुद्गरस्तोत्रमे परमार्थनीतिका विवेचन है। महाभारत आदि ग्रन्थोमे नीतिशास्त्रकी भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। महाभारत नीतिशास्त्रका अजस्र स्रोत है। सदाचारकी पुष्टि करनेके लिये ही नीतिशास्त्रका उदय हुआ है। दण्डनीति राजनीति तथा धर्मनीति इसीकी परिणति है। अत इन तीनोका अभिन्न सम्बन्ध है। धर्म-नियन्त्रित राजनीति ही श्रेयस्कर है। शास्त्रोमे न हि सत्यात् परो धर्म , अहिंसा परमो धर्म ' कहकर अहिंसा आदिको धर्मका बीज कहा गया है।

अधर्म एव अनीतिके फैलनेपर भगवान्का प्राकट्य होता है। गीताके 'यदा यदा हि धर्मस्य ' (४।७-८) एव मानसके—

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढहिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु॥

—इन वचनोसे श्रुति, गो ब्राह्मण देवताओ और भक्तोकी रक्षाके लिये प्रभुका अवतरण होता है—

बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार॥

वेद-उपनिषद्का आदेश है—'आत्मान विद्धि' अर्थात् अपनेको जानो। यह ज्ञान धर्मनीतिकी प्रतिष्ठासे सम्भव है। वेदशास्त्र हमे कर्तव्याकर्तव्यका बोध कराते है। हमारा क्या धर्म है? क्या कर्तव्य है? यह शास्त्र-ज्ञानसे ही सम्भव है। हम कैसे सात्त्विक बने एव अज्ञान तथा अहंकार-जैसे राजस और तामस बन्धनोसे कैसे मुक्त हो? इसपर विचार करना चाहिये। गीता हमे बताती है कि हमारी जैसी श्रद्धा होगी वैसे ही हमारे जीवनके भाव होगे (१७।३)। हम सदा सत्यपर ही दृष्टि रखनी चाहिये। 'सत्य वद', 'धर्म चर' तथा अनिन्द्य कर्म एव आचरणका पालन करना चाहिये। इसके लिये हमे विनम्र एव अनुशासनप्रिय होना पड़ेगा जिससे हमारी प्रकृतिमे एकात्मभाव आये ताकि भेद एव संघर्षशील शक्तियाँ विनष्ट हो। इससे हमारा मनोविकार दूर होगा नैतिक बल बढ़ेगा और हृदयकी भावनाएँ पवित्र एव शुद्ध होगी। नीतिपालन शारीरिक एव मानसिक रोगोका भी विनाशक है। नीति-पथपर चलनेसे हमारी अन्त प्रेरणाएँ सृजनात्मक होगी।

रावणके राज्यमे अनीतिका बोलबाला होनेसे धर्मका लोप हो गया था—

बाढे खल वहु चोर जुआरा। जे लपट परधन परदारा॥
मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा॥
जिन्ह क यह आचरन भवानी। ते जानेहु निसिचर सब प्रानी॥

वेद ओर उपनिषद्मे 'मातृदवा भव, पितृदेवा भव, आचार्यदेवो भव'—कहा गया ह किंतु रावणके राज्यम सब कार्य धर्मक विपरीत होत थे—

जहि विधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहिं वेद प्रतिकूला॥
जहिं जेहिं देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं॥

बरनि न जाइ अनीति घोर निसाचर जा करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति तिन्ह के पापहि कवनि मिति॥

रावणके राज्यम सभा आचरण-भ्रष्ट हो गये थे। आचारहीनका वेद भी पवित्र नहीं कर सकत हैं—'आचारहीन न पुनन्ति वदा'। आचरण-भ्रष्ट हानस रावणका सर्वनाश हा गया आर दुर्योधनकी भी यही गति हुई।

इसक विपरीत भगवान् रामक राज्यम सब सुखी थे। कहीं भी विषमता नही थी। सबको स्वतन्त्रता प्राप्त थी। धर्म-नियन्त्रित नीति थी। सबम परस्पर प्रेम मैत्री सहयोग आदि सद्गुणाका प्रभाव था। सबका आदर उनकी नीतिका प्रथम पाठ था—

राम राज बैठ त्रैलाका। हरषित भए गए सब सोका॥
बयरु न कर काहू सन काई। राम प्रताप बिषमता खोई॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दाना। नहिं काउ अबुध न लच्छन हीना॥

रामराज्यमे दम्भ अहकार छल कपट आदि दुर्गुणाका अभाव था। भगवान् रामक समयम वद पुराण शास्त्राका पठन-पाठन यज्ञ दान तप आदि सात्त्विक गुणाके प्रचार निर्विघ्नरूपसे सम्पन्न होत थ। स्वय श्रीरामजी नीतिका पाठ पढात थे—

राम करहिं भ्रातन्ह पर प्रीता। नाना भाँति सिखावहिं नीती॥

भगवान् श्रीरामने सदव नीतिका पालन किया। अगदका दूत बनाकर भेजते समय कहा था—एसा कार्य करना जिसस हमारा कार्य सिद्ध हा जाय आर प्रतिपक्षका अहित न हो। *'काजु हमार तासु हित हाई'*।

भगवान् श्रीरामक वनका प्रसग अत्यन्त मनाहारी है। काल किरात भील इत्यादि वनवासी भी भगवान्का सेवा-शुश्रूषास बदल गय—स्वभाव-परिवर्तन हा गया। भरतजीक सम्मुख व कहने लगे—

यह हमारि अति बड़ि सेवकाई। लहिं न बासन बसन चाराई॥
सपनेहुँ धरमबुद्धि कस काऊ। यह रघुनंदन दरस प्रभाऊ॥

चाणक्य-नीतिका कथन है—'साधूना दर्शन पुण्यम्' साधु पुरुषाका दर्शन पुण्यदायी होता है फिर जब भगवान्का ही दर्शन हो जाय तो बडे भाग्यकी बात है। नीतिमान् एव गुणवान्के दर्शनस भाग्योदय हाता है तथा सदाचारकी पुष्टि होती ह।

रामराज्यम लोग 'ईशा वास्यमिद॰ सर्वम्' यह सम्पूण ससार ईश्वरमय हे—एसा समझकर परस्पर उत्तम नातिका व्यवहार करते है। वे सर्वदा दैवीगुणाका आश्रय लते हैं। कामनारहित होते हें सतोष-वृत्ति अपनात हें आर केवटकी तरह भगवान्की कृपा चाहते ह—

अब कछु नाथ न चाहिअ मार। दीनदयाल अनुग्रह तार॥

धर्मनीति अनुशासन-प्रिय बनाती है, इन्द्रियापर निग्रह करना सिखाती है।

मानस नीति-सुधाका अनुपम कोष है, यह 'नानापुराण निगमागमसम्मत' हे, इसम निर्दिष्ट नीतियाका आचरण भी हाना चाहिये तभी अध्ययनकी सार्थकता है। अन्यथा ऊसरम बीज बानेके समान श्रम निरर्थक होगा—

विद्या बिनु बिबेक उपजाएँ। श्रम फल पढे किएँ अरु पाएँ॥

इसी प्रकार नीतिकी उत्तम शिक्षा सुन्दरकाण्डमें वर्णित है जो बार-बार चिन्तन, मनन अनुकरणके योग्य है—यह भगवान् श्रीरामका कथन है—

सठ सन बिनय कुटिल सन प्रीती। सहज कृपनसन सुदर नीती॥
ममता रत सन ग्यान कहानी। अति लोभी सन बिरति बखानी॥
क्राधिहि सम कामिहि हरिकथा। ऊसर बीज बएँ फल जथा॥

उक्त चापाइयाम विनय प्रीति सुनीति ज्ञान वैराग्य शान्ति आर हरिकथा-रूप सात बीज जावन-उत्कर्षक साधन हें। इसके विपरीत शठता कुटिलता कृपणता ममता अति लाभ क्राध और काम—ये साता जावको पतनकी आर ले जानेवाले हैं।

सबका हित-चिन्तन तथा मैत्रीभाव हमारे हृदयको बलवान् बनात हैं। सर्वप्रियता दयालुता अस्पृहा निर्लोभता इत्यादि नीतियाके पालनसे आत्मिक गुणाका विकास

होता है। बलहीनकी आत्मा सबल नहीं हो सकती। जब हम अपने हृदयसे सम्पूर्ण सांसारिक कामनाओंका त्याग कर दें तभी हम अपने भीतर हृदयस्थ चिन्मय ज्योतिका दर्शन कर सकेंगे।

नीतिविग्रह भगवान् हमारे सच्चे सखा हितैषी हैं जो हमें सन्मार्गपर बढ़नेकी सतत प्रेरणा देते रहते हैं अन्तर्मनका संकेत देते रहते हैं कि क्या अच्छा है क्या नहीं? क्या पुण्य है क्या पाप? किसीका अहित सोचते ही हमारा हृदय संकीर्ण एवं मन दुर्बल हो जाता है। परोपकारका कार्य करनेपर हमारा उत्साह बढ़ जाता है एवं मन निर्मल प्रतीत होता है। अतः यज्ञ, दान तप आदि सत्कर्मोंके द्वारा हृदयपर पड़े मल विक्षेप तथा आवरणको निष्काम भावयुक्त उपासना एवं सत्-शास्त्रोंके अध्ययनसे दूर करते रहना चाहिये ताकि बुद्धि निर्मल बनी रहे। क्या नीति है, क्या अनीति है? इसका ज्ञान ईश-कृपासे सदैव मिलता रहे ऐसी प्रार्थना करनी चाहिये। सात्त्विक भाव हमारे अज्ञान अहंकार तथा कर्ताभावको दूर करते हैं।

महाभारतमें एक कथा है। माँ विदुला रणसे भागे हुए अपने राजकुमार पुत्रको समझाती हुई कहती है—बेटा! यह सोनेका समय नहीं है उठो आलस्य त्यागो।

उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु।
भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यथैः॥

(महा० उद्योगपर्व १३५। २९)

सफलता मिलेगी ही ऐसा मनमें दृढ़ विश्वास लेकर निरन्तर विषादरहित होकर तुझे उठना सजग होना और ऐश्वर्यकी प्राप्ति करानेवाले कर्मोंमें लग जाना चाहिये। जिसके हृदयमें उत्साह होता है उसे सफलता मिलती ही है। अतः हमें चाहिये कि जीवनको सत्, चित्, आनन्दकी ओर उन्मुख करें और उद्योगी बनें। 'चरैवेति चरैवेति'का पालन करें। सिंहके समान निर्भय होकर आगे बढ़ें—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति।

(हितोपदेश प्रस्ताविका ३१)

उद्योगी पुरुषसिंहके पास लक्ष्मी स्वयं आती है। भाग्यपर भरोसा कायर पुरुष करते हैं। अतः प्रभु-कृपाका आश्रय लेकर पुरुषार्थ करते रहें।

नीति-पथका अनुसरण करते हुए सांसारिक विघ्न-बाधाओंको दूरकर अमृतत्वको प्राप्त करें क्योंकि हम सब मानव अमृत-पुत्र हैं प्रभुके अंशभूत हैं और दिव्य गुणोंके धाम हैं।

सदाचारहीनता ही वर्तमान दुर्दशाका मूल कारण है

[मनुस्मृतिका सदाचार]

(श्रीशिवकुमारजी गोयल)

आज समस्त संसार भौतिकवादी सुख-सुविधाओंकी उपलब्धताके बावजूद घोर अशान्तिसे ग्रस्त हुआ हाहाकार कर रहा है। संसारका प्रत्येक देश अनाचार अत्याचार, भ्रष्टाचार अनैतिकताओं एवं नयी-नयी घातक बीमारियों कुपोषण मानसिक तनावों हिंसा बलात्कार-जैसी कुप्रवृत्तियोंकी चपेटमें आकर छटपटा रहा है। यदि हम इन सबके मूल कारणको खोजें तो पता चलेगा कि जब-जब मनुष्यने धर्मशास्त्रोंमें वर्णित कल्याणकारी नीतियोंका त्यागकर मनमाने ढंगसे जीवनयापन करना शुरू किया मर्यादाओंकी जगह उच्छृंखलताने लिया तब-तब उस देश तथा समाजका इसी प्रकार पतन हुआ है।

जो भारत सदैवसे अपने महान् आध्यात्मिक ज्ञान तथा नैतिक मूल्योंके कारण पूरे संसारमें 'जगद्गुरु'के रूपमें सम्मानित रहा आज उसी धर्मप्राण भारतमें सदाचारकी जगह अनाचार पापाचार हिंसा अनैतिकताका बोलबाला दिखायी दे रहा है। सत्यकी जगह झूठ-फरेब ईमानदारीकी जगह बेईमानी मर्यादाकी जगह उच्छृंखलता तथा स्वच्छाचारिता प्रभावी होती दिखायी दे रहा है। एक प्रकारसे धर्मप्राण भारतकी अस्मिताके लिये संकट ही पैदा होता जा रहा है।

हमारे धर्मशास्त्रोंमें कहा गया है—

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्॥

(मनु० ४। १५६)

'सत्-आचरण अर्थात् सदाचारसे ही दीर्घ आयु,

मनावाञ्छित सतान तथा अक्षय धनकी प्राप्ति हाती ह आर सदाचारस ही अकल्याणकारी बुर लक्षणाका नाश हाता हे।'

हमारा यह घोर दुर्भाग्य ह कि हमन मनुस्मृतिक उपर्युक्त कल्याणकारी नीति-सारकी उपक्षा कर आत्माकी जगह शारीरिक सुखका सब कुछ माननवाल पाश्चात्त्य दशाक अतिभातिकवादक मार्गका ठीक समझ लिया ह। साथ ही वहाँकी विकृतियाका तथा स्वच्छन्दताका अन्धानुकरणकर अपन धर्मशास्त्राम बताये गये मार्गपर चलना छाड दिया हे हमन सत्याचरणको त्यागकर स्वय अनतिकता अनाचार पापाचार तथा अशान्तिक गर्तम गिरनका आत्मघाती रास्ता अपना लिया हे।

सदाचारक अभावम ही आज मानव मानसिक तनाव उच्च रक्तचाप, मधुमह, कॅसर-जस घातक शारीरिक रोगासे ग्रस्त हाकर अल्पायुम ही कालका ग्रास बनन लगा ह। भगवान्क प्रसादके रूपम शुद्ध सात्त्विक भाजनकी जगह, गादुग्धकी जगह मास-मदिरा आदि अभक्ष्य तामसिक पदार्थोके सवनकी बढती प्रवृत्ति अनक शारीरिक रागाका कारण बनती जा रही हैं।

सदाचारस मनावाञ्छित सतानका प्राप्ति बतायी गयी ह। सदाचारकी जगह दुराचारा स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति अपना लनका ही यह दुष्परिणाम सामन आ रहा है कि अधिकाश परिवाराम सतान मातृ-पितृभक्त, ईश्वरभक्त तथा सद्गुणास सम्पन्न न हाकर तरह-तरहकी विकृतियास ग्रस्त हाकर माता-पिता ही नहीं पूर परिवारक लिय काई-न-काई समस्या पैदा करनवाला सिद्ध हा रहा हैं। इसा सम्कारहीनताका कुपरिणाम सयुक्त परिवाराक टूटन तथा वृद्ध माता-पिताका घार उपक्षाक रूपम सामन आ रहा हैं।

सदाचारक मागका त्यागकर बइमाना एव अन्याय तथा शाषणके माध्यमस प्राप्त धन कभा भी 'अक्षय धन' नहीं कहा जा सकता। गलत तरीकस अर्जित धन शारीरिक बामारिया मानसिक कष्टा तथा तरह-तरहक सतापाका कारण और बुद्धि भ्रष्ट करक कुमार्गपर ल जानवाला सिद्ध हाता हैं।

महान् विरक्त सत भौंडागरजी महाराज कहा करत थ क 'अति सम्पत्ति विपत्तिका कारण बनता हैं।' व यह भी कहा करते थे 'धन (लक्ष्मी)-का उपभाग करना घार पाप ह। धनका उपभाग नहीं अपितु धर्मकार्यों, सेवाकार्यों तथा अन्य सत्कार्योंम उपयाग किया जाना ही शास्त्रसम्मत है।' यह कितने दुर्भाग्यकी बात ह कि आज धनका प्रयाग भातिक सुख-सुविधाआके जुटानम, मास-मदिरा-भक्षण करनम एक-दूसरेको नीचा दिखानके भौंड प्रदर्शनम किया जा रहा ह। धन और वेभवके इस दुरुपयागक कारण समाजमे विषमता असमानता एव राग-द्वेप पनप रहे हैं।

भौतिकवादी सुख-सुविधाआकी असीमित हाडक कारण ही आज समाज, राजनीति तथा अन्य क्षेत्र तजीस दूषित हाते जा रह हे। गलत तरीकास कमाया 'काला धन' ही समाजम व्याप्त अनेक विकृतियाका प्रमुख कारण बनता जा रहा हे।

भगवान् मनुके इस सदाचारसूत्रमे अन्तिम वाक्य है— 'सदाचारस अकल्याणकारी बुरे लक्षणाका नाश हाता है।' अब जब सदाचार एव नतिक मूल्य ही समाप्त हात जा रह हें तब बुरे लक्षणाका नाश केसे हागा। सदाचारपर प्रहार किये जानेका ही यह दुष्परिणाम ह कि आज राजनातिक क्षेत्रका अपराधीकरण होता जा रहा ह। स्वाधानतास पूर्व राजनीतिम सक्रिय नेताआ और कार्यकर्ताआको श्रद्धाका दृष्टिस दखा जाता था। कहा जाता था कि जननायक राष्ट्रभक्त हे—आदर्श जीवनक धनी हैं। वास्तवम व लाग राष्ट्रका स्वाधीन करानके लिय जीवन समर्पित कर दत थ। मातृभूमिका स्वाधीनता और सवाक लिय कष्ट सहन करत थ। सादा जीवन बितात थ। शराब तथा गाहत्याबदाका मॉग करत थ। उनक इस आदर्श जावनक पीछे भी सदाचारका सकल्प हा था।

स्वाधानता-प्राप्तिक बाद ससद् तथा विधानसभाआमें पहुँचनकी महत्त्वाकाङ्क्षा बढने लगी। स्वाधानतास पूर्व दशक लिये कुछ द दनकी भावना मनम रहता था। स्वाधीनताक दा दशकके बाद शासन तथा सत्ताकी महत्त्वाकाङ्क्षान 'कुछ लन' की भावना पदा का। सदाचारका सकल्प ढाला हान लगा। 'राजनीतिम सब कुछ चलता है'- जैसा गलत धारणा सदाचारपर भारी पडन लगा। अन्य दशम तजीस बढ रहा भ्रष्टाचार अनाचार आतङ्कवाद तथा

हिसा आदिका मुख्य कारण यही है कि हम सदाचारका त्यागकर सुविधाभागी तथा अवसरवादी बनते जा रहे हैं।

यह भावना भी बलवती होती जा रही है कि सत्ता-प्राप्तिके लिये, पद प्राप्त करनेके लिये तमाम नैतिक मूल्योंको ताकपर रखनेमें सकोच करना ठीक नहीं। इस सिद्धान्तहीनताका मूल कारण भी आचारहीनता ही है। आचारहीनता तथा नैतिक मूल्योंके सकटका ही यह दुष्परिणाम है कि आज समाजमें शिक्षा, साहित्य, कला, राजनीति आदि सभी क्षेत्रोंमें मर्यादाहीनता उच्छृखलता तथा भ्रष्टाचार व्याप्त होता जा रहा है।

नैतिक मूल्योंकी पुन स्थापना धर्मशास्त्रोंके सदाचार-सूत्रोंका पालन करनेसे ही सम्भव है। अत सबसे पहले हम सदाचारके महत्त्वको स्वीकार करते हुए प्रत्येक व्यक्तिको सदाचारी बननेकी ओर प्रवृत्त करनेका प्रयास करना होगा।

नीति-अनीति और भगवान्

(श्रीरामप्रसादजी प्रजापति)

नीति, धर्म और भगवान्का सम्बन्ध अटूट है। धर्म-रहित कोई भी कर्म अनीति बन जाता है, यही अनीति इस ससारमें युगो-युगोसे भगवान्को अवतरित होनेके लिये बाध्य करती आयी है। नीतिविरुद्ध जनोंको सन्मार्गकी शिक्षा देने और भक्तोंका कल्याण करनेके लिये नीतिस्वरूप भगवान् अवतरित होते हैं। इस ससारमें—पाप-पुण्य, सदाचार-कदाचार नीति-अनीति विधि-निषेध, न्याय-अन्याय शुभ और अशुभ आदि समस्त क्रिया-कलापोंका कर्मफल—'अवश्यमेव भोक्तव्य कृत कर्म शुभाशुभम्' के नीतिविधानसे मनुष्यको अवश्य प्राप्त होता है।

धर्मका मर्म न समझनेके कारण ही जब मनुष्य अनीतिपर उतरता है तब वह रावण, कस दुर्योधन आदि असुरवृत्तिवाला प्राणी बन जाता है। जीव जब अनीतिकी प्रेरणासे पापकर्म और दुष्कर्म करने लग जाता है तथा अपने इन किये हुए पापकर्मोंका वह प्रायश्चित्त भी नहीं करता तब वह इहलोकमें निन्दा और दु खका कारण बनता है एव परलोकमें भी उसकी दुर्गति होती है। परमपिता परमात्मा इस सृष्टिमें सबसे बड़े न्यायकर्ता हैं दण्डविधानके सूत्राधार हैं। पाप-पुण्य न्याय तथा अन्यायके द्वारा कमाये गये कर्मोंके फल जन्म-जन्मान्तर-व्यवस्थाके अधीन अवश्य मिलते हैं। शुभ कर्मोंके फलस्वरूप जीव श्रीमानोंके घरमें जन्म लेकर सुख वैभव, शान्ति आदि प्राप्त करता है और अशुभ कर्मों (अनीति कर्म)-के फलस्वरूप पशु-पक्षी कीट-पतग वृक्ष-लता आदि जडयोनियोंको प्राप्तकर दु खी होता है। नीतिधर्मकी अवमाननाका परिणाम भयावह एव दु खद होता है। अनेक प्रकारकी दुर्गति इसीके कारण झेलनी पडती है। नीतिका अर्थ है जीवनमें न्यायसगत कार्य करना।

जिस प्रकार श्रुतिमें धर्मको विश्वकी प्रतिष्ठा माना गया है—'धर्मो हि विश्वस्य जगत प्रतिष्ठा' उसी प्रकार नीतिको भी जगत्की प्रतिष्ठाके रूपमें समझा जा सकता है और धर्मपालनसे सब प्रकारका कल्याण होता है-रक्षा होती है। नीतिका पालन भी मनुष्यकी रक्षा करता है और उसे कल्याणपथपर आरूढ करता है।

जिनका जीवन नियमित है, सयमित है और जो मन, वचन तथा कर्मसे नीतिपालक हैं उनसे किसीका अहित नहीं होता एव किसीको पीडा नहीं होती। उनका आचरण दूसरोंके लिये अनुकरणीय बन जाता है। उनके ससर्गसे सर्वसाधारणकी चित्तवृत्तियाँ शुद्ध तथा सात्त्विक बन जाती हैं।

भगवान् धर्मरक्षक तथा धर्मसस्थापक हैं, इसीलिये वे अधर्म (अनीति-व्यवहार) करनेवालोंके लिये दण्डाधीश बनकर आते हैं। वे अविनाशी परब्रह्म हैं। सभी प्राणियोंके सुहृद् हैं और सभीके कल्याणमें निरत रहते हैं। उनका दण्डविधान भी जीवके कल्याणार्थ ही होता है—वे 'सुहृद सर्वभूतानाम्', 'सुहृद सर्वदेहिनाम्' और 'सर्वभूतहिते रता' जो हैं।

अनीतिपर चलनेवालोंके लिये यह ससार काँटोंका जगल है, अनीतिसे कोई प्यार नहीं करता। भौतिक सुखकी हानि सामाजिक अवहेलना अवनति धनक्षय

शक्तिक्षय, पाशविक प्रवृत्ति आर अधोगतिका मार्ग प्रशस्त हाना—ये सब अनीतिके लक्षण हैं। ऐसे पुरुष अविवकी हाते ह। श्रीभगवान्‌स व विमुख हात हैं, बुरी नीयतस कर्म करते हैं, आसुरी प्रकृतिका धारण करनेक कारण मूढ हा जात हैं तथा भगवान्‌का भजन भी नहीं करते— 'राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिता ।'

हमार धर्मशास्त्रा ऋषियो, विज्ञजनाने सदाचारयुक्त जा विधि-विधान बनाय हैं वे हमारे लिय परम हितकारी साधन ह, इसालिये शास्त्रोने विहित कर्मोके पालन और निषधकर्मोके त्यागका दिशा-निर्देश किया ह। अत शास्त्रानुकूल आचार-दिनचर्याका अपनाना चाहिय, उसका सम्यक् रूपसे पालन करना चाहिय। नीतिधर्मकी अवज्ञा कदापि नहीं करनी चाहिये। इसीम जीवनकी सफलता निहित है। दृढ सकल्पक साथ नीतिके श्रष्ठ पथका अनुसरण करना चाहिये।

मनुष्यक कर्मोम दिव्यता—शुद्धि नीति-यागके पालनस आती हे। आप गम्भीरतापूर्वक विचार करक दखग कि नीतिमान् पुरुपोके आचरणका प्रभाव लोकहितमे मङ्गलमय होता है। भगवान् राम 'मर्यादापुरुपात्तम' (सर्वोपरि) कहलाये उनकी सम्पूर्ण जीवन-लीलामे नीतिकी मर्यादाओका पालन हाता रहा, सत्यनीतिगामी महापुरुपाम वे अग्रगण्य उपास्य-पूजनीय स्मरणीय तथा वन्दनीय हो गये। इसीलिय शास्त्रामे भगवान् रामक लिय कहा गया है— 'न हि रामात् परो लोके विद्यते सत्पथे स्थितिः ।'

सभी ऋषिया—महर्षिया आचार्योके धर्मोपदशाम स्मृतिशास्त्रामे नीतिशास्त्राम मनुष्याको निर्देशित किया गया है कि अन्याय बेईमानी ठगी धाखाधडी अत्याचार और किसी पकारके बुरे कर्म (अनीति)-से प्राप्त धन मनुष्यके जीवनक सभी प्रयाजनाका समूल नष्ट कर दता है। अपन आश्रित जनाका भी इस विनाशकारी कायस कष्ट उठाना पडता है। आप कितना भी धन इकट्ठा कर ल समस्त सुखभागकी सामग्री जमा कर ल, आप कितना भा कामना कर ल, कितना ही झूठ बोल कर कमा ल, छल-कपटस कमा ल, परतु ध्यान रख—

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे
नारी गृहद्वारि जना श्मशाने।
देहश्चितायां परलोकमार्गे
धर्मानुगो गच्छति जीवलोक ॥

—तुम्हारा धन भूमिपर रह जायगा तथा गाय-भैंस पशु, खूँटेपर बँध रह जायँगे ओर प्रिय स्त्रा घरक दरवाजेतक साथ देगी भाई-बन्धु एव सभी प्रिय जन श्मशानतक साथ दग तथा तुम्हारा शरीर कवल चितातक साथ दगा—किंतु तुम्हारा धर्म (नीतिपालन) परलोकको अखण्ड यात्राम सदैव साथ देगा और साथ रहेगा।

प्रियबन्धु, स्मरण रखिये। इस ससारम जिसक पास दैवी सम्पत्ति है वह सबसे बडा धनी व्यक्ति हे—सताष सात्त्विकी शक्ति है। ससारम रहकर निष्काम, निष्पाप कर्म करत रहिय जा धन आपको मिलना है, अवश्य मिलेगा। मनुष्य-यानिमें मनुष्य शुभ-अशुभ कर्मोंसे बँधता हे जीवनरूपी रस्सीकी गाँठ इसी मनुष्य-यानिम खोल सकते हैं मुक्त हा सकते हैं मोक्ष मिल सकता है। अत सन्मार्गपर चलना धर्मनीतिके पथका अनुसरण करना ओर सतत भगवान्‌की स्मृति बनाये रखना—इन बातापर अवश्य निष्ठा रखनी चाहिये।

नास्त्यकीर्तिसमा मृत्युर्नास्ति क्रोधसमो रिपु ।
नास्ति निन्दासम पाप नास्ति मोहसमासव ॥
नास्त्यसूयासमाकीर्तिर्नास्ति कामसमोऽनल ।
नास्ति रागसम पाशो नास्ति सङ्गसम विषम्॥

(नारद० पूर्व० प्रथम० ७। ४१ ४२)

अकीर्तिके समान कोई मृत्यु नहीं है। क्रोधक समान काई शत्रु नहीं है। निन्दाके समान कोई पाप नहीं है आर माहक समान काई मादक वस्तु नहीं है असूयाक समान काइ अपकीर्ति नहा है कामके समान काई आग नहीं है रागक समान काई बन्धन नहीं है और आसक्तिके समान काइ विष नहीं है।
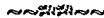
नीतिका एक महत्त्वपूर्ण श्लोक

(प० श्रीशिवनारायणजी शास्त्री)

'मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु य पश्यति स पश्यति॥'

हमारे नीति-शास्त्रका कहना हे—जो दूसरेकी स्त्रियाको माताके समान, दूसरेके धनको मिट्टीके ढेलके समान ओर सब प्राणियोको अपने समान देखता ह, वास्तवम वही दखता है इससे विपरीत देखनेवालोको आसुरी प्रकृतिका बिना सींग और पूँछवाला साक्षात् पशु ही समझना चाहिये।

मातृवत् परदारेषु

धर्मशास्त्रने पर-स्त्री-गामी पुरुषको महापापी और अधर्मी बतलाया है इसलिय हिन्दुआमे परम्परासे यह धर्म चला आया है कि वे दूसरेकी स्त्रीका भूलकर भी बुरी दृष्टिसे नहीं देखते, इसमे पृथ्वीके अनेक धुरन्धर विद्वान् भारतीय सभ्यताको ससारकी आदिसभ्यता और देव-सभ्यता मानते हैं तथा इसकी प्रशसा किया करते हैं। जिन लोगाका इसमे विश्वास नहीं है उनके मनमे राजकुमार लक्ष्मणके मुखसे निकले हुए निम्नलिखित शब्द अवश्य ही विस्मय और भक्ति उत्पन्न कर दगे। श्रीरामने जब लक्ष्मणको जानकाद्वारा डाले हुए वस्त्राभूषणामसे केयूर और कुण्डल इत्यादि पहचाननेके लिये कहा तब लक्ष्मणने कहा—

'नाह जानामि केयूरे नाह जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्य पादाभिवन्दनात्॥'

'मैं इन केयूरका नहीं पहचानता, क्योकि ये हाथके गहन हैं। मैं इन कुण्डलोको भी नहीं पहचान सकता क्याकि ये कानके भूपण हें। मैं मात्र पैरोके दोनो नूपुराको पहचानता हूँ, क्याकि नित्यप्रति जानकीमाताके चरणाकी ही वन्दना किया करता था।' कैसा सुन्दर चरित्र है। पुराण और इतिहासम इस विपयकी सैकडो आख्यायिकाएँ भरी हैं, यहाँ उनमसे केवल एक-दो ही आख्यायिकाएँ पाठकोके सामने प्रस्तुत हैं।

भगवान् श्रीरामचन्द्र महाराज जनकको पुष्पवाटिकामे घूम रहे हैं, उसी समय श्रीजानकीजी भी वहीं आती हैं, अकस्मात् श्रीराम जनकनन्दिनी सीताको देखकर लक्ष्मणसे कहते हैं—'भाई! इस कन्याका विवाह हमारे साथ हागा।' लक्ष्मणन पूछा—'आपन यह कैस जाना?' भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने उत्तर दिया—'इसमे हमारा मन साक्षी है।' उस समय प्रभु श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणसे जो कुछ कहा था, उसका हिन्दी-साहित्यके सम्राट् गोस्वामी तुलसीदासजी इस प्रकार वर्णन करते हे—

रघुबसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मनु कुपथ पगु धरइ न काऊ॥
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनहुँ परनारि न हेरी॥

'रघुकुलम उत्पन्न पुरुषोका यह सहज स्वभाव ही ह कि उनका मन कदापि कुपन्थपर नहीं जाता, फिर मुझे तो अपने मनका पूर्ण विश्वास है, मैंने स्वप्नम भी किसी दूसरेकी स्त्रीकी ओर नहीं दखा।' यह है प्रभु श्रीरामचन्द्रजीकी धार्मिक मर्यादा।

इसी प्रकार राजा दुष्यन्तने शकुन्तलाके विपयम अपन मनकी साक्षा दी थी, जो कविशिरोमणि कालिदासके शब्दामे इस प्रकार है—

सता हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्त करणप्रवृत्तय ।

शुद्ध हृदय और शुद्ध आचरणवाले लोगाकी चित्तवृत्ति ही सदेह-युक्त विषयका निर्णय करनेम प्रमाणस्वरूप हुआ करती हे। अर्थात् ऐस सज्जनाका ख़याल कभी अन्यथा या मिथ्या नहीं होता।

एक समय भगवान् व्यासदेवक आदशस वीरवर अर्जुन इन्द्रसे कुछ विद्या सीखनेके लिये स्वर्गम गये। वहाँ इनकी परीक्षाके लिये इन्द्रने उर्वशी अप्सराका उनक पास भेजा। उर्वशी ता या ही सुन्दरी था, फिर उसन अलङ्कार आदिसे अपनेको सजा-धजाकर अर्जुनका मन डिगानेके लिये प्रस्थान किया और अर्ध रात्रिम [illegible] अर्जुनक स्थानपर पहुँची। अर्जुन भीतरकी [illegible] ध्यानमग्न बैठे थे। उर्वशीने दरवाजा खटखटाया। [illegible] किवाड खोले देखते हैं—एक परम [illegible] खडी है। उसे देखत ही अर्जुनन [illegible] और कहा—

का त्व शुभे कस्य [illegible]
[illegible] त।
आचक्ष्व मत्या [illegible] कुत्रा
[illegible] धर्माविनुज [illegible]

तुम कौन हा? किसकी स्त्री हो? आर यहाँ इस समय क्या आयी हा? यह सब मुझ बतलाओ किंतु इतना तुम्हें याद रखना चाहिये कि पवित्राचरण कुरुवशियाका मन किसी दूसरेकी स्त्रीम कदापि नहीं जाता।

उर्वशीने अर्जुनको लुभानक लिय बडे-बड हाव-भाव दिखाय ओर कहा—'मेर सदृश स्त्री मर्त्यलाकम ता क्या स्वर्गलाकम भी दूसरी नहीं ह।' अजुनन कहा—म तो अभीतक यही जानता था कि ससारम मेरी माता कुन्तीके समान रूपवती आर काई स्त्री है ही नहीं इसीसे मुझको यह बडा भारी अभिमान था कि म एक रूपवती आदर्श देवीका पुत्र हूँ। यदि आप मरी माता कुन्तीसे भी अधिक रूपवती ह ता अच्छा बात ह, ईश्वर मरा जन्म आपके गर्भस करता ता म अपनका ओर भी धन्य मानता। पर आप जिस आशास यहाँ आयी हैं वह अर्जुनसे कभी स्वप्नम भी पूरी नहीं हा सकती क्याकि उसके पूण करनम ता हमारा कुल ही सवथा कलङ्कित हा जायगा और में सदाक लिय नरकका कीडा बनकर अपने सच्चे मानव-जन्मस हाथ धा बेठूँगा। बस मरा ता आपस इतना ही कहना काफी हागा—

हम क्षत्राकुल-पूत इन्द्रक अन्तेवासी।
कुल कलक मत देहु मातु! हम भारतवासी॥

अर्जुनक मुखसे इतना सुनकर बचारी उर्वशी लज्जित होकर वहाँसे वापस लाट गयी। पाठको! कुलकी मर्यादा आर अपन आदशकी पवित्रता रखनक लिय अजुनन धार्मिकताका जा उच्च आदर्श दिखलाया ह उस आप कभी न भूल। भाइयो! इस प्रकार अपने पवित्र आदर्शकी रक्षा करक ही ता भारतवासी महान् ज्ञानी ओर शूरवीर बनते थे जिनक सामन सार दश सिर झुकाते थे। शाकक साथ लिखना पडता ह कि आज बहुत-स भारतवासी विजातियाकी सङ्गति और कुशिक्षाके प्रभावस अपने इस पवित्र आदर्शस गिरकर कामक पजम पड आसुरी प्रकृतिक साक्षात् पशु बन गय ह, आज विलास-प्रियताने प्राय प्रत्यक व्यक्तिक हृदयम स्थान कर लिया है कहाँ ता हमारा इतना ऊँचा आदर्श और कहाँ आजकी गिरी हुइ दशा।

हमारे शास्त्र ... कुछ भी नहीं। इसे ... नाशम भी दु ख है। ... घर है। यह जिनके ... पार नही रहता। व ... उनकी जिन्दगी सदा ... नातेदार और स्वय ... करत ह। ग्रगरी ना... हम उतनी खुशी न... हाता है।' इसी प्र... धन होता है, उन्ह ... अनर्थोके मूल धन... कौन पसन्द करता ... कि ससारका काम ... है इसलिय वह अ... होगा कि वह धन ... चारी-जारा या बई... पापका मूल है। ... बात है ऐसा विच... विचार किया करते ... यहाँ लाक-निन्दा ... यहाँ किसी तरह ... ही नहीं सकत। ह... नोट करनेवाला ह... एक गुप्त-स-गुप्त ... वेद हम आज्ञा दे... किसीका धन मत ... धन हरण करन प... मित्राके साथ विश्व... धम्मपदम लिखा ... है जा दूसराकी ... है वह इस लाक... है। अगर धनकी ... चाहिय। उद्योगी अ...

...द्रव्येषु लोष्ठवत् ... कहते ... प्राप्त करनेमें दु ख, ... धन ... पास होता है, ... दिन-रात इसीके ... खतरेमें रहती है ... पुत्रतक ... होती, ... प्लूटार्कका कथन ... उससे कष्ट ही ... जो अज्ञानी विषयी पुरुषोंके ... ? थोडी देरके लिये ... चलानेके लिये ... अच्छी चीज है, ... अन्यायोपार्जित ... मानीसे हडप जाना ... सरेके धनको अपहरण ... र भी मनमें लाना ... है, उनके दोनों लोक ... होती और वहाँ दण्ड ... च भी गये तो वहाँ ... मारी प्रत्येक अच्छी ... मारे अदर ही मौजूद है। ... कामपर भी नजर रखता ... है—'मा गृध ... चाहो। महात्मा ... —स्त्रियोंसे व्यभिचार ... सघात करनेसे मनुष्य ... —जो हिंसा ... जको ... —अपने ... लालसा ... र

है। बहुत धन भाग्यमे न भी हा ता भी उद्योगी दरिद्र नहीं रह सकता। इसलिये भूलकर भी पराये धनपर मन नहीं चलाना चाहिये।

आत्मवत् सर्वभूतेषु

इसका अर्थ यह ह कि हम सभी जीवोको अपने समान समझना चाहिये—पराये प्राणोको भी अपने प्राणोके समान समझना चाहिये—दूसरोको कष्ट पहुँचाते समय इस बातका खयाल अवश्य रखना चाहिये कि यदि हमे कोई एसा हा कष्ट दे हमारी हत्या करे ता हमारा क्या हाल हो? यदि मनुष्य यह विचार अपने हृदयमे रखे ता उससे कभी किसीकी हत्या न हो और किसी तरहका कोई भी अपराध न हो।

शेख़ सादीने कहा है—

ज़ेरे पायत गर, विदानी हाले मोर।
हमचो हाले तस्त, ज़ेरे पाये पील॥

तुम्हारे पाँवके नीचे दबी चींटीका वही हाल हाता है जो हाथीके पाँवके नीचे दब जानेपर तुम्हारा हो सकता है। दूसरेके दु खकी तुलना अपने दु खसे किये बिना, हम उसके दु खका पता लगना असम्भव है।

समदर्शी होनेके उपाय

वेदान्तके अनुसार समदर्शिता ही परमानन्दकी सीढी है। चित्तकी समता ही 'योग' है। जब समान दृष्टि हो गयी तब 'योगसिद्धि' मे शेष हा क्या रहा? जब मनुष्यको इस बातका ज्ञान हो जाता है कि समस्त जगत् और जगत्के प्राणियामे एक ही चेतन आत्मा है, छाट-बड, नीच-ऊँच सभी शरीरामे एक ही ब्रह्मका प्रकाश है तब उसकी दृष्टिमे सभी समान हो जाते हैं। जब वह राजा-महाराजा अमीर-गरीब मनुष्य और पशु-पक्षी हाथी तथा चींटी सर्प एव मगर—सबमे एक ही चेतन आत्माको व्यापक देखता है, तब उसके चित्तमे एकसे राग आर दूसरेसे विराग एकसे विरोध और दूसरेसे प्रणयका भाव नहीं रह जाता, उस समय उसे न कोई शत्रु दीखता है और न कोई मित्र। इस अवस्थामे पहुँचनेपर वह न किसीको अपना समझता है, न पराया। इसी समय उसे स्त्री-पुरुष शत्रु-मित्र सर्प-पुष्पहार और सोना-मिट्टीप्रभृतिमे कोई अन्तर नहीं मालूम होता। इस अवस्थामे उसके अन्त करणसे दु खोका घटाटोप अँधेरा दूर होकर परमानन्दका प्रकाश छा जाता है। इस समय उसे जो आनन्द होता है, उसको क़लमसे लिखकर बताना असम्भव है। स्वामी शंकराचार्यजी महाराज कहते हैं—

शत्रौ मित्रे पुत्रे बन्धौ मा कुरु यत्नं विग्रहसन्धौ।
भव समचित्त सर्वत्र त्व वाञ्छस्यचिराद्यदि विष्णुत्वम्॥

हे मनुष्य! यदि तू शीघ्र ही मोक्ष या विष्णुत्व चाहता है तो शत्रु-मित्र पुत्र-बन्धुओसे विरोध और प्रणय मत कर, यानी सबको एक नजरसे देख किसीमे भेद न समझ। मतलब यह कि यदि मोक्ष मुक्ति या परमानन्द चाहते हैं तो समस्त जगत्मे अपने ही आत्माको देखिये, एकको अपना और दूसरेको पराया एकको शत्रु और दूसरेको मित्र न समझिये। समस्त जगत्मे एक ही आत्मा व्यापक है। भिन्न-भिन्न घडामे भिन्न-भिन्न प्रकारका जल—किसीमे गुलाब-जल, किसीमे गङ्गा-जल किसीमे जूँठनका जल किसीमे शराब भरा रहनेपर भी सबमे एक ही सूर्यका प्रतिबिम्ब पडता है, सबमे एक ही सूर्य दीखता है उसी तरह मनुष्य पशु-पक्षी और मगरमच्छप्रभृति जगत्के सभी प्राणियोंमे एक ही चेतन ब्रह्मका प्रतिबिम्ब या प्रकाश है। भिन्न-भिन्न प्रकारके शरीरो या उपाधियोके कारण सबमे एक ही आत्मा होनेपर भी अलग-अलग आत्मा दीखते हैं। परतु इस प्रकार भिन्न-भिन्न शरीरोमे भिन्न-भिन्न आत्माओका होना अज्ञानियोको ही मालूम होता है जो तत्त्ववेत्ता और पूर्ण ज्ञानी हैं अथवा जो आत्मतत्त्वकी तहतक पहुँच गये हैं उन्हे सभी शरीरोमे एक ही आत्मा दीखता है। वे समझते हैं कि जो आत्मा मुझमे है वही समस्त जगत् और जगत्के प्राणियोमे है। बकरीके शरीरमे जो आत्मा है उसे बकरी हाथीके शरीरमे जो आत्मा है उसे हाथी और मनुष्यके शरीरमे जो आत्मा है उसे मनुष्य कहते हैं। यह कहना उन शरीरोके सम्बन्धमे है। जिन-जिन शरीरोमे आत्मा प्रवेश कर गया है उन्हीं-उन्हीं शरीरोके नामसे वह पुकारा जाता है। शरीरो या उपाधियोका भेद है आत्मामे कोई भेद नहीं। नदी तालाब झील, बावडी झरना, सोता और कुआँ—इनमे एक ही जल है नाम अलग-अलग हैं। दीपक, मशाल चिराग और अग्नि सबमे एक ही अग्नि है नाम अलग-अलग हैं।

पृथ्वी एक ही है, पर उसके नाम अलग-अलग हैं। किसीको 'नगर', किसीका 'गाँव', किसीका 'ढानी' और किसीको 'घर' कहते हैं, पर हे तो सब धरती ही। ताना-बाना एक ही सूतके दा नाम हैं पर है दोनोमे सूत ही। वन एक ही हे उसम अनेक वृक्ष हें ओर उनके नाम तथा जातियाँ अलग-अलग हे। बीजसे वृक्ष होता है ओर वृक्षसे बीज हाता ह, अत बीज वृक्ष है और वृक्ष बीज है। दोना एक ही हैं, पर नाम अलग-अलग हैं।

इसी प्रकार सबम एक ही चतन आत्मा हे, भिन्न-भिन्न प्रकारके शरीरोके कारण नाम अलग-अलग हो गये हैं। भ्रमके कारण असली बात मनुष्यकी समझम नहीं आती। मृगमरीचिकाम जल नहीं हे, भ्रमवश मनुष्यको जल दीख पडता हे ओर वह कपडे उतारकर तैरनेको तैयार हो जाता है। रस्सी रस्सी है, साँप नहीं, पर अँधेरेम वह रस्सी साँप-सी दीखती हे, जिससे डरकर मनुष्य उछलता और भागता है। इसी तरह जबतक मनुष्यके हृदयमे अज्ञानरूपी अन्धकार रहता है, तबतक उसे और-का-और दीखता हे। अज्ञान दूर होनपर उसे स्पष्ट पता लग जाता है कि वास्तवम सारे जगत्मे एक ही ब्रह्म व्याप्त है—प्रत्यक शरीरमे एक ही चेतन आत्मा है। कविवर बिहारीने कहा है—

मोहनि मूरति स्याम की अति अद्भुत गति जोइ।
बसत सुचित-अन्तर तऊ, प्रतिबिम्बित जग होइ॥

श्यामकी मोहिनी मूर्तिकी गति अति अद्भुत है वह सुन्दर हृदयम रहती है तो भी उसका प्रतिबिम्ब सारे जगत्म पडता है। महाकवि नजीर कहते हैं—

ये एकताई ये एकरगी तिस ऊपर यह कयामत है।
न कम होना न बढना और हजारा घटम बँट जाना॥

ईश्वर एक है और एक रङ्ग है—निर्विकार और अक्षय है उसम रूपान्तर नहीं होता एव वह घटता-बढता भी नहीं लेकिन अचम्भेकी बात है कि वह घट-घटमें इस तरह प्रकट होता है, जिस तरह एक सूर्यका प्रतिबिम्ब अनक जलाशयाम दृष्टिगोचर होता है।

यह निश्चय रखना चाहिये कि जावात्मा और परमात्मामे नि सदेह कोई भेद नहीं है। दोनाम एक ही आत्मा है। जीवकी उपाधि अन्त करण है और परमेश्वरका माया। जीवकी उपाधि छोटी, परमात्माकी बडी है, इसीसे ईश्वरके सर्वज्ञताप्रभृति धर्म जीवमे नहीं पाये जाते। गङ्गाकी बडी धाराम नाव और जहाज चलते हैं, हजारों मगरमच्छ और करोडो मछलियाँ तैरती हैं तथा किनारेपर लाखों लोग स्नान करते है, पर वही गङ्गाजल यदि एक गिलासमें भर लिया जाय ता उसम न तो नाव और जहाज होंगे, न मगरमच्छ और मछलियाँ हागी और न किनारेपर लाग स्नान ही करते हागे। परतु वस्तुत गङ्गाकी बडी धारामे जो जल है, वही जल इस गिलासन है। वह गङ्गाका बडा प्रवाह है और गिलासम थोडा-सा जल है। जिस तरह दोना जलाके एक होनम सदह नहीं, उसी तरह जीवात्मा ओर परमात्माके एक हानेम सदेह नहीं। साराश यह कि जीवात्मा, परमात्मा और समस्त जगत्मे एक ही ब्रह्म है। जो इस बातकी तहतक पहुँच जायगा, वह किससे वैर और प्रीति करेगा? जबतक मनुष्य इस बातको अच्छी तरह नहीं समझता और यह बात उसके हृदयपर अकित नहीं रहती कि जो आत्मा मेरे शरारमें है, वही जगत्के और प्राणियाके शरीरोम है तभीतक वह एकको अपना और दूसरेको पराया एकको शत्रु और दूसरेको मित्र समझा करता है। कैवल्योपनिषद्म लिखा है—

यत्पर ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतन महत्।
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतर नित्य स त्वमेव त्वमेव तत्॥

जो ब्रह्म सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और नित्य है वह तू ही है और तू वही है।

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वर तस्य निरीहता। प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य श्रेयो न स्पर्शन नृणाम्॥
(महा० वन० २। ४९)

जा धर्मक लिये धन पाना चाहता है उस पुरुषके लिये धनकी ओरसे निरीह हो जाना ही उत्तम है क्याकि कीचडका लगाकर धानेकी अपेक्षा उसका स्पर्श ही न करना मनुष्याके लिये श्रेयस्कर है।

(क)

धर्मेण रक्षतस्तस्य हृष्टपुष्टजनाकुला।
वभूव पृथिवी सर्वा धनधान्यसमृद्धिनी॥
निर्दस्युरभवल्लोको नानर्थं किञ्चिदस्पृशत्।
न चापि वृद्धा बालाना प्रेतकार्याणि कुर्वत॥
सर्व प्रमुदित चासीत् सर्वो धर्मपरा जन।
दृष्ट्वा धर्मपर राम न चाहिंसत्परस्परम्॥
स्वधर्मेषु प्रवृत्ताश्च वर्णा स्वरव कर्मभि।
आसन् प्रजा धर्मपरा रामे राज्य प्रशासति॥

(६।१२८)

(ख)

हृष्ट प्रमुदितो लोकस्तुष्ट पुष्ट सुधार्मिक।
निरामयो विशोकश्च दुर्भिक्षभयवर्जित॥

(१।१।९०)

(क) श्रीरामचन्द्रजी धर्मपूर्वक प्रजाकी रक्षा करते थे। उस समय उनक राज्यकी सारी भूमि हृष्ट-पुष्ट मनुष्यास भरी थी, सवत्र धन-धान्यकी समृद्धि वढ रही थी, मानव-जगत्म एक भी लुटरा नहीं था। काई भी अनर्थ किसीका किचिन्मात्र भी स्पर्श नहीं करता था। बड-वूढ लागाका अपन वालकाका प्रेतकर्म (दाहकर्म-श्राद्ध आदि) नहीं करना पडता था ओर सब प्रसन्न थे। श्रारामचन्द्रजीको धर्मपरायण देखकर सब लाग धर्म-पालनरत थे। काई किसीका परस्पर द्वपवश सताता या मारता नहीं था। श्रीरामक राज्यशासन-कालम सब वर्णोक लाग स्वधर्मपरायण थे। अपने ही कर्मोद्वारा जीवननिर्वाह करत हुए सभी धमम तत्पर रहते थ।

(ख) सब लोग हृष्ट-पुष्ट, प्रसन्न, सतुष्ट, परम धार्मिक नीराग, शाकरहित तथा अकालके भयसे दूर थे।

इसी कारण 'रामराज्य' शब्द आज भी हमारे देशम सुप्रचलित ह। मान्धाता अम्बरीष, पृथु, जनक आदि श्रेष्ठ राजर्षि लोगान भी धर्मका अवलम्बन करके ही राजत्व किया था। महाभारतम 'यतो धर्मस्ततो जय' का प्रयाग अनक स्थानापर दखनेम आता हे। यहाँतक कि राजा दुर्योधनन युद्धक्षेत्रम जानके पहले मातास आशीर्वाद माँगा ता गान्धारीन भी कहा—'जहाँ धर्म है वहीं जय है।' प्रकारान्तरम उन्हान अपन अधार्मिक पुत्रका समझाया था कि धर्मराज युधिष्ठिरकी ही जय हागा। क्षत्रिय राजा लाग सत्य और धर्म-रक्षाक लिय प्राण परित्याग करनम भी नहीं हिचकते थ, इसक प्रमाणाकी शास्त्राम कमी नहीं है। अतएव राष्ट्रका यथार्थ रीतिस परिचालन करनक लिय राष्ट्रपतिका ही सवस पहल धर्मावलम्बी हाना चाहिय।

राष्ट्र-रक्षा करनम जिस प्रकार विभिन्न विभागाक कामाके लिय उस विषयम कृतनिश्चय और सुनिपुण मन्त्री नियुक्त करनेकी आवश्यकता पडती है, उसी प्रकार राजाका कर्तव्य है कि धर्मविभागका सचालन भी धार्मिक, आत्मनाना महापुरुपके हाथम सौंप दे। देखा जाता है कि कुरुक्षेत्रक युद्धम जय प्राप्त करक धर्मपुत्र युधिष्ठिरन राजधानीम प्रवशकर पहल गुरु धौम्य और तत्पश्चात् अपन ताऊ धृतराष्ट्रकी पूजा की थी—

तास्तु वै पूजयामास कौन्तयो विधिवद् द्विजान्।
धौम्य गुरु पुरस्कृत्य ज्येष्ठ पितरमव च॥

(महाभारत शान्ति० ३८।१७)

इस प्रकार उन्हाने राजपदपर अभिषिक्त हाते हा गुरु और पुराहित परम ज्ञानी महात्मा धौम्यका हा धर्मविभागका मन्त्री नियुक्त किया—

द्विजाना देवकार्येषु कार्येष्वन्येषु चैव ह।
धौम्य पुरोधसा श्रेष्ठ नित्यमेव समादिशत्॥

(महाभारत शान्ति० ४१।१४)

विभिन्न विभागके सचिवाको जैसे धार्मिक हाना आवश्यक है उसी प्रकार मन्त्रियाको भी पुण्यात्मा और धार्मिक हानेकी आवश्यकता है। धृतराष्ट्रने राजा युधिष्ठिरको राष्ट्र-रक्षाक सम्बन्धम जो मूल्यवान् उपदेश दिया है, उसमें मन्त्री नियुक्त करनेके विषयम वे कहते हैं—

अमात्यानुपधातीतान् पितृपैतामहाञ्शुचान्।
दान्तान् कर्मसु पुण्याश्च पुण्यान् सर्वेषु योजये॥

(महाभारत आश्रमवासिक० ५।१४)

वाल्मीकीय रामायणम भी प्रमाण मिलता है कि राजा दशरथके मन्त्रिगण परम धार्मिक और वदज्ञ थे।

(क)

मन्त्रिणावृत्विजौ चैव तस्यास्तामृषिसत्तमौ।

दाना प्रकारकी नीतियाक अनुसार ही राजा दण्डका विधान करत थ। विशाप-विशाप स्थलाम अभिन मण्डल (Jury system) क मतक अनुसार भी निर्णय हाता था—

'श्रोतु चैव न्यसद्राजा प्राज्ञान् सर्वार्थदर्शिन ।'

(महाभारत शान्ति० ६९।२८)

निणय करत समय इसपर विशाप ध्यान दिया जाता था कि कहीं निर्दोप व्यक्ति किसा तरह भी दण्डित न हा आर दापी प्रमाणित हानपर राजा अपन पुत्रका भी दण्डित करनम आपत्ति नहीं करता था—

'पुत्राऽपि च प्राप्तदाप धर्मता दण्डपाणिन

(रामायण १।७।८)

दण्डकी आज्ञा दनक पूर्व अपराधाक बयानपर विशपरूपमे विचार किया जाता था।

उपयुक्त शास्त्रोक्तियापर एक साथ विचार करनपर यह स्पष्ट प्रतीत हाता है कि राष्ट्रका सुपरिचालन करनक लिय राष्ट्रपति और मन्त्रियाका धर्मपरायण हाना नितान्त आवश्यक है, इसम व स्वय आदश बनकर प्रजाजनका भी धर्मपथपर परिचालित करनम समर्थ हाग। जब इस प्रकार सारा राष्ट्र धमक द्वारा अनुप्राणित हागा तभी राजा आर प्रजा दानाक लिय सुख और शान्ति सम्भव ह, नहीं ता अविश्वास अमत्य और धाखबाजी आदिकी क्रमश वृद्धि हागी एव समय आनपर विद्राहकी सृष्टि हागी अन्तत प्रजा ही राजाका विपद्ग्रस्त कर डालगी। इसलिय 'रामराज्य' की स्थापना करनक लिय सर्वप्रथम राजाको ही धमका आश्रय लना पडगा, पश्चात् प्रजावग स्वत उसका अनुवर्ती बनगा।

भगवान् श्रीकृष्णन स्पष्ट कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन ।
स यत्प्रमाण कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता ३।२१)

आख्यान—

प्रजापालन-नीतिके आदर्श—महाराजाधिराज श्रीकाशिराज

[अद्भुत न्याय]

(कुमारी अमिता हरीचरण अवस्थी)

सूर्योदयके बाद सूर्यास्त फिर सूर्योदय । कालचक्र अबाध गतिसे चलता ही रहता है। 'हर हर गङ्गे' 'जय गङ्गा मैया', जय भोले बाबा' के निनादसे शिवपुरी काशीके प्रत्येक घाट तथा शिवालयोंमें जन जीवन प्रतिदिन जाग्रत् होता रहता है। चैत्रके बाद वैशाख फिर ज्येष्ठ आषाढ श्रावण आदि वर्षके बारह महीने कालचक्रकी घडीपर क्रमश घूमते रहते हैं। इसी क्रममें माघ पूर्णिमाका पावन पर्व आ गया। महाराज श्रीकाशिराजकी प्रिय पत्नी आदरणीया महारानी सुश्रीकरुणादेवीने स्नानका निश्चय किया। दासियोंकी टोलीके साथ वे प्रात गङ्गा-तटपर जा पहुँची। जलकी शीतलहरोंके मध्य पहुँचते ही उन्हें भयानक ठंढ लगने लगी। हाथ-पाँव ठिठुरने लगे। सभी दासियोंके साथ महारानी शीतके प्रकोपसे अत्यन्त व्यथित हो गयीं। कहीं दूर-दूरतक सूखी लकडी दिखायी नहीं पड रही थी। तटपर घास-फूसका नामोनिशान न था जिसे जलाकर शीतका निवारण किया जा सके। अब क्या हो? सभी दासियाँ परेशान और किंकर्तव्यविमूढ-सी खडी थीं। जैसे-तैसे स्नानके बाद वस्त्र-परिवर्तन कर वे सभी आगे बढीं। शीत वायुने कुछ और जोर पकडा। महारानी सुश्रीकरुणादेवीजी द्रुतगतिसे आगे-आगे चल रही थीं। दूर उन्हें आठ दस झोपडियाँ दिखायी पडीं। महारानीको उधर जाते देख सभी दासियाँ उनके साथ हो गयीं। घास-फूसकी झोपडियोंको देखकर महारानीकी आँखें खुशीसे चमक उठीं। पास खडी दासीसे उन्होंने कहा—'प्रियंवदे। इस झोंपडीको आग लगा दो।' महारानीकी बात सुनकर दासी बहुत घबरायी और कहने लगी—'महारानीजी। क्षमा करें। न मालूम यह झोपडी किसी गरीबकी हो या फिर इसमें कोई साधु-महात्मा रहता हो। बेचारेने कितने कष्टसे इसे बनाया होगा। उसका तो यही जीवन-सर्वस्व है। झोपडी जल जानेपर बेचारा निराश्रित किधर जायगा? क्या खायगा?'

दासीकी बात सुनते ही महारानीको क्रोध आ गया। वे क्रोधसे बरस पडीं—'ज्ञानकी बातें न बघार। जल्दी आग लगा दे। नहीं तो तेरी खैर नहीं।' भयभीत दासीने काँपते हाथोंसे झोपडीके एक तिनकेको आग लगा दी। अग्निदेवने

अपनी लपलपाती विकराल जिह्वासे क्षणभरमे झोपडीको उदरस्थ कर लिया। घास-फूसकी झोपडी—गरीबका सर्वस्व आग-मिश्रित राखका ढेर हो गया। महारानीके शीतका निवारण हो गया और वे प्रसन्न हो गयीं। पर इतनेमे ही अग्निदेवके सहयोगी वायुदेव मुखर हो उठे। उन्होने ऐसी फूँक मारी कि अग्निदेव फिर उठ बैठे। इच्छासे कहिये या अनिच्छासे, वे कुपित हो उड चले। दूसरी झोपडी, तीसरी फिर चौथी और अन्तमे आखिरी झोपडीमे पहुँचकर वे खुशीसे नाचने लगे। उन्होने अपनी लपलपाती प्रलयकारी जिह्वाके सहयोगसे गरीबोका जीवनधन, उनका आश्रय, सिरकी (सरकडेकी बनी हुई छत), गृह-सामग्री सभीको उदरस्थ कर लिया। जबतक गरीब प्रजाजन भागते-दौडते अपनी झोपडियोके पास पहुँचे तबतक सब कुछ जलकर स्वाहा हो चुका था। थके-हारे बच्चे प्रौढ-प्रौढाएँ, लाठीके सहारे झुकी कमरको सँभाले वृद्ध-वृद्धाएँ, बहू-बेटियाँ इस घोर विपदाके ताण्डवको सूखे नयनोसे हतप्रभ, हतबल और निराश होकर चारो ओरसे निहार रहे थे। कहींसे कुछ सहारा मिलनेकी सम्भावना न थी। तभी किसीने व्यंग्यबाण छोडा—'महारानीजीके काम आ गयीं ये झोपडियाँ। सचमुच जलकर ये धन्य हो गयीं। महारानीजीका शीत-निवारण कर आपलोगोने बडा पुण्य कमाया है। क्यो व्यर्थमे हताश-निराश हो रहे हैं?'

शरीरकी नसो-नाडियोको गतिहीन करनेवाली ठढमे भूखी-प्यासी, गरीब प्रजा शीतके झोकोको सहती, ठिठुरती असहाय पडी थी। महारानीजी महल कबकी पहुँच गयी थीं। भला उन्हे इनकी चिन्ता क्या होने लगी। पर उधर गुप्तचरोंने महारानीके कुकृत्योंका समाचार काशिराज महाराजको सुनाया। सुनते ही परदु खकातर प्रजावत्सल मूर्तिमान् नीतिस्वरूप महाराजकी अन्तरात्मा रो पडी— *'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृपु अवसि नरक अधिकारी॥'* सभी दीन-दुखियोको तत्काल महाराजने शाही अतिथिशालामे बुला भेजा। सबके आते ही महाराज अतिथिशालामे स्वय पधारे। उस जनसमूहमे उनको लकडीके सहारे कमरके बोझको ढोनेवाला, बचपनमे उन्हे गोदमे लेकर लाड-प्यारसे दुलारनेवाली, आशीर्वचनोकी बौछार करनेवाली बुढिया माँ और बूढे बाबा दीखे।'आओ पधारो महाराजजी। राखी बँधवाओ।' कहनेवाली भोली-भाली मुँहबोली बहन एक ओर सहमी-सी खडी दिखायी दी। ये भी तो आत्मीय स्वजन ही हैं। निश्छल और नि स्वार्थ प्रेमसे जीवन-पथको सुगन्धित और सुरभित करनेवाले इन दूरके आत्मीय जनोका कष्ट महाराज सह न सके। उनके नेत्र सजल हो आये। भोजन और रहनेका सुचारु प्रबन्ध स्वयकी देख-रेखमे राज्यकी अतिथिशालामे करके महाराज राजप्रासादकी ओर शीघ्रतासे प्रस्थान कर गये। राजप्रासादमे पहुँचते ही महारानीसे उन्होने कहा—'न जाने तुम्हारा नाम 'करुणा' किसने रखा था? प्रजाजनोको कितना कष्ट पहुँचा है उनकी झोपडियाँ—उनके घर जल जानेसे! क्या इस कष्टका तुम्हे अनुभव है? महारानीने उनकी ओर उपेक्षासे देखा और कहा—'घास-फूसकी झोपडियाँ क्या घर कहने योग्य थी? वे तो जलानेके योग्य ही थीं, सो जला दी गयीं। इसमे इतना सोच-विचार दु ख-प्रदर्शन कैसा? इसमे न्याय और अन्यायकी कौन-सी बात है, आप व्यर्थमे दुखी हो रहे हैं।' गर्व और अधिकारके मदमे महाराजकी बात अनसुनी करके महारानीजी अन्त पुरकी ओर चली गयीं। उनकी यह उपेक्षा महाराजसे सही न गयी। उनके मन-प्राण प्रजाजनोके असहनीय दु खसे और रानीकी घोर उपेक्षासे कराह उठे। राजसभाकी ओर जाते-जाते महाराजने आग्नेय नेत्रोसे प्रधान दासीको राजाज्ञा सुनायी—'महारानीके सभी आभूषण और राजसी वस्त्र उतार लो। फटे-पुराने वस्त्र पहनाकर एक भिखारिनकी वेश-भूषामे शीघ्र ले आओ।' ऐसा ही हुआ।

महारानीको राजाज्ञा सुनायी गयी। तवतक महाराज राजभवनस जा चुक थे। महारानी राती-विलखती रहीं। पर राजाज्ञाका उल्लघन कौन करता? राजकोपका भय सभीको लगा रहता हे। महाराज राजसिहासनपर विराजमान हो गय। सभा दरबारिया और प्रजाजनासे खचाखच भरी थी। सभाकी कायवाही आरम्भ हुई। प्रजाजनोकी त्रासदीकी ओर महाराजने सबका ध्यान आकर्षित किया।

सभी महाराजक श्रीमुखकी आर निहार रह थ कि अब क्या निणय वे करत हैं। तभी सभाभवनम महाराजश्रीकी धीर-गम्भार राजाज्ञाके स्वर गूँज उठ—'महारानीजीका ल आया जाय।' आभूषणासे विरहित दरिद्रावतार-सी दीखती रानान जस ही सभाभवनम प्रवश किया सभी, प्रजाजन ओर दरबारी घार आश्चयक साथ उनको देखते ही रह गय। नातिमान्, धर्मधुरन्धर न्याय-निष्ठुर महाराजका स्वर फिर सभास्थलमे गूँजा—

'प्रजाकी सम्पत्ति रानीने अपन हाथास नष्ट की हे, जिसका न ता उन्ह दु ख हे न पछतावा। ऐसी परिस्थितिम नुकसानकी क्षतिपूर्ति पजाद्वारा राजकोपम दिय जानेवाले करखपी धनसे करना, प्रजाको दाहरा दण्ड दनके समान हैं। अतएव एसे किसी सुझावपर हम विचार करनेका स्थितिम नहीं हैं। हमार विचारस जबतक मनुष्य स्वय विपत्तिम नहीं पडता, तबतक भुक्तभागीके कष्टाकी व्यथाका परिचय उस नहीं हाता। न ता वह दूसराक कष्टाका मर्माहत कर देनवाली पीडाको समझ ही पाता हैं। करुणादवी! गराब प्रजाजनाके कष्टका स्वय आपका अनुभव हा आर भविष्यमें एस अमानवीय क्रूरतम व्यवहारका पुनरावृत्ति न हा इसलिय आपका राजभवनस निष्कासित किया जा रहा ह। व झापडियाँ जिन्ह आपने जलवा दिया ह, भिक्षा माँगकर जव आप उनका सुचारुरूपमे पुनर्निर्माण करा दगी तब राजभवनम आ सकगी। तबतक सभी पाडित प्रजाजन राज्यकी अतिथिशालाकी शाभा बढायग।'

महाराजकी नातिमत्ता और कठार न्यायप्रियताक समक्ष नियमाका सिर भी आज श्रद्धास झुक गया। मभी दरबारी आर उपस्थित प्रजाजन भावविभोर हा उठ। महाराजाधिराज श्रीकाशिराजक जय-जयकारकी गगनभेदी ध्वनिस भूतभावन भालनाथकी नगरी एक बार फिर गूँज उठी।

वेदान्त—नीति और अध्यात्मका माध्यम

(डा० श्रीनारायणप्रसादजी वाजपेयी करुणेश)

भारतक सभी दार्शनिक मतोंने अद्वैतवाद विशिष्टाद्वैतवाद शुद्धाद्वैतवाद और द्वैतवादको वदान्तक ही अन्तर्गत माना है। अपनी श्रेष्ठताक कारण ही यह वेदान्त युगा-युगास भारतीय समाजम नीति आर अध्यात्मक माध्यमक रूपम चला आ रहा है। कठोपनिषद्म मनुष्यके लिये श्रेय एव प्रेय इन दा मार्गोका निरूपण किया गया हे—

श्रेयश्च प्रयश्च मनुष्यमेत-
स्तो सम्परीत्य विविनक्ति धीर।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥
(कठापनिषद् १।२।२)

'मनुष्यके सामन श्रेय आर प्रेय दो मार्ग आत हैं। विवकशील व्यक्ति उन दानाक स्वरूपपर भलीभाँति विचार करके उनको पृथक्-पृथक् समझ लेता ह। वह श्रेष्ठ-बुद्धि मनुष्य भाग-साधनकी अपक्षा परम कल्याण-साधनको ही उत्तम समझकर ग्रहण करता है परतु मन्द-बुद्धि व्यक्ति लाकिक योगक्षेमकी इच्छासे भागाके साधनरूप प्रयका हा अपनाता हे।' साराश यह कि कठोपनिषद्क अनुसार श्रेय परम शुभ ह और प्रेय सुख। कठोपनिषद्का उपदश है कि इच्छाआकी पूर्तिस सुख (प्रय)-की प्राप्ति हाती ह और श्रेयका परिणति आत्मसाक्षात्कारम हाती ह। आत्मसाक्षात्कार होते ही अविद्या नष्ट हो जाती ह आर ज्ञानका प्रकाश हा जाता हे।

जा व्यक्ति दुराचरणको नहीं छोडता जिसका मन आत्म-केन्द्रित नहीं है वह चञ्चलचित्त व्यक्ति आत्मसाक्षात्कार नहीं कर सकता। उसक लिये तो नैतिक शुद्धि एव

मन समाधिकी आवश्यकता है (कठ० १।२।२४)। जो आत्माको अपरोक्ष ज्ञान तथा समस्त प्राणियाम एक ही आत्माका दर्शन करता है उसे शाश्वत शान्ति प्राप्त होती है (कठ० २।२।१३-१४)। इस प्रकार कठोपनिषद्‌में श्रेय-मार्गका अनुगमन ही आत्मज्ञानका साधन कहा गया है।

नैतिक जीवन एव कर्मका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्थापित करते हुए निष्काम कर्मको ही विहित समझा गया है। संसारके सभी पदार्थोंमें अनासक्तभावमें सार्वभौमिक आत्माका दर्शन करना मोक्षकी श्रेणी है। तप दम निष्काम कर्म एव श्रवण मनन निदिध्यासन ही मोक्षके साधन हैं। सत्य उसकी प्रतिष्ठा है। सत्यवादिता ही नीतिका आधार है। निष्कपट एव सत्याचरण करनेवाले ही मोक्षके अधिकारी कहे गये हैं (केन० ४।९)। विद्यार्थियों एव गृहस्थोंके लिये केन तथा तैत्तिरीयोपनिषद्‌ने नीति और उपदेशोंका उल्लेख करते हुए कहा है कि विद्यार्थीको ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए श्रद्धापूर्वक तप करना चाहिये और शास्त्रोंका अध्ययन तथा आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये सचेष्ट रहना चाहिये। ऋत सत्य तप दम शम अग्निहोत्र अतिथि-सत्कार तथा दया पत्नी-पुत्र और पात्रोंका भरण-पोषण एव वेदोंका अध्ययन और अध्यापन गृहस्थके धर्म हैं। माता-पिता, आचार्य एव अतिथिमें देव-बुद्धि रखनी चाहिये। निषिद्ध कर्मोंको कभी नहीं करना चाहिये। जो वय बुद्धि तप एव आचरणमें श्रेष्ठ हो उनका सदा सम्मान एव सेवा करना चाहिये। श्रद्धापूर्वक दान देना चाहिये। समय आनेपर गृहस्थको पुत्रैषणा, वित्तैषणा एव लोकैषणाका त्याग कर वानप्रस्थी होकर वनमें चले जाना चाहिये। सन्यासीको काम क्रोध, मोह, लोभ छल अभिमान ईर्ष्या, स्वार्थ स्तुति एव निन्दासे सदा दूर रहना चाहिये। श्रीमद्भगवद्गीताने क्रोधको विनाशका मूल कहा है। शम दम तितिक्षा और समाधि आत्मज्ञानके लिये परमावश्यक हैं। इस नीतिका आचरण करनेसे निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है। ज्ञानके लिये श्रद्धा परमावश्यक है। परम ज्ञानका उपदेश देती हुई गीता कहती है कि 'आत्मा न किसी कालमें जन्म लेता है और न मरता है शरीरके नाश हो जानेपर भी उसका नाश नहीं होता।' जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रोंको छोड़कर नवीन वस्त्रोंको धारण कर लेता है, उसी प्रकार जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर नवीन शरीर धारण कर लेता है। समस्त नीति और उपदेशोंका साररूप शरीर एव वाणीके तपको समझाते हुए भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—'हे अर्जुन! देवता ब्राह्मण गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा शरीर-सम्बन्धी तप कहलाता है और अनुत्तेजक, प्रिय एव हितकारक यथार्थ भाषण वेद-शास्त्र-पठन एव ईश्वर-नामोच्चारणका अभ्यास वाणी-सम्बन्धी तप कहा जाता है। मनकी प्रसन्नता शान्त भाव तथा भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव मनका निग्रह और अन्तःकरणकी पवित्रता मन-सम्बन्धी तप कहलाता है ये ही तीनों प्रकारके सात्त्विक तप परमार्थके सोपान कहे जाते हैं।' (गीता १७)

बौद्धधर्मके समस्त उपदेश वेदान्तसे ही लिये गये हैं और विश्व-बन्धुत्व एव समानताके सर्वाधिक सिद्धान्त वेदान्तमें ही पाये जाते हैं। यथा—

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥

(गीता १३।२८)

इस प्रकार वेदान्त इस बातका उपदेश देता है कि 'अपनी या दूसरोंकी भी कभी हिंसा नहीं करनी चाहिये। ईश्वरसे कुछ भी भिन्न नहीं है।' वस्तुतः वेदान्तके अधिकारी तथा अनुबन्ध-चतुष्टय आदि पारिभाषिक शब्दोंमें नीति और उपदेशके सभी तत्त्व आ जाते हैं। धर्मके समस्त लक्षण भी वेदान्तमें अन्तर्भूत हैं। कुछ लोगोंका यह विचार है कि वेदान्त सन्यासमार्गकी ओर प्रवृत्त करता है। पर सच तो यह है कि योगवासिष्ठादि वेदान्त ग्रन्थ हमें जीवनमें कर्मठताका पाठ भी पढ़ाते हैं और कर्तव्य-पथकी ओर भी अग्रसर करते हैं। ऐतरेय ब्राह्मणका कथन है—

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगश्चरैवेति॥

'बैठे हुए व्यक्तिका भाग्य बैठ जाता है खड़े होनेवालेका खड़ा सुप्तका सोया हुआ तथा चलनेवालेका

भाग्य चलन लगता ह। अत तू भी चल।' अर्जुनके द्वारा धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रम शैथिल्य दिखानेपर भगवान् श्रीकृष्णने उन्ह कमपथका आर प्रवृत्त किया था। जीवनक कुरुक्षत्रम समत्वबुद्धिके साथ कर्तव्य-पालन करनेका उपदेश भी वेदान्तका ही है। कठोपनिषद्म इन्द्रिय-निग्रहका महत्त्व देते हुए स्पष्ट कहा गया है—'आत्माको रथी, शरीरको रथ, बुद्धिका सारथि और मनका लगाम समझो। इन्द्रियाँ घाडे है और विषय उनके माग। बारबार यत्न करनेसे तथा वैराग्यम मन वशम हो सकता है।'

पुराणाम भी वदान्तोक्त षट्सम्पत्तिका वर्णन नीति-उपदशक रूपम मिलता है। अहकार ही बुराइयाका मूल कारण है। शोक, हर्ष, भय क्रोध स्पृहा और जन्म-मरण अहकारके ही कारण हात हैं, आत्मासे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। (श्रीमद्भा० ११।२८।१५)

भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवका समझाते हुए कह रहे हैं—

यदि स्म पश्यत्यसदिन्द्रियार्थं
नानानुमानेन विरुद्धमन्यत्।
न मन्यते वस्तुतया मनीषी
स्वाप्नं यथोत्थाय तिरादधानम्॥

(श्रीमद्भा० ११।२८।३२)

अर्थात् ज्ञानी पुरुषकी दृष्टिम इन्द्रियाक विविध बाह्य विषय जो असत् हैं आत भी हैं ता वह उन्ह अपने आत्मासे भिन्न नहीं मानता क्याकि व युक्तिया, प्रमाणा और स्वानुभूतिसे सिद्ध नहीं हाते। जैसे नींद टूट जानपर स्वप्नम दख हुए और जागनपर तिरोहित हुए पदार्थका काई सत्य नहीं मानता। वैसे ही ज्ञानी पुरुष भी अपनसे भिन्न प्रतीयमान पदार्थोंको सत्य नहीं मानते। अपभ्रशकालम भी इसी प्रकार नीति और उपदशाका भण्डार है।

गास्वामी तुलसीदासजीन भी कामादि दाषोंकी आर सकत किया है—

काम क्रोध लोभादि मद प्रबल माह कै धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि॥

(रा०च०मा० ३।४३)

नीति-पथका अनुसरण करना आर श्रीरामजीके चरणों प्रेम-निर्वाह करना ही उत्तम है। वही वस्त्र पहनना चाहि जिसका रग धोनेपर भी फीका न पड। ससारकी असारताक देखकर महात्मा तुलसीदासजीने भी कहा था—

जागु, जागु, जीव जड़! जाहै जग-जामिनी।
देह-गेह-नेह जानि जैसे घन-दामिनी॥
सोवत सपनेहूँ सहै ससृति-सताप रे।
बूड्यौ मृग-बारि खायो जेवरीका साँप रे॥

(विनय-पत्रिका ७३

ससारकी असारता एव विषमताका वर्णन करते हु जायसीका कथन है—

यह ससार सपन कर लेखा। बिछुरि गए जानी नहिं देखा॥
यह ससार झूठ थिर नाहीं। उठहिं मेघ जेउँ जाइ बिलाहीं॥
जो एहि रस के बाए भएऊ। तेहि कहँ रस बिष भर होइ गएऊ॥

ससारक उसी मिथ्यात्वका भक्तवर सूरदासजीने इस प्रकार वर्णन किया है—

मिथ्या यह ससार और मिथ्या यह माया।
मिथ्या यह देह कहौ क्यो हरि बिसराया॥

कर्मफलका उल्लख करते हुए महात्मा सूरदास राम भजनके विना कालकी विकरालता तथा जीवनकी नि सारताका वर्णन इस प्रकार करत ह—

काल बली त सब जन काँप्यौ ब्रह्मादिक हू रोए।
सूर अधम की कहौ कौन गति उदर भर परि साए॥

तथा—

यावत बबुर दाख फल चाहत, जोवत है फल लागे।
सूरदास तुम राम न भजिक फिरत काल सँग लागे॥

हिन्दी-साहित्यम ऐस अगणित उदाहरण भरे हुए हैं जिनम वदान्त-निरूपित नीति एव उपदेश निहित हैं।

निष्कर्षरूपम इतना ही कहा जा सकता है कि वदोंस लकर आधुनिक कालतक जहाँ साहित्य आर दर्शनक क्षत्रम वदान्तका अपूर्व महत्त्व रहा है वहीं सामाजिकोंका नीति एव उपदशका भी यह माध्यम रहा है और भविष्यमें भी रहगा।

~~~~
~~~~

नीति, धर्म एवं चरित्र-निर्माण

(ब्रह्मचारी श्रीशैलेशजी)

नीति, धर्म एव चरित्र परस्पर सम्बद्ध हैं। एकके बिना दूसरा रह नहीं सकता। एकको हटा देनेसे शेष दो अर्थहीन हो जाते हैं। इन तीनोंके संतुलित समन्वयका प्रतिफल चरित्र है। 'कणाद'के अनुसार—जिससे अभ्युदय तथा नि श्रेयस (कल्याण) सम्पन्न होता है वही धर्म है—'यतोऽभ्युदयनि श्रेयससिद्धि स धर्म ।'

धृति शब्दमें 'धृञ्=धृ' धातु है। धर्म शब्द इसीसे बनता है। जीवनको धारण करना तथा उसे कल्याणपथपर अग्रसर करना धर्मका स्वभाव है। नीति शब्द 'णीञ्=नी' धातुसे 'क्तिन्' प्रत्यय जोडनेसे निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है—साथ ले चलना। जो वृत्ति मानवको असत्यसे सत्य कुमार्गसे सन्मार्ग, अज्ञानसे ज्ञान और मरणसे जीवनकी ओर ले जाती है, वह नीति है। मानवकी श्रेष्ठता उसकी बुद्धि और वृत्तिपर ही आधारित है। यही वृत्ति मानवको अन्य प्राणियोंसे श्रेष्ठ बनाती है। इसीके अस्तित्वके कारण मनुष्यको विवेकशील, सदाचारी और ज्ञानी कहा जाता है। श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार—'श्रेष्ठ व्यक्तियोंके आचरणके द्वारा ही अन्य लोग परिचालित होते हैं'—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन ।
स यत्प्रमाण कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

महाभारतमें यक्षसे युधिष्ठिरने कहा—'महाजनो येन गत स पन्था ।' श्रेष्ठ पुरुषके आचरणका अनुसरण करना चरित्रकी धारा है। अतएव यह निर्विवाद है कि नैतिक चेतना ही मनुष्यका श्रेष्ठत्व है। चरित्रका अर्थ है चलना या व्यवहार। प्रोफेसर जी० एफ० डैलियन कहते हैं—'मनुष्यका पारस्परिक संगठनमूलक व्यवहार चरित्र है।' भारतीय विद्वान् रामेन्द्रसुन्दरका भी मत है—'मनुष्य-जीवनमें धर्म और नीतिके संयुक्त प्रतिदानका नाम ही है चरित्र।' मानव-जीवनमें धर्म और नीतिकी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति ही जब चरित्र है तब इनमेंसे प्रत्येकका मानव-जीवनमें किस रूपमें प्रतिफलन है इसके विश्लेषणकी आवश्यकता है।

भारतमें विभिन्न संस्कृतियाँ परम्पराएँ, जातियाँ और सम्प्रदाय हैं। विभिन्न धर्म और विभिन्न मतवादोंके कारण ही यहाँ व्यक्तिके जीवनकी धार्मिक समस्याका समाधान कठिन हो गया है। किंतु मानवीय चरित्रके दृष्टिकोणसे विचार किया जाय तो जितना कठिन यह लगता है, उतना वास्तवमें है नहीं। कारण यह कि भारतीय धर्म और नीतिकी उदारता इसके मूलमें है। उदाहरणके लिये—चोरी न करना झूठ न बोलना परस्त्रीहरण न करना या पारस्परिक संवेदना और सहयोग रखना हमारे धर्मके मूल तत्त्व हैं। इसी प्रकार मनुके द्वारा कथित धर्मके दस लक्षण—धृति क्षमा, दम आदि सब धर्मोंके मूल तत्त्व हैं। चरित्रवान्‌का लक्षण भी यही है। प्राचीन कालमें ऋषिकुलमें शिष्यका चरित्र-निर्माण करते समय गुरु शिष्यको इसी प्रकार शिक्षा देते थे—'सत्य वद। धर्मं चर।'

नीतिके विषयमें भी यही बात कही जा सकती है। नैतिकता चरित्रका प्रधान अङ्ग है। वास्तविक आदर्श चरित्र इन दोनोंके सम्मिश्रणसे ही निर्मित होता है। धर्म अर्थ काम और मोक्ष—इनका समन्वय होना चाहिये। दृष्टान्त-स्वरूप 'काम' यदि आदर्शवादी न हो तो धर्मपथपर चलना असम्भव है। इसके लिये विवेककी आवश्यकता है। अर्थ इसका साधन है। मोक्ष इसका साध्य तत्त्व है। इसी कारणसे नीतिविदोंने अर्थ-काम-मोक्षकी सम्मिलित त्रिधाराको ही मनुष्य-जीवनका आदर्श चरित्र गठन करनेकी कुंजी बताया है। धर्म इन तीनोंका सुसयोजक है। अतएव व्यावहारिक रूपमें हमें यह समझना चाहिये कि सत्य बोलना वयोवृद्धजनोंके प्रति सम्मान-प्रदर्शन आत्म-नियन्त्रण, सहिष्णुता, सहानुभूति मानवप्रीति, क्षमा परोपकार सहयोग सदिच्छा आदि गुण जिसमें प्रतिफलित हैं वही चरित्रवान् है।

अब यह विचारणीय है कि मानव-चरित्रमें इन सब गुणोंका प्रस्फुटन कैसे हो? मनोविज्ञानके विद्वान् यारोपसे स्मिथने मानसिक और चारित्रिक विकासके लिये जो तीन अवस्थाएँ बतायी हैं वे ये हैं—१-शैशव २-किशोर एवं ३-यौवन और यौवनोत्तर। लाम्प आदि मनोवैज्ञानिकोंके अनुसार शैशवसे पूर्व माताके गर्भमें ही चरित्र-निर्माणका

कार्य आरम्भ हो जाता हे। पोर्ट एल्डरका कथन हे कि मातृ-गर्भमे आरम्भसे माता ओर पिताके गुण शिशुमे आरोपित होने लगते हे। इसी कारण एल्डरके मतानुसार गर्भाधानके बाद ही पिता-माताका कर्तव्य हे कि शिशुके चरित्र-गठनहेतु सुकर्म ओर सत्-चिन्तनम रत रह। भारतीय ऋषि-मुनियाने तो इसका विस्तृत विधान बताया हे। इसी कारण उन्हाने गर्भाधानक बादसे माताके लिय विविध प्रकारके धार्मिक आर वैदिक क्रिया-कर्मकी व्यवस्था निर्धारित कर रखी ह। निष्कर्ष यह कि चरित्र-गठनकी निम्नलिखित चार अवस्थाएँ हाती हे—

१-शिशुकी मातृ-गर्भवासकी अवस्था आर २-शेशवावस्था—इस अवस्थाकी विशेषता यह है कि यह अनुकरणकी अवस्था है। शिशु अपने-आप गुण-दोपसे रहित होता है। इस कारण उसका चित्त गुरुजनाके व्यवहारसे प्रभावित होता ह। अत माता-पिता, बहन-भाई चाचा-चाची, मामा-मामी अर्थात् जिनके साहचर्य और देख-रेखम शिशु रहता हे उनक आचरणका प्रभाव ही इस अवस्थाम उसके चरित्रम प्रतिफलित हाता है। मानव-चरित्र-निर्माणके पथका यह प्रथम चरण हे। जिस परिवारके सदस्यामें भ्रष्टाचार व्यभिचार पक्षपात उच्छृङ्खलता आदि देखे जाते हैं, शिशु-चरित्रमे उनकी ही प्रतिच्छवि भी दिखायी पडती हैं। इसक विपरीत कर्तव्यनिष्ठा सद्विचार, सयम निष्पक्षताको देखकर शिशु उन्हींको ग्रहण करता है। महापुरुषाकी जीवनियाम इसके अनेक दृष्टान्त उपलब्ध हैं।

३-किशोरावस्था—वास्तवम इस अवस्थाम ही मानवका शारीरिक बौद्धिक और भावात्मक विकास आरम्भ हाता है। मनुष्य अब विचारशील हान लगता हे, अथात् अबतक शिशु अनुकरण-क्षमतास जा ग्रहण करता था अब वह विचारपूर्वक ग्रहण करना आरम्भ करता है। इसी समयस मनुष्यकी इच्छा-शक्ति कार्य करना आरम्भ कर देती हे। सत्-असत्, आदर्श-अनादर्श पुरस्कार-तिरस्कार, पार्थक्यपूण व्यवहार—इन सबका वह अपने विचाराकी कसौटीपर कसनेकी चेष्टा करता है। अतएव यही परम महत्त्वपूर्ण समय हे। इसी समय चरित्रका गठन जिस प्रकारका हा जायगा, उसीपर शिशुके भविष्यक चरित्रका विकास निभर करेगा। पाश्चात्त्य विद्वान् प्रा० गेरिसनका वक्तव्य भी इसी प्रकारका ह—'चरित्रका विकास जिन गुणाक समूहद्वारा हाता है वे हें—आचार-व्यवहार, शिक्षा-दीक्षा, सवा धम सयम अनुशासन आदि।' इनका सूत्रपात शैशवम हा हा जाता है। प्रा० मार्टिन एच० यन्मेयरन भी कहा ह—'चरित्र-विज्ञानक दृष्टिकाणसे यदि दखा जाय ता वास्तवम गुणाका ग्रहण कैशार-अवस्थासे ही प्रारम्भ हा जाता ह।' इस अवस्थाक मानव-शिशुका लक्ष्य करक हमार ऋग्वदम लिखा ह—

स गच्छध्व स वदध्व स वो मनासि जानताम्।
देवा भाग यथा पूर्वे सजानाना उपासत॥
(१०।१९१।२)

इमर्सनन कहा ह—'बालक-चरित्र ही मनुष्यका परम धन ह। चोरी करके क्या काई धनाढ्य हुआ ह? दान करके क्या काई कगाल बन गया है? असत्यद्वारा क्या सत्यका ढका जा सकता हे? ईश्वर सत्य-पथक पथिककी ही सहायता करते ह। तुम सत्यम स्थित हा चरित्रवान् बना। यही तुम्हार परम लाभका स्वर्णिम अवसर है।'

४-पूर्णावस्था—मनुष्य पूर्वोक्त तीन अवस्थाआस यथावसर उत्तीर्ण हाकर इस अवस्थाम पहुँचता है ता वास्तवम चरित्रनिष्ठ हाता हे। इस अवस्थाम उसक पूर्वार्जित गुण-समुदाय ही उस मङ्गल-पथपर ल जात हें। एम व्यक्तियाका चरित्र-बल हर कायम हर अवस्थाम अक्षुण्ण रहता ह। दशभक्तिम नारी-जातिका सम्मान दनम, वृद्धाक प्रति सहानुभृतिपूर्ण व्यवहारम दुर्बलाके प्रति हानेवाल अत्याचारका निवारण करनेम, सत्य और आदर्शकी रक्षा करनम सत् एव शुभ आलाचनाआम स्वावलम्बी हानेमें परापकार करनम सदाचारम विवेकशालताम शालीनताम कर्तव्य-पालनम आदर्श सामाजिक-धार्मिक सगठनका स्थापना करनम—सक्षेपम आदर्श मनुष्य कहनस जा भी अर्थ समझा जा सकता है, सामूहिकरूपसे इन सबका करनेमें य लाग सफल होत हैं। चरित्रवान् पुरुषका यही काय है। यही हमार आर्य ऋषियाका परम दान है।

नीति और सदाचार

(डॉ० श्रीकमलाकान्तजी शर्मा 'कमल' एम्० ए०, पी-एच्०डी०)

'न हि मानवाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्'

जगदाधार जगदीश्वरद्वारा निर्मित इस चराचर-सृष्टिमें मानव ही एक ऐसा प्राणी है, जो अपनी बौद्धिक क्षमताद्वारा अन्य प्राणियोंसे भिन्न पहचान रखता है। वह हित-अहित, उचित-अनुचित एवं विधि-निषेधका पालन करते हुए अपने लक्ष्यको प्राप्त कर सकता है। 'ब्रह्माजीको सृष्टिकी संरचना करनेपर भी जब पूर्ण संतोष न हुआ तो उन्होंने मानवको बनाया। उसे देखकर वे अति प्रसन्न हो गये क्योंकि उन्होंने समझा कि यह सदाचार-सम्पन्न होकर प्रभुको प्राप्त कर सकता है'—

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः ॥

(श्रीमद्भा० ११।९।२८)

उस श्रेष्ठ मानवके लिये जो आचारचर्या बनी तथा मानव-जीवनको सहजरूपसे गतिशील रखनेके लिये जो नियम, आदर्श एवं पालनीय, अनुकरणीय बिन्दु निर्धारित किये गये वे ही नीतिके अन्तर्गत आ जाते हैं। इसी नीतिके अनुरूप जीवन-यापन करनेको सदाचार कहते हैं और यही व्यक्तिको अन्य प्राणियोंकी तुलनामें वैशिष्ट्य प्रदान करता है—भागवतकी उक्ति है—

'नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभम्।'

(११।२०।१७)

मानवके उदात्त नैतिक विवेकका ही परिणाम है—'वसुधैव कुटुम्बकम्'। अर्थात् यह सम्पूर्ण वसुधा ही कुटुम्ब है। परस्परमें एक घरका एक परिवार है। इस समष्टिमूलक अवधारणामें प्रत्येक प्राणी सबके साथ आत्मवत् आचरण करने लगता है। नैतिक विवेक कहता है कि जो सभी प्राणियोंमें आत्मभाव रखता है वही पण्डित है—'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः'।

ऐसे व्यक्तिमें नैतिक विवेककी पूर्ण प्रतिष्ठा रहती है। जो शास्त्रोंका ज्ञाता हो, विद्वान् हो, किंतु आचारवान्, नीतिमान् न हो तो उसका सम्पूर्ण पाण्डित्य व्यर्थ ही है। आचारहीन व्यक्तिको वेद भी पवित्र नहीं करते—

आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः।

सौहार्द, प्रेम, दया, सहिष्णुता, समभाव, शान्ति संतोष, क्षमा, शौच, तप त्याग सत्यका अनुपालन एवं सत्का सांनिध्य आदि सदाचार और नीतिको स्थिर करते हैं। नैतिक गुणोंके मानदण्डपर मानवके प्रति मानवद्वारा जिस सहज सौहार्दपूर्ण व्यवहारकी विवेचना जहाँ जिस शास्त्रमें होता है वह नीतिशास्त्र कहलाता है। इससे न केवल लोकव्यवहारका ज्ञान होता है, अपितु अध्यात्मपथमें भी उसकी प्रवृत्ति हो जाती है।

जिस प्रकार पतंग डोरके सहारे आकाशमें बहुत ऊँचाईतक उड़ती रहती है, किंतु डोरसे सम्बन्ध कटते ही वह जमीनपर गिर पड़ती है, उसी प्रकार मानव भी जबतक सत्य सदाचार, अहिंसा आदि मानवीय गुणोंसे युक्त होकर कर्तव्य-पालन करता हुआ जीवन-पथपर बढ़ता है तभीतक उसे सफलता प्राप्त होती है, किंतु जैसे ही संयम (सदाचार)-रूपी डोरसे उसका नाता टूटता है वह मार्गच्युत व्यक्ति नाना प्रकारके दुःखोंको भोगता हुआ पतनके मार्गमें जा गिरता है।

श्रीमद्भगवद्गीता (६।५)-में भी इसी कारण आत्मोद्धारकी बात कही गयी है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

मानव अपने द्वारा अपना संसार-समुद्रसे उद्धार करे और अपनेको अधोगतिमें न डाले, क्योंकि यह मानव आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।

विचारणीय है कि आजके समयमें मानव-जीवन ऐसे प्रवाहमें बहा जा रहा है कि उसके हृदयसे नैतिक मूल्य समाप्त-सा हो गया है। सत्ता सम्पत्ति, पद तथा प्रतिष्ठा आदि प्रलोभनोंके कारण वह मानवतासे कोसों दूर हो गया है। स्वार्थपूर्तिके सामने उसके मन-मस्तिष्कमें मानवोचित परम्पराएँ, मर्यादाएँ, सीमाएँ दम तोड़ने लगी हैं। व्यक्ति दूसरोंके कंधोंपर चढ़कर अपना लक्ष्य स्पर्श करना अपनी विशिष्टता मान बैठा है। ऐसेमें समूची मानवताके समक्ष एक भयंकर तथा विकराल प्रश्न आ खड़ा हुआ है कि आजका मानव वस्तुतः समुन्नत जीवन-दिशाकी ओर जा रहा है या

पतनके गहरे गर्तमें डूब रहा है? यदि समय रहते इस ओर ध्यान नहीं दिया गया तो पूरी मानव-जातिका ही नहीं समूची सृष्टिका विनाश हो सकता है। इस भयावह स्थितिसे बचनेके लिये सत्पुरुषोंद्वारा बताये गये सन्मार्गका अवलम्बन ही एकमात्र उपाय है।

जिस प्रकार अनेक स्वास्थ्यरक्षक एवं संवर्धक ओषधियोंसे जर्जर शरीर भी पुनः उत्साह, ओज, शक्ति एवं चैतन्यता प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार शास्त्रों, संतों तथा ऋषियोंद्वारा निर्दिष्ट सदाचारके अनुपालनसे सर्वविध कल्याण होना सम्भव है। इसीलिये वे सदाचारकी महती आवश्यकताका प्रतिपादित करते हुए इसे रसायनवत् सेवन करनेकी सतत प्रेरणा प्रदान करते हैं। ओषधि-रसायनसे तो शरीर स्वस्थ होगा किंतु सदाचार-रसायनसे पूरा मानव-जीवन सार्थक हो जायगा। इस रसायनकी एक विशेषता और भी है—मानव यदि ओषधि-रसायन सेवन नहीं करे तब भी कोई विशेष हानि नहीं होती, किंतु सदाचारका पालन न करनेपर स्वास्थ्यके समस्त नियमोंका पालन करनेवाला व्यक्ति भी लोकमें अव्यावहारिक, अप्रिय, अपयशी एवं अग्राह्य सिद्ध हो जायगा। राजर्षि मनुने कहा है—

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥

(४।१५७)

इसलिये बुद्धिमान् व्यक्तिको चाहिये कि वह सदैव सद्वृत्त (सदाचार)-का पालन करे।

मानव अपने पथसे स्खलित न हो एतदर्थ हमारे धर्मग्रन्थ, शास्त्र एवं आचार्य निरन्तर उसे सावधान करते हैं। सदाचारपूर्वक जीवन-यापन मानव-जीवनकी सर्वोत्कृष्ट सम्पत्ति है और मानवमात्रको इसका महत्त्व समझना चाहिये—

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्॥

(मनुस्मृति ४।१५६)

अर्थात् सदाचार-पालनसे आयु प्राप्त होती है, इच्छित एवं योग्य संतति मिलती है, अक्षय धन मिलता है और सदाचार मानवके सभी पापोंका नाश भी करता है।

सदाचारके महत्त्व एवं स्वरूपको महर्षि वेदव्यास इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

धर्मके इस सर्वस्वको सुनो और सुनकर ठीकसे उसे ग्रहण करो—जो अपने लिये प्रतिकूल हो, उन्हें दूसरोंके लिये भी न करो।

शोषण, उत्पीडन, भय, हिंसा, अविश्वास एवं वञ्चनापूर्ण स्थितिसे उभरकर, संकीर्णताका परित्याग करके उदारतापूर्वक मानवताके पवित्र मार्गपर चलनेका उपक्रम सदाचारका पालन है और मानव ही इस मार्गका पथिक बन सकता है। सदाचारविहीन प्राणी आकृति तथा शरीरसे भले ही नर हो, वस्तुतः वह नर कहलाने योग्य नहीं होता—

नित्यानुष्ठाननिरतः सर्वसंस्कारसंस्कृतः।
वर्णाश्रमसदाचारसम्पन्नो नर उच्यते॥

कुछ पालनीय तथ्य—(क) सदैव दूसरोंका हित करे। मन, वाणी और कर्मसे किसीको दुःखी न करे—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

(ख) सम्यक् धार्मिक आचार—आहार-विहार और इन्द्रिय-निग्रह करे एवं मादक पदार्थोंका परित्याग करके अपने तथा इतरजनोंके कल्याणकी कामना सदैव करे, कारण कि—'आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः'। आचारका हेतु धर्म है और धर्मके हेतु भगवान् हैं।

(ग) सदैव सत्संग करे, सत्संगमें आसुरी सम्पत्तिका परित्याग एवं दैवी सम्पत्तिका ग्रहण होता है, सामाजिक समरसतामें सत्संगका बड़ा महत्त्व है— *'बिनु सतसंग बिबेक न होई'।*

(घ) माता-पिता, गो, ब्राह्मण एवं गुरुजनोंका आदर करे, 'अतिथिदेवो भव'के अनुसार आतिथ्य-धर्मका आचरण करते हुए 'सर्वभूतहिते रताः'-जैसे आदर्शको अपने व्यवहारमें उतारे।

(ङ) क्रोध, लोभ, मोह, काम एवं अन्यान्य समस्त दुर्गुण जिनसे आप कलुषित होते हैं, उनका प्रयत्नपूर्वक परित्याग करते हुए भगवान् श्रीकृष्णद्वारा (गीता १२।१३ में) बताये गये मैत्रीके आदर्शको जीवनमें आत्मसात् करे— 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च'।

भारतीय सनातन नीति-मार्ग

(श्रीगङ्गाधरजी गुरु बी०ए० एल्-एल्०बी०)

सनातन धर्म ही सार्वभौम (मानव) धर्म है तथा भारतीयोकी आत्मा है। धर्म सत्यरूप है—'**धर्मो वै सत्य सत्य वै धर्म** ।' सत्य ही अद्वितीय परमार्थ-सत्ता है।

स्वधर्मपालनसे ईश्वरत्वका प्रकटीकरण ही मानव-जीवनका मुख्य लक्ष्य है। इसकी पूर्तिके लिये धर्मनीति-मार्गके अनुसरणकी आवश्यकता है।

नीतिमान् सस्कृतिनिष्ठ भारतीय ही देश एव समाजके आदर्श मानव हैं। मानवता ही समाजकी आत्मशक्ति है।

वेद, उपनिषद् और पुराणाम विस्तृतरूपसे भारतीय सनातन नीति-मार्ग प्रदर्शित हुआ है। महान् पुरुष उस मार्गका अनुसरण करके अपने जीवनका श्रेय-सम्पादन करते आ रहे है, जिससे जगत्का यथेष्ट मङ्गल साधित होता रहता है। महाभारतमे ठीक ही कहा गया है—'**महाजनो येन गत स पन्था** ।' पूर्वके मनस्वा महर्षिजन जो ज्योतिर्मय ज्ञानमार्ग आविष्कृत कर गय हे उसकी सुरक्षा करनी चाहिये और उस कल्याण-पथका अनुसरण करना चाहिये, '**ज्योतिष्मत पथो रक्ष धिया कृतान्।**' (ऋग्वेद १०।५३।६)

आत्म-कल्याण तथा विश्वहित-साधन ही आदर्श मानव-जीवनकी सनातन नीति हे। इस नीतिकी प्रतिष्ठाके लिये शिवसङ्कल्प व्रतदीक्षा, अहिसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह, शम-दम आदि यम-नियमोका पालन करना आवश्यक है।

परार्थपरता अथवा नि स्वार्थपरताक प्रति सतत अनुरक्ति सस्कृति कहलाती है। सस्कृतिनिष्ठ पुरुष दवीसम्पत्तिके उपासक होते हैं तथा विकृतियुक्त व्यक्तिकी सम्पद् आसुरी ही होता है। दम्भ दर्प अभिमान आदि आसुरी सम्पद् हैं। '**दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।**' (गीता १६।५)

राज्यके प्रशासक यदि ब्रह्मचर्य एव तपसम्पन्न तेजस्वी और धर्मनीतिशाली नहीं हाते है तो राष्ट्रका पतन होना स्वत सिद्ध है—

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्र वि रक्षति।

(अथर्ववेद ११।५।१७)

इसी प्रकार प्रजाजन भी सुशिक्षित नीतिमान्, शीलयुक्त तथा स्वधर्मनिष्ठ नहीं हाते हैं तो राज्यम अशान्ति-ही-अशान्ति व्याप्त रहती है। इसके लिये प्रत्येक व्यक्तिका यह कर्तव्य है कि वह अपने लिये निर्दिष्ट विहित कर्मोका अनुपालन करे। आदर्श पुत्र, आदर्श भ्राता, आदर्श पति, आदर्श बन्धु, आदर्श नागरिक आदर्श कर्मचारी आदर्श मानव, आदर्श नेता आदर्श सस्कारक एव आदर्श सेवक—इस प्रकार दायित्वनिष्ठ व्यक्तिके रूपम जा भी कतव्य-कर्म होते है, उनका सुचारुरूपसे पालन करना स्वधर्म ह। स्वधर्मम अवहेलना करना दुर्नीति है। प्रत्यक व्यक्ति जहाँपर स्वधर्मनिरत होते हैं वहींपर सुनीतिकी राजत्वजनित सुख-शान्ति—सौभाग्यश्रीका अवस्थान सुनिश्चित हे। कर्मोका अनुष्ठान हाथापर निर्भर है अत हाथोसे अच्छे-से-अच्छा कार्य ही सम्पादित करना चाहिये। इस दृष्टिसे हाथ भी भगवत्-रूप ही है। वैदिक महर्षिकी भावना है—

अय मे हस्तो भगवानय मे भगवत्तर ।
अय मे विश्वभेषजोऽय शिवाभिमर्शन ॥

(ऋक् १०।६०।१२)

अर्थात् दुष्कर-से-दुष्कर कार्य करनेम भी समर्थ यह मेरा हाथ ही भगवान् है यह मरा हाथ भगवान्से भी श्रेष्ठ है जिसके द्वारा कर्म करनेपर भगवान्को भी फल देनेके लिये बाध्य होना पडता है। यह मेरा हाथ विश्वक समस्त रोगाका औषध आर सभी समस्याआका समाधान ह। जिसको भी यह स्पर्श कर देता है, वह शिव हा जाता हे।

कृत मे दक्षिणे हस्ते जयो म सव्य आहित ।

(अथर्ववेद ७।५०।८

मेरे दक्षिण हाथम पुरुषार्थ-सार-सर्वस्व तथा वामहस्तम जय सनिहित है।

मानव स्वय ही स्वयका भाग्य-विधाता हाता है। स्वात्मशक्तिके यथाविधि सदुपयोगस ही वह अतुल एश्वर्याधिकारी हो सकता ह।

गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनञ्जया हिरण्यजित्॥

(अथर्ववद ७।५०।८)

चूँकि परार्थपरक होना ही श्रेयस्कर है इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह स्वार्थपरक न होकर समष्टिके हित-साधनमें ही तत्पर रहे—

केवलाघो भवति केवलादी॥ (ऋग्वेद १०। ११७। ६)

अर्थात् स्वार्थपरक उदरम्भर जन पापभोगी होता है।

दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते॥ (ऋग्वेद १०। १२५। ६)

दानशील उदारहृदय सज्जन अमृतका भोग करते हैं।

उतो रयिः पृणतो नोप दस्यति०॥ (ऋग्वेद १०। ११७। १)

दानशील सत्पुरुषोंकी सम्पत् क्षयप्राप्त न होकर उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है।

समग्र विश्वके सभी मानवोंके लिये सनातन नीतिवचन कल्याणकारक होते हैं।

मनको सत्पथपर परिचालित कराकर जो अज्ञानका तिरस्कार करती है वही श्रेष्ठ नीति है।

भारतीय नीतिशास्त्र वाल्मीकीय रामायणकी निम्नोक्ति चिर स्मरणीय है—

नन्दन्त्युदित आदित्ये नन्दन्त्यस्तमितेऽहनि।
आत्मनो नावबुध्यन्ते मनुष्या जीवितक्षयम्॥

(२।१०५।२४)

अर्थात् लोग सूर्योदय होनेपर प्रसन्न होते हैं सूर्यास्त होनेपर भी खुश होते हैं, किंतु यह नहीं जानते कि प्रतिदिन अपने जीवनका नाश हो रहा है। अतः प्रतिदिन क्षयमाण शरीर तथा पदार्थोंकी नश्वरताको समझते हुए उस अविनाशी सत्-तत्त्वका चिन्तन करना चाहिये। यही नीति सर्वोपरि कल्याणकारी है और यही सनातन नीति है।

[प्रेषक—श्रीरवीन्द्रनाथजी गुरु]

वैदिक आचार—एक आदर्श नीति है

(श्रीमदनमोहनजी शर्मा)

आचार्य बृहस्पतिके मतानुसार 'आचार' शब्द 'व्यवहार'के अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'व्यवहार' शब्दकी व्युत्पत्ति वि+अव+हारसे होती है। वि=विविध, अव=संदेह, हार=हरण। इसका तात्पर्य यह हुआ कि व्यवहार वह कर्म है जिसमें नाना प्रकारके संदेह दूर किये जाते हैं।

उत्तम आचार 'सदाचार' बन जाता है। महर्षि व्यासने आचारको ही प्रथम धर्म माना है। मनुका कथन है कि वेदों तथा स्मृतियोंमें सम्यक् प्रकारसे कहे हुए अपने कर्मोंमें धर्ममूलक सदाचारका सर्वदा आलस्यरहित होकर पालन करना चाहिये, क्योंकि धर्मका मूल सदाचार है। सदाचारमें धर्मकी प्रतिष्ठा है—

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ्निबद्धं स्वेषु कर्मसु।
धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः॥

(४।१५५)

अथर्ववेदमें मानव पापसे दूर रहनेके लिये कहता है— हे पाप! तू मुझसे दूर चला जा। तू मुझसे बुरी बात क्यों करता है—

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।

(अथर्व० ६।४५।१)

आर्योंने आचारको आत्मसात् करके जीवनमें श्रेष्ठताका वरण नहीं किया, बल्कि श्रेष्ठताको ही जीवन्त कर दिया। यही कारण है कि उनका नाम ही आर्य (श्रेष्ठ) पड़ गया और जिस भूमिको उन्होंने पवित्र किया वह 'आर्यावर्त' का गौरव पाकर पूजित हुई। आर्य-आचारकी श्रेष्ठताके उदाहरण इतिहासमें भरे पड़े हैं। इस विषयपर एक उदाहरण देखें— आर्यपुरुषोत्तम श्रीरामने रावणको देहबन्धनसे मुक्त कर दिया। उस समय विभीषण शोकाकुल तो थे ही, किंतु रावणका उचित संस्कार करनेका साहस वे नहीं जुटा पा रहे थे। वे सोच रहे थे कि कहीं प्रभु श्रीरामका विश्वास मुझसे उठ न जाय। विभीषणकी मानसिक स्थिति भाँपकर श्रीरामने कहा—'रावण महात्मा एवं बलसम्पन्न था और लोकोंको रुलानेवाला था। वैर तो मरनेतक ही रहता है। वैरकी अवधि समाप्त हो गयी और मेरा प्रयोजन भी असिद्ध हो गया। अब यह जैसे तुम्हारा भ्राता है वैसे ही मेरा भी

है। अत इसका विधिपूर्वक सस्कार करो—

महात्मा बलसम्पन्नो रावणो लाकरावण ।
मरणान्तानि वैराणि निर्वृत्त न प्रयोजनम्॥
क्रियतामस्य सस्कारो ममाप्येष यथा तव।

(वा॰ रा॰ युद्ध॰ सर्ग १११।१०० १०१)

यह आर्योका आचार ही था, जिसमे मृत्युक पश्चात् शत्रुताको भुलाकर भाइके समान मान लिया जाता था।

हम सब जानते हैं कि कामनाएँ अनन्त हैं। आचार बतलाता है कि यथार्थका भलीभाँति समझकर कामनाआका दमन करना चाहिय, अन्यथा वे सकट पैदा कर दती हैं। आचारक परिपालनसे सयमकी प्रतिष्ठा हाती ह। आर्योका आचार परिष्कृत ओर निर्मल था तथा उनकी कामनाएँ तथ्यापर आधारित थीं। मुण्डकोपनिपद्‌म कहा गया है कि 'जिसका अन्त करण शुद्धाचारयुक्त है ऐसा आत्मवेत्ता मनसे जिस लोककी कामना करता हे और जिन-जिन कामाको चाहता ह, वह उस-उस लोक (उत्कृष्टावस्था)-को एव कामा (आदर्शो)-को प्राप्त कर लता है। अपना कल्याण चाहनेवालेके लिये उचित ह कि वह आत्मवत्ताकी अचना—उपासना कर'—

य य लोक मनसा सविभाति
विशुद्धसत्त्व कामयते याश्च कामान्।
त त लाक जयते ताश्च कामा-
स्तस्मादात्मज्ञ ह्यर्चयेद् भूतिकाम ॥

(३।१।१०)

आचारक दो अवयव हैं—'ऋत' और 'सत्य'। 'ऋत' शब्द वेदाम अनेक स्थानाम प्रयुक्त हुआ है जिसका अर्थ है धर्म और अटल नियम। 'सत्य' के सम्बन्धम 'ताण्ड्य ब्राह्मण'म कहा गया है—

'ऋतेनेव स्वर्गलाक गमयति' (१८।२।१९)

'सत्यक मार्गसे ही स्वर्गतक पहुँचा जा सकता है'।

सत्य भातिक सिद्धि और आध्यात्मिक मुक्तिका सयाजक सतु ह। केवल मौखिक सत्यका ही सत्य कहना उचित नहीं ह—मनस वचनमे आर कार्योमे जिस सत्यकी प्रतिष्ठा की जाती हैं वह सत्य ही सत्य है। यह सत्य स्वय-प्रकाश है। जा सत्यका धारण करता है वह तजामय हो जाता है। यही कारण हे कि आर्य ऋपिने 'असत्यस बचकर सत्यकी ओर जानेका उद्‌घोष किया था—'अहमनृतात् सत्यमुपमि'॥ (यजुर्वेद १।५)।

ब्रह्मचर्याश्रमकी समाप्तिके बाद गृहस्थाश्रमम प्रवश करनवाल स्नातकका दिय जानवाल आचार्यक उपदेश उसक भावी जीवनको सुख एव समृद्धिमे परिपूर्ण बनानवाले थ।

'सत्य वद'—सत्य बालो आदि उपदश दनके बाद अन्तमे आचार्य कहते ह—**'यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। ना इतराणि'** अर्थात् निर्दोष कर्म ही करने चाहिये। अन्य दोपयुक्त कर्म अकरणीय हें तथा **'यान्यस्माक सुचरितानि। तानि त्वयापास्यानि। ना इतराणि'** अर्थात् हमार जो शुभ आचरण हे व ही आचरणीय ह दूसर नहीं।

अपने उपदेशम आचार्यन यह कहकर कि 'मर गुणाका ही ग्रहण करना दापाका नहा', आचार्यपदकी गारवताका प्रमाणित कर दिया साथ हा उचित-अनुचित ग्राह्य-अग्राह्य, कर्तव्य-अकर्तव्यका शुद्ध सात्त्विक बुद्धिसे विवचन करनकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रताका द्वार भी खाल दिया।

इस प्रकार वेदिक आर्यनीति एक आदश नीति ह। आर्योन माना था कि मानव-जीवन एक विस्तृत क्षत्र ह जिसके कण-कणका गुणास विभूपित करक हा सफलता प्राप्त की जा सकती है। उन्हाने जीवनक रहस्यका भलीभाँति समझा था तथा मानवका अतातस प्रेरणा वर्तमानसे उत्साह तथा भविष्यस आशा—एसी आशा जा धर्म आर सत्यपर आधारित हा—प्राप्त करके अपने जावनरूपी रथको निरन्तर आग बढात हुए भावा पीढाक लिये सुखद वातावरण एव उच्चतम आदर्श विरासतके रूपम छोड जानक लिय प्रेरित किया था जिसस आर्यत्वक गुणाकी सतत वृद्धि हाती रह। हम उन्हीं आर्योकी सतान हैं। आज हम अपन पूर्वजाद्वारा दिखाय गय सन्मागस भटक गय हें। वर्तमान पीढी पाश्चात्त्य सस्कृतिम सुखकी तलाश कर रही है। आज व्यक्ति परिवार समाज सब निखर रह हैं—सभी तनावग्रस्त हें, भ्रमित हैं। यजुर्वेदक ऋपि कहत हैं—**'कुर्वन्नेवह कर्माणि जिजीविषच्छतꣳ समा '**।(४०।२) अर्थात् 'ससारम पूर सा वर्पतक कम करत हुए हम जावित रहे आर हमारी सतानाका भी कल्याण हा।' वदम यह

भी कहा गया है कि 'हम किसी भी जीवकी उपेक्षा न करें, सबको यथायोग्य स्नेह और आदर प्रदान करें।' 'मा जीवेभ्य प्रमद' (अथर्व० ८।१।७) तथा 'सब हमारे मित्र हों, अपने हों, बन्धु हों, कल्याणकारी हों'— 'सर्वमेव शमस्तु न' (अथर्व० १९।९।१४)।

आर्य ऋषि हमें नीरोग और पराक्रमी बनकर ही धरतीपर रहनेका संदेश देते हैं, रोगी और कायर बनकर नहीं। आर्य-वाङ्मय जीवनमय है, कर्ममय है, सत्य है, शिव है और सुन्दर है। वेदके ऋषि कहते हैं 'जो श्रेष्ठ हैं, आप्त पुरुष हैं, उनके साथ रहो। अपने मनको सुसंस्कार-सम्पन्न करो। कार्यका भार स्वीकार करनेको सदा उद्यत रहो अर्थात् उत्तरदायित्व ग्रहण करनेकी पात्रता अपनेमें पैदा करो। आपसमें विरोध न खड़ा करो, परस्पर मधुर सम्भाषण करो। एक मनोभावसे एकताके लिये यत्न करो।' पुनः ऋषिका वचन है—'यही सत्य ज्ञान है, अतः सबको यही ज्ञान दो।' ऋषिगण सुख-शान्ति और शक्तिसे भरपूर संसारको बसाना, बनाना और सँवारना चाहते थे। उन्होंने मानवको नीतिकी ऐसी सीख दी है कि वह सबका प्रिय बनकर, सबके हितके लिये सोचे और सबको अपना बनाकर रहे। वेदोंमें ऐसे मन्त्र भरे पड़े हैं, जिनमें बताया गया है कि वही शुभ कर्म है जो सबके कल्याणार्थ और अभ्युदय-हेतु किया जाय। जो कर्म केवल व्यक्तिगत लाभके लिये किया जाता है तथा जिसका फल केवल एक ही व्यक्तितक सीमित होता है, वह शुभ कर्म नहीं कहा जा सकता। वैदिक ऋषि ऐसा आदेश कभी नहीं देते कि अपने ही लिये जीवित रहो, अपने ही लाभके लिये कर्म करो और अपने ही लिये प्राण त्याग दो। जीवनका चरम लक्ष्य है ज्ञानपूर्वक कर्म करना और सारे विश्वको अपने भीतर समेटकर ऊपर उठना। आर्य ऋषियोंने ईश्वरसे प्रार्थना करते हुए कहा है कि हे ईश्वर! आप हमें असत्यसे सत्यकी ओर, अन्धकारसे प्रकाशकी ओर और मृत्युसे अमरत्वकी ओर ले चलें—

'असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमय।' (बृहदारण्यकोपनिषद् १।३।२८)

जीवनका जो उद्देश्य है और उसे प्राप्त करनेका जो मार्ग है, उसे आर्य ऋषियोंने प्रशस्तकर हमपर महान् कृपा की है। हमें तो उनके द्वारा बताये गये मार्गपर चलनेका संकल्पमात्र लेना है।

~~~

भारतीय राजनीतिमें सदाचारके कतिपय महान् आदर्श

(डॉ० श्रीभवानीशंकरजी पचारिया)

आजकी तथाकथित राजनीति संकीर्ण 'स्व' की परिधिसे आवृत है। यही कारण है कि उसमें छल-कपट, मिथ्याचार, आडम्बर, मात्र आश्वासन, कोरे नारों और प्रदर्शनोंकी भरमार है। कहा जाता है कि राजनीतिका सदाचार, नैतिकता, सत्य, धर्म और आदर्शोंसे क्या सम्बन्ध। महात्मा गाँधीकी राजनीतिमें सदाचारके पालनकी अवधारणा थी, जो विश्वमें स्थायी शान्ति, प्रेम और सहयोगका मूल है, पर ऐसा तभी सम्भव होगा, जब ये लोग उनकी राजनीतिक पवित्रताका पूर्णरूपेण ध्यान रखें और सदाचारके आदर्शोंको अपना लें।

राजनीतिकी उत्पत्ति लोक-मङ्गलके लिये—भारतीय राजदर्शनके प्रणेता और चिन्तकोंके मतानुसार राजनीतिका उद्भव—जिसे पहले 'दण्डनीति' भी कहा जाता रहा है—लोक-मङ्गल और सर्वहित-हेतु किया गया था—

> उपकाराय लोकस्य त्रिवर्गस्थापनाय च।
> नवनीतं सरस्वत्या बुद्धिरेषा प्रभाविता॥
> (महाभारत शान्तिपर्व ५९।७६)

राजनीतिकी उत्पत्तिका प्रमुख हेतु सम्पूर्ण जगत्की रक्षा और धर्म, अर्थ तथा कामकी स्थापना है। यह दुष्टोंके निग्रह, साधु पुरुषोंके अनुग्रहपूर्वक लोक-मङ्गलके लिये प्रचारित की गयी है।

राज्यकी प्रतिष्ठा सत्य और धर्मपर—महाभारतमें इस राजधर्मकी प्रशंसा करते हुए कहा गया है—

> सर्वे धर्मा राजधर्मप्रधाना।
> × × × × × ×॥
> सर्वा विद्या राजधर्मेषु युक्ताः
> सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टाः॥
> (महाभारत शान्तिपर्व ६३।२७, २९)
~~~

'राजधर्म सब धर्मोंमे प्रधान हे आर सारी विद्याएँ राजधमम ही नियुक्त हैं। साथ ही सव लोक भी राजधर्मम निहित हैं।' अव यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि जब राजधर्मको सभी धर्मोंम प्रधानता दी गयी है और समस्त विद्याआको उसम नियुक्त करनका उल्लख मिलता है तव राजनीतिम धमके प्रति उपक्षाका भाव दिखाना कैसे उचित कहा जा सकता है? भारतीय आर्पसाहित्यम आदर्श शासकके रूपम श्रीराम सर्वत्र समादृत हैं। उनका रामराज्य एक आदर्श राज्यके रूपम तथा उनकी राजनीति आदर्श राजनीतिके रूपम उद्धृत हाती है। श्रीरामने धर्मको सर्वोपरि मानते हुए उस वेयक्तिक पारिवारिक एव सार्वजनिक जीवनका अभिन्न अङ्ग निरूपित किया है आर वे धर्मके विग्रहरूपमे भी विख्यात रहे हैं। महर्षि शुक्रक मतसे श्रीरामके समान नीतिमान् राजा इस पृथ्वीपर न कभी हुआ है और न कभी हानेकी सम्भावना ही हे। वे नीति, प्रीति, परमार्थ और स्वार्थके परिपूर्ण ज्ञाता थे। यह (दुर्बोध्य तत्त्व) उनका धममय आचार ही रहा है। पुनश्च श्रीरामन भी भावी शासकाके नाम अपनी एक वसीयतम 'धर्म' की प्रतिष्ठा-हेतु विशेष आग्रह किया हे—

भूयो भूयो भाविनो भूमिपाला
नत्वा नत्वा याचते रामचन्द्र ।
सामान्योऽय धर्मसेतुर्नराणा
काले काले पालनीयो भवद्भि ॥
वाताभ्रविभ्रममिद वसुधाधिपत्य-
मापातमात्रमधुरा विपयापभोगा ।
प्राणास्तृणाग्रजलविन्दुसमा नराणा
धर्म सदा सुहदहो न विरोधनीय ॥
चलदलदललीलाचञ्चले जीवलोके
तृणलवलघुसारे सर्वससारसौख्ये।
अपहरति दुराश शासन ब्राह्मणाना
नरकगहनगर्तावर्तपातोत्सुको य ॥

(स्कन्दपुराण धर्मारण्य० ३४।३८—४०)

'भावी शासको। रामचन्द्र आप लागोको बार-बार नमस्कार करक यह याचना करता है कि आप आपात-मधुर भागाम न भूल। तिनकेक अग्रभागपर स्थित चञ्चल जलकी बूँदकी भाँति अस्थिर प्राणाके मोहम भी न पड। प्राण भी तो वायुमे उडकर नष्ट होनेवाल मघक समान ही हैं। यह जीवलाक पीपलके पत्तेके समान चञ्चल हे ओर ससारके सम्पूर्ण भोग तृणवत् अत्यन्त तुच्छ हैं।' वास्तविक सुहृद् तो एकमात्र धर्म हा ह, अत उसका कभी भी कोई विरोध न करे। जब जा शासक हा धर्मसतुका पालन कर।

धर्मका राजनीतिक महत्त्व कूटनीतिकी विद्याआक आचार्य इटलीक मैकेयावेलीतक स्वीकार करत ह। उन्हान भी अपने ग्रन्थ 'द प्रिन्स' (The Prince)-म नरशाका धार्मिक सस्कारोकी विशुद्धताकी हिदायत देत हुए कहा— 'जो राजा आर गणराज्य अपनको भ्रष्टाचारसे मुक्त रखना चाहते हें, उन्हे सर्वप्रथम समस्त धार्मिक सस्काराकी विशुद्धताका सुरक्षित रखना चाहिये तथा उनके प्रति उचित श्रद्धा दर्शानी चाहिये, क्याकि धर्मकी हानि होनेस बढकर किसी देशके विनाशका और काई कारण नहीं है।' सच पूछा जाय तो धर्म लौकिक ओर पारलोकिक दोना ही अभ्युदयाकी प्रमुख कसोटी हे। आज धर्मक अभावक कारण सार विश्वम मिलावट कालाबाजारी आर भ्रष्टाचारकी राजनीति (A B C of politics—Adulteration Black marketing & Corruption) व्याप्त हे, अत राजनीतिम 'धर्म' का समावेश किया जाना अत्यावश्यक है।

जिस प्रकार धर्म जगत्का आधार माना जाता है, उसा प्रकार समस्त लोककी प्रतिष्ठा सत्यपर ही आधृत ह। श्रीरामने सदैव सत्यकी रक्षापर बल दिया हे। व स्वय सत्यप्रतिज्ञ थे तथा मन-वचन आर कर्मकी एकरूपताम अटूट निष्ठा रखते थे। जाबालिने चित्रकूटम उन्ह वनवाससे विमुख होकर अयोध्या लौट चलनक लिये असत्यपर आधारित नास्तिकमतद्वारा समझानेका प्रयास किया था। उन्हाने श्रीरामसे कहा था—'आप बुद्धिमान् हाकर साधारण लागो-जैसी बात कर रहे हैं। आप अयाध्या लाटकर अपना राज्य सँभालिये। परलाकसे इस लाकका मान्यता कम नहीं ह।' इसपर श्रीरामने कहा—'आपके तर्क बुद्धियुक्त प्रतीत हात हैं कितु वस्तुत व विवक-विराधा हैं। यदि म स्वेच्छाचारी होऊँगा ता क्या राज्यकी प्रजा बादम स्वेच्छाचारिणी

न हागी? ऐसे आचरणस तो सारा प्रजावर्ग असत्यवादी हा जायगा, जबकि सत्यका पालन करना ही राजाआका प्रधान धर्म है, सनातन आचार है तथा राज्य भी सदैव सत्यस्वरूप ह। सत्यम ही सम्पूर्ण लाक प्रतिष्ठित ह—

सत्यमेवानृशस च राजवृत्त सनातनम्।
तस्मात् सत्यात्मक राज्य सत्य लोक प्रतिष्ठित ॥
(वा०रा० २।१०९।१०)

श्रीराम सत्यको सर्वोपरि महत्त्वपूण सारपूर्ण आचारकी नींव मानकर उसपर चलत रहे। महर्षि वाल्मीकिने सत्यके महत्त्वको प्रतिपादित करते हुए कहा है—

सत्यमवेश्वरो लोक सत्य धर्म सदाश्रित ।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति पर पदम्॥
(वा०रा० २।१०९।१३)

वर्तमान लोकतान्त्रिक जीवन-पद्धतिम प्रजाजन अपने प्रतिनिधियासे तथा राजनीतिक दलोसे अपक्षा करते हैं कि वे अपनी पूर्व घोपित नीतियाक पालनम तत्परता दिखाय, कितु आजका राजनातिज्ञ अपने छोटे-मोटे वादे निभाना भी भूल जाता ह। प्राचीन भारतीय राजतन्त्रात्मक पद्धति वर्तमान लोकतान्त्रिक पद्धतिको उचित शिक्षा दती हुई उसे आज भी चुनोती देनेम सक्षम है। भवभूतिने श्रीरामकी एक प्रतिज्ञाका जिसे उन्हाने लोकानुराधनहेतु की थी उल्लेख किया है—

स्नेह दया च साख्य च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चता नास्ति मे व्यथा॥
(उत्तररामचरित १।१२)

'लाकानुराधनके लिय यदि मुझे स्नेह दया, सुख ही नहीं, अपितु सीताका भी परित्याग करना पडे तो उसके त्यागम भी मुझे किंचित् दु ख नहीं हागा।' विश्वके इतिहासम अभीतक एसा अनूठा आदर्श तथा सत्यप्रतिज्ञ शासक मिलना दुर्लभ हे, जा लाकमत, वह भी एक सामान्य नागरिकक अल्प मतपर भी प्राणप्यारी सीता-जैसी महारानीका परित्याग कर द। भारतीय राजदर्शनम राजाआके आचरणपर अत्यधिक बल दिया गया है क्याकि राजपरिवारके आचरणका प्रजाके आचरणपर प्रभाव पडता है। महर्षि वाल्मीकिन अपने राजदर्शनम इस सिद्धान्तकी पुष्टिम अनक तर्क प्रस्तुत किय हैं कि 'जैसा राजा हाता है, वसी ही प्रजा हाती ह। प्रजा ता हमशा राजा और उसक परिवारका अनुगमन करती है।'

यद्वृत्ता सन्ति राजानस्तद्वृत्ता सन्ति हि प्रजा ॥
(वा०रा० २।१०९।९)

भारतीय राजनीतिम 'व्याघ्र-लोमडी'-नाति त्याज्य— आधुनिक युगम राजनीतिज्ञाद्वारा शक्ति धाखा पक्षपात तथा हत्या आर मगरके आँसूकी परिपाटीका व्यवहार राजनीतिमें सफलताकी प्राप्तिहेतु प्रचलित है। उनका मत है कि राजाका लामडाकी तरह चालाक (धूर्त) तथा व्याघ्रका तरह शक्तिशाली हाना चाहिये। पर 'व्याघ्र-लामडा'-नातिका घृणित माना गया है। पुनश्च हमारी दृष्टिम (Lion and fox policy) 'व्याघ्र-लामडा'-नीति राजनातिका कोई स्थायी आधार कभी नहीं रहा है। वह ता एक प्रकारसे आपातकालीन व्यवस्थाका तात्कालिक उपचारमात्र है। भारतीय राजधर्मम इनका निरूपण आपद्धमरूपस कहीं कहीं उपलब्ध हाता है।

भारतीय राजनीतिमें राजा निरङ्कुश शासक नहीं। पाश्चात्य राजदर्शनका इतिहास निरङ्कुश नरेशाका लेखा जोखा प्रस्तुत करके उनकी निरङ्कुशताकी परम्पराओका निरूपण करता है। कतिपय लोग भारताय 'राजा' और पाश्चात्य Divinity and Kingship म समता दिखलाते हैं, कितु हमारी 'राजा'की अवधारणा पाश्चात्य नरेशकी परिकल्पनासे पूर्णतया भिन्न है। हाब्सका 'लेवियाथन' (Libiathan) निरङ्कुश शासकका वर्णन करता है क्योकि वह किसीके प्रति भी उत्तरदायी नहीं, कितु उसकी आज्ञाके सब वशवर्ती हाग। अत उसका स्वेच्छाचारी और आततायी होना अस्वाभाविक नहीं। दूसरी ओर 'भारतीय राजा' की व्युत्पत्ति यह दिखलाती हे कि समस्त प्रजाका प्रसन्न करनेके कारण ही उसे 'राजा' कहा जाता हे। यथा— 'राजा प्रजारञ्जनलब्धवर्ण ' (रघुवश ६।२१) 'रञ्जिताश्च प्रजा सर्वास्तेन राजेति शब्द्यते॥' (महा०, शान्ति० ५९।१२५) अन्यत्र इसी ग्रन्थम कहा गया है कि 'जिसम धर्म विराजता हे वही राजा है।' 'यस्मिन् धर्मो विराजते त राजान प्रचक्षते।' (महा०, शान्ति० ९०।१५) विधानके आचार्य मनुने राजाके लक्षणाम कहा हे कि जो सर्वगुणसम्पन्न आर शक्तिशाला दण्डका पालन सम्यक्-रीतिस करता ह वही दण्डनीतिका सचालक राजा कहलाता है— 'समीक्ष्य स धृत सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजा (मनु० ७।१९)। राजा शब्द 'राजृ दीप्तौ'

धातुस 'कनिन्' प्रत्यय करनसे बनता ह, जिसका अर्थ ह— चमकनेवाला, प्रतापवान्।

प्राय जानकारीके बिना ही लोग यह कहने लगते हैं कि *'राजा कर सो न्याव ओर पासा पड़ सो दाव।'* भारतीय राजदर्शनके अनुशीलनस ज्ञात हाता हे कि वह (राजा) अपनेका राज्यका प्रथम सवक मानता ह, जसा कि कहा गया है—

शास्ताभिगाप्ता नृपति प्रजाना
य किङ्करो वे न पिनष्टि पिष्टम्।
(श्रीमद्भा० ५।१०।२३)

वह 'राजा' तो प्रजाका शासन तथा सरक्षण करनेक लिये नियुक्त किया गया एक सेवक होता ह।' राजाके लक्षणाम महर्षि वाल्मीकिने कहा ह—

साम दान क्षमा धर्म सत्य धृतिपराक्रमौ।
पार्थिवाना गुणा राजन् दण्डश्चाप्यपकारिषु॥
(वा०रा० ४।१७।२९)

'वह साम दान क्षमा धर्म, सत्य धृति आर पराक्रमस अत्याचार—नीच कर्म करनवालाको दण्ड देता ह।' जो लोग भारतीय राजनीतिपर पाश्चात्य प्रभाव मानते ह उन्ह वाल्मीकीय रामायणमे रावणकी राजनीति दखनी चाहिय। वह बडा पण्डित था पर सीताहरणक समय जटायुन उसस कहा था—'तुम केसे राजा हो, जा राजधमका सामान्य-सा नियमतक नही जानते और उसक विपरीत चल रह हा। राजा हानके नाते तुम्ह स्त्रिया विशपत राजपरिवारकी महिलाआकी रक्षा करनी चाहिये, तुम यह जघन्य अपराध कसे कर रह हो? अरे, राजा तो धरतीपर धर्म अर्थ और कामका प्रवर्तक हाता ह, जैसा वह करता है वेसी ही जनता भी करती हे।' इसी प्रकारसे कूटनीतिज्ञा शूपणखाने भी मूर्ख मन्त्रियाके मध्य सुरा-सुन्दरियाम मस्त पड राजाका शीघ्र ही नष्ट हानवाला आर मुरझायी हुई उपभुक्त माला या मरघटकी अग्निकी तरह हेय बतलाया था। उसन रावणस कहा था—

अप्रमत्तश्च या राजा सर्वज्ञो विजितेन्द्रिय ।
कृतज्ञो धर्मशीलश्च स राजा तिष्ठत चिरम्॥
(वा०रा० ३।३३।२०)

'जा राजा सदा सावधान रहता हे आर राज्यके समस्त कार्योंका जानकारी रखता है, जो इन्द्रियाको वशाम रखते हुए कृतज्ञ तथा धर्मपरायण होता है वही बहुत दिनोतक राज्य करता है।' गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीन बडे हा सारगर्भित किंतु सक्षिप्त कथनम राजधर्मका मर्म प्रतिपादित करते हुए कहा है—

मुखिआ मुखु सो चाहिए खान पान कहुँ एक।
पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक॥
(रा०च०मा० २।३१५)

मुखियाका आचरण मुखवत् होना चाहिय जो सदेव अपन सद्विवेकम समस्त अङ्गाका विधिवत् पालन करता ह। राजधर्मका सक्षेपम यही सार है। इस तरह स्पष्ट है कि राजाकी पतिष्ठा उसके द्वारा नैतिकता और सदाचारयुक्त कर्तव्यासे सचालित करनेपर निर्भर रहती है।

भारतीय राजनीतिम राजाआका इन बारह दोषास सदेव बचते रहनका आग्रह किया गया है—(१) नास्तिकता (२) असत्यभाषण, (३) क्रोध, (४) प्रमाद, (५) दीर्घसूत्रता, (६) ज्ञानी पुरुषाका सग न करना, (७) आलस्य, (८) नेत्रादि पाँचो इन्द्रियाके वशीभूत होना, (९) राजकार्योंके प्रति अकले ही चिन्तन करना (१०) प्रयोजनका न समझनेवाले विपरीतदर्शी मूर्खोंसे सलाह लेना (११) निश्चित किये हुए कार्योको शीघ्र नहीं करना तथा (१२) अपने समस्त शत्रुओपर एक साथ ही चढाई कर देना।

आचार्य कोटिल्यन प्रजाके सुखम हा राजाका सुख तथा प्रजाके हितम ही राजाका हित है, उसका अपना अलगसे कोई हित अथवा प्रिय नहीं हाता—यह स्पष्ट कहकर राज्य तथा राजाको साधन आर प्रजाको साध्य बताया है—

प्रजासुखे सुख राज्ञ प्रजाना च हिते हितम्।
नात्मप्रिय हित राज्ञ प्रजाना तु प्रिय हितम्॥
(अर्थशास्त्र अ० १।१९।१६)

सदाचारसापेक्ष बनाम सदाचारनिरपेक्ष राज्य—आधुनिक वैज्ञानिक युगके कतिपय राजनीतिज्ञाकी धारणा है कि 'अब राजनीतिम सदाचार और नैतिकताकी चर्चा करना पिछडपनकी बात हागी। उनका कथन ह कि आज विज्ञानकी प्रगतिन विश्वके सभी मान-दण्डाको बदल दिया हे। अब सभी राष्ट्र इन मान-दण्डाका तिलाञ्जलि द चुके हैं। जा राष्ट्र इन सदाचारविषयक नियमासे अपनेको प्रतिबद्ध रखेगा वह कूटनीतिक पराजयका वरण करगा।' पर अपनी दृष्टिसे

तो यह दृष्टिकोण सभीके लिये घातक ही है। कारण यह है कि सदाचारका द्वार बंद करनेसे मानवीय भावनाका ह्रास होता है। पापाचारके कारण ही आज सर्वत्र अकाल महामारी भूकम्प आदिका प्रकोप है। भारतीय अध्यात्मपूर्ण राजनीतिमें पहले भी राजाके दोषसे प्रजाकी हानिका सिद्धान्त मान्य तथा प्रचलित था।

कहा जाता है कि श्रीरामके राज्यमें अल्पायुमें एक बालककी मृत्यु होनेपर उसके पिताने उलाहना देते हुए राजाके किसी दोषकी आशङ्का करते हुए क्षतिपूर्तिकी माँग की, जिसे श्रीरामने भी स्वीकार किया और अपने मन्त्रिपरिषद्‌की आकस्मिक बैठक बुलाकर निदानका पता लगाकर उचित उपाय किया। आज क्या कोई राष्ट्र साधिकार कह सकता है कि 'मेरे देशमें न चोर हैं न कायर न शराबी है न धर्महीन, न अपढ़ हैं न व्यभिचारी, फिर व्यभिचारिणीकी तो बात ही क्या है?' पर 'छान्दोग्योपनिषद्'में अश्वपति तथा महाभारत एवं जातकादिके अनेक राजा ऐसा कहते आये हैं। दशरथजीकी अयोध्यामें निवास करनेवाले सभी मनुष्य प्रसन्न धर्मात्मा बहुश्रुत लोभरहित, सत्यवादी तथा अपने-अपने धनसे संतुष्ट थे। उस श्रेष्ठ पुरीमें कोई भी ऐसा परिवार न था, जिसके पास उत्कृष्ट वस्तुओंका संग्रह उचित मात्रामें न हो अथवा जिसके धर्म अर्थ और काममय पुरुषार्थ सिद्ध न हो गये हों तथा जिसके पास गाय-बैल घोड़े धन-धान्य आदिका अभाव हो। सभी नागरिक धर्मशील, संयमी सदा प्रसन्न रहनेवाले तथा शील एवं सदाचारकी दृष्टिसे महर्षियोंकी भाँति निर्मल थे। वहाँ कोई कामी कृपण मूर्ख क्रूर और नास्तिक न था। 'वे बाजूबंद निष्क आदि आभूषणोंको धारण करते, विशाल भवनोंमें निवास करते और अपनी स्थितिसे पूर्णतया संतुष्ट थे' (वा०रा० १।६।६—१९)।

भारतीय राजनीति सर्वथा धर्मानुमोदित है। उसका लक्ष्य लोक-कल्याण है। वर्तमान राजनीति नीतिको गौण मानती है किंतु सत्ता-समर्थक है। यह क्षणिक और तात्कालिक संकीर्ण 'स्व' पर दृष्टि रखती है। श्रीरामने रावणद्वारा प्रेषित दो गुप्तचरों (शुक-सारण)-को जिन्हें श्रीरामपक्षके वानरोंमें फूट फैलाने और गुप्त रहस्य जाननेके लिये नियुक्त किया गया था। पकड़ लिये जानेपर दूत मानते हुए, उनके साथ उदारतापूर्वक व्यवहार किया। शुक-सारण उस समय अत्यन्त भयभीत थे। उनके अपने प्राण संकटमें फँसे महसूस करते समय श्रीरामने सैनिकोंसे कहा—'ये बेचारे निर्दोष हैं। इन्हें रावणने नियुक्त किया है। इन्होंने अपने स्वामीके आदेशका पालन ही किया है। इन्हें मुक्त कर दो।' उन दूतोंसे श्रीरामने कहा—'यदि तुम्हें अभी पूर्ण जानकारी प्राप्त नहीं हुई हो तो ये विभीषण तुम्हें सारे भेद बता सकते हैं और यदि सारे भेद प्राप्त कर लिये हों तो निःसंकोच सुरक्षित सम्मानसहित जा सकते हो।' आज अन्तर्राष्ट्रिय क्षेत्रमें कभी-कभी राजदूतोंके साथ कहीं-कहीं उचित सौजन्यका व्यवहार नहीं किया जाता जिसका परिणाम दीखेगा—अनैतिक साधनोंके प्रयोगसे विश्वमें कटुताका संचार होनेके पूर्ण आसार होंगे तथा साथ ही राजदूत भी अपनी मर्यादा और गरिमासे हटनेमें जरा भी संकोच नहीं करेंगे। इसी कारण एक विद्वान्‌ने राजदूतकी परिभाषा करते हुए यहाँतक कह दिया था कि—'राजदूत एक ऐसा व्यक्ति होता है जो कि विदेशमें अपने देशके हितके लिये झूठ बोलनेके लिये नियुक्त किया जाता है' किंतु इसके विपरीत श्रीरामने लङ्कामें युद्ध-अभियानको जारी करनेके पूर्व अंगदको राजदूतके समस्त अधिकार देकर रावणके साथ शान्ति-समझौतेका प्रस्ताव भिजवाया था।

भगवान् श्रीराम साम और दानके ऐसे सफल प्रयोक्ता थे कि उन्हें भेद और दण्ड-उपायोंका आश्रय लेनेकी आवश्यकता ही न रही—

दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।
जीतहु मनहि सुनिअ अस रामचंद्र कें राज॥
(रा०च०मा० ७।२२)

इस प्रकार रामराज्यकी आदर्श सदाचारपूर्ण राजनीति ही विश्वको उत्कर्षकी ओर ले जा सकती है।

~~~~
~~~~

आख्यान—

राजधर्मके गौरव—महाराज मान्धाता

यावत्सूर्य उदेत्यस्त यावच्च प्रतितिष्ठति।
सर्वं तद् यौवनाश्वस्य मान्धातु क्षेत्रमुच्यते॥*

सूर्यवशम एक युवनाश्व नामके बडे पराक्रमी राजा हो गये हैं। वे नि सतान थे। सतान न हानके कारण उन्ह सदा दु ख रहता था और वे ऋषियाके आश्रमोम ही विशपकर निवास किया करते थे। चिरकालतक व ऋषियाकी सेवा करते रहे। दयालु ऋषि राजाक दु खको समझ गये और उनके दु खका दूर करनेक लिये ऋषियान एक पुत्रेष्टि यज्ञका आयोजन किया। बडे-बड कर्मकाण्डी ऋषि एकत्रित हुए। सभीने विधिवत् यज्ञ कराया। यज्ञके अन्तमे एक घडम यज्ञपूत जल अभिमन्त्रित करक ऋषियोन रख दिया। मन्त्राद्वारा उसम ऐसी शक्ति स्थापित कर दी गयी कि जो इस मन्त्रपूत जलका पीवे उसे परम पराक्रमी पुत्र उत्पन्न हो। ऋषिगण उस कलशको रखकर रात्रिम सो गये। प्रात काल वे महाराजकी पत्नीको उस पूत जलको पिलाना चाहते थे। सयागकी बात, रात्रिम राजाको प्यास लगी। सब ऋषि सो रह थे, उन्ह जगाना उचित नहीं समझा। वह मन्त्रपूत जलका घडा रखा था राजा वह सब जल पी गय।

प्रात काल ऋषियाका बडा आश्चर्य हुआ परस्परमे कहन लग—'जल कहाँ गया उसे कौन पी गया? इतना परिश्रम निष्फल ही हुआ।' ऋषियाकी बात सुन राजान डरते-डरते कहा—'अज्ञानम वह जल मैंने पी लिया।' ऋषियान कहा—'अच्छा, ऐसा ही होना था।' वह मन्त्रपूत जल अमोघ था। व्यर्थ तो कभी जा ही नहीं सकता। राजाक पटम गर्भ बढने लगा। समय पूरा होनपर राजाकी दाहिनी कोखको फाडकर बालक निकल आया। ऋषियोक प्रभावसे महाराज युवनाश्व मरे नहीं, वे ज्या-के-त्या बने रहे। अब मुनियाको चिन्ता हुई कि बिना माताके इसे दूध कौन पिलायगा, इसका पालन कौन करगा। ऋषियाकी चिन्ताको देखकर देवराज इन्द्रने कहा—'मामय धास्यति'—इसका भरण-पोषण में करूँगा। इन्द्रन 'माँ धाता' ऐसा कहा, इसलिये ऋषियाने इनका नाम मान्धाता रख दिया। देवराज इन्द्रन अपनी तर्जनी उँगली बालकके मुँहम द दी। उसे बच्चा पीने लगा। उसमे अमृत था, अत वह बहुत ही शीघ्र बढकर हृष्ट-पुष्ट हो गया।

मान्धाता बडे पराक्रमी, शूरवीर दानी ओर भक्त थे। उन्हान अपने बाहुबलसे समस्त पृथ्वीपर अपना एकाधिपत्य कर लिया। यह समस्त पृथ्वी 'मान्धाताक्षेत्र' के नामसे प्रसिद्ध हा गयी। राजाने भगवान्के प्रीत्यर्थ बड-बडे यज्ञ-याग किये। य कभी अतिथिको विमुख नहीं जान देते थे। इनका विवाह महाराज शतबिन्दुकी पुत्री बिन्दुमतीसे हुआ।

* जहाँ सूर्य उदित हाता है आर जहाँ जाकर वह अस्त होता है वह सारा क्षेत्र युवनाश्वके पुत्र मान्धाताका कहा जाता है।

तथा पराक्रमसे श्रीसीताजीको वशमे करना चाहा था क्योंकि इस नीतिका उद्देश्य वह भोगोपलब्धि ही मानता रहा, जबकि श्रीरामजीने दाननीतिका प्रयोग विद्वानोंके लिये या सुग्रीव तथा विभीषण-सदृश दैन्ययुक्त व्यक्तियोंको सम्बल देनेके लिये किया। रावणने 'दण्डनीति'का प्रयोग उन महापुरुषोंपर किया, जो उसे सन्मार्गपर चलनेकी प्रेरणा देते रहे। जैसे—मारीच, विभीषण, हनुमान् आदि। इसके विपरीत प्रभु श्रीराम सत्पुरुषोंके लिये सामनीति तथा केवल दुष्टोंके लिये दण्डनीतिका प्रयोग करते आये हैं और वह भी उनके उद्धारकी दृष्टिसे। क्रुद्ध परशुरामजीके प्रति सामनीति तथा खर-दूषण, त्रिशिरा आदिके लिये दण्डनीतिका प्रयोग इसके उदाहरण हैं।

ऐसे ही रावणने प्रभुके श्रीचरणोंमें अनन्यशरणागत अंगदजीपर भेदनीतिका प्रयोग करके प्रभुसे उन्हें अलग करनेकी चेष्टा की थी, ठीक इसके विपरीत प्रभु श्रीराम भेदनीतिका प्रयोग उन सत्पुरुषोंपर करते हैं जो किन्हीं बाध्यताओंके कारण असत्सङ्गमें पड़ जाते हैं।

धर्मस्वरूप प्रभु श्रीरामने सीतास्वरूपिणी नीतियोंका सतत सदुपयोग करके लोकोत्तर आदर्श प्रस्तुत किया और वे मर्यादापुरुषोत्तम कहलाये। इसके विपरीत रावण धर्मविरुद्ध अनैतिक आचरणके परिप्रेक्ष्यमें नीतियोंका दुरुपयोग करके विनाशको प्राप्त हुआ।

धर्मका शाश्वत आधार एकमात्र ईश्वर है, क्योंकि ईश्वर और जीवका सम्बन्ध अपरिवर्तनीय और एकरस है। सम्पूर्ण सृष्टिके मूलमें एक ही परमात्मा विद्यमान है। परिणामतः सम्पूर्ण जीवोंका एक ही अर्थात् 'वसुधैव कुटुम्बकम्' ही वास्तविक सत्य है। यही कारण है कि समाजके लिये व्यक्ति नहीं, बल्कि व्यक्तिका सदाचार-सम्पन्न व्यवहार ही मूल्यवान् होता है। वस्तुतः आचरणमात्र ठीक होनेसे कोई नैतिक नहीं हो पाता। अन्तस्के बदले बिना आचरण नहीं बदल सकता। क्योंकि आचरण अन्तस्का ही बाह्य प्रकाशन है। नीतिकी प्राप्ति धर्मकी साधनासे ही होती है। इस आत्मबोधसे जागा हुआ व्यक्ति सहज ही नैतिक होता है। ऐसी स्थितिमें 'सर्वजनसुखाय' तथा 'सर्वजनहिताय'की भावनासे मानवमात्रके प्रति सद्भावका जागरण होता है और विश्वबन्धुत्वकी भावनाकी प्रतिष्ठा होती है।

धर्मकी साधना वैयक्तिक होती है, परंतु उसका परिणाम सतत सामाजिक होता है। व्यक्ति जो फल एकान्तकी साधनामें प्राप्त करता है, उसकी सुगन्ध दिग्दिगन्तमें व्याप्त हो जाती है, उसे जो आनन्द प्राप्त होता है, उससे दूसरे भी आनन्दित हो जाते हैं। पातञ्जलयोगप्रदीपमें बताया गया है—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्'॥ (समाधिपाद सूत्र ३३)

अर्थात् जब मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा (उदासीनता)—इन धर्मोंकी सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापियोंके विषयमें यथाक्रम भावनाके अनुष्ठानसे चित्तकी निर्मलता और प्रसन्नता प्राप्त होती है तभी धर्म और नीतिसे प्राप्त सदाचरणद्वारा लोककल्याण होता है।

'करुणा' का अर्थ है—सम्पूर्ण मानवके प्रति प्रवाहित दया। 'करुणा' अन्तस्से बाहरकी ओर सतत प्रवाहित होती है। करुणासे भरा हुआ व्यक्ति ही लोकमङ्गल तथा लोककल्याणकी भावनासे विश्वबन्धुत्वकी ओर अग्रसर होता है। भगवान् बुद्ध करुणाके अवतार माने जाते हैं। सिद्धार्थके अंदर राजहंसको बचानेके रूपमें जो करुणा बीजके रूपमें अंकुरित हुई वही गौतम बुद्धके रूपमें विकसित होकर विश्वकल्याणकी कामनाके रूपमें सम्पूर्ण मानवताको धन्य कर गयी। 'संघ, धम्म, बुद्ध शरणं गच्छामि' का यही तात्पर्य गौतम बुद्धने प्रसारित किया।

मैत्रीका अर्थ है मित्रताका भाव। मैत्रीमें शत्रुता सर्वथा तिरोहित हो जाती है। हृदयमें जागरित करुणा जलसे भरे हुए बादलोंकी तरह होती है, जैसे बादल बरस कर पृथ्वीकी प्यास बुझा देते हैं, उसी प्रकार करुणा जब सभी द्वारोंमें जड़, पशु, मानव अर्थात् अनन्त विश्वतक पहुँचने लगती है, तब मैत्री बन जाती है।

करुणाका तीसरा चरण है मुदिता। इसका तात्पर्य प्रफुल्लता तथा आनन्दभाव है। बादलोंकी वर्षासे पृथ्वी जिस प्रकार हरियालीसे भर जाती है, पृथ्वीका कोना-कोना प्रसन्नतासे झूमने लगता है, उसी प्रकार 'मुदिता' में आनन्दकी मस्ती छा जाती है। मुदिताकी स्थितिमें जीवनकी

सम्पूर्ण उदासी सदाके लिये तिरोहित हो जाती है।

भूमण्डलमे धर्म और नीतिकी पताका तभी लहरायेगी जब स्वस्थचित्त एव आनन्दित होकर लोग करुणा, मैत्री, मुदिताकी मस्तीमे धर्म और नीतिको अपने सदाचरणद्वारा विस्तारित करेगे। इसीसे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावनाका विस्तार होगा। इसके साथ ही पापमार्गमे प्रवृत्त अनैतिक आचरण करनेवाले अधार्मिक व्यक्तियोके प्रति 'उपेक्षा' की भावना अर्थात् वह अपने पापाचारोका स्वय फल भोगेगा ऐसी भावना रखनी चाहिये। उसके प्रति द्वेष या घृणा करके अपनेको दूषित नहीं बनाना चाहिये। ऐसे भावसे द्वेष तथा अमर्षरूप चित्तके मलकी निवृत्ति हो जाती है। उत्तम नीति तो यही है कि सबके कल्याणकी भावना रखी जाय।

ऐसी स्थितिमे साधकके जीवनमे सत्य एव प्रेमरूपी परमात्माका अवतरण होता है। पद-प्रतिष्ठाके स्थानपर 'परमात्मा', धनके स्थानपर 'ध्यान' तथा 'देह' के स्थानपर 'देही' की नित्यताका अनुभव होने लगता है। परिणामत धर्म और नीतिके मणि-काञ्चन-सयोगसे साधकका मन एकाग्र हो जाता है, जिससे परमात्मोपलब्धि स्वत ही हो जाती है एव जीवनकी समस्याका समाधान हो जाता है, अशान्तिके स्थानपर अविरल शान्ति तथा अभयकी प्राप्ति हो जाती है। यही कारण है कि भक्त इस स्थितिको प्राप्तकर कभी विभक्त नहीं होता है तथा वह *'धरमु न दूसर सत्य समाना'* को अपने जीवनका पर्याय बना लेता है।

मानवके जीवनमे आज घोर तनावकी स्थिति व्याप्त है 'शान्ति', अभय और आनन्द शास्त्रोके शब्दमात्र रह गये हैं। जिस प्रकार आगसे खौलते हुए जलमे झाँकना असम्भव है, उसी प्रकार चित्तपर विचार-तरगोकी उष्णतासे अन्तसमे छिपे सत्य, प्रेम, करुणा, मैत्री मुदिता सद्भाव, शान्ति और अभयको मानव नहीं देख पाता। परिणामत समाजका कल्याण तथा विश्वबन्धुत्वकी भावना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य लगने लगती है। आज समाजमे नैतिक होनेका भ्रम ही व्याप्त है जिससे 'नीति' की प्रतिष्ठा नहीं हो पा रही है। 'नीति' तो आनन्दकी स्फुरणा है जो 'धर्म' के सुरम्य वातावरणमे ही पल्लवित-पुष्पित होती है। आनन्द जब अन्तस्से प्रवाहित होने लगता है, तब वही बाह्य जगत्मे 'सदाचरण' बन जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि जब 'आनन्द' की सुगन्ध बाहर फैल जाती है, तब व्यक्तिके जीवनमे शान्ति सद्भाव तथा कल्याणकी प्रतिष्ठा हो जाती है।

तात्त्विक विवेचन यह है कि मानवके जीवनमे 'महानता' नहीं 'मानवता' का अवतरण होना आवश्यक है। व्यक्तिका जीवन 'लम्बा' नहीं, बल्कि बडा होना चाहिये। धर्मके परिप्रेक्ष्यमे नीतिकी प्रतिष्ठासे ही मानवमे अविरल शान्ति तथा अभयकी स्थिति हो सकती है। परिणामत प्रेम और सत्यका आश्रय लेकर व्यक्ति **'आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्'** के आचरणको जीवनमे व्यवहृत कर **'सर्वजनसुखाय'** तथा **'सर्वजनहिताय'** को अपने जीवनका उद्देश्य मान लेता है जिसकी अन्तिम परिणति करुणा, मैत्री, मुदिता मानव-कल्याण तथा विश्वबन्धुत्वकी भावनामे होती है।

यस्याखिलामीवहभि सुमङ्गलैर्वाचो विमिश्रा गुणकर्मजन्मभि ।
प्राणन्ति शुम्भन्ति पुनन्ति वै जगद् यास्तद्विरक्ता शवशोभना मता ॥

(श्रीमद्भा० १०।३८।१२)

जब समस्त पापोके नाशक उनके (भगवान्के) परम मङ्गलमय गुण, कर्म और जन्मकी लीलाओसे युक्त होकर वाणी उनका गान करती है, तब उस गानसे ससारमे जीवनकी स्फूर्ति होने लगती है शोभाका सचार हो जाता है, सारी अपवित्रताएँ धुलकर पवित्रताका साम्राज्य छा जाता है, परतु जिस वाणीसे उनके गुण, लीला और जन्मकी कथाएँ नहीं गायी जातीं वह तो मुर्देको ही शोभित करनेवाली है होनेपर भी नहींके समान—व्यर्थ है।

'निन्दक नियरे राखिये'

(श्रीभगवन्नामलीन पूज्यपाद स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी सरस्वती)

मानवाका स्वभाव है कि वे निन्दकोसे घृणा (द्वेष) एव प्रशसकोंसे राग (स्नेह) करते है, जबकि होना यह चाहिय कि निन्दकोसे स्नेह किया जाय और उनका सम्मान किया जाय। इससे हमारा जीवन सुधर जायगा।

वास्तवमे हमलोगोका सही उपकार निन्दक ही करता ह, क्याकि जिस नियम एव जिस मार्गपर हम चलते है उनम हुई भूलाको वह याद दिलाता रहता है और निन्दा कर-करके आगे बढनेक लिये प्रेरित करता रहता है। जबकि प्रशसक प्रशसा करके अहकार उत्पन्न कराता हे जो भविष्यका बाधक बन जाता है। प्रशसक तो एक प्रकारका छली है, जो सम्मान करके, प्रशसा करके, प्रणाम करके, जय-जयकार करके पुण्योको क्षीण करता है, परतु निन्दक निन्दा करके, अपमान करके विघ्न करके पापोको नष्ट करता है। इसलिये महापुरुप निन्दकोकी सतत प्रशसा ही करते रहते हैं शुभकामना ही देते रहते हे। पूज्यपाद स्वामी श्रीकृष्णानन्दजीने निन्दकोके लिये कहा है—

जा मेरी निन्दा करे रह सुखी वे लोग।
सुख-सम्पति उनको मिले अरु नाना विधि भोग॥
निन्दक सब ससारम मित्र न मेरा कोय।
पीछेमे निन्दा करे मम मन निर्मल होय॥

एक और सतने लिखा हे—

साधो! निन्दक मित्र है मेरा।
मेरी निन्दा करनेवाला होवे भवनिधि पारा॥
सुखी रहो निन्दक जग माहीं रोग न हो तन सारा।
मरी निन्दा करनेवाला होवे भवनिधि पारा॥

निन्दककी सराहना करना आध्यात्मिक नीति है, इसलिये कि वह हमारा सच्चा पथ-प्रदर्शक है। अपनी नीतिपर अटल और दृढ रहनेके लिये वह हम सावधान करता रहता है।

ससारम सबसे अच्छा मित्र तथा उपकारी निन्दक ही है, वह किसीको नहीं छोडता। परम ब्रह्म परमात्मा श्रारामचन्द्रको भी धोबीने निन्दा करनेसे नहीं छोडा पर श्रीराम अपनी मर्यादाकी नीतिपर दृढ रहे। भगवान् श्रीकृष्णको ता सारी लीलाम निन्दक छाये रहे, पर वे भी धर्मनीतिपर डटे रहे।

भगवान् श्रीकृष्णने गीता (२।३८)-म राग-द्वेष, सुख दु ख, लाभ-हानि, जय-पराजय, उत्थान-पतन जन्म-मरण आदि द्वन्द्वोम एक-जैसा ही रहनेका उपदेश दिया है।

यदि हम निन्दाको व्यापक अर्थम लें ता यही दु ख है, प्रतिकूल परिस्थिति है, घोर अपमान है, महान् व्याधि है, विपत्तियोका पहाड टूटना है, धन-सम्पत्तियाका नाश होना है। इन सब परिस्थितियोमे हम डटे रह, घबराय नहीं तभी हम धीर एव वीर हो सकते हैं। यह तभी होगा जब हम दु खका स्वागत करेगे, प्रतिकूल परिस्थितिको प्रभुका प्रसाद समझगे।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीन श्रीरामचरितमानसके लङ्काकाण्ड (८०।५)-मे विजय-रथके वर्णनम लिखा है कि अजेय ससार-रिपुपर विजय पानेके लिय जा रथ है उसके दोनो (पहिये) चक्के शूरता तथा धीरता ही हैं—*'सौरज धीरज तेहि रथ चाका'*।

शूरता तथा धीरतावाला ही विजय-रथ प्राप्त करता है—

महा अजय ससार रिपु जीति सकइ सो बीर।
जाक अस रथ होइ दृढ सुनहु सखा मतिधीर॥
(रा० च० मा० ६। ८० (क))

वास्तवम विचार करके देखा जाय तो हमारे जीवनमें जो प्रतिकूलता आती हे, वह केवल हमे जाग्रत् करनेके लिये आती है। जब कभी हम अनुकूलताम राग कर बैठते हैं तथा सुख-भोगके नशेम आकर अपने भगवान् तकको भूल जाते हैं तो यह प्रतिकूलता हम सचेत करनेके लिये, प्रभुका सदेश लेकर पहुँच जाती है। यह प्रभुके प्रसाद रूपम आती है उन्हींकी ओर आकृष्ट करनेके लिये। तभी तो माता कुन्तीने वरदान माँगा—

विपद सन्तु न शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो।

भवतो दर्शनं यत् स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥

(श्रीमद्भा० १।८।२५)

हे जगद्गुरो! हमारे जीवनमें सर्वदा—पद-पदपर विपत्तियाँ आती रहें, क्योंकि विपत्तियोंमें ही निश्चितरूपसे आपके दर्शन हुआ करते हैं और आपके दर्शन हो जानेपर फिर जन्म-मृत्युके चक्करमें नहीं आना पड़ता।

संत कबीर भी इसी दुःखकी याचना करते हैं—

'बलिहारी वा दुक्ख की, पल-पल नाम रटाय।'

संसारमें जितने महापुरुष हुए हैं आप उनके जीवन-चरित्रपर विचार कीजिये तो ऐसा ज्ञात होगा कि प्रायः उनके उत्थानका कारण विपदा ही है। इसीकी यह देन रही है कि वे उतने उन्नत हो सके। भगवान् श्रीराम और राजा हरिश्चन्द्रके नाम-स्मरणमात्रसे आज हम पवित्र होते हैं, क्यों? इसलिये कि इन्होंने भारी-भारी विपत्तिको सहर्ष स्वीकार करके धर्मका पालन किया है, नीतिकी मर्यादा स्थापित की है।

जो अविवेकी हैं वे दूसरोंको अपने दुःखका कारण बताते हैं, जिनमें विवेक है वे तो दुःखको भगवान्‌का प्रसाद समझकर सिरपर धारण करते हैं। आज भी ऐसे-ऐसे महापुरुष वर्तमान हैं, जिनका जीवन दुःख और संकटसे ही ओत-प्रोत चल रहा है। जैसे आग सोनेको तपाकर शुद्ध कर देती है वैसे ही दुःख मनुष्यको सब प्रकारसे शुद्ध करके चमका देता है। दुःखको सहर्ष स्वीकार कर लेना ही परम तप है। जो स्वेच्छासे तप नहीं चाहता उसे भगवान् जबरदस्ती दुःख देकर तपाते हैं। दुःख हमें त्यागकी ओर ले जाता है। जब हम दुःख, संकट, अपमान, निन्दासे घबराकर दुःखहारी भगवान्‌की शरण हो जाते हैं तब हमारी सारी बाधाएँ दूर हो जाती हैं। जो भगवान्‌की इस नीतिको अपना लेता है, उसका जीवन स्वर्णमय बन जाता है। श्रीभर्तृहरिने नीतिशतक (८४)-में लिखा है—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

नीतिनिपुण लोग निन्दा करें या स्तुति, लक्ष्मीजी चाहे आयें या चली जायँ, मृत्यु आज ही हो जाय या युगान्तर (कालान्तर)-में, पर धैर्यवान् पुरुष औचित्य पथसे कभी भी विचलित नहीं होते। प्रमाण लेना हो तो इतिहासके पन्ने उलटकर देखिये—राजा शिबि, नल, अम्बरीष, बलि, पाण्डव, द्रौपदी, विदुर, महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवा, चन्द्रशेखर आजाद, भगतसिंह, सुभाषचन्द्र बोस, गुरु नानक, गुरु तेगबहादुर, गुरु अर्जुन सिंह, महात्मा गांधी आदि-आदि। इन महापुरुषोंके ऊपर कितने प्रकारके विघ्न आये, संकट आया, विपत्ति पड़ी, दुःख पड़ा, अपमान हुआ, निन्दा हुई, पर सब अपने-अपने धर्म्य (औचित्य)-मार्गपर अटल तथा अविचल रहे, तभी तो आज हमलोग उनका स्मरण किया करते हैं।

इसलिये महात्मा कबीरदासजीका उपदेश हमलोगोंको सतत ध्यानमें रखना चाहिये—

निन्दक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।
बिन पानी साबुन बिना, निर्मल करै सुभाय॥

[प्रेषक—वैद्यराज श्रीकुन्दनकुमार 'रामलला']

धर्मपालनका महत्त्व

यज्जीवितं चाचिरांशुसमानं क्षणभङ्गुरम्। तच्चेद्धर्मकृते याति यातु दोषोऽस्ति को ननु॥
जीवितं च धनं दारा पुत्राः क्षेत्रं गृहाणि च। याति येषां धर्मकृते त एव भुवि मानवाः॥

(स्कन्द० मा० कुमा० १। २१-२२)

जीवन बिजलीकी चमकके समान क्षणभङ्गुर है। वह यदि धर्म-पालनके लिये चला जाता—नष्ट हो जाता है, तो जाय, इसमें क्या दोष है। जिनके जीवन, धन, स्त्री, पुत्र, खेत और घर धर्मके काममें चले जाते हैं, वे ही इस पृथ्वीपर मनुष्य कहलानेके अधिकारी हैं।

नैतिक शिक्षा क्या, क्यो और कैसे ?

(डॉ० श्रीबाबूलालजी वत्स एम्० ए०, पी-एच्०डी०)

आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीना पशुभि समाना ॥

भारत ससारका गुरु रहा है। इसका अतीत रत्नासे भी अधिक जाज्वल्यमान रहा है। यह 'सोनेकी चिडिया' कहा जाता था। इसकी सस्कृति करोडा वर्ष पुरानी है। देवता भी स्वर्गसे भारतभूमिमे आनेको लालायित रहते ह, पर यह बडे दु खकी बात है कि ऐसा विश्व-शिरोमणि भारत देश आज पतनकी ओर जा रहा है। राष्ट्रका नैतिक चरित्र ह्रासोन्मुख क्यो होता जा रहा है ? यह एक विचारणीय विषय है। यदि हम इस समस्यापर विचार नहीं करगे आर अब भी अपनी गहरी नींदसे जाग्रत् न हाग ता हम इतने गहरे गर्तमे गिर जायँगे कि वहाँसे हमारा उठना सम्भव न होगा। इस जडसे उखडे हुए भारत-पादपको पुन पल्लवित-पुष्पित करनेका प्रयत्न हम समवेतरूपमे करना हागा, स्वतन्त्ररूपसे भी प्रयास हो सकता है और तदनुरूप सफलता भी मिल सकती हे। 'मैं अकेला क्या कर सकता हूँ'—ऐसा समझकर प्रयत्नविमुख नहीं हाना चाहिये। समुद्रम बूँदकी क्या गिनती है ? बूँदका अस्तित्व ही क्या है ? पर समुद्र भी तो बूँदासे ही मिलकर बना है। हमारे सत्प्रयास चाहे नगण्य हो, वे एक नैतिक समाजका निर्माण कर सकते हैं। गाँधीजीके पास कोई फौज नहीं थी। इन-गिने हो उनके अनुयायी थे। उनम दृढ निश्चय था। नैतिक आदर्शोक प्रति अटूट आस्था थी और इन आदर्शोंको कार्यरूपम परिणत करनेका अपार उत्साह था। इसीलिय उन्ह सफलता मिली। यदि हम भी सनातन विचाराका समाज पुन बनाना चाहत हैं ता हम भी समाजके उत्कर्षके लिये अपने जीवनको ही 'सत्यका प्रयोग' बना दना हागा।

नैतिक शिक्षा क्या है ?

सस्कृतमें 'णाञ्-नी' धातुका अर्थ है—जाना ले जाना रक्षा करना। इसीस नीति शब्द बना है जिसका अर्थ ह—ऐसा व्यवहार जिसके अनुकूल चलनस अपनी और सबकी रक्षा हो सके। सबका सच्चा हित हा सक। एसी नैतिक शिक्षा वह शिक्षा है जिसके द्वारा समाजके प्रत्येक व्यक्तिका वास्तविक कल्याण हाता रहे।

नीतिशास्त्र आचार-विचारोका विश्लेषण तथा विवेचन करके निष्कर्ष निकालता है ओर अमल-स्वच्छ निर्माण होनेकी शिक्षा देता हे। सत्-परामर्श प्रदान करता है। उन परामर्शको अङ्गीकार करके हम सच्चे अर्थोंमे शिक्षित कहलात ह।

शिक्षा मानवके सर्वाङ्गीण विकासकी कुजी है। जो शिक्षा व्यक्तिमे नैतिक गुणाका विकास करता है, उसके चरित्रको उज्ज्वल बनाती ह, उसम मानवताके उदात्त गुणाको जाग्रत् करती है आर श्रेय-प्रेय-पथका भेद समझाता है उस नैतिक शिक्षा कहा जाता है। इस शिक्षास विभूषित व्यक्ति सदैव नम्र, उदार, अनुशासित, शान्तिप्रिय जागरूक सहिष्णु, सच्चरित्र सहयोगी, उद्यमी एव कर्तव्यनिष्ठ तथा सेवा-परायण होता है।

पशुवत् सामान्य जीवन-यापनहेतु जिस प्रकार आहार तथा निद्रा आदि आवश्यक हे, उसी प्रकार मानव बननेके लिये मानवीय गुणासे युक्त होना भी परमावश्यक है। करुणा, दया दान त्याग, ईश्वरमे आस्था ईमानदारी, धैर्य परहित-कामना तथा सहिष्णुता आदि उदात्त गुण नैतिक शिक्षाके माध्यमसे ही उद्भूत हो सकते हैं।

यह स्मरण रखना चाहिय कि सबसे अच्छी नैतिक शिक्षा वही है जो अपन आचरणद्वारा दी जाय। केवल पुस्तकीय ज्ञानम नैतिक शिक्षाक उद्देश्यको पूरा नहीं किया जा सकता।

भारतकी वर्तमान परिस्थितियामें अपेक्षित नैतिक मूल्य— भारत अपनी जिस विशेषताके कारण विश्वमान्य है वह है उसका धर्म और दर्शन। इसीक बलपर यहाँके निवासी कभी दवतुल्य जीवन जीते थे परतु आज स्थिति विपरीत हो गयी हैं ता भी यदि हम सच्च मनसे प्रयत्न कर ता फिरसे

वह गौरव प्राप्त कर सकते हैं। इसके लिये हम बच्चामे निम्नाङ्कित गुणाका विकास करना होगा—

(१) वातावरण-सृजन—पाश्चात्य सभ्यताके अनुकरणने आज हमारे घर, विद्यालय और समाजके वातावरणको बहुत दूषित बना दिया है। चूँकि परिवारम ही बच्चाक चरित्र-निर्माणका बीज-वपन होता है, इसलिये माता-पिताको परिवारका वातावरण नैतिक गुणासे युक्त बनाना चाहिये। बडाका आदर करना, छोटोसे प्यार करना, देश-समाज और विश्व-मानवताक प्रति समर्पणका भाव बचपनमे ही भरा जा सकता है। परिवारको इसी कारण बालककी प्राथमिक पाठशाला कहा जाता है।

(२) ईश्वरमें आस्था—आस्थारहित व्यक्ति ससारम कोई गौरव-प्रद महान् कार्य नहीं कर सकता और न आत्मकल्याण ही कर सकता है, इसलिये बालकाम ईश्वरके प्रति धर्मके प्रति सद्ग्रन्थाक प्रति आस्थाका भाव भरना चाहिये। ईश्वर ही ब्रह्माण्डका कर्ता है। उसमे आस्था रखनेसे बडे-से-बडे कार्य सम्पन्न किय जा सकते हैं।

बालकोंको भगवन्नाम-जपका अभ्यास कराना चाहिये तथा भगवान्की लीलाके सुन्दर-सुन्दर चित्राका अवलोकन कराना चाहिय। भगवान्की कृपाशक्तिकी छोटी-छाटी कथाआको सुनाकर उनम भगवान्‌के आश्रयके बलको प्रविष्ट कराना चाहिये। इससे उनकी स्फुरणा जाग्रत् होगी और उनमे आत्मविश्वासकी भावना प्रतिष्ठित हा जायगी। बुद्धि प्रखर होगी आस्था प्रकट होगी, सत्कार्योंम मन लगगा और दुष्प्रवृत्तियाको हटानेके लिये सघर्ष करनेकी शक्ति प्राप्त होगी।

(३) सत्प्रवृत्तियाका मनसा-वाचा-कर्मणा अङ्गी-करण—सत्प्रवृत्तियो—सत्य, न्याय, सहिष्णुता दया प्रेम साहस अनुशासन विवेक कर्तव्य-परायणता सयमशीलता, सुसस्कारता सौजन्य, पराक्रम सहकार और परमार्थको हृदयसे स्वीकार करके उन्ह अपने जीवनम ढालना चरित्र-निर्माणके लिये नितान्त आवश्यक गुण हे। मन वाणी और कर्मसे इन्ह अपनाकर देशको पुन विश्वगुरु-पदपर अधिष्ठित किया जा सकता हे। नीति धर्म तथा दर्शनका मूल इन्हीं प्रवृत्तियामे निहित है। यदि इन गुणाको आचरणम ढाल लिया जाय तो समझिये सब कुछ प्राप्त कर लिया गया।

नैतिक शिक्षा कैसे दी जाय ?

देश और समाजको पतनसे बचानेक लिये नैतिक शिक्षा भारतके हर विद्यालयम अनिवार्यरूपस दी जानी चाहिये—इस विषयम दा मत नहीं हो सकत, किंतु नैतिक शिक्षा कैसे दी जाय यह एक विवादास्पद विषय हं। शिक्षाकी समस्याआपर विचार करनेके लिये गठित आयामाने समय-समयपर नैतिक शिक्षाकी अनिवार्यता ता स्वीकार की और अपनी योजना भी प्रस्तुत की, किंतु उसका कार्यान्वयन बहुत कम देखनम आया।

उसके कारण चाहे जो भी रहे हा, इतना तो सुनिश्चित ही है कि आज बच्चे जिस परिवेशम जी रह हं जिन सामाजिक मूल्याका मानदण्ड उनके सामन ह और जो तथाकथित नैतिक आदर्श उसपर थोपे जा रह हैं, ऐसी स्थितिमे सच्ची नैतिकताकी बात करना तो उपहासास्पद ही है, तथापि निराश नहीं होना चाहिये। राष्ट्रिय चरित्रके एस ह्रासोन्मुख कालम सभीको समष्टि रूपम चैतन्य हाना पडगा वह फिर चाहे शिक्षक हो घर-परिवार हो माता-पिता हा या राष्ट्रक सचालक हा। सभीका यह दायित्व ह कि वे आजके परिवेशको दखते हुए स्वयमे वैचारिक साहस पेदा करे और इस सत्प्रयासमे जुट जायँ कि हमे अपने बच्चाको अपने परिवारको अपने समाजको अपने देशको इतना ही नहीं, समूचे विश्वको भी नेतिकताक आदर्शका पाठ पढाना है। ऐसे सत्सकल्प भगवत्कृपासे अवश्य पूण हाते हैं—इस प्रकारका विश्वास रखना चाहिये।

अकाम सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधी ।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुष परम्॥

जो कुछ नहीं चाहता, जो सब कुछ चाहता है अथवा जो केवल माक्षकी इच्छा रखता हे, वह उदारबुद्धि मानव तीव्र भक्तियोगके द्वारा परमपुरुष श्रीहरिकी आराधना करे। (श्रीमद्भागवत २। ३। १०)

समाजका नैतिक स्तर कैसे ऊँचा उठे?

(डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

समाजम सुधार करना बडा ही कठिन कार्य है। पथभ्रष्ट व्यक्तिको नैतिक स्तरपर ले आना एक दुष्कर कार्य हे। इससे आसान काम ह—व्यक्तिका प्रारम्भसे ही सही रूपम नैतिक वातावरणमे विकास। अच्छा ता यह ह कि उसे प्रारम्भसे ही ऐसे कठार नियन्त्रणम रखा जाता कि उसमे आग चलकर सुधारकी आवश्यकता ही न रह। वह बिगड ही नहीं। नैतिक रूपम उसका सहज विकास हो।

एक बार शहशाह अकबरने एक लकीर खीची और चतुर बीरबलस कहा—'बिना मिटाय इस छोटा करो।' बीरबलने तत्काल उसके नीचे उससे लबी एक लकीर खींच दी। पहली लकीर स्वय ही छोटी दिखन लगी।

यह नियम नैतिकताके सम्बन्धम भी लागू होता ह। जो लोग समाजम पथभ्रष्ट, दिशाहीन दिशाभ्रमित ह उन्ह नैतिकताका पाठ पढाना कठिन है तथापि अभ्यास करनेम धीर-धार उनम भी सुधार हो सकता है, साथ ही आज यह आवश्यक हो गया है कि आनेवाली नयी पीढी—छोट बच्चाको प्रारम्भसे ही नैतिक-सास्कृतिक वातावरणम विकसित किया जाय। शुरूस ही उन्ह नैतिक शिक्षा दी जाय। उन्ह भौतिकवादी कामात्तेजक वासनामूलक और दूषित वातावरणम्‌ बचाया जाय।

नैतिकताके प्रारम्भिक सस्कार बच्चके गुप्त मनमे माताकी गोदस ही बनत हैं। माताकी शिक्षा, उसक आदर्श सस्कार और घरका वातावरण—ये बालकके मनका क्रमिक विकास करते है। इसीलिये अग्रज कवि वर्ड्सवर्थने सत्य ही कहा था कि 'बच्चा ही आदमीका पिता ह' (Child is father of the man) यदि हम मनुष्यका नैतिक विकास करना है तो बडी सतर्कतासे बालशिक्षापर ध्यान दना होगा।

मनुष्य-जीवनकी विकासधारा उसके शैशवकालान अनुभवासे निधारित मार्गका अनुसरण करती है। इसलिय शिशु-मनपर हानवाली प्रतिक्रियाआके सम्बन्धम विस्तृतरूपस विवचन करनकी आवश्यकता ह। यहींसे नैतिक आचरणकी बुनियाद रखी जानी चाहिये। यही प्राथमिक कदम है।

पशु-शिशु तथा पक्षी-शावकोंकी तुलनाम मानव शिशुकी पराधीनताकी अवधि बहुत दीर्घ होता है। जन्म लेनेके कुछ ही देर बाद मानव-शिशु अपनी निपट असहाय अवस्थाका अनुभव करने लगता हैं। वह अपनस बडोंको उठते-बैठते चलत-फिरत तथा अपन इच्छानुसार स्वाधीनता पूवक विभिन्न प्रकारकी क्रियाएँ करते हुए दखता है। उनकी तुलनामे वह अपनका असमर्थ-सा पाता है। बडाका समकक्षता प्राप्त करनकी उत्कट आकाङ्क्षा उसमें जाग उठती है। यहींसे उसके चरित्रका निमाण प्रारम्भ होता ह। उसका वातावरण, चारा ओरकी परिस्थितियाँ मित्रों पडोसियों और माता-पिताका व्यवहार आदि—इन सभीपर बच्चके जीवनका भावी विकास निर्भर करता है।

नैतिक आदर्श आरम्भसे ही बच्चेपर अपना स्थायी प्रभाव डालते हैं। इसी वातावरण और नैतिकता-मूलक शिक्षाम बच्चका आदर्श विकसित होता है। यौवनम प्रवश करनस पूर्व उस बडी सतर्कतासे सँभालनेका आवश्यकता है।

नैतिक चरित्रके विकासम बच्चोंकी माताका प्रभाव सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। किशोर माताके स्वभाव आचार व्यवहार और आदर्शको आत्मसात् करता है। अत माताओंका बाल-मनोविज्ञानकी सम्यक् जानकारी रखते हुए बच्चाकी सही देखभाल करनी चाहिय और परिवारका वातावरण मधुर बनाना चाहिये। नैतिकता बढानवाल गात कहानियाँ वृत्तान्त तथा समाचार आदि उन्ह सुनाने चाहिय।

पिताकी भी सारी क्रियाएँ किशोर सीखता है और उनका अनुकरण करता है। दूसरे लोगाके साथ पिताका आचार-व्यवहार कैसा है तथा दूसरे लाग उसके पिताके प्रति कैसी धारणा रखत हैं—इसे भी वह बहुत ध्यानसे देखता-समझता रहता है। उसपर तीसरा महत्त्वपूर्ण प्रभाव अध्यापक या गुरुका पडता है। किशार जिस स्कूलमें पढता है, वहाँके जैसे अध्यापक हैं उनके आचार-विचार रहन सहनके तौर-तरीके पाशाक आचरण, व्यवहार आदि सभी उसपर प्रभाव डालते हैं। साथ ही छोटा बालक स्वभावत

अपने बडे भाई-बहिनाके व्यवहारको भी देखता है और उसका भी प्रभाव उसपर स्वाभाविक ही पडता है। सक्षेपमे बालकका नतिक स्तर बनानेम माता-पिता, भाई-बहिन अध्यापक तथा समाज सभीका उत्तरदायित्व है कि वे उसका वातावरण शुद्ध, सात्त्विक आर उन्नतिशील बनाये रहे।

नये शिक्षा-पाठ्यक्रमम सास्कृतिक आधारवाला नैतिक साहित्य बच्चोको पढाया जाय। बडी कलात्मकतासे अनुभवी लेखक नैतिक साहित्य तैयार कर जो रुचिकर हो आर बच्चे चावसे उसे पढ। उसमे प्रभावी चित्राकी प्रचुरता रहे। उस पाठ्यक्रमम नवीनतम जानकारी भी रहे। हम प्राचीन बोधकथाआका भी प्रयोग अधिक-से-अधिक करना चाहिये।

बालकोका चरित्र गढना, उनम आचार-विचारकी अच्छी आदत विकसित करना नीति-शिक्षकका गुरुतर कार्य है। छोटी-छोटी नीति-धर्मविषयक कथाएँ सुनाकर उन्ह नैतिक मूल्य समझान चाहिये। इनके महत्त्वके विषयमे मनोवैज्ञानिक मि० एडलर लिखते हैं—

'हमारी नीति-धर्मकथाओमे एक सार्थक भौतिक शक्ति ह। आज भी बच्चाके लिय इसमे एक अनिर्वचनीय आकर्षण है। मैं प्राचीनतामे अन्धविश्वासी नहीं हूँ, किंतु ये नीति-धर्मविषयक प्राचीन कथाएँ जा हमारे यहाँ युग-युगसे जीवन-मार्ग-द्योतक हैं उनम आज भी एक तराताजगी पाता हूँ। बच्चोके लिये आज भी वे आकर्षण और दिलचस्पीसे भरी है। वे अभीतक जीवित हैं, यही उनकी उपयोगिता स्पष्ट करती है। धर्म सस्कृति और इतिहाससे बच्चाको ऐसी उपदेशात्मक कथाएँ सिखलायी जा सकती है। प्राचीन तथा अर्वाचीन वैज्ञानिकता और देशभक्तिकी वीरगाथाएँ, पञ्चतन्त्र बौद्ध और जेनधर्ममे मिलनेवाली बोध-कथाएँ, रामायण एव महाभारतसे ली हुई नीति-कथाएँ बच्चाम नैतिकताक विकासम सहायक हो सकती हैं। आरम्भस ही इन नीति-कथाआको पाठ्यक्रमम रखकर नैतिकताक पवित्र सस्कार विकसित किये जा सकत ह।'

हमारी सरकारका यह कर्तव्य हे कि वह प्रचार-माध्यमाम इन नीति-कथाआका उपयाग कराय। अनैतिक तत्त्वापर नियन्त्रण रखे, अश्लील साहित्यपर राक लगाय। गद चित्राको प्रदर्शित न किया जाय। कामात्तजक गीत दृढतासे रोके जायँ। समाजमे जा अनतिक तत्त्व हा उन्ह कानूनद्वारा सजा दी जाय। समाजका भी यह दायित्व ह कि वह अनतिक फशन, पाश्चात्त्य दशाके गद तार-तरीका तथा अर्धनग्न नृत्य, अश्लील हरकतो आदिपर अकुश रख। विवाह आदिम फशनपरस्ती और फिजूलखर्चीपर राक लगायी जाय। पाश्चात्त्य देशामे प्रचलित सोन्दर्य-मानदण्डाका भारतम आनेस रोका जाय।

अग्रजी रहन-सहन, आचार-व्यवहार, पाशाक आर भाषा-साहित्यन हमारे प्राचीन सास्कृतिक मूल्याका बरबाद किया है तथा भोगवादी सस्कृति कामुकता, हठधर्मिता अहकार, भ्रष्टाचार भोग-विलासिता आदि दाष-दुगुण फलाय है। उनका हम अन्धानुकरण कर रह ह, उसका फल भी प्रत्यक्ष ही है। आज यह आवश्यक है कि नवीन शिक्षा-पद्धतिम भारतक प्राचीन परम्परागत नैतिक मूल्याका फिरस विकसित किया जाय। सास्कृतिक आधारक बिना कालजया श्रेष्ठ साहित्यकी रचना सम्भव नहीं हे। प्राचीन जीवन-पद्धतिम नैतिक जीवनमूल्य आज भी अपन जीवन्त अस्तित्वका परिचय दते रहते हैं। सार्थक रचनाकार दूषित राजनीतिसे दूर रहकर नतिक साहित्यकी रचना कर ता अच्छ समाजका निर्माण हाना असम्भव नहीं हे।
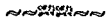
इन्द्रियसयम—मनकी समता

अवान्तरनिपातीनि स्वारूढानि मनोरथम्।
पौरुषेणेन्द्रियाण्याशु सयम्य समता नय॥

(योगवासिष्ठ)

मनोमय रथपर चढकर विषयाकी ओर दोडनवाली इन्द्रियाँ वशम न होनक कारण बीचम ही पतनक गर्तमे गिरनेवाली हैं, अत प्रबल पुरुषार्थद्वारा इन्ह शीघ्र अपन वशम करक मनका समतामे ल जाइय।

रामराज्यका दिग्दर्शन

(पं० श्रीरामचन्द्रजी शर्मा एम्० ए०, एल्-एल्० बा०)

भगवान् श्रीराम, भगवती सीता और वीरवर लक्ष्मण चित्रकूटसे आगे घने जगलमे जा रह थे। उनके साथ कुछ ऋषिगण भी थे। हड्डियोका एक यडा-सा ढर पडा देखकर भगवान् श्रीरामके हृदयमे करुणाका समुद्र उमड आया। 'हड्डियाका यह ढेर कैसा ?' उन्होने ऋषियास पूछा।

'श्रीरामका आविभाव दीन-दु खियाकी रक्षा करने और दुष्टाका दण्ड दनेके लिये ही हुआ है।' ऋषियाको निरुत्तर देखकर शत्रुमर्दन श्रीरामने गम्भीर वाणीम कहा—'आपलोग नि सकाच हाकर वताय।'

भगवान् श्रीरामके वचन सुनकर ऋषिगण मन-ही-मन यहुत प्रसन्न हुए ओर बोल—'भगवन्! इस वनमे वहुत-से राक्षस रहते हैं, जो ऋषि-मुनियो तथा उनकी गौआकी हिसा कर उनका भक्षण कर जात हैं। समूचे दण्डक वनमे उन्ही हड्डियाक ये ढर स्थान-स्थानपर दाख पडते हैं।' भक्त-वत्सल भगवान्ने तत्क्षण अपनी दक्षिण भुजा उठाकर प्रतिज्ञा की—'मैं पापी निशाचराको उचित दण्ड देकर ऋषि-मुनियाकी रक्षा करूँगा। पृथ्वीका निशाचरोसे हीन (रहित) कर दूँगा।'

निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।

(मानस ३।९)

व स्वय राजप्रासाद और विशाल साम्राज्यका परित्याग कर वनमे निवास कर रहे थे, किंतु उन्होने अपने कष्टाकी आर तनिक भी ध्यान न दिया। 'आदरणीय ऋषियो! आप निर्भय हाकर अपन हवन आदि नित्यकर्म करे। अव आपको कोई भी उत्पीडित न कर सकेगा।' श्रारामन अभयदान दिया।

राम-रावण-युद्धका वास्तविक कारण न तो सीता-हरण था, न शूपणखाका नाकका कटना। ये घटनाएँ ता उस युद्धकी भूमिकामात्र थीं। हाँ सीता-हरण भगवान् श्रीरामद्वारा राक्षसोके सहारका अनिवार्य निमित्त अवश्य बना।

उन्हाने कभी पीछ मुडकर अयाध्याकी आर न दखा, प्रत्युत वे आगे ही बढते गये। इसी कारण अमित पराक्रम तथा सत्य-नीतिद्वारा वनम भा एक अपार और अजेय सनाका उनक द्वारा सहज निर्माण—सगठन सम्भव हो सका।

जटा-चीरधारी वनवासी रघुवशवार श्राराम आर लक्ष्मणन आर्य सस्कृति एव सभ्यताका सरक्षण किया तथा दानवतापर विजय प्राप्त की। इस तरह लका-युद्धमें दुष्ट राक्षसाका सहार कर उन्हान प्रजाका कष्ट-निवारण किया और शान्तिकी स्थापना की। लकाका राज्य विभीषणको सौंपकर वे अयाध्या लौट आय। भगवान् श्रारामने सोनेकी लकामे प्रवेश तक नहीं किया। उस विजय-पर्वपर भगवान्ने लक्ष्मणजीसे जो शब्द कह, वे उनक अयाध्या प्रमके सहज परिचायक हैं—

अपि स्वर्णमयी लङ्का न मे लक्ष्मण राचत।
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरायसी॥

जब भगवान् अयाध्याक राजसिहासनपर बैठ तो प्रजाके भाग्यका क्या कहना। महाराज श्रारामका प्रतिज्ञा थी—

स्नेह दया च सौख्य च यदि वा जानकामपि।
आराधनाय लोकाना मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥

(उत्तररामचरितम् १।१२)

'अपनी प्रजाकी भलाईके लिये मे अपन समस्त सुखाको यहाँ तक कि सीताका भी पसन्नतापूर्वक त्याग सकता हूँ।' लक्ष्मणजीका वन जानेसे राकते समय श्रीभगवान् स्वय कहते हैं—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी । सो नृपु अवसि नरक अधिकारी॥

(मानस २।७१।६)

भगवान्ने प्रजाके हितके लिये कितना उच्च आदर्श प्रस्तुत किया।

भगवान् श्रीराम अपनी प्रजाको पुत्रवत् पालते थे और प्रजा भी उनका अपने पिताके समान समझती थी।

श्रीमद्भागवतपुराणम भी भगवान् श्रीरामकी प्रजा वत्सलताका अत्यन्त भव्य वणन मिलता है—

प्रजा स्वधर्मनिरता वर्णाश्रमगुणान्विता ।
जुगोप पितृवद् रामो मनिर पितर च तम्॥

(श्रामद्भा० ९।१०।५१)

'प्रजागण प्रसन्नचित्त हाकर अपन-अपन वर्ण तथा

आश्रमके अनुसार धर्मकार्यमे लगे रहते थे। भगवान् श्रीराम उनकी रक्षा तथा पालन पिताके समान करते थे और वे भी उन्हे अपने पिताके समान ही मानते थे।'

प्रजागण कहा करते थे—

न हि तद् भविता राष्ट्रं यत्र रामो न भूपतिः।
तद् वनं भविता राष्ट्रं यत्र रामो निवत्स्यति॥

(वा० रा० २।३७।२९)

'श्रीराम जहाँके राजा न होंगे, वह राज्य राज्य नहीं रह जायगा—जंगल हो जायगा तथा श्रीराम जहाँ निवास करेंगे, वह वन एक स्वतन्त्र राष्ट्र बन जायगा।'

गोस्वामी तुलसीदासजीने भी मानो इसीका छायानुवाद करते हुए लिखा है—

अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहँइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू॥

(मानस २।७४।३)

क्या न हो भगवान् श्रीराम प्रजाजनोंसे स्वयं कहते हैं—'यदि मैं कुछ अनीतिका कार्य करूँ अथवा करनेको कहूँ तो भय त्यागकर मुझे रोको'—

सुनहु सकल पुरजन मम बानी। कहउँ न कछु ममता उर आनी॥
नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जो तुम्हहि सोहाई॥
सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥
जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥

(मानस ७।४३।३—६)

तभी तो रामराज्यमें कुत्तेको भी न्याय मिलता था और प्रजावर्ग राजासे पूछ सकता था कि उसका लड़का उसकी मृत्युसे पूर्व ही क्यों मर गया? ऐसा होनेपर राजा भी अपनेको अपराधी ही मानता था और उसके दुःख-निवारणका पूर्ण प्रयत्न करता था। भगवान् श्रीरामने प्रजारञ्जनार्थ अपनी धर्मपत्नी तथा भाईका भी त्याग कर दिया था। श्रीनारदजीके वचन हैं—

'यदि कोई मूर्ख मनुष्य किसी राजाके राज्यमें कोई अधर्म या निन्द्यकर्म करता है तो उसका वह कार्य उस राज्यके अनैश्वर्यका कारण बन जाता है और उस राजाको भी इस तरहके अधर्माचरणके परिणामस्वरूप निःसंदेह नरकमें जाना पड़ता है। इसी प्रकार जो राजा धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करता है, उसे प्रजाके वेदाध्ययन, तप और शुभकर्मोंके पुण्यका छठा भाग प्राप्त होता है। राजा प्रजासे कर प्रजा-पालन तथा प्रजाकी रक्षाके लिये लेता है, न कि अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये। राजाके दोषसे जब प्रजाका विधिवत् पालन नहीं होता, तब उसे आपत्तियोंका सामना करना पड़ता है। राजाके दुराचारी होनेपर ही प्रजामें अकालमृत्यु होती है।' श्रीरामके राज्यमें अकालमृत्यु न पहले कभी देखी गयी और न सुनी ही गयी थी। रामराज्यके सहस्रों वर्षोंमें केवल एक बालमृत्यु हुई और जबतक उस बालकको भगवान्ने पुनः जीवित न कर लिया, उनको चैन न पड़ा।

भगवान् श्रीराम वेद-शास्त्रानुकूल चलते थे और प्रजाको भी अपने आचरणसे उसी मार्गपर चलनेके लिये प्रेरित करते थे। भगवान्का तो अवतार ही धर्म-रक्षार्थ हुआ था—

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

(मानस १।१२१।६—८)

गोस्वामी तुलसीदासजीने रामराज्यका वर्णन करते हुए कहा है कि सभी लोग वर्णाश्रम-धर्ममें तत्पर हो स्वधर्मका आचरण कर सदा वेदप्रतिपादित मार्गपर चलते थे, सुखसे रहते थे, न कहीं भय था न राग—

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग॥

(मानस ७।२०)

तथा—

सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥
चारिउ चरन धर्म जग माहीं। पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं॥

(मानस ७।२१।२-३)

तात्पर्य यह है कि धर्म रामराज्यकी आधारशिला था। इसी कारण लोग रामराज्यका श्रीरामके प्राकट्यकालसे आजतक राज्यादर्शके रूपमें याद करते आ रहे हैं। रामराज्यकी स्थापनाका ही परिणाम था कि समस्त भारतमें ही नहीं, परंतु समुद्र-पार दूर देशोंमें भी धर्म तथा

आर्य-सस्कृति ओर सभ्यताके प्रचार-प्रसारका मार्ग खुल गया। दिग्दिगन्तमे आर्य-सभ्यताकी पताका फहराने लगी। गोस्वामीजीके शब्दामे रामराज्यका कितना भव्य चित्रण हुआ है—

बयरु न कर काहू सन काई। राम प्रताप बिषमता खोई॥
(मानस ७।२०।८)

× × ×

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥
राम भगति रत नर अरु नारी। सकल परम गति के अधिकारी॥
अल्पमृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुदर सब बिरुज सरीरा॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छनहीना॥
सब निर्दभ धर्मरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥
सब गुनग्य पडित सब ग्यानी। सब कृतग्य नहिं कपट सयानी॥
(मानस ७।२१।१ ४—८)

× × ×

सब उदार सब पर उपकारी। बिप्र चरन सवक नर नारी॥
एकनारि ब्रत रत सब झारी। त मन बच क्रम पति हितकारी॥
(मानस ७।२२।७-८)

राम राज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं।
काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं॥
दड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।
जीतहु मनहि सुनिअ अस रामचद्र क राज॥
(मानस ७।२१-२२)

रामराज्यके पशु-पक्षी एव वृक्ष-लताआकी ओर दृष्टिपात कीजिये—

फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक सँग गज पचानन॥
खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति बढाई॥
कूजहिं खग मृग नाना बृदा। अभय चरहिं बन करहिं अनदा॥
सीतल सुरभि पवन बह मदा। गुजत अलि लै चलि मकरदा॥
लता बिटप माग मधु चवहीं। मनभावतो धेनु पय स्रवहीं॥
(मानस ७।२३।१—५)

अब पृथ्वी सागर नदी और सूर्य आदिकी ओर भी ध्यान दीजिये—

ससि संपन्न सदा रह धरनी। त्रेताँ भइ कृतजुग कै करनी॥
प्रगटीं गिरिन्ह बिबिधि मनि खानी। जगदातमा भूप जग जानी॥
सरिता सकल बहहिं बर बारी। सीतल अमल स्वाद सुखकारी॥
सागर निज मरजादाँ रहहीं। डारहिं रत्न तटन्हि नर लहहीं॥
सरसिज सकुल सकल तडागा। अति प्रसन्न दस दिसा बिभागा॥

बिधु महि पूर मयूखन्ह रबि तप जेतनेहि काज।
मागे बारिद देहिं जल रामचद्र क राज॥
(मानस ७।२३।६—१० २३)

यह है रामराज्यका फूलता-फलता विशाल वृक्ष, जिसके धर्मरूपी जडको सत्य प्रेम आदिके जलसे स्वय भगवान् श्रीरामने सींचा था।

धर्मके बिना रामराज्यका ठहरना कभी सम्भव ही नही है। महात्मा गाधी भी रामराज्य चाहते थे। परतु आज मानव-समाजमे हिंसा, झूठ छल-कपट, बेईमानी धोखाधडी आदि मूर्तिमान् होकर ताण्डव-नृत्य करने लगे है। धर्म और वर्णाश्रम-मर्यादाको पाखण्ड और रूढिवाद कहा जाने लगा है। भगवान् ही रक्षा करे।

रामराज्य, धर्मराज्य और ईश्वरराज्यमें तनिक भी भेद नहीं हे। हमे सदव राजर्षि मनुके ये वचन याद रखने चाहिये—'धर्मो रक्षति रक्षित '(मनु० ८।१५), 'यदि हम धर्मकी रक्षा करगे तो धर्म भी हमारी रक्षा करेगा।' तथा 'धर्मो जयति नाधर्म,' 'सत्य जयति नानृतम्।—'धर्मकी विजय होती है अधर्मकी नहीं,' 'सत्यकी जय होती है झूठकी नहीं।' तथा 'यतो धर्मस्ततो जय '—जहाँ धर्म है वहीं विजय है—ये सभी वचन कल्याणका मार्ग प्रशस्त करत ह।

हम मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामद्वारा प्रदर्शित मार्गपर धैर्यपूर्वक चलनका अवश्य ही उद्योग करना चाहिये। इसीमे हमारी विजय है और इसाके अनुसार चलनेपर न केवल हम सुख-शान्ति और निर्भयतासे जीवनयापन कर सकते हैं, अपितु प्रकाशकी ओर चलनेमें दूसरोंकी भी सहायता कर सकते हैं। उन्हे अज्ञानान्धकार और असभ्यताके अत्यन्त गहरे गर्तसे निकालकर सन्मार्गपर ला सकते हैं। रामराज्य सार्वभौम सुख-शान्तिका अमर राजतन्त्र है।

नीतिके आख्यान

[भारतीय साहित्यमे कथा ओर आख्यानके माध्यमसे नीतिसम्बन्धी उपदेशोकी परम्परा प्रारम्भसे रही है। वैसे तो हमारे वेद, स्मृति और पुराण आदिमे विधि-निषेधके रूपमे प्रभु-सम्मित उपदेश ही प्रदान किये गये हे, परतु इन्ही शास्त्रो तथा इनके साथ-साथ नीतिसम्बन्धी-साहित्यमे रोचक कथाओके माध्यमसे सुहृद्-सम्मित उपदेश भी प्राप्त होते है, जो प्राय प्रभु-सम्मित उपदेशोसे अधिक प्रभावशाली हे।

यहाँ वेद-पुराण, महाभारत, पञ्चतन्त्र तथा हितोपदेश आदिसे नीतिसम्बन्धी रोचक आख्यान प्रस्तुत है। सर्वप्रथम नीतिमञ्जरीम वर्णित ऋग्वेदकी शिक्षाप्रद नीतिकथाएँ दी जा रही हे।

ऋग्वेद विश्वसाहित्यका सबसे श्रेष्ठ तथा प्राचीनतम ग्रन्थ है। यह भारतीय सनातन सस्कृति तथा परम्पराका मूल स्रोत है। वेदचतुष्टयीमे ऋग्वेदका मुख्य स्थान है। प्राय यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेदमे भी ऋचाओका ही गान हुआ है। न केवल भारतीय दर्शन, अध्यात्म, ज्ञान-विज्ञान और उपासनाके सूक्ष्मतम विचार इसमे गुम्फित है, अपितु विश्वसाहित्यके समग्र श्रेष्ठतम चिन्तन-बिन्दु इसीसे उद्भावित हे। भारतीय आर्ष ऋषि-महर्षियोकी ऋतम्भरा प्रज्ञा तथा दैवी उपासनासे उद्भूत वैदिक ऋचाओमे लौकिक कल्याण तथा पारमार्थिक अभ्युदयकी आदर्श बाते समाहित हे। ऋग्वेद मन्त्रद्रष्टा ऋषियोकी दीर्घकालीन समाधिजन्य प्रकृष्ट प्रज्ञाका मन्त्ररूपमे निदर्शन है। ऋषियोने मन्त्रोके दैवी स्वरूपका दर्शन किया था, इसीलिये प्रत्येक मन्त्रका एक अधिष्ठातृदेव तथा उस मन्त्रका मन्त्रद्रष्टा ऋषि रहता है। जो मन्त्र जिस ऋषिद्वारा दृष्ट किया गया, उस मन्त्रके वे ही ऋषि तथा उस मन्त्रमे जो प्रतिपाद्य देव है वे ही उस मन्त्रके देवता होते ह और उन्हींकी स्तुति आदिमे वह मन्त्र विनियुक्त होता है।

यद्यपि ऋग्वेद मुख्यत दैवीस्तुतिपरक है तथापि ऋषियोकी आर्ष वाणीमे अनेक नीतिपरक आख्यानोका—कथाओका भी सूत्ररूपमे समावेश हुआ है, जिनसे लोक-व्यवहारसम्बन्धी ज्ञानके साथ ही पारमार्थिक उन्नतिका पथ भी प्रशस्त होता है। आचार्य द्याद्विवेदने ऋग्वेदसे नीति-कथाओका सग्रहकर 'नीतिमञ्जरी' नामक एक विलक्षण ग्रन्थरत्नका प्रणयन किया है। प्रारम्भमे ही नीतिके विषयमे बताते हुए वे कहते है—

'एव कर्तव्यमेव न कर्तव्यमित्यात्मको यो धर्म सा नीति ।' अर्थात् यह करणीय है और यह अकरणीय हे—इस प्रकार बतानेवाला जो धर्म है, वही नीति कहलाता है।

इस ग्रन्थके प्रयोजन एव फलको बताते हुए वे कहते है—'इमा ज्ञात्वा धर्मे रतिरधर्मे विरतिर्भवति।' अर्थात् इस नीतिमञ्जरीके परिज्ञानसे धर्ममे अनुराग होता है और अधर्मसे विरति होती है। इसम प्रतिपादित कथाएँ अत्यन्त प्रेरणाप्रद ह। जीवनको सन्मार्गपर चलनेके लिये प्रेरित करती हे और कर्तव्याकर्तव्यका निर्देश करती हे। सूत्ररूपमे वर्णित उन्ही नीति-कथाओमेसे कुछको यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—सम्पादक]

नीतिमञ्जरीमे वर्णित ऋग्वेदकी शिक्षाप्रद नीति-कथाएँ

(१) परनिन्दा कभी न करे

स्वल्प भी निन्दा करना महान् पतनका कारण बनता है, यदि कहीं निन्दाका स्वभाव बन गया और परनिन्दाम रस आन लगे, आनन्द आने लगे तो समझना चाहिये कि इहलोक तो बिगड ही गया, परलोक भी बिगाड लिया। इसीलिये निन्दा-कर्म अत्यन्त ही निकृष्ट कर्म है दूसरेकी निन्दा करना मृत्युको वरण करनेके समान है। निन्दा करनेवालेक स्वभावम अन्य सभी दोष स्वत आ जात है और वह चोरी हिसा अनीति आदि सभी दुष्कर्मोमं प्रवृत्त हो जाता है। ऋग्वेदने हमे निर्देश दिया है कि कभी भी किसीकी स्वल्प भी निन्दा न करे।

इसी नीतिवचनको बल नामक एक असुरक माध्यमस ऋग्वेदमे[1] समझाया गया है। उस मन्त्रम बताया गया है कि

१-त्व वलस्य गोमतो ऽपावरद्रिवो बिलम्। त्वा दवा अबिभ्युपस् तुज्यमानास आविपु ॥ (१।११।५)

प्राचीन कालमे बल नामका एक महान् प्रतापी असुर था। अपने आसुरी स्वभावके कारण वह सदा दूसरोंकी निन्दा किया करता था। दूसरोंके गुणोंमें भी दोष-बुद्धि रखता था फलत छिद्रान्वेषणकी प्रवृत्तिने उसे असुरोंमें भी अधम बना दिया। ऐसे आसुर स्वभाववाले औरोंकी तो बात ही क्या भगवान् तथा सत पुरुषोंमें भी असूया-भाव रखते हैं। यही हाल बलासुरका हो गया। असूया-दोषने उसे चौर्यादि निन्द्य कर्मोंमें प्रवृत्त कर दिया। वह देवताओं तथा देवी सम्पदासे ईर्ष्या-डाह रखने लगा। इन्द्रादि देवों तथा देवलोककी गो-सम्पत्ति एव वैभवको देखकर वह बड़ा ही दु खी रहता। देवलोककी सम्पदाको प्राप्तकर वह देवोंको नीचा दिखाना चाहता था। प्रत्यक्ष-युद्धका साहस तो उसमें था नहीं, क्योंकि निन्दाके स्वभाववाले व्यक्तिमें आत्मविश्वासका सदा अभाव रहता है, वह सर्वदा सशंकित तथा भयभीत रहता है। उसने देखा कि 'देवताओंकी मुख्य सम्पत्ति गौएँ ही हैं और गौओंमें ही देवत्व प्रतिष्ठित है, गाएँ नहीं रहेंगी तो देवोंकी सत्ता भी नहीं रहेगी' ऐसा विचारकर उसने गौओंको चुरा लेनेका निश्चय किया और फिर उसने एक दिन देवलोकका सभी गौओंका अपहरण कर लिया एव एक पर्वतकी गुफामें उन्हें छिपा दिया। जब इन्द्रको बलासुरके ऐसा कुकृत्य ज्ञात हुआ तो उन्होंने देवगुरु बृहस्पतिजीसे परामर्श किया और फिर वे देवसेनाको लेकर उस स्थानपर गये जहाँ गौएँ छिपाई गयी थीं। उनके आदेशपर देवसेनाने समस्त गौओंको गुफासे बाहर निकाल लिया और इन्द्रने वज्रसे उस बलासुरका वध कर दिया।

इस प्रकार निन्दावादमें रत बलासुर चौरादि कर्मोंमें प्रवृत्त हो गया था और इसी कारण वह मारा भी गया। तात्पर्य यह है कि सभी असत्कर्मोंके मूलमें परनिन्दा, असूया, तथा दोष-बुद्धि ही मुख्य हेतु है, अत कल्याणकामी बुद्धिमान् व्यक्तिको चाहिये कि वह निन्दावादसे सदा दूर रहे और अच्छे कर्मोंमें ही प्रवृत्त रहे। असूया-दोषको ही भगवान्ने उद्वेगकारी वचन कहा है (गीता १७।१५) और वाणीके इस सयमको वाङ्मय तप कहा है।

नीतिमञ्जरीकारने ऋग्वेदकी इस नीति-कथाका इस प्रकार उल्लेख किया है—

> निन्दावादरतो न स्यात् परेषां नैव तस्कर ।
> निन्दावादाद्धि गाहर्ता शक्रेणाभिहतो बल ॥
> (११०)

(२) उत्तम पदार्थको अकेले कभी न खाये, बाँटकर ही खाये

भोजन करनेके विषयमें ऋग्वेद हमें यह शिक्षा देता है कि दूसरोंको श्रद्धापूर्वक देकर अवशिष्ट भाग स्वय ग्रहण करना चाहिये। ऐसा कभी न करे कि स्वय भोजन कर ले और दूसरा भूखा रह जाय। इस शिक्षामें आतिथ्यके साथ ही दूसरेके साथ प्रेम, सद्भाव, समता दया, परोपकार आदिका उच्च आदर्श निहित है। सत्पुरुषोंका, सतोंका तो यह स्वभाव ही होता है कि वे बिना दूसरेको दिये भोजन ग्रहण ही नहीं करते। सत्पुरुषोंसे प्राप्त वही भोग्य पदार्थ प्रसाद-रूप हो जाता है। देवताओं पितरों तथा मनुष्योंको उनका भाग न देकर स्वय अकेला भोजन करनेवाला अत्यन्त स्वार्थी होता है। उसका वह भोजन-कर्म पुण्यरूप न होकर पापरूप हो जाता है अत वह पापका ही भक्षण करता है—'केवलाघो भवति केवलादी।' (ऋग्वेद १०।११७।६)। इसी तथ्यसे सावधान करते हुए ऋग्वेदकी कतिपय ऋचाओंमें[1] एक सुन्दर कथा आयी है तदनुसार—

प्राचीन समयमें आङ्गिरस सुधन्वा नामके एक महर्षि थे। उनके तीन पुत्र हुए, जिनके नाम थे, ऋभु, विभ्वा तथा वाज। ये तीनों त्वष्टाके शिष्य बने। त्वष्टाने उन्हें शिल्पशास्त्र वास्तुशास्त्र तथा सरचना-सम्बन्धी सभी विद्याओंका उपदेश दिया। थोड़े ही समयमें उन्हें ज्ञान विज्ञान तथा कला आदि सभी विद्याएँ अधिगत हो गयीं और वे सभी कर्मोंके करनेमें निष्णात हो गये। उन्होंने देवताओंके लिये अनेक प्रकारके दिव्य अस्त्र-शस्त्रों, वाहनों तथा आयुधोंका निर्माण किया, इससे वे देवताओंके अत्यन्त प्रिय हो गये। वे तीनों अपने माता-पिताके अत्यन्त भक्त थे बड़े ही आज्ञाकारी थे। उनकी बड़ी ही श्रद्धा-भक्तिसे सेवा किया करते थे। उन्होंने

१ एक चमसं चतुर कृणोतन तद् वो देवा अब्रुवन् तद् व आगमम्। सौधन्वना यद्येवा करिष्यथ साक देवैर्यज्ञियासो भविष्यथ॥
(१।१६१।२ ऋग्वेद १।१६१ १—५ तथा १।२०।६ ४।३३।५ आदि द्रष्टव्य हैं।)

अपने तपोबलसे वृद्ध माता-पिताका युवा और सुन्दर रूपस सम्पन्न कर दिया, इससे दोनो माता-पिता अत्यन्त प्रसन्न हो गये उन्हाने तीनाका सूर्यके समान अत्यन्त कान्तियुक्त हानेका वर प्रदान किया (ऋग्वेद। १। २०। ४) ऋभुवाने अपनी शक्तिसे मृत गायको भी जीवितकर उस नित्य दोग्ध्री बना दिया। (ऋग्वेद १। १६१। ७)। इन्होने अनेक यज्ञाका अनुष्ठान किया। ये सदा सत्कर्म किया करत थे। इसी कारण मनुष्य होते हुए भी इन्हान देवत्व प्राप्त कर लिया ओर दवकोटिम प्रतिष्ठित हो गये।

अपने गुरु त्वष्टासे इन्ह एक दिव्य चमस (पात्र) प्राप्त हुआ था, जिसमे रखकर सोमरसका पान किया जाता था। देवकोटिमे हो जानेस इन तीनाको सोमपानका अधिकार प्राप्त था। एक दिन जब ये सामपानके लिये तेयारी कर रह थे, उसी समय देवताआने उनकी परीक्षाक लिय अग्निदेवको उनक पास भेजा। उन तीनोका रूप समान था दिखनम व एक-जेस ही दिखते थे। अत अग्निदवने भी अपना रूप ऋभुदेवताआ-जैसा ही बना लिया। उसे देखकर प्रथम तो ऋभुदवता सशकित हा गये कि यह हमारे ही समान चौथा कौन आ गया, यह हमसे ज्येष्ठ है या श्रेष्ठ अथवा कनिष्ठ। किंतु फिर दूसर ही क्षण उन्हाने उसे अपना भ्रातृरूप स्वीकार कर अपनका तीनक स्थानपर चार समझा आर उस दिव्य एक सामपात्र (चमस)-को अपनी सरचना-शक्तिसे चार रूपाम विभक्त कर सामरसक चार समान भाग किये और उसमसे प्रथम भाग अग्निका प्रदान करके शेप तीन भाग स्वय ग्रहण किया।

इस प्रकार ऋभु आदि तीनान उत्तम सामका समान भागमे विभक्त कर ग्रहण किया अकेले नहीं। इसी कारण व महान् हो गय और देवताआम उनकी महान् प्रतिष्ठा हा गयी। अत देवताआके इस उच्च आदर्शका अपने जीवनम ग्रहण करनेसे महान् शान्ति, सतोप तथा आनन्दकी प्राप्ति हाती हे और धीरे-धीरे उसम दवी सम्पदाका सनिवेश हा जाता हे। इस आख्यानने हम यह नीतिकी शिक्षा प्रदान की ह कि अपन जीवनम त्याग एव अपरिग्रहकी प्रतिष्ठा करनी चाहिय और धनका उपयोग त्यागपूर्वक ही करना चाहिय।

नीतिमञ्जरीमे इस वेदिक आख्यानको इस प्रकार कहा गया है—

विभज्य भुञ्जते सन्तो भक्ष्य प्राप्य सहाग्निना।
चतुरश्चमसान् कृत्वा त सोममृभव पपु ॥
(१। १०)

(३) माता-पिता सदा ही वन्दनीय है

माता-पिता, गुरु, देवता तथा सभी श्रेष्ठजन सदा ही वन्दनीय, पूजनीय तथा सेवनीय हे। माता-पिता सदा ही अपनी सतानका हित-चिन्तन कल्याण-चिन्तन करते रहते हैं। **मातृदवो भव, पितृदेवा भव** तथा **आचार्यदेवो भव** इत्यादि आपनिपदिक श्रुतियाँ इसी तथ्यको पुष्ट करती हें। व्यक्तिका चाहिये कि वह माता-पिता तथा गुरुम दववत् बुद्धि रखे। जिस प्रकार देवताके प्रति श्रद्धा-भक्ति सेवा-पूजा, आज्ञापालन, विनय एव प्रपत्ति आदिका भाव रहता है वेसा हा माता-पिताके साथ भी रखना चाहिय। वे साक्षात् प्रत्यक्ष दवता हे। ऐसा कोई भी कार्य न करे, जिससे उन्हे कोई कष्ट पहुँचे। प्रथम तो वे अपनी सतानका किंचित् भी कथमपि कोई अमङ्गल नहीं करना चाहते कदाचित् उनसे सतानके प्रति किसी कारणवश कोई अपराध बन जाता है तो उसका यह कर्तव्य है कि वह उसपर ध्यान न देकर पूर्ववत् श्रद्धा-भक्तिसे, विनय एव शीलस सम्पन्न हाकर उनकी सेवा करता रह। यही भारतीय सनातन सस्कृतिका उच्च नैतिक आदर्श हे।

ऋग्वदका एक आख्यान हम एसी ही नीतिपरक शिक्षा दता है जिसम यह बताया गया है कि पिताक द्वारा यूपम बाँध दिये जानेपर भी शुन शप नामक पुत्र मृत्युक भयसे नहीं अपितु दवताआस यूप-बन्धनसे मुक्तिक लिये इसलिय प्रार्थना करता है कि मृत्यु हा जानपर वह अपन माता-पिताक नित्य कैस दशन कर पायगा फलत उनकी सेवास वह सदाक लिय वञ्चित हा जायगा। दवता शुन शपकी प्रार्थनासे प्रसन्न हा उस बन्धन-मुक्तकर उनक वर प्रदान करत हें।

शुन शेपका यह सुन्दर आख्यान ऋग्वद (१। २४—३०) तथा ऐतरेय ब्राह्मण (अ० ३३)-म विस्तारस

प्रतिपादित है। जिसका साराश इस प्रकार है—

इक्ष्वाकुवशम उत्पन्न राजा हरिश्चन्द्र सतानरहित थे। उनकी सौ रानियाँ थी किंतु किसीसे भी उन्हें पुत्र न हुआ। इसस वे बहुत दु खी रहा करत थ। एक बार नारद और पवन नामक ऋषि उनके पास आय और वरुणदेवकी उपासनास पुत्र-प्राप्तिकी बात उन्ह बतलायी।

वरुणदेवकी उपासनासे राजाको एक पुत्र प्राप्त हुआ जिसका नाम 'रोहित' रखा गया। वरुणदेवने वर प्रदान करते समय राजास यह प्रतिज्ञा करवायी थी कि प्राप्त पुत्रद्वारा आप मरा यजन करग।

पुत्र उत्पन्न हानपर वरुणदेव राजा हरिश्चन्द्रके पास आये और उन्ह प्रतिज्ञाकी याद दिलायी। परतु पुत्र-मोहके कारण राजा हरिश्चन्द्र ऐसा न कर सक और उन्होने एक युक्ति उपस्थित करते हुए कहा—

हे देव! अभी पुत्रको उत्पन्न हुए दस दिन भी व्यतीत नहीं हुए ह। दस दिन तक अशौच रहता ह। अशौचम इसके द्वारा कस यज्ञ हागा। जब अशौच पूरा हो जायगा तब यज्ञ करूँगा। दस दिनक अनन्तर वरुणदव पुन आय। तब हरिश्चन्द्रन कहा—भगवन्! अभी इसके दाँत नहीं निकले ह दन्तविहीन यज्ञक योग्य नहीं हाता, अत दाँत निकलनपर यज्ञ करूँगा। वरुणदेव वापस चले गये। दाँत निकलनेपर वरुणदव पुन आये और बाल अब ता यज्ञ करो। इसपर हरिश्चन्द्रने कहा—प्रभो! यह क्षत्रिय बालक ह, जबतक इसका सनाह (धनुष-बाण धारण करना)-कर्म नहीं हा जाता तबतक यह असस्कृत ही रहेगा अत यजन करना ठीक नहीं। वरुणदव पुन वापस चले गय।

यथासमय रोहितका सनाह-कर्म सम्पन्न हो गया और पिता हरिश्चन्द्रने रोहितको सारी बात बता दीं कि यज्ञके निमित्त तुम्हारा जन्म हुआ ह, अत यज्ञ करनेकी अनुमति दो, किंतु यूप-बन्धनस भयभीत वह बालक धनुष-बाण लिय वनको चला गया।

इसी अवधिम वरुणदेव हरिश्चन्द्रके पास आये और उसका पुत्र जगल चला गया जानकर, वे अत्यन्त क्रुद्ध हा गय और उन्होने प्रतिज्ञा-भङ्ग करनेके कारण हरिश्चन्द्रको भयकर जलोदर रोग होनेका शाप द दिया। शापके प्रभावसे हरिश्चन्द्र जलोदररोगस ग्रस्त हो दु खित हो गय।

वनम जब रोहितको यह समाचार ज्ञात हुआ तो वह पिताके पास जानेक लिये प्रस्थित हुआ, किंतु उसी समय इन्द्रने ब्राह्मणरूपम उपस्थित होकर उसे जानेसे रोक दिया। इसी प्रकार इन्द्रके द्वारा बार-बार रोके जानेपर रोहित पाँच वर्षोतक जगलम ही विचरण करता रहा और पिताके रोग-निवारणका उपाय सोचता रहा। इन्हीं दिनो भ्रमण करते समय उस वनम एक क्षीणकाय ऋषि दिखायी पडे। वे सुयवसके पुत्र थे और उनका नाम था अजीगर्त। वे क्षुधा और प्याससे व्यथित थे। अजीगर्तके तीन पुत्र थ जिनके नाम थे—शुन पुच्छ, शुन शेप और शुनोलाङ्गूल। अजीगर्त अत्यन्त ही निर्धन थे। रोहितने उनका परिचय प्राप्त किया और सौ गौओके बदले उनसे अपना पुत्र बेच देनेका निवेदन किया। सौ गौओकी सम्पदा प्राप्त होगी, इस लोभमे अजीगर्तने रोहितकी बात स्वीकार कर ली, किंतु तीन पुत्रोमसे यूप-बन्धनके लिये किसे दिया जाय, इस निर्णयके लिये अजीगर्तने अपने बडे पुत्रको देना अस्वीकार कर दिया, क्योंकि बडा पुत्र उनको प्रिय था। छोटे पुत्रको देना माताने स्वीकार नहीं किया शेष रह गया मध्यम पुत्र शुन शेप। तब सौ गौओके बदले माता-पिताने अपने मध्यम पुत्र शुन शेपको रोहितके हाथों बेच दिया।

शुन शेपको लेकर रोहित अपने पिताके पास चला आया। तब हरिश्चन्द्रने वरुणदेवका आवाहन किया और वरुणदवकी आज्ञासे उन्होंने शुन शेपको निमित्त बनाकर राजसूय यज्ञ प्रारम्भ किया। भयभीत एव कातर शुन शेपको यूप (स्तम्भ)-मे जब बाँधनेको कोई तैयार नहीं हुआ तो अजीगर्तने पुन सौ गाएँ लेकर अपने पुत्रको स्वय यूपमें बाँध दिया। यह देखकर शुन शेप दु खी तो हुआ किंतु उसे मृत्युका उतना दु ख नहीं हुआ जितना दु ख माता पिताके दर्शनसे च्युत हो जानेका। उसने मन-ही-मन निश्चय किया कि वह देवताओकी स्तुतिद्वारा अपनी रक्षा करेगा। शुन शेप कहने लगा—मैं किस देवताकी उपासना करूँ जो मुझे अमरता प्रदान करके अपने माता-पिताका दर्शन कराता रहेगा। तब सर्वप्रथम उसने प्रजापति देवकी प्रार्थना की। इस आशयका भाव ऋग्वेदकी इस ऋचामें सन्निहित है—

कस्य नून कतमस्यामृताना मनामहे चारु देवस्य नाम।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च॥
(ऋग्वेद १।२४।१)

प्रार्थना तथा उसके उदात्तभावसे प्रसन्न हो प्रजापति देव प्रकट हुए और बोले—तुम अग्निकी उपासना करो। शुन शेपने अग्निकी स्तुति की तब अग्निदेवने प्रकट होकर बतलाया कि सवितादेवकी उपासना करो। सवितादेवने कहा—हे शुन शेप! तुम वरुणदेवताके निमित्त बन्धनमे बाँधे गये हो अत उन्हींकी स्तुति करो। तब शुन शेपने वरुणदेव, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार तथा इन्द्रकी स्तुति की। सभी देवता प्रसन्न हो प्रकट हो गये और उन्होने उसे पाशसे मुक्त कर दिया। देवराज इन्द्रने उसे एक सुवर्णमय रथ प्रदान किया। देवताओके प्रसन्न हो जानेसे राजा हरिश्चन्द्रका जलोदररोग भी दूर हो गया और देवताओके अनुग्रहसे विश्वामित्रने शुन शेपसे यज्ञका अनुष्ठान पूर्ण कराया। इस प्रकार शुन शेपको महर्षि विश्वामित्रकी कृपा प्राप्त हो गयी। देवताओने निर्णय दिया कि पिताके द्वारा त्यक्त हो जानेके कारण और विश्वामित्रद्वारा रक्षित होनेके कारण आजसे यह शुन शेप विश्वामित्रका पुत्र कहलायेगा।

देवताओके द्वारा दिये जानेके कारण (देवैर्दत्तात्) इसका 'देवरात' यह नाम भी होगा। तभीसे शुन शेप विश्वामित्रके सभी पुत्रोमे ज्येष्ठ पुत्रके रूपमे प्रसिद्ध हुए।* इस शुन शेप आख्यानको बन्धन तथा पाशसे मोचन करनेवाला बताया गया है, इसमे मातृ-पितृ-भक्तिका उदात्त स्वरूप प्रतिपादित हुआ है।

नीतिमञ्जरीकारने इस कथाका संकेत इस प्रकार किया है—

पितरौ हि सदा वन्द्यौ न त्यजेदपराधिनौ।
पित्रा बद्ध शुन शेपो ययाचे पितृदर्शनम्॥
(१।११)

(४) शुभाशुभ कर्मका फल अवश्य ही भोगना पडता है

वेदका यह निश्चित सिद्धान्त है कि प्रत्येक व्यक्तिको उसके द्वारा किये गये कर्मका फल अवश्य ही भोगना पडता है। शुभ कर्मका फल शुभ और अशुभ कर्मका फल अशुभ मिलता है। यह सिद्धान्त केवल मनुष्यापर ही घटित नहीं होता प्रत्युत देवता भी इस परिधिमे आते है। जब देवताओको भी कर्मका फल मिलता है तो फिर मनुष्योको मिले तो इसमे क्या आश्चर्य! ऋग्वेदकी एक ऋचा (१।३५।९)-मे संकेत आया है कि अपने अशुभ कर्मके कारण सवितादेवको हिरण्यपाणि होना पडा। (हिरण्यपाणि सविता)। आख्यान इस प्रकार है कि एक बार जब एक देवयागमे अध्वर्युओने पुरोडाश सवितादेवके निमित्त प्रदान किया तो उस समय सवितादेवने अमन्त्रक ही वह पुरोडाश अपने हाथमे ग्रहण कर लिया। इस निषिद्ध कर्मके फलस्वरूप उनका वह हाथ कट गया। बादमे अध्वर्युओने स्वर्णनिर्मित हाथको प्रतिष्ठित किया। इसी प्रकार उस यज्ञमे भग देवताको नेत्रविहीन होना पडा और पूषादेवको दन्तविहीन होना पडा।

अत कल्याणकामी व्यक्तिको चाहिये कि वह शास्त्र विहित एवं प्रशस्त उत्तम कर्मोका ही अनुष्ठान करे, निषिद्ध और निन्द्य कर्मोका अनुष्ठान कभी भी न करे।

नीतिमञ्जरीमे इस आख्यानका संकेत इस प्रकार दिया गया है—

शुभाशुभं कृतं कर्म भुञ्जते देवता अपि।
सविता हेमहस्तोऽभूद्भगोऽन्ध पूषकोऽद्विज॥
(१।१५)

(५) याच्ञा लाघवकरी होती है

याच्ञा करनेसे व्यक्तिकी स्वरूपहानि होती है। माँगनेवालेको सर्वदा नीचा होना पडता है। इस माँगनेके भावमे मूलत व्यक्तिकी कामना ही कारण बनती है। इसीलिये सकाम भावका निषेध किया गया है। व्यक्तिका दीनता प्रकट करना ठीक नहीं इससे हीनभावनाका उदय होता है और जीवनमे नैराश्य आ जाता है। दैन्यभाव केवल

* इस वैदिक कथाका विस्तार ब्रह्मपुराण अ० १०४ तथा १५० देवीभागवत (७।अ० १४—१६) एवं वायुपुराण (अ० ९१) आदिमे बडे ही रोचक ढगसे हुआ है।

भगवान्के समक्ष रखना चाहिये उस दीनताम भी मूलत शरणागतिका ही भाव रहता है, विनय और शील रहता है। यह दैन्यभाव कामनापरक नहीं, अपितु प्रपत्तिपरक रहता है। इसीलिये काम क्रोध, लोभ आदिके परित्यागकी बात निर्दिष्ट हैं। वेद बताता है कि यह सिद्धान्त केवल मनुष्यापर ही नहीं अपितु देवता भी इससे वञ्चित नहीं हैं। ऋग्वेदने देवराज इन्द्रका दृष्टान्त देते हुए बताया है कि एक बार देवराज इन्द्रने लोभके वशीभूत हो कण्व ऋषिके पुत्र महर्षि मधातिथिसे सोमकी याचना की। मधातिथिने कहा—देवराज इन्द्र! यदि तुम मेषका रूप धारण करो तो तुम्हें सोमपान करनेको मिल सकता है। चूँकि इन्द्र उस समय सोम लोलुप हो गये थे अत उन्होंने अपना देवरूप छोड़कर क्षुद्र मेषका रूप धारण कर लिया। इस प्रकार देवराज इन्द्रको सोमके लिये मेषका रूप धारण करना पड़ा उनको जो ऐश्वर्य-स्वरूप था उसे छोड़कर नीचा बनना पड़ा—अति लघु बनना पड़ा। तात्पर्य यह है कि जब ऐश्वर्यसम्पन्न, शक्तिसम्पन्न देवताओंको भी याचना करनेसे छोटा बनना पड़ता है तो सामान्य मनुष्यकी क्या बात है? अत याञ्चा करना ठीक नहीं। ऋग्वेदके प्रथम मण्डलके ५१वें सूक्तकी प्रथम ऋचामें इस आख्यानका वर्णन हुआ है।

(६) संतोंको परोपकारमें ही सुख मिलता है

यूँ तो सच्चे संत महात्मा, साधु पुरुष, ज्ञानी, योगी एवं भक्त आदिको किसी भी सुखकी अभिलाषा नहीं, किसी आनन्दकी चाह नहीं, किसी वस्तुकी इच्छा नहीं। वे तो आप्तकाम पूर्णकाम रहते हैं और भगवच्चिन्तनके आनन्दोल्लासमें सदा निमग्न रहते हैं। उनसे जो भी क्रियाएँ बनती हैं, सब परमार्थके लिये ही होती हैं, स्वार्थके लिये नहीं। उनमें स्वका भान ही नहीं रहता केवल परहित-चिन्तन और सबके कल्याण-मङ्गलकी भावनासे वे परिपूरित रहते हैं। सुख-दु खके द्वन्द्वोंसे वे सदा परे रहते हैं। समताकी स्थितिमें रहते हैं। न उन्हें सुख होता है और न दु ख तथापि उन्हें सुख या आनन्द तभी मिलता है जब वे संसारके दु खी प्राणियोंके दु खको दूर करते हैं। इसमें वे जो कर्म करते हैं परिश्रम करते हैं, उसी परिश्रम अथवा कर्म करनेमें उन्हें परम आनन्द प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि दूसरेके कष्टको दूर करनेमें जो परिश्रम करना पड़ता है, वह परिश्रम ही सज्जनोंका—सत्पुरुषोंका सुख है, आनन्द है। इसलिये यह समझना चाहिये कि यदि परोपकार करनेमें परहित-चिन्तनमें आनन्दकी प्रतीति हो संतोष मिले तो साधुताका प्रवेश हो रहा है, सत्पुरुषोंके सद्गुण आ रहे हैं और भगवान्की कृपा हो रही है। इसके विपरीत यदि दूसरेको कष्ट पहुँचानेमें आनन्द मिलता हो तो समझना चाहिये कि आसुरी भावका प्रवेश हो रहा है और हम भगवत्प्राप्तिसे दूर होते जा रहे हैं।

वेदका आख्यान हमें प्रेरित करता है कि परोपकार करनेमें दूसरोंका कष्ट दूर करनेमें ही सदा निरत रहना चाहिये, इस कार्यमें जो भी परिश्रम करना पड़े कष्ट झेलना पड़े उसे दु ख या परिश्रम नहीं समझना चाहिये क्योंकि यही परम सुख है सफल परिश्रम है और भगवान्की संनिधिमें ले जानेवाला है। केवल स्वार्थके लिये किया गया परिश्रम दु खरूप है, पतनकारी है। ऋग्वेदकी दो ऋचाएँ (१।८५।१०-११) बताती हैं कि गोतम नामक एक महान् तपस्वी ऋषि थे। वे नित्य जप, तप, अनुष्ठान और भगवत्साधनाकी समाधिमें निरत रहते थे। इसी साधनामें वे अत्यन्त कृशकाय हो गये थे उन्हें अपने शरीरका भी ध्यान नहीं था। किंतु एक बार पिपासाने उन्हें अत्यन्त व्यथित कर दिया। आस-पास पानी कहीं था नहीं। घनघोर जंगल तथा पर्वतोंकी ऊँची-ऊँची चोटियाँ थीं। गोतम ऋषि पानीके लिये साधन-भजन कैसे छोड़ते। उन्होंने अपना भजन नहीं छोड़ा और मरुत्-देवोंका आवाहन किया। स्तुतिसे मरुद्गण प्रकट हो उनके समीप उपस्थित हुए तब गोतम ऋषिने उनसे पिपासा शान्त करनेके लिये जल प्रदान करनेको कहा।

मरुत्-देवोंने देखा कि आस-पास कहीं जल नहीं है किंतु ऋषिके कष्टको तो दूर करना ही है। ज्ञात हुआ कि पर्वतके दूसरी ओर एक कूप है। महर्षिको आश्वस्त कर मरुद्गण वहाँ गये जहाँ जल था। मरुतोंने यह निश्चय किया

कि चाहे कितना ही श्रम क्यों न करना पड़े इस कूप (कुएँ)-को ही ऋषिके पास पहुँचा दें, किंतु यह कोई सामान्य बात थी नहीं। उन्होंने अपने विशेष बलसे उस समूचे कुएँको ही उखाड़ लिया और उसे लेकर उस दिशाकी ओर चल पड़े जहाँ ऋषि थे। मार्गमें पर्वतके होनेसे उन्हें रुक जाना पड़ा, तब उन्होंने उस पर्वतको भी काट डाला और कुएँको लेकर वे ऋषिके आश्रमके समीप आ गये। उन्होंने वहाँ कूपको स्थापित कर दिया और फिर उसमें जलका भी आवाहन किया। कूपका वह जल अत्यन्त ही दिव्य तथा अमृतस्वरूप था। मरुतोंने महर्षिसे प्रार्थना की—भगवन्! यह कूप तथा कूपजल आपको निवेदित है, जल ग्रहण करनेकी कृपा करें। गोतम ऋषिने ज्यों ही जल ग्रहण किया त्यों ही वे संतृप्त हो गये, उन्हें परम आनन्द हुआ।

इस महान् परिश्रममें मरुतोंको कष्ट नहीं अपितु अत्यन्त सुखकी प्राप्ति हुई। उसे उन्होंने परम आनन्द माना, क्योंकि परोपकारके परिश्रममें ही सत्पुरुषोंको सुख मिलता है।

नीतिमञ्जरीकारने इस उदात्त आख्यानको इस प्रकार उपन्यस्त किया है—

सतां परतृपा हन्तु यः श्रमस्तत्सुखं भवेत्।
मरुतः कूपमुत्क्षिप्य गोतमायाम्बु शं ददुः॥
(१। २३)

(७) निषिद्ध कर्मोंको कदापि न करे भले ही वे सुखकर मालूम पड़ें

निषिद्ध कर्मोंका आचरण नहीं करना चाहिये। श्रुति-स्मृति आदि शास्त्रोंमें जो कर्म विहित हैं, जिन्हें करनेका निर्देश है, उन्हींको करना चाहिये। यदि निषिद्ध कर्मोंमें सुख भी मिलता हो तो वास्तवमें वह सुख भी पतनकारी ही है। वह सुख नहीं अपितु महान् दुःखरूप है। ऐसे परिणाममें दुःखरूप तथा सुखकी प्रतीति देनेवाले कर्म सदा त्याज्य हैं। ऐसे निषिद्ध कर्मोंमें यदि सुख मालूम पड़े तो वह अज्ञानके कारण ही है। इसलिये जो अनुक्त कर्म हैं उनका आचरण नहीं करना चाहिये भले ही वे सुखकारक हों, क्योंकि कर्तव्य-अकर्तव्यमें शास्त्रकी मर्यादा और शास्त्रका प्रमाण ही सर्वोपरि है। जैसे शास्त्रोंका निर्देश है कि परस्त्रीसंभोग-जनकादि सुख और विषयेन्द्रिय-संयोगजन्य सभी सुख क्षणिक एवं पतनकारी हैं। अतः वे निषिद्ध कर्म हैं, अनुक्त हैं तथापि सामान्य जन उन्हें सुखकारी समझकर यदि उनमें प्रवृत्त होता है तो पतनको प्राप्त होता है।

ऋग्वेद (१। १०४। ५)-में बताया है कि कुत्स नामक एक ऋषि थे उन्हें परस्त्रीमें सुख प्रतीत हुआ और इसी शास्त्र-निषिद्ध कर्माचरण (परस्त्रीसेवन)-के परिणामस्वरूप वे महान् ऋषि भी अत्यन्त अस्पृश्य हो गये। इसीलिये कौन-सा कर्म सुखरूप है कौन दुःखरूप इसमें वेदादिका निर्णय ही सर्वोपरि है। स्वयंकी सुखानुरूप एवं दुःखानुरूप अनुभूति मिथ्या भी हो सकती है। अतः शास्त्रका ही अवलम्बन लेना चाहिये। गीतामें भगवान्ने शास्त्र-मर्यादाको ही सर्वोपरि बताया है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

नीतिमञ्जरीकारने इस सिद्धान्त तथा उसके आख्यानको इस रूपमें व्यक्त किया है—

अनुक्तं च न कर्त्तव्यं सुखरूपं भवेद्यदि।
परस्त्रीणां हि संभोगात्कुत्स आहति निष्पपी॥
(१। २७)

वेदका तो यहाँतक कहना है कि कल्याणकामी पुरुषको श्रुति तथा स्मृति आदिमें कहे गये आचारका पालन करना चाहिये, इससे उसे देवत्व प्राप्त होता है। वह मनुष्य होते हुए भी देवरूप हो जाता है। आख्यान बताते हुए ऋग्वेद (१। ११०। ४)-का स्पष्ट उद्घोष है कि महर्षि सुधन्वाके तीन पुत्र जो ऋभु, यज्वा और वाज थे मनुष्य होते हुए भी अपने यज्ञादि विहित कर्माचरणसे सदाचारसम्पन्न होकर देवताओंमें प्रतिष्ठित हो गये। इसीलिये वेदोक्त नैतिक सदाचारकी अतीव महिमा है।

(८) अच्छे कार्यमें—धर्मकार्यमें विलम्ब न करे

विद्वानोंने इस शरीरको जलके बुलबुलेकी भाँति क्षणभंगुर एवं नाशवान् बतलाया है। 'अगले क्षण जीवन बना रहेगा' इसका कोई प्रमाण नहीं है अर्थात् प्राणियोंका जीवन प्रतिक्षण विनाशकी ओर जा रहा है। अगले ही क्षण क्या हो जायगा यह किसीको नहीं मालूम इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह निरन्तर यह चिन्तन करता रहे

कि किस प्रकार किस उपायसे कल्याण हो सकता है और जब उस आत्मकल्याणका साधन मालूम हो जाय तो फिर उसी साधनमें लग जाय अन्य कुछ भी न करे, वह साधन है धर्म एवं उसका पालन। धर्मकार्य—सत्कार्य कलके लिये नहीं टालना चाहिये। कल किया जानेवाला आज ही पूरा कर लेना चाहिये। जिसे सायंकालमें करना है, उसे प्रातःकालमें ही कर लेना चाहिये, क्योंकि मृत्यु यह नहीं देखती है कि इसका काम अभी पूरा हुआ या नहीं। व्यक्ति तो मनसूबे बनाता रहता है और मौत उसे लेकर चल देती है। मन अत्यन्त चञ्चल है। एक क्षण जो विचार आता है दूसरे ही क्षण बदल जाता है अतः जिस क्षण अच्छा विचार बने उसे उसी क्षण कार्यरूपमें सम्पन्न करनेका यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिये। इसी आशयको व्यक्त करनेवाली ऋग्वेदकी एक ऋचा इस प्रकार है—

न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद् वेद यदद्भुतम्।
अन्यस्य चित्तमभि संचरेण्यमुताधीतं वि नश्यति॥

(ऋग्वेद १।१७०।१)

इस ऋचामें अन्तर्भावित कथामें यह बताया गया है कि महर्षि अगस्त्यने इन्द्रके निमित्त हवि तैयार किया किंतु दैववश उस हविको उन्होंने मरुद्‌गणोंके निमित्त विनियुक्त कर दिया। इसपर इन्द्र दुःखी हो गये और कहने लगे आज तो मुझे यह हवि मिली नहीं कल मिलेगी इसकी क्या आशा की जा सकती है। जो आज नहीं मिला, वह कल मिल जायगा ऐसा कौन जान सकता है, अगले क्षणका कोई भरोसा नहीं। आज अगस्त्यने मेरे लिये हवि बनाया, लेकिन दूसरे ही क्षण उनका विचार बदल गया, यह हवि उन्होंने दूसरेको प्रदान कर दी, कल उनका हवि-प्रदानका विचार बनेगा कि नहीं, यह भी निश्चित नहीं है और यह भी अनिश्चित है कि कल जीवन रहेगा या नहीं, क्योंकि अस्थिर बुद्धिवालेका मन चञ्चल होता है।

इसीलिये मनकी चञ्चलता और जीवनकी क्षणभंगुरता समझकर सत्संकल्पको तत्क्षण ही सम्पन्न कर लेना चाहिये क्योंकि कल किसीने देखा नहीं।

मृत्युके साथ जिसकी मित्रता हो और जिसने अमृतपानकर अमरता प्राप्त कर ली हो, वही यह कह सकता है कि यह मैं कल करूँगा यह वस्तु मुझे कल प्राप्त होगी। अतः वेद बताता है कि प्रतिक्षण विनाशको प्राप्त हो रहे जीवनके प्रत्येक क्षणका सदुपयोग करना चाहिये।

नीतिमञ्जरीमें इसी बातको बड़े ही सुन्दर ढंगसे बताया गया है—

विलम्ब्य नाचरेद्धर्मं चलं चित्तं विनश्यति।
इन्द्रेणागस्त्यसंवाद एष धर्म उदाहृतः॥

(२।५८)

(९) परुष-वचन कभी न बोले

वेदका आदेश है कि व्यक्तिको परुष—कठोर वचन कभी भी नहीं बोलने चाहिये। सदा मधुर, हितकारी प्रिय और सत्य वचन ही बोलने चाहिये। कोमलताके अत्यन्त अभावको या कठोरताको नाम पारुष्य है। परुषता मन वाणी और शरीर—तीनों प्रकारसे होती है। किसीको गाली देना, कटुवचन कहना, ताने मारना, उद्वेगकारी वचन बोलना आदि वाणीकी कठोरता या वाक्पारुष्य है। विनयका अभाव शरीरकी कठोरता तथा क्षमा और दयाके विरुद्ध प्रतिहिंसा और क्रूरताके भावको मनकी कठोरता कहते हैं। परुष वचन विष-बुझे बाणके समान होते हैं, जैसी चुभन इन विषमय बाणोंके लगनेसे शरीर और मनमें होती है वैसी ही पीड़ा बल्कि उससे भी अधिक पीड़ा दूसरेके प्रति कठोर वचनोंके प्रयोग करनेसे उसे होती है। अतः वाणीका प्रयोग अत्यन्त सोच-समझकर बड़ी ही सावधानीसे करना चाहिये। वाणीमें सरस्वतीका अधिष्ठान रहता है। अपशब्दोंके प्रयोगसे वागीश्वरी देवी भी कुपित हो उठती हैं और इसका परिणाम भी प्रयोक्ताको भुगतना पड़ता है।

ऋग्वेदमें कथा आयी है कि वर्ची नामक एक असुर था। वह नित्य रात-दिन देवराज इन्द्रके प्रति परुष वचनोंका प्रयोग किया करता था, जो सर्वथा असह्य थे। इससे देवराज इन्द्र अत्यन्त कुपित हो उठे। तब एक दिन उन्होंने अपने वज्रसे वर्ची तथा उसका सम्पूर्ण पुत्र-पौत्र एवं भृत्यादि दीर्घ-सम्पदाको समाप्त कर डाला। इस प्रकार वेद बताता है कि वाक्पारुष्य दोषसे महान् अनिष्ट होता है अतः प्रिय लगनेवाली और सत्यतासे परिपूर्ण वाणीका प्रयोग करना चाहिये। वेदकी ऋचा इस प्रकार है—

अध्वर्यवो य शत शम्बरस्य
पुरो विभेदाश्मनेव पूर्वी ।
यो वर्चिन शतमिन्द्र
सहस्रमपावपद् भरता सोममस्मै॥

(ऋग्वेद २।१४।६)

नीतिमञ्जरीकारन उपर्युक्त नैतिक सिद्धान्तका इस प्रकार व्यक्त किया है—

क्षिपेद्वाक्यशरान् घारान् न पारुष्यविषप्लुतान्।
वाक्पारुष्यरुपा चक्र इन्द्रो वर्चिकुलक्षयम्॥

(२।६२)

(१०) दूसरेके ऋणको चुकानेवाले महान् पद प्राप्त करते है

ऋणी व्यक्ति महान् कष्टम रहता ह। वह अनेक प्रकारक अभावाम जीते हुए सर्वत्र अपमान प्राप्त करता ह। ऐसे व्यक्तिपर दयाकर जो उसे ऋणस मुक्त कर देता है, उसका कर्ज स्वय चुका दता ह, वह मनुष्यामे राजाके समान सुशाभित हाता है। वेदकी कथा है कि कूर्म नामक ऋषिके पिताका नाम था गृत्समद। वे ऋणक बोझसे अत्यन्त दु खी हो गय थे। तब उन्हाने ऋणसे मुक्ति पानेके लिये ऋणमाचक वरुणदेवकी स्तुति की ओर प्रसन्न हाकर वरुणदेवने उन्ह ऋणमुक्त कर दिया तथा यथेच्छ धन भी प्रदान कर दिया। इससे वरुणदव आर भी महनीय हा गय। वरुणदवके समान ही अन्य काई सामान्य जन भी किसी अन्यको ऋणसे मुक्त कर देता हे तो वह अत्यन्त प्रशसनीय हाता ह। सत्पुरुषाम वह राजवत् शाभा पाता है।

ऋषिद्वारा ऋणापदानक लिये वरुणकी जो स्तुति की गयी वह ऋग्वदके द्वितीय मण्डलक २८वे सूक्तम निरूपित है। वहाँ अनुक्रमणिकाम निरुपित है कि ऋषिद्वारा स्तुत एकादश ऋचाआके पाठस ऋण दारिद्र्य दु स्वप्न आदिका नाश होता है और ऐश्वर्यकी प्राप्ति होती हे।

(११) सद्-गृहिणीयुक्त स्थान ही गृह कहलाता है

ऋग्वदन उसी स्त्रीको नारी कहा हे जो पतिवल्लभा तथा पतिका अनुगमन करनेवाली होती है। ऐसी नारी ही सद्गृहिणी कहलाती हे ओर ऐसी गृहिणीसे सम्पन्न घर ही गृह कहलाता ह। लकडी-पत्थर आदिसे निर्मित स्थान गृह नहीं कहलाता, वह तो गृह होते हुए भी शून्य स्थानक समान है। कदाचित् गृह नारीपदभाक् न हो तो वह गृह गृह नहीं, अपितु कलह-स्थान है। यदि सद्-गृहिणी साथम हा ता वृक्षके मूलम स्थित हुए पतिका वह स्थान भी मन्दिरके समान समझना चाहिये, क्योकि सती स्त्री जहाँ रहती ह वहाँ सभी सुख-समृद्धियाँ, सम्पत्तियाँ स्वयमेव चली आती हैं। सती स्त्री देवीरूपा ह लक्ष्मीस्वरूपा है। एसी स्त्रीस रहित प्रासाद भी अरण्यके समान ही है। ऋग्वेदके तीसरे मण्डलके ५३वें सूक्तम वृत्तान्त आया है कि यज्ञादिम इन्द्रदवताका आवाहन किया गया ओर हवि-ग्रहणके अनन्तर गृहके लिय प्रयाणकालके समय महर्षि विश्वामित्र इन्द्रका गृह एव गृहिणीकी महिमा बताते ह। ऋग्वेदने स्पष्ट किया है कि कल्याणी स्त्रीसे युक्त स्थान चाहे वह जगल ही क्या न हा उत्तम गृह ही ह, क्याकि ऐसी स्त्रीसे सम्पन्न स्थान समस्त कल्याण-मङ्गलके जनक होते हें। इसी बातका नीतिमञ्जरीम इस प्रकार कहा गया है—

न गृह काष्ठपाषाणैर्दयिता यत्र तद् गृहम्।
विश्वामित्रोऽब्रवीच्छक्रमेव यज्ञेन तर्पितम्॥

(३।६८)

(१२) महान् लोगोका ही साथ करना चाहिये

वदन बताया है कि सत्पुरुष ही महान् पुरुष होते ह। जीवनम ऐसे महापुरुषोका साथ करना चाहिये। ऐसे ही सद्गुणसम्पन्न पुरुषास मित्रता रखनी चाहिय ओर ऐसे ही श्रेष्ठ पुरुषाक द्वारा आचरित व्यवहारको स्वय भी अपनाना चाहिये इसीम जीवनकी सफलता है। इसके विपरीत असत्-जनोका साथ करने, उनके साथ मित्रता करने आर उनके द्वारा प्रदर्शित मार्गपर चलनेसे अध पतन हाता ह। जो महान् पुरुषाका सग करते हैं, वे स्वय भी महान् हो जात हैं। उनका आश्रय रखनेवाले दूसराका आश्रय दनवाल बन जाते है।

ऋग्वेदकी एक ऋचा[1] में आया है कि राजर्षि रुरुके कुत्स नामवाले एक पुत्र थे। एक बार कुत्स सग्राममे शत्रुओद्वारा पराजित कर दिये गये। उस समय अशक्त रुरुने शत्रुओके विनाशके लिये महान् देव इन्द्रका आवाहन किया। देवराज इन्द्र रुरुके घर आये और उन्होने उनके शत्रुओको मार गिराया। अनन्तर कुत्स और इन्द्रमे अत्यन्त प्रेम हो गया, मित्रता हो गयी। देवराज इन्द्र रुरुको देवलोकमे अपने प्रासादमे ले गये और रुरुको अपने ही समान वैभव एव रूप-सम्पत्तिसे सम्पन्न कर दिया। अब तो इन्द्र और रुरुमे समानता हो गयी। वे बिल्कुल एक-समान ही दीखने लगे। वैसा ही रूप वैसे ही वस्त्राभूषण सभी कुछ एक-जैसा। इधर जब देवराज इन्द्रकी पत्नी राजप्रासादमे आयीं तो वे दो इन्द्रोको देखकर सदेहमे पड गयीं कि इनमे वास्तविक इन्द्र कौन हैं?

इस कथानकका तात्पर्य है कि सामान्य मनुष्य योनिवाले रुरने महान् इन्द्रके साथ मित्रता की उनका सग किया तो वे इन्द्रसदृश ही हो गये। उनका पराक्रम वैभव ऐश्वर्य इन्द्रतुल्य महान् हो गया अत कल्याणकामी व्यक्तिको चाहिये कि उसे यदि महान् बनना है तो अच्छे लोगोका साथ करे, क्योकि सज्जनोका साथ कल्याणकारी है। आचार्य द्याद्विवेद इस आख्यानको बताते हुए कहते हैं—

महद्भि स्वीकृता सख्ये महत्त्व प्राप्नुवन्ति ते।
इन्द्रेण स्वीकृत कुत्स इन्द्रसादृश्यमाप्तवान्॥
(३।७)

(१३) आत्मश्लाघा कभी न करे

नीति बताती है कि सभी सद्गुणोसे सम्पन्न होते हुए भी व्यक्ति जब स्वय अपने गुणोका बखान करता है आत्मप्रशसा करता है तो वह आत्मश्लाघा उसे गुणहीन बना देती है। सच्चा गुणवान् व्यक्ति आत्मश्लाघाकी बात तो दूर रही, दूसरेके द्वारा अपनी प्रशसा होनेपर भी लज्जित-सा हो जाता है उसमे विनयकी पराकाष्ठा रहती है। ऋग्वेदकी आख्यायिकामे आया है कि एक बार वामदेव ऋषि इन्द्र-स्तुतिको अपनी स्तुति समझकर सबसे स्वय कहने लगे कि मैं ही प्रजापति मनु हूँ, मैं ही सबका प्रेरक सविता देव हूँ, मैं ही मेधावी विप्र कक्षीवान् हूँ, मैं ही अर्जुनीका पुत्र कुत्स ऋषि हूँ और मैं ही क्रान्तदर्शी उशना हूँ अर्थात् सब कुछ मैं ही हूँ, इसलिये हे जनो! मुझे सर्वात्मा जानो (ऋग्वेद० ४।२६।१)। बादमे इन्द्र-स्तुतिका ज्ञान होनेपर वे अत्यन्त लज्जित हो गये। अत अपनी प्रशसा स्वय करनेसे लज्जित होना पडता है। इसीलिये आत्मश्लाघा कभी न करे। नीतिमञ्जरीमे इसी बातको बताते हुए कहा गया है—

न स्तुयात् स्वयमात्मान गृहीत्वा वै निजान् गुणान्।
स्तुवन्निन्द्रवदात्मान वामदेवो ललज्ज यो॥
(३।७५)

(१४) सतोके दर्शनमात्रसे विपत्ति दूर हो जाती है

वेदमे सतो एव सत्पुरुषोकी महिमाका विशेषरूपसे निरूपण हुआ है। साथ ही वहाँ यह भी बताया गया है कि सतोके दर्शनकर लेने मात्रसे या हो जानेसे सभी विपत्तियाँ दूर हो जाती हैं और पूर्णरूपमे कल्याण— मङ्गल- ही-मङ्गल हो जाता है। साधु पुरुष महान् दयालु होते हैं, वे निरन्तर जगत्के कल्याणका चिन्तन करते रहते हैं। भगवदीय कृपासे सम्पन्न उन महापुरुषोका दर्शन हो जाना ही महान् फलदायक है परमार्थके पथमे लगा देनेवाला है फिर कहीं यदि सच्ची भावनासे उन्हे प्रणाम किया जाय उनकी सेवा-पूजा की जाय तो इहलोक तथा परलोक दोनो सुधर जाते हैं। लौकिक अभीष्टोकी प्राप्ति तो सामान्य बात है, ऋग्वेदकी निम्न ऋचा—

अस्माकमत्र पितरस्त आसन्
सप्त ऋषयो दौर्गहे बध्यमाने।
त आयजन्त त्रसदस्युमस्या
इन्द्र न वृत्रतुरमर्धदेवम्॥
(४।४२।८)

—मे ऋषिदर्शन-सतदर्शनकी महिमाकी कथा इस प्रकार आयी है कि पुरुकुत्स नामके राजा जो दुर्गहके पुत्र

1. आ दस्युघ्ना मनसा याह्यस्त भुवत् ते कुत्स सख्ये निकाम। स्वे योनौ नि षदत सरूपा वि वा चिकित्सदृतचिद्ध नारी॥ (४।१६।१०)

थे, शत्रुओंद्वारा पराजित हो गये और शत्रुओंने उन्हें दृढ़-बन्धनमें बाँध लिया। राजाके न होनेसे राष्ट्रमें महान् अराजकता छा गयी फलतः भारी विप्लव उठ खड़ा हुआ। सभी लोग राजाकी इच्छा करने लगे। राजा पुरुकुत्सकी पत्नी पुरुकुत्सानी इस राष्ट्रसंकटको देखकर अत्यन्त चिन्तित हो उठीं, परंतु वे भी क्या कर सकती थीं क्योंकि वे भी बन्धनग्रस्त थीं, उस समय उनके सामने अपने पतिके साथ ही देशका भी कष्ट उपस्थित था। दैवयोगसे उसी समय वहाँ सप्तर्षिगण भ्रमण करते हुए आ पहुँचे। पुरुकुत्सानीको सप्तर्षियोंके दर्शन हुए। उन्हें बड़ा आनन्द हुआ। उन्हें अपना मनोरथ भी सुफल होता जान पड़ा। उन्होंने सप्तर्षियोंका पूजन किया। सप्तर्षि प्रसन्न हुए। उन्होंने पुत्र-प्राप्तिका उपाय बताते हुए इन्द्र और वरुण देवताकी उपासना करनेके लिये कहा। पुरुकुत्सानीने वैसा ही किया। फलस्वरूप उन्हें त्रसदस्यु नामक इन्द्रतुल्य महान् पराक्रमी पुत्र प्राप्त हुआ, जो राष्ट्रसेवी बना।

इस प्रकार ऋषि-दर्शन तथा देव-पूजनसे पुरुकुत्सानीका अभीष्ट सिद्ध हो गया। अतः श्रेष्ठ जनोंका दर्शन, पूजन और वन्दन अवश्य करना चाहिये। उसका फल तत्काल प्राप्त होता है।

नीतिमञ्जरीका श्लोक इस प्रकार है—

साधूनां दर्शनात् सद्यो विपद्ध्वंसः प्रजायते।
ऋषीणां पूजनाद्राज्ञी पुरुकुत्सान्यगात् सुतम्॥
(३।७७)

(१५) गुरुको प्रणाम करनेसे देवताओंकी कृपा प्राप्त होती है

वेदमें गुरुकी महिमाका अत्यन्त विस्तारसे वर्णन किया गया है। वहाँ निर्देश हुआ है कि गुरु सदा पूज्य, वन्द्य तथा सेव्य हैं। गुरुकी अवमाननासे अनिष्ट होता है। वहाँ बताया गया है कि गुरुको श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रणाम करनेसे न केवल गुरुकी अपितु देवताओंकी भी कृपा उसपर हो जाती है। जिस घरमें गुरुका अभिनन्दन होता है तथा भोजनादिसे उन्हें संतुष्ट किया जाता है, वहाँकी समस्त बाधाएँ दूर हो जाती हैं। ऋग्वेदकी एक ऋचा (६।२७।४)-में एक कथा आयी है कि प्राचीन कालमें चायमान नामक राजाके अभ्यावर्ती नामक एक श्रेष्ठ पुत्र था। राजा चायमानके वृद्ध हो जानेसे राज्याभिषिक्त राजा अभ्यावर्ती ही राज्यका सारा कार्य देखने लगे।

वारशिख नामक असुरगणोंके द्वारा राजा अभ्यावर्ती युद्धमें पराजित हो गये। अभ्यावर्तीके गुरु थे महर्षि भरद्वाज। राजा दुःखी होकर गुरु भरद्वाजकी शरणमें गये उन्हें प्रणाम किया और दक्षिणासे संतुष्ट करके अपना दुःख निवेदित किया तथा कहा—भगवन्! वारशिख नामक शत्रुओंद्वारा मैं पराजित हो गया हूँ, अतः आप कृपा करके ऐसा कोई उपाय करें जिससे मेरा छीना गया राज्य पुनः मुझे प्राप्त हो जाय। राजाकी प्रणामादि सेवासे संतुष्ट हो महर्षि भरद्वाजने अपने पुत्र पायुको बुलाकर कहा—पुत्र! ये राजा अभ्यावर्ती शत्रुओंद्वारा जैसे अपराजेय हों, वैसा उपाय करो। 'ऐसा ही होगा' इस प्रकारसे पिताकी आज्ञा स्वीकारकर पायुने जीमूतसूक्त (ऋक्० ६।७५।१—१८)-से राजा अभ्यावर्तीके अस्त्र-शस्त्र रथ आदि युद्धोपकरणोंको अभिमन्त्रित कर दिया, मन्त्रशक्तिसे सम्पन्न वे अस्त्र-शस्त्र अभेद्य हो गये। तब पायुने राजासे वरशिखगणोंपर आक्रमण करनेके लिये कहा।

इधर गुरु भरद्वाजने भी ऋग्वेदकी चार ऋचाओं (६।२७।४—७)-द्वारा अपनी शरणमें आये हुए शिष्य अभ्यावर्तीके कल्याणके लिये इन्द्रकी स्तुति की। उससे प्रसन्न होकर, देवराज इन्द्रने युद्धमें अभ्यावर्तीकी सहायता की और अपने तीक्ष्ण वज्रसे शत्रुओंको मार गिराया।

इस प्रकार गुरुके अभिवन्दनसे अभ्यावर्तीको गुरु तथा देवताओंकी कृपा प्राप्त हुई और उनका मनोरथ पूर्ण हो गया। इसी अभिवादनका नीतितत्त्व बताते हुए नीतिशास्त्रमें कहा गया है—

देवाः कुर्वन्ति साहाय्यं गुरुर्यत्र प्रणम्यते।
जघानेन्द्रसहायोऽरीनभ्यावर्ती गुरोर्नतेः॥
(६।९१)

(१६) पतिको भार्याकी अनुकूलता रखनी चाहिये

वेदका नैतिक आदेश है कि जिस प्रकार नारीको पतिका अनुगमन करना चाहिये उसी प्रकार पतिको भी चाहिये कि वह अपनी स्त्रीका सम्मान करे आदर करे और उसकी अनुकूलताको स्वयंकी अनुकूलता समझे। दम्पतिके परस्पर आनुकूल्यमें धर्मादि-त्रिवर्ग सहज साध्य होता है। ऋग्वेदकी एक ऋचा (१०।१७।२)-में इतिहास आया है

कि त्वष्टा नामक देवताकी सरण्यू और त्रिशिरा नामकी दो संतान (पुत्री-पुत्र) थीं। त्वष्टाने सरण्यू नामवाली अपनी पुत्रीका विवाह विवस्वान् (भगवान् सूर्य)-से कर दिया। इससे उन्हें यम तथा यमी नामकी दो संतान प्राप्त हुईं। भगवान् सूर्यका तेज अतीव तीक्ष्ण था। उस तेजको जब सरण्यू सहन न कर सकी तो अपनी छायारूपिणी स्त्रीको उन दोनों संतानोंको सौंपकर वह अश्विनीका रूप धारणकर उत्तर कुरुदेशमें चली गयी। विवस्वान्ने छायाको सरण्यू ही समझा और उसके साथ स्त्री-धर्मप्रसंगसे विवस्वान्को राजर्षि मनु नामक पुत्रकी प्राप्ति हुई जो वैवस्वत मनु कहलाये। कुछ समयके बाद छायाके व्यवहारमें अन्तर पाकर 'यह सरण्यू नहीं हो सकती'—ऐसा निश्चयकर भगवान् सूर्यने सरण्यूका अन्वेषण किया और सरण्यूको अश्विनीरूपमें उत्तर कुरुदेशमें स्थित जानकर स्वयं भी अश्वरूप धारणकर उसके पास गये और उसके सम्पर्कसे उन्हें नासत्य तथा दस्र नामवाले दो अश्विनीकुमारों (पुत्रों)-की प्राप्ति हुई।

इस प्रकार सूर्यपत्नी सरण्यू नामक भार्याने जब अश्विनीरूप धारण किया तो भगवान् सूर्यने भी अश्वका रूप धारणकर अपनी पत्नीका सम्मान किया और इस सम्मानके फलस्वरूप उन्हें सत्पुत्रोंकी प्राप्ति हुई। पुनः उस रूपको त्यागकर वह सरण्यू अपने पूर्वरूपमें आ गयी तो भगवान् सूर्यने भी अश्वका रूप त्यागकर अपने पूर्वरूपको ग्रहण कर लिया।

वेदने परामर्श दिया है कि भगवान् सूर्यके समान ही सामान्य जनको भी अपनी भार्याका आदर—सम्मान करना चाहिये।

(१७) सद्गुणोंसे ही महानता प्राप्त होती है, धनसे नहीं

वैदिक ऋचाओंसे पता चलता है कि धनसे जो महान् है, वह महान् नहीं है अपितु गुणोंसे सम्पन्न व्यक्ति ही महान् है। धनवान् महान् नहीं है अपितु गुणवान् ही महान् है। यदि कोई धनमें बढ़ा हुआ है अर्थात् महान् सम्पत्तिसे सम्पन्न है किंतु उसमें सद्गुणोंका अभाव है तो वह धन-सम्पत्ति होते हुए भी तुच्छ ही है। इसके विपरीत यदि कोई विनयशील सदाचार, शौच संतोष आदि सात्त्विक गुणोंमें सम्पन्न है किंतु धनसे हीन है तो वह सच्चे अर्थमें महान् है। महानताका हेतु सद्गुण है, धन नहीं। अतः धनार्जनकी अपेक्षा गुणार्जन ही श्रेष्ठ है और जीवनकी सार्थकता भी इन्हीं सात्त्विक गुणोंको अर्जन करनेमें ही है। ऋग्वेदकी ऋचा (७।१०३।१०)-ने बताया है कि महर्षि वसिष्ठने एक बार धनकी याचनासे मण्डूक देवोंकी स्तुति की और मण्डूकोंने उन्हें बहुत-सी गवादि सम्पत्ति प्रदान की। किंतु धनदाता मण्डूकोंसे निर्धन वसिष्ठ उस समय भी श्रेष्ठ ही कहलाये। धनसम्पन्न होते हुए भी मण्डूक गुणहीन होनेके कारण क्षुद्र बने और धनहीन किंतु गुणोंके कारण वसिष्ठ श्रेष्ठ ही रहे। अतः धनकी अपेक्षा गुणोंको ही अधिक महत्त्व देना चाहिये।

नीतिमञ्जरीकारका कथन है—

महत्त्वं धनतो नैव गुणतो वै महान् भवेत्।
सीदज्ज्यायान् वसिष्ठोऽभूद् मण्डूका धनिनोऽल्पकाः॥
(७।१०८)

(१८) छोटा भाई पुत्रवत् पालनीय होता है

वेदकी यह शिक्षा है कि छोटा भाई पुत्रके समान लालन-पालन करने योग्य होता है। बड़े भाईको चाहिये कि वह छोटे भाईको बड़े ही लाड़-प्यारसे रखे और छोटेको चाहिये कि वह बड़े भाईको पिताके समान समझकर आदर-मान दे, उसकी सेवा करे तथा उसकी आज्ञाका पालन करे और बड़े भाईकी स्त्री (भाभी)-को माँके समान समझे। बृहद्देवता (६।३५—३९) तथा कात्यायनसर्वानुक्रमणीमें ऋग्वेदके अष्टम मण्डलके आदिसूक्तमें एक आख्यान संग्रहीत करके बताया गया है कि महर्षि घोरके कण्व तथा प्रगाथ नामवाले दो पुत्र थे। उनमें कण्व बड़े और प्रगाथ छोटे थे। एक बार गुरुकी आज्ञा प्राप्त करके बड़े भाई कण्व तथा प्रगाथ दोनों वनमें समिधा आदि एकत्र करनेके लिये गये। दोनों भूख-प्याससे थके हुए थे। घर आकर छोटा भाई प्रगाथ अपनी भाभी (कण्व-पत्नी)-की गोदमें सिर रखकर सो गया। थोड़ी देरमें जब कण्व घरमें आये तो वहाँका दृश्य देखकर उन्हें अत्यन्त क्रोध हो आया। वे—यह प्रगाथ है—

ऐसा समझ न पाये। वे पत्नीपर अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे और पत्नीको पतित समझते हुए उसे शाप देनेके लिये उद्यत हो उठे तथा पूछने लगे—यह तुम्हारी गोदमे कौन सोया है? इसपर कण्वपत्नीने कहा—'भगवन्! आप क्रुद्ध न हो, यह आपका कनिष्ठ भ्राता प्रगाथ है, मैंने पुत्रवत् इसका पालन किया है और यह भी मुझमे मातृवत् बुद्धि रखता है, अपनी माताकी गोदके समान यह मेरी गोदमे निःशंक होकर सो गया है। इसलिये प्रभो! आप शान्त हो जायँ। यह आपका भी पुत्र ही है।' पत्नीके इस प्रकारके वचनोको सुनकर महर्षि कण्वको बडी प्रसन्नता हुई वे शान्त हो गये और कहने लगे—आजसे यह प्रगाथ मेरा छोटा भाई नहीं अपितु पुत्र कहलायेगा। यह सवाद सुनकर प्रगाथ भी हाथ जोडकर खडा हो गया और उन्हे अपने माता-पिताके समान समझते हुए उनके चरणोपर गिर पडा। तभीसे प्रगाथका भाई और भाभीसे मातृ-पितृतुल्यस्नेह प्राप्त हो गया।

इस कथासे यह शिक्षा प्राप्त होती है कि छोटे होनेपर हमें भी प्रगाथके समान अपने भाई-भाभीका मातृ-पितृवत् सम्मान करना चाहिये और बडे होनेपर कण्व तथा कण्वपत्नीके समान अपनेसे छोटोको पुत्रवत् प्यार देना चाहिये।

नीतिमञ्जरीकारने इस कथाको इस प्रकार बताया है—

कनिष्ठा पुत्रवत् पाल्या भ्रात्रा ज्येष्ठेन निर्मला ।
प्रगाथो निर्मलो भ्रातु प्रागात् कण्वस्य पुत्रताम्॥
(७। १११)

(१९) कपट-व्यवहार न करे

वेदने सावधान किया है कि प्रत्यक्षमे प्रिय बोलनेवाले तथा परोक्षमे कार्यकी हानि करनेवाले और अहितकी कामनावाले व्यक्तिका परित्याग कर देना चाहिये। ऐसे व्यक्तिमे मित्रता नहीं करनी चाहिये, वह तो विषभरे हुए उस घडेके समान है जिसके मुँहमे दूध भरा हो। ऐसा कपटी व्यक्ति सामने तो बडी भक्ति दिखलाता है, विनय दिखाता है स्तुति-प्रार्थना करता है किंतु पीठ-पीछे उसका अनिष्ट करता है। अत ऐसे कपटी कुमित्रका साथ नहीं करना चाहिये और न उसपर विश्वास ही करना चाहिये। ऋग्वेदने ऐसे व्यक्तिको 'द्वयु' (८। १८। १४) कहकर पुकारा है और सायण भाष्यमे इस पदकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि—

द्वयु द्वाभ्या प्रकाराभ्या युक्तो भवति। प्रत्यक्ष हित वदति परोक्षे चाहित तादृश कपटो द्वयुरुच्यते।

इरिम्बिठि नामक ऋषि सूर्यकी स्तुति करते हुए कहते हैं जो हमारे लिये ऐसा कपटपूर्ण व्यवहार करता है वह दुष्कीर्तिकर शत्रु पापका भागी बने।

आख्यानकी वैदिक ऋचा इस प्रकार है—

समित् तमघमश्नवद् दुःशस मर्त्य रिपुम्।
यो अस्मत्रा दुर्हणावाँ उप द्वयु ॥
(ऋक्० ८। १८। १४)

(२०) सदाचारी ब्राह्मणोकी अवमानना न करे

वेदने बताया है कि ब्राह्मण अपने धर्माचरणके द्वारा ब्रह्मतेजसे सम्पन्न होते हैं, अत वे सदा वन्द्य एवं पूज्य हैं। उनकी अवमानना नहीं करनी चाहिये। उनकी अवमाननासे उनके शापका भागी बनना पड सकता है क्योंकि उनका शाप और वरदान अमोघ होता है। ऋग्वेदकी एक ऋचा (८। १९। ३६)-मे संकेत दिया गया है कि राजा त्रसदस्युने वृद्ध महर्षि सौभरिका सम्मान किया इससे उनका कल्याण हुआ, क्योंकि वे उनकी अवमाननाका परिणाम जानते थे।

कथामे बताया गया है कि प्राचीन कालमे सौभरि नामके एक परम तपस्वी तत्त्वज्ञ ऋषि थे। इस दुःखरूप तथा नश्वर संसारकी असारता समझकर वे इससे विरत हो गये। अत माता-पिताकी आज्ञा लेकर उन्होने तप और स्वाध्यायमे ही मन लगाया। दीर्घकालतक वे तपस्या करते रहे। वृद्धावस्थाने उन्हे घेर लिया। शरीर जीर्ण हो गया। वे गङ्गाजीके जलके अंदर तपस्या करते थे। एक दिन उन्होने जलके अंदर देखा कि एक मत्स्यराज अपनी पत्नियो तथा कुटुम्बके साथ बहुत सुखी हो रहा है। मत्स्यराजका ऐसा कौटुम्बिक सुख देखकर तपस्वी सौभरि ऋषिको मोह हो गया व बडे दुःखी हुए। उन्हे लगा कि मेरे न तो पत्नी

हे और न कोई पुत्र ही, क्या ही अच्छा होता कि मैं भी इसी मत्स्यराजकी तरह पत्नियो तथा पुत्रादिकासे सम्पन्न होता। फिर क्या था, माया-मोह एव ममताके वशीभूत महर्षि सौभरिके मनम विवाह करनेकी प्रबल इच्छा जाग्रत् हो गयी, किंतु उनके मनम यह चिन्ता हुई कि मुझ वृद्धको अपनी कन्या कान प्रदान करेगा ? मायाका आवेश था, सोभरि विवश हो गये। उन्होने राजा त्रसदस्युके पास जानेका निश्चय किया। ऐसा निश्चयकर वे उनके पास पहुँचे। राजाने अर्घ्य-पाद्यादिसे महर्षिका स्वागत-सत्कार किया और बडी ही श्रद्धा-भक्तिस उनसे आगमनका कारण पूछा। महर्षि सोभरिने बताया कि में आपकी कन्याओमेसे किसी एकसे विवाह करना चाहता हूँ। इसी आशयसे में यहाँ आया हूँ, अत आप कन्यादान करके मुझे सफलमनारथ बनाइये। राजा त्रसदस्यु महर्षिकी वृद्धावस्था और कन्यादानका प्रस्ताव देख-सुनकर अत्यन्त भयभीत हो गये। किंतु उन्होने महर्षिका अनादर नहीं किया क्योकि वे उसका परिणाम जानते थे। अत उन्होने बडी ही नम्रता और विनयपूर्वक महर्षिसे प्रार्थना करते हुए कहा— 'भगवन्! मरी पचास कन्याओमेसे जो आपका वरण कर ले उसे आप ग्रहण कर ले।' सोभरि ऋषि राजाका अभिप्राय समझ गय। उन्होने सोचा कि राजाने इसीलिये मुझसे ऐसा कहा हे कि मुझ वृद्धको कौन कन्या स्वीकार करगी। अच्छा ठीक है अब मैं अपनेको अपने तपोबलसे ऐसा सुन्दर बनाऊँगा कि राजकन्याएँ तो क्या देवाङ्गनाएँ भी मुझपर मुग्ध हो जायँगी। ऐसा निश्चयकर सौभरिने इन्द्रदेवताकी स्तुति की। इन्द्र प्रसन्न हुए और उन्होने सौभरिसे कहा—वर माँगो। सौभरि बोले—प्रभो! मैं राजा त्रसदस्युकी कन्याओसे विवाह करना चाहता हूँ, अत मुझ सुन्दर रूप अक्षय यौवन और अखण्ड धन-सम्पत्ति, ऐश्वर्य तथा सुन्दर प्रासाद आदिकी आवश्यकता है। 'तथास्तु' कहकर इन्द्रने सौभरिको युवा बना दिया और विश्वकर्माने सौभरिके लिय सुवर्णमय प्रासाद पुष्पवाटिका उपवन आदिका निर्माण कर दिया। इन्द्रने उन्ह यह भी वर प्रदान किया कि उनकी पत्नियाम सपत्नी-दोष नहीं रहगा। अब सौभरि कामदेवक समान मोहक रूपवाले हो गये। वे पूर्ण युवा हो गये। ऐसा सुन्दर रूप बनाकर सुन्दर वस्त्राभूषणास सुसज्जित हो जब सौभरि त्रसदस्युकी कन्याओके पास गये तो उन्हे देखकर कन्याएँ मोहित हो गयीं और सबने उनका वरण कर लिया। तब राजा त्रसदस्युने

प्रसन्न होकर अनेक उपहाराके साथ अपनी पचास कन्याओंका विवाह सौभरि मुनिके साथ कर दिया। कन्याओको लेकर सौभरि अपने निवासम चले आये। बहुत समयतक सुखभाग करनेके अनन्तर एक दिन जब सौभरि शान्त रूपस बैठे तो थे उन्ह भान हुआ कि क्षणभरके मत्स्यके प्रसगने उनको तपस्यामार्गसे विरत कर दिया। 'मेरा ब्रह्मतेज नष्ट हो गया'— ऐसा विचार करते-करते उनके मनमे विराग उत्पन्न हो गया और अन्तम एक दिन उन्होने अपनेको परमात्मामे लीन कर लिया उनकी पत्नियाँ भी उन्हींके साथ सती हो गयीं। उन्हें भी सद्गति प्राप्त हुई।

इस प्रकार इस कथामे यह सकेत दिया गया है कि सदाचार-सम्पन्न ब्राह्मणोका विरोध न करे। राजा त्रसदस्युने सौभरिका असगत विवाह प्रस्ताव जानकर भी उनका सम्मान ही किया। इससे राजाका महान् कल्याण हुआ। कदाचित् राजा उस समय ऋषिका अपमान करते, उनका तिरस्कार करते तो उन्ह शापका भागी बनना पडता। नीतिमञ्जरीमें इसी आख्यानको इस प्रकार कहा गया है—

ब्राह्मणान् नावमन्येत ब्रह्मशापो हि दुस्तर ।
भीतोऽदात् सौरभे शापाद्वधू पञ्चाशत नृप ॥
(८।१२०)

(२१) सदा सत्य-भाषण करना चाहिये

वेदामे सत्य-वचनकी विशेष महिमा गायी गयी है। वेदोका आदेश है कि सत्यकी रक्षाके लिये चाहे कितना ही कष्ट झेलना पडे, यदि प्राण भी देना पडे तब भी परवाह नहीं करनी चाहिये। क्याकि सत्यकी ही जीत होती हे। असत्य वचन असत्य भाषण या असत्य व्यवहार न तो स्थायी होता ह आर न हितकर होता है, इससे पाप ही प्राप्त होता है। मिथ्याभाषणसे सर्वथा विरत रहना चाहिये। कितनी ही आपत्तियाँ आ जायँ, पर सत्यकी मर्यादामे स्थिर रहना चाहिये। ऋग्वेदके दशम मण्डलक ६१वे सूक्तम नाभानेदिष्ठके सत्यमर्यादाकी कथा आयी हे, तदनुसार जब नाभानेदिष्ठके भाइयोंने पिताके दायसे उनका भाग नहीं दिया तो वे पिताके पास आकर कहने लगे—पिताजी! क्या आपने मेरे लिये सम्पत्तिका हिस्सा नहीं रखा? इसपर पिताने कहा—वत्स! इसके लिये तुम क्यो दु खी हो रहे हो तुम्ह तो बहुत बडा भाग मिलनेवाला है। आगिरसोने पष्ठाहपर्यन्त एक यागका अनुष्ठान किया है जिसमे स्वर्गप्राप्तिका फल है। वे स्वर्ग जाते समय अवशिष्ट हजारा गौआको तुम्ह दे जायँगे, अत तुम दु खी न होओ। तब नाभानेदिष्ठ आगिरसाके पास आये और उन्हाने पिताद्वारा कही बात उन्ह बतलायी। इसपर आगिरसाने स्वीकृति दे दी। यज्ञान्तमें जब वे गोसम्पदाको ग्रहण करने लगे तो उसी समय कृष्णशवा नामक एक पुरुष (रुद्र)-ने कहा—हे ब्राह्मण! यह यज्ञावशिष्ट भाग मरा ह, इसे ग्रहण मत करो। नाभानेदिष्ठने कहा—आगिरसाने इस मुझे प्रदान किया है। इसपर वह पुरुष बोला—यदि ऐसी बात है तो तुम अपने पितासे ही पूछ लो कि यह किसका भाग ह? नाभानदिष्ठ पिताक पास गये और उनस पूछा—पिताजी! सत्य वताइये कि यनावशिष्ट वह सम्पदा किसकी हे। पिता बोले—वह रुद्रपुरपका ही भाग ह। नाभानेदिष्ठ उस कृष्णशवा नामक पुरुपके पास आय और बोले—ह श्रेष्ठ पुरुष! यह भाग तुम्हारा ही ह मरा नहीं। नाभानेदिष्ठक यथार्थ कथन—सत्यवचनस वह (ईश्वर-रूप) पुरुष अत्यन्त प्रसन्न हो गया और उसने अपना वह भाग (गोधन) पुन नाभानेदिष्ठको ही प्रदान कर दिया। कदाचित् नाभानेदिष्ठ असत्य बोलत तो उन्ह न सम्पदा प्राप्त होती और शापका भागी भी बनना पडता।

इस प्रकार इस कथाम नाभानेदिष्ठके वृत्तान्तस सत्यभाषणकी नीति बतायी गयी ह।

नीतिमञ्जरीम (८। १५०)-मे कहा गया है—

सत्यमेव सदा ब्रूयादापत्कालेऽप्युपस्थिते।
यस्माज्जग्राह गा सत्यान्नाभानदिष्ठ ईश्वरात्॥

(२२) भाईके समान और कोई मित्र नही है

वास्तवमें भाईके समान दूसरा और कोई सच्चा मित्र नहीं हो सकता, क्योकि एक भाई दूसरे भाईका सर्वदा हित-चिन्तन करता रहता ह और उसके लिये बडे-से-बडा त्याग करनेम भी नहीं हिचकता। दृष्टान्तरूपम इसे समझनेके लिये ऋग्वेदके दशम मण्डलके ९८वें सूक्तमें कुरुवशी दवापि और शन्तनु दो सहोदर भाइयोकी कथा आयी है। देवापि बडे भाई थे और शन्तनु छाटे। दवापि त्वग्दोषसे ग्रस्त थे अत उन्होंने शन्तनुका राज्यका अधिकारी बनाया। प्रजाको भी देवापिका राजा बनना स्वीकार नहीं था। शन्तनु राजा बन गये और देवापि तपस्या करने वनमें चले गये। एक बार शन्तनुके राज्यमें बारह वर्षोतक वर्षा नहीं हुई। सारी फसल सूख गयीं अन्नका अभाव हा गया। प्रजा भूख-प्याससे व्याकुल हा गयी। शन्तनु बडे दु खी हुए। उन्हाने ब्राह्मणोसे पूछा—ब्राह्मणदवो! आपलाग बताय कि मर किस अपराधके कारण वृष्टि नहीं हो रही ह। इसपर उन्हाने कहा—राजन्! आपन धर्म-मर्यादाका व्यतिक्रम किया है। राज्यपर अधिकार बडे भाईका हाना चाहिय, किंतु एसा न कर आप स्वय राजा बन बठ इसी कारण देवता रुष्ट हा गये हैं और वर्षा नहीं हो रही है। तब शन्तनु प्रजाको साथ लेकर वनमें भाई दवापिके पास गय आर उनसे राज्य-ग्रहण करनेकी प्रार्थना की। इसपर दवापिन कहा—भाई! मैं इन्द्रियशथिल्य-दोषक कारण राज्य ग्रहण करने योग्य नहीं हूँ। तुम ही राजा बन रहो। मैं एसा प्रयत्न करूँगा जिससे वर्षा हो जायगी और राज्यम सुख-शान्ति छा जायगी। वत्स! वृष्टिकामनास मैं स्वय याज्ञिक अनुष्ठान करूँगा। तव दवापिने वर्षकाम सूक्त (१०।९८) अथात्

वपाकी कामनावाले सूक्तसे देवताओंको प्रसन्न किया। देवगण प्रसन्न हुए और शन्तनुके राज्यमें अमृतदायिनी प्रचुर वृष्टि हुई। खेती लहलहा उठी और प्राणियोंमें प्राणका संचार हो आया। सारी प्रजाने शन्तनुका जय जयकार की। इस प्रकार बड़े भाई देवापि छोटे भाई शन्तनुके लिये हितकारी सच्चे मित्र बन गये।

(२३) अधर्ममें मन नहीं लगाना चाहिये

सुखकी अभिलाषा सभी रखते हैं परंतु वह सुख धर्माचरणसे ही प्राप्त होता है। अतः व्यक्तिको किसी भी प्रकारसे धर्मकी हानि नहीं करनी चाहिये। अधर्माचारी पापियोंका शीघ्र नाश होता देखकर (अर्थात् उन्हें दुर्दशाग्रस्त देखकर) धर्माचरणसे दुःख पाता हुआ भी मनुष्य अधर्ममें मन न लगाये। वेदका संदेश है कि यदि मनुष्य अधर्ममें प्रवृत्त होता है तो उसके लिये तृण भी वज्रके समान आयुध बनकर विनाशकारी हो जाता है। वैदिक ऋचा (८।१४।१३)-में दृष्टान्त देते हुए बताया गया कि प्राचीन कालमें इन्द्रने देवासुर-संग्राममें सभी असुरोंको जीत लिया, किंतु वे नमुचि नामक असुरको जीतनेमें समर्थ न हो सके और उससे युद्ध करते हुए नमुचिद्वारा बन्धनमें डाल दिये गये। बादमें नमुचि एक शर्तपर इन्द्रको बन्धनमुक्त करनेके लिये राजी हुआ कि वह न रातमें और न दिनमें, न किसी गीले अस्त्रसे और न किसी सूखे अस्त्रसे उसे मारेगा। इस शर्तको इन्द्रने स्वीकार कर लिया। नमुचिने इन्द्रको बन्धन-मुक्त कर दिया। बादमें इन्द्रने दिन और रात्रिके संधिकालमें जलके फेन (जो न गीला रहता है और न सूखा)-रूप शस्त्रसे उस अधर्मरूपी नमुचिका सिर काट डाला। इस आख्यायिकासे स्पष्ट है कि नमुचिने अधर्ममें मन लगाया तो सामान्य फेन भी उसके लिये वज्रके समान कठोर विनाशकारी शस्त्र बन गया।

अतः कल्याणकामी व्यक्तिको चाहिये कि 'अधर्माचरणसे निश्चित विनाश होगा' यह समझते हुए वह धर्मका ही आचरण करे। नीतिमञ्जरीमें कहा गया है—

तृणं वज्रायते नृणामधर्मे धीर्यदा भवेत्।
फेनेनापि दृढं शक्रश्चिच्छेद नमुचेः शिरः॥ (८।११७)

(२४) जिस दिन कोई शुभ कार्य बने उसे ही शुभ दिन समझना चाहिये

वेदने बहुत ही उत्तम नीतिकी बात बताते हुए कहा है कि वही दिन उत्तम है, वही समय उत्तम है, वही क्षण श्रेष्ठ है, जिस क्षण, जिस दिन या जिस समय कोई श्रेष्ठ कार्य सम्पन्न किया जा सके। वही सफल दिन है जिस दिन व्यक्ति श्रद्धा-भक्तिसे देवपूजन करे, संत-महात्माओं, भक्तोंका दर्शन करे, वन्दन करे, गौकी सेवा करे, गोग्रास प्रदान करे, गोप्रदक्षिणा करे, परोपकारका कोई कार्य करे, दीन-दुःखियोंकी सेवा करे, दान दे, अतिथियोंको संतुष्ट करे, सत्सङ्ग करे और भी जो अच्छे कार्य हों उन्हें करे। वास्तवमें इस जीवन-प्राप्तिका उद्देश्य भी यही है कि मनुष्य अच्छा कार्य करते हुए अपने प्राप्त समयका सदुपयोग करे। जीवनका कोई भी क्षण ऐसा नहीं बीते जिसमें कोई श्रेष्ठ कार्य न सम्पन्न हो। शरीर, मन तथा वाणीसे सब कुछ अच्छा-ही-अच्छा करे। तभी जीवनकी सफलता तथा सच्ची सार्थकता है। अस्तु, शास्त्रोंमें जो नियत कर्म बताये गये हैं, उनके करनेसे अभ्युदयकी प्राप्ति होती है, इसके विपरीत अनियत कर्म करनेसे एक तो समयका दुरुपयोग होता है और अधोगतिकी भी प्राप्ति होती है।

ऋग्वेदने* दृष्टान्त देते हुए बताया है कि जिस दिन यज्ञमें मन्त्रोंद्वारा आहूत किये जानेपर अग्नि आदि देवता कुशासनपर विराजमान होकर यज्ञकर्ताद्वारा श्रद्धा-भक्तिपूर्वक दिये गये हविको ग्रहण करते हैं, वही दिन यज्ञकर्ताके लिये सुदिन होता है, वही कर्मकी सफलताका दिन होता है।

तात्पर्य यह है कि जब श्रेष्ठ कर्म बने वही शोभन दिन है, वही पुण्यका दिन है। अन्य दिन तो निष्फल ही हैं, वह कर्म भी व्यर्थ ही है जो अशुभ है। अतः प्रतिक्षण सुकर्म ही करने चाहिये। ऐसा वेदका नीतिपरक आदेश है, परामर्श है।

---

* त्वामीळते अजिरं दूत्याय हविष्मन्तः सदमिन्मानुषासः। यस्य देवैरासदो बर्हिरग्नेऽहान्यस्मै सुदिना भवन्ति॥ (७।११।२)

हेमकण्ठकी कथा

[नीतिमान् राजाके कर्तव्य]

(श्रीगोविन्द राजारामजी जोशी)

सौराष्ट्र देशके देवनगरमे राजा सोमकान्तका शासन था। सोमकान्त वेद-शास्त्रके ज्ञाता, पराक्रमी और वैभवसम्पन्न थे। उनकी अर्धाङ्गिनी धर्मशीला एव पतिव्रता थी। उसका नाम था सुधर्मा।

राजाके पुत्रका नाम था हेमकण्ठ। वह सभी शुभ लक्षणोसे सम्पन्न था।

राजाने बहुत यज्ञ-याग करके नीतिपूर्वक राज्य चलाया। किंतु पूर्वकर्मानुसार उनको 'गलित्कुष्ठ' रोग हो गया। शरीरसे दुर्गंध आने लगी, पूय-शोणित बहने लगा। तब राजाने अपने अमात्योको राज्य चलानेकी आज्ञा दी और स्वय वन जानेका निश्चय किया। राजाके इस निश्चयको जानकर उनके पाँचो अमात्य तथा महारानी भी उनके साथ वन जानेके लिये तैयार हो गये।

हेमकण्ठको जब यह समाचार मालूम हुआ तो वह भी वन चलनेके लिये अपने पितासे बार-बार प्रार्थना करने लगा। इसपर राजाने उससे कहा—पुत्र! तुम मेरी आज्ञाका पालन करो। पुत्र उसे कहते है जो पिताके आज्ञा-पालनमे तत्पर हो और श्रद्धासे श्राद्ध करनेवाला तथा गयाजीमे पिण्डदान करनेवाला हो—

पितुर्वाक्यरतो नित्य श्रद्धया श्राद्धकृत् तथा।
पिण्डदो यो गयाया तु स पुत्र पुत्र उच्यते॥

(गणेशपुराण २८।२)

—इसलिये तुम राज्य चलाओ, यह समय तुम्हारे वनगमनका नहीं है। इस आज्ञाका पालन करना तुम्हारा कर्तव्य है।

राजा सोमकान्त इस प्रकार समझा-बुझाकर पुत्रको सभागृहमे ले आये और सामने बैठाकर उसे अपनी कुलकीर्तिके लिये कैसा बर्ताव करना चाहिये इस सम्बन्धमे नीतिका उपदेश देने लगे।

सोमकान्त बोले—पुत्र! एक याम (तीन घटे) रात्रि शेष रहे तब जग जाय और भगवान्का चिन्तन करके भूमिमातासे पादस्पर्शकी क्षमा-प्रार्थना करे अनन्तर गणेशादि देवोको नमस्कार करके मानस-पूजा करे तथा क्षमा-याचना करे।

इसके बाद नैर्ऋत्य दिशामे शौचके लिये जाना चाहिये। तदनन्तर स्नानादिसे निवृत्त होकर सध्या-वन्दन जप, होम, स्वाध्याय (ब्रह्मयज्ञ), तर्पण, देवपूजन वैश्वदेव-पूजन (पञ्चसूनादोष-परिहारार्थ), अतिथिपूजन, पुराणश्रवण दान आदि कर्म करने चाहिये।

राजाको चाहिये कि वह कभी भी दूसरेकी निन्दा न करे—**'परनिन्दा विवर्जयेत्।'**

यथाशक्ति धन और मधुर भाषण आदिसे परोपकार करना चाहिये।

आत्मस्तुतिसे सदा बचता रहे और किसीका भी अपकार न करे।

श्रेष्ठ जनोसे द्रोह, वेद-निन्दा, पाप अभक्ष्य-भक्षण और परनारीगमन नहीं करना चाहिये।

ऋतुकालके अतिरिक्त इतर समयमे स्वस्त्रीगमन भी वर्ज्य है।

माता, पिता गुरु और गायकी सेवा करनी चाहिये।

दीनो अधो और कृपणोको अन्न, वस्त्र आदि देकर उनका आदर करना चाहिये। सत्यको कभी भी नहीं छोड़ना चाहिये।

साधु-सतोका पोषण करना चाहिये।

धर्मशास्त्रज्ञो एव विद्वानोके कहनेसे ही अपराधीको दण्ड देना चाहिये। राजाको चाहिये कि दण्ड देनेमे अकेले स्वत न तो निर्णय ले और न मनमानी करे।

दण्डभीतिसे ही लोग स्वधर्ममे तत्पर रहते हैं अत यथावसर दण्ड-नीतिका प्रयोग करते रहना चाहिये।

राजाको अपना भेद (मन्त्रणा) गुप्त रखना चाहिये।

मन्त्रणाकी गोपनीयता राष्ट्रकी सुरक्षा और उन्नतिका मूल है— मन्त्रगुप्तिः सदा कार्या तन्मूलं राज्यमुच्यते।

राजाको चाहिये कि वह पहले अन्तःस्थ काम-क्रोध आदि छः शत्रुओंको जीते, तदनन्तर बाहरी शत्रुओंको जीते।

ब्राह्मणोंकी वृत्तिका तथा प्रजा, देवता, उद्यान एवं पूज्य वृक्षोंका नाश नहीं करना चाहिये।

ब्राह्मणोंको कर्जसे और कीचड़में फँसी हुई गायको कीचड़से मुक्त कर देना चाहिये।

राजाको असत्य नहीं बोलना चाहिये, सत्य नहीं छोड़ना चाहिये और अमात्य, प्रजा तथा सेवकोंको संतुष्ट रखना चाहिये, साथ ही देवता एवं ब्राह्मणोंका वन्दन करना चाहिये।

इस प्रकारकी धर्ममयी राजनीतिका उपदेश देकर राजाने अमात्यों और रानीको साथ लेकर वनके लिये प्रस्थान किया। पुत्र हेमकंठने पिताकी बतायी नीतियोंमें धर्मपूर्वक शासन किया। उसके शासनमें सभी सुखी थे, सर्वत्र शान्ति थी। (गणेशपुराण)

भारतकी नीतिकथाओंका विश्व-साहित्यपर प्रभाव

(श्रीजयप्रकाशजी भारती, सम्पादक— 'नन्दन')

विश्व-साहित्यमें भारतीय नीति-कथाओं और साहस-कथाओंका सदैव ही वर्चस्व रहा है। पश्चिमी देशोंमें जो कृतियाँ सर्वाधिक लोकप्रिय हुईं, जिन्हें क्लासिक माना गया, उनमेंसे अधिकांश इसी वर्गकी हैं। नीतिकथाओंका प्रारम्भ हमारे देशमें उस समय हुआ, जब यूरोप अन्धकारके युगमें जी रहा था, तब हमारे देशमें ऐसी कथाएँ सैकड़ोंकी संख्यामें लिखी गयीं। वे कथाएँ दुनियाभरमें फैलीं। विश्वके कथा-साहित्यका भवन उसी आधारपर निर्मित हुआ है। आज भी उन नीतिकथाओंने अपनी प्रसिद्धि और लोकप्रियता खोयी नहीं है। स्वयं पाश्चात्त्य विद्वानोंने भी इस तथ्यको स्वीकार किया है—

'आज अंग्रेजीमें जिन बाल-कथाओंका चलन है, उनमेंसे अनेक ऐसी हैं, जो प्राच्य-कथा-संग्रहोंसे आयी कथाओंसे बिलकुल मिलती हैं, जैसे— पञ्चतन्त्र, कथासरित्सागर अथवा सिन्दबादकी कथाएँ। यह निर्विवाद है कि पञ्चतन्त्र छठी शताब्दीमें भी मौजूद था—यूरोपमें चौसरकी केन्टरबरी टेल्स (सन् १३८७ ई०)-से मानी जाती है।' (ऑक्सफोर्ड इन्साइक्लोपीडिया।)

ईरानके सम्राट् खुसरोके विद्वान् मन्त्री बुर्जुएने किसी पुस्तकमें पढ़ा कि भारतमें किसी पहाड़पर संजीवनी बूटी मिलती है, उसका सेवन करानेसे मृत व्यक्ति भी जी उठता है। बुर्जुए सन् ५५० ई०में संजीवनीकी खोजमें भारत आया। इधर-उधर काफी भटकता रहा, किंतु उसे सफलता नहीं मिली। बुर्जुएने एक भारतीय विद्वान्से अपनी उलझनका उल्लेख करते हुए पूछा कि यहाँ अमृत कहाँ मिलता है? उन्होंने उत्तर दिया—'विद्वान् व्यक्ति ही वह पर्वत है, जहाँ ज्ञानकी बूटी होती है। उसके सेवनसे मूर्ख व्यक्तिमें नव जीवनका संचार हो जाता है। इस प्रकारका अमृत हमारे 'पञ्चतन्त्र' नामक ग्रन्थमें है।' बुर्जुएने 'पञ्चतन्त्र' की प्रति प्राप्त की और उसे ईरान ले गया।

ईरानके सम्राट्को जब यह सूचना मिली तो उसकी खुशीकी कोई सीमा न रही। उसने बुर्जुएसे कहा कि तुम सुबहसे शामतक सरकारी खजानेसे जितना सोना ले जा सको, ले जाओ। बुर्जुए शास्त्रवेत्ता था, लालची न था। उसने सोना तो लिया नहीं, पर हाँ, सम्राट्के लिये पहलवी भाषामें पञ्चतन्त्रका अनुवाद कराया। पञ्चतन्त्रके दो सियारों (करटक और दमनक)-के नामपर बुर्जुएने पुस्तकका नामकरण 'कलेलाह-व-दिमनाह' रखा। किसी विदेशी भाषामें पञ्चतन्त्रका यह पहला अनुवाद हुआ। इसके बाद आठवीं सदीमें अब्दुल्ला इब्न-उल् मुकफ्फाने अरबीमें अनुवाद किया, जिसका नाम है—'कलील व दिमन'। अब्दुल्लाने अनुवादके अन्तमें कुछ कहानियाँ जोड़ दी हैं और एक भूमिका भी लिखी है।

उस युगमें अरबी भाषाका खूब दबदबा था। अरबी अनुवादके आधारपर पञ्चतन्त्रके विदेशी अनुवादोंका जोरदार सिलसिला शुरू हुआ और यूरोपकी सभी भाषाओंमें

इसके अनुवाद हात गये। ग्यारहवीं सदीमे यूनानी भाषामे अनुवाद हुआ। इसके रूसी ओर स्लाव भाषाओमे अनेक अनुवाद हुए।

भारतीय सस्कृतिके विद्वान् डॉ० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवालने 'पञ्चतन्त्र' (अनुवादक—डॉ० मोतीचन्द्र)-की भूमिकामे अनुवादोके विषयमे विस्तारसे चर्चा की है। उन्हाने लिखा है—

'कालान्तरम यूनानी अनुवादका परिचय पश्चिमी यूरोपके देशाको हुआ और सोलहवीं सदीसे लेकर अनेक बार लैटिन, इटैलियन और जर्मन भाषाओम 'पञ्चतन्त्र' के अनुवाद हुए। लगभग १२५१ ई०मे अरबी पञ्चतन्त्रका एक अनुवाद स्पेनिश भाषामे हुआ। हिब्रू भाषाम भी अरबीसे ही एक अनुवाद पहले हो चुका था। उसके आधारपर दक्षिण इटलीके कपुआ नगरम रहनेवाले जौन नामक यहूदीने लेटिनमे उसका एक अनुवाद १२६० ई० और १२७० ई०के बीच किया। इसका नाम था—'कलील दमन '—'मानवीय जीवनका कोश'। मध्यकालीन यूरापीय साहित्यम जौन कपुआक अनुवादकी बडी धूम रही और उससे पश्चिमी यूरोपके अनेक देशोने अपनी-अपनी भाषामे 'पञ्चतन्त्र' के अनुवाद किये। सन् १४८० ई०के लगभग कपुआवाले पञ्चतन्त्रक सस्करणका अनुवाद जर्मन भाषामे हुआ। यह इतना लोकप्रिय हुआ कि एक सस्करणके बाद दूसरा सस्करण जनताम खपता गया। यहाँतक कि पचास वर्षमें बीससे अधिक सस्करण बिक गये। डेनमार्क हॉलैण्ड आइसलैण्ड आदिकी भाषाआम भी इस जर्मन-सस्करणके अनुवाद हुए।'

'पञ्चतन्त्र' क अनुवादोंकी यह परम्परा लगातार चलती रही। यह आज भी रुकी नहीं है। पञ्चतन्त्रविषयक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अध्ययन प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० हर्टेलने किया है। उन्होन पचास भाषाओम इसके दो सो अनुवादोका उल्लेख किया है। पञ्चतन्त्रकी कथाओंका ससारके कथा-साहित्यपर व्यापक प्रभाव पडा।

विश्व-बाल-साहित्यकी एक अनुपम कृति है—'ईसपकी कहानियाँ'। यूनानी भाषाकी यह कृति एक गुलाम ईसपने लिखी थी। ईसपकी कहानियाँ पञ्चतन्त्रकी कहानियोंसे मिलती-जुलती हैं। यह समानता कथानक पात्र, उद्देश्य आदि सभीमे है। पञ्चतन्त्रकी कहानियाके समान ये कहानियाँ भी जीव-जन्तुओकी कहानियाँ हैं ओर पञ्चतन्त्रके समान इनमे भी नीति-तत्त्वकी प्रधानता हे। इसी कारण सभी विद्वानाने पञ्चतन्त्रको ही इन कहानियाका मूलाधार माना है।

इम अनुपम कृति 'पञ्चतन्त्र' की रचना कैसे हुई, इस बारेमे भी विवरण मिलता है। दक्षिण जनपदम महिलारोप्य नामका नगर था। वहाँ याचकोके लिये कल्पवृक्षके समान, सकल कलाआमे पारगत अमरशक्ति नामक एक राजा थे। उनके तीन परम मूर्ख पुत्र हुए। वे पढ नहीं सके। राजा बहुत चिन्तित रहते। एक दिन उन्होन अपने मन्त्रियोसे कहा—'देखिये, मेरे पुत्र शास्त्र-विमुख ओर बुद्धिरहित हैं। इन्हे देखकर इतना विशाल राज्य भी मुझे सुखकर नहीं लगता। ऐसा कोई उपाय कीजिये जिससे इनकी बुद्धि जाग्रत् हो सके और मेरी मन कामना भी पूरी हो सके।'

एक पण्डित खडे हुए और बोले—'दव! व्याकरणका अध्ययन बारह वर्ष करना पडता है। इसके बाद धर्मशास्त्र अर्थशास्त्र और अन्य शास्त्राका अध्ययन करना होता है। तब कहीं बुद्धि जागती है।'

तभी सुमति नामक मन्त्री बोल उठे—'यह जीवन नाशवान् है। शब्दशास्त्र सीखनेमें बहुत वर्ष लग जाते हैं। राजकुमारोकी शिक्षाके लिये किसी छोटे उपायका विचार करना चाहिये। सब शास्त्रामे पारगत विष्णुशर्मा हमारे राज्यम ही हैं। आप अपने राजकुमारोको उन्हे सौंप दीजिये।'

राजा अमरशक्तिने विष्णुशर्माको बुलवाया और बोले—'भगवन्! मेरे ऊपर कृपा करके आप इन राजकुमाराको शास्त्रोका ज्ञान दीजिये। मैं आपका सौ गुनी जागार भेंट करूँगा।'

विष्णुशर्मा राजासे बोले—'देव! सो गुनी जागीरक लोभमे मैं अपनी विद्या बेच नहीं सकता। हाँ मैं छ महीनेमे ही आपके पुत्रोको नीतिशास्त्रज्ञ बना दूँगा। अस्सी वर्षका होनेपर अब मुझे धनकी कोई जरूरत नहीं है। यदि

आजसे छ महीने बीतनपर में आपके पुत्राको दूसरोकी तरह नीतिशास्त्रमे कुशल न कर दूँ तो में मोक्षका भागी न बनूँ।'

विष्णुशर्माके इस कथनसे राजा प्रसन्न हुए। उन्हाने अपन राजकुमारोका उन्ह सौंप दिया। विष्णुशर्मा उन कुमारोको अपने साथ ले गये। उनक लिये उन्हाने पाँच तन्त्रोंकी रचना की। जेसे—मित्रभेद, मित्रसम्प्राप्ति, काकोलूकीय लब्धप्रणाश ओर अपरीक्षितकारक। इन्हीं पाँच तन्त्राका समवाय 'पञ्चतन्त्र' कहलाता हे।

इस प्रकारकी पढाईस छ महीनामे राजकुमाराका नीतिशास्त्रम अच्छी पकड हो गयी। राजकुमाराम जैसी चतुराई और समझ होनी चाहिये वे उससे सम्पन्न हो गय।

'पञ्चतन्त्र' सस्कृत-साहित्यकी अमूल्य निधि है। इसकी कहानियामे दिय गये विचार व्यावहारिक जगत्के हे। पञ्चतन्त्रकी अनेक कहानियाने लोक-कथाआका रूप ले लिया और इस प्रकार युगासे य कहानियाँ शिक्षितासे लकर अशिक्षितातक नगरस लेकर दूर अगम्य ग्राम्याञ्चलातक लागाका मनोरञ्जन ओर जीवन-निर्माण करती आ रही हैं। अनेक कहानियाने काव्य आदि अन्य विधाआका रूप ले लिया है। विश्वके लाक-साहित्यको भी इन कहानियाने सूत्र प्रदान किये हैं।

'पञ्चतन्त्र' के बारेमे इतना स्पष्ट हे कि उसका उद्देश्य मात्र शिक्षा देना था। उसम नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्रका प्रभाव भी लक्षित होता है। पशु-कथाम आमतौरसे वर्णन स्वभावत गद्यम किया जाता था परतु उस कथाके उपदेशको पद्यरूपम रखकर स्मृतिमे बैठा देनेका प्रयास पञ्चतन्त्रमे स्पष्ट दिखायी देता है।

हितोपदेश

यह नीतिविषयक कथाआका प्रख्यात ग्रन्थ है जिसक लेखक नारायण पण्डित हैं। इसके कुल चार परिच्छेद हैं—मित्रलाभ सुहृद्भेद विग्रह और सधि। इसकी लगभग आधी कथाएँ पञ्चतन्त्रसे ली गयी हें। कहानियाँ पशु पक्षियोसे सम्बद्ध हैं।

एक कहानी इस प्रकार बतायी गयी है—एक चूहा था। उसे बिल्लीका डर हरदम सताया करता था। उसने एक तपस्वीसे निवेदन किया कि वह उसे बिल्ला बना दें। तपस्वीने वैसा ही कर दिया। बिल्ला बन जानेके बाद उसे कुत्तेका भय सताने लगा। उसने तपस्वीसे कहा तो उस पर उन्हाने उसे कुत्ता बना दिया। फिर भी वह भयमुक्त न हो सका, उसे व्याघ्रका भय सताता। तपस्वीसे उसने कहा तो फिर उसने उसे व्याघ्रके रूपमे बदल दिया। परतु व्याघ्र बन जानेपर तो वह तपस्वीपर ही झपटनेको बढा। यह देख तपस्वीने उसे फिर चूहा ही बना दिया।

मित्रलाभके अन्तर्गत एक अन्य कथा हे चित्रग्रीव कबूतरकी। चित्रग्रीव कबूतराका सरदार था। एक दिन जगलमे एक शिकारी आया। उसने अनाजके दाने बिखेर दिये। चित्रग्रीवने धोखबाज शिकारीकी चाल भाँप ली। उसने कबूतरासे कहा कि वे दाने न चुगें। परतु कबूतराने लालचके कारण उसकी बात नहीं मानी। वे शिकारीके जालमे फँस गये और पछताने लगे। चित्रग्रीवने कबूतराको राय दी कि वे जालसहित एक साथ उड चलें। कबूतर उड चले। वे हिरण्यक चूहेके पास पहुँचे। चित्रग्रीवने अपने मित्र चूहेसे कहा—पहले इनका बन्धन काटो फिर मुझे मुक्त करना। इस तरह कबूतर शिकारीसे बचकर उड गये।

कथाके अन्तमे श्लोक आता है, जिसका अर्थ है कि आपत्तिके समय माता-पिता और मित्र ही सहायता करते हैं, शेष तो अपनी कार्यसिद्धिके लिये अपना हितसाधन किया करते हैं।

'हितोपदेश' की कहानियाँ रोचक हैं और उनमें नीति-सम्बन्धी कोई-न-कोई सूत्र भी आता है। कथाएँ सूझ-बूझ और चतुराईसे भरपूर हैं।

अधिक तृष्णा नहीं करनी चाहिये

किसा वन-प्रदशम एक भील रहा करता था। वह बहुत साहसी वीर आर श्रेष्ठ धनुधर था। वह नित्य-प्रति वन्य-जन्तुआका शिकार करता और उसस अपनी आजीविका चलाता तथा परिवारका भरण-पापण करता था। एक दिन जव वह वनम शिकारके लिय गया हुआ था तो उसे काले रगका एक विशालकाय जगली सूअर दिखायी दिया। उस देखकर भीलन धनुपको कानतक खींचकर एक तीक्ष्ण बाणस उसपर प्रहार किया। बाणकी चाटस घायल सूअरन क्रुद्ध हा साक्षात् यमराजक समान उस भीलपर वडे वेगस आक्रमण किया आर उसे सँभलनका अवसर दिये विना ही अपने दाँतासे उसका पेट फाड दिया। भील वहीं मरकर भूमिपर गिर पडा। सूअर भी बाणकी चोटस घायल हो गया था, बाणने उसके ममस्थलको वेध दिया था अत उसकी भी वहीं मृत्यु हो गयी। इस प्रकार शिकार और शिकारी दाना भू-लुण्ठित हा गय।

उसी समय भूख-प्याससे व्याकुल काई सियार वहाँ आया। सूअर तथा भील दोनाका मृत पडा हुआ देखकर वह प्रसन्न मनस साचन लगा—मरा भाग्य अनुकूल है, परमात्माकी कृपासे मुझे यह भोजन मिला ह। अत मुझे इसका धीरे-धीरे उपभोग करना चाहिये जिससे यह बहुत समयतक मरे काम आ सक।

ऐसा सोचकर वह पहले धनुपम लगी ताँतकी बनी डोरीका हा खाने लगा। उस मूर्ख शृगालन भील आर सूअरक मासके स्थानपर ताँतकी डारीका खाना शुरू किया। थाडी ही देरम ताँतकी रस्सी कटकर टूट गयी जिससे धनुपका अग्रभाग वेगपूर्वक उसके मुखक आन्तरिक भागम टकराया आर उसक मस्तकको फाडकर बाहर निकल गया। इस प्रकार तृष्णाक वशीभूत हुए शृगालकी भयानक एव पीडादायक मृत्यु हुई।

इसीलिय नीति वताता है—'**अतितृष्णा न कर्तव्या**'—अधिक तृष्णा नही करनी चाहिये।

(पञ्चतन्त्र, मित्रसम्प्राप्ति)

मूर्खको उपदेश देना अहितकर होता है

किसी वनमे शमीका एक विशाल वृक्ष था। उसकी एक लम्बी शाखापर गौरयाका एक जाडा रहा करता था। हेमन्त ऋतुका समय था आकाश काले बादलासे घिरा था और धीरे-धार वर्षा भी हो रही थी। अपन घासलम बठा, गौरेया-दम्पती बादलाका दख रहा था। थोडी देरम वर्षा तेज हा गयी और ठण्डी हवा भी चलने लगी। इतनेम ही वर्षासे भीगा तथा ठण्डक मार दाँत कटकटाता हुआ एक वन्दर आकर उस शमी-वृक्षक नीचे बैठ गया।

उसे इस प्रकार ठण्डस कष्ट पाते दखकर गौरेयान कहा—'हे सौम्य! तुम तो हाथ-पैरसे युक्त आर देखनेम पुरुषके समान हा। क्या नहीं एक घर बना लेते, जिससे वर्षा, शात आर गरमीसे रक्षा हो सके।'

उसकी इस प्रकारकी बात सुनकर वानर क्राधपूर्वक वाला—'रे दुष्ट! तू मेरा उपहास करती ह। तू चुप क्या नहीं रहती मरे घरसे तेरा क्या प्रयाजन ह?'

गौरेयान पुन समझात हुए कहा—अरे मूख! घर हाता ता इस तरह भीगकर दाँताकी वीणा ता न बजाता यदि घर नहीं बना सकता तो काई गुफा या गिरि-कन्दरा ही खोज लो। इस प्रकारके कष्टसे तो बच जाओगे।

इतना सुनना था कि बन्दर आग-बबूला हा गया आर उछलकर पडकी डालपर चढकर बाला—सूईके सदृश मुँहवाली दुष्टे! मर बार-बार मना करनेपर भी तू मेरा उपहास करती जा रही है। यदि मेरा कोई घर नहीं ह ता जिस घर (घासले)-पर तुझे गव हे आर जिसक कारण तू ज्ञानोपदेश दे रही ह, मैं उसीको उजाडे देता हूँ। यह कहकर उसने घासलक टुकड-टुकडे कर दिये।

इसलिये कहा गया है—

उपदशो हि मूर्खाणा प्रकोपाय न शान्तये।
पय पान भुजङ्गाना केवल विपवर्धनम्॥

अथात् मूर्खोंको दिया गया उपदेश उसी प्रकार उनक क्रोधको ही बढानवाला हाता ह न कि शान्तिक लिय जिस प्रकार कि सर्पोंको दूध पिलानेस उनके विपका हा वर्धन हाता है।

वेचारा गौरेयाने तो बन्दरका नक सलाह दी था पर उसे क्या मालूम कि मूर्खको उपदश दनका परिणाम भयङ्कर होता है। (पञ्चतन्त्र, मित्रभेद)
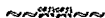
सगठन और समूहमे शक्ति होती है

किसी वनमे तमालके एक वृक्षपर घासला बनाकर चटक पक्षी (गारवा)-का एक जाडा रहता था। कालान्तरम चटकाने अडे दिये अभी अडासे वच्चे निकल भी न पाये थे कि एक दिन किसी मतवाल हाथीन आकर वृक्षकी उस शाखाको तोड डाला जिसपर चटक-दम्पतीका घासला था। चटक-दम्पत्ता ता भाग्यवश वच गये, परतु सार अडे फूट गये।

चटका व्यथित हृदय हा रुदन करन लगी, उसे किसी भी प्रकारसे शान्ति न मिल सकी। चटक-दम्पतीका मित्र 'कठफाडवा' नामका एक पक्षी था। चटकाको रुदन करते देख वह उसके समीप जाकर सान्त्वना दने लगा। चटकाने कहा—उस दुष्ट हाथीन हमारे घासलको ताड दिया और सारे अडाका भी फोड डाला है। अत उसे दण्ड मिलना हा चाहिय। विना उसे दण्ड दिलाये मेरे हृदयको शान्ति नहीं।

कठफोडवाने कहा—दवि! हमलोग उस हाथीके सामने तुच्छ हें परतु सगठनमे बडी शक्ति होती है। हम लोग सामूहिकरूपसे प्रयास करक उससे बदला ले सकत हैं। मेरी 'वीणारवा' नामकी एक मक्खीसे मित्रता ह, मैं उससे भी सहायता करनेका कहूँगा।

चटकाको आश्वासन देकर कठफाडवा 'वीणारवा' मक्खीक पास गया। वीणारवान चटकाकी दु खद घटना सुनकर कहा कि में तुम्हारी सहायता अवश्य करूँगी, पर तुम्ह मेरे मित्र 'मेघनाद' नामक मंढकके पास चलना होगा। वह वहुत ही वुद्धिमान् ह और उसकी याजनास हमलाग अवश्य ही हाथीका पराजित कर सकगे। तदनन्तर व मेघनादके पास गय।

कठफोडवा और वीणारवाकी वात सुनकर मेघनादन कहा—हम जीव-समुदायक सगठनक समक्ष वह हाथा क्या चीज ह? इसलिय आप सव मर योजनानुसार काम करें। कल दोपहरम वीणारवा मक्खी हाथीक कानक पास जाकर वीणा-जैसी मधुर ध्वनिका गुञ्जार करेगी, जिम सुनकर हाथी मुग्ध हो अपने नेत्र वद कर लगा। ठीक उसी समय कठफाडवा हाथीकी दोना आँखाको अपनी सूने-जैसी चाचस फोड देगा। अन्धा हाथी जव प्यासस व्याकुल हागा ता मैं एक वडे गड्डके पाससे अपने परिवारजनाक साथ टर-टर्रकी आवाज करूँगा, जिसस उस जलका भ्रम होगा और वह गड्ढेम गिर जायगा तथा भूख-प्यासम तडप तडपकर मर जायगा।

अगले दिन उन सवने इसी प्रकार योजनाबद्ध ढगसे हाथीको अन्धा करके गड्ढम गिरा दिया और वह मदमत्त हाथी भूखा-प्यासा होनेस तडप-तडपकर वहीं मर गया।

इस प्रकार नीति यह वताती है कि समूहम वडा शक्ति होती है। सगठन और समूह-भावनासे कार्य करनपर बडे-से-बडा कार्य भी सम्भव हो जाता ह। मैत्रा-भावमे सभी कार्य सम्पन्न हो जात हैं आर सताप भी प्राप्त होता है। (पञ्चतन्त्र, मित्रभेद)

शारीरिक बलसे उपाय श्रेष्ठ है

किसी वनम वरगदका एक विशाल वृक्ष था। उसकी घनी शाखाआपर अनेक पक्षी रहा करते थे। उन्हींमसे एक शाखापर एक काक-दम्पति रहता था और वृक्षके ही खोखलेम एक काला साँप भी रहा करता था। जव भी मादा कौआ अडे देती तो वह उन्ह खा जाया करता था। कौएके अडाको खा जाना उस दुष्ट सर्पका स्वभाव वन गया था। काक-दम्पति उसके इस आचरणसे बहुत दु खित रहता था परतु उन्ह इसका काई उपाय न सूझता था।

एक दिन वे दाना अपन मित्र शृगालके पास गये और उसस अपना दु ख कहत हुए रा पड। उनक करुण वृत्तान्तको सुनकर शृगाल भी बहुत दु खी हुआ और बोला—'मित्र! चिन्ता करनेसे कुछ नहीं हागा। हम उस दुष्ट सर्पको शारीरिक वलसे ता नहीं जीत सकत, क्योंकि उसक विषदन्तका एक ही प्रहार हम यमलोकका राहा वना देगा। परतु किसा उपाय या युक्तिसे काम वन सकता ह। में तुम्हें एसा उपाय वताऊँगा जिसस तुम्हारा शत्रु अवश्य ही मारा जायगा।'

इसपर काकन कहा—'हे मित्र! शीघ्र ही वह उपाय

बतलाओ, क्याकि वह दुष्ट सर्प मेरी वश-परम्पराका ही लोप करनेपर तुला हुआ है।'

शृगालने कहा—'तुम किसी राजाकी राजधानीमे चले जाओ, वहाँ किसी धनी व्यक्ति, राजा अथवा मन्त्रीकी सोनेकी लडी या हार लाकर उस दुष्ट सर्पके खोखलेमे डाल दो। उस हारको खोजते हुए राजसेवक आकर काले साँपको मार डालगे ओर हार भी ले जायँगे। इस प्रकार तुम्हारा वैरा मारा जायेगा।'

यह सुनकर व दाना नगरकी ओर उडे, वहाँ राज-सरोवरमे अन्त पुरकी स्त्रियाँ जलक्रीडा कर रही थीं। उनके आभूषण किनारे रखे हुए थे और राजमेवक उनकी निगरानी कर रहे थे। राजपुरुपाको असावधान देखकर कौएकी स्त्रीने एक झपट्टेम ही रानीका हार उठाया और अपने घोंसलेकी ओर उड चली। कौएकी स्त्रीको हार ले जाते दखकर राजपुरुप भी शोर मचाते हुए उसके पीछे-पीछे दोडे, परतु आकाशमार्गसे जाती हुई उसे वे भला केसे पकड सकते थे? उसने हार ले जाकर साँपके खोखलेमे डाल दिया और स्वय दूर एक पेडपर बैठ गयी। राजपुरुषोने उसे हारको खोखलेमे डालते देख लिया था। जब वे वहाँ पहुँचे ता उन्हाने फन उठाये एक काले साँपको दखा। फिर क्या था? डण्डोके प्रहारसे राजपुरुषान उस काले सर्पको मार डाला और हार लेकर चले गये। काक-दम्पतिने भी शृगालको उसके बुद्धि-चातुर्यके लिये साधुवाद दिया ओर फिर वे दोना निश्चिन्त हो आनन्दपूर्वक रहने लगे।

इसीलिये कहा गया हे कि 'बलवान्‌को उपायसे ही जीतना चाहिये।' (पञ्चतन्त्र, मित्रभेद)

खूब विचारकर कार्य करनेसे ही शोभा है

किसी वनम खरनखर नामक एक सिह रहता था। एक दिन उसे बडी भूख लगी। वह शिकारकी खोजमे दिनभर इधर-उधर दौडता रहा पर दुर्भाग्यवश उस दिन उसे कुछ नहीं मिला। अन्तम सूर्यास्तके समय उसे एक बडी भारी गुफा दिखायी दी। वह उसमें घुसा तो वहाँ भी कुछ नहीं मिला। तब वह सोचने लगा, अवश्य ही यह किसी जीवका माँद है। वह रातम यहाँ आयेगा ही, अत यहाँ छिपकर बैठता हूँ। उसके आनपर मेरा आहारका कार्य हो जायगा।

इसी समय उस माँदम रहनेवाला दधिपुच्छ नामक सियार वहाँ आया। उसने जब दृष्टि डाली तो उसे पता लगा कि सिहका चरण-चिह्न उस माँदकी ओर जाता हुआ तो दीखता है पर उसके लौटनेके पद-चिह्न नहीं हैं। वह सोचने लगा—'अरे राम! अब तो मै मारा गया क्योंकि इसके भीतर सिह है। अब मैं क्या करूँ, इस बातका सुनिश्चित पता भी कैसे लगाऊँ?'

अन्तम कुछ देरतक साचनेपर उसे एक उपाय सूझा। उसने बिलको पुकारना आरम्भ किया। वह कहन लगा—'ए बिल! ऐ बिल!' फिर थोडी देर रुककर बोला—'बिल! अरे क्या तुम्हे स्मरण नहीं है, हमलोगाम तय हुआ है कि मैं जब भी यहाँ आऊँ तब तुम्ह मुझे स्वागतपूर्वक बुलाना चाहिये। पर अब यदि तुम मुझे नही बुलाते हो तो मे दूसरे बिलमे जा रहा हूँ।' इसे सुनकर सिह सोचने लगा—'मालूम होता है कि यह गुफा इस सियारको बुलाया करती थी पर आज मेरे डरसे इसकी बोली नहीं निकल रही है। इसलिये म प्रेमपूर्वक इसे बुला लूँ ओर जब यह आ जाय तब इसे चट कर जाऊँ।'

ऐसा साचकर सिहने उस जोरसे पुकारा। अब क्या था उसके भीषण शब्दसे वह गुफा गूँज उठी और वनक सभी जीव डर गये। चतुर सियार भी इस श्लोकको पढता भाग चला—

अनागत य कुरुते स शोभते
स शोच्यते यो न करोत्यनागतम्।
वनेऽत्र सस्थस्य समागता जरा
बिलस्य वाणी न कदापि मे श्रुता॥

(पञ्चतन्त्र काकोलूकीय २१२)

अर्थात् 'जो सावधान होकर विचारपूर्वक कार्य करता है, वह तो शोभा पाता है ओर जो बिना विचारे कर डालता है, वह पीछे पश्चात्ताप करता है। में इस वनमे ही रहते-रहते बूढा हो गया, पर मैंने आजतक कभी बिलकी बोली नहीं सुनी। अवश्य ही दालमे कुछ काला है अर्थात् माँदमे सिह बैठा हुआ है।'
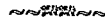
'दीर्घसूत्री विनश्यति'

[तीन मत्स्योंकी कथा]

नीति हमे यह बताती ह कि जा व्यक्ति प्रत्येक कार्यम अनावश्यक विलम्ब करता हे, वह दीर्घसूत्री कहलाता ह एसे व्यक्तिका कोई कार्य सिद्ध नहीं होता और कभी ऐसा भी हो जाता है कि इस बुरी आदतके कारण उसके प्राण भी सकटम पड जाते हैं। इस सम्बन्धमे महाभारतम एक कथा आयी है—

किसी स्थानपर एक तालाब था जा बहुत अधिक गहरा नहीं था। उस तालाबमे बहुत-सी मछलियाँ रहा करती थीं और तीन बड मत्स्य भी उनके साथ रहते थे,। उनकी आपसमें बडी अच्छी मत्री थी। व साथ-साथ ही इधर-उधर भ्रमण किया करते। उन तीनो मत्स्याके नाम उनके गुण-कर्म एव स्वभावके अनुसार थ। पहल मत्स्यका नाम था—'अनागतविधाता (दीर्घदर्शी या दूरदर्शी)' किसी सकटके आनेसे पहले जो अपनी रक्षाका उपाय कर लेता है, वह अनागतविधाता कहलाता है। पहला मत्स्य एसा ही था। इसीलिये उसका नाम 'अनागतविधाता' था। दूसरे मत्स्यका नाम था—'प्रत्युत्पन्नमति (तत्कालप्रज्ञ)'। प्रत्युत्पन्नमति उसे कहते हैं जिसे ठीक समयपर आत्मरक्षाका उपाय सूझ जाता है। तीसरे मत्स्यका नाम था—'दीर्घसूत्री'। दीर्घसूत्रीका मतलब है कर्तव्य-अकर्तव्यका निश्चय करनम अनावश्यक विलम्ब करनवाला—आलसी या प्रमादी।

य तीना ही मत्स्य अपने-अपने स्वभावके अनुसार उस जलाशयमे रहा करते थ।

एक बारकी बात है कुछ मछलीमारोने मछलियाँ पकडनेके लिय उस जलाशयक चारा आर छोटी-छोटी नालियाँ बना दीं, जिस कारण धार-धीर चारा तरफ पानी बहने लगा।

यह सकट आया देखकर उनम जा दूरतककी बात सोचनवाला पहला मत्स्य अनागतविधाता था उसन अपन उन दो साथी मत्स्यास कहा—

भाइयो! देखो इस लागाक लिय महान् सकट उपस्थित हा गया हैं। तालाबका पानी धीर-धीर कम हो रहा ह आर थाडी ही देरम सब पानी बाहर निकल जायगा तथा वे मछुआर हमे पकड लग, इसलिये उससे पहले हा हमलागाको किसी प्रकार यहाँसे बच निकलना चाहिय। क्याकि सकट आनस पहले ही जो नीतिद्वारा उस मिटा दता हे, वह कभी सकटम नहीं पडता, आपलोगाको मरा बात जँचे तो हम शीघ्र ही किसी दूसरे जलाशयम चले जाना चाहिय।

इसपर तीसरा मत्स्य जो दीर्घसूत्री था वह बोल पडा—'मित्र! तुम बात तो ठीक ही कह रहे हा, किंतु मरा तो यह विचार ह कि पानी बहुत धीरे-धीरे कम हो रहा है, अभी तो तालाबमे पानी बहुत है, अत इतनी जल्दी क्या ह। जब समय आयगा तब देखा जायगा।'

तदनन्तर प्रत्युत्पन्नमति नामवाला दूसरा मत्स्य दूरदर्शीसे बोला—मित्र! तुम्हारी सलाह उचित ही है किंतु मुझम ऐसी प्रतिभा है कि जब सकटकाल उपस्थित हानेको हाता है तब मरी बुद्धि ठीक समयपर उचित निर्णय द देती है कभी भूल होती ही नहीं।

पहले मत्स्य (दूरदर्शी)-ने अपन दाना मित्राकी बात सुन ली, किंतु उस उनकी बात ठीक नहीं लगी, अत वह अनागतविधाता नामक बुद्धिमान् मत्स्य वहाँसे धीरेसे एक नालेक रास्ते छिपकर निकलता हुआ दूसरे गहरे जलाशयम जा पहुँचा आर निर्भय हा सुखपूर्वक रहने लगा।

उधर मछुआरोने देखा कि जलाशयका पानी काफी कम हा गया है तो उन्हाने जाल आदिके सहार दूसरी अन्य मछलियाका जालम फँसा लिया। इधर दीर्घसूत्री नामक मत्स्य भी समयकी प्रतीक्षा ही करता रह गया और अपन आलस्य तथा प्रमादके कारण जालम फँस गया एव बच गया प्रत्युत्पन्नमति नामवाला मत्स्य। सकटकी घडी ता आ ही चुकी थी अत उसन तुरत युक्तिसे काम लिया। उसने अपन मुँहसे जालको बाहरसे इस प्रकार पकडा जिससे मछुआराको लगे कि यह भी जालम ही फँसा हुआ है। जालका खींचनपर वह भी अन्य मछलियाक समान

जालका पकड हुए बाहर आ गया। मछुआरे उस प्रत्युत्पन्नमति नामक मत्स्यके बुद्धिचातुर्यको समझ न सके। वे जालको खींचकर, उठाकर एक दूसरे बड जलाशयक पास गय और वहाँ जालके साथ मछलियाको उस तालाबक जलमे धान लगे। प्रत्युत्पन्नमति मत्स्य इसी अवसरकी पतीक्षा कर रहा था। मछुआराने ज्यो ही जालका तालाबक पानीम डुबोया, उसी क्षण उसने अपन मुँहस पकडे हुए जालकी ताँतको छोड दिया और शीघ्र ही गहर जलम अदृश्य हो गया।

इस प्रकार अनागतविधाताने तो पहल ही सकटसे अपनेको बचा लिया प्रत्युत्पन्नमतिने अवसर आनेपर अपने बुद्धिकौशलस अपनेको बचा लिया। ये दोना तो सुखके भागी हुए, कितु जा तीसरा दीर्घसूत्री नामक मत्स्य था वह अन्य मछलियाके समान मछुआराका भक्ष्य बन गया।[१]

इसी तरह जो मनुष्य माहवश प्रमादम पडकर अपने सिरपर आये कालको नहीं समझ पाता वह दीर्घसूत्री मत्स्यके समान शीघ्र हा नष्ट हा जाता ह। इसके साथ ही जो मनुष्य अपनेको बहुत बुद्धिमान् आर कार्यकुशल समझकर अभिमानमे पडा रहता ह ता उसका जीवन भी उस प्रकार सशयम पडा रहता ह जिस प्रकार प्रत्युत्पन्नमतिवाले मत्स्यके प्राण सशयमे पड हुए थे।[२] कदाचित् मछुआरे उसकी चाल समझ गय हात तो उसी समय मार डालत।

अत नीति यह बताती ह कि जबतक काल उपस्थित न हा जाय उससे पहले ही हम अपन कल्याण-पथको प्रशस्त बना लेना चाहिय। यही श्रयस्कर मार्ग ह। प्रत्युत्पन्नमति मत्स्यके समान अवसरकी प्रतीक्षा भी नही करनी चाहिये क्याकि यह मार्ग भी सशयात्मक है। पहला मार्ग तो उत्तम है और दूसरा मध्यम कितु इसके विपरीत दीघसूत्री मत्स्यकी नीतिका अनुकरण करनेपर तो हम इहलोक तथा परलाक—दानोम ही दुर्गतियाको भुगतना पडगा। अत अनागतविधाता (दूरदर्शी) बननेकी चष्टा करनी चाहिय। (महा०, शान्ति० १३७

आँखे खोलनेवाली कथा

[सज्जन ओर दुर्जनचरित]

किसी निर्जन वनम फल-मूलका आहार करनेवाले एक जितन्द्रिय मुनि रहा करत थे वे महान् तपस्वी थे। वे प्रतिदिन शास्त्रोका स्वाध्याय जप-तप किया करते ओर भगवत्-ध्यानमे परायण रहत थे। उनका अन्त करण अत्यन्त निर्मल था और उनम सत्यकी पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी। तपोवनम एक वृक्षके नीचे वे आसन लगाकर भगवान्‌की ध्यान-समाधिम निरत रहते थे।

महर्षिके सद्भावको देखकर जगली हिसक प्राणी भी वहाँ आया-जाया करते एव मृग, पशु-पक्षी किसीका किसीका भय नहीं रहता। मुनिकी तपस्याका एसा प्रभाव था कि हिसक प्राणी भी उस क्षेत्रम अहिसक बन जाते थे। वे सभी शिष्यकी भाँति महर्षिके पास आते बठते आर जब इच्छा हा चले भी जात। इतना ही नहीं वे जानवर ऋषिका कुशल-क्षेम भी पूछते। महर्षिके सद्भावस उन जीवाका उनसे शुद्ध स्नह हा गया था।

उन्हीं जानवराम एक कुत्ता भी था। वह उनका भक्त बन गया था और जानवर ता आते, बठत तथा वापस चले जात, कितु कुत्ता वहीं पडा रहता। उसने भी मुनिवृत्ति अपना ली, वह उपवास करनसे अति कृश हा गया था। वह भी महर्षिके समान ही फल-मूलका आहार करता। महर्षिके समीप ही रहनेवाला वह कुत्ता उन महर्षिम अनुरक्त हो गया—स्नेहके बन्धनमें बँध गया।

कुछ समयके बाद भयकर आकृतिवाला मासभाजी एक चीता कहींसे उस आश्रमके समीप आ पहुँचा आर कुत्तेको दखकर वह लाल-लाल आँख करक उसकी आर बढा। कुत्ता डरके मारे महर्षिके समीप जा पहुँचा आर

१ एव प्राप्ततम काल यो मोहान्नावबुद्ध्यत । स विनश्यति वै क्षिप्र दीर्घसूत्रो यथा झष ॥
आदौ न कुरुते श्रय कुशलोऽस्मीति य पुमान् । स सशयमवाप्नाति यथा सम्प्रतिपत्तिमान्॥ (महा० शान्ति० १३८।१८-१९)

२ अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिश्च य । द्वावेव सुखमधेते दीर्घसूत्रो विनश्यति॥ (महा० शान्ति० १३७। २०)

अपनी रक्षाकी प्रार्थना करने लगा।

महर्षि सभी प्रकारके ऐश्वर्यसे सम्पन्न थे। सबके मनोभावको जाननेवाले और समस्त प्राणियाकी बोली समझनेवाले थ। उन्हाने कुत्तेको भयभीत देखकर कहा—

वत्स! डरो मत। मै तुम्हे इससे भी बडा और अधिक बलशाली चीता बना देता हूँ, तब तुम्हे देखकर यह डरकर भाग जायगा।

हुआ भी ऐसा ही। कुत्ता अब विशाल चीता बन गया। पहलेवाले चीतेने दूसरा चीता देखा तो उसका वैरभाव दूर हो गया। वह अन्यत्र चला गया। दूसरा चीता निर्भय हो उस वनमे रहने लगा।

कुछ दिनाके बाद एक महाभयकर बाघ वहाँ आया और उसने चीता बने हुए उस कुत्तेको खाना चाहा। इसपर वह चीता पुन महर्षिकी शरणम आया और दयालु ऋषिने उसे चीतेसे बहुत बडा बाघ बना दिया। पहलेवाला बाघ उसे भी बाघ समझकर चुप-चाप अन्यत्र चला गया। इधर वह कुत्ता बाघ बनकर मासाहारी होकर वनमे निर्भय हो विचरने लगा। विचित्रता देखिये जो कुत्ता पहले फल-मूल ही खाता था आज बाघ बनकर मासाहारी हो गया।

एक दिन एक बहुत बडा काले रगका हाथी वहाँ आया जहाँ वह बाघ बैठा था। बाघको देखकर वह भयकर गर्जना करने लगा। डरकर बाघ पुन महर्षिकी शरणमे गया। तब उन मुनिश्रेष्ठने उस बाघको भी बहुत विशाल हाथी बना दिया। उसे देखकर पहलेवाला हाथी डरकर भाग गया।

कुछ दिनोके बाद उस प्रदेशम एक बहुत बडा सिह गर्जना करते हुए आया। हाथी उसे देखकर डर गया और प्राणाकी रक्षाकी प्रार्थना करता हुआ महर्षिक पास गया। ऋषिने उसे भी बहुत बडा दूसरा सिह बना दिया। उसे देख पहला जगली सिह डरकर भाग गया। वह सिह बना कुत्ता उसी महावनम आश्रमक समीप ही रहने लगा। उसके भयकररूपको देखकर जगलके दूसरे पशु डर गये और वे अब उस आश्रमक समीप डरके मारे नहीं आते थे।

कुछ दिना बाद दैवयागस एक महाभयकर शरभ वहाँ आया। उसके आठ पैर थे और नेत्र ऊपरकी आर उठ थे। वह रक्त पीनेवाला जानवर वन्य-जन्तुआका त्रास पहुँचानवाला था। उस सिहको मारनेकी दृष्टिसे वह आश्रमके समीप पहुँचा। महान् शरभको अपनी आर आते देख सिह भयस अत्यन्त व्याकुल हो गया और थर-थर काँपने लगा, वह शीघ्र ही उन मुनिकी शरणम गया। महर्षि तो साधु प्रकृतिक थे ही, उन्हाने शरणम आये उस सिहको महाशरभ बना दिया। जगली शरभ उस मुनिनिर्मित शरभका दखकर डर गया और वहाँसे भाग खडा हुआ।

इस प्रकार मुनिकी दयालुता, सज्जनता और शरणागतवत्सलतासे वह सामान्य कुत्ता शरभ होकर आश्रमक समीप ही रहने लगा। वह वन्य जन्तुआको मारकर उनक माससे अपनी भूख मिटाता था। जगली जीव जो पहले तपोवनम निर्भय और शान्तभावसे रहते थे व उस शरभसे भयभीत हो वहाँसे पलायन कर गये।

वन्य जीवाके वहाँसे अन्यत्र चले जानेपर शरभकी भूख तो मिटती नहीं थी। वह तो मासभाजी था उसे मास ही चाहिये। वह कबतक भूखा रहता। अब तो उसे वे मुनि ही अपने आहारक रूपमे दिखायी देने लग।

वाह रे स्वभाव! कृतघ्नताकी पराकाष्ठा! जिन मुनिक प्रभावसे प्राणरक्षाके लिये वह कुत्ता अनेक योनियामें पहुँचकर निर्भय शरभ बना वही आज उन्हीं दयालु सज्जन मुनिको अपना आहार बनाना चाह रहा है। उसने यह सोचकर कि इन मुनिके स्वभावका क्या ठिकाना, ये किसी दूसरे शरणम आये हुएको मुझसे भी बडा आर महाभयकर जीव बना सकते हैं जा मुझे ही मार डालेगा। इसलिये जबतक ये ऐसा नहीं कर लेते अच्छा यही ह कि मैं उससे पहले इन्हे ही अपना ग्रास बना लूँ। इनके वध हो जानसे ता मैं फिर निर्भय हा विचरण करूँगा। मुनि ता ज्ञानशक्तिसे सम्पन्न थे ही उन्हाने दुष्ट शरभके मनोभावको जान लिया। वे उससे कहने लगे—

अरे मूर्ख! तू पहले कुत्ता था फिर चीता बना चीतेसे बाघकी योनिमे आया बाघसे मदान्मत्त हाथी हुआ हाथीसे सिहकी योनिमें आया और फिर शरभका शरीर पा गया।

यद्यपि तू नीच कुलमे उत्पन्न हुआ था तो भी स्नेहवश मैंने तेरा परित्याग नहीं किया। इसके विपरीत तुम्हारे मनमे मेरे प्रति पापभाव उत्पन्न हुआ है, तू मेरा ही वध करना चाहता है अत जा तू अपनी पूर्व योनिमे ही आकर कुत्ता हो जा।

मुनिके इतना कहते ही वह दुष्टात्मा शरभ कुत्तेके रूपमे परिणत होकर अत्यन्त दीनदशाको प्राप्त हो गया। ऋषिने उसे अपने तपोवनसे भी बाहर निकाल दिया।

यह नीतिकथा बताते हुए भीष्मजीने युधिष्ठिरसे कहा—राजन्! सत्पुरुष अपना स्वभाव नहीं छोडते। वे चाहे जितनी भलाई करे, किंतु दुष्टजन अपनी दुष्टता करनेमे भी चूकते नहीं हैं। अत बहुत विचारकर राजाको चाहिये कि वह अपने अमात्य, सेवको आदिका योग्यतापूर्वक चयन करे। सचाई, शुद्धता सरलता साधुता सदाचार कुलीनता जितेन्द्रियता आदिको देखकर जो जिस कार्यके योग्य हो उसे उस कार्यमे लगाना चाहिये। नीच जनोकी संगतिसे दु ख ही उठाना पडता है। कुलीन तथा सज्जन पुरुष यदि कभी राजाद्वारा तिरस्कृत भी हो जायँ तो वे कभी भी राजाका अनिष्ट करनेकी बात सोच नहीं सकते। इसके विपरीत नीच तथा दुर्जन व्यक्ति साधुस्वभावके राजाका आश्रय पाकर दुर्लभ ऐश्वर्योका भोग करता है, किंतु राजाके द्वारा एक बार भी निन्दित होनेपर वह उसका शत्रु बन जाता है। (महाभारत, शान्ति० ११६—११८)

पूजनी चिड़ियाद्वारा उपदिष्ट नीति

[राजा ब्रह्मदत्त और पूजनीकी कथा]

काम्पिल्य नगरमे ब्रह्मदत्त नामक एक राजा राज्य करते थे। राजाके महलमे ही पूजनी नामकी एक चिडिया भी बराबर रहा करती थी। वह चिडिया सभी प्राणियोकी बोली समझती थी और पक्षिणी होनेपर भी सर्वज्ञ सम्पूर्ण तत्त्वोंको जाननेवाली तथा नीतिशास्त्रकी बातोको जानती थी।

एक समयकी बात है उस पूजनी चिडियाको एक सुन्दर बच्चा उत्पन्न हुआ। दैवयोगसे उसी दिन राजा ब्रह्मदत्तकी रानीने भी एक सुन्दर बालकको जन्म दिया। राजमहलमे ही वह पक्षिशावक तथा कुमार—दोनो पलने लगे। सब जगह आनन्द-ही-आनन्द था। पूजनी चिडियाको राजा बहुत मानते थे और चिडियाको भी राजा बहुत प्रिय थे। साथ-साथ रहनेसे दोनोमे परस्पर स्नेह उत्पन्न हो गया था।

पूजनी चिडिया दूर समुद्र तटतक उड जाती और वहाँसे दो सुन्दर फल दोनो बच्चोके लिये ले आती। एक फल अपने बच्चेको देती तथा दूसरा फल राजकुमारको देती। यह उसका नित्यका क्रम था। उन फलोका स्वाद अमृतके समान था तथा वे फल बडे ही पौष्टिक थे।

कुछ दिन ऐसे ही बीते। एक दिन राजकुमारको गोदमे लिये धाय घूम रही थी। राजकुमारने पूजनीके बच्चेको देखा तो वह उसे पकडनेके लिये मचल उठा। फिर कुछ समय बाद वह उस बच्चेसे खेलने लगा। बाल-स्वभाववश दोनो आपसमे क्रीडा किया करते थे। पर हुआ कुछ ऐसा कि खेल-खेलमे उस राजकुमारने उस पक्षिशावकको मार डाला और वह धायके पास आ गया।

इधर पूजनी चिडिया जब दो फलोको लेकर लौटी तो सारा वृत्तान्त जानकर वह शोकसे व्याकुल हो गयी। उसकी आँखोसे आँसुओकी धारा बह निकली और राजकुमारको भला-बुरा कहने लगी। देखो तो यह राजकुमार कितना कृतघ्न है, कितना क्रूर है कितना विश्वासघाती है, जो इसने मेरे बच्चेको अकारण मार डाला इसीलिये कहा गया है कि राजकुलपर विश्वास करना दु खदायी होता है। 'अब मै भी अपने बच्चेका बदला लूँगी।' ऐसा कहकर वह गुस्सेमे आ गयी और उसने अपने दोनो पंजोसे राजकुमारकी दोनो आँखे फोड डालीं तथा आकाशमे स्थिर होकर राजाको लक्ष्य करके कहने लगी—

राजन्! इस जगत्‌मे स्वेच्छासे जो पाप किया जाता है उसका फल तत्काल ही कर्ताको मिल जाता है और यदि यहाँ किये हुए पापकर्मका कोई फल कर्ताको मिलता न दिखायी दे तो यह समझना चाहिये कि उसके पुत्र-पौत्रो और नातियोको उसका फल भोगना पडेगा—

इच्छयेह कृत पाप सद्यस्त चापसर्पति।
पापकर्म कृत किञ्चिद् यदि तस्मिन् न दृश्यते।
नृपते तस्य पुत्रेपु पात्रष्वपि च नमृपु॥
(महा० शान्ति० १३९। २१-२२)

पहले राजा पूजनीपर बहुत रुष्ट थ, पर फिर उन्हान समझ लिया कि राजकुमारको उसक कुकर्मका ही बदला मिला है। अत उन्हान रोपको त्याग दिया आर पूजनास कहा—

पूजनी! हमने (मेर पुत्रन) तुम्हारा अपराध (पक्षिशावक-वध) किया था और तुमने उसका बदला भी चुका लिया। दोनाका कार्य बराबर हा गया। अत अब यहा रहो, दूसरी जगह मत जाओ। इसपर पूजनी बोली—

राजन्! नीति यह बताती हे कि एक बार किसीका अपराध करके फिर वहीं आश्रय लेकर रहना ठीक नहीं होता। क्याकि अपराध करनेवालक प्रति उसके वेरकी आग बुझती नहीं अत वहाँ सदा सशकित ही रहना पडता है। इसलिये वैर रखनवालाको परस्पर विश्वास नहीं करना चाहिये। विश्वाससे भय उत्पन्न हाता हे और वही फिर विनाशका कारण भी बनता है। जिसका अपकार किया जाता हे आर जा अपकार करता ह उन दोनाम मेल होना कठिन हे। शत्रुकी सान्त्वना तथा मीठा बाताको सदेहकी दृष्टिसे ही देखना चाहिये। राजन्! वैरक पाँच कारण होत हैं—१-स्त्री २-घर और जमीन ३-कठार वाणी ४-जातिगत द्वेष तथा ५-किया हुआ अपराध।

राजन्! जिम प्रकार वडवानल समुद्रम किसी प्रकार शान्त नहीं हाता, उसी प्रकार क्राधाग्नि भा न धनस न कठारता दिखानसे न मीठे वचनाद्वारा समझान-बुझान आर न शास्त्रज्ञानस ही शान्त हाती ह। इसके साथ हा एक बात और भी ह कि अपने पुत्रकी दशा दख-दखकर आपका वेर ताजा होता रहगा।

राजन्! इस सम्बन्धम प्राचीन कालम नातिशास्त्रक उपदेष्टा आचार्य शुक्रन प्रह्लादस दा गाथाएँ कही थीं जा इस प्रकार हैं—

य वैरिण श्रद्दधते सत्य सत्यतरेऽपि वा।
वध्यन्त श्रद्दधानास्तु मधु शुष्कतृणैर्यथा॥
न हि वैराणि शाम्यन्ति कुल दु खगतानि च।
आख्यातारश्च विद्यन्ते कुले वै ध्रियते पुमान्॥
(महा० शान्ति० १३९।७१ ७२)

तात्पर्य यह है कि जैस सूख तिनकास ढक हुए गड्ढेक ऊपर रख हुए मधुको ल जानवाले मनुष्य मार जाते हैं, उसी प्रकार जो लोग वैरीकी झूठी या सच्ची बातपर विश्वास करते हैं, वे भी बेमौत मरते हैं। जब किसी कुलम दु खदायी वैर बँध जाता है, तब वह शान्त नहीं होता। उसे याद दिलानेवाले बन ही रहते हैं इसलिय जबतक कुलम एक भी पुरुष जावित रहता ह तबतक वह वैर नहीं मिटता हे।

अत जो मोहवश दुर्गम मार्गपर चलता ह उसका जीवन समाप्त हो जाता हे। दैव और पुरुपार्थ—दाना एक दूसरेके सहारे रहते हे, परतु उदार विचारवाल पुरुष सर्वदा शुभ कर्म करते रहत हैं और जा क्लीव हात ह वे दवक भरोस पडे रहते हैं। विद्या शूरवीरता दक्षता, बल आर धैर्य—ये पाँच मनुष्यके स्वाभाविक मित्र हैं।

भूपाल! मने तुम्हारे पुत्रके साथ बुरा बर्ताव किया हे अत अब में यहाँ नहीं रह सकती। दुष्ट भार्या दुष्ट पुत्र कुटिल राजा दुष्ट मित्र दूषित सम्बन्ध आर दुष्ट देशका दूरसे ही त्याग दना चाहिये। कुमित्रका स्नेह कभी स्थिर नहीं रह सकता। पत्नी वही अच्छी है, जो प्रिय वचन बोल पुत्र वही अच्छा हे जिससे सुख मिल। मित्र वही श्रेष्ठ है जिसपर विश्वास बना रहे और देश भी वही उत्तम हे जहाँ जीविका चल सके—

सा भार्या या प्रिय ब्रूत स पुत्रा यत्र निर्वृति ।
तन्मित्र यत्र विश्वास स देशा यत्र जीव्यते॥

(महा० शान्ति० १३९।९६)

यही बात राजाक सम्बन्धम भी है। जिस दशका राजा गुणवान् आर धर्मपरायण हाता है, धर्मनीतिका आश्रय लेता ह, वहाँ स्त्री, पुत्र मित्र सम्बन्धी तथा देश—सभी उत्तम गुणसे सम्पन्न हात हैं। जो राजा धर्मको नहीं जानता (या नहीं मानता), उसके अत्याचारस प्रजाका नाश हो जाता है राजा ही धर्म, अर्थ तथा काम—इन तीनाका मूल ह। अत उसे पूर्ण सावधान रहकर अपनी प्रजाका पालन करना चाहिये। प्रजापति मनुने राजाके सात गुण बताय ह आर उन्हींक अनुसार उसे माता, पिता गुरु रक्षक, अग्नि, कुबेर और यमकी उपमा दी है। पूजनीन फिर कहा—चूँकि आप राजा ह, इसलिय ये बात मैंने कहीं, अब आपको जसा ठीक लगे, वैसा कर, यह कहकर वह पूजनी वहाँस उडकर अन्यत्र चली गयी।

परिहासका दुष्परिणाम

[यादव-कुलको भीषण शाप]

द्वारकाक पास पिडारकक्षेत्रम स्वभावत घूमते हुए कुछ ऋषि आ गये थे। उनम थे विश्वामित्र, असित कण्व दुर्वासा भृगु, अङ्गिरा, कश्यप, वामदव, अत्रि वसिष्ठ तथा नारदजी-जैसे त्रिभुवनवन्दित महर्षि एव देवर्षि। व महापुरुष परस्पर भवच्चर्चा करन तथा तत्त्व-विचार करनके अतिरिक्त दूसरा कार्य जानत ही नहीं थ।

यदुवशके राजकुमार भी द्वारकासे निकल थे घूमने-खेलन। वे सब युवक थे, स्वच्छन्द थे, बलवान् थे। उनक साथ काई भी वयोवृद्ध नहीं था। युवावस्था राजकुल, शरीरबल और धनबलक साथ-साथ इस समय उन्ह पूरी स्वच्छन्दता प्राप्त थी। ऋषियोका देखकर उन यादव-कुमाराक मनम परिहास करनकी सूझा।

जाम्बवता-नन्दन साम्बको सबने साडी पहिनायी। उनके पेटपर वस्त्र बाँध दिया। उन्हे साथ लकर वे सब ऋषियाके पास गय। साम्बन ता घूँघट निकालकर मुख छिपा रखा था दूसरान बनावटी नम्रतासे प्रणाम करक पूछा—'महर्षिगण। यह सुन्दरा गर्भवती है और जानना चाहती है कि उसके गर्भस क्या उत्पन्न होगा। परतु लज्जाक मार स्वय पूछ नहीं पाती। परतु आपलोग तो सर्वज्ञ हैं, भविष्यदर्शी ह, इसे बता द। यह पुत्र चाहती है, क्या उत्पन्न होगा इसक गर्भसे ?'

महर्षियाकी सर्वज्ञता और शक्तिका यह परिहास था दुर्वासाजी क्रुद्ध हो उठे। उन्हान कहा—'मूर्खो। अपन पूर कुलका नाश करनेवाला मूसल उत्पन्न करगी यह।' ऋषियाने दुर्वासाका अनुमादन कर दिया। भयभीत यादव-कुमार घबराकर वहाँसे लोटे। साम्बके पेटपर बँधा वस्त्र खोला तो उसमस एक लोहका मूसल निकल पडा।

अब कोई उपाय तो था नहीं, यादव-कुमार वह मूसल लिये राजसभाम आये। सारी घटना राजा उग्रसनका बताकर मूसल सामन रख दिया। महाराजकी आज्ञासे मूसलको कूट-कूटकर चूर्ण-बना दिया गया। वह सारा चूर्ण ओर कूटनेसे बचा छाटा लाहखण्ड समुद्रम फेक दिया गया।

महर्षियाका शाप मिथ्या कम हो सकता था। लोहचूर्ण लहरासे बहकर किनार लगा और एरका नामक घासके रूपम उग गया। लाहका बचा टुकडा एक मछलीने निगल लिया। वह मछली मछुआके जालम पडी आर एक व्याधको वेची गयी। व्याधने मछलीक पेटस निकल लाहेके टुकडेसे बाणकी नोक बनायी। इसा जरा नामक व्याधका

वह बाण श्रीकृष्णचन्द्रक चरणमे लगा और यादव-वीर जब समुद्र-तटपर मदोन्मत्त होकर परस्पर युद्ध करने लगे तब शस्त्र समाप्त हो जानेपर एरका नामक घास उखाड़-उखाड़कर परस्पर आघात करते हुए उसकी नाससे समाप्त हो गये। इस प्रकार एक विचारहीन परिहासक कारण पूरा यदुवश ही नष्ट हो गया।

सकटके समय कौन-सी नीति अपनाये

[पलित नामक चूहेकी कथा]

किसी जगलमे बरगदका एक विशाल वृक्ष था। वह अनेक प्रकारकी लता-वितानासे आच्छादित था। उसपर भाँति-भाँतिके पक्षिसमूह रहा करते थे। वृक्षकी छाया बड़ी घनी और दूरतक फैली हुई थी। उस वृक्षमे अनेक कोटर थे। उसी वृक्षकी जडमे एक पलित नामक चूहा रहा करता था। वह बडा ही बुद्धिमान् था। उसने वहाँपर सौ द्वारोवाला एक बिल बना रखा था और उसीमे वह निर्भय होकर रहता था। उसी वृक्षमे लोमश नामका एक बिलाव भी रहता था, जो वृक्षके पक्षियोको खाया करता था। उस वनमे एक चाण्डाल भी घर बनाकर रहता था। वह चाण्डाल प्रतिदिन सायकाल सूर्यास्त हो जानेपर उस वृक्षके समीप आकर जाल फैला देता और अनाज, मासके टुकडे आदि वहाँ डाल देता था एव रात्रिमे सुखपूर्वक घरमे सो जाया करता था। सबेरा होनेपर वह वहाँ आता और जालमे फँसे पशु-पक्षियोको पकड ले जाता था। यह उसका रोजका नियम था।

एक दिन अपनी असावधानीके कारण उस वृक्षमे रहनेवाला लोमश नामक बिलाव भी उस जालमें फँस गया। जब चूहेने बिलावको जालमे फँसा देखा तो खुश हो गया कि चलो एक वैरीसे तो छुट्टी मिली। वह बिलसे निकलकर निर्भय हो वहाँ घूमने लगा। उसी समय उसने जालके ऊपर मासके टुकडेको देखा तो वह उसे खानेके लिये उसके पास गया। जालमे फँसे अपने शत्रु बिलावको देखकर चूहा मन-ही-मन प्रसन्न हो रहा था। इतनेमे ही उसने दूसरी ओर देखा तो उसे अपना दूसरा भयानक शत्रु नेवला दिखायी दिया, जो बडी ललचायी दृष्टिसे उसे ही अपना ग्रास बनानेहेतु देख रहा था। नेवलेका नाम था हरिण। वह नेवला भी वृक्षके पास ही विवर बनाकर रहा करता था। एक और अद्भुत बात यह हुई कि चूहेको उस बरगद-वृक्षके ऊपर अपना तीसरा शत्रु उल्लू भी बैठा दिखायी दिया। तीखी चोचवाला वह उल्लू भी चूहेको निगल जानेकी ताकमे था। उल्लूका नाम था चन्द्रक।

चूहेके सामने दो शत्रु खडे थे—एक ओर नेवला था तो दूसरी ओर उल्लू। वह बहुत घबडा गया, उसे जैसे मौत ही सामने दिखायी दे रही थी। वह सोचने लगा यदि जाल काटकर अदर घुसता हूँ तो वहाँ बिलाव पहलेसे क्रुद्ध हो बैठा है।[1] अब वह करे तो क्या करे? चारो ओरसे घिर चुका था।

पर वह चूहा था बुद्धिमान् और नीतिमान्। उसने मनमे सोचा कि इस समय किसी विलक्षण नीतिका ही सहारा लेकर जान बचायी जा सकती है। हार मान लेना ठीक नहीं, क्योकि बुद्धिमान्, विद्वान् और नीतिशास्त्रमे निपुण पुरुष भारी और दारुण विपत्तिमे पडनेपर भी उसमे डूब नहीं जाता—उससे छूटनेकी ही चेष्टा करता है—

न हि बुद्ध्यान्वितः प्राज्ञो नीतिशास्त्रविशारदः ॥
निमज्जत्यापदं प्राप्य महतीं दारुणामपि॥

(महा० शान्ति० १३८।३९ ४०)

चूहेने नीतिसे काम लेनेकी सोची वह विचार करने लगा कि इस समय, अब मेरे लिये इस जालमे फँसे अर्थात् सकटग्रस्त बिलावका सहारा लेनेके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय है नहीं, जो मुझे बचा सके। यद्यपि यह मेरा जन्मजात कट्टर शत्रु है तथापि इस समय यह स्वय भारी सकटमे पडा हुआ है और इसे भी मेरी सहायताकी जरूरत है। अतः ऐसे समयमे इस कट्टर शत्रुसे भी मित्रताका प्रस्ताव रखनेमे ही भलाई है। यह अभी विपत्तिमे पडा है अतः मेरे द्वारा

[1] गतं मां सहसा भूमिं नकुलो भक्षयिष्यति॥ उलूकश्चेह तिष्ठन्तं मार्जारः पाशसंश्रयात्। (१३८।३७-३८)

जाल काटनेका प्रलोभन देनेसे यह मुझे न मारनेकी बात और मुझसे मित्रता—दोना कर सकता हे। यद्यपि यह मूर्ख हे तथापि आज मैं अपनी नीतिसे काम लेता हूँ, हो सकता हे यह मान ही जाय।

एसा निश्चय करके उस नीतिमान् चूहेने अपने शत्रु बिलावसे बडी ही मीठी वाणीमे कहा—

'भैया बिलाव! इस समय आपका जीवन भी मेरी ही तरह सकटमे पडा हुआ है ये नेवला और उल्लू मुझपर घात लगाये बैठे हैं और आप भी जालमे फँसे हैं इसलिये हम दोनो आपसम मैत्री कर लं तो दोनो वच सकते है, परतु आपको यह वचन देना होगा कि आप मुझे मारगे नहीं। यदि आप ऐसा करे तो में यह जाल काट दूँगा, जिसमे आप फँस हुए हैं। जाल कट जानेसे आप मुक्त हाकर जहाँ चाहे जा सकते हैं। बिलाव भाई! यह प्रसिद्ध बात हे कि साधु पुरुषामे तो मात्र सात पग साथ-साथ चलनस ही मित्रता हो जाती है, फिर हम और आप तो सदासे ही इस वृक्षका आश्रय लेकर यहाँ साथ-साथ रहा करते हैं। आप मरे विद्वान् मित्र ह, मैं इतने दिन आपके साथ रहा हूँ अत आज सकटमे पडे हुए आपके साथ मैं मित्रोचित धर्म निभाऊँगा। इसलिये अब आपके लिये डरनेकी कोई बात नहीं।'

चूहेका प्रस्ताव सुनकर बिलावको बडी प्रसन्नता हुई। उसने चूहेको वचन दिया कि 'मैं भी मैत्रीके लिये तैयार हूँ, मुझसे तुम्हे भयभीत होनेकी आवश्यकता नही है। इस सकटसे तुम मुझे मुक्ति दिलाओगे तो यह मेरे ऊपर तुम्हारा महान् उपकार होगा। फिर भला मैं तुम्हारा अहित कैसे कर सकता हूँ? मुझसे निर्भय होकर जल्दी ही यह जाल काट डालो। तुम मेरा प्रिय करनवाले, हित करनेवाले एव उपकार करनेवाले हो। मै तुम्हारे उपकारका बदला कैसे चुका पाऊँगा? कोई किसीके उपकारका बदला कितना ही अधिक क्या न चुका दे, वह प्रथम उपकार करनेवालेके समान शोभा नहीं पाता है, क्याकि पहला तो बिना किसी कारणके ही भलाई करता है, जबकि दूसरा किसीके उपकार करनेके बदलेम उपकार करता है—

प्रत्युपकुर्वन् बह्वपि न भाति पूर्वोपकारिणा तुल्य ।
एक करोति हि कृते निष्कारणमेव कुरुतेऽन्य ॥

(महाभारत शान्ति० १३८।८२)

फिर क्या था, बिलावकी वातासे आश्वस्त हो, वह पलित नामक नीतिमान् चूहा शीघ्र ही निर्भय होकर जालक अदर बिलावकी गोदम जा बैठा। उस बिलावने भी उसे अपना प्राणरक्षक समझकर अपने अङ्गोमे छिपा लिया।

इधर उल्लू और नेवला जो चूहेपर कुदृष्टि जमाये थे और उसे खा जानेके मौकेकी तलाशम थे, अति शीघ्रतासे हुए इस दृश्य-परिवर्तनको देखकर आश्चर्यचकित हो गये। अव तो उनका शिकार उनके हाथसे जा चुका था। नवला और उल्लू दोनाको बिल्लीसे अपनी जानका डर था। वे दोना निराश हो गय। चूहेकी नीतिने उन दोनोको बुद्धिबलसे बिना कुछ किये परास्त कर दिया। वे दोनो हार मानकर उदास होकर अपने-अपने स्थानाका चले गये और छिपकर प्रतीक्षा करने लगे कि जब चूहा जालसे निकलेगा ता उसे मार डालेग। दोनो अपन-अपने मनम ऐसा सोचने लगे। इस प्रकार चूहेने अपनी नीतिमत्तासे दो शत्रुआको तो भगा दिया लेकिन अभी भी उसके प्राण तो सकटम ही पडे थे। भला, बिलावकी गोदम चूहा कैसे और कबतक निर्भय रह सकता है?

इधर चूहेकी बुद्धिमत्ता देखिये। वह बडा ही चतुर तथा देश-कालकी गति जाननेवाला था। उसने मनम यह सोचा कि यदि मैं शीघ्र ही जालको काट डालूँगा तो हा सकता है कि यह बिलाव पाशमुक्त हाकर निर्भय हो जाय

ओर मुझे मारकर फिर भाग भी जाय, अत मै इसकी गादम रहकर ही धीरे-धीरे जालको उस समयतक काटता रहूँ, जबतक सवेरा न हो जाय और चाण्डाल पासम न आ जाय। यह सोचकर वह बहुत धीरे-धीरे जाल कुतरने लगा।

बिलावने चूहेकी जाल काटनेकी गति धीमी देखी तो वह उससे बोला—सौम्य! तुम जल्दी क्यों नहीं कर रहे हो कुछ समय बाद ही सवेरा होनेवाला है, वह चाण्डाल आ जायगा। अत हे मित्र! श्रेष्ठ पुरुषोंको अपने मित्रके कार्योंमे शीघ्रता करनी चाहिये।

इसपर बुद्धिमान् पलित बोला—'हे मित्र! डरने और घबडानेकी कोई बात नहीं है, में समयको खूब पहचानता हूँ और ठीक समय आनेपर चूकूँगा नही। मैने बहुत सारे तन्तु काट डाले हैं, अब दो-एक ही तन्तु बचे हुए है उसे भी काट दूँगा।' इस प्रकार पलित चूहा नीतिका आश्रय ले अपने प्राणोंको बचाता रहा और बिलावसे मित्रताकी बात करता रहा तथा उसे आश्वस्त भी करता रहा। दोनोके इस प्रकार वार्तालाप करते-करते रात बीत गयी। सबेरा हो गया।

इतनेहीमे वह परिघ नामक भयंकर चाण्डाल हाथमे हथियार तथा साथमे कुत्तोको लेकर वहाँ आता दिखायी दिया। उसे आता देख बिलाव तो भयके मारे घबडा गया और उसने चूहेसे कहा—देखो-देखो वह चाण्डाल शीघ्रतासे इधर ही आ रहा है।

अब उल्लू और नेवला जो पास ही छिपे बैठे थे चाण्डालको आता देख डरकर भाग खडे हुए और इधर जालकी एक ही ताँत चूहेने बचा रखी थी। जब चाण्डाल एकदम पास ही पहुँचनेको था तभी चूहेने वह ताँत भी अपने तीक्ष्ण दाँतोसे काट डाली। ताँतके कट जानेसे बिलाव अपनेको बन्धनमुक्त पाकर शीघ्र ही दौडकर उस बरगदके पेडपर चढ गया और एक डालपर बैठ गया, क्योंकि चाण्डाल दौडा हुआ आ रहा था। बिलावके भागते ही चूहा भी निर्भय हो गया वह भी शीघ्रतासे अपने बिलमे जा छिपा। उस समय उसे न उल्लूसे न नेवलेसे और न बिलावसे ही भय था क्योंकि तीनोको उसने अपनी नीतिसे परास्तकर अपनेको बचा लिया था। चाण्डालकी पकडसे तो वह बाहर था ही।

चाण्डालने जब जाल समेटा तो उसमे किसीको न पाया, वह निराश हो गया और कटे हुई जालको लेकर दूसरे स्थानको चला गया।

चाण्डालके जाते ही बिलावने बिलमे प्रविष्ट हुए चूहेसे कहा—

अरे भैया! तुम तो बिलके अंदर चले गये हो, मुझसे बात भी नहीं कर रहे हो, में तो तुम्हारा मित्र हूँ, तुमने मेरी जान बचायी है बाहर आओ, मुझसे बात करो। मेरे पास आओ। मेरे साथ रहो। मेरी जातिके दूसरे बिलाव भी तुम्हारे मित्र हैं वे भी तुम्हारा सम्मान करेंगे। तुम तो मेरे शरीरके स्वामी हो, आओ। आजसे तुम मेरे घरके स्वामी भी रहोगे मेरी सारी सम्पत्तिपर तुम्हारा अधिकार है। मित्र! तुम बहुत बुद्धिमान् हो अत मेरे मन्त्री बन जाओ। तुम्हारी मन्त्रणासे हम सबपर राज करेंगे। मै शपथ खाकर कहता हूँ कि तुम्हें मुझसे कोई भय नहीं रहेगा। तुमने तो मेरा हृदय ही जीत लिया है अत मुझे मित्र तथा हितैषीके रूपमे स्वीकार करो।

इतना कहकर लोमश नामक वह बिलाव चुप हो गया। पलित नामक बुद्धिमान् चूहा बिलके द्वारसे उसकी सारी बात सुन रहा था। तब उसने बहुत ही सुन्दर और उपयोगी नीतिकी बात बताते हुए लोमश बिलावसे कहा—हे लोमश! आपकी कही हुई सब बात मैंने बड़े ध्यानसे

सुनी हैं किंतु मेरी भी कुछ बाते आप सुन ले—

इस जगत्‌म वास्तविक मित्र और शत्रुकी पहचान करना बडा ही कठिन है। अवसर आनेपर कितन ही मित्र शत्रु और कितने ही शत्रु मित्र बन जाते ह। परस्पर सधि कर लेनेके पश्चात् जब वे काम और क्राधके वशीभूत हा जाते हैं तो यह समझना कठिन हो जाता है कि व मित्रभावसे युक्त हैं या शत्रुभावस—

शत्रुरूपा हि सुहृदो मित्ररूपाश्च शत्रव ।
सधितास्ते न बुद्ध्यन्ते कामक्रोधवश गता ॥
(महा० शान्ति० १३८। १३८)

न कभी कोई शत्रु होता है आर न मित्र ही हाता है आवश्यक कार्य (स्वार्थ)-क सम्बन्धसे ही लोग एक-दूसरेके मित्र और शत्रु हुआ करते ह—

नास्ति जातु रिपुर्नाम मित्र नाम न विद्यत।
सामर्थ्ययोगाज्जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा॥
(महा० शान्ति० १३८। १३९)

जा विश्वासपात्र न हो उसपर कभी भी विश्वास नहीं करना चाहिय ओर जो विश्वासपात्र हा, उसपर भी अधिक विश्वास नहीं करना चाहिये क्याकि विश्वासस उत्पन्न हुआ भय मनुष्यका मूलाच्छद कर डालता है—

न विश्वसदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्॥
विश्वासाद् भयमुत्पन्नमपि मूलानि कृन्तति।
(महा० शान्ति० १३८। १४४-१४५)

हे बुद्धिमान् लोमश! आज तुम जालसे छूटनेक बाद मुझे क्यो सुख पहुँचाना चाहते हो, इसका क्या कारण है? जहाँतक उपकार चुकानेका प्रश्न है, वहाँतक ता तुम्हारी और हमारी समान स्थिति ह। यदि मैंने तुम्ह सकटसे छुडाया है तो तुमन भी मरे प्राणोकी रक्षा की है फिर में तो तुम्हारे लिये कुछ नहीं करना चाहता किंतु तुम्हीं क्या उपकारका बदला चुकानेके लिये उतावल हो रह हा? तुम इसी स्थानपर मासके लोभमे उतरकर जालम फँसे थे। तुमने चपलताके कारण ध्यान नहीं दिया ओर जालम फँस गये थे। 'जब चपलताके कारण प्राणी अपन ही लिय कल्याणकारी नहीं होता तो फिर वह दूसरकी क्या भलाई करेगा? अत यह निश्चित है कि चपल पुरुष सब काम चौपट कर देता है'—

आत्मनश्चपलो नास्ति कुतोऽन्येषा भविष्यति॥
तस्मात् सर्वाणि कार्याणि चपलो हन्त्यसशयम्।
(महा० शान्ति० १३८। १४९-१५०)

लामश! मुझे तो तुम्हारी यह प्रीति भी किसी कारणका लकर उत्पन्न हुई है ऐसा लगता है यह सच्ची नही मालूम देती लाकम भी ऐसा दखा जाता है। परतु किसी कारण (स्वार्थ)-का लकर उत्पन्न हानेवाली प्रीति जबतक वह कारण रहता ह तभीतक बनी रहती है। उस कारणके नष्ट हो जानेपर वह प्रीति भी स्वत निवृत्त हो जाती है—

उत्पन्ना कारणे प्रीतिरासीन्नौ कारणान्तरे॥
प्रध्वस्ते कारणस्थाने सा प्रीतिर्विनिवर्तते।
(महा०, शान्ति० १३८। १५५-१५६)

मै यह अच्छी तरह समझ रहा हूँ कि अब तुम्हारी प्रीति केवल मरा भक्षण करनके लिये ही बनी हुई है। मुझे बातामे फुसलाकर तुम अपना ग्रास बनाना चाहते हो। पहल हम दानाकी मैत्रीम दानोके अपने-अपने प्राण सकटम पडे होना हेतु था, पर अब वह हेतु चला गया है इसलिय मैत्री भी खत्म हा गयी। तुम जातिसे ही मरे शत्रु हो, अब तुम्हारा काम निकल गया है इसलिय तुम्हारा शत्रुभाव जाग्रत् हा गया है। अब हम आपसम मिलना नहा ह। में अन्न हूँ आर तुम मुझे खानेवाल हो, मैं दुर्बल हूँ, तुम पराक्रमी हा। अत पहले जो मैत्रा थी वह परिस्थितिवश हुई थी अब मत्री करनेपर मुझे जानसे ही हाथ धोना पडगा। हम दोनोक मिलनका उद्देश्य पूरा हो गया है। मुझ ता अब दूरसे ही तुमसे डर लग रहा ह। लोमश उसकी बात सुनकर लज्जित-सा हा गया। उसने अनेक प्रकारसे चूहको विश्वासम लना चाहा किंतु चूहेने उसकी एक भी न मानी और कहा—अर लोमश! आचार्य शुक्रने दो नीतियाँ बडे महत्त्वकी बतायी हैं उन्ह तुम ध्यानसे सुनो।

पहली नीति है—जब अपन और शत्रुपर एक-सी विपत्ति आयी हा तब निर्बलको सबल शत्रुक साथ मेल करके बडी सावधानी आर युक्तिसे अपना काम निकाल लेना

चाहिये और जब काम हो जाय तब फिर उस शत्रुपर विश्वास नहीं करना चाहिये—

अस्मिन्नर्थे च गाथे द्वे निबोधोशनसा कृते।
शत्रुसाधारणे कृत्ये कृत्वा संधिं बलीयसा॥
समाहितश्चरेद् युक्त्या कृतार्थश्च न विश्वसेत्।

(महा० शान्ति० १३८। १९३-१९४)

दूसरी नीति है—जो विश्वासपात्र न हो उसपर विश्वास न करे तथा जो विश्वासपात्र हो, उसपर भी अधिक विश्वास न करे। सदा अपने प्रति दूसरोंका विश्वास उत्पन्न करे किंतु स्वयं दूसरोंपर विश्वास न करे—

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्॥
नित्यं विश्वासयेदन्यान् परेषां तु न विश्वसेत्।

(महा० शान्ति० १३८। १९४-१९५)

इसलिये हे लोमश! अपनी रक्षा करनेमें ही बुद्धिमानी है। अच्छा तो यह है कि जैसे मैं तुमसे अपनेको बचानेकी चेष्टा कर रहा हूँ, ऐसे ही तुम भी उस चाण्डालसे सदा अपनेको बचाये रखना।

चाण्डालका नाम सुनते ही वह बिलाव बहुत डर गया और उस वृक्षको छोड़कर अन्यत्र चला गया। चूहा भी अपने दूसरे बिलमें चला गया, वह इतना बुद्धिमान् था कि उसने अपने बिलसे निकलनेके सौ रास्ते बना रखे थे ताकि सर्प आदि यदि किसी मार्गसे अंदर आ जाय तो वह दूसरे रास्तेसे भाग सके। इस प्रकार पलित नामक चूहेने नीतिका जो मार्ग दिखलाया वह दैनिक जीवनमें बहुत ही उपयोगी है। सांसारिक काम-क्रोधादि शत्रुओंको जीतनेके लिये साधना-सिद्धिमें यह नीति सहायक हो सकती है।

(महाभारत शान्तिपर्व अध्याय १३८)

~~~

आत्मश्लाघा पराजयका कारण बनती है

[हंसकाकीयोपाख्यान]

महाभारत-युद्धके समयकी बात है। कौरवपक्षके भीष्म, द्रोण आदि महारथियोंकी वीरगति हो चुकी है। कौरवपक्षमें शोक छाया हुआ है, उस समय आगेकी रणनीति क्या हो? ऐसा प्रश्न करनेपर द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने कर्णको सेनापति बनानेका प्रस्ताव रखा। दुर्योधन आदि सभाको यह बात जँच गयी और कर्णका सेनापतिपदपर अभिषेक किया गया। तदनन्तर दुर्योधनने मद्राधिपति शल्यसे कर्णके रथकी बागडोर सँभालनेकी प्रार्थना की। प्रथम तो शल्य कर्णको सूतपुत्र समझकर इस कार्यमें झिझके, किंतु दुर्योधनके आग्रहपर उन्होंने कर्णका सारथि बनना स्वीकार कर लिया। शल्य कर्णके रथको युद्धभूमिके लिये ले चले। परस्पर वार्तामें कर्ण अपने पराक्रम, शौर्य, युद्धचातुर्य और अस्त्र-शस्त्र-संचालनकी बढ़-चढ़कर बखान करने लगे और श्रीकृष्ण तथा अर्जुनको पराजित करनेकी बात करने लगे। महाराज शल्यको यह बात अच्छी नहीं लगी, वे बोले—'कर्ण! इस समय तुम उन्मत्त होकर यह प्रलाप कर रहे हो, तुम्हारी यह बात तभीतक ठीक है जबतक अर्जुन तुम्हारे सामने नहीं पड़ जाते।' कर्णद्वारा की गयी अपनी बहादुरीकी बातोंको सुनकर मद्रराज शल्यको हँसी आ गयी और वे बोले—

अरे राधेय! यद्यपि तुम उन्मत्त होकर प्रलाप कर रहे हो तथापि मैं तुम्हारे हितके लिये एक कहानी बताता हूँ उसे सुनकर, फिर तुम्हें जो ठीक लगे करना—

प्राचीन कालकी बात है, एक धर्मात्मा राजाके समुद्रतटपर स्थित राज्यमें एक समृद्ध वैश्य रहता था। वह गुणवान्, धनवान्, दयालु तथा अपने धर्म-कर्ममें तत्पर रहता था। उसके कई पुत्र थे, जो अभी बाल-अवस्थाके ही थे। उन बालकोंको जो भोजन दिया जाता था और उनके भोजन करनेपर जो जूठन बची रहती थी उसे खानेवाला एक कौआ भी वहाँ रहता था। वैश्यके बालक बड़े प्रेमसे उस कौएको खिलाया करते थे।

जूठन खा-खाकर पला हुआ कौआ धीरे-धीरे खूब हृष्ट-पुष्ट-सा हो गया। स्वयंको ऐसा देखकर उसे घमण्ड होने लगा और अब वह दूसरे कौओं तथा अन्य श्रेष्ठ
~~~

पक्षियोंको भी अपनेसे तुच्छ समझकर उनका अपमान करने लगा।

एक दिनकी बात है उस समुद्रतटपर मानसरोवर-निवासी कुछ श्रेष्ठ राजहंस कहींसे उड़ते-उड़ते आ गये। वे बहुत तेज उड़नेवाले थे तथा उनके अङ्गोंमें शुभ चक्रके चिह्न अङ्कित थे। वैश्यबालकोंने उन हंसोंको देखकर अपनेद्वारा पालित उस कौएसे कहा—'अरे काक! हमारी दृष्टिमें तुम्हीं सब पक्षियोंसे श्रेष्ठ तथा बलवान् हो और आकाशमें दूरतक उड़नेमें तुम्हारी बराबरी कोई नहीं कर सकता, तुम्हारे सामने ये हंस भी कुछ नहीं हैं।'

उन अल्प बुद्धिवाले वैश्यकुमारोंकी बातको सच्ची मानकर मूर्ख कौआ और भी अधिक तन गया। उसे लगा कि ये वैश्यबालक ठीक ही कह रहे हैं, मैं तो ऐसा हूँ ही।

घमण्डने उसे आ घेरा। अब वह कौआ, उन हंसोंको भी नीचा दिखाने तथा उन्हें पराजित करनेकी इच्छासे

उड़कर उनके पास पहुँचा और कहने लगा—अरे हंसो! तुम लोग मुझे जानते नहीं हो मैं तुम लोगोंसे श्रेष्ठ हूँ और दूरतक उड़नेका मुझमें तुम लोगोंसे अधिक सामर्थ्य है, तुममेंसे जो यह अधिक श्रेष्ठ हंस दिखायी दे रहा है, मैं उसीके साथ दूरतक उड़कर अपनी श्रेष्ठता दिखा दूँगा। फिर कौएने उस हंससे कहा—'आओ हम दोनों उड़ें।'

काँव-काँव करनेवाले उस कौएकी बात सुनकर वे श्रेष्ठ लक्षणसम्पन्न राजहंस उसकी मूर्खतापर हँस पड़े। यह देखकर कौआ फिर शेखी बघारने लगा। बोला—'अरे हंस! तुम मुझे समझते क्या हो? मैं उड्डीन, अवडीन प्रडीन आदि उड़नेकी एक सौ एक कलाओंको जानता हूँ। विश्वास न हो तो मेरे साथ प्रतिस्पर्धा करो।' इसपर विनयसम्पन्न हंसराजने कहा—

काग! अवश्य ही तुम उड़नेकी सैकड़ों कलाओंको जानते होगे, पर मैं तो एक उसी उड़ानको जानता हूँ, जिस उड़ानको सारे पक्षी जानते हैं। तुम चाहे जिस भी उड़ानसे उड़ो, मैं उड़नेके लिये तैयार हूँ। उस कौएके साथ-साथ अन्य कौए भी यह सुनकर हंसका उपहास करने लगे।

फिर हंस और कौआ दोनों ही होड़ लगाकर आकाशमें उड़ने लगे। राजहंस एक ही गतिसे उड़ रहा था, पर वह कौआ अनेक प्रकारकी कला दिखा रहा था। इधर दूसरे कौए अपनी बिरादरीके कौएको देखकर खूब खुशी मनाते हुए काँव-काँव करते और हंसोंसे कहते—वह देखो कौआ हंससे आगे उड़ रहा है। तुम लोग अपनी हार मान लो।

उधर वह हंस निश्चिन्त हो अपनी मन्द गतिसे एक ही चालसे उड़ रहा था, उसे कौएकी कलाबाजियोंकी कोई चिन्ता नहीं थी। जब कौएकी उछल-कूद ज्यादा बढ़ने लगी तो हंसने एकाएक अपना रुख पश्चिम समुद्रकी ओर कर दिया। कौएने विशाल समुद्रका कहीं आर-छोर नहीं देखा तो वह घबड़ा उठा। उड़ानोंकी कलाबाजी दिखानेमें ही उसकी सारी शक्ति समाप्त हो चुकी थी। उसे अब थकान-सी महसूस होने लगी, विशाल समुद्रके मध्य उसे विश्राम लेनेके लिये कहीं कोई द्वीप, वृक्ष आदि दिखायी नहीं पड़ रहा था। यह देखकर वह भयभीत-सा हो गया और सोचने लगा—इस हंसके साथ होड़ करके लगता है मैंने मूर्खता की है। यह हंस तो अपनी चालसे उड़ा जा रहा है और मैं धीरे-धीरे, लगता है इससे पराजित हो आज इस कालसमुद्रमें गिर पड़ूँगा। मेरे पंखोंमें उड़नेकी शक्ति समाप्त हो रही है।

कौआ यह सोचता ही जा रहा था कि वह राजहंस उससे बहुत आगे निकल गया। फिर उसने चाल धीमी कर

दी और पीछे रह गये कौएकी प्रतीक्षा करने लगा। थोड़ी देरमें बड़े कष्टसे अपने पंखोंको हिलाता हुआ कौआ हंसके समीप पहुँचा। कौएकी वैसी दशा देख सज्जनहृदय हंसको दया आ गयी कि अपनी मूर्खतासे आज यह कौआ अब समुद्रमें गिरकर समुद्री जीवोंका ग्रास बन जायगा। इसकी रक्षा करनी होगी। कौआ धीरे-धीरे, नीचे समुद्रके पास पहुँचने लगा। तब हंसने कहा—अरे काग! तुम्हारी वे उड़नेकी कलाएँ अब कहाँ चली गयीं, तुम तो पानीमें गिरने जा रहे हो बताओ तो सही यह उड़नेकी कौन-सी कला है, तुम्हारे पंख और चोंच जलका स्पर्श करने लगे हैं। डरो नहीं आओ-आओ अभी तो बहुत आगे उड़ना है।

पर कौएमें तो अब शक्ति रह नहीं गयी थी। वह बहुत दुःखी हो कहने लगा—

'अरे हंस भाई! हम तो कौए हैं, व्यर्थ काँव-काँव किया करते हैं, हम उड़ना क्या जानें, मैं आज आपकी शरणमें हूँ। मुझे जीवनदान देकर जलके किनारेतक ले चलिये—

वयं काका कुतो नाम चराम काकवाशिकाः।
हंस प्राणैः प्रपद्ये त्वामुदकान्तं नयस्व माम्॥

(महा० कर्ण० ४१।५८)

ऐसा कहते हुए वह कौआ सहसा उस महासमुद्रमें

गिर पड़ा उसकी सारी शक्ति समाप्त हो चुकी थी। मृत्युके निकट पहुँचे उस कौएको चेत करते हुए हंसने कहा—'भाई काग! तूने अपनी प्रशंसामें कहा था 'मैं सकड़ों उड़ानें जानता हूँ और दूरतक उड़नेकी मुझमें अतुलनीय शक्ति है' आज वह सब कहाँ चला गया?'

इधर कौएको तो मृत्यु पास खड़ी दिखायी दे रही थी। जलमें उसके पंख भी भीग गये थे, वह कभी ऊपर उतराता कभी अंदर डूब जाता। उस समय हंससे प्रार्थना करते हुए वह बोला—

भाई हंस! मैं जूठन खा-खाकर घमण्डमें भर गया था और सभी श्रेष्ठ पक्षियोंका तिरस्कार करके अपनेको सबसे अधिक बली समझने लगा था उसी मूर्खतावश मैंने आपसे भी होड़ लगा ली थी, पर अब मुझे अपनी मूर्खताका ज्ञान हो गया है, मुझे इस विपत्तिसे उबारिये। अब मैं भविष्यमें न तो किसीका निरादर करूँगा न अपमान करूँगा और न अपनी झूठी प्रशंसा ही करूँगा जिसका परिणाम मुझे आज दिखायी दे रहा है, आप मेरी रक्षा करें मैं आपकी शरणमें हूँ।

कौएकी ऐसी दीन दशा देखकर राजहंससे रहा न गया, सज्जनोंका तो परदुःखकातरता स्वभाव ही होता है हंसने कृपापूर्वक शीघ्रतासे उसे अपने पंजोंसे पकड़ा और अपनी पीठपर बिठा लिया तथा उसे लेकर वह राजहंस उड़ता हुआ किनारेके उसी स्थानपर आ गया जहाँसे वे दोनों उड़े थे। हंसने कौएको पीठसे उतार दिया और उसे समझा-बुझाकर अपने अभीष्ट स्थानकी ओर उड़ चला।

इधर कौआ पश्चात्तापकी आगमें जलने लगा। उसे अपनी मूर्खता अपनी झूठी बड़ाई और श्रेष्ठजनोंके अपमानका प्रत्यक्ष फल मिल गया था।

यह कहानी सुनाकर मद्रराज शल्यने कर्णको सचेत किया किंतु अभिमानी कर्ण कब माननेवाला था अन्तमें अर्जुनके हाथों उसे पराभव प्राप्त हुआ। अतः कल्याणकामी व्यक्तिको आत्मश्लाघासे सदा दूर रहते हुए और उसे परमादरयकी प्राप्तिमें परम बाधक मानते हुए मन्दा ही शान्त विनय और धीरताका अनुपालन करना चाहिये।

दृढ निश्चय एवं पूर्ण भरोसा रखनेसे भगवान्की कृपा हो जाती है

[गीध और सियारकी स्वार्थपूर्ण नीतिकथा]

किसी ब्राह्मणको बड़े कष्टसे एक पुत्र प्राप्त हुआ। वह बालक बड़ा ही सुशील तथा दिखनेमें अति सुन्दर था। ब्राह्मण-ब्राह्मणी उसे पाकर बड़े ही आनन्दित हो गये। परंतु कालका क्या कहना, उसके लिये तो जब मृत्युका समय हो जाता है, तब बच्चे-बूढ़का विचार रहता ही नहीं। दैवयोगसे वह ब्राह्मणपुत्र भी कालकवलित हो गया। ब्राह्मण तथा उसके बन्धु-बान्धवोंमें शोकका लहर छा गयी। सभी फूट-फूटकर रोने लगे। आखिर घरमें मृत बालकको कबतक रखा जाता? वे सभी उसे गोदमें लेकर रोते-बिलखते श्मशानभूमि पहुँचे और बालकको वहाँ लिटा दिया। किंतु शोकग्रस्त हो वे श्मशानसे वापस लौटनेमें समर्थ नहीं हो पा रहे थे, बार-बार उस बालककी बात याद करते और विह्वल हो जाते।

श्मशानभूमिमें एक गीध और एक सियार भी रहा करते थे। वे दोनों मृत व्यक्तियोंका भक्षण कर अपना पेट भरा करते। उन्हें किसीके शोकसे क्या, उनके लिये तो यह खुशीका अवसर था। वे गीध और सियार दोनों बड़े ही चालाक थे। उनमेंसे सियार सोच रहा था कि यदि इस मृत बालकके परिजन दिनमें ही वापस चले जाते हैं तो यह गीध इस बालकको अपना भक्ष्य बना लेगा और मैं भूखा ही रह जाऊँगा। अतः वह उन्हें बातोंमें उलझाकर देरतक रोकनेका प्रयत्न कर रहा था। इसके विपरीत गीध सोच रहा था कि यदि इस बालकके बन्धु-बान्धव जल्दी-से-जल्दी चले जायँ तो बड़ा ही अच्छा हो, ताकि मैं इसका भक्षण कर सकूँ। दिनमें सियार भयवश इसका भक्षण नहीं करेगा। अतः वह उन्हें शोक-मोह त्यागकर वापस जानेकी प्रेरणा देने लगा। दोनों अपना-अपना काम बनानेकी सोच रहे थे।

उनका रोना सुनकर स्वार्थी गीध वहाँ आकर वैराग्यनीतिकी बात कहने लगा—अरे मनुष्यो! तुम लोग मेरी बात ध्यानसे सुनो। मैं इस श्मशानमें बहुत समयसे रहता हूँ, बन्धु-बान्धवोंद्वारा लाखों लोगोंका शव यहाँ लाया जा चुका है और वे उसे छोड़कर बादमें चले भी जाते हैं। देखो, यह जगत् सुख और दुःखसे व्याप्त है, यहाँ बारी-बारी सबको संयोग और वियोग प्राप्त होता रहता है। चाहे कोई अपना प्रिय हो, चाहे द्वेषपात्र। कोई भी मृत्युके बाद जीवित नहीं हुआ है। सभी प्राणियोंकी ऐसी ही गति होती है। जिसने इस मृत्युलोकमें जन्म लिया, उसे एक-न-एक दिन अवश्य मरना होगा। मरे हुए प्राणीको कौन जिला सकता है? अतः तुम लोग भी शोक-मोह छोड़कर वापस घरकी ओर लौट जाओ। यह श्मशानभूमि बड़ी भयंकर है, सूर्य भी अस्ताचलको जा रहे हैं। यहाँ ठहरनेसे कोई लाभ नहीं। क्या तुम लोगोंके यहाँ रुके रहनेसे यह बालक जी उठेगा? गीधकी बात उन बन्धु-बान्धवोंको सत्य-सी प्रतीत हुई। किसी तरह शोकका परित्यागकर और बालकके जीवित होनेकी आशा छोड़कर वे वापस लौटनेको उद्यत हुए।

सियार सब कुछ देख-समझ रहा था। गीधकी चाल सफल होते देख वह तुरंत ही पास आया और उस मृत बालकके परिजनोंसे कहने लगा—

अरे! अरे! यह क्या, मुझे तो तुम लोग मूर्ख मालूम पड़ते हो। तुम लोग कैसे निर्दयी हो? पुत्रस्नेहका त्याग करके इस नन्हे बालकको श्मशानभूमिमें लाकर डाल दिया और मुँह मोड़कर वापस जा रहे हो। अभी तो सूर्यास्त भी नहीं हुआ है, डरनेकी कोई बात नहीं है, अनेक प्रकारके शुभ-अशुभ समय आते-जाते रहते हैं। हो सकता है कोई शुभ घड़ी आ जाय और यह बालक जीवित हो जाय। उस समय तुम लोगोंको न पाकर यह कैसा रुदन करेगा, तनिक इसपर भी तो ध्यान दो। यह तुम्हारा वंशधर बालक है, इसे छोड़कर मत जाओ। इसके जीवित होनेकी आशा रखकर यहींपर प्रतीक्षा करो।

सियारकी बातोंसे मृत बालकके परिजनोंको कुछ ढाढ़स बँधा तथा उन्होंने वापस जानेका निश्चय त्याग दिया। वे वहीं बैठ गये।

जब गीधने यह देखा तो वह तुरंत बोल उठा—अहो! बड़ी विचित्र बात है, तुम लोग इस मन्दबुद्धि सियारकी बातोंमें आ गये। यह बच्चा सूखे काठकी भाँति जमीनपर

पडा ह। इसक लिय शोक करक यहाँ क्यों रुके हा? एक दिन तुम मबकी भी यही गति हागी, अपने लिये क्या नहीं शाक करते? तुम्हार विलाप करनेस न कुछ हानवाला ह और न कभी कुछ हुआ ह। अपने कर्मानुसार ही सुख-दु ख प्राप्त हाता ह, अत शाक आर दीनता छोडो, पुत्रस्नहसे मन हटा लो तथा शीघ्र ही वापस लौट जाओ। जा कालके अधीन हा जाता ह उसके लिये राना-धाना मूर्खता ह। क्या तुम्हारे यहाँ वठे रहनेसे यह जीवित हा जायगा? विकराल काल वृद्ध युवा, बालक या गर्भस्थ शिशु किसीको भी नही छाडता। ससारम मबकी यही दशा हाती ह। अत शीघ्र लौट जानेम ही भलाई है।

यह सुनकर वे सभी शाक-माहमे ग्रस्त हा वापस जाने लगे, उनकी विवकशक्ति चली गयी थी। वैस भी दु खम ता प्राय एसी स्थिति हा हा जाया करती ह।

उन्ह वापस जात दख सियार भी झट बाल पडा— अर! तुम लाग इस गीधकी बाताम आ गय। मुझे तो वडा आश्चर्य हा रहा ह। मुझ आज ही मालूम पडा कि मनुष्य कितना स्वार्थी हाता हे उसका स्नेह कितना दिखावा होता ह। उसका शाक भी दिखावेका ही हाता हे। तुम लाग मेरा बात नहीं मान रह हा। यह निश्चित बात हे कि अपन अभीष्टकी सिद्धिक लिये मनुष्यको सदैव प्रयत्न करत रहना चाहिय तभी दवयोगस उसकी सिद्धि होती है। दैव और पुरुषार्थ—दाना कालयागमे ही सिद्ध हाते हैं। तुम लोग इस बालकको रक्षाक प्रयत्नसे विमुख क्या हा रहे हो? जबतक सूर्यास्त नहीं हा जाता है कम-स-कम तबतक ता यहाँ रुककर इसक जीवित हानकी प्रतीक्षा करत रहा।

व लाग कुछ निणय करते इसस पहले हा गीध कहन लगा—

मनुष्या! मुझ जन्म लिय आज लगभग एक हजार वर्ष हा गय ह परतु मैंन किसीका मरनक बाद फिर जीवित हात नहीं दखा। आज लगता है, काई नयी बात हागी नहीं ता तुम लाग इस सियारक बहकावम न आत। मुझ ता तुम लागाका यहाँ रुकना मूर्खतापूर्ण ही लग रहा है। तुम लागाका ता जल्दी-स-जल्दी लौट जाना ही अच्छा ह। तुम्हारा यह बालक निर्जीव हा गया है। यह तुम्हें न दख सकता है न तुम्हारी बात सुन सकता है और न तुमस बात ही कर सकता ह। इसका जीव किसी दूसरेम आसक्त है यह निष्प्राण है, अत शाक-माह छाडकर लौट जाओ।

इसपर व लौटन लग तो सियार फिर बाल पडा— तुम लाग इस गीधकी बाताम आकर पता नहीं कितन निठुर हो गय हो, जरा कमलक समान मुँहवाल अपन बालकपर नजर तो डालो, लगता है जैसे अभी बोल पडेगा। मरनक बाद जीवित हानक कई दृष्टान्त हैं—राजर्षि श्वतका बालक भी एस ही मर गया था, पर वह श्वतक प्रयत्नसे जी उठा। अत किसी सिद्ध, ऋषि-मुनि या दवताकी कृपा भी हो सकती है जो तुम्हें यहाँ इस प्रकार रात-बिलखत दख दयार्द्र हो उठे। अत वापस लौटना ठीक नहीं। मैं तो इस बालकको जीवित ही दख रहा हूँ।

इस प्रकार सियार तथा गीध—इन दानाने उन्हें चक्करमें डाल दिया था और वे अपना-अपना काम बनानेम लगे थे। गीध चाहता था कि ये लाग चले जायँ और सियार चाहता था कि रुके रहें। यद्यपि एक पशु था तथा दूसरा पक्षी परन्तु दानो ज्ञानकी बात जानते हुए भी बडे ही स्वार्थी थे। उन दानोकी बातोसे उस मृत बालकके बन्धु-बान्धव कभी ठहर जाते और कभी आगे बढनेको तैयार होते।

यह समस्त दृश्य जगज्जननी भगवती पार्वतीजी दख रही थीं। उन्हें दया आ गयी। उनकी प्रेरणासे भगवान् शङ्कर श्मशानभूमिमें प्रकट हो गये। दयासागर भगवान् शङ्करको देखकर

व दुःखी मनुष्य उन्हें प्रणामकर बोल पड़े—'प्रभो! इस इकलौते पुत्रसे हीन होकर हम मृतकतुल्य हो रहे हैं शोक-मोहसे हमारी चेतना एवं विवेकशक्ति भी लुप्त-सी हो गयी है अतः आप इसे जीवनदान देकर हमें भी जीवनदान दीजिये'—ऐसा कहकर वे आँसू बहाते हुए बार-बार उन्हें दण्डवत् प्रणाम करने लगे।

भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी' और हुआ वही आशुतोष अवढरदानीने उस बालकको जीवित ही नहीं किया बल्कि सौ वर्षकी आयु भी प्रदान कर दी। इतना ही नहीं आहारकी आस लगाये सियार तथा गीधको भी तृप्त होनेका वरदान दे दिया और भगवान् शङ्कर अपने लोकको चले गये।

इधर बालकके बन्धु-बान्धवोंकी खुशीका क्या ठिकाना। बालक जी उठा था, उसे गोदमें भरकर अभीतक वे दुःखसे रो रहे थे, अब खुशीसे रो पड़े और उसे लेकर वापस लौट आये।

भगवान्‌की लीलावैचित्र्य ही तो है यह। नीतिकारोंने ठीक ही कहा है कि यदि मनुष्य उकताहटमें न पड़कर दृढ़ एवं प्रबल निश्चय और पूर्ण भरोसेके साथ प्रयत्न करता रहे तो वह देवाधिदेव भगवान्‌के प्रसादसे शीघ्र ही मनोवाञ्छित फल प्राप्त कर लेता है—

अनिर्वेदेन दीर्घेण निश्चयेन ध्रुवेण च॥
देवदेवप्रसादाच्च क्षिप्रं फलमवाप्यते।

(महाभारत शान्ति० १५३। ११६-११७)
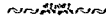
दीर्घ विचारके बाद ही कोई कार्य करना चाहिये

[चिरकारीकी कथा]

महर्षि गौतमका एक महान् ज्ञानी पुत्र था। उसका नाम था चिरकारी। वह किसी कार्यको करनेसे पूर्व उसपर देरतक विचार किया करता था इसलिये उसका नाम चिरकारी पड़ गया। कार्योंमें विलम्ब करनेके कारण लोग उसे आलसी तथा मन्दबुद्धि भी कह दिया करते थे।

एक दिनकी बात है। महर्षि गौतमकी स्त्रीद्वारा एक महान् अपराध हो गया। जब ऋषिको अपराधका पता चला तो वे अपनी स्त्रीपर बहुत कुपित हुए और अपने पुत्र चिरकारीसे यहाँ तक कह डाला कि 'बेटा! तू अपनी इस दुष्कर्मी माताको मार डाल।'

इस प्रकार उस समय बिना विचार किये ही गौतम ऋषिने पुत्रको वह बात कह डाली और फिर वे वनमें चले गये।

चिरकारीने 'बहुत अच्छा' कहकर पिताकी आज्ञा स्वीकार की। फिर अपने स्वभावके अनुसार वह पिताद्वारा प्राप्त आज्ञापर देरतक विचार करता रहा। उसने सोचा—एक ओर पिताकी आज्ञा है और दूसरी ओर माताका वध। पिताकी आज्ञाका पालन करना पुत्रका परम धर्म है और माताकी रक्षा करना पुत्रका प्रधान धर्म है। अतः मैं कौन-सा कार्य करूँ कौन ऐसा उपाय करूँ जिससे पिताकी आज्ञाका पालन भी हो जाय और माताका वध भी न करना पड़े? धर्मपालनके बहाने यह मेरे ऊपर महान् संकट उपस्थित हो गया है। माताका वध करके कौन पुत्र पुत्र कहला सकता है और पिताकी आज्ञाकी अवहेलना करके कौन प्रतिष्ठा पा सकता है? जिस माताने मुझे जन्म दिया है मेरा लालन-पालन किया है मैं कैसे उसका वध करूँ और यदि नहीं करता हूँ तो पिताकी आज्ञाका उल्लंघन होता है। इस प्रकार विचार करते-करते चिरकारीको कभी माताका पक्ष उचित लगता और कभी पिताका पक्ष।

विलम्ब करनेका स्वभाव होनेके कारण चिरकारी बहुत समयतक विचारमें ही पड़ा रहा सोचता-विचारता ही रहा। इसी सोच-विचारमें कितना समय निकल गया इसका भी उसे भान नहीं रहा। वह ऊहापोहमें ही पड़ा रहा।

अपने पुत्रको पत्नी-वधकी आज्ञा देकर गौतम वनकी ओर चले तो गये किंतु जब उनका क्रोध शान्त हुआ तो वे अपने अनुचित निर्णयपर विचार करके बहुत संतप्त हो गये। इतना ही नहीं वे पत्नी-वधकी कल्पना कर रो पड़े। पश्चात्तापकी अग्निमें जलते हुए वे मन-ही-मन कहने लगे—अहो! आज मैंने अविवेकसे महान् अनर्थ कर डाला है मेरी स्त्री तो सर्वथा निर्दोष है मैंने अपनी

पतिव्रता धर्मभार्याका प्रमादरूपी व्यसनसे ग्रस्त होकर पुत्रसे ही उसका वध करा डाला अब इस पापसे मेरा कौन उद्धार करेगा?

फिर उन्हें पुत्रके स्वभावका ध्यान आया। वे सोचने लगे कि आज यदि मेरे पुत्रने अपने स्वभावके अनुसार विलम्ब किया होगा तो मैं स्त्री-हत्याके पापसे बच सकता हूँ। फिर वे अपने पुत्रको सम्बोधित कर कहने लगे— बेटा चिरकारी! तेरा कल्याण हो, चिरकारी! तेरा मङ्गल हो। यदि आज भी तूने विलम्बसे कार्य करनेके अपने स्वभावका अनुसरण किया होगा तभी तेरा चिरकारी नाम सफल हो सकता है—

चिरकारिक भद्रं ते भद्रं ते चिरकारिक।
यद्यद्य चिरकारी त्वं ततोऽसि चिरकारिक॥

(महा०, शान्ति० २६६।५४)

बेटा! आज विलम्ब करके तू वास्तवमें चिरकारी बन और मेरी पत्नी यानी अपनी माताकी रक्षा करके अपनेको भी पातकोंसे बचा ले।

ऐसा सोच-विचार करते हुए गौतम बहुत देरतक वनमें नहीं ठहर सके और वे जल्दी-जल्दी चलकर घर आ गये। उनका मन अनेक आशङ्काओंसे घिरा था। जब वे आश्रमके समीप पहुँचे तो उन्होंने पुत्र चिरकारीको खड़ा पाया चिरकारीने दौड़कर हथियार फेंककर पिताके चरणोंको

पकड़ लिया और आज्ञाका उल्लङ्घन हो जानेके लिये क्षमा माँगी। इतनेमें ही गौतमने अपनी धर्मपत्नीको भी पास आते देखा, जो लज्जित-सी थी।

गौतम ऋषिकी प्रसन्नताकी सीमा न रही। उन्होंने पुत्रको हृदयसे लगाते हुए कहा—'बेटा! आज तेरे चिरकारी स्वभावने हम सभीको बचा लिया है। मैंने बिना विचारे जो आज्ञा तुम्हें दे दी थी, कदाचित् तुम तत्काल ही उसका पालन कर लेते तो महान् अनर्थ हो जाता। बेटा, तुम्हारा कल्याण हो तुम दीर्घायु हो।' तदनन्तर गौतम ऋषिने अच्छी तरह विचार कर लेनेके अनन्तर ही कार्य करना कल्याणकर होता है, इसे बताते हुए नीतिका सुन्दर उपदेश दिया। यथा—

चिरेण मित्रं बध्नीयाच्चिरेण च कृतं त्यजेत्।
चिरेण हि कृतं मित्रं चिरं धारणमर्हति॥

(महा० शान्ति० २६६।६९)

अर्थात् चिरकालतक सोच-विचार करके किसीके साथ मित्रता जोड़नी चाहिये और जिसे मित्र बना लिया, उसे सहसा नहीं छोड़ना चाहिये। यदि छोड़नेकी आवश्यकता पड़ ही जाय तो उसके परिणामपर चिरकालतक विचार कर लेना चाहिये। दीर्घकालतक सोच-विचार करके बनाया हुआ जो मित्र है, उसीकी मैत्री चिरकालतक टिक पाती है।

इसके साथ ही बुरे कार्यों यथा—राग, दर्प अभिमान, द्रोह पापाचरण और किसीका अप्रिय करनेमें जो विलम्ब करता है, उसकी प्रशंसा की जाती है—

रागे दर्पे च माने च द्रोहे पापे च कर्मणि।
अप्रिये चैव कर्तव्ये चिरकारी प्रशस्यते॥

(महा० शान्ति० २६६।७०)

जो बन्धुओं, सुहृदों, सेवकों और स्त्रियोंके छिपे हुए अपराधोंके विषयमें कुछ निर्णय करनेमें भी जल्दबाजी न करके दीर्घकालतक सोच-विचार करता है उसीकी प्रशंसा की जाती है—

बन्धूनां सुहृदां चैव भृत्यानां स्त्रीजनस्य च।
अव्यक्तेष्वपराधेषु चिरकारी प्रशस्यते॥

(महा० शान्ति० २६६।७१)

जो चिरकालतक रोषको अपने भीतर ही दबाये रखता है और रोषपूर्वक किये जानेवाले कर्मको देरतक रोके रहता है उसके द्वारा कोई कर्म ऐसा नहीं बनता जो पश्चात्ताप

करानेवाला हो—

चिर धारयते रोप चिर कर्म नियच्छति।
पश्चात्तापकर कर्म न किंचिदुपपद्यत॥

(महा० शान्ति० २६६।७४)

चिरकालतक बडे-बूढाकी सेवा करे दीर्घकालतक उनका सङ्ग करके उनकी पूजा (आदर-सत्कार) करे। चिरकालतक धर्मका सवन और दीर्घकालतक उसका अनुसधान करे—

चिर वृद्धानुपासीत चिरमन्वास्य पृजयेत्।
चिर धर्मं निपेवेत कुर्याच्चान्वेपण चिरम्॥

(महा० शान्ति० २६६।७५)

अधिक समयतक विद्वानोका सङ्ग करके चिरकालतक शिष्ट पुरुपाकी सेवामें रहे तथा चिरकालतक अपने मनको वशमे रखे। इससे मनुष्य चिरकालतक अवज्ञाका नहीं किंतु सम्मानका भागी होता है—

चिरमन्वास्य विदुपश्चिर शिष्टान् निपेव्य च।
चिर विनीय चात्मान चिर यात्यनवज्ञताम्॥

(महा० शान्ति० २६६।७६)

इस प्रकार नीतिका उपदेश देकर गातम ऋपिने अपन पुत्रको आश्वस्त किया और बहुत कालतक उस आश्रममे तपका अनुष्ठान करते हुए उन्होंने परमधामको प्राप्त किया।

स्वयका कर्म ही फल देता है

[शोक दूर करनेवाली गाथा]

पूर्वकालमे गौतमी नामकी एक ब्राह्मणी थी। उसके एक ही पुत्र था जा उसे बहुत प्रिय था। एक दिन उसके इकलौते वेटेको साँपन डँस लिया, साँप जहरीला था, काटते ही बालककी मृत्यु हो गयी। एक व्याध भी वहीं रहता था, उसका नाम था अर्जुनक। उसने उस साँपको अपनी ताँतक फाँसमे फँसा लिया आर गोतमीके पास आकर वह कहन लगा—महाभाग। यही वह नाच साँप हे, जिसन तुम्हारे पुत्रको डॅस लिया हे म अभी इसे भा तुम्हार ही सामन यमलाक पहुँचा दता हूँ।

उसकी बात सुनकर गौतमी बोली—'अर्जुनक। इस साँपको छोड दो यह नादान है इस बचारेका कोई दोप नहीं है, होनहारको कोई टाल नहीं सकता फिर तुम अपने ऊपर पापका वोझ क्यो लादना चाहते हा? ससारमे धर्माचरण करक जो अपनेको हलका रखते है वे तो पानीके ऊपर चलनेवाली नौकाक समान भवसागरसे पार हो जाते है किंतु जो पापके बोझसे अपनेको बोझिल बना लेते हैं वे जलम फके हुए हथियारकी भाँति नरक-समुद्रम डूब जाते हैं।

फिर इसे तुम्हार द्वारा मार दनसे मरा यह पुत्र जीवित ता हो नहीं जायगा अत इसे मारो मत छोड दा। अरे अर्जुनक। धर्मातमा पुरुप सदा धर्मम हा लग रहते हैं। मरा यह बालक तो मरनेहीवाला था, इसलिये मर गया, तुझे इसे मारनेसे क्या लाभ होगा?

व्याधने कहा—'दवि। यह साँप बडा भयकर है इसने न जाने कितनोको काटा होगा और आगे यह न जाने कितनाको मौतके घाट लगायगा, इसलिये इस मार डालना ही ठीक हे।' इसपर भी गौतमीन व्याधकी बाताको स्वीकार नहीं किया।

वह साँप जो व्याधकी ताँतमे फँसा था बडे कष्टसे साँस ले पा रहा था। दु खी हाकर उसने धीरे-धीरे मनुष्यकी वाणीमे कहा—

अरे नादान व्याध। इसमे मेरा क्या दाप है? मैं ता पराधीन हूँ, मृत्युने मुझे विवश करके इस कार्यको करनक लिये प्ररित किया था। उसके कहनेसे ही मैंने इस बालकको डँसा है, क्रोध और किसी कामनासे नहीं। यदि इसम कोई अपराध है तो वह मेरा नहीं वरन् मृत्युका है। व्याध। जैसे मिट्टीका बरतन बनानेमें दण्ड और चक्र आदि सभी कारण पराधीन होते हैं, उसी प्रकार मैं भी मृत्युके अधीन हूँ, इसलिये मुझपर दोप लगाना ठीक नहीं। व्याधने कहा—ठीक है, तू अपराधका न कारण है और न कर्ता तो भी इस बालककी मृत्यु ता तेरे ही काटनेस हुई है।

इसपर साँपने कहा—देखा व्याध! प्रयोज्यसे प्रयोजक (प्रेरक) अधिक अपराधी होता है। यद्यपि दोना किसी कार्यमे हेतु होते हैं, पर प्रेरणा देनेवाला ही मुख्य अपराधी होता है। मृत्युकी प्रेरणासे ही मैंने यह कार्य किया है, अत मेरा कोई दोष नहीं है।

मृत्युदेवता इस संवादको सुन रहे थे वे भी वहाँ उपस्थित हो गये और कहने लगे—

अरे साँप! मैं स्वयं तुम्हें प्रेरणा देनेवाला नहीं हूँ, मैं भी कालके अधीन हूँ। कालकी आज्ञासे ही मैंने तुम्हें इस बालकको डँसनेके लिये कहा था। अत बालककी मृत्युमे न तो तुम कारण हो और न मैं ही कारण हूँ। काल ही सबका संहारक है। ऐसेमें तुम मुझे क्या दोष दे रहे हो?

इसपर व्याधने उन दोनोंसे कहा—इस बालकके विनाशमें तुम दोनो (साँप और मृत्यु) ही कारण हो। अत मैं दोनोको अपराधी मानता हूँ।

मृत्युने कहा—व्याध! हम दोनों कालके अधीन होनेके कारण विवश हैं। हम तो केवल उसके आदेशका पालनमात्र करते हैं। अत हमपर दोषारोपण करना ठीक नहीं।

इस संवादको कालदेवता भी सुन रहे थे उचित अवसर जानकर वे भी उपस्थित हो गये और व्याधको लक्ष्यकर कहने लगे—व्याध! इस जीवकी मृत्युमे न तो मैं, न यह मृत्यु और न यह साँप ही कारण है। हमलोग किसीकी मृत्युमें प्रयोजक (प्रेरक) भी नहीं हैं।

अर्जुनक! इस बालकने जो कर्म किया था, वही इसकी मृत्युमें प्रेरक हुआ है, दूसरा कोई इसकी मृत्युका कारण नहीं है। यह जीव अपने कर्मसे ही मृत्युको प्राप्त कर रहा है—

> अकरोद् यदयं कर्म तन्नोऽर्जुनक चोदकम्।
> विनाशहेतुर्नान्योऽस्य वध्यतेऽयं स्वकर्मणा।
>
> (महा० अनु० १।७१)

संसारमें कर्म ही मनुष्योंका पुत्र-पौत्रके समान अनुगमन करनेवाला है। कर्म ही सुख-दुःखके सम्बन्धका सूचक है। इस जगत्में कर्म ही जैसे एक-दूसरेको प्रेरित करते हैं, वैसे ही हम भी कर्मोंसे ही प्रेरित हुए हैं—

> कर्मदायादवाँल्लोक कर्मसम्बन्धलक्षण।
> कर्माणि चोदयन्तीह यथान्योन्यं तथा वयम्॥
>
> (महा० अनु० १।७३)

जैसे कुम्हार मिट्टीके लौंदेसे जो-जो बर्तन बनाना चाहता है, वही बना लेता है, उसी प्रकार मनुष्य अपने किये हुए कर्मके अनुसार ही सब कुछ पाता है। जैसे धूप और छाया एक-दूसरेसे नित्य-निरन्तर मिले रहते हैं वैसे ही कर्म और कर्ता भी अपने कर्मानुसार एक-दूसरेसे सम्बद्ध होते हैं। इस प्रकार विचार करनेपर न मैं, न मृत्यु न साँप, न तुम (व्याध) और न यह बूढ़ी ब्राह्मणी इस बालककी मृत्युमें कारण है। यह शिशु तो स्वयं अपने किये हुए कर्मके अनुसार अपनी मृत्युमें कारण बना है।

गौतमीने भी व्याधको बताया कि अपने कर्मोंसे प्रेरित

हो कालके द्वारा यह मेरा बालक मृत्युको प्राप्त हुआ है अत तुम इस साँपको छोड दो। तदनन्तर व्याधने साँपको छोड दिया। तत्पश्चात् साँप व्याध, मृत्यु तथा काल अपने अपने स्थानोको चले गये।

यह सब समझकर ब्राह्मणीका शोक भी दूर हो गया।

(महा० अनु० अ० १)

धनकी तृष्णाको कैसे छोडे ?

[मङ्किद्वारा बतायी वैराग्यनीतिकी कथा]

पूर्वकालकी वात है, मङ्कि नामक एक मुनि थ। उनम धनकी तृष्णा वस गयी थी। धन प्राप्त करनेक लिये व अनेक प्रकारकी चेष्टाएँ किया करते परतु हर वार उनका प्रयत्न व्यर्थ हा जाता जिससे उनकी सारी चेष्टाएँ निष्फल हा जाता। उनक पास जा धन था वह भी धीरे-धीरे समाप्त हान लगा। अब उन्हाने साचा कि जा यह थाडा-सा धन वचा है इससे दो वछड खरीद लिये जायँ और फिर उनस खती करके खूब धन कमाया जाय। फिर उन्हान ऐसा हा किया। जो धन वचा था उसस दा सुन्दर वछडे खरीद लिये। वछडे खूब हृष्ट-पुष्ट थ। इनस जुताईका कार्य बढिया हागा तो अनाज भी खूब पदा हागा—एसा वे सोचने लग। उन्ह अपनी आशाक फलवता हानक आसार नजर आये।

फिर एक दिन वे उन बछडाको परस्पर जातकर हल चलानकी शिक्षा देनेक लिय घरसे निकल पडे। जव गाँवसे बाहर थोडी दूर पहुँचे ता मार्गक बीचाबीच एक ऊँट रास्ता घेरे वैठा था। दोना बछड ऊँटका बीचम कर उसके ऊपरसे निकलन लग, कितु ज्या ही व उसकी गरदनके पास पहुँचे त्या ही ऊँटको वडी चुभन मालूम हुई। वह चुभन उसके लिये असह्य हो गयी। वह रापम भरकर हडवडाकर उठ खडा हुआ। इसस दाना बछडे जा परस्पर बँध हुए थ व ऊँटक दाना आर लटक गये, एक गरदनके एक ओर तो दूसरा गरदनक दूसरी ओर। ऊँट उन्ह लटकाय ही सरपट भागने लगा। वछडाका गला चूँकि रस्सीसे बँधा था अत लटके हानसे उनकी साँस रुक गयी और व दाना बछड मर गये।

यह सव दृश्य मङ्कि मुनि अपनी आँखाके सामन देख रह थे, पर उनका कुछ वश नहीं था। अत वे तृष्णासे मुख मोडकर बाल पडे—

मनुष्य कैसा ही बुद्धिमान् क्या न हा जो उसके भाग्यम नहा हे, उसे वह किसी भी प्रयतस प्राप्त नहीं कर सकता। दखा! देवयागसे मर सामने यह केसा दृश्य उपस्थित हा गया ह, मुझे लगता है कि हठपूर्वक किये गय पुरुपार्थसे भी कुछ नहा हाता। अत सुखकी इच्छा रखनेवाल पुरुपको धन आदि भोगाकी आरस वराग्यका ही आश्रय लना चाहिय, क्याकि धनापार्जनका चप्टासे निराश हाकर जो विरक्त हा जाता है, वह सुखकी नींद साता है—

> तस्मान्निर्वेद एवेह गन्तव्य सुखमिच्छता।
> सुख स्वपिति निर्विण्णो निराशश्चार्थसाधने॥
>
> (महा० शान्ति० १७७। १४)

शुकदेवजी जब महाराज जनकजीक राजमहलका त्यागकर वनकी आर जाने लगे तो उस समय उन्हान ठीक ही कहा था—

जो मनुष्य अपनी समस्त कामनाआका प्राप्त कर लता है तथा जा इन सवका कवल त्याग कर देता है—इन दोनाके कार्योम समस्त कामनाआको प्राप्त करनका अपक्षा— उनका त्याग ही श्रेष्ठ है—

> य कामानाप्नुयात् सर्वान् यश्चतान् कवलास्त्यजत्।
> प्रापणात् सर्वकामाना परित्यागो विशिष्यत॥
>
> (महा० शान्ति० १७७। १६)

क्याकि पहल काई भी पहल तृष्णाका अन्त नहीं प्राप्त कर सका है। इसलिय अर मर मन! तुम कामनाआक दास हाकर भागप्राप्तिकी चप्टा करक वार-वार ठगे जा चुक हा फिर भी आश्चर्य है कि तुम इस तृष्णाका छाडत नहीं। अर काम!

मैं तुझे अच्छी तरह जानता हूँ और जो तुझे प्रिय लगता है, उससे भी परिचित हूँ, चिरकालसे तेरा प्रिय करनेकी चेष्टा करता आ रहा हूँ, परंतु कभी मेरे मनमें सुख-शान्तिका अनुभव नहीं हुआ। अरे काम! मैं तेरी जड़को जानता हूँ। निश्चय ही तू संकल्पसे उत्पन्न होता है। अब मैं तेरा संकल्प ही नहीं करूँगा जिससे तू समूल नष्ट हो जायगा—

जानामि काम त्वां चैव यच्च किंचित् प्रियं तव।
तवाहं प्रियमन्विच्छन्नात्मन्युपलभे सुखम्॥
काम जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायसे।
न त्वां संकल्पयिष्यामि समूलो न भविष्यसि॥

(महा० शान्ति० १७७। २४-२५)

धनकी इच्छा या चेष्टा सुखदायिनी नहीं है, पहले तो धनकी प्राप्तिके प्रयत्नमें कष्ट, मिल जानेपर उसकी रक्षा करनेमें कष्ट और कदाचित् नष्ट हो जाय तो फिर कष्ट-ही-कष्ट। इस प्रकार यह धन आदि—इन्द्रियभोगोंकी पिपासा बढ़ती ही रहती है। अतः अब मेरा यह तृष्णाका पुंजरूपी इन्द्रियशरीर रहे चाहे न रहे अब मैं शुद्ध सत्त्वका ही आश्रय ले रहा हूँ। धनकी तृष्णाका फल मुझे मिल गया है।

धनलोलुपता दुःखका कारण है यह बात मुझे बहुत देर बाद समझमें आयी है। अरे काम! तू मुझे दुःखोंमें फँसाना चाहता है पर अब तेरी चाल मुझपर चलेगी नहीं। अब तू मेरे भीतर प्रवेश नहीं कर सकता। तुम्हें खुश करनेके लिये मैंने आजतक बहुत क्लेश सहे, पर आज मेरा सब कुछ चला गया है। मैं धन भोग आदि सभीसे रहित हो गया हूँ, परंतु आज मुझे तुम्हें छोड़नेसे सब कुछ मिल गया है। धनका नाश हो गया, मेरी सारी चिन्ता भी मिट गयी, आज मैं सुखसे सो सकूँगा। काम! मैंने तेरा परित्याग कर दिया है अब तुम रहो या जाओ, इससे मुझमें कोई फर्क पड़नेवाला नहीं है।

सबसे बड़ी बात यह है कि ज्यों ही मैंने तेरा त्याग किया त्यों ही मुझे ऐसे परम कल्याणकारी आठ सद्गुण—(१) वैराग्य (२) सुख, (३) तृप्ति (४) शान्ति (५) सत्य, (६) दम, (७) क्षमा और (८) समस्त प्राणियोंके प्रति दयाभाव—मिल गये हैं जो कि अभ्युदयको प्राप्त करानेवाले हैं—

निर्वेदं निर्वृतिं तृप्तिं शान्तिं सत्यं दमं क्षमाम्।
सर्वभूतदयां चैव विद्धि मां समुपागतम्॥

(महा० शान्ति० १७७। ४)

मनुष्य जिस-जिस कामनाको छोड़ देता है उस उसकी ओरसे वह सुखी हो जाता है। कामनाके वशीभूत रहनेमें तो दुःख-ही-दुःख है। दुःख निर्लज्जता और असंताप—ये काम और क्रोधसे ही उत्पन्न होनेवाले हैं। इस लोकमें जो विषयोंका सुख है तथा परलोकमें जो दिव्य एवं महान् सुख है—ये दोनों प्रकारके सुख तृष्णाके क्षयसे होनेवाले सुखकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हैं—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

(महा० शान्ति० १७७। ५१)

काम क्रोध, लोभ मोह, मद मात्सर्य और ममता—ये देहधारियोंके सात शत्रु हैं। इनमें भी कामरूपी शत्रु सबसे प्रबल है, इसको जीत लेनेसे सब पराजित हो जाते हैं।

'आज मैंने इस कामका परित्याग कर दिया है अब मुझे भोगोंसे विरति हो गयी है।'

—ऐसा कहकर मङ्कि शान्त हो गये। बछड़ोंके निमित्तसे उन्हें तत्त्वज्ञान हो गया। समस्त कामनाओंका परित्याग कर वे निष्कामभावमें प्रतिष्ठित हो गये और उन्हें परमानन्दपदकी प्राप्ति हो गयी।

इस प्रकार तृष्णाके त्यागसे परम सुखकी प्राप्ति हो जाती है। (महाभारत, शान्ति० १७७)

~~~

देवे तीर्थे द्विजे मन्त्रे दैवज्ञे भेषजे गुरौ।
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी॥

देवता, तीर्थ ब्राह्मण मन्त्र ज्योतिषी औषध और गुरुमें जिसकी जैसी भावना रहती है उसे वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है। (सूक्तिसुधाकर)

~~~

आलस्यसे पतन होता है

महाभारतमे नीतिकी एक सुन्दर कथा इस प्रकार आयी है—एक ऊँट था। उसे पूर्वजन्मकी सारी बात ज्ञात थीं। ऊँट होते हुए भी वह कठिन तपस्यामें निरत रहता था। उसकी कठिन तपस्यासे ब्रह्माजी बहुत प्रसन्न हो गये और उससे वर माँगनेको कहा। ऊँटने कहा—भगवन्! यदि आप प्रसन्न हैं तो मुझे यह वर दीजिये कि मेरी यह गरदन बहुत लंबी हो जाय जिससे मुझे भोजनके लिये इधर-उधर भटकना न पड़े और मैं एक ही स्थानपर बैठा-बैठा सौ योजन दूरतककी वस्तुओंको भी पा लूँ।

ब्रह्माजीने कहा—'ऐसा ही होगा।' यह मुँहमाँगा वर पाकर ऊँट बहुत प्रसन्न हो गया और वनमें अपने स्थानपर जाकर आरामसे बैठ गया। अब उसे भोजनकी खोजमें कहीं जानेकी जरूरत नहीं पड़ती थी। उसकी गरदन सौ योजन लंबी हो गयी थी, वह बैठे-बैठे ही दूर-दूरतक अपनी गरदन घुमाकर भोजन प्राप्त कर लेता था। दैववश मूर्ख ऊँटने ऐसा वर माँगा जिससे अब वह आलस्यकी मूर्ति बन बैठा। कुछ भी करना उसे अच्छा न लगता और न उसे ऐसी जरूरत ही महसूस होती थी। बैठा-बैठा वह महान् आलसी बन गया था। उसका पुरुषार्थ लुप्त हो गया था।

ऐसे ही कुछ दिन बीते। एक दिनकी बात है वह ऊँट भोजनकी खोजमें अपनी सौ योजन लंबी गरदन इधर-उधर घुमाकर दूर देशमें चर रहा था। उसी समय अकस्मात् जोरकी हवा चलने लगी। तूफान-सा आने लगा। थोड़ी ही देरमें भयंकर वर्षा भी प्रारम्भ हो गयी। वह ऊँट अपनी गरदनको एक गुफाके अंदर डालकर चरने लगा। संयोगसे उसी समय एक सियार और सियारिन भूख और थकानसे व्याकुल हो साथ ही वर्षासे बचनेके लिये उस गुफाके अंदर प्रविष्ट हुए। वह मांसजीवी सियार भूखसे कष्ट पा रहा था। अकस्मात् वहाँ उसे ऊँटकी गरदन दिखायी पड़ी फिर क्या था! सियार-सियारिन दोनों साथ-साथ ऊँटकी गरदनको काट-काटकर मांस खाने लगे।
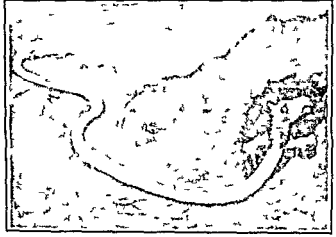
इधर सौ योजन दूर बैठे उस ऊँटको जब अपनी गरदन कटनेका दर्द महसूस हुआ तो वह अपनी गरदन समेटनेका प्रयास करने लगा, परंतु इतनी लंबी गरदन समेटना सम्भव नहीं था। इधर सपरिवार सियार बड़े मजेसे काट-काटकर मांस खाये जा रहा था। गरदनके कट जानेसे ऊँटकी मृत्यु हो गयी। जब थोड़ी देर बाद वर्षा बंद हो गयी तो वह सियार-परिवार गुफासे बाहर निकलकर चला गया।

इस प्रकार आलस्यके कारण ऊँटकी मृत्यु हो गयी। अतः मनुष्यको आलस्य और प्रमादका त्याग करके सदैव पुरुषार्थी बने रहना चाहिये। प्रमाद न करनेवाला मनस्वी व्यक्ति सदा सफलता प्राप्त करता है। जो व्यक्ति जितेन्द्रिय और दक्ष है उसीकी सदा विजय होती है और वह अपने प्रयत्नमें सदा सफल होता है। लौकिक कार्योंमें प्रमादसे दुष्परिणाम होते ही हैं साधनाके क्षेत्रमें तो प्रमाद एक महान् शत्रुरूप है। (महा०, शान्ति० अ० ११२) इसलिये शास्त्रोंने प्रमाद न करनेकी नीतिका उपदेश दिया है—'मा प्रमदितव्यम्।'

आराधनाके समय उन लोगोंसे दूर रहो, जो भक्त और धर्मनिष्ठ लोगोंका उपहास करते हों। —श्रीरामकृष्ण परमहंस

ईसपकी नीति-कथाएँ

[ईसासे ६२० वर्ष पूर्व जनमे ईसपके जीवनके बारेम अधिक जानकारी नही मिलती। कहते ह कि वे किसी पूर्वी देशम जनमे और यूनानके निवासी एक गुलाम थे। उनके नामपर प्रचलित अनेक कथाओपर बाद्ध जातको तथा पञ्चतन्त्र आदिका भारतीय कथाओकी स्पष्ट छाप दिखायी देती है। सुकरात तथा सिकन्दर आदिके युगमे अनेक भारतवासी उन देशोकी यात्रा किया करते थे, इस कारण प्राचीन यूनानकी इन नीति-कथाओपर भारतीय प्रभाव होना कोई अनहोनी बात नहीं है। इन नीति-कथाआम व्यावहारिक जीवनके अनेक सत्योका निदर्शन मिलता है, अत ये आबालवृद्ध सभीके लिये रोचक तथा उपयोगी ह। इनकी लोकप्रियताका यही कारण ह कुछ कथाएँ यहाँ प्रस्तुत ह।—सम्पादक]

दुष्टोके साथ ज्यादा मेल-जोल अच्छा नही

[वाघ और वगला]

एक बार एक वाघक गलेम हड्डी अटक गयी। बाघने उसे निकालनकी बडी चेष्टा की, पर उसे सफलता नहा मिली। पीड़ास परशान होकर वह इधर-उधर दाड-भाग करने लगा। किसी भी जानवरको सामन दखत ही वह कहता—'भाई! यदि तुम मेरे गलेसे हड्डीका बाहर निकाल दो तो में तुम्हें एक विशेष पुरस्कार दूँगा और आजीवन तुम्हारा ऋणी रहूँगा।' परतु काई भी जीव भयके कारण उसकी सहायता करनका राजी नहीं हुआ।

पुरस्कारके लोभम आखिरकार एक वगला तयार हुआ। उसने वाघके मुँहम अपनी लम्बी चाच डालकर अथक प्रयासक वाद उस हड्डीको बाहर निकाल दिया। वाघको बडी राहत मिली। बगलेद्वारा पुरस्कारकी बात उठानेपर वह आँखे तररकर दाँत पीसते हुए बोला—'अर मूर्ख! तूने बाघके मुँहमे अपनी चाच डाल दी थी उस तू सुरक्षितरूपस बाहर निकाल सका इसीम अपना भाग्य न मानकर ऊपरस पुरस्कार माँग रहा हे? यदि तुझे अपनी जान प्यारी है तो मर सामनेस दूर हा जा, नहीं ता अभा तेरी गरदन मराड दूँगा।' यह सुनकर वगला स्तब्ध रह गया और तत्काल वहाँसे चल दिया। ठीक ही कहा ह—दुष्टाक साथ ज्यादा मल-जाल अच्छा नहीं।

अपनी मर्यादाका त्याग अपमानका कारण वनता है

[कौआ और मोरक पख]

एक जगह वहुत-स मोरक पख पड हुए थ। एक कौएने उन्ह दखकर मन-ही-मन साचा—यदि मैं इन मारके पखाका अपने पखापर लगा लूँ तो म भी मारक समान हो सुन्दर दिखने लगूँगा। यह साचकर कौएने उन्ह अपन पखापर लगा लिया और अन्य कौआक पास जाकर कहन लगा—'तुमलोग वड नीच आर कुरूप हा, म अव तुम लोगाक साथ नहीं रहूँगा।' यह कहकर वह मोराका टालामें सम्मिलित हान चला।

मारान उसे देखते ही पहचान लिया कि यह कौआ है। इसके वाद सभी मोरोंने मिलकर उसक पखास एक-एक मार-पख निकाल लिय आर उस अत्यन्त मूर्ख ठहराकर उसपर प्रहार करने लग। काआ परशान हो गया आर उसन भागकर अपनी जान वचायी।

इसके वाद वह फिर अपनी टालीम शामिल होने गया। इसपर दूसरे काआन उसकी हँसी उडाते हुए कहा—'अर मूर्ख! तू माराक पख पाकर अहकारम उन्मत्त हो हम लागासे घृणा करके और गालियाँ दते हुए मोराक दलमें शामिल होने गया था वहाँसे अपमानित होकर अब तू फिर हमारा टालीम मिलन आया ह। तू ता वडा हा नीच और निर्लज्ज ह।' इस प्रकार उसका तिरस्कार करत हुए उन लागान उस मूर्ख कौएका भगा दिया।

मनुष्य यदि दूसराकी नकलका प्रयास छोडकर अपन गुण-अवगुण जानकर अपनी अवस्थास सतुष्ट रहे, अपनी मर्यादाम रह तो उस किसीक सामन अपमानित नहीं हाना पडता।

लोभका फल

[कुत्ता और उसकी परछाईं]

रोटी मुखम लिय एक कुत्ता नदी पार कर रहा था। नदीक स्वच्छ जलम पडते हुए अपन प्रतिबिम्बका एक

अन्य कुत्ता समझकर उसने मन-ही-मन सोचा—इस कुत्तेक मुखम जो रोटी है, उसे यदि में छीन लूँ, तो मर पास दो रोटियाँ हो जायँगी।

इस प्रकार लोभमे पडकर कुत्ता ज्या ही मुँह फैलाकर उस काल्पनिक रोटीको पकडने गया, त्यो ही उसके मुखकी रोटी पानीम गिरकर वह गयी। इसपर स्तब्ध होकर थोडी देर चुप रहनके बाद वह यह कहते हुए नदीके उस पार चला गया—'जो लाग लोभके वशीभूत होकर कल्पित लाभकी आशामे दौडते हैं उनकी यही हालत होती ह। एक प्रसिद्ध कहावत भी है— *आधी छोड़ सारीको धावे, आधी मिले न सारी पावे।*

क्षणिक सुखकी तृष्णा विनाशका कारण बनती हे

[मधुपात्र और मक्खी]

एक दूकानम मधुका पात्र उलटकर गिर गया था। इससे चारा ओर मधु फेल गया। मधुकी सुगन्ध पाकर झुण्ड-की-झुण्ड मक्खियाँ आकर मधु खाने लगीं। जबतक एक बूँद भी मधु पडा रहा, वे उस स्थानसे हिली नहीं। अधिक देरतक वहाँ रहनेसे क्रमश सभी मक्खियाके पाँव मधुसे लिपट गये। उसके बाद मक्खियाँ उडनेका प्रयास करती रह गयीं, पर उड न सकीं और वादमे भी उडनेकी आशा नहीं रही। तव वे अपने-आपको धिक्कारते हुए शिकायतके स्वरम कहने लगीं—'हम कैसी मूर्ख हैं, क्षणिक सुखके लिये हमने प्राण दे दिये।'

करनीका फल

[कुत्ता, मुर्गा और सियार]

एक कुत्त और एक मुर्गेके बीच बडा प्रेम था। एक दिन दोनो साथ मिलकर एक जगलके बीच घूमनेको गये परतु रात हो गयी। रात बितानेके लिये मुर्गा एक वृक्षकी शाखापर चढ गया और कुत्ता उसी वृक्षके नीच लेट गया।

क्रमश भोर होनेको आया। मुर्गेका स्वभाव है कि वह भोरके समय जोरकी आवाजम बाँग देता है। मुर्गेकी आवाज सुनते ही एक सियारने मन-ही-मन सोचा—'आज कोई उपाय करके इस मुर्गेको मारकर इसका मास खाऊँगा।' ऐसा निश्चय करक धूर्त सियार वृक्षके पास जाकर मुर्गेको सम्बोधित करते हुए बोला—'भाई। तुम कितन भल हो सबका कितना उपकार करते हो। मैं तुम्हारी आवाज सुनकर अत्यन्त आह्लादित होकर आया हूँ। वृक्षकी शाखासे नीचे उतर आओ, हम दोनो मिलकर थाडा आमाद-प्रमाद करेगे।'

सियारकी चालाकी समझकर मुर्गेने उसकी धूर्तताका फल देनेके लिय कहा—'भाई सियार। तुम वृक्षक नीचे आकर थोडी दर प्रतीक्षा करा, मैं उतर रहा हूँ।' यह सुनकर सियार जब आनन्दपूर्वक उस वृक्षके नीच आया तभी कुत्तेने उसपर आक्रमण कर दिया आर अपने नखा-दाँतास प्रहार करके उसे मार डाला। दूसराके लिये गड्ढा खोदनवाला स्वय ही गड्ढेम गिर जाता ह।

पराधीनतामे सुख कहाँ?

[बाघ ओर पालतू कुत्ता]

एक मोट-ताजे पालतू कुत्तेके साथ एक भूख दुबल-पतले वाघकी भेट हो गयी। प्रथम परिचय हा जानेके बाद बाघने कुत्तेस कहा—'भाई, एक बात पूछता हूँ, जरा बताओ, तुम कैस इतने सबल तथा मोटे-तगड हुए तुम प्रतिदिन क्या खाते हो ओर कैसे उसकी प्राप्ति करते हो? मैं तो दिन-रात भोजनकी खाजमे घूमकर भी भरपट खा नहीं पाता। किसी-किसी दिन तो मुझ उपवास भी करना पड जाता है। भोजनके कष्टके कारण ही मैं इतना कमजार हो गया हूँ।'

कुत्तेने कहा—'मैं जो कुछ करता हूँ, तुम भी यदि वैसा ही कर सको तो तुम्हे मेरे-जैसा ही भोजन मिल जायगा।'

बाघ बोला—'सचमुच? अच्छा भाई। तुम्हे क्या करना पडता है, जरा बताओ ता।'

कुत्तेने कहा—'कुछ नहीं बस रातके समय मालिकके मकानकी रखवाली करनी पडती हे।'

बाघ बोला—बस इतना ही। इतना ता मैं भी कर सकता हूँ। मैं भाजनकी तलाशम वन-वन भटकता हुआ धूप तथा वर्षासे बडा कष्ट पाता हूँ। अब और यह क्लेश सहा नहीं जाता। यदि धूप और वर्षाके समय घरम रहनको मिल और भूखके समय भरपट खानका मिल तव ता मर

ईसपकी नीति-कथाएँ

[ईसासे ६२० वर्ष पूर्व जनमे ईसपके जीवनके बारेम अधिक जानकारी नहीं मिलती। कहत है कि व किसी पूर्वी देशम जनमे और यूनानके निवासी एक गुलाम थे। उनक नामपर प्रचलित अनेक कथाओपर बौद्ध जातका तथा पञ्चतन्त्र आदिका भारतीय कथाओकी स्पष्ट छाप दिखायी दती है। सुकरात तथा सिकन्दर आदिके युगम अनेक भारतवासी उन देशोका यात्रा किया करते थे, इस कारण प्राचीन यूनानकी इन नीति-कथाओपर भारतीय प्रभाव हाना कोई अनहोनी बात नहीं है। इन नीति-कथाओमे व्यावहारिक जीवनके अनेक सत्याका निदर्शन मिलता है, अत य आबालवृद्ध सभीक लिये रोचक तथा उपयोगी है। इनकी लोकप्रियताका यही कारण ह कुछ कथाएँ यहाँ प्रस्तुत हैं।—सम्पादक]

दुष्टोके साथ ज्यादा मेल-जोल अच्छा नहीं

[बाघ और बगला]

एक बार एक बाघक गलम हड्डी अटक गयी। बाघने उसे निकालनकी बडी चेष्टा की, पर उस सफलता नहीं मिली। पीडासे परेशान हाकर वह इधर-उधर दाड-भाग करने लगा। किसी भी जानवरको सामन देखते ही वह कहता—'भाई। यदि तुम मेरे गलसे हड्डीका बाहर निकाल दो तो मैं तुम्हे एक विशेष पुरस्कार दूँगा और आजीवन तुम्हारा ऋणी रहूँगा।' परतु काई भी जाव भयके कारण उसकी सहायता करनेको राजी नहीं हुआ।

पुरस्कारके लोभम आखिरकार एक बगला तयार हुआ। उसन बाघके मुँहम अपनी लम्बी चाच डालकर अथक प्रयासक बाद उस हड्डीको बाहर निकाल दिया। बाघको बडी राहत मिली। बगलेद्वारा पुरस्कारकी बात उठानेपर वह आँख तरेरकर दाँत पीसते हुए बोला—'अरे मूर्ख। तूने बाघके मुँहमे अपनी चोच डाल दी थी उसे तू सुरक्षितरूपसे बाहर निकाल सका इसाम अपना भाग्य न मानकर ऊपरस पुरस्कार माँग रहा ह? यदि तुझे अपना जान प्यारी है तो मेरे सामनेसे दूर हो जा, नहीं ता अभी तेरी गरदन मरोड दूँगा।' यह सुनकर बगला स्तब्ध रह गया और तत्काल वहाँसे चल दिया। ठीक ही कहा है—दुष्टाक साथ ज्यादा मेल-जोल अच्छा नहीं।

अपनी मर्यादाका त्याग अपमानका कारण बनता हे

[कौआ और मोरके पख]

एक जगह बहुत-से मोरक पख पडे हुए थ। एक ` उन्हे दखकर मन-ही-मन साचा—यदि म इन मारके पखाका अपन पखापर लगा लूँ ता मैं भी मारक समान ही सुन्दर दिखने लगूँगा। यह साचकर कौएने उन्हे अपने पखापर लगा लिया आर अन्य कौआक पास जाकर कहने लगा—'तुमलोग बड नीच और कुरूप हा, मैं अब तुम लोगाक साथ नहीं रहूँगा।' यह कहकर वह मोराका टोलामें सम्मिलित हाने चला।

मोराने उसे दखते ही पहचान लिया कि यह कौआ है। इसक बाद सभी मोराने मिलकर उसक पखासे एक-एक मोर-पख निकाल लिये आर उस अत्यन्त मूर्ख ठहराकर उसपर प्रहार करने लगे। कौआ परेशान हो गया आर उसने भागकर अपनी जान बचायी।

इसक बाद वह फिर अपनी टोलीम शामिल होने गया। इसपर दूसरे कौआने उसकी हँसी उडाते हुए कहा—'अरे मूर्ख। तू मोराक पख पाकर अहकारम उन्मत्त हो हम लोगासे घृणा करके आर गालियाँ देते हुए मोराके दलमें शामिल होने गया था वहाँसे अपमानित हाकर अब तू फिर हमारी टोलीम मिलने आया ह। तू ता बडा ही नीच और निर्लज्ज है।' इस प्रकार उसका तिरस्कार करते हुए उन लोगाने उस मूर्ख कौएको भगा दिया।

मनुष्य यदि दूसरोकी नकलका प्रयास छोडकर अपने गुण-अवगुण जानकर अपनी अवस्थासे सतुष्ट रहे अपनी मर्यादाम रहे तो उसे किसीके सामने अपमानित नहीं हाना पडता।

लोभका फल

[कुत्ता और उसकी परछाइ]

रोटी मुखम लिये एक कुत्ता नदी पार कर रहा था। नदीक स्वच्छ जलम पडते हुए अपने प्रतिबिम्बको एक

अन्य कुत्ता समझकर उसने मन-ही-मन सोचा—इस कुत्तेक मुखम जो रोटी है, उसे यदि मैं छीन लूँ, तो मेर पास दो राटियाँ हो जायँगी।

इस प्रकार लोभमे पडकर कुत्ता ज्या ही मुँह फेलाकर उस काल्पनिक राटीको पकडने गया, त्या ही उसके मुखकी रोटी पानीमे गिरकर बह गयी। इसपर स्तब्ध होकर थोडी देर चुप रहनेके बाद वह यह कहते हुए नदीके उस पार चला गया—'जा लोग लाभके वशीभूत होकर कल्पित लाभकी आशाम दौडत हैं, उनकी यही हालत होती हे। एक प्रसिद्ध कहावत भी है— *आधी छोड़ सारीको धावे, आधी मिले न सारी पावे।*

क्षणिक सुखकी तृष्णा विनाशका कारण बनती हे

[मधुपात्र और मक्खी]

एक दूकानम मधुका पात्र उलटकर गिर गया था। इससे चारा आर मधु फैल गया। मधुकी सुगन्ध पाकर झुण्ड-की-झुण्ड मक्खियाँ आकर मधु खाने लगीं। जबतक एक बूँद भी मधु पडा रहा, वे उस स्थानसे हिली नहीं। अधिक देरतक वहाँ रहनस क्रमश सभी मक्खियोंके पाँव मधुसे लिपट गये। उसके बाद मक्खियाँ उडनेका प्रयास करती रह गयीं, पर उड न सकीं और बादम भी उडनेकी आशा नहीं रही। तब व अपने-आपका धिक्कारते हुए शिकायतके स्वरम कहने लगीं—'हम कैसी मूर्ख हैं क्षणिक सुखके लिये हमने प्राण दे दिये।'

करनीका फल

[कुत्ता, मुर्गा और सियार]

एक कुत्त और एक मुर्गेके बीच बडा प्रेम था। एक दिन दोना साथ मिलकर एक जगलके बीच घूमनेको गये परतु रात हो गयी। रात बितानेके लिय मुर्गा एक वृक्षकी शाखापर चढ गया और कुत्ता उसी वृक्षके नीच लेट गया।

क्रमश भोर हानेको आया। मुर्गेका स्वभाव है कि वह भोरके समय जोरकी आवाजम बाँग देता है। मुर्गेकी आवाज सुनते ही एक सियारने मन-ही-मन सोचा—'आज कोई उपाय करके इस मुर्गेको मारकर इसका मास खाऊँगा।' ऐसा निश्चय करके धूत सियार वृक्षके पास जाकर मुर्गेको सम्बोधित करते हुए बोला—'भाई! तुम कितन भल हा, सबका कितना उपकार करते हो। मैं तुम्हारी आवाज सुनकर अत्यन्त आह्लादित होकर आया हूँ। वृक्षकी शाखास नीचे उतर आओ, हम दोना मिलकर थाडा आमोद-प्रमाद करगे।'

सियारकी चालाकी समझकर मुर्गेन उसको धूर्तताका फल देनेके लिये कहा—'भाई सियार! तुम वृक्षक नीचे आकर थोडी देर प्रतीक्षा करो, मैं उतर रहा हूँ।' यह सुनकर सियार जब आनन्दपूर्वक उस वृक्षक नीच आया, तभी कुत्तेने उसपर आक्रमण कर दिया ओर अपन नखा-दाँतासे प्रहार करके उसे मार डाला। दूसरोक लिय गड्ढा खोदनवाला स्वय ही गड्ढम गिर जाता है।

पराधीनतामे सुख कहाँ?

[बाघ और पालतू कुत्ता]

एक मोटे-ताजे पालतू कुत्तेके साथ एक भूखे दुबले-पतले बाघकी भट हो गयी। प्रथम परिचय हो जानेके बाद बाघने कुत्तेसे कहा—'भाई, एक बात पूछता हूँ, जरा बताओ, तुम कैस इतने सबल तथा माटे-तगडे हुए, तुम प्रतिदिन क्या खाते हो आर कैसे उसकी प्राप्ति करते हो? मैं तो दिन-रात भाजनकी खाजम घूमकर भी भरपट खा नहीं पाता। किसी-किसी दिन तो मुझे उपवास भी करना पड जाता है। भोजनके कष्टके कारण ही म इतना कमजार हो गया हूँ।'

कुत्तेने कहा—'मैं जो कुछ करता हूँ, तुम भी यदि वैसा ही कर सको, तो तुम्हे मेरे-जैसा ही भोजन मिल जायगा।'

बाघ बोला—'सचमुच? अच्छा भाई! तुम्हे क्या करना पडता है, जरा बताओ ता।'

कुत्तेन कहा—'कुछ नहीं बस रातके समय मालिकके मकानकी रखवाली करनी पडती हे।'

बाघ बोला—बस इतना ही। इतना ता मैं भी कर सकता हूँ। मैं भोजनकी तलाशम वन-वन भटकता हुआ धूप तथा वर्षासे बडा कष्ट पाता हूँ। अब और यह क्लेश सहा नहीं जाता। यदि धूप और वर्षाके समय घरम रहनको मिले ओर भूखके समय भरपेट खानका मिले तब तो मर

प्राण बच जायँगे।'

बाघके दु खकी बाते सुनकर कुत्तेने कहा—'तो फिर मर साथ आओ। मैं मालिकसे कहकर तुम्हार लिये सारी व्यवस्था करवा देता हूँ।'

बाघ कुत्तेके साथ चल पडा। थोडी देर चलनेके बाद बाघको कुत्तेकी गरदनपर एक दाग दिखायी पडा। उसके विषयम जिज्ञासा उठनेके कारण उसने व्यग्रतापूर्वक कुत्तेस पूछा—'भाई! तुम्हारी गरदनपर यह कैसा दाग है?'

कुत्ता बाला—'अरे, वह कुछ भी नहीं है।'

बाघने कहा—'नहीं भाई! मुझे बताओ। मुझे जाननकी बडी इच्छा हो रही है।'

कुत्ता बोला—'मैं कहता हूँ न, वह कुछ भी नहीं ह, लगता है पट्टेका दाग होगा।'

बाघन कहा—'पट्टा क्या?'

कुत्ता बोला—'पट्टेमे जजीर फँसाकर पूरे दिन मुझ बाँधकर रखा जाता है।'

यह सुनकर बाघ विस्मित होकर कह उठा—'जजीरसे बाँधकर रखा जाता है? तब ता तुम जब जहाँ जानेकी इच्छा हो, जा नहीं सकते?'

कुत्ता बोला—'ऐसी बात नहीं है दिनके समय भल ही बँधा रहता हूँ, परतु रातके समय जब मुझे छोड दिया जाता है, तब मैं जहाँ चाहे खुशीसे जा सकता हूँ। इसके अतिरिक्त मालिकके नौकर लोग मेरी कितनी दखभाल करते हैं, अच्छा खाना देते हैं, स्नान कराते हैं और कभी-कभी मालिक भी स्नेहपूर्वक मेरे शरीरपर हाथ फेर दिया करते हैं। जरा सोचो तो मैं कितने सुखम रहता हूँ।'

बाघने कहा—'भाई, तुम्हारा सुख तुम्हींको मुबारक हो, मुझे ऐसे सुखकी जरूरत नहीं है। अत्यन्त पराधीन होकर राजसुख भोगनेकी अपेक्षा स्वाधीन रहकर भूखका कष्ट उठाना हजारा गुना अच्छा है। मैं अब तुम्हारे साथ नहीं जाऊँगा।'

—यह कहकर बाघ फिर जगलमे लौट गया।

उपकारका बदला

[सिह और चूहा]

एक सिह पर्वतकी एक गुफाम साया हुआ था। सयोगवश एक चूहा उधरसे होकर गुजरते हुए सिहक नथुनेम प्रविष्ट हो गया। उसकी नाकम घुसते ही सिहकी निद्रा भग हो गयी। चूहेके बाहर निकलनपर सिह आगबबूला होकर अपने पजेक प्रहारस उस मार डालनेको उद्यत हुआ। मृत्युके भयसे कातर हाकर चूहने हाथ जोडकर सविनय कहा—'महाराज! अनजानम मुझस अपराध हा गया है, आप मुझे क्षमा करके प्राणदान दे दीजिये। आप समस्त पशुओंक राजा हैं, मेरे समान छाटे-से जीवका वध करनेपर आपको कलक लगेगा। यह सुनकर सिहको हँसी आ गयी और उसने दयापूर्वक चूहेको छाड दिया।'

इस घटनाक कुछ दिना बाद वही सिह शिकारक लिये इधर-उधर भ्रमण करता हुआ एक शिकारीके जालमे फँस गया। बहुत प्रयास करनेपर भी वह स्वयको उस बन्धनसे मुक्त नहीं कर सका। अन्तम अपने जीवनके बारेमे पूर्णत निराश होकर वह इतनी भयकर गर्जना करने लगा कि पूरा जगल काँप उठा।

सिहने पहले जिस चूहेको प्राणदान दिया था वह उस स्थानके समीप ही निवास करता था। अपने प्राणदाताकी आवाज सुनकर वह तत्काल वहाँ आ पहुँचा। सिहपर आये हुए इस सकटको देखकर उसने अविलम्ब जाल काटना आरम्भ कर दिया और थाडी ही देरम उसे बन्धन-मुक्त कर दिया। किसीपर भी दया करना निष्फल नहीं जाता। चाहे जितना भी छाटा जीव क्यों न हो, उपकार किये जानेपर, कभी-न-कभी वह उसका बदला चुका सकता है।

झूठ बोलनेका परिणाम

[चरवाहा और बाघ]

एक चरवाहा किसी वनम गाय चराया करता था। चरागाहके निकट वनम बाघका निवास था। चरवाहा खेल-खेलम ही कभी-कभी—'बाघ आया बाघ आया'—कहकर उच्च स्वरम चिल्लाया करता था।

आस-पासके लाग बाघ आनेकी बात सुनकर बडी व्यग्रताके साथ अपने हथियारोंसे लैश हाकर उसकी सहायता करनेको वहाँ आ जाते। चरवाहा उन्हे देख खिलखिलाकर हँस पडता। आये हुए लाग अपना-सा मुँह लेकर लौट जाते।

आखिरकार एक दिन सचमुच ही बाघने आकर उसकी गायोंपर आक्रमण कर दिया। तब चरवाहा अत्यन्त व्याकुल होकर—'बाघ आया, बाघ आया'—कहकर जोर-जोरसे चिल्लाने लगा। परंतु उस दिन उसकी सहायताके लिये कोई भी नहीं आया। सबने सोचा—'दुष्ट चरवाहा पहलेके समान ही हमलोगोंके साथ हँसी-मजाक कर रहा है।'

बाघने अपनी इच्छानुसार गायोंको मार डाला और अन्तमें चरवाहेका भी वध करके वह चल दिया। मूर्ख चरवाहा मरते समय बड़बड़ा रहा था—*सर्वदा झूठ बोलनेवालेके सत्यपर भी कोई विश्वास नहीं करता।*

मित्रकी पहचान

[दो मित्र और भालू]

दो मित्र एक साथ भ्रमण करने निकले थे। संयोगवश उसी समय वहाँ एक भालू आ पहुँचा। एक मित्र तो भालूको देखते ही अत्यन्त भयभीत होकर दूसरे मित्रकी परवाह किये बिना ही भागकर निकटके पेड़पर चढ़ गया। दूसरा मित्र अकेले भालूके साथ लड़ना असम्भव जानकर और दूसरा कोई चारा न देखकर मुर्देके समान धरतीपर लेट गया। उसने पहले सुन रखा था कि भालू मरे हुए आदमीको हानि नहीं पहुँचाता।

भालूने आकर उसके नाक, कान, मुख, आँख तथा सीनेकी परीक्षा की और उसे मरा हुआ समझकर चला गया। भालूके चले जानेके बाद पहला मित्र पेड़से नीचे उतरा। उसने दूसरे मित्रसे जाकर पूछा—'भाई! भालू तुम्हें क्या कह गया। मैंने देखा कि वह बड़ी देरतक तुम्हारे कानसे अपना मुख लगाये हुए था।'

दूसरा मित्र बोला—"भालू मुझे यही कह गया कि 'जो मित्र संकटके समय छोड़कर भाग जाता है' उसके साथ फिर बातचीत कभी मत करना।"

हितैषी मित्रका त्याग न करे

[भेड़िये और भेड़ोंका दल]

एक स्थानपर कुछ भेंड़ें चरा करती थीं। कुछ बलवान् कुत्ते वहाँ उनकी रखवाली किया करते थे। भेड़िये उन कुत्तोंके भयसे उन भेड़ोंपर आक्रमण नहीं कर पाते थे। एक बार भेड़ियोंने आपसमें सलाह की कि 'इन कुत्तोंके रहते हुए हमलोग कुछ नहीं कर सकेंगे, कोई युक्ति निकालकर इन्हें दूर हटाये बिना हमारा काम नहीं चलेगा। अतः कोई ऐसा उपाय करना होगा, जिससे ये भेड़ोंके पाससे चले जायँ।'

ऐसा निश्चय करके उन लोगोंने भेड़ोंके पास संदेशा भेजा कि आओ, हमलोग अब आपसमें संधि कर लें। क्या हम चिरकालतक आपसमें विवाद करते हुए मरें। जो कुत्ते तुमलोगोंकी रक्षा करते हैं, वे ही सारे विवादोंकी जड़ हैं। वे निरन्तर चिल्लाते रहते हैं, इसीसे हम लोगोंको बड़ा क्रोध आता है। उन लोगोंका साथ छोड़ दो तो फिर चिरकालतक हमलोगोंके बीच आपसी सद्भाव बना रहेगा।

अबोध भेड़ोंने इस भुलावेमें आकर कुत्तोंसे नाता तोड़ लिया। इस प्रकार उनके रक्षकरहित हो जानेके बाद भेड़ियोंने सहज ही उन्हें मारकर यथेच्छ पेट भरना आरम्भ कर दिया। सत्य कहा गया है कि शत्रुकी बातोंमें आकर अपने हितैषी मित्रको त्याग देनेसे निश्चितरूपसे संकट आता है।

परिश्रमका फल

[किसान और उसके पुत्र]

एक किसानको खेतके बहुत-से गुर मालूम थे, परंतु उसके पुत्रोंमें उन्हें सीखनेका धैर्य नहीं था। उसे बड़ी चिन्ता हुई कि मेरी मृत्युके बाद ये लड़के कैसे अपनी आजीविका चलायेंगे। एक दिन उसने उन लोगोंको बुलाकर कहा—'पुत्रो, मैं अब इस लोकसे प्रस्थान करनेवाला हूँ। मेरी जो कुछ सम्पत्ति थी, उसे अमुक-अमुक खेतके भीतर ढूँढ़नेसे पा सकोगे।' पुत्रोंने सोचा कि पिताजीने उन-उन स्थानोंके भीतर अपना गुप्त धन गाड़ रखा है।

किसानकी मृत्युके बाद गुप्त धनके लोभमें उन लोगोंने उन स्थानोंको खोद डाला। अत्यन्त परिश्रमके साथ बहुत खोदनेपर भी उन्हें खेतोंके बीच कोई गुप्त धन नहीं मिला, परंतु जमीनकी बड़ी अच्छी खुदाई हो जानेके कारण उस वर्ष उसमें इतनी फसल हुई कि उन्हें अपने परिश्रमका पूरा-पूरा फल मिल गया और खेती-विषयक एक महत्त्वपूर्ण शिक्षा भी मिल गयी।

दु खसे निराश न हो, दूसरे दु खी प्राणियोकी ओर देखे

[खरगोश और मेढक]

खरगोश बहुत दुर्बल और डरपोक प्राणी होते हैं। बलवान् जानवर उन्हे देखते ही मारकर खा जाते हैं। इस अत्याचारके कारण उन्हे सर्वदा अपने प्राणोके लिये शकित रहना पडता था। इसी कारण उन लोगोने आपसमे सलाह करक यह निश्चित किया कि सर्वदा भयभीत रहकर जीवित रहनेकी अपेक्षा प्राण-त्याग करना ही श्रेयस्कर है। इसलिये चाहे जसे भी हो, हमलोग आज ही प्राण-त्याग कर देगे।

ऐसी प्रतिज्ञा करनेके बाद निकटके तालाबम कूदकर प्राण देनेकी इच्छासे सभी खरगोश वहाँ जा पहुँचे। उस तालाबके किनार कुछ मेढक भी बैठे हुए थे। खरगोशाके निकट पहुँचते ही वे लोग भयसे अत्यन्त व्याकुल होकर पानीमे कूद पड।

इसे देखकर खरगोशाका नेता अपने सहचरासे बोला— 'मित्रो, हमलोगोको इतना भयभीत होना और स्वयको इतना असहाय समझना उचित नहीं है। आपलोगोने यहाँ आकर देखा कि कुछ प्राणी ऐसे भी हैं जो हमसे भी अधिक दुर्बल तथा डरपोक हैं।' इसलिये—

मनुष्यको अपनी दुरवस्थाके समय निराश नहीं होना चाहिये। हम चाहे जितनी भी कठिनाईमे क्या न हा, ऐसे अनेक लोग मिल जायँगे, जिनकी अवस्था हमसे भी खराब होगी। बल्कि उनके प्रति सवेदनाका भाव रखनेसे अपन कष्टो तथा कठिनाइयोकी बात भी विस्मृत हो जाती है।

कुसगका फल

[किसान और सारस]

प्रतिदिन कुछ बगुले आकर एक किसानके खेतकी फसल बरबाद कर जाया करते थे। इस देखकर किसानने उन बगुलाको पकडनेके लिये खेतम जाल बिछाकर रख दिया। बादम उसने जाकर देखा तो बहुतसे बगुले उसके जालम फँसे हुए थे और उनके साथ ही एक सारस भी फँसा हुआ था। सारसने किसानस कहा—'भाई किसान मैं बगुला नहीं हूँ। मैंने तुम्हारी फसल बरबाद नहीं की है। मुझे छोड दो। तुम विचार करके देखो कि मरी कोई गलती नहीं है। जितने भी पक्षी हैं, मैं उन सबकी अपेक्षा अधिक धर्म-परायण हूँ। मे कभी किसीका नुक्सान नहीं करता। मैं अपन वृद्ध माता-पिताका अतीव सम्मान करता हूँ आर विभिन्न स्थानाम जाकर प्राण-पणसे उनका पालन-पोषण करता हूँ।'

इसपर किसान बोला—'सुनो सारस तुमने जो बात कहीं, वे सब ठीक हैं, उनपर मुझे जरा भी सदह नहीं है। परतु चूँकि तुम फसल बरबाद करनेवालाक साथ पकडे गये हो, इसलिये तुम्ह भी उन्हीं लोगाके साथ सजा भोगनी होगी। क्याकि कुसगका फल बुरा होता है।'

अति साहस करना ठीक नहीं

[कछुआ और गरुड]

एक कछुआ यह सोचकर बडा दु खी रहता था कि पक्षीगण बडी आसानीसे आकाशम उडा करते हैं, परतु मैं नहीं उड पाता। वह मन-ही-मन साच-विचारकर इस निष्कर्षपर पहुँचा कि यदि कोई मुझे एक बार भी आकाशमें पहुँचा दे, तो फिर मैं भी पक्षियाके समान ही उडते हुए विचरण किया करूँ। उसने एक गरुड पक्षीके पास जाकर कहा—'भाई! यदि तुम दया करके मुझे एक बार आकाशमे पहुँचा दो, तो मैं समुद्रतलमे स्थित सारे रत्न निकालकर तुम्हे दे दूँगा। मुझ आकाशमे उडते हुए विचरण करनेकी बडी इच्छा हो रही है।'

कछुएकी आकाक्षा तथा प्रार्थना सुनकर गरुड बोला—'सुनो भाई, तुम जो कुछ चाहते हो उसका पूरा होना असम्भव है। थलचर जतु कभी नभचर नहीं हो सकता। तुम अपनी यह आकाक्षा त्याग दो। यदि मैं तुम्हे आकाशम पहुँचा भी दूँ तो तुम तत्काल गिर जाओगे और हो सकता है इससे तुम्हारी मृत्यु भी हो जाय।'

परतु कछुआ इससे आश्वस्त नहीं हुआ उसने कहा— 'बस तुम मुझे ऊपर पहुँचा दो मैं उड सकता हूँ और उडूँगा, यदि नहीं उड सका तो गिरकर मर जाऊँगा। इसके लिये तुम्ह चिन्ता करनेकी जरूरत नहीं है।' इस प्रकार कछुआ उससे बारबार अनुरोध करने लगा।

तब गरुडने थोडा-सा हँसकर कछुएको उठा लिया और उसे काफी ऊँचाईपर पहुँचा दिया। उसने कहा—'अब

तुम उडना आरम्भ करा' इतना कहकर उसने कछुएको छाड दिया। उसके छाडते ही कछुआ एक पहाडीपर जा गिरा और गिरते ही उसके प्राण चल गये।

नीति बताती ह कि मनुष्यका अपनी क्षमताके अनुरूप ही आकाक्षा रखनी चाहिय, अन्यथा बहुत दु ख उठाना पड सकता है।

लालच बुरी बला है

[कुल्हाड़ी और जलदेवता]

एक लकडहारा था। वह नदीके किनारे पेडपर चढकर लकडी काट रहा था। सहसा उसकी कुल्हाडी उसक हाथसे फिसलकर नदीम जा गिरी। कुल्हाडी हमेशाके लिये हाथसे निकल गयी—यह सोचकर लकडहारा अत्यन्त दु खी हुआ आर उच्च स्वरम रोने लगा। उसका रोना सुनकर नदीके देवताको बडी दया आयी। उसके सामने प्रकट होकर उन्हाने पूछा—'तुम किस कारण इतना रो रहे हा?' उसके सब कुछ बयान करनपर जलदेवतान तत्काल नदीम डुबकी लगायी आर हाथम सोनकी एक कुल्हाडी लिये उसक पास आकर पूछा—'क्या यही तुम्हारी कुल्हाडी है?' उसन कहा—'नहीं महाशय यह मेरी कुल्हाडी नहीं है।' तब उन्हान फिर नदीम डुबकी लगायी आर हाथम चाँदीकी एक कुल्हाडी लिये उसके सम्मुख आकर पूछा—'यह क्या तुम्हारी कुल्हाडी ह?' उसन उत्तर दिया—'नहीं महाशय, यह भी मेरी कुल्हाडा नहीं है।' उन्हान फिर एक बार पानीम डुबकी लगाया ओर लोहेकी कुल्हाडी हाथम लेकर उसस पूछा—'क्या यही तुम्हारी कुल्हाडी है?' अपनी कुल्हाडी दखकर लकडहारा परम आह्लादित होकर बोला—'हाँ महाशय। यहा मरी कुल्हाडी है। इसे पानेकी मुझे जरा भी आशा न थी परतु आपकी कृपासे ही मुझ यह मिल सकी है मै इसके लिये आपका आजीवन ऋणी रहूँगा।'

जलदेवताने उसकी कुल्हाडी उसक हाथम सौंप दी। उसक बाद वे बोले—'तुम निर्लोभी सच्च तथा धर्मपरायण हो, इस कारण मैं तुम्हारे ऊपर परम सतुष्ट हूँ।' इतना कहनेके बाद वे पुरस्कारके रूपम सान तथा चाँदीकी कुल्हाडियाँ भी उसे सापकर अन्तर्धान हा गय। लकडहारा अवाक् हाकर थोडी देर वहीं खडा रहा। इसक बाद घर लौटकर उसने अपने परिवार तथा पडोसियाक समक्ष इस घटनाका सविस्तार वर्णन किया। सुनकर सभी विस्मयस अभिभूत हो गये।

यह अद्भुत वृत्तान्त सुनकर एक व्यक्तिका बडा लाभ हुआ। अगले दिन सुबह वह भी हाथम कुल्हाडा लेकर नदीक किनारे जा पहुँचा। उसने पडके तनेपर दा-तीन बार कुल्हाडी चलायी और हाथसे कुल्हाडी फिसल जानका अभिनय करते हुए उसन उस नदीम डाल दिया। इसक बाद वह 'हाय-हाय' करके उच्च स्वरम रोने लगा। जलदवता उसके सामने आय ओर उसके रोनेका कारण पूछने लग। वह सारी बाते बताकर खेद व्यक्त करने लगा।

जलदेवता पिछली बारक समान ही सानकी एक कुल्हाडी हाथम लेकर उसके सामने आय और उन्हान पूछा—'क्या यही तुम्हारी कुल्हाडी है?' सानेकी कुल्हाडी देखकर वह लाभी उसे पानेको व्याकुल हो उठा आर 'यही तो मेरी कुल्हाडी है' कहकर उसे पकडन गया। उस एसा लोभी आर झूठा दखकर जलदेवता अत्यन्त नाराज हुए ओर उसकी भर्त्सना करत हुए बाले कि तू इस पानका अधिकारी नहीं है। यह कहकर उस सोनकी कुल्हाडाका नदीमे फककर जलदेवता अन्तर्धान हो गय। वह व्यक्ति नदीके किनारे गालपर हाथ धर बठकर दु खा मनस साचन लगा—'सोनकी कुल्हाडीकी लालचम म अपनी लाहकी कुल्हाडी भी गँवा बैठा। मुझे अपनी करनीका उचित ही फल मिला ह।' [प्रेषक—श्रीसुशीलजी चौमाल]

~~~~

नागो भाति मदेन क जलरुहै पूर्णेन्दुना शर्वरी शीलेन प्रमदा जवेन तुरगो नित्योत्सवैर्मन्दिरम्।
वाणी व्याकरणन हसमिथुनैर्नद्य सभा पण्डितै सत्पुत्रेण कुल नृपण वसुधा लाकत्रय विष्णुना॥

गजराज मदस जल कमलासे रात्रि पूर्ण चन्द्रस स्त्री शीलसे, घाडा वगसे मन्दिर नित्यक उत्सवाम वाणी व्याकरणसे नदी हसक जाडस सभा पण्डिताम कुल सुपुत्रस पृथ्वी राजास और त्रिलोकी भगवान् विष्णुसे सुशाभित हाती हे। (सूक्तिसुधाकर)

~~~~

नीतिशास्त्र-दिग्दर्शन [विविध नीतियोंके स्वरूप]

[भारतीय सस्कृति और शास्त्रोमे नीतिका विशेष महत्त्व दर्शाया गया ह। नीतिका क्षेत्र विशद है। मानव जीवनकी सफलता समुचित नीतिके प्रयोगसे ही सम्भव है। सामान्यत सफलताके दो मुख्य आयाम है—प्रेय और श्रेय। जगत्‌मे प्रिय लगनेवाली मनचाही वस्तुको प्राप्त कर लेना प्रेय है, जो वास्तवमे अनित्य है और यही छूटनेवाली है। जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होनेकी दिशामे अग्रसर होना ही श्रेयकी प्राप्ति है, जो जीवका वास्तविक कल्याण ह।

अपने शास्त्रोमे प्रेय और श्रेय—दोनोकी प्राप्तिके लिये विविध नीतियोका दिग्दर्शन प्राप्त है, जिसे यथासाध्य यहा प्रस्तुत करनेका प्रयास किया गया ह—स०]

औपनिषदिक आध्यात्मिक नीति

(विद्यावाचस्पति डॉ० श्रीदिनेशचन्द्रजी उपाध्याय)

भारतीय वाङ्मयम उपनिषदाका वेदाका उपाङ्ग एव ज्ञानका अक्षय तथा प्राचीनतम स्रोत माना गया हे। श्वेताश्वतरोपनिषद् (६। १८)-क अनुसार सृष्टिके प्रारम्भम सबस पहले ब्रह्माजीको वेद-उपनिषद्का ही ज्ञान परमेश्वरद्वारा कराया गया—

यो ब्रह्माण विदधाति पूर्वं
यो वै वेदाश्च प्रहिणोति तस्मै।

उपनिषद् हम शास्त्र-नियत नीतिपरक कर्मोको करत हुए सौ वर्षोतक जीनकी चाह प्रदान करते ह, शास्त्रविरुद्ध कर्म तो मनुष्यके लिये कदापि उपयुक्त नहीं हैं, क्याकि ये कर्म-बन्धनसे मुक्ति नहीं दिला सकते—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमा ।
एव त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यत नर॥
(ईशावास्योपनिषद् २)

इसी उपनिषद्का प्रथम मन्त्र हमे यह बतलाता है कि इस जगत्‌म जो कुछ भी जड-चेतनरूप है, वह समस्त ईश्वरसे व्याप्त हे। अत ईश्वरको साथ रखते हुए त्यागपूर्वक भोगते रहो। इसम आसक्त मत होओ, क्योकि भोग्य पदार्थ किसका हे? अथात् किसीका भी नहीं है।[1] ईशावास्योपनिषद्के छठे मन्त्रम आया है कि जो मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियाको परमात्माम ही निरन्तर देखता हैं और सम्पूर्ण प्राणियाम परमात्माको देखता है वह कभी भी किसीसे घृणा नहीं करता—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मान ततो न विजुगुप्सते॥

इसी उपनिषद्के ११वे मन्त्र 'विद्ययाऽमृतमश्नुते'के अनुसार जो मनुष्य ज्ञानके तत्त्वको एव कर्मके तत्त्वको साथ-साथ यथार्थरूपम जान लेता है, वह कर्मोके अनुष्ठानसे मृत्युको पार करके ज्ञानके माध्यमसे अमृतको भोगता है अर्थात् अविनाशी आनन्दमय परब्रह्म पुरुषोत्तमको प्रत्यक्ष प्राप्त कर लेता है।

ज्ञान-विज्ञान सदाचार एव नीतियाके अवलोकनार्थ हम अवश्य ही तैत्तिरीय उपनिषद्की शीक्षावल्लीका अध्ययन करना चाहिये। यहाँ तो मानो समस्त नीतियोका सार ही दे दिया गया है। मूलत तैत्तिरीयोपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय शाखाके अन्तर्गत तैत्तिरीय आरण्यकका एक अङ्ग ह, इसकी शीक्षावल्लीके ग्यारहवे अनुवाकमें दीक्षाके उपरान्त आचार्य अपने आश्रमके विद्यार्थीको शिक्षा देते हैं कि 'सत्य वद—तुम सत्य बोलो। 'धर्मं चर'—धर्मका आचरण करो 'स्वाध्यायान्मा प्रमद'—स्वाध्यायसे प्रमाद न करो 'आचार्याय प्रिय धनमाहृत्य प्रजातन्तु मा व्यवच्छेत्सी'—आचार्यके लिये दक्षिणाके रूपमे वाञ्छित धन लाकर दो तथा गृहस्थ-जीवनम प्रवेश करके वश-परम्पराको चालू रखो उसका उच्छेद न करना 'सत्यान्न प्रमदितव्यम्—सत्यसे कभी नहीं डिगना चाहिये 'धर्मान्न प्रमदितव्यम्—धर्मसे कभी नहीं डिगना चाहिये, 'कुशलान्न

[1] ईशा वास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्या जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध कस्य स्विद् धनम्॥ (ईशावास्योपनिषद् १)

प्रमदितव्यम्'—शुभ कर्मोस कभी नहीं चूकना चाहिये 'भूत्यै न प्रमदितव्यम्'—उन्नतिक साधनासे कभी नही चूकना चाहिय, 'स्वाध्यायप्रवचनाभ्या न प्रमदितव्यम्'—शास्त्रोके अध्ययन-अध्यापनम आलस्य कभी नहीं करना चाहिये, 'देवपितृकार्याभ्या न प्रमदितव्यम्'—देवकार्यसे आर पितृकार्यस कभी नहीं चूकना चाहिये।

इमा अनुवाकम यह भी आता है कि 'मातृदेवो भव'—तुम माताम दववुद्धि करनवाले बनो, 'पितृदेवो भव'—पिताको दवरूप समझनवाले हाआ, 'आचार्यदवो भव'—आचार्यको देवरूप समझनवाले बनो 'अतिथिदेवा भव'—अतिथिका दवतुल्य समझनवाले हाओ अर्थात् तुम्ह निरन्तर माता-पिता आचार्य एव अतिथिको ईश्वरकी प्रतिमूर्ति मानकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक इनकी आज्ञाका पालन एव इनकी सेवा करनी चाहिय। यहाँ आचार्य यह भी निर्देश देत ह कि जो-जो निर्दोप कर्म हैं तुम्ह कवल उन्हींका पालन करना चाहिये दूसर निपिद्ध कर्मोंका कभी भी आचरण नहीं करना चाहिय।[१] यहाँ तक कि हमारे आचरणामसे भी जो अच्छे आचरण ह कवल उन्हींका अनुपालन तुम्ह करना चाहिये।[२] जो काइ श्रेष्ठ गुरुजन या ब्राह्मण आयें उन्हे तुम्ह आसन-दान आदिक द्वारा सवा करक विश्राम देना चाहिये। दान आदि श्रद्धापूर्वक ही देना चाहिये बिना श्रद्धाके दान नहीं दना चाहिये।[३] दान आर्थिक स्थितिके अनुसार दना चाहिय, लज्जासे दना चाहिय भयस दना चाहिय ओर जा दिया जाय वह सब विवेकपूर्वक दना चाहिये।[४] इमके वाद भी यदि कर्तव्य-पालनम कोई आशङ्का हो ता उत्तम विचारवाल मदाचारी परामर्श दनेम कुशल प्रेमपूर्वक व्यवहार करनेवाल धर्मके अभिलापी विद्वानासे सीख लेनी चाहिये।

तत्तिरीय उपनिपद्की शीक्षावल्लीके नवम अनुवाकम 'ऋत च स्वाध्यायप्रवचन च' के द्वारा नीतिकी यह शिक्षा दी गयी ह कि यथायाग्य सदाचारका पालन एव शास्त्राका अध्ययन-अध्यापन करना चाहिये। इसी प्रकार सत्यका भाषण, तपश्चर्या एव वेदाको पढना-पढाना साथ-साथ करना चाहिये।[५] इन्द्रियाका दमन मनका निग्रह अग्नियाका चयन, अग्निहोत्र, अतिथियाकी सेवा और मनुष्याचित लौकिक व्यवहार—य सब काय शास्त्राक अध्ययन-अध्यापनके साथ-साथ करने चाहिय।

मुण्डकोपनिपद् (३। १। ६)-म 'सत्यमेव जयति नानृतम्' का प्रसिद्ध उद्घोष है। तदनुमार सत्यकी ही विजय होती ह असत्यकी नहीं। मुण्डक० (१। २। ८) तथा कठ० (१। २। ५)-म अज्ञानी पुरुपाकी स्थितिक विपयम कहा गया है कि 'अविद्या (अज्ञान)-के भीतर रहते हुए भी अपने-आपका बुद्धिमान् ओर विद्वान् माननवाल अभिमानी जन बार-बार कष्ट सहत हुए ठीक वस ही भटकते हैं, जैसे अन्धद्वारा चलाये जानेवाले अन्ध भटकत रहत ह और लक्ष्यतक नहीं पहुँच पाते'।[६] ऐसे सकाम कर्मी विपयासक्तिके कारण कल्याणके मार्गको नहीं जान पाते आर वारबार दु खसे आतुर होकर पुण्यलोकास नीचे गिर जाते ह (मुण्डक० १। २। ९)।

धन-लिप्सासे त्रस्त मानवके लिये कठोपनिपद् (१। १। २७)-मे बहुत महत्त्वपूर्ण सदेश दिया गया ह कि मनुष्य धनसे कभी तृप्ति नहीं पा सकता—'न वित्तन तर्पणीया मनुष्य '। इसी उपनिपद् (१। २। १)-म आता ह कि श्रय अथात् कल्याणका साधन अलग है आर प्रय अथात् प्रिय लगनेवाले भाग-पदार्थका साधन अलग ही ह। वे दाना साधन (श्रय ओर प्रेय) मनुष्यको अपनी आर आकर्पित करत हैं, परतु कल्याणक साधनको ग्रहण करनवाल विवक-युक्त व्यक्तिका ही कल्याण होता है, सासारिक भागाक साधनको स्वीकार करनवाला यथार्थ लाभस भ्रष्ट हा जाता ह।

कठोपनिपद् (१।३। ३-४)-म रथ आर रथीक रूपकद्वारा आत्मकल्याणकी वात समझात हुए यमराज

१- यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सवितव्यानि। ना इतराणि। (तैत्तिराय० १। ११)

२-यान्यस्माक॰सुचरितानि। तानि त्वयापास्यानि। ना इतराणि। (तैत्तिराय० १। ११)

३-श्रद्धया दयम्। अश्रद्धयादयम्। (तैत्तिरीय० १। ११)

४-श्रिया दयम्। हिया दयम्। भिया देयम्। सविदा दयम्। (तत्तिराय० १। ११)

५-सत्य च स्वाध्यायप्रवचन च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। (तत्तिराय० १। ९)

६-अविद्यायामन्तर वर्तमाना स्वयधीरा पण्डित मन्यमाना। जङ्घन्यमाना परियन्ति मूढा अन्धेनैव नायमाना यथान्धा॥ (मुण्डक० १। २। ८)

नचिकेतासे कहते हैं—नचिकेता! तुम जीवात्माको रथका स्वामी एव शरीरको रथ समझो। बुद्धिका सारथि एव मनको लगाम समझो।[१] ज्ञानीजन इन्द्रियाको घोडे तथा विपयोको उन घोडोक विचरनेका मार्ग कहते ह, साथ ही शरीर, इन्द्रिय और मनके साथ रहनेवाला जीवात्मा ही भोक्ता है वे ऐसा कहते हैं। इस प्रकारके रथपर यदि विवेकहीन बुद्धिवाला, चञ्चल मनसे युक्त आरूढ हाता हे तो उसकी इन्द्रियाँ असावधान सारथिके दुष्ट घोडाकी भाँति वशम न रहनेवाली हा जाती हैं। परतु जा सदा विवेकयुक्त बुद्धिवाला वशम किये हुए मनसे सम्पन्न रहता है तो उसकी इन्द्रियाँ सावधान सारथिके अच्छे घोडाकी भाँति वशम रहती हैं। यहाँ आत्म-कल्याणकी कितनी सुन्दर नीतिका विवेचन हुआ है।

तैत्तिरीय उपनिषद्‌की भृगुवल्लीके दशम अनुवाकम बडी सुन्दर गार्हस्थ्य-नीतिका विवेचन है—'न कचन वसतौ प्रत्याचक्षीत' इस पदमे कहा गया हे कि अपने घरम आये किसी भी अतिथिको प्रतिकूल उत्तर न दे यह एक व्रत है। अतिथिको सदव उत्तम श्रद्धासे ही अन्न आदि देना चाहिये।

ओपनिपदिक साहित्यम एक ओर अन्नको ब्रह्मका स्वरूप बतलाया गया है—'अन्न ब्रह्मेति व्यजानात्' (तैत्तिरीय० ३। २)। दूसरी तरफ कहा गया है कि अन्नका कभी निन्दा न करे 'अन्न न निन्द्यात्' (तैत्तिरीय० ३। ७)। 'अन्न न परिचक्षीत' (तैत्तिरीय० ३। ८) मन्त्रसे अन्नकी अवहलना करनेका निपध है तथा 'अन्न बहु कुर्वीत' (तैत्तिरीय० ३। ९) मन्त्रसे कृपिद्वारा अन्न बढानेकी आज्ञा प्रदान की गयी है। तैत्तिरीय उपनिपद्‌म अन्न, प्राण नेत्र श्रोत्र मन और वाणी—इन सबको ब्रह्मकी उपलब्धिका द्वार बतलाया गया ह।

इस प्रकार स्पष्ट है कि उपनिपदाम एक ही नातिका प्रतिपादन किया गया हे कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्डम समस्त प्राणियाम एक ही परमात्मा व्याप्त है—'न तु तद्द्वितीयमस्ति (बृहदारण्यक० ४। ३। २३) ससारम जो कुछ है सब वासुदेव ह तथा यह सब नि सदेह ब्रह्म है—'सर्वं खल्विद ब्रह्म' (छान्दाग्य० ३। १४। १)। 'एको देव सर्वभूतेषु गूढ' (श्वेताश्वतर० ६। ११) वही एक ब्रह्म समस्त चर-अचर वस्तुआ एव प्राणियाम गूढ है। इसलिये सबका भगवद्रूप समझकर सबकी सेवा करत हुए और सर्वान्तयामी परमात्माकी कर्तव्य-कर्मोद्वारा अर्चना करके हम समस्त पाशासे मुक्त हो जाना चाहिये, यही उपनिपदाका आध्यात्मिक नीतिपरक सदेश ह।

अतिथिकी योग्यता नही देखनी चाहिये

महात्मा इब्राहीमका नियम था कि वे किसी अतिथिको भोजन कराये बिना भोजन नहीं करत थे। एक दिन उनके यहा कोई भी अतिथि नहीं आया। इसलिये व स्वय किसी निर्धन मनुष्यको ढूँढने निकले। मार्गमे उन्हे एक अत्यन्त वृद्ध तथा दुर्बल मनुष्य मिला। उसे भोजनका निमन्त्रण देकर बडे आदरपूर्वक वे उसको घर ले आये। हाथ-पैर धुलवाकर भाजन करानेके लिये बैठाया।

अतिथिने भाजन सम्मुख आते ही खानेके लिये ग्रास उठाया। उसने न तो भाजन मिलनेके लिये ईश्वरको धन्यवाद दिया, न ईश्वरकी वदगी की। इब्राहीमको इस व्यवहारसे क्षाभ हुआ। उन्होने अतिथिसे इसका कारण पूछा। अतिथिने कहा—'मैं तुम्हारे धर्मको माननेवाला नहीं हूँ, मै अग्निपूजक (पारसी) हूँ। अग्निको मैंने अभिवादन कर लिया है।'

'काफिर कहीं का! चल निकल मर यहाँसे!' इब्राहीमको इतना क्रोध आया कि उन्होने वृद्धको धक्का दकर उसी समय घरसे निकाल दिया।

'इब्राहीम! जिसे इतनी उम्रतक मैं प्रतिदिन खुराक दता रहा हूँ, उसे तुम एक समय भी नहीं खिला सके! उलटे तुमने निमन्त्रण देकर, घर बुलाकर उसका तिरस्कार किया!' इस आकाशवाणीको, जो उसी समय हुई, इब्राहीमने सुना। अपने गर्व तथा व्यवहारपर उन्हे अत्यन्त दु ख हुआ।

१- आत्मान रथिन विद्धि शरीर रथमेव तु। बुद्धि तु सारथि विद्धि मन प्रग्रहमेव च॥ (कठोपनिषद् १। ३। ३)
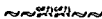
पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामकी धर्ममय नीति

['नीति प्रीति पालक रघुराजू']

(श्रीरामपदारथसिंहजी)

भगवान् श्रीराम सभी सद्‌गुणोंके असीम सागर हैं। श्रीभगवान्‌में ही सद्‌गुणोंकी पूर्णरूपमें अवस्थिति सम्भव है। नीति और प्रीतिके पालनका परम आदर्श भी श्रीरामके चरित्रमें देखनेको मिलता है। भगवान् श्रीरामकी लीलाओंमें आदिसे अन्ततक उनके द्वारा नीति और प्रीतिके संतुलनयुक्त पालनके आकर्षक और अनुकरणीय उदाहरण मिलते हैं। वे अवधके सभी श्रेणीके लोगोंका सावधानीपूर्वक सम्मान करते थे, जिससे सबको उनकी बाल्य लीलाका स्मरण होने लगता था और वे सब उनकी सराहना करते हुए कहते थे कि श्रीरामचन्द्रजीका लड़कपनसे ही प्रीतिको पहचानकर नीतिका पालन करनेका स्वभाव है—

सावधान सबही सनमानहिं। सकल सराहत कृपानिधानहिं॥
लरिकाइहि ते रघुबर बानी। पालत नीति प्रीति पहिचानी॥
(रा०च०मा० २। २७४। ४-५)

गुरु-गृहमें पढ़ते समय रामचन्द्रजी भाइयोंसहित खेलते हुए जिन वीथियोंसे निकलते थे, वहाँ सभी स्त्री-पुरुष स्नेह-शिथिल हो जाते थे। वे स्त्री, पुरुष, वृद्ध, बालक सभीको प्राणोंसे बढ़कर प्रिय लगते थे—

कोसलपुर बासी नर नारि बृद्ध अरु बाल।
प्रानहु ते प्रिय लागत सब कहुँ राम कृपाल॥
(रा०च०मा० १। २०४)

नीतिशास्त्रका सिद्धान्त है कि नीति-विहीन व्यक्तियोंके बहुतसे शत्रु हो जाते हैं और नीतिमान् मनुष्योंके सभी मित्र होते हैं—

शत्रवो नीतिहीनाना यथापथ्याशिना गदा।
सद्य कश्चिच्च कालेन भवन्ति न भवन्ति च॥
(शुक्रनीति १। १०)

अर्थात् जिस प्रकार अपथ्य खानेवालोंको कभी-न-कभी अनेक रोग ग्रस लेते हैं, जबकि संयमी लोगोंको कोई रोग नहीं होता, उसी प्रकार नीति-विहीन व्यक्तियोंके अनेक शत्रु कभी शीघ्र तो कभी विलम्बसे हो जाते हैं, जबकि नीतिका अनुसरण करनेवालोंके शत्रु होते ही नहीं अर्थात् उनके सब मित्र ही होते हैं। श्रीरामचन्द्रजीको अध्ययन-कालमें ही व्यापकरूपमें जो लोकप्रियता प्राप्त हो गयी थी, वह उनके नीति-प्रीतिपूर्ण सद्व्यवहारका ही प्रतिफल है। श्रीराम-लक्ष्मण विश्वामित्रजीके साथ यज्ञरक्षार्थ गये थे। एक भयंकर वनके पास पहुँचनेपर मलद और करूष जनपदोंको उजाड़ डालनेवाली राक्षसी ताड़का क्रुद्ध होकर उनपर झपटी। श्रीरामजीको किसी स्त्रीको मारना नीतिसंगत नहीं लगा। उन्होंने उसे देखकर लक्ष्मणजीसे कहा—'न ह्यनामुत्सहे हन्तु स्त्रीस्वभावेन रक्षिताम्।' (वा०रा० १। २६। १२) अर्थात् यह स्त्री-स्वभावके कारण रक्षित है, अतः मुझे इसे मारनेमें उत्साह नहीं है। वे विश्वामित्रजीके बार-बार कहनेपर उनकी आज्ञाका पालन करनेके लिये और गौ, ब्राह्मण एवं देशहितमें आवश्यक समझकर ही ताड़काका वध करनेके लिये तैयार हुए। विश्वामित्रजीके प्रति उनका कथन है—

गोब्राह्मणहितार्थाय देशस्य च हिताय च।
तव चैवाप्रमेयस्य वचन कर्तुमुद्यत॥
(वा०रा० १। २६। ५)

गौ, ब्राह्मण एवं समूचे देशका हित करनेके लिये मैं आप-जैसे अनुपम प्रभावशाली महात्माके आदेशका पालन करनेको सब तरहसे तैयार हूँ। इस कथनसे विदित होता है कि श्रीरामचन्द्रजी गुरुजीके समझानेपर मान गये कि गायों, साधु-ब्राह्मणों एवं राष्ट्रका अहित करनेवाली ताड़काको मारनेमें नैतिक दृष्टिसे दोष नहीं है। राष्ट्रहित नीतिका प्रमुख प्रत्यय है।

जनकपुरमें लक्ष्मणजीकी नगर देखनेकी लालसा जानकर श्रीरामचन्द्रजीने उन्हें नगर दिखलाकर तुरंत ले आनेकी आज्ञा गुरु विश्वामित्रजीसे जिस रीतिसे माँगी उससे गुरुजी बहुत प्रसन्न हुए और रामचन्द्रजीके नीतिरक्षण, धर्मपालन, प्रेमविवशता एवं सेवक-सुखदातृत्वकी प्रशंसा की—

सुनि मुनीसु कह बचन सप्रीती। कस न राम तुम्ह राखहु नीती॥
धरम सेतु पालक तुम्ह ताता। प्रेम बिबस सेवक सुखदाता॥
(रा०च०मा० १। २१८। ७-८)

जनकपुरवासी श्रीराम-लक्ष्मणको देखनेके लिये उत्कण्ठित थे, किंतु वे सब राजसदनमें पहुँच नहीं सकते थे। इस स्थितिमें रामचन्द्रजीको उन्हें स्वयं जाकर दर्शन देना एवं प्रीतिभाजन लक्ष्मणजीकी लालसा पूरी करना नैतिक दृष्टिसे उचित जान पड़ा और उसके लिये गुरुजीसे आज्ञा माँगी। व्यवहारके इस छोटे प्रसंगमें भी श्रीरामजीकी नीति-प्रीति-सम्बन्धी निष्ठाका लक्ष्य करके विश्वामित्रजीने उनकी प्रशंसा की और आदेश दिया—

जाइ देखि आवहु नगरु सुख निधान दोउ भाइ।
करहु सुफल सब के नयन सुंदर बदन देखाइ॥
(रा०च०मा० १। २१८)

पुष्प-वाटिकामें श्रीरामजी और सीताजीने एक-दूसरेको सर्वप्रथम देखा। सीताजीकी अलौकिक शोभा देखकर मुग्धमन श्रीरामजीने भाई लखनलालसे जो कहा उससे उनमें निहित नैतिकताकी झलक मिलती है—

रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मनु कुपंथ पगु धरइ न काऊ॥
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहिं सपनेहुँ परनारि न हेरी॥
(रा०च०मा० १। २३१। ५-६)

अर्थात् 'रघुवंशियोंका यह सहज स्वभाव है कि उनका मन कभी भी कुमार्गपर पैर नहीं रखता। मुझे तो अपने मनका अत्यन्त ही विश्वास है कि जिसने जाग्रत्-अवस्थामें ही नहीं, स्वप्नमें भी परायी स्त्रीपर दृष्टि नहीं डाली है।' जगे रहनेपर निन्दनीय कार्यवश मनका राजी नहीं होना नैतिकताका सामान्य लक्षण है। उत्कृष्ट नैतिकता तब मानी जायगी, जब मन श्रीरामके मनके समान स्वप्नमें भी अनैतिक काम न करे।

जब जनकजीके बंदियोंने घोषणा की कि शिवजीके धनुषको तोड़नेवालेको तीनों लोकोंकी विजयसमेत सीताजीसे विवाहका लाभ होगा तब बहुतसे राजा धनुष तोड़नेके लिये अधीर और उतावले होकर उठे परंतु श्रीरामचन्द्रजी बिना किसी हर्ष-विषादके तब उठे जब गुरुजीने उन्हें जनकजीके परितापको मिटानेके लिये धनुष तोड़नेको कहा—

उठहु राम भंजहु भवचापा। मेटहु तात जनक परितापा॥
सुनि गुरु बचन चरन सिरु नावा। हरषु बिषादु न कछु उर आवा॥
ठाढ़े भए उठि सहज सुभाएँ। ठवनि जुबा मृगराजु लजाएँ॥
(रा०च०मा० १। २५४। ६-८)

श्रीरामचन्द्रजी विजय और विवाह-जैसे निजी प्रलोभनमें नहीं वरन् राजा जनकके परितापको मिटानेके लिये गुरुजीके आदेशसे धनुष तोड़ने गये। यह उनके नैतिक स्तरकी ऊँचाईका द्योतक है।

भगवान् श्रीरामने विवाह-सम्बन्धके लिये वर-वधूकी सहमतिको ही पर्याप्त नहीं माना बल्कि अभिभावककी अनुमति भी अनिवार्य मानी। प्रतिज्ञानुसार धनुर्भंग होते ही श्रीराम और सीताका विवाह हो गया— *'टूटतहीं धनु भयउ बिबाहू'* (रा०च०मा० १। २८६। ८)। किंतु विधिपूर्वक कन्यादानके लिये जनकजी जब उद्यत हुए, तब श्रीरामचन्द्रजीने पिताजीकी अनुमतिके बिना विवाह करना अनुचित समझकर अस्वीकार कर दिया। जब महाराज दशरथको बुलाया गया तब श्रीरामचन्द्रजीने कन्यादान ग्रहण किया। यह प्रसंग सीताजीद्वारा अनसूयाजीको सुनाया गया है और वाल्मीकीय रामायणमें वर्णित है।

भगवान् श्रीरामने नीति और प्रीतिके पालनके लिये वनगमन किया था। उन्होंने अपने वनवासकी बात सुनकर माता कैकेयीजीसे कहा था—

मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥
भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा॥
(रा०च०मा० २। ४१; ४२। १-२)

इस कथनसे विदित होता है कि भगवान् रामको वनगमनद्वारा माता-पिताकी आज्ञा-पालनरूपी धर्मनीतिकी सिद्धि, प्राणप्रिय भरतको राज्य मिलनेसे प्रीतिकी सिद्धि और मुनि-मिलनसे सत्संगकी सिद्धि होती प्रतीत हुई। अतः उन्होंने सर्वविध हित जानकर वनगमन किया।

नीति व्यवहारकी वह रीति है जिससे दूसरोंका अहित किये बिना अपना हित हो। श्रीरामजीने वनवासके समय महामुनि वाल्मीकिजीसे अपने निवास योग्य वैसा स्थान पूछा

जहाँ उनके रहनसे मुनि-महात्माओंको उद्वेग न हो—

अब जहँ राउर आयसु होई। मुनि उदबेगु न पावै कोई॥
अस जियँ जानि कहिअ सोइ ठाऊँ। सिय सौमित्रि सहित जहँ जाऊँ॥
तहँ रचि रुचिर परन तृन साला। बासु करौ कछु काल कृपाला॥
(रा०च०मा० २। १२६। २ ५-६)

श्रीरामजीको यह रुचिकर नहीं लगा कि किसीको असुविधामे डालकर स्वय सुविधा प्राप्त कर ली जाय।

वाल्मीकिजीके कहनेपर भगवान् राम चित्रकूटमे रहने लगे। उनके रहनसे वहाँके कोल-किरात—वनचरोंके व्यवहारमे बडा बदलाव आ गया। वे सब जिनमे तनिक भी धर्मबुद्धि नहीं थी पाप करते ही जिनके दिन-रात व्यतीत होते थे दूसरोंके बसन-बासन चुरा लेना जिनका काम था—परोपकारी हो गये। वे अयोध्याजीसे आये हुए लोगोंको प्रिय पाहुन समझने लगे और उन्हे विनयपूर्वक वन्य वस्तुएँ ला-लाकर देने लगे तथा बढा-चढाकर मूल्य दिये जानेपर भी उन्होंने नहीं लिया। श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनसे उनके दोष दूर हो गये—

सपनेहुँ धरम बुद्धि कस काऊ। यह रघुनदन दरस प्रभाऊ॥
जब ते प्रभु पद पदुम निहारे। मिटे दुसह दुख दोष हमारे॥
(रा०च०मा० २। २५१। ६-७)

श्रीरामचन्द्रजीका दरस-देखकर चित्रकूटके कोल-किरात साधु हो गये और खग-मृगादि मानवेतर प्राणी स्वाभाविक वैररहित होकर एक साथ रहने लगे। वन-पर्वतादि प्रकृतिकी सुन्दरता दिन-दिन बढने लगी—

आइ रहे जबते दोउ भाई।
तयत चित्रकूट-कानन-छबि दिन दिन अधिक अधिक अधिकाई॥

× × ×

भए सब साधु किरात-किरातिनि, राम-दरस मिटि गइ कलुपाई।
खग-मृग मुदित एक सँग बिहरत सहज बिषम बड़ बैर बिहाई॥
(गीतावली २। ४६)

श्रीरामचन्द्रजीके रहन-सहनका प्रभाव पर्यावरणपर भी पडा, जिससे उसकी श्रीवृद्धि हुई। सदाचारीसे देश श्रीसम्पन्न होता है। दुराचारीसे देशकी दुर्गति होती है। जहाँ खर-दूषण बढेंगे वहाँ प्रदूषण भी बढेगा। श्रीरामचन्द्रजीके नीतिपालनके परिणामस्वरूप खग-मृगादि जगली जीव उनके सच्चे मित्र बन गये और अनीति करनेवाले बालि एव रावणने घरमें ही बन्धु-बान्धवोंका अपना काल बना लिया—

खग मृग मीत पुनीत किय बनहुँ राम नयपाल।
कुमति बालि दसकठ घर सुहृद बधु कियो काल॥
(दोहावली ४४२)

जब राज-तिलकका सामान सेना परिवार प्रजा-समाजके साथ भरतजी श्रीरामचन्द्रजीको लौटाने-हेतु चित्रकूट पहुँचे, उस समय रामचन्द्रजीके सामने—*'इत पितु बच इत बधु सकोचू'* (रा०च०मा० २। २२७। ३)-की उलझनभरी समस्या खडी हो गयी। सत्य और प्रेमकी पराकाष्ठाको प्राप्त पिता महाराज दशरथके वचनका पालनकर धर्मनीतिकी रक्षा की जाय या प्रेममूर्ति भाई भरतकी प्रीतिकी। श्रीरामचन्द्रजीद्वारा चित्रकूटकी दूसरी सभामे जो भाषण किया गया उससे उलझन सुलझ गयी। इसलिये गोस्वामी तुलसीदासजीने भगवान् राम और उनके उस भाषणकी प्रशसामे कहा—

धरम धुरीन धीर नय नागर। सत्य सनेह सील सुख सागर॥
देसु कालु लखि समउ समाजू। नीति प्रीति पालक रघुराजू॥
बोले बचन बानि सरबसु से। हित परिनाम सुनत ससि रसु से॥
(रा०च०मा० २। ३०४। ५—७)

महाकविका सकेत है कि श्रीरामजी 'नयनागर' भी हैं और 'स्नेहसागर' भी। वे 'नीतिपालक' भी हैं और 'प्रीतिपालक' भी। अत वे ऐसे श्रेष्ठ वचन बोलेंगे जिससे नीति-प्रीतिका सतुलन भग नहीं होने पायगा। रामचन्द्रजीने रघुकुलकी नीति सत्यसध पिता महाराज दशरथकी कीर्ति और प्रीतिके लिये प्राण-त्यागका स्मरण कराकर एक मार्मिक सुझाव दिया, जिससे सब नीतिविमुख होनेसे बच गये। उन वचनोंका विलक्षण प्रभाव भरतजीपर पडा। *'कहहु करौं सोइ आजु'* (रा०च०मा० २। २६४) यह आश्वासन सत्यसध श्रीरामजीसे मिला हुआ होनेपर भी भरतजी उनसे लौटनेका आग्रह न कर सके। उन्हे नीतिपालक श्रीरामको नीतिच्युत होनेके सकोचमे डालना उचित नहीं लगा। वे श्रीरामचन्द्रकी पादुकाके आदेशसे राज्यका कार्य करने-हेतु अयोध्याजी लौट आये। श्रीरामचन्द्रजीने राजतिलक नहीं लेकर नीतिभगसे बचते हुए प्रीतिकी प्रतिष्ठा-हेतु प्रेममूर्ति भरतजीके अनुरोधका आदर देकर एक प्रकारसे रघुराजपद स्वीकार किया और प्रजा तथा परिवारको सुखी करनेको

आदेश उन्हें दिया— *'करहु प्रजा परिवारु सुखारी'* (रा०च०मा० २। ३०६। ५)। इससे भरतजीको परम संताप हुआ। वे अयोध्याजी लौट आये, श्रीरामजी वनमें रहे। नीति और प्रीतिमें संतुलन बना रहा, जिससे जगत्‌को रामायणका आदर्श देखनेको मिला।

भगवान् श्रीरामकी रणलीलामें धर्मयुद्धका रूप दर्शित होता है। सदुद्देश्यकी सिद्धिके लिये किया गया युद्ध धर्मयुद्ध कहा जाता है। उसमें शत्रुको सावधान करके उसे बल-पौरुषसे जीतनेकी काङ्क्षा रहती है। श्रीरामचन्द्रने सदा अनिवार्य स्थितिमें अनीति-निवारणके लिये धर्मयुद्ध किये। खर-दूषणने चौदह हजार राक्षसोंके साथ श्रीरामचन्द्रजीपर आक्रमण किया और दूतोंद्वारा खबर भेजी कि अपनी छिपायी हुई पत्नीको देकर दोनों भाई जीते-जी घर लौट जायँ। उस समय श्रीरामचन्द्रजीने खर-दूषणसे कहनेके लिये दूतोंसे जो कहा, उससे उनकी युद्धनीतिका पता चलता है। वह कथन द्रष्टव्य है—

जौं न होइ बल घर फिरि जाहू। समर बिमुख मैं हतउँ न काहू॥
रन चढ़ि करिअ कपट चतुराई। रिपु पर कृपा परम कदराई॥
(रा०च०मा० ३। १९। १२-१३)

अर्थात् यदि बल न हो तो घर लौट जाओ, संग्राममें पीठ दिखानेवाले किसीको मैं नहीं मारता। रणमें चढ़ाई करके कपट-चतुराई और शत्रुपर कृपा करना तो बड़ी भारी कायरता है। खर-दूषणको दिया गया यह संदेश भगवान् रामकी युद्धनीतिको समझनेका सूत्र है। श्रीरामचन्द्रजी इन्हें मारना अनीति समझते थे। उनकी दृष्टिमें छल-कपट, धोखा और धूर्ततासे शत्रुको संकटमें डालना वीरता नहीं, बहुत बड़ी कायरता है। खर-दूषणादिको क्षणभरमें मारकर उन्हें निर्वाणपद प्राप्त कराकर कृपासिन्धु श्रीरामजीने उनपर महान् कृपा की।

भगवान् श्रीरामने कभी शत्रुका भी अनिष्ट नहीं किया — *'अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा'* (रा०च०मा० २। १८३। ६)। उन्होंने अङ्गदजीको रावणके पास यह कहकर भेजा कि उससे वैसी ही बातचीत करना, जिससे हमारा कार्य हो और उसका भी हित हो—

काजु हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई॥
(रा०च०मा० ६। १७। ८)

श्रीरामचन्द्रजीने रावणको सम्पूर्ण वंश-विनाशसे बचनेका अवसर दिया। उन्होंने आर्तभावसे शरण आनेपर उसे अभय कर देनेका आश्वासन भेजा— *'आरत गिरा सुनत प्रभु अभय करैगो तोहि'* (रा०च०मा० ६। २०)। रावणने श्रीरामजीके प्रीतिपूर्ण प्रस्तावको उनकी कमजोरीका लक्षण मानकर अङ्गदजीसे कहा—

जौं पै समर सुभट तव नाथा। पुनि पुनि कहसि जासु गुन गाथा॥
तौ बसीठ पठवत केहि काजा। रिपु सन प्रीति करत नहिं लाजा॥
(रा०च०मा० ६। २८। ६-७)

रावणके हठके कारण युद्ध अनिवार्य हो गया। उस युद्धमें अनेक अवसरोंपर श्रीरामकी नीति और प्रीति परायणता तथा रावणकी अनैतिकता और अप्रीति प्रकट हुई है। श्रीरामचन्द्रजी जब अपने वीर सैनिकोंको रणमें शिथिल होते हुए देखते थे, तब उन्हें प्रेमसे कहते थे कि आप सब थक गये हैं, अतः विश्राम करें और द्वन्द्व-युद्ध देखें मैं लड़ता हूँ— *'द्वंदजुद्ध देखहु सकल श्रमित भए अति बीर'* (रा०च०मा० ६। ८०)। रावण अपने सैनिकोंको कठोर वचनोंसे डराकर भागनेसे रोकता था और उन्हें युद्धमें झोंकता था—

जो रन बिमुख सुना मैं काना। सो मैं हतब कराल कृपाना॥
सर्बसु खाइ भोग करि नाना। समर भूमि भए बल्लभ प्राना॥
(रा० च० मा० ६। ४२। ७-८)

युद्धभूमिमें रावणद्वारा अपशब्द कहकर उत्तेजक स्थिति पैदा किये जानेपर भी श्रीरामजी उद्विग्न नहीं होते थे और अनैतिक वचन नहीं बोलते थे, बल्कि रावणको भी नीतिकी सीख देते थे—

जनि जल्पना करि सुजसु नासहि नीति सुनहि करहि छमा।
संसार महँ पूरुष त्रिबिध पाटल रसाल पनस समा॥
एक सुमनप्रद एक सुमन फल एक फलइ केवल लागहीं।
एक कहहिं कहहिं करहिं अपर एक करहिं कहत न बागहीं॥
(रा०च०मा० ६। ९० छं०)

इस नीतिशिक्षाका सार है कि दुर्वचन बोलकर पुण्यसे प्राप्त होनेवाले अपने सुयशका नाश नहीं करना चाहिये और सत्कार्य करके नैतिकताके उत्कृष्टतम स्तरपर पहुँचना चाहिये।

एक दिन रावणने भीषण युद्ध करके लक्ष्मणजी-समेत बड़े-बड़े वानर वीरोंको धराशायी कर दिया। वह वहाँसे लक्ष्मणजीको कैदकर लङ्का ले जानेके लिये उठाने लगा।

पर वे उससे उठे नहीं। उस स्थितिमे श्रीरामचन्द्रजीन रावणपर आक्रमण किया और उसके रथ, सारथि एव शस्त्रास्त्राको तिल-तिल करके काट डाला। घायल रावण अत्यन्त आर्त हाकर काँप उठा। श्रीरामचन्द्रजीका उस स्थितिम रावणको मारना या कैद करना नीतियुक्त नहीं लगा। उन्होन उस लङ्का जाकर विश्रामकर पुन लडने-लायक होकर आनेको कहा—

प्रयाहि जानामि रणार्दितस्त्व
प्रविश्य रात्रिचरराज लङ्काम्।
आश्वस्य निर्याहि रथी च धन्वी
तदा बल प्रक्ष्यसि मे रथस्थ ॥
(वा०रा० ६। ५९। १४३)

अर्थात् निशाचरराज! मैं जानता हूँ कि तुम युद्धसे पीडित हो। इसलिये लङ्का जाओ और विश्राम कर लो। फिर रथ आर धनुप लेकर निकलना और रथारूढ हाकर मरा बल देखना।

श्रीरामचन्द्रजीने अनीतिरत क्रूर रावणको भी निहत्था होनेपर मारना धर्मयुद्धक विरुद्ध माना उसके साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार किया।

रावणके मारे जानेपर विभीपण उसकी अन्त्येष्टि करना नहीं चाहते थे पर श्रीरामचन्द्रजाने विभीपणसे कहा—

मरणान्तानि वैराणि निर्वृत्त न प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य सस्कारो ममाप्येप यथा तव॥
(वा०रा० ६। १०९। २५)

अर्थात् मरनेके बाद वैरका अन्त हो जाता हे। अब हमारा प्रयोजन भी सिद्ध हा गया ह। अत इसका दाह-सस्कार करो। इस समय यह जैसे तुम्हारा भाई है, वैसे ही हमारा भी है। रावणका स्वजनक समान शवदाहादि करवाना भगवान् श्रीरामकी उदार युद्धनीतिका निदर्शक है।

राजाका नीतिविद् और प्रजाका प्रेमी होना चाहिये। वह राजा शोचनीय है जो नीति नहीं जानता और जिसे प्रजा प्राणाके समान प्रिय नहीं ह—

सोचिअ नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना॥
(रा०च०मा० २। १७२। ४)

राजाधिराज श्रीरामचन्द्रजीका राज्य नीति और प्रीतिपर आधारित धमराज्य था। उनकी मान्यता थी कि जिस राजाके राज्यमे प्रजा दु खी रहती है, वह राजा अवश्य ही नरकका अधिकारी होता है—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृपु अवसि नरक अधिकारी॥
(रा०च०मा० २। ७१। ६)

रामराज्यकी विशेपताओका वर्णन करत हुए गास्वामी श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप बिपमता खोई॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥
(रा०च०मा० ७। २०। ८ २१। २)

धर्मविग्रह राजा रामके प्रभावस प्रजा आप-स-आप धर्म नीति और प्रीतिकी ओर प्रवृत्त हाने लगी थी। प्रजा श्रीरामचन्द्रजीम अपने सब प्रकारके उदात्त भावाका प्रतिबिम्ब देखती थी ओर उससे उसकी अन्तर्वृत्तियाँ प्रभावित होती थीं। राज्यारोहणके बाद राजा रामने प्रजाकी एक सभा बुलायी और कहा कि यदि म कुछ अनीतिकी जात कहूँ तो निर्भय हाकर मुझे रोक—

जौं अनीति कछु भाषा भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥
(रा०च०मा० ७। ४३। ६)

श्रीरामचन्द्रजी सचेष्ट रहते थे कि उनक स्वजन-सहयोगी उन्हींके समान नीतिमान् आर प्रमपूर्ण बन। इसलिये वे अपने भाइयोको प्रेमपूर्वक अनक प्रकारस नीति सिखाते थे—

राम करहि भ्रातन्ह पर प्रीती। नाना भाँति सिखावहिं नीती॥
(रा०च०मा० ७। २५। ३)

अनेक प्रकारसे नीति सिखानेका अभिप्राय ह अपने आचरणसे सिखाना केवल मासिक सीख नहीं। महान् नीतिशास्त्रकार शुक्राचार्यजीका भी दृढ मत हे कि पृथ्वीपर श्रीरामके समान नीतिमान् कोई दूसरा राजा नहीं हुआ—'न रामसदृशो राजा पथिव्या नीतिमानभूत्' (शुक्रनीति ५। ४१)। अनीति और अप्रीतिसे पीडित समाजको दखकर राष्ट्रकवि श्रीमैथिलीशरणगुप्तजीने भगवान्से प्रार्थना की थी—

सीतापते! सीतापते!! यह पापभार निहारिए।
अवतीर्ण हाकर धर्मका निज राज्य फिर फलाइए॥
यह आर्यभूमि सचेत हो फिर कार्यभूमि बन अहा।
वह प्रीति नीति बढे परस्पर भीति भाव भगाइए॥

—भारतभारती

~~श्रीहरि~~

आख्यान—

रामराज्यकी महिमा

(कुत्तेको भी न्याय)

अक्लिष्टकर्मा राजराजेन्द्र, राघवेन्द्र श्रीरामभद्रकी राजसभा इन्द्र, यम और वरुणकी सभाके समकक्ष थी। उनके राज्यमें किसीको आधि-व्याधि या किसी प्रकारकी भी बाधा थी ही नहीं। तथापि एक दिन श्रीलक्ष्मणको प्रभुने आज्ञा दी कि देखो, बाहर कोई व्यवहारी या प्रार्थी तो उपस्थित नहीं है? यदि कोई हो तो उसे बुला लाओ उसकी बात सुनी जाय। एक बार लक्ष्मणजी लौट आये और बताये— 'दरवाजेपर कोई भी उपस्थित नहीं है।' प्रभुने कहा—'नहीं तुम ध्यानसे देखो, वहाँ जो कोई भी हो उसे तत्परतापूर्वक बुला लाओ।' इस बार जब लक्ष्मणजीने देखा तो मनुष्य कोई दरवाजेपर तो था नहीं पर एक श्वान (कुत्ता) वहाँ अवश्य खड़ा था, जो दुःखित होकर बार-बार रो रहा था। जब लक्ष्मणजीने उससे भीतर चलनेको कहा तो उसने बतलाया कि 'हमलोग अधम योनिमें उत्पन्न हुए हैं और राजा साक्षात् धर्मका विग्रह हो होता है अतएव महाराज! मैं राजदरबारमें प्रवेश कैसे करूँ?'

अन्तमें लक्ष्मणजीने भगवान्से पुनः आज्ञा लेकर उसकी प्रभुके पास पेशी करायी। भगवान्ने देखा कि उसके मस्तकमें चोट लगी हुई है। उसे अभयदान देकर भगवान्ने पूछा—'बतलाओ तुम्हें क्या कष्ट है? निडर होकर बतलाओ मैं तुम्हारा कार्य तत्काल सम्पन्न कर देता हूँ।'

कुत्ता बोला—'नाथ! मैंने किसी प्रकारका कोई अपराध नहीं किया तो भी सर्वार्थसिद्धि नामक भिक्षुने मेरे मस्तकपर प्रहार किया है। मैं इसीका न्याय कराने श्रीमान्के द्वारपर आया हूँ।' भगवान् रामने उस भिक्षुको बुलवा करके पूछा—'तुमने किस अपराधके कारण इसके मस्तकपर लाठीका प्रहार कर इसका सिर फाड़ दिया है?'

भिक्षुने कहा—'प्रभो! मैं क्षुधातुर होकर भिक्षाटनके लिये जा रहा था और यह श्वान विषम ढंगसे मार्गमें आ गया। भूखसे व्याकुल होनेके कारण मुझे क्रोध आ गया। मैं अपराधी हूँ, आप कृपापूर्वक मेरा शासन करें।'

इसपर भगवान्ने अपने सभासदोंसे न्याय-व्यवस्थानुसार दण्ड बतलानेको कहा। ब्राह्मण अदण्ड्य होता है अतः सभासदोंने कुत्तेको ही प्रमाण माना। कुत्तेने भगवान्से कहा—'प्रभो! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं और मेरी सम्मति चाहते हैं तो मेरी प्रार्थना है कि इस भिक्षुको कालंजर मठके कुलपति-पदपर अभिषिक्त कर दिया जाय।' कुत्तेकी इच्छानुसार भिक्षुको मान-दानपूर्वक हाथीपर चढ़ाकर वहाँ भेज दिया गया। तदनन्तर सभासदोंने बड़े आश्चर्यपूर्वक श्वानसे पूछा—'भैया! यह तो तुमने उसे भिक्षुको वर ही दे डाला शाप नहीं।' कुत्ता बोला—'आपलोगोंको इसका रहस्य विदित नहीं है। मैं भी पूर्वजन्ममें वहींका कुलपति था। यद्यपि मैं बड़ा सावधान और विनीत शीलसम्पन्न देव-द्विजकी पूजा करनेवाला सभी प्राणियोंका हितचिन्तक तथा देव-द्रव्यका रक्षक था। तथापि कुलपतित्वके दोषसे मैं इस दुर्योनिको प्राप्त हुआ फिर यह भिक्षु तो अत्यन्त क्रोधी असंयमी नृशंस मूर्ख तथा अधार्मिक है। ऐसी दशामें वहाँका कुलपतित्व इसके लिये वरदान नहीं अपितु घोर अभिशाप है। किसी भी कल्याणकामी व्यक्तिको भूलकर भी मठाधिपतित्व नहीं स्वीकार करना चाहिये। मठाधिपत्य सात पीढ़ियोंतकको नरकमें डाल देता है। जिसे नरकमें गिराना चाहे उसे देवमन्दिरका आधिपत्य दे दे। जो ब्रह्मस्व, देवस्व, स्त्रीधन, बालधन अथवा अपने दिये हुए धनका अपहरण करता है, वह सभी इष्टमित्रोंके साथ विनाशको प्राप्त होता है। जो मनसे भी इन द्रव्योंपर कुदृष्टि रखता है वह घोर अवीचिमान नामक नरकमें गिरता है और फिर जो सक्रिय इनका अपहरण करता है, उसका तो एकसे दूसरे नरकोंमें बराबर पतन ही होता रहता है। अतएव भूलकर भी मनुष्य ऐसा आधिपत्य न ले।'

कुत्तेकी बात सुनकर सभी सभासद् महान् आश्चर्यमें डूब गये। वह कुत्ता जिधरसे आया था उधर ही चला गया और काशी आकर प्रायोपवेशनमें बैठ गया।

(वा० रामायण उत्तरकाण्ड अध्याय ५९ के बाद प्रक्षिप्तसर्ग अ० १)

भगवान् श्रीकृष्णकी सफल राजनीति

(श्रीवासुदेवजी शर्मा)

महाभारतके युद्धमें जो विजयश्री पाण्डवोंको प्राप्त हुई, उसका सम्पूर्ण श्रेय तत्कालीन महान् राजनीतिज्ञ भगवान् श्रीकृष्णको ही है। महाभारतका सारा इतिहास श्रीकृष्णकी राजनीतिज्ञतासे ओतप्रोत है। यह बात भी मानी हुई है कि श्रीकृष्ण-जैसे कुशल राजनीतिज्ञ अभीतक प्रकाशमें नहीं आये हैं। जिन राजनीतिज्ञोंको आप देख रहे हैं उनकी राजनीति श्रीकृष्णकी राजनीतिपर ही अवलम्बित है अथवा यों कहिये कि उनकी राजनीति उक्त राजनीतिका अनुकरणमात्र है। महाभारत-कालका संक्षिप्त विवरण श्रीकृष्णकी राजनीतिज्ञताके दिग्दर्शनार्थ निम्न पंक्तियोंमें प्रस्तुत है—

जब पाण्डव अपने वनवासकी अवधि समाप्त कर चुके तो उनके पक्षके राजाओंने एक सभा की। उसमें बहुत सोच-विचारके बाद यह निश्चय हुआ कि पाण्डवोंने जिस उत्तम ढंगसे अपनी प्रतिज्ञाका पालन किया है वह प्रशंसनीय है और अब उनका राज-पाट उन्हें मिलना चाहिये, क्योंकि वनवासकी अवधि पूरी हो गयी है। परंतु दुर्योधनसे राज-पाट वापस प्राप्त होनेकी आशा बहुत कम है। सम्भव है इसके लिये युद्ध करना पड़े, अतएव एक दूत कौरवोंकी सभामें हस्तिनापुर भेजा जाय और एक उन राजाओंके पास भेजा जाय जो किसी कारणवश सभामें उपस्थित नहीं हो सके हैं। उनसे यह भी निवेदन कर दिया जाय कि आवश्यकता पड़नेपर वे लोग पाण्डवोंका ही पक्ष लें और यथाशक्ति उनकी सहायता करें, क्योंकि वे धर्म तथा न्यायके लिये लड़ रहे हैं।

कौरवोंकी सभामें हस्तिनापुर जाने और इस झगड़ेके निबटानेका भार भगवान् श्रीकृष्णको सौंपा गया। क्योंकि यह सभी जानते थे कि इस कार्यको उनके अतिरिक्त अन्य कोई भी करनेमें समर्थ नहीं है। जब श्रीकृष्ण कौरवोंकी राजसभामें पहुँचे तो उन्होंने कौरवोंको अनेक प्रकारसे समझाया और पाण्डवोंको केवल इन्द्रप्रस्थ, वृकप्रस्थ, जयन्त, वारणावत तथा एक अन्य कोई गाँव जो उचित समझें देनेका प्रस्ताव रखा। दुर्योधन, जो बड़ा चतुर राजनीतिज्ञ था, समझ गया कि इन गाँवोंके माँगनेसे यह अभिप्राय है कि कौरव सदैव पाण्डवोंके आश्रित रहें और वैमनस्यका भी अन्त न हो। क्योंकि ये चारों स्थान कौरवराज्यकी सीमा बन जायँगे और पाण्डवोंको अपने प्रति किये गये व्यवहारकी स्मृति दिलाते रहेंगे। अतएव दुर्योधनने इस प्रस्तावको अस्वीकार करते हुए श्रीकृष्णको स्पष्ट उत्तर दे दिया कि इन गाँवोंकी तो क्या मैं सूईकी नोकके बराबर भी भूमि बिना युद्धके न दूँगा। यदि कुछ बाहुबलका भरोसा हो तो रणभूमिमें भाग्यकी परीक्षा कर लें।

श्रीकृष्ण असफल हो वहाँसे लौट आये और दोनों ओरसे खुल्लमखुल्ला युद्धकी तैयारी होने लगी। कौरवोंकी ग्यारह अक्षौहिणी और पाण्डवोंकी सात अक्षौहिणी सेना कुरुक्षेत्रके लंबे-चौड़े मैदानमें आ उतरी। श्रीकृष्ण अर्जुनके रथवान् बने। उन्होंने अर्जुनके रथको उस समय विपक्षी सेनाका अनुमान लगानेके अभिप्रायसे बीचमें ले जाकर खड़ा कर दिया। जब अर्जुनने रणभूमिमें युद्ध करनेकी इच्छासे एकत्रित अपने मामा, चाचा, दादा, गुरु, मित्र और भाई आदि सम्बन्धियोंको देखा तो उन्हें आत्मग्लानि हुई और उन्होंने श्रीकृष्णसे कहा—'मुझे ऐसी विजयकी कामना नहीं है जिसे अपने सम्बन्धियोंका खून बहाकर प्राप्त किया जाय, मैं नहीं लड़ूँगा, आप मेरा रथ यहाँसे ले चलिये।' जब श्रीकृष्णने अर्जुनकी ऐसी दशा देखी तो सोचा कि यह तो बना-बनाया काम बिगड़ा जा रहा है। अतः वे अर्जुनको समझाने लगे—

'वीरश्रेष्ठ अर्जुन! प्रत्येक मनुष्यको चाहिये कि वह

अपने कर्तव्यका पालन करे। कर्तव्य-पथसे एक पग भी इधर-उधर होना उचित नहीं है, कर्तव्य-पालन करते समय हानि-लाभ और जीवन-मरणका विचार तक मनमें नहीं आने देना चाहिये। हमारा कर्तव्य केवल कर्म करना है। फल परमात्माके हाथ है। जिस प्रकार हम पुराने वस्त्रोंको उतारकर नये वस्त्र पहन लेते हैं, उसी प्रकार यह मिट्टीका चोला—शरीर बार-बार बदलता रहता है। आत्मा तो अमर है, उसे न तो कोई शस्त्र काट सकता है, न आग जला सकती है, न जल गला सकता है और न पवन सुखा सकता है। अर्जुन! तुम क्षत्रिय हो और इस समय युद्धक्षेत्रमें खड़े हो। तुम्हारा कर्तव्य धर्मयुद्ध करना है। सच्चे सूरमाओंकी तरह विजय पाओगे तो राज्य-सुख भोगोगे और रणमें वीरगति प्राप्त होनेपर स्वर्गके अधिकारी बन जाओगे। अब सब प्रकारकी चिन्ताएँ, शंकाएँ और संशय मनसे निकाल डालो। उठो और पुरुषसिंहकी भाँति अपने कर्तव्यका पालन करो।'

गीताके इस उपदेशका अर्जुनपर आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा और वे युद्ध करनेके लिये तैयार हो गये। धृष्टद्युम्न पाण्डवोंकी सेनाके सेनापति बने और कौरवीय सेनाकी कमान भीष्मपितामहने सँभाली। दोनों ओरसे डटकर युद्ध होने लगा। पलमात्रमें खूनकी नदियाँ बह चलीं, दसों दिशाएँ शस्त्रोंकी झनकारसे गूँज उठीं। भीष्मजी पाण्डवोंकी सेनाका संहार गाजर-मूलीकी तरह करते हुए अपनी अपूर्व वीरताका परिचय देने लगे। इस प्रकार युद्ध होते हुए नौ दिन बीत गये और पाण्डवोंके हजारों महारथी नष्ट हो गये। श्रीकृष्णने जब यह देखा तो सोचा कि इस प्रकार काम नहीं चलेगा। कोई युक्ति पितामहको समाप्त करनेकी सोचनी चाहिये। आखिर उन्होंने उपाय सोच ही लिया और तदनुसार युधिष्ठिरको भीष्मजीके पास भली प्रकार सिखा-पढ़ाकर भेज दिया। युधिष्ठिरने पहुँचते ही शिष्टाचारके अनुसार पितामहको प्रणाम किया। पितामहने उनका सम्मान किया और आनेका प्रयोजन पूछा। युधिष्ठिरको अवसर मिल गया। उन्होंने कह ही तो डाला कि 'पितामह! आप तो पाण्डवोंकी सेनाका संहार करनेपर तुले हुए हैं। अबतक न जाने कितने ही वीर नष्ट कर डाले हैं और न मालूम कितने करेंगे। फिर बताइये आपके होते हुए विजय कैसे सम्भव है?' यह सुनकर भीष्म मुसकराये और उन्होंने युधिष्ठिरसे पूछा कि 'आखिर चाहते क्या हो?' युधिष्ठिरने कहा—'महाराज! हम वह उपाय बतला दीजिये जिससे आपकी मृत्यु हो।' चूँकि भीष्मजी प्रतिज्ञाबद्ध हो चुके थे। अतः उन्होंने बताया कि 'मेरी प्रतिज्ञा है कि स्त्री अथवा स्त्रीके समान रूपवाले व्यक्तिके सामने आनेपर मैं उसके साथ युद्ध नहीं करूँगा और उसी समय अर्जुनद्वारा मृत्युको प्राप्त होऊँगा।'

दसवें दिन बड़ा घमासान युद्ध हुआ। पाण्डवोंने उस समय शिखण्डी नामके एक सैनिकको जो पहले स्त्री था और फिर योनिपरिवर्तन होनेसे पुरुष हो गया था भीष्मके सामने खड़ा कर दिया। भीष्मजीने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार हथियार डाल दिये। अर्जुनने जो पहलेसे ही शिखण्डीके पीछे छिपकर खड़े थे, अवसर प्राप्त कर पितामहको बाणोंकी सेजपर सुला दिया।

भीष्मपितामहके बाद ग्यारहवें दिन कौरवोंकी कमान द्रोणाचार्यको सौंपी गयी। उन्होंने रणमें अपनी कुशलताका परिचय भली प्रकार दिया युधिष्ठिरको पकड़नेकी चालें चली जाने लगीं। पाण्डवोंके विनाशके लिये एक अभेद्य व्यूहरचना की गयी इसके सम्बन्धमें सिवा अर्जुनके अन्य सभी अनभिज्ञ थे। हाँ वीर अभिमन्यु कुछ जानता था जिसकी अवस्था उस समय १६ वर्षकी थी। अर्जुनको कौरव लड़ते-लड़ते जान-बूझकर मोर्चेसे दूर ले गये थे। उनकी अनुपस्थितिमें अभिमन्यु व्यूह भेदकर भीतर घुस गया किंतु अकेला वीर बालक कई योद्धाओंके बीचमें फँस जानेके कारण वीर-गतिको प्राप्त हुआ। इस समाचारको सुनकर पाण्डव बड़े दुःखी हुए और उसी समय अर्जुनने जयद्रथको समाप्त करनेकी प्रतिज्ञा की। उधर अर्जुनने जयद्रथका वध कर दिया और इधर श्रीकृष्णने युधिष्ठिरसे कहा कि द्रोणाचार्यका अधिक दिन रहना हमारे लिये खतरनाक है, यदि आप सहायता करें तो काम बन सकता है। युधिष्ठिरने पूछा—'वह क्या' तो श्रीकृष्णने कहा कि आचार्यके पूछनेपर आप केवल इतना कह दें कि 'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो वा'। पहले तो युधिष्ठिरने धर्मका राग अलापा परंतु श्रीकृष्णने कहा कि 'आप धर्म-धर्म क्या कहते हैं, धर्म वह है जो मैं कहता हूँ।' यह सुनकर युधिष्ठिर चुप हो गये और प्रस्ताव स्वीकार कर

लिया। इधर भीमने अश्वत्थामा हाथीको मारकर यह अफवाह फैलवा दी कि अश्वत्थामा मारा गया। आचार्यजीने यह प्रतिज्ञा कर रखी थी कि जब मैं अपने पुत्रकी मृत्युका समाचार सुन लूँगा उस समय युद्ध नहीं करूँगा। जब उन्होंने इस समाचारको सुना तो इसकी पुष्टि युधिष्ठिरसे करानी चाही क्योंकि उस समय यह प्रसिद्ध था कि युधिष्ठिर कभी झूठ नहीं बोलते, अतः पूर्वयोजनाके अनुसार युधिष्ठिरने कहा कि '**अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो वा**'। आचार्यने '**अश्वत्थामा हतो**' इतना ही सुना क्योंकि '**नरो वा कुञ्जरो वा**'—यह बात धीरेसे कही गयी थी। इस प्रकार अपने पुत्रकी मृत्युका समाचार सुनकर आचार्यजीने युद्ध करना बंद कर दिया। उसी समय धृष्टद्युम्नने द्रोणाचार्यका सिर काट डाला।

द्रोणाचार्यके बाद कौरवोंकी सेनाका प्रधान नायक कर्ण हुआ। कर्ण और अर्जुन दोनों बराबरके योद्धा थे। दोनों योद्धा जब युद्धरत थे उसी समय ऐसी दैवी घटना हो गयी कि कर्णके रथका पहिया पृथ्वीमें धँस गया। कर्णने अर्जुनसे कहा कि 'देखो, मैं अपने रथका पहिया निकाल लूँ उसके बाद फिर युद्ध होगा।' अर्जुन इससे सहमत हो गये, परंतु श्रीकृष्ण इस बातको जानते थे कि सामान्यरूपमें कर्णको हराना अर्जुनके वशका नहीं है। वे अर्जुनसे कहने लगे कि 'इस समय कर्णका सिर काटनेका अवसर है, अतः अपना काम करो।' अर्जुनने इसे सुनकर कहा—'महाराज! यह तो अधर्म है।' श्रीकृष्णने कहा—'अधर्म कुछ नहीं है। शत्रुको जब मौका मिले मार देना चाहिये। यदि इस समय तूने देर की तो फिर कर्णको परास्त करना तेरे लिये असम्भव है।' अर्जुनने अपने सखा श्रीकृष्णकी बात मानकर बात-ही-बातमें कर्णका सिर धड़से अलग कर दिया।

कर्ण अपना प्राण गवाँ चुका था। युद्ध होते हुए सत्तरह दिन हो गये थे, अठारहवाँ दिन था, शल्य कौरवोंका सेनापति था। युधिष्ठिरने शल्यको मार डाला। कर्णके दोनों पुत्र भी लड़ाईमें मारे गये। इस समाचारको सुनकर दुर्योधन बड़ा दुःखी हो चिन्तामग्न हो गया। उसी समय किसीने आकर शकुनिकी मृत्युकी सूचना दी जिसे सुनकर तो उसका रहा-सहा साहस भी किनारा कर गया। आशा निराशामें बदल गयी। वह निरुपाय हो युद्धक्षेत्रसे भाग एक जलाशयमें जा छिपा। पाण्डव भी पता लगाते हुए उस जलाशयपर आ पहुँचे। वहाँ पहुँचकर नाना प्रकारसे दुर्योधनको धिक्कारने लगे कि 'इस प्रकार कायरोंकी तरह भागकर छिप जाना वीरोंका काम नहीं है, यदि तुम सबके साथ लड़नेमें अपनेको अशक्त समझते हो तो हममेंसे किसी एकसे लड़कर अपना राज्य ले लो।' युधिष्ठिरके इस कथनपर भगवान् श्रीकृष्णने युधिष्ठिरसे कहा—'यह आपने क्या कह डाला, गदा-युद्धमें दुर्योधनको जीतना कठिन है कहीं उसने नकुल या सहदेवको युद्धके लिये वरण कर लिया तब क्या होगा? आपको इस समय ऐसी दुस्साहसपूर्ण बात नहीं करनी चाहिये थी।' यह सुनकर महाबली भीम सामने आये और उन्होंने दुर्योधनसे गदा-युद्ध लड़नेकी बात कही। श्रीकृष्ण तथा युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंने भीमके पौरुषकी प्रशंसा की।

दुर्योधनने भीमके साथ गदा-युद्ध करना स्वीकार कर लिया। दोनोंमें गदा-युद्ध प्रारम्भ हो गया। युद्ध करते हुए पर्याप्त समय हो गया परंतु कोई हार नहीं मान रहा था। भगवान् श्रीकृष्णने भीमको थका अनुभव कर उनके हार जानेकी शङ्कासे दुर्योधनकी जाँघमें गदा मारनेका इशारा किया। तदनुसार भीमने गदाके प्रहारसे जाँघ तोड़ डाली। जंघाके टूटते ही दुर्योधन धराशायी हो गया। उस समय कुछने इसका विरोध किया, क्योंकि गदा-युद्धमें कमरसे ऊपर प्रहार करनेका नियम है, कमरसे नीचे नहीं, परंतु श्रीकृष्ण महाराजने इसका समाधान इस प्रकार किया कि 'जब द्रौपदीको सभाके बीचमें दुर्योधनने अपनी जाँघ दिखाकर उसपर बैठनेका इशारा किया था। उस समय भीमने दुर्योधनकी जंघा तोड़नेका सबके सामने प्रतिज्ञा की थी। अतः भीमने अपनी उस प्रतिज्ञाको पूरा किया है।'

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णकी राजनीतिने तो विजयमाल पाण्डवोंको पहनायी। इसीलिये महर्षि वेदव्यासजीने महाभारतमें कहा है—

यतः कृष्णस्ततो धर्मो यतो धर्मस्ततो जयः।

(अनु० १६७। ४१)

अर्थात् जहाँ श्रीकृष्ण हैं वहाँ धर्म है और जहाँ धर्म है वहीं विजय है।

विदेहराज जनककी अनासक्त-नीति

महाराज निमिका शरीर-मन्थन करके ऋषियान जिस कुमारको प्रकट किया, वह 'जनक' कहा गया। माताकी देहसे उत्पन्न न होनेके कारण 'विदेह' और मन्थनसे उत्पन्न होनेके कारण 'मैथिल' भी उनकी उपाधि हुई। इस वशमे आगे चलकर जो नरेश हुए वे सभी जनक और विदेह कहलाये। महर्षि याज्ञवल्क्यजीकी कृपासे वे सभी योगी और आत्मज्ञानी हुए। इसी वशमे उत्पन्न सीताजीके पिता महाराज 'सीरध्वज' जनकको कौन नहीं जानता? आप सर्वगुणसम्पन्न और सर्वसद्भावाधार, परम तत्त्वज्ञ, कर्मज्ञ, असाधारण ज्ञानी धर्म-धुरन्धर और नीति-निपुण एव महान् पण्डित थे। आपकी विमल कीर्ति विविध भाँतिसे गायी गयी है, परतु आपके यथार्थ महत्त्वका पता बहुत थोडे लोगोको लग सका है। श्रीगोस्वामीजी महाराज आपको प्रणाम करते हुए कहते हैं—

प्रनवउँ परिजन सहित बिदेहू। जाहि राम पद गूढ सनेहू॥
जोग भोग महँ राखेउ गोई। राम बिलोकत प्रगटेउ सोई॥

पूर्णब्रह्म सच्चिदानन्दघन महाराज श्रीराघवेन्द्रके साथ श्रीजनकजीका जो अत्यन्त 'गूढ स्नेह' और नित्य 'योग' (प्रेमका अभेद सम्बन्ध) है, वह सर्वथा अनिर्वचनीय है। कहना तो दूर रहा कोई उसे सम्यक् प्रकारसे समझ भी नहीं सकता। उस प्रेम-तत्त्वको तो बस आप ही दोनो जानते हैं। आपने उस अकथनीय अनुपम दिव्य प्रेम-धनको पूरे लोभीकी भाँति इन्द्रिय-व्यवसायरूप प्रपञ्चमे छिपा रखा है और एक धन-प्राण विषयी मनुष्यके सदृश उसी परम धनके चिन्तनमे निरन्तर निमग्न रहते हैं। कुछ लोग आपको एक महान् ऐश्वर्यसम्पन्न राजा नीतिकुशल प्रजारञ्जक नरपति समझते हैं और कुछ लोग ज्ञानियोका आचार्य भी मानते हैं परतु आपके अन्तस्तलके 'निगूढ प्रेम' का परिचय बहुत कम लोगोको है।

महाराज जनक कर्मयोगके सर्वश्रेष्ठ आदर्श हैं ज्ञानियोमे अग्रगण्य हैं और बारह प्रधान भागवताचार्योमे हैं। जनकजी परम ज्ञानी थे परतु परम ज्ञानकी अवधि तो यही है कि ज्ञानमे स्थित रहते हुए ही परम ज्ञानस्वरूप भगवान्की मूर्तिमान् माधुरीको देखकर उसपर रीझ जाय। ज्ञानका प्रेमके पवित्र द्रवरूपमे परिणत होकर अपनी अजस्र सुधाधारासे जगत्को प्लावित कर देना ही उसकी महानता है। जनकजीने यही प्रत्यक्ष दिखला दिया।

प्यारी-दुलारी श्रीसीताजीके स्वयवरकी तैयारी हुई है देश-विदेशके राजा-महाराजाओको निमन्त्रण दिया गया है। पराक्रमकी परीक्षा देकर सीताको प्राप्त करनेकी लालसासे बडे-बडे रूप-गुण और बल-वीर्यसे सम्पन्न राजा-महाराजा मिथिलामे पधार रहे हैं।

इसी अवसरपर गाधि-तनय मुनि विश्वामित्रजी अपने तथा अन्यान्य ऋषियोके यज्ञोकी रक्षाके लिये अवधराज महाराज दशरथजीसे उनके प्राणाधिक प्रिय पुत्रद्वय श्रीराम लक्ष्मणको माँगकर आश्रममे लाये थे। यह कथा प्रसिद्ध है। श्रीविश्वामित्र मुनि भी महाराज जनकका निमन्त्रण पाते हैं और दोनो राजकुमारोको साथ लेकर मिथिलाकी ओर प्रस्थान करते हैं। रास्तेमे शापग्रस्ता मुनि-पत्नी अहल्याका उद्धार करते हुए परम कृपालु श्रीकोशलकिशोरजी कनिष्ठ भ्रातासहित गङ्गा-स्नान करके वनोपवनके प्राकृतिक सौन्दर्यको देखते हुए जनकपुरीमे पहुँचते हैं और मुनिसहित नगरसे बाहर मनोरम *आम्रवाटिकामे* ठहरते हैं।

मिथिलेश महाराज इस शुभ सवादको पाकर श्रेष्ठ समाजसहित विश्वामित्रजीके दर्शन और स्वागतार्थ आते हैं और मुनिको साष्टाङ्ग प्रणाम करके आज्ञा पाकर बैठ जाते हैं। इतनेमे ही फुलवारी देखकर—

स्याम गौर मृदु बयस किसोरा। लोचन सुखद बिस्व चित चोरा॥

—श्याम-गौर-शरीर किशोर वयवाली नेत्रोको परम सुख देनेवाली अखिल विश्वके चित्तको चुरानेवाली 'युगल जोडी' वहाँ आ पहुँची। ये थे तो बालक परतु इनके आते ही लोगोपर ऐसा प्रभाव पडा कि सब लोग उठ खडे हुए—*'उठे सकल जब रघुपति आए।'* विश्वामित्र सबको बैठाते हैं। दोनो बालक शील-सकोचके साथ गुरुके चरणोमे बैठ जाते हैं। यहाँ जनकरायजीकी बडी ही विचित्र दशा होती है। उनके प्रेमरूपी सूर्यकान्तमणि श्रीरामरूपी प्रत्यक्ष प्रचण्ड सूर्यको

रश्मियाको प्राप्तकर द्रवित हाकर बह चलती है। गुप्त प्रेम-धन श्रीरामकी मधुर छवि देखत ही महसा प्रकट हा गया। युगाक सञ्चित धनका खजाना अकस्मात् खुल पडा—

मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥
प्रेम मगन मनु जानि नृपु करि बिवेकु धरि धीर।
बोलेउ मुनि पद नाइ सिरु गदगद गिरा गभीर॥
कहहु नाथ सुदर दोउ बालक। मुनिकुल तिलक कि नृप कुल पालक॥
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥
सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चद चकोरा॥
ताते प्रभु पूछउँ सतिभाऊ। कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ॥

जनकजी कहते हैं—'मुनिनाथ! छिपाइये नहीं सच बतलाइय—ये दाना कौन हैं? मैं जिस ब्रह्ममें लीन रहता हूँ, क्या वह वेदवन्दित ब्रह्म ही इन दो रूपामें प्रकट हो रहा है? मेरा स्वाभाविक ही वैरागी मन आज चन्द्रमाको देखकर चकोरकी भाँति थका जाता है।' जनकजीकी इस दशापर विचार कीजिये।

जनकका मन आत्यन्तिक प्रमके कारण बलात् ब्रह्मसुखको छाडकर रामरूपक गम्भीर मधुर सुधा-समुद्रम निमग्न हो गया—

इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

जो मन-बुद्धि अपनेसे अगोचर ब्रह्मके निरतिशय सुखकी अनुभूतिम लग थे, उन्हान आज उस अगाचरको प्रत्यक्ष नयनगोचर पाकर उस अगोचरके सुखका तुरत त्याग दिया। गोदका छोडकर पटवालेकी आशा कौन कर? ऐसा कौन समझदार हागा, जो 'नयनगोचर' के मिल जानपर 'अगोचर' के पीछे लगा रहे। धीरबुद्धि महाराज जनकक लिय यही उचित था। अभेद भक्ति-निष्ठ विदहराजकी पराभक्ति सशयरहित ह।

इसी प्रकार वे बारातकी विदाईक समय जब अपने जामातासे मिलते हैं, तब भी उनका प्रेमसागर मर्यादा ताड बैठता ह। उस समयके उनके वचनाम असीम प्रमकी मनोहर छटा है—जरा, उस समयकी झाँकी भी देखिये। बारात विदा हो गयी। जनकजी पहुँचानेके लिय साथ-साथ जा रह हैं। दशरथजी लाटाना चाहते ह, परतु प्रमवश राजा लाटते नहीं। दशरथजीने फिर आग्रह किया ता आप रथमे उतर पडे और नत्रास प्रेमाश्रुआकी धारा बहाते हुए उनसे विनय करन लग। इसके बाद मुनियासे स्तुति-प्रार्थनाएँ कीं। तदनन्तर श्रीरामके—अपने प्यारे जामाता रामक समीप आय और कहन लग—

राम करौं केहि भाँति प्रससा। मुनि महेस मन मानस हसा॥
करहिं जाग जोगी जेहि लागी। कोहु मोहु ममता मदु त्यागी॥
ब्यापकु ब्रह्मु अलखु अबिनासी। चिदानदु निरगुन गुनरासी॥
मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥
महिमा निगमु नेति कहि कहई। जो तिहुँ काल एकरस रहई॥
नयन बिषय मो कहुँ भयउ सो समस्त सुख मूल।
सबइ लाभु जग जीव कहँ भएँ ईसु अनुकूल॥
सबहि भाँति मोहि दीन्हि बड़ाई। निज जन जानि लीन्ह अपनाई॥
होहिं सहस दस सारद सेषा। करहिं कलप कोटिक भरि लेखा॥
मोर भाग्य राउर गुन गाथा। कहि न सिराहिं सुनहु रघुनाथा॥
मै कछु कहउँ एक बल मोरे। तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरे॥
बार बार मागउँ कर जोरे। मनु परिहरै चरन जनि भोरे॥

धन्य जनकजी! धन्य आपकी गुप्त प्रेमाभक्ति!

जब मिथिला यह समाचार पहुँचा कि महाराज दशरथने श्रीरामको वनवास दे दिया तब जनकजीन कुशल राजनीतिज्ञकी भाँति अयोध्याका समाचार—भरतकी गतिविधि जाननेके लिये गुप्तचर भेजे। भरतलालके अनुरागका परिचय पाकर वे चित्रकूट अपने समाजक साथ पहुँचे। चित्रकूटम महाराजकी गम्भीरता जैसे मूर्तिमान् हो जाती है। वे न तो भरतजीसे कुछ कह पाते हैं और न श्रीरामसे ही कुछ कहते हैं। उन्ह भरतकी अपार भक्ति तथा श्रीरामके परात्पर स्वरूपपर अटूट विश्वास है। महारानी कौसल्या तक उनके पास सुनयनाजीद्वारा सदेश भिजवाती

हैं, किंतु वे कहते हैं कि भरत और श्रीरामका जो परस्पर अनुराग है उसे समझा ही नहीं जा सकता वह अतर्क्य है—

देखि परतु भरत रघुबर की। प्रीति प्रतीति जाइ नहिं तरकी॥

स्वयं महाराजके बोधरूप चित्तमें कितना निगूढ़ प्रेम है इसका कोई भी अनुमान नहीं कर सकता।

वास्तवमें राजर्षि श्रीजनकजीने अखण्ड भोग-समृद्धिके मध्य रहते हुए भी अनन्त उपरति एवं अनासक्ति-योगका जो अद्भुत आदर्श दिखाया वह सर्वथा दुर्लभ है।

इतिहास-पुराणमें उनकी गाथाका एक श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध है, जो इस प्रकार है—

अनन्तं बत मे वित्तं यस्य मे नास्ति किञ्चन।
मिथिलायां प्रदग्धायां न मे दह्यति कश्चन॥

—इस गाथा-गानकी पूरी कथा इस प्रकार है—

एक बारकी बात है महर्षि वेदव्यासजी अनेक ऋषि-महर्षियों एवं योगिजनोंके साथ मिथिलामें चातुर्मास्य सम्पन्न कर रहे थे। वे प्रतिदिन वहाँ कुछ धर्म ज्ञान और योगज्ञानकी चर्चा करते और सभी ऋषि-महर्षि उसे ध्यानसे सुनते। कभी-कभी ऐसा होता था कि महर्षि व्यासदेवजी महाराज जनककी ओर लक्ष्यकर और उनके विशेष अभिमुख होकर विशिष्ट ज्ञानकी कथाएँ कहते थे जिससे यह अनुमान होता था कि महाराज जनक इस ज्ञानके विशेष अधिकारी हैं और उनमें अधिक विरक्ति एवं उपरति है। इन बातोंसे ऋषियोंके मनमें ईर्ष्या एवं द्वेष उत्पन्न होने लगा और वे सोचने लगे कि यह राजा तो गृहस्थ है आपादमस्तक ऐश्वर्यमें निमग्न है और व्यासजी इसे ही विशेष अधिकारी मान रहे हैं तथा हम जो मात्र कौपीनधारी, परिवार आदिसे शून्य तथा सर्वथा अकिञ्चन हैं हमारी ओर वे अभिमुख ही नहीं होते ऐसा पक्षपात क्यों? अवश्य ही इनमें राजवैभव और सुख-समृद्धिका आकर्षण है नहीं तो ज्ञानोपदेशके अधिकारत्वमें कहाँ यह गृहस्थ राजा और कहाँ हम वनवासी मुनिगण?

व्यासजी अपनी अन्तर्दृष्टिसे उनके मनकी बात समझ गये परंतु कुछ बोले नहीं। एक दिन जब ज्ञान-चर्चा चल रही थी, सभी बैठकर सुन रहे थे, तब उन्होंने एकाएक अपनी योगविद्यासे विकराल अग्नि प्रकट कर दी। धीरे-धीरे वह अग्नि सब पदार्थोंको जलाने लगी, राजा जनकजीका अन्नागार कोषागार, कोष, अश्वशाला, गजशाला आदि सब कुछ जलकर भस्म होने लगा। लोगोंके बुझानेपर भी वह अग्नि बुझ नहीं रही थी, अपितु और भी अधिक बढ़ती जा रही थी। राजकर्मचारी बार-बार आकर इसकी सूचना राजा जनकको देते रहे, किंतु ब्रह्मज्ञानानन्दमें वे इतने निमग्न थे कि उन्हें इस बातका तनिक भी विक्षोभ नहीं हुआ वे महर्षि व्यासजीका उपदेश सुनते ही रहे। वह अग्नि बढ़ते बढ़ते उनकी ओर आने लगी। ऋषियोंने उस अग्निको जब अपने निवास-स्थलोंकी ओर बढ़ते देखा तो वे उपदेश सुनना छोड़कर झट अपने आसन, कौपीन कमण्डलु आदि सामग्रीको लेकर आगसे बचानेके लिये धीरे-धीरे इधर-उधर जाने लगे। यह सब देखकर भगवान् व्यासने जनकसे कहा—'तुम अग्निका शमन करनेकी व्यवस्था क्यों नहीं करते? तुम्हें चिन्ता क्यों नहीं होती?' इसपर राजर्षि जनकने उत्तर दिया—'इस मिथिला नगरीके जलनेमें मेरा कुछ भी नहीं जला। मेरा वैभव तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें व्याप्त है फिर भी मेरा कुछ भी अपना नहीं है। अतः मैं चिन्ता क्या करूँ? तत्त्वकी बात ही श्रोतव्य एवं ध्यातव्य है। आप अपना प्रवचन जारी रखें।'

इसपर भगवान् व्यासने उस विकराल अग्निको तत्काल शान्त कर दिया और देखा यह गया कि उस अग्निसे कहीं कोई भी वस्तु जली नहीं थी। सभी कोषागार, अश्वशाला गजशाला राजमहल उद्यानोपवनादिसहित सम्पूर्ण मिथिलापुरी पूर्णतया सुरक्षित थी। फिर राजाके अनुचरोंने अग्नि-भयसे वहाँसे जानेके लिये तैयार उन योगी-ऋषि मुनियोंसे सादर प्रार्थना कर प्रवचनमें बैठनेका अनुरोध किया। तब महर्षि व्यासजीने कहा—'आपलोगोंके त्याग और वैराग्यकी भी परीक्षा हो गयी।' यह राजा निश्चय ही भोगोंमें रहते हुए भी योगसिद्ध तथा संसारसे पूर्णतया उपरत है। हमलोगोंको इससे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। वाचिक वैराग्यका विशेष महत्त्व नहीं है। अतः विशेष योगाभ्यास और संसारकी क्षणिकता तथा परमात्माकी नित्यताका अभ्यासपूर्वक साक्षात्कार करना चाहिये। पुनः उनका प्रवचन प्रारम्भ हो गया। महर्षिगण राजा जनककी उपरति एवं तितिक्षासे आश्चर्यचकित हो गये। महाराज जनकजीके इस प्रकारके अनेक दिव्य चरित्र शास्त्रोंमें वर्णित हैं।

महाभागवत श्रीभीष्मजीका नीति-दर्शन

(डॉ० श्रीनिवासजी शर्मा, एम्०ए० (हिन्दी-संस्कृत) पी एच्०डी०)

महाभारत भारतीय संस्कृतिका महासमुद्र है। उसमें वर्णित विषयोंकी इतनी अधिकता और विविधता है कि यह कथन प्रचलित हो गया—'यन्न भारते तन्न भारते' अर्थात् जो महाभारतमें नहीं है वह भारतमें कहीं नहीं मिलेगा। महाभारतकार भगवान् वेदव्यासने महाभारतके आरम्भमें कहा है—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥

हे भरतश्रेष्ठ! धर्म अर्थ, काम और मोक्षके विषयमें जो इसमें है, वह अन्यत्र भी मिल जायगा और जो इसमें नहीं है वह कहीं भी नहीं है।

एक लाख श्लोकोंवाले महाभारत ग्रन्थमें बहुत-सी गूढ बातें है। आदिपर्वमें वर्णन आता है कि इस ग्रन्थमें आठ हजार आठ सौ श्लोक ऐसे हैं जिन्हे मैं (व्यास) जानता हूँ और शुकदेवजी जानते हैं। संजय जानते हैं या नहीं, यह कहा नहीं जा सकता—

अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा॥

ऐसे विशद, गम्भीर और गूढ ग्रन्थमें अनेक विषयोंकी विस्तृत उपस्थापना हुई है, जिनमेंसे एक विषय नीति-सम्बन्धी है। इसमें भगवान् योगेश्वर श्रीकृष्ण, युधिष्ठिर विदुर, स्वयं कृष्णद्वैपायन वेदव्यासके नीति-सम्बन्धी विचार तथा अन्य अनेक ऋषि मुनि, राजा और महापुरुषोंके नैतिक-मूल्यपरक वर्णन एवं आख्यान विपुल विस्तारवाले हैं। उसी क्रममें महाभागवत भीष्मकी नीति-सम्बन्धिनी दृष्टि अपना विशेष महत्त्व रखता है।

महाभारत तथा अन्य पुराण-साहित्यके आधारपर भीष्म अप्रतिम व्यक्ति थे और कौरव-पाण्डवोंके पितामह थे। वे सबसे अधिक आयुवाले एवं अद्वितीय धनुर्धर थे। इसके अतिरिक्त वे बड़े भारी ज्ञानी और भगवद्भक्त भी थे। उनकी गणना महाभागवतोंमें की गयी है और धर्म-तत्त्ववेत्ताकी दृष्टिसे भी प्रशंसा की गयी है। प्रपन्नगीतामें चौदह महाभागवत गिनाये गये हैं—

प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीक-
व्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान्।
रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठविभीषणादीन्
पुण्यानिमान् परमभागवतान् स्मरामि॥

(१।१)

प्रह्लाद, नारद, पराशर, पुण्डरीक व्यास, अम्बरीष, शुक, शौनक, भीष्म, दाल्भ्य, रुक्माङ्गद अर्जुन वसिष्ठ तथा विभीषण आदि—इन परम भागवतोंका मैं स्मरण करता हूँ।

इससे भीष्मके महाभागवतरूपमें स्मरण होनेसे उनका गौरव समझमें आता है। भागवतपुराणमें अजामिल-प्रसंगमें यमदूतों और यमराजकी जब बातचीत होती है तो यमराज उनसे कहते हैं कि भागवतधर्मको जाननेवाले बारह व्यक्ति है। वहाँ यमराजने उन बारहोंमें भीष्मका नाम गिनाया है—ब्रह्माजी, देवर्षि नारद भगवान् शङ्कर सनत्कुमार, कपिलदेव स्वायम्भुव मनु, प्रह्लाद जनक पितामह भीष्म बलि शुकदेवजी और मैं (यमराज)—

स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः।
प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्॥

(श्रीमद्भा० ६। ३। २०)

अनुशासनपर्वमें युधिष्ठिरने भीष्मपितामहसे कल्याणके छः प्रश्न पूछे हैं। उनके उत्तरमें भीष्मजीने विष्णुसहस्रनामका आख्यान किया। युधिष्ठिर पूछते हैं—लोकमें एक परम देवता कौन है? कौन एक प्राप्त करने योग्य है? कौन स्तुति करने योग्य है? किसकी अर्चना करनेसे मनुष्य शुभ प्राप्त करता है? आपकी दृष्टिसे सब धर्मोंसे श्रेष्ठ कौन-सा धर्म है? किसका जप करनेसे मनुष्य संसारके जन्मादि बन्धनोंसे रहित हो जाता है?*

इन प्रश्नोंके उत्तररूपमें भीष्मजीने अपना धर्मनीति-सम्बन्धिनी 'भगवन्नामस्मरणरति'का प्रकाशन विष्णुके

* किमेकं दैवतं लोके किं वाप्येकं परायणम्। स्तुवन्तः कं कमर्चन्तः प्राप्नुयुर्मानवाः शुभम्॥
को धर्मः सर्वधर्माणां भवतः परमो मतः। किं जपन्मुच्यते जन्तुर्जन्मसंसारबन्धनात्॥

(विष्णुसहस्रनाम २। ३)

सहस्रनाम और उनके माहात्म्यके साथ किया है। वह उनके आचारपूर्ण नीति-कौशलका बड़ा प्रसिद्ध उदाहरण है। कर्तव्याकर्तव्यविवेक और धर्माचरणकी बात नीति-सम्बन्धिनी कही जाती हैं। भीष्मकी दृष्टि इस सम्बन्धमें बड़ी स्पष्ट और विवेकपूर्ण है।

महाभारतका शान्तिपर्व भीष्मपितामहकी नैतिक दृष्टिका व्यापक वर्णन करनेवाला है। वहाँ वर्णन आता है कि शोकमग्न युधिष्ठिरको समझाने-बुझानेके बाद श्रीकृष्ण पाण्डवोंके साथ शरशय्यापर पड़े भीष्मजीके समीप जाते हैं। भीष्मजी अपने शरीरमें गड़े बाणोंकी जलन, शरीरकी दुर्बलता और जीभके सूखनेका वर्णन करके कहते हैं कि मुझे न
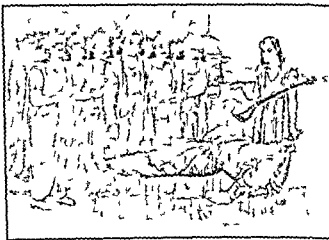
दिशाओंका ज्ञान है, न आकाश-पृथ्वीका भान है। मुझमें प्रवचन करनेकी शक्ति नहीं है। आप तो शास्त्रोंके भी शास्त्र हैं आप ही धर्मराजका हितकर बात बताइये। तब श्रीकृष्ण उन्हें वर प्रदान करते हैं जिससे उनकी सारी पीड़ा दूर हो जाती है और वे अपनेको उपदेश देनेमें समर्थ पाते हैं। सभी पाण्डव सात्यकि सञ्जय कृपाचार्य और अनेक धर्मपरायण ऋषि उनके नैतिक वचनोंको सुननेके लिये वहाँ एकत्र होते हैं। यों तो भीष्मजीने अनुशासनपर्वमें भी युधिष्ठिरके अनेक प्रश्नोंका उत्तर नीति और धर्मके अनुसार दिया है, परन्तु शान्तिपर्वमें तरह-तरहके नैतिक मूल्योंका बहुत विस्तृत वर्णन है। उनके ज्ञान और धर्म आदिकी उच्चताको देखकर शान्तिपर्वमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने उनकी प्रशंसा की है। वे कहते हैं कि आप धर्मके भंडार हैं—'त्वं हि धर्ममयो निधिः।' मनुष्योंमें आपके समान गुणयुक्त पुरुष मैंने न देखा है न सुना है। आगे भगवान्ने स्वयं कहा—

> यच्च भूतं भविष्यं च भवच्च पुरुषर्षभ।
> सर्वं तज्ज्ञानवृद्धस्य तव भीष्म प्रतिष्ठितम्॥
>
> (महाभारत शान्तिपर्व ५०। १८)

हे पुरुषश्रेष्ठ भीष्म! आप ज्ञानमें सबसे बढ़े-चढ़े हैं। आपकी बुद्धिमें भूत भविष्य और वर्तमान सब प्रतिष्ठित है।

> इतिहासपुराणार्थाः कार्त्स्न्येन विदितास्तव।
> धर्मशास्त्रं च सकलं नित्यं मनसि ते स्थितम्॥
>
> (महाभारत शान्तिपर्व ५०। ३६)

आपको इतिहास और पुराणोंके अर्थ पूरी तरहसे विदित हैं। सारा धर्मशास्त्र सदा आपके मनमें स्थित है।

शरशय्यापर पड़े हुए भीष्मके चरित्रका पूर्ववृत्त तो ऐसा है जो आरम्भसे ही उनके महान् गुणोंका प्रकाशक है। गङ्गा और शान्तनुके पुत्र देवव्रत पूर्वके वसु ही थे। वे अपने पिताके इतने अनुकूल और भक्त थे कि शान्तनुकी इच्छाको जानकर वे उनके विवाहका आग्रह करनेके लिये सत्यवतीके[1] पालक पिता मल्लाहके पास जाते हैं। वह कहता है कि सत्यवतीका ही पुत्र राज्यका अधिकारी होना चाहिये पर आपके बड़े पुत्र होनेके कारण वह राज्य कैसे पा सकेगा और फिर आप राज्य न भी लें तो भी आपके पुत्रों और सत्यवतीके पुत्रोंमें फिर संघर्ष होगा। इसपर देवव्रत बड़ी भयंकर प्रतिज्ञा करते हैं कि वे जीवनमें कभी विवाह ही न करेंगे। ऐसी भीषण

१ सत्यवती निषाद या मल्लाहकी कन्या नहीं थी। वह क्षत्रिय राजा उपरिचरके अंशसे उत्पन्न हुई थी। एक बार वनमें राजा उपरिचरका तेज स्खलित हो गया। राजाने उसे अभिमन्त्रित करके पुत्रोत्पत्तिकारक बनाकर एक बाजके द्वारा अपनी पत्नी गिरिकाके पास भेजा। एक दूसरे बाजने मांसका टुकड़ा समझकर उसपर झपट्टा मारा। वह तेज यमुनाके जलमें गिर पड़ा। वहाँपर अद्रिका नामकी अप्सरा ब्रह्माजीके शापसे मछली बनकर जलमें रह रही थी। राजा उपरिचरका तेज मछली बनी अद्रिकाने निगल लिया। दसवें महीने वह मल्लाहके जालमें आ गयी, उसके उदरको चीरनेसे एक पुरुष और एक कन्या निकली। मछेरेने राजाने यह घटना राजा उपरिचरको सुनायी। उन्होंने पुरुष बालकको ले लिया जो आगे चलकर मत्स्य नामक धार्मिक राजा हुआ। अद्रिका शापमुक्त होकर स्वर्ग चली गयी। कन्या मछुएके ही पास रही। उसके शरीरसे मछलीकी गंध आती थी। अतः उसे मत्स्यगंधा कहते थे। राजाने मल्लाहको सौंपा था तो वह उसीकी पुत्री होकर रही। पराशरके संयोगसे व्यासका जन्म हुआ। पराशरके वरदानसे उसका कन्याभाव नष्ट नहीं हुआ और वह गंधवती भी हो गयी (आदिपर्व ६३)।
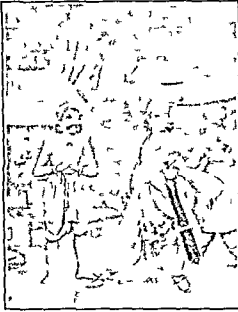
प्रतिज्ञा करनक कारण वे 'भीष्म' कहलाय। सत्यवतीको रथम बिठाकर लाय आर शान्तनुको सौंप दिया। शान्तनु बड उच्च चरित्रके धर्मात्मा थे। उन्हाने भीष्मको इच्छा-मृत्युका वरदान दिया (महाभारत आदिपर्व १००। १०३)।

दवव्रतसे भीष्म बननवाले भीष्मपितामह धर्म आर नीतिके पूर्ण ज्ञाता रहे। शान्तनुकी मृत्युके पश्चात् वे शास्त्रोक्त विधिसे पिण्डदान करन हरद्वार गये। वहाँ पिण्डदानके लिये कुश बिछाय गये। किंतु पिण्ड-ग्रहण करनके लिय कुशाको भेदकर शान्तनुने अपनी बाजूबद-

और आभूषणवाली भुजा ऊपर निकाली। तब भीष्मने कहा कि मनुष्यके हाथपर पिण्डदान दनेका वेदम विधान नहीं है। शास्त्रकी आज्ञा ह कि कुशापर ही पिण्डदान कर। उनकी धर्मनीतिके इस कृत्यपर पितर बड प्रसन्न हुए। इस तरह भीष्मपितामहके उत्तम धर्मरक्षित चरित्र आर अनक प्रसगोमे भगवान्‌के प्रति आस्था विश्वास और सदाचरणके कारण उन्ह महाभागवत कहा गया है।

भीष्मपितामहकी नैतिक दृष्टिका विस्तार शान्तिपर्वम दखनम आता है। कई स्थलापर तो उन्हान अपने नैतिक वचनाको कथा-उपाख्यानका उल्लख करके समर्थित किया है। कई गीताआ—मङ्किगीता पराशरगीता हसगीताक माध्यमस नतिक उपदश दिय ह। युधिष्ठिरके प्रश्नाके उत्तर दते समय भीष्मजीके विस्तारभर नतिक विचार व्यक्त किय गय हैं। भाष्मपितामहका विस्तृत नतिक दृष्टिको निम्न लिखित चार वर्गोम विभाजित कर सकते हैं—

१-धर्म-सम्बन्धी नतिक दृष्टि, २-अर्थ-सम्बन्धी नैतिक दृष्टि, ३-काम-सम्बन्धी नैतिक दृष्टि तथा ४-मोक्ष-सम्बन्धी नैतिक दृष्टि।

(१) धर्म-सम्बन्धी नैतिक दृष्टि—

भीष्मपितामहकी श्रेष्ठता नैतिक मूल्याक निर्वचनम उनकी भक्तिमयी भावनासे पुष्ट होकर चला ह। व युधिष्ठिरस धर्म-सम्बन्धा विचार व्यक्त करते समय पहल महान् धर्मका और भगवान् कृष्णका नमस्कार करत हैं तथा ब्राह्मणाका नमस्कार करक सनातनधर्मका वणन करते ह—

नमो धर्माय महत नम कृष्णाय वधसे।
ब्राह्मणभ्या नमस्कृत्य धर्मान् वक्ष्यामि शाश्वतान्॥

(महाभारत शान्तिपर्व ५६। १०)

वे कहते हैं—'**धारणाद्धर्म इत्याहु**' अर्थात् धारण करनेवाले स्वरूपके कारण उसे धर्म कहत है। दूसर शब्दाम मानवीय आचार एव गुणाको धम माना गया है। व्यक्ति और समाज तथा देश-काल-परिस्थितिक अनुसार धर्ममयी दृष्टि रखनी चाहिये। राजाका धर्म है कि वह वसन्तक सूर्यकी तरह न बहुत कामल हा न कठार हा— '**न शीतो न च घर्मद**'। जा सन्धि करन योग्य हा उनस सन्धि करे और जा विराधके पात्र हा उनस विराध कर। न्याय करनम यमराज और धन-सग्रहम राजाको कुबरक समान होना चाहिय। बलवान् हात हुए भी कभा दुर्बल शत्रुकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिय। राजाका चारा वर्णोक धर्मकी रक्षा करनी चाहिये—

'चातुर्वर्ण्यस्य धर्माश्च रक्षितव्या महीक्षिता।'

(महाभारत शान्तिपर्व ५७। १५)

वर्णधर्म—वर्णधर्मके सम्बन्धमें भीष्मपितामहने कहा है कि नौ उपयोगी धर्म हैं, उन्हें सभी वर्णोंके लिये उचित कहा गया है—अक्रोध, सत्य, धनको बाँटकर भोगना, क्षमा, अपनी पत्नीसे ही संतान पैदा करना, शौच, अद्रोह, सरलता तथा भृत्यवर्गोंका भरण-पोषण करना।[1]

पृथक्-पृथक् वर्णोंके धर्मोंकी दिशा-दृष्टि इस प्रकार दी गयी है—

ब्राह्मण—दान, अध्ययन तथा तप करना।

क्षत्रिय—ब्राह्मणोंकी रक्षा और युद्धमें पराक्रम दिखाना।

वैश्य—व्यापार, कृषि, पशुपालन करना।

शूद्र—सेवाधर्मका निर्वाह करना।

आश्रमधर्म—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चार प्रकारके आश्रमधर्म कहे गये हैं। इनके सम्बन्धमें भीष्मपितामहने दिशा-दृष्टि दी है। उनकी मुख्य बातें इस प्रकार हैं—

ब्रह्मचर्याश्रमधर्म—

परिचार्यं तथा वेद कृत्य कुर्वन् वसेत् सदा।

(महाभारत शान्तिपर्व ६१। १९)

कर्तव्योंका पालन, वेदोंका स्वाध्याय करते हुए गुरुके घरमें निवास करे।

गार्हस्थ्य-आश्रमधर्म—

सत्यार्जवे चातिथिपूजनं च
धर्मस्तथार्थश्च रतिः स्वदारैः।

(महाभारत शान्तिपर्व ६१। १४)

गृहस्थ पुरुष सत्य, सरलताका पालन करे एवं अतिथि-पूजा, धर्म, अर्थ और अपनी स्त्रीमें अनुराग रखे।

वानप्रस्थ-आश्रमधर्म—

ऊर्ध्वरेताः प्रव्रजित्वा गच्छत्यक्षरसात्मताम्॥

(महाभारत शान्तिपर्व ६१। ५)

ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए घरसे निकल जाय और ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाय।

संन्यास-आश्रमधर्म—

यथोपलब्धजीवी स्यान्मुनिर्दान्तो जितेन्द्रियः।

(महाभारत शान्तिपर्व ६१। ८)

संन्यासी किसी वस्तुकी कामना न कर इन्द्रियोंको वशमें रखे, निरन्तर घूमता रहे और कुटी न बनावे।

(२) अर्थसम्बन्धी नैतिक दृष्टि—

सभी व्यक्तियोंके लिये धर्मपूर्वक अर्थसंग्रहकी और उसके उचित उपयोगकी आवश्यकताको रेखाङ्कित किया गया है। भीष्मपितामह कहते हैं—'दारिद्र्यं पातकं लोके' अर्थात् संसारमें दरिद्रता बड़ा पाप है। उन्होंने आपद्धर्मको छोड़कर अलग-अलग वर्णोंकी दृष्टिसे अर्थोपार्जनके अलग अलग साधन बतलाये हैं—

प्रतिग्रहता विप्रे क्षत्रिये शस्त्रनिर्जिता।
वैश्ये न्यायार्जिताश्चैव शूद्रे शुश्रूषार्जिता॥

(शान्तिपर्व २८३। १ पूनाकी प्रति)

ब्राह्मण धनका संग्रह दान लेकर करे, क्षत्रिय शत्रुको जीतकर अर्थ प्राप्त करे, वैश्य न्यायपूर्वक अर्थका उपार्जन करे और शूद्र सेवा-शुश्रूषाके द्वारा अर्थोपार्जन करे।

गार्हस्थ्य-आश्रम प्रधान रूपसे अर्थकी व्यवस्था करता है, क्योंकि शेष तीन आश्रम उसके अर्जित धनपर आश्रित रहते हैं, परंतु अनाथ, वृद्ध और विधवा स्त्रियोंका अर्थ-प्रबन्ध राजाका कर्तव्य है। निर्धन ज्ञानवान् ब्राह्मणकी और युद्धकालमें विक्षतकी आजीविका राजकोषसे होनी चाहिये। राजाका धन लोक-कल्याणमें व्यय होना चाहिये। जैसे भौंरे पुष्पसे मधु लेते हैं, ऐसे ही राजाको राजस्व लेना चाहिये। राजस्व-ग्रहण करनेकी नीति बताते हुए वे कहते हैं—

न कर्म कुरुते वत्सो भृशं दुग्धो युधिष्ठिर।
राष्ट्रमप्यतिदुग्धं हि न कर्म कुरुते महत्॥

(महाभारत शान्तिपर्व ८८। १९ पूना संस्करण)

भीष्म युधिष्ठिरको समझाते हैं कि हे युधिष्ठिर! गायका दूध अधिक दुह लेनेपर उसका बछड़ा काम करनेमें समर्थ नहीं होता। ऐसे ही अत्यधिक दोहनसे यानी अधिक कर लेनेसे राष्ट्र भी महान् कर्म नहीं कर सकता।

अर्थोपयोगके अनेक साधन प्रजाके लाभके लिये राजाको करने चाहिये। उनमेंसे कुछ साधन मुख्य हैं। इन स्थानोंमें अर्थका उपयोग करना चाहिये—यज्ञ-सम्पादन करना, सत्पात्रोंको दान देना, दुर्ग-निर्माण, पुर-निर्माण, तडाग-निर्माण, जलाशय-निर्माण, कूप-निर्माण, मार्ग-निर्माण,

---

१ अक्रोधः सत्यवचनं संविभागः क्षमा तथा। प्रजनः स्वेषु दारेषु शौचमद्रोह एव च॥
आर्जवं भृत्यभरणं नवैते सार्ववर्णिकाः। (शान्तिपर्व ६०।७-८)

धर्मशाला-निर्माण शून्यागार (सन्यासियाके लिये) देवालय-निर्माण आदि।

धनके अर्जन और उसके उपयोगकी तरह-तरहकी नीति बतलाकर भीष्मपितामह सभी सुखोकी जड सतोपको मानते हैं—

सतोषो हि स्वर्गसम सतोष परम सुखम्।

(३) काम-सम्बन्धी नैतिक दृष्टि—

भीष्मपितामहने शान्तिपर्वमे युधिष्ठिरकी नीति-सम्बन्धिनी दृष्टि राजधर्मकी आर बार-बार मोडी है। युधिष्ठिर राजा हुए हैं ओर उन्ह राज्य करना ह। उन्ह प्रत्यक परिस्थितिमे कैसी नीति अपनानी चाहिये—यह बार-बार कहा है। इसलिये धर्म ओर मोक्षकी नीति-दृष्टि जितनी स्फुट की हे उतनी अर्थ और कामकी नहीं। चार पुरुषार्थोमे काम भी आता हे। अत कामके विपयमे भी युधिष्ठिरको मार्गदर्शन किया गया है। कामका स्वरूप सिसृक्षात्मक और वासनात्मक दो प्रकारका है। ऋग्वेदके 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेत प्रथम यदासीत्' (१०। १२९। ४)—इस मन्त्रके भाष्यमें आचार्य सायणने कामका अर्थ सिसृक्षा ही किया है—'सिसृक्षा जातेत्यर्थ ' अर्थात् परमेश्वरके मनमे सृष्टि-रचनाकी इच्छा (सिसृक्षा) पदा हुई। सिसृक्षा हो अथवा वासना हो यदि वह धर्मके अविरुद्ध है तो उसे श्रेष्ठ ही कहा गया है। गीताम भगवान् कहते है—'धर्माविरुद्धो भूतेपु कामोऽस्मि भरतर्षभ' (७। ११)। जा धर्म वर्णाश्रमवालाका कहा हे यदि वह धर्मसम्मत है, धर्मका साधक है ता वह काम है और वह श्रेष्ठ है तथा वह मैं हूँ।

भीष्मपितामहकी दृष्टिमे धर्म और अर्थक साथ कामको भी लाकवृत्तिके लिये आवश्यक माना है—'धर्मे चार्थे च कामे च लोकवृत्ति समाहिता'। धर्म और अर्थकी तरह कामक बिना भी लाकयात्रा नहीं चल सकती। भीष्म कामका कामनारूपमे लेकर बताते हैं कि कामनाहीन व्यक्ति काम भी नहीं कर सकता। पितृ-ऋणसे भा मुक्त नहीं हो सकता। अत धर्मका मूल अर्थ है और अर्थका मूल यानी फल काम है—'धर्ममूलस्तु देहोऽर्थ कामोऽर्थफलमुच्यते।' गृहस्थके लिये धर्मसम्मत कामकी व्यवस्था की गयी है। उस सदर्भम नारीके जननीरूपको बहुत आदर दिया गया है।

भीष्मजीने राजाके लिये यह कहा है कि राजा धर्मके लिये होता है, कामोपभोगके लिये नहीं—

धर्माय राजा भवति न कामकारणाय तु।

(शान्तिपर्व ९१। ३)

अर्थात् राजा धर्मके लिये प्रयत्न करे। उस क्रमम उन्हाने राजाके लिये जो ४२ दोपोसे सावधान रहनेको कहा है, उनमे कामजनित दस दोप गिनाये गये हे जा इस प्रकार ह—१-आखेट, २-जुआ ३-दिनमे सोना, ४-दूसराकी निन्दा ५-स्त्रियाम आसक्ति, ६-मद्य पीना ७-नाचना ८-गाना ९-बाजा बजाना, १०-व्यर्थ घूमना। (शान्तिपर्व ६३। ७३)

अन्तम युधिष्ठिरको जागरूक करते हुए वे बताने हे कि काम-चिन्तन कभी समाप्त नहीं होता और व्यक्ति ही समाप्त हो जाता है—

सचिन्वानकमेवैन कामानामवितृप्तकम्॥

(महाभारत शान्तिपर्व २७७। १८)

कामवासनाकी सतुष्टि कभी नही होती ओर उसकी अतृप्त-अवस्थामे ही उस मृत्यु लेकर चल देती है।

(४) मोक्ष-सम्बन्धी नैतिक दृष्टि—

जीवकी दा प्रबल प्रवृत्तियाँ है—जिजीविपा और मुमुक्षा। जीनेकी इच्छाको जिजीविषा कहते है। ससारके सारे कार्य-कलाप, उच्चावच उद्यम—प्रयत्न जिजीविपाक ही परिणाम हे। उनसे मुक्त होनेकी इच्छा मुमुक्षा कही गयी हे। ससार-सागरसे पार होनेकी इच्छा जन्म-मरणके बन्धनसे छूटकर ब्रह्मम लीन होनेकी या समीपता प्राप्त करनेकी इच्छा भी इसे कहते हे। व्यक्तिके चारा पुरपार्थोम यह मुख्य तथा मूल्यवान् है। इसे ही श्रुति-स्मृति आदि नीति-ग्रन्थामे नि श्रेयस कहा गया हे। भीष्मपितामह-जैसे वासुदेवके भक्त और धर्मचेता व्यक्तिका इसपर विस्तारपूर्वक दृष्टिपात करना स्वाभाविक है। युधिष्ठिरको उस धर्मका मोक्षधर्मका मूलतत्त्व उन्हाने समझाया हे।

भीष्मपितामह बतलाते हैं—मुमुक्षु हाना सभी चाहते हैं परतु मोक्षका अधिकारी प्रत्येक नहीं हो सकता। वे कहते हैं—

विमुक्तदोष समलोष्टकाञ्चन
स मुच्यते दु खसुखार्थसिद्धये॥

(शान्तिपर्व १६१। ४२ पूनाका प्रति)

अर्थात् जो व्यक्ति दापाको छाड चुका है उसके लिये मिट्टी और सोना समान है यानी जो आसक्तिरहित है सुख-दु खको छोड चुका है वह मुक्त है।

युधिष्ठिर भीष्मपितामहसे प्रश्न करते हैं कि गार्हस्थ्य

आश्रमका त्याग किये बिना मोक्षतत्त्वको कौन प्राप्त कर सकता है? महात्मा भीष्मजी उन्हें सुलभा नामक योगिनी और जनक-सवादका आख्यान सुनाते हैं। उसमे जनक ऐसे ही गार्हस्थ्य आश्रममे रहते हुए भी मुक्त जीव हैं। जनक कहते है—

यश्च मे दक्षिणं बाहुं चन्दनेन समुक्षयेत्।
सव्यं वास्यापि यस्तक्षेत् समावेतावुभौ मम॥

(महाभारत शान्तिपर्व ३२०। ३६)

अर्थात् यदि कोई एक व्यक्ति मेरी दाहिनी भुजापर चन्दन छिडके और दूसरा बाँयीं भुजाको बसूलेसे काटे तो ये दोनों ही मनुष्य मेरे लिये समान हैं।

गेरुआ वस्त्र धारण करना, मस्तक मुडा लेना, त्रिदण्ड और कमण्डलु धारण करना—ये सब सन्यासमार्गका परिचय देनेवाले मात्र चिह्न है। इनके द्वारा मोक्षकी सिद्धि नही होती।

भीष्मपितामहने मोक्ष-साधनाके लिये ज्ञानको भी महत्त्व दिया है। जैसे ज्ञानी व्यक्ति काम-क्रोध, लोभ, भय स्वप्न आदिको पारकर परम गतिको प्राप्त होता है, इसी तरह योगके द्वारा भी मोक्ष प्राप्त करनेके उपाय उन्होने बतलाये हैं। 'पदे परमे स्थिता' कहकर उसी ओर सकेत किया गया है।

भीष्मपितामहने इस तरह अपनी मोक्षनीति-सम्बन्धिनी दृष्टिका वर्णन करनेके बाद सबका पर्यवसान भगवान्की भक्तिमे किया हैं। जो मुक्तिके धर्मसम्मत शास्त्रसम्मत चिन्तन है, वे सब भगवान्की भक्तिद्वारा भी प्राप्त किये जा सकते हैं। भक्ति और प्रेमके द्वारा भगवान्को प्राप्त करना बार-बार प्रशसित किया गया है। भगवान्ने स्वय कहा है कि जो वेदाध्ययन, ज्ञान, तप आदिमे प्राप्त होता है वह मात्र भक्तिसे प्राप्त किया जा सकता है। भीष्मपितामह कहते हैं—

'नास्य भक्तात् प्रियतरो लोके कश्चन विद्यते'

(शान्तिपर्व ३३२। ३ पूर्वकी पंक्ति)

इस ससारमे भक्तसे प्रिय कुछ भी नहीं है।

भीष्मपितामहकी नैतिक दृष्टि उनके व्यावहारिक ज्ञानसे प्रसूत है। उन्होने जैसा किया है वैसा ही कहा है। उनकी करनी और कथनीमे अन्तर नहीं था और मूलत वे भगवान् वासुदेवके भक्त थे तथा भगवान्के अनेक गुणोंकी महिमाकी अनुभूतिमे लिप्त थे। अन्त समयमें उन्होने अपनी लीला भगवान् श्रीकृष्णकी स्मृति करते-करते ही सम्पन्न की और वे सदाके लिये भगवान्के प्रिय पात्र बन गये।

उद्यमका जादू

इटलीके क्रेसिन नामक किसानने अपने उद्योगके बदौलत इतनी अच्छी पैदावार की कि लोगोको अत्यन्त आश्चर्य होने लगा। उन्होने सोचा—निश्चय ही यह कोई जादू करता होगा।

उन्होने न्यायालयमे इसकी अपील की। न्यायाधीशने वादीका बयान सुननेके बाद प्रतिवादी किसान क्रेसिनसे पूछा—'इसपर तुम्हारा क्या कहना है?'

क्रेसिनने अपनी एक हृष्ट-पुष्ट लड़की, अपने खेतीके औजार, बैल आदिको अदालतके समक्ष खडाकर कहा—'मै खेत जोत और खाद डाल उसे अच्छा तैयार करता हूँ। मेरी लडकी बीज बोती और पानी आदि देकर खेतकी अच्छा देख रेख करती है। इसी तरह मेरे औजार भी टूटे-फूटे न होकर अच्छे काम लायक है और मेरे बैल देखिये। कितनी लुभावनी जोड़ी है। मैं इन्हे खूब खिलाता-पिलाता, इनकी सेवा-शुश्रूषा करता हूँ। इसीलिये ये हमारे बैल प्रदेशभरमे ख्यातिप्राप्त और बेजोड है। मेरे खेतमे काफी पैदावार होनेमे ये जिस जादूका असर बताते है वह जादू इन्हींमे है। दावा करनेवाले चाहे तो इस जादूका उपयोग कर ले तब उन्हे मेरे इस कथनकी सत्यता प्रमाणित होगी।'

ये बाते सुनकर न्यायाधीशने कहा—'आजतक अनेक अपराधी मेरे सामने आये, पर अपनेपर किये गये अभियोगके निवारणार्थ इतने सबल प्रमाण किसीने भी उपस्थित नहीं किये। इसलिये इनकी जितनी प्रशसा की जाय थोड़ी है।

यह कहकर न्यायाधीशने क्रेसिनको निर्दोष विदाई दी। (नीतिबोध)

श्रीप्रह्लादजीकी पारमार्थिक नीति-शिक्षा

(शास्त्री श्रीजयेन्द्रजी दव एम्० एड्०, पी-एच्० डी०)

प्रह्लादजीकी कथा तो प्रसिद्ध ही हे। उनकी स्वभावगत भक्ति-परायणतासे निरन्तर भयभीत उनके पिता हिरण्यकशिपु उनपर प्राणघातक अत्याचार करत रहे। उसी क्रमम आग चलकर उनका अनिष्ट करनेका काम सारी सृष्टिको सुखा दनकी क्षमता रखनवाले पवनको सौंपा गया।

परम कृपास्पद भगवान्‌म प्रह्लादजीकी अनन्य श्रद्धाके ही कारण पवन भी जब उनका नाश करनेम असफल रहे तब प्रह्लादजी अपने गुरु-गृह गये। गुरुजीने उन्ह शुक्राचार्यरचित राज्यफलको दिलानवाली राजनीतिका अभ्यास कराना प्रारम्भ किया। गुरुजीने दखा कि प्रह्लाद नीतिशास्त्रनिपुण होकर पूर्ण विनयसम्पन्न हो गया हे तो उसे हिरण्यकशिपुके पास ले जाकर कहा—'दैत्यराज! मैने आपके पुत्रको नीति-शास्त्रम पूर्ण पारङ्गत बना दिया है, वह अब नीतिको तत्त्वत जानता है।'

गुरुजीकी बात सुनकर प्रसन्न हुए हिरण्यकशिपुने परीक्षार्थ प्रह्लादजीसे पूछा—'प्रह्लाद! (यह तो बता) राजाको मित्रासे कैसा बरताव करना चाहिये और शत्रुआसे कैसा? तथा त्रिलोकीम जो मध्यस्थ (दोना पक्षाके हितचिन्तक) हो उनके साथ कैसा आचरण करना चाहिये? मन्त्रियो, अमात्यो बाह्य और अन्त पुरके सेवको, गुप्तचरो पुरवासियो शकितो (जिन्हे जीतकर बलात् दास बना लिया गया हो) तथा अन्यान्य जनोके प्रति किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये? प्रह्लाद! यह ठीक-ठीक बता कि करने और न करने योग्य कार्योंका विधान किस प्रकार करे, दुर्ग और आटविक (जगली मनुष्य) आदिको किस प्रकार वशीभूत करे तथा गुप्त शत्रुरूप काँटोको कैसे निकाले? यह सब तथा और भी जो कुछ तूने पढा हो वह सब मुझे सुना मैं तेरे मनके भावोको जाननेके लिये बहुत उत्सुक हूँ।'

पिताके इन प्रश्नोको सुनकर परम विनयी प्रह्लादजीने पिताके चरणोम प्रणाम करके कहा—'पिताजी! इसम सदेह नहीं, गुरुजीने तो मुझे इन सभी विषयोकी शिक्षा दी है। उन्हे मै समझ भी गया हूँ, परतु मेरे विचारसे वे नीतियाँ अच्छी नहीं हैं। इतना कहकर प्रह्लादजीने गुरुद्वारा दी गयी समग्र शिक्षाका खण्डन किया और उन्हे अस्वीकार कर दिया—

गृहीतन्तु मया कि तु न सदेतन्मत मम॥

(वि०पु० १।१९।३४)

गुरुजीद्वारा दी गयी शिक्षा किस कारणसे उसके लिये अयोग्य अतएव अनावश्यक है यह बताते हुए प्रह्लादजीने अपने पिता हिरण्यकशिपुसे कहा—

साम चोपप्रदान च भेददण्डौ तथापरौ।
उपाया कथिता सर्वे मित्रादीना च साधने॥
तानेवाह न पश्यामि मित्रादींस्तात मा क्रुध।
साध्याभावे महाबाहो साधनै कि प्रयोजनम्॥
सर्वभूतात्मके तात जगन्नाथे जगन्मये।
परमात्मनि गोविन्दे मित्रामित्रकथा कुत॥
त्वय्यस्ति भगवान् विष्णुर्मयि चान्यत्र चास्ति स।
यतस्ततोऽय मित्र मे शत्रुश्चेति पृथक्कुत॥

(वि०पु० १।१९।३५—३८)

साम दान तथा दण्ड और भेद—ये सब उपाय मित्रादि साधनके लिये बताये गये हैं। किंतु पिताजी! आप क्रोध न करे मुझे तो कोई शत्रु-मित्र आदि दिखायी ही नहीं देता और हे महाबाहो! जब कोई साध्य ही नहीं है तो

इन साधनासे लेना ही क्या है? हे तात! सर्वभूतात्मक जगन्नाथ जगन्मय परमात्मा गोविन्दमें भला शत्रु-मित्रकी बात ही कहाँ है? श्रीविष्णुभगवान् तो आपमें, मुझमें और अन्यत्र भी सर्वत्र वर्तमान हैं फिर 'यह मेरा मित्र और यह शत्रु है' ऐसे भेदभावको स्थान ही कहाँ है?

इसलिये हे तात! अविद्याजन्य दुष्कर्मोंमें प्रवृत्त करनेवाले इस वाग्जालको सर्वथा छोडकर अपने शुभके लिये यत्न करना चाहिये—

तदभिरलमत्यर्थं　　दुष्टारम्भोक्तिविस्तरैः।
अविद्यान्तर्गतैर्यत्नः　　कर्तव्यस्तात शोभने॥
(वि० पु० १।१९।३९)

जो वास्तवमें पढने योग्य—विद्यास्वरूप नहीं है उसे विद्या समझकर पढनेमें व्यस्त हो जानेकी आलोचना करते हुए प्रह्लादजीने कहा—

विद्याबुद्धिरविद्यायामज्ञानात् तात जायते।
बालोऽग्निं किं न खद्योतमसुरेश्वर मन्यते॥
(वि० पु० १।१९।४०)

हे दैत्यराज! अज्ञानके कारण ही मनुष्योंको अविद्यामें विद्या-बुद्धि हो जाती है। बालक क्या अज्ञानवश खद्योतको ही अग्नि नहीं समझ लेता? तात्पर्य यह है कि अविद्या—अज्ञानके कारण या मनुष्यके अज्ञानमें वृद्धि करनेवाली ऐसी शिक्षासे जिन्हें अविद्या-दृष्टि—अविद्यामें विद्या देखनेकी दृष्टि प्राप्त हुई है, वे उसी अविद्याको प्राप्त करनेमें सम्पूर्ण जीवन लगा देते हैं और उनका वह उद्देश्य तो निष्फल है ही, प्रयत्न भी बन्धनकारक हो जाता है।

इस प्रकार हिरण्यकशिपुके राज्यमें प्रवर्तमान शिक्षाकी आलोचना करनेके बाद प्रह्लादजीने सच्ची शिक्षा—कल्याणकारी शिक्षाकी अपनी विभावना प्रस्तुत करते हुए कहा—

तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये।
आयासायापरं कर्म विद्यान्या शिल्पनैपुणम्॥
(वि० पु० १।१९।४१)

कर्म वही है जो बन्धनका कारण न हो और विद्या भी वही है जो मुक्तिकी साधिका हो। इसके अतिरिक्त और कर्म तो परिश्रमरूप तथा अन्य विद्याएँ कला-कौशलमात्र हैं। तात्पर्य यह है कि जो विद्या मनुष्यको बन्धनसे मुक्त नहीं कराती, वह तत्त्वतः विद्या नहीं है अपितु कला-कौशलमात्र है। पुनः प्रह्लादजीने हिरण्यकशिपुसे कहा—'पिताजी! राज्य प्राप्त करनेकी इच्छा और धनकी अभिलाषा किसे नहीं होती?' तथापि ये दोनों मिलते उन्हींको हैं जिन्हें मिलनेवाले होते हैं। 'तथापि भाव्यमेवैतदुभयं प्राप्यते नरैः।' (वि० पु० १।१९।४३) प्रह्लादजीका यह विचार अति मार्मिक है। कहनेका तात्पर्य यह है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारोंमें तत्त्वतः धर्म और मोक्ष—ये दो ऐसे पुरुषार्थ हैं जो मनुष्यके प्रयत्नविशेषसे सिद्ध होते हैं। नीतिमान्, धर्मपरायण और सदाचारी बनना उतना सरल नहीं है साथ ही केवल प्रारब्धवश ही धर्मात्मा तथा सदाचारी बन जाना सम्भव नहीं है। उसके लिये मनुष्यको पूरी गम्भीरता एवं सतर्कतासे प्रयत्न करना पडता है। मोक्ष—मुक्ति भी तो परिश्रम-साध्य पुरुषार्थ है। जबकि अर्थ और काम पुरुषार्थ होते हुए भी तत्त्वतः प्रारब्धके अधीन हैं। धन-वैभव आदि मनुष्यको अपने प्रारब्धानुसार जो मिलना होता है मिल ही जाता है। मनुष्य जहाँ होता है वे उसे वहाँ मिल जाते हैं या पुरुषार्थ करता हुआ वह उनके पास हो पहुँच जाता है। इसीलिये प्रह्लादजीने कहा—

तस्माद्यतेत पुण्येषु य इच्छेन्महतीं श्रियम्।
यतितव्यं समत्वे च निर्वाणमपि चेच्छता॥
(वि० पु० १।१९।४६)

अर्थ और कामजन्य वैभव प्रारब्धके अधीन हैं, इसीलिये जिसे महान् वैभवकी इच्छा हो उसे केवल पुण्यसञ्चयका ही यत्न करना चाहिये और जिसे मोक्षकी इच्छा हो उसे भी समत्व-लाभका ही प्रयत्न करना चाहिये।

मनको सम-भाव सिखानेवाली शिक्षा ही मनुष्यको अभेद-दृष्टि प्रदान करती है। देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, सरीसृप—ये सब भगवान्‌से भिन्न स्थित हुए भी वास्तवमें श्रीअनन्तके ही रूप हैं। इस तथ्यको जाननेवाला मनुष्य सम्पूर्ण चराचर जगत्‌को आत्मवत् देखे, क्योंकि यह सब विश्वरूपधारी भगवान् विष्णु ही हैं।

इस प्रकार प्रह्लादजीने हम सबको आध्यात्मिक नैतिक पथपर आरूढ होनेका पाठ पढाया है।

सुनीतिजीकी सुनीति-शिक्षा

भक्तवर ध्रुवजीका जीवन-वृत्तान्त तो प्रसिद्ध ही है। स्वायम्भुव मनुके पुत्र उत्तानपादकी रानी सुरुचिके द्वारा सपत्नी सुनीतिके पुत्र ध्रुवजीका बाल्यवयमें अपमान किया गया, जिससे बालक ध्रुव बहुत क्षुब्ध होकर अपनी माताके पास गये। उन्होंने सारी बात माताको बतायी। अपने अपरिपक्व बुद्धिवाले बच्चेके चित्त-विक्षोभके समय सुनीतिजीने ऐसी शिक्षा दी जिसके फलस्वरूप ध्रुवजी एक सामान्य राजपुत्र न होकर महान् भक्त बन गये। माता सुनीतिने अपने छोटे-से बच्चेको जिस सहजतासे समझाया वह बात जितनी रसप्रद है उतनी ही अपने मातृजीवनका प्रारम्भ कर रही आजकी माताके लिये पथप्रदर्शिका भी है।

बच्चेको अपमानित करनेवाली अपनी सपत्नीके प्रति बालक ध्रुवके मनमें कहीं वैरभाव न उत्पन्न हो जाय इस आशङ्कासे सुनीतिजीने कहा—

सुरुचिः सत्यमाहेदं मन्दभाग्योऽसि पुत्रक।

(वि० पु० १।११।१६)

बेटा! 'सुरुचिने ठीक ही कहा है, अवश्य ही तू मन्दभाग्य है'। क्योंकि पुण्यवानोंसे उनके विपक्षी ऐसा नहीं कह सकते। जीवनमें कभी स्वयं अपमानित होनेका प्रसङ्ग उपस्थित होनेपर समझदार और विदग्ध मनुष्यको अपमान करनेवालेके प्रति द्वेषबुद्धि करनेकी अपेक्षा स्वयं अपने ही कर्मके विषयमें गम्भीरतापूर्वक सोचना चाहिये। किसीको तो राज्यासन, राजच्छत्र, सुख-वैभवकी सुविधाएँ प्राप्त हैं और मुझे वे नहीं मिल रही हैं, यदि तुम्हें ऐसा लगता हो और यदि इसी कारण तुम दुःखी हो तो सुनो—

यस्य यावत् स तेनैव स्वेन तुष्यति मानवः॥

(वि० पु० १।११।२२)

जिस मनुष्यको जितना मिलता है वह अपनी उतनी ही पूँजीसे संतुष्ट होता है। इसीलिये बेटा ध्रुव! तुझे दुःखी नहीं होना चाहिये, फिर भी यदि सुरुचिके वचनोंसे तुझे सचमुच ही दुःख हुआ है तो तुम सर्वफलदायक पुण्यका संग्रह करनेका प्रयत्न करो—

तत्पुण्योपचये यत्नं कुरु सर्वफलप्रदे॥

(वि० पु० १।११।२३)

ऐसा कहकर सुनीतिजीने ध्रुवजीसे पुनः जो कहा है वह अपनी संतानका श्रेय चाहनेवाले आजके किसी भी दम्पतीको, विशेषरूपसे माताको याद रखने योग्य है—

सुशीलो भव धर्मात्मा मैत्रः प्राणिहिते रतः।
निम्नं यथापः प्रवणाः पात्रमायान्ति सम्पदः॥

(वि० पु० १।११।२४)

बेटा! तू सुशील, पुण्यात्मा, प्रेमी और समस्त प्राणियोंका हितैषी बन, क्योंकि जैसे नीची भूमिकी ओर ढलकता हुआ जल अपने-आप ही पात्रमें आ जाता है, वैसे ही सत्पात्र मनुष्यके पास समस्त सम्पत्तियाँ स्वतः ही आ जाती हैं।

यहाँ मनुष्यको सत्पात्र बनानेवाले सद्गुणोंके विकासकी आवश्यकता दर्शायी गयी है। सत्पात्रका अर्थ है मनुष्यका विनम्र होना। जलकी तरह सम्पत्तिकी स्वाभाविक गति नीचेकी ओर—विनम्रताकी ओर है। सुपात्र—विनम्रको सम्पत्तियाँ अपने-आप प्राप्त हो जाती हैं। मनुष्यको पुरुषार्थ जो करना है वह विनम्र बननेके लिये, आवश्यक गुणोंका अपनेमें विकास करनेके लिये है, सम्पत्ति अर्जित करनेके लिये नहीं।

माता सुनीतिजीकी यह बात ध्रुवजीको बहुत भायी पर इसके साथ ही वे तो वह अच्युतपद पाना चाहते थे जो किसीको प्राप्त न हो सका हो। वे निर्वेद तथा आत्मग्लानिसे प्रज्वलित हृदयद्वारा महल छोड़कर बाहर उपवनमें चले गये। वहाँ उन्हें सप्तर्षि मिल गये।

ध्रुवजीने सप्तर्षियोंको प्रणामकर कहा—मुझे न तो धनकी इच्छा है और न राज्यकी। मैं तो केवल एक उसी स्थानको चाहता हूँ जिसे पहले कभी किसीने न प्राप्त किया हो। हे मुनिश्रेष्ठ! आप मुझे यह बता दें कि क्या करनेसे वह सर्वोच्च अग्रगण्य स्थान प्राप्त हो सकता है? ध्रुवजीकी यह बात सुनकर सातों ऋषियोंने एक-एक करके उन्हें उपदेश दिया। महर्षि मरीचिने कहा—

अनाराधितगोविन्दैर्नरैः स्थानं नृपात्मज।
न हि सम्प्राप्यते श्रेष्ठं तस्मादाराधयाच्युतम्॥

(वि० पु० १।११।४३)

'हे राजपुत्र! बिना गोविन्दकी आराधना किये मनुष्यको वह श्रेष्ठ स्थान नहीं मिल सकता, अतः तू श्रीअच्युतकी आराधना कर।' महर्षि अत्रिने कहा—

पर पराणा पुरुषो यस्य तुष्टो जनार्दन ।
स प्राप्नोत्यक्षय स्थानमेतत्सत्य मयोदितम्॥

(वि० पु० १।११।४४)

'जो परा प्रकृति आदिसे भी परे हैं वे परम पुरुष जनार्दन जिससे सतुष्ट होते हैं उसे अक्षयपद मिलता है, यह मैं सत्य-सत्य कहता हूँ।' महर्षि अङ्गिराने कहा—

यस्यान्त सर्वमेवेदमच्युतस्याव्ययात्मन ।
तमाराधय गोविन्द स्थानमग्र्य यदीच्छसि॥

(वि० पु० १।११।४५)

'यदि तू अग्र्य स्थानका इच्छुक है तो जिन अव्ययात्मा अच्युतसे यह सम्पूर्ण जगत् ओत-प्रोत है, उन गोविन्दकी ही आराधना कर।' महर्षि पुलस्त्यने कहा—

पर ब्रह्म पर धाम योऽसौ ब्रह्म तथा परम्।
तमाराध्य हरिं याति मुक्तिमप्यतिदुर्लभाम्॥

(वि० पु० १।११।४६)

'जो परब्रह्म परमधाम और परस्वरूप है उन हरिकी आराधना करनेसे मनुष्य अतिदुर्लभ मोक्षपदको भी प्राप्त कर लेता है।' महर्षि पुलहने कहा—

ऐन्द्रमिन्द्र पर स्थान यमाराध्य जगत्पतिम्।
प्राप यज्ञपति विष्णु तमाराधय सुव्रत॥

(वि० पु० १।११।४७)

'हे सुव्रत! जिन जगत्पतिकी आराधनासे इन्द्रने अत्युत्तम इन्द्रपद प्राप्त किया है तू उन यज्ञपति भगवान् विष्णुकी आराधना कर।' महर्षि क्रतुने कहा—

यो यज्ञपुरुषो यज्ञो योगेश परम पुमान्।
तस्मिंस्तुष्टे यदप्राप्य किं तदस्ति जनार्दने॥

(वि० पु० १।११।४८)

'जो परमपुरुष यज्ञपुरुष, यज्ञ और योगेश्वर हैं उन जनार्दनके सतुष्ट होनेपर ऐसी कौन-सी वस्तु है जो प्राप्त न हो सकती हो?' अन्तमे महर्षि वसिष्ठने कहा—

प्राप्नोष्याराधिते विष्णौ मनसा यद्यदिच्छसि।
त्रैलोक्यान्तर्गत स्थान किमु वत्सोत्तमोत्तमम्॥

(वि० पु० १।११।४९)

'हे वत्स! विष्णु भगवान्की आराधना करनेपर तू अपने मनसे जो कुछ चाहेगा वही प्राप्त कर लेगा फिर त्रिलोकीके उत्तमोत्तम स्थानकी तो बात ही क्या है?'

सातो महर्षियोंने आत्मग्लानिमे निमग्न ध्रुवजीको एक साथ एक मतसे भगवान्की आराधना करनेका उपदेश दिया। वे सब महान् गुरु थे। गुरुका तो काम ही मनुष्यके हृदयमे स्थित गोविन्दको दिखा देनेका होता है। माता सुनीतिद्वारा दी गयी पुण्यशीलो विनम्र एव सुपात्र बननेकी सीख और इन सप्तर्षियोंद्वारा दिये गये भगवान्की आराधना करनेका उपदेश—इन दोनोंने ध्रुवका मार्ग प्रशस्त कर दिया। माताद्वारा उपदिष्ट जीवनके उत्कर्षका लक्ष्य एव सप्तर्षियोंद्वारा उपदिष्ट उस लक्ष्य प्राप्तिकी विधिका प्रयोग करके ध्रुवजीने अविचल पद प्राप्त किया।

अहोऽस्य तपसो वीर्यमहोऽस्य तपस फलम्।
यदेन पुरत कृत्वा ध्रुव सप्तर्षय स्थिता॥

(वि० पु० १।१२।९८)

'अहो! इस ध्रुवके तपका कैसा प्रभाव है? अहो! इसकी तपस्याका कैसा अद्भुत फल है जो इस ध्रुवको ही आगे रखकर सप्तर्षिगण स्थित हो रहे हैं।'

समग्र कथाका केन्द्रवर्ती तत्त्व है, बालकके जीवनमें सुनीतिजीकी महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक भूमिका। ऐसी माताकी स्तुति करते हुए शुक्राचार्यजीने कहा है—

ध्रुवस्य जननी चेय सुनीतिर्नाम सूनृता।
अस्याश्च महिमान क शक्तो वर्णयितु भुवि॥

(वि० पु० १।१२।१००)

अर्थात् ध्रुवजीकी ये सुनीति नामवाली माता अवश्य ही सत्य और हितकर वचन बोलनेवाली हैं। ससारमे ऐसा कौन है जो इनकी महिमाका वर्णन कर सके? माता सुनीतिने हताश ध्रुवको पुण्यार्जन करनेकी शिक्षा दी थी इसलिये वे सूनृता कहलायी। सूनृताका अर्थ है सत्य एव प्रिय कृपापूर्ण एव सुखकर भाषण करनेवाली कल्याणकारिणी स्त्री। (ज० दव)

विदुरनीति

[भागवत-धर्मको जाननेवालाय महात्मा विदुरजीका स्थान सर्वोपरि है। ये भगवान्के प्रिय भक्त है। इनकी प्रेमाभक्ति सर्वविश्रुत है। साक्षात् धर्मराज ही विदुरजीके रूपमे आविर्भूत हुए थे। अत इनकी धर्मचर्या, सदाचारपरायणता और धर्मनीतिमत्ता स्वत सम्भूत थी। ये परम बुद्धिमान्, प्रज्ञाशक्तिसे सम्पन्न तथा महान् योगबलसे प्रतिष्ठित थे। इनके प्रज्ञावैभव एव बुद्धिचातुर्यके विषयमे भगवान् वेदव्यासका कथन है कि देवताओम बृहस्पति और असुरोमे शुक्राचार्य भी वस बुद्धिमान् नहीं है, जेसे पुरुषप्रवर विदुर थे—

बृहस्पतिर्वा देवेषु शुक्रो वाप्यसुरेषु च। न तथा बुद्धिसम्पन्ना यथा स पुरुषर्षभ ॥

(महा० आश्र० २८।१३)

महामति विदुर धतराष्ट्र और पाण्डुके लघु भ्राता थे। दासीपुत्र होनेके कारण ये राज्यके अधिकारी नहीं हुए। पाण्डुके वन चले जानेके बाद जब प्रज्ञाचक्षु धतराष्ट्र राजा हुए तब य उनके मन्त्री बने। समस्त राज्यकी देखभाल यही किया करते थे। ये बडे ही नीतिज्ञ, कार्यपटु, मेधावी तथा भगवद्भक्त थे। इनकी विद्वत्ता, सदाचार-पालन और धर्मप्रियतासे उस समय सभी परिचित थे।

नीतिके तो य पण्डित ही थे, इनकी बनायी हुई 'विदुरनीति' एक प्रामाणिक भीति मानी जाती ह। ये सदा धर्मका पक्ष लेते थ। स्पष्टवादी इतने थे कि य किसीकी मुँहदेखी नहीं करते थे। अधर्मका खण्डन और न्यायका मण्डन ये भरी सभामे सबके सामने करते थे।

जब धृतराष्ट्र अपने पुत्र दुर्योधनके कहनेसे पाण्डवाको कष्ट देनेमे सहायता देने लगे, तो विदुरजीने उनका जोरोसे खण्डन किया उन्ह डाँटा आर कहा कि आपका ऐसा करना उचित नहीं है। पाण्डुके पुत्र भी आपके ही पुत्र ह। तबसे धृतराष्ट्र डर गये और व विदुरके सामने पाण्डवोके विरुद्ध कुछ भी नहीं कहते थे। दुर्योधन इनसे मन-ही-मन बहुत खीझता था, कितु करता भी क्या, धृतराष्ट्रका काम इनके बिना निकलता ही नहीं था। जब दुर्योधनन षड्यन्त्र करके पाण्डवोको लाक्षागृहमे जलाने भेजा तो विदुरजीने ही धर्मराजसे यावनी भाषाम ये सब बाते बता दीं और उनकी रक्षाके लिय सुरग खोदनेवालेको भेज दिया तथा गङ्गा-पार करनेके लिये गुप्तरूपसे नौका भी भेज दी।

जब पाण्डवान द्रौपदीको जीत लिया तो विदुरजीके ही कहनसे धृतराष्ट्रने उन्ह बुला लिया और उनके ही आग्रहपर पाण्डवाका इन्द्रप्रस्थका राज्य दिया। भरी सभाम जब जुएका प्रस्ताव स्वीकृत हो गया तो विदुरजीने इसका जोरास खण्डन किया तथा द्रौपदीका जब अपमान होने लगा तब तो ये बहुत बिगडे और सभा-भवनसे उठकर चले गये।

जब पाण्डवोका बारह वर्षका वनवास और एक वर्षका अज्ञातवास हुआ तो विदुरजी बड़े दु खी हुए। वे रोज ही धृतराष्ट्रको भली-बुरी सुनाया करते, कहते कि आपने अपने इस दुष्ट पुत्र दुर्योधनके कहनेसे धर्मात्मा पाण्डवोको वन भेज दिया, यह अच्छा नहीं किया। रोज ऐसी बाते सुनते-सुनते और दुर्योधनके भडकानेसे एक दिन धृतराष्ट्रने क्रोधम आकर कह दिया—'तुम रोज उन पाण्डवोकी बड़ाई करते हो, उन्हीके पास चले जाओ। मेरे यहाँ मत रहो।' बस, फिर क्या था विदुरजी उसी समय पाण्डवोक पास जाकर जगलम रहने लगे। धृतराष्ट्र एक तो वेसे ही अन्धे थे, विदुरजीके बिना वे और भी असहाय हा गये। विदुरके बिना उनका मन ही नही लगता, वे विदुरको याद करके रोने लगे। दूताको भेजा, अपने अपराधकी क्षमा चाही और जल्दी ही विदुरजीसे हस्तिनापुर पधारनेकी प्रार्थना की। दूतोने सब हाल विदुरजीसे कहा। विदुरजी यह साचकर कि मेरे बड़े भाई ह, अन्ध है, सहायताहीन हैं। इसलिये व फिर धृतराष्ट्रके पास आ गय।

वनवासकी अवधि समाप्त होनेपर जब भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी दूत बनकर कौरव-पाण्डवोम सधि कराने आय तो दुष्टबुद्धि दुर्योधनके यहाँ न ठहरकर विदुरजीके ही घर ठहरे और दुर्योधनके निमन्त्रण देनेपर भी उसके यहाँ भोजन नही किये, विदुरजीक घर ही साग-भात खाकर रहे। इसपर दुर्योधन बड़ा क्रुद्ध हुआ। भगवान्को कैद कर लेनेकी उसने मन्त्रणा की। इसपर विदुरजी बहुत नाराज हुए, उन्होने धृतराष्ट्रसे स्पष्ट कहा—'महाराज! यदि आप कल्याण चाहते है तो मेरी बात मानिये, इस दुर्योधनको बाँधकर आप भगवान्के सुपुर्द कर दीजिये। इसके न रहनेपर सब कल्याण-ही-कल्याण है।' इस बातपर दुर्योधन बहुत बिगड़ा कितु विदुरजीने उसकी तनिक भी परवा नहीं की।

महाभारतका युद्ध आरम्भ हुआ तो ये किसी तरफ भी न हुए, अवधूतवेष बनाकर बारह वर्षतक पृथ्वीपर विचरते रहे। जो मिल जाता वही खा लेते, जहाँ रात्रि हो जाती वही पड़ जाते। नगे बदन फल-फूल खाते हुए ये सभी तीर्थोमे घूमते रहे। अन्तम जब उद्धवजीस भट हुई तब महाभारतकी भगवान्के इस लाकका त्याग देनेकी, यदुवशियोके विनाशकी सब बात इन्हाने सुनीं। निजधाम पधारते हुए भगवान् श्रीकृष्ण मैत्रेयजीको आदेश कर गये थे कि 'मेरे इस ज्ञानको विदुरजीस कहना —

यह बात उद्धवजीसे सुनकर विदुरजी गद्‌गद हो गये कि अन्तमे भगवान्‌ने मेरा स्मरण तो किया था। मैत्रेयजीसे ज्ञानोपदेश प्राप्त करके ये हस्तिनापुर पहुँचे। पाण्डवाने इनका बड़ा सत्कार किया। कुछ दिन ये वहाँ रहे, अन्तम धृतराष्ट्रसे इन्होने कहा—'यहाँ क्या सड रहे हो, वनमे चलकर तपस्या करो।' इनकी बात मानकर गान्धारी और कुन्तीके साथ धृतराष्ट्र वनको चले, विदुरजी भी उनके साथ थे। वनम जाकर विदुरजीने एक पेड़के सहारे खड़े-ही-खड़े योगियाकी तरह इस शरीरका त्याग दिया। वे अपने सत्-स्वरूपमे मिल गये। वे फिर धर्मराज बन गये।

महाभारतम वर्णन आता है कि धृतराष्ट्र मोहवश अपने पुत्र दुर्योधनका अधिक पक्ष लेते थे। इस कारण वे बहुत दु खी भी रहते थे। अपनी इसी पक्षपातपूर्ण अधर्मनीतिके परिणामोको जानकर वे अत्यन्त विकल हो गये, किंकर्तव्यविमूढ-से हो गये तो उन्होने अपने अमात्य महामति विदुरजीको बुलवाया और अपनी चिन्ता मिटानेका उपाय पूछा। इसपर विदुरजीने जो उपदेश धृतराष्ट्रको दिये, वे ही 'विदुरनीति' के नामसे प्रसिद्ध हो गये। यह प्रसग महाभारतमे उद्योगपर्वके ३३वे से ४०वे अध्यायतक उपनिबद्ध है। इसमे महामना विदुरजीने राजा धृतराष्ट्रको लोक-परलोकमे कल्याण करनेवाली बहुत-सी बात समझायी है। इसमे व्यवहार, नीति, सदाचार, धर्म, सुख-दु खप्राप्तिके साधन, त्याज्य और ग्राह्य गुणो तथा कर्मोका निर्णय, त्यागकी महिमा, न्यायका स्वरूप, सत्य, परोपकार, क्षमा, अहिंसा, मित्रके लक्षण, कृतघ्नकी दुर्दशा, निर्लोभता आदिका विशद वर्णन करते हुए राजधर्मका सुन्दर निरूपण किया गया है। विदुरजीने धृतराष्ट्रके माध्यमसे सभीके लिये लोक-परलोकको सुधारनेवाली श्रेष्ठ नीतिकी बात बतायी हैं। उन्ही नीति-वचनो (सम्पूर्ण विदुरनीति)-को हिन्दी-भावानुवादके साथ यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—सम्पादक]

विदुरनीति

पहला अध्याय

वैशम्पायन उवाच

द्वा स्थ प्राह महाप्राज्ञो धृतराष्ट्रो महीपति ।
विदुर द्रष्टुमिच्छामि तमिहानय माचिरम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते है—[सजयके चले जानेपर] महाबुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रने द्वारपालसे कहा—'मैं विदुरसे मिलना चाहता हूँ। उन्हे यहाँ शीघ्र बुला लाओ'॥ १॥

प्रहितो धृतराष्ट्रेण दूत क्षत्तारमब्रवीत्।
ईश्वरस्त्वा महाराजो महाप्राज्ञ दिदृक्षति॥ २॥

धृतराष्ट्रका भेजा हुआ वह दूत जाकर विदुरसे बोला—'महामते। हमारे स्वामी महाराज धृतराष्ट्र आपसे मिलना चाहते हैं'॥ २॥

एवमुक्तस्तु विदुर प्राप्य राजनिवेशनम्।
अब्रवीद् धृतराष्ट्राय द्वा स्थ मा प्रतिवेदय॥ ३॥

उसके ऐसा कहनेपर विदुरजी राजमहलके पास जाकर बोले—'द्वारपाल। धृतराष्ट्रको मेरे आनेकी सूचना दे दो'॥ ३॥

द्वा स्थ उवाच

विदुरोऽयमनुप्राप्तो राजेन्द्र तव शासनात्।
द्रष्टुमिच्छति ते पादौ किं करोतु प्रशाधि माम्॥ ४॥

द्वारपालने जाकर कहा—'महाराज। आपकी आज्ञासे विदुरजी यहाँ आ पहुँचे है, वे आपके चरणोका दर्शन करना चाहते हैं। मुझे आज्ञा दीजिये उन्हे क्या कार्य बताया जाय'॥ ४॥

धृतराष्ट्र उवाच

प्रवेशय महाप्रज्ञ विदुर दीर्घदर्शिनम्।
अह हि विदुरस्यास्य नाकल्पो जातु दर्शन॥५॥

धृतराष्ट्रने कहा—'महाबुद्धिमान् दूरदर्शी विदुरको भातर ले आओ, मुझे इस विदुरसे मिलनेमे कभी भी अडचन नहीं है'॥५॥

द्वा स्थ उवाच

प्रविशान्त पुर क्षत्तर्महाराजस्य धीमत।
नहि ते दर्शनेऽकल्पा जातु राजाब्रवीद्धि माम्॥६॥

द्वारपाल विदुरके पास आकर बोला—'विदुरजी! आप बुद्धिमान् महाराज धृतराष्ट्रक अन्त पुरम प्रवश काजिय। महाराजने मुझस कहा है कि 'मुझे विदुरस मिलनेम कभी अडचन नहीं है'॥६॥

वैशम्पायन उवाच

तत प्रविश्य विदुरो धृतराष्ट्रनिवेशनम्।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्य चिन्तयान नराधिपम्॥७॥
विदुराऽह महाप्राज्ञ सम्प्राप्तस्तव शासनात्।
यदि किञ्चन कर्तव्यमयमस्मि प्रशाधि माम्॥८॥

वैशम्पायनजी कहते है—तदनन्तर विदुर धृतराष्ट्रके महलके भीतर जाकर चिन्तामे पडे हुए राजास हाथ जाडकर बोले—॥७॥ 'महाप्राज्ञ! मैं विदुर हूँ, आपकी आज्ञासे यहाँ आया हूँ। यदि मेरे करने योग्य कुछ काम हा तो मैं उपस्थित हूँ, मुझे आज्ञा कीजिये'॥८॥

धृतराष्ट्र उवाच

सञ्जयो विदुर प्राज्ञा गर्हयित्वा च मा गत।
अजातशत्रा श्वा वाक्य सभामध्ये स वक्ष्यति॥९॥
तस्याद्य कुरुवीरस्य न विज्ञात वचो मया।
तन्मे दहति गात्राणि तदकार्षीत् प्रजागरम्॥१०॥
जाग्रतो दह्यमानस्य श्रेयो यदनुपश्यसि।
तद् ब्रूहि त्व हि नस्तात धर्मार्थकुशलो ह्यसि॥११॥
यत प्राप्त सञ्जय पाण्डवेभ्यो
न मे यथावन्मनस प्रशान्ति।
सर्वेन्द्रियाण्यप्रकृति गतानि
कि वक्ष्यतीत्येव मेऽद्य प्रचिन्ता॥१२॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर! बुद्धिमान् सजय आया था मुझे बुरा-भला कहकर चला गया है। कल सभाम वह अजातशत्रु युधिष्ठिरके वचन सुनावेगा॥९॥

आज मैं उस कुरुवीर युधिष्ठिरकी बात न जान सका—यही मेरे अङ्गाको जला रहा हे और इसीने मुझ अबतक जगा रखा है॥१०॥

तात! मैं चिन्तासे जलता हुआ अभीतक जग रहा हूँ। मेरे लिये जो कल्याणकी बात समझो, वह कहा, क्याकि हमलागोमे तुम्हीं धर्म और अर्थके ज्ञानम निपुण हा॥११॥

जबसे पाण्डवोके यहाँसे सजय लौटकर आया ह तबसे मेर मनको पूर्ण शान्ति नही मिलती। सभी इन्द्रियाँ विकल हा रही हैं। कल वह क्या कहेगा इसी बातकी मुझ इस समय बडी भारी चिन्ता हो रही ह॥१२॥

विदुर उवाच

अभियुक्त बलवता दुर्बल हीनसाधनम्।
हृतस्व कामिन चोरमाविशन्ति प्रजागरा॥१३॥
कच्चिदेतैर्महादोषैर्न स्पृष्टोऽसि नराधिप।
कच्चिच्च परवित्तेषु गृध्यन्न परितप्यसे॥१४॥

विदुरजी बोले—राजन्! जिसका बलवान्क साथ विराध हो गया है उस साधनहीन दुर्बल मनुष्यको जिसका सब कुछ हर लिया गया है उसका कामीका तथा चोरको रातमे जागनेका रोग लग जाता हे॥१३॥

नरेन्द्र! कहीं आपका भा इन महान् दापास सम्पर्क ता नहीं हो गया है? कहीं पराये धनके लाभसे ता आप कष्ट नहीं पा रह ह?॥१४॥

धृतराष्ट्र उवाच

श्रोतुमिच्छामि ते धर्म्यं पर नै श्रेयस वच।
अस्मिन् राजर्षिवशे हि त्वमक प्राज्ञसम्मत॥१५॥

धृतराष्ट्रने कहा—मैं तुम्हारे धर्मयुक्त तथा कल्याण करनवाले सुन्दर वचन सुनना चाहता हूँ, क्याकि इस राजर्षिवशम केवल तुम्हीं विद्वानाके भी माननीय हो॥१५॥

विदुर उवाच

राजा लक्षणसम्पन्नस्त्रैलोक्यस्याधिपो भवेत्।
प्रेष्यस्ते प्रेषितश्चैव धृतराष्ट्र युधिष्ठिर ॥ १६ ॥

विपरीततरश्च त्व भागधेये न सम्मत ।
अर्चिषा प्रक्षयाच्चैव धर्मात्मा धर्मकोविद ॥ १७ ॥

आनृशस्यादनुक्रोशाद् धर्मात् सत्यात् पराक्रमात्।
गुरुत्वात् त्वयि सम्प्रेक्ष्य बहून् क्लेशास्तितिक्षते ॥ १८ ॥

दुर्योधने सौबले च कर्णे दु शासने तथा।
एतेष्वैश्वर्यमाधाय कथ त्व भूतिमिच्छसि ॥ १९ ॥

आत्मज्ञान समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता।
यमर्था नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ २० ॥

निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते।
अनास्तिक श्रद्दधान एतत् पण्डितलक्षणम् ॥ २१ ॥

क्रोधो हर्षश्च दर्पश्च ह्री स्तम्भो मान्यमानिता।
यमर्था नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ २२ ॥

यस्य कृत्य न जानन्ति मन्त्र वा मन्त्रित परे।
कृतमेवास्य जानन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ २३ ॥

यस्य कृत्य न विघ्नन्ति शीतमुष्ण भय रति ।
समृद्धिरसमृद्धिर्वा स वै पण्डित उच्यते ॥ २४ ॥

यस्य ससारिणी प्रज्ञा धर्मार्थावनुवर्तते।
कामादर्थं वृणीते य स वै पण्डित उच्यते ॥ २५ ॥

यथाशक्ति चिकीर्षन्ति यथाशक्ति च कुर्वते।
न किञ्चिदवमन्यन्ते नरा पण्डितबुद्धय ॥ २६ ॥

क्षिप्र विजानाति चिर शृणोति
विज्ञाय चार्थं भजते न कामात्।
नासम्पृष्टो व्युपयुङ्क्ते परार्थे
तत् प्रज्ञान प्रथम पण्डितस्य ॥ २७ ॥

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्ट नेच्छन्ति शोचितुम्।
आपत्सु च न मुह्यन्ति नरा पण्डितबुद्धय ॥ २८ ॥

विदुरजी बोले—महाराज धृतराष्ट्र! श्रेष्ठ लक्षणोंसे सम्पन्न राजा युधिष्ठिर तीनों लोकोंके स्वामी हो सकते हैं। वे आपके आज्ञाकारी थे पर आपने उन्हें वनमें भेज दिया ॥ १६ ॥ आप धर्मात्मा और धर्मके जानकार होते हुए भी आँखोंसे अन्धे होनेके कारण उन्हें पहचान न सके, इसीसे उनसे अत्यन्त विपरीत हो गये और उन्हें राज्यका भाग देनेमें आपकी सम्मति नहीं हुई ॥ १७ ॥ युधिष्ठिरमें क्रूरताका अभाव, दया धर्म सत्य तथा पराक्रम है वे आपमें पूज्यबुद्धि रखते हैं। इन्हीं सद्गुणोंके कारण वे सोच विचारकर चुपचाप बहुत-से क्लेश सह रहे हैं ॥ १८ ॥ आप दुर्योधन, शकुनि कर्ण तथा दु शासन-जैसे अयोग्य व्यक्तियोंपर राज्यका भार रखकर कैसे ऐश्वर्य-वृद्धि चाहते हैं? ॥ १९ ॥ अपने वास्तविक स्वरूपका ज्ञान, उद्योग दु ख सहनेकी शक्ति और धर्ममें स्थिरता—ये गुण जिस मनुष्यको पुरुषार्थसे च्युत नहीं करते वही पण्डित कहलाता है ॥ २० ॥ जो अच्छे कर्मोंका सेवन करता और बुरे कर्मोंसे दूर रहता है साथ ही जो आस्तिक और श्रद्धालु है उसके वे सद्गुण पण्डित होनेके लक्षण हैं ॥ २१ ॥ क्रोध हर्ष, गर्व लज्जा उद्दण्डता तथा अपनेको पूज्य समझना—ये भाव जिसको पुरुषार्थसे भ्रष्ट नहीं करते, वही पण्डित कहलाता है ॥ २२ ॥ दूसरे लोग जिसके कर्तव्य, सलाह और पहलेसे किये हुए विचारको नहीं जानते बल्कि काम पूरा होनेपर ही जानते है, वही पण्डित कहलाता है ॥ २३ ॥ सर्दी-गर्मी भय अनुराग सम्पत्ति अथवा दरिद्रता—ये जिसके कार्यमें विघ्न नहीं डालते वही पण्डित कहलाता है ॥ २४ ॥ जिसकी लौकिक बुद्धि धर्म और अर्थका ही अनुसरण करती है और जो भोगको छोड़कर पुरुषार्थका ही वरण करता है वही पण्डित कहलाता है ॥ २५ ॥ विवेकपूर्ण बुद्धिवाले पुरुष शक्तिके अनुसार काम करनेकी इच्छा रखते हैं और करते भी हैं तथा किसी वस्तुको तुच्छ समझकर उसकी अवहेलना नहीं करते ॥ २६ ॥ विद्वान् पुरुष किसी विषयको देरतक सुनता है किंतु शीघ्र ही समझ लेता है समझकर कर्तव्यबुद्धिसे पुरुषार्थमें प्रवृत्त होता है—कामनासे नहीं बिना पूछे दूसरेके विषयमें व्यर्थ कोई बात नहीं कहता है। उसका यह स्वभाव पण्डितकी मुख्य पहचान है ॥ २७ ॥ पण्डितोंकी-सी बुद्धि रखनेवाले मनुष्य दुर्लभ वस्तुकी कामना नहीं करते खोयी हुई वस्तुके विषयमें शोक करना नहीं चाहते और विपत्तिमें पड़कर घबराते नहीं हैं ॥ २८ ॥

निश्चित्य य प्रक्रमते नान्तर्वसति कर्मण ।
अबन्ध्यकालो वश्यात्मा स वै पण्डित उच्यते॥ २९॥

आर्यकर्मणि रज्यन्ते भूतिकर्माणि कुर्वते।
हित च नाभ्यसूयन्ति पण्डिता भरतर्षभ॥ ३०॥

न हृष्यत्यात्मसम्माने नावमानेन तप्यते।
गाङ्गो ह्रद इवाक्षोभ्यो य स पण्डित उच्यते॥ ३१॥

तत्त्वज्ञ सर्वभूताना योगज्ञ सर्वकर्मणाम्।
उपायज्ञो मनुष्याणा नर पण्डित उच्यते॥ ३२॥

प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान्।
आशु ग्रन्थस्य वक्ता च य स पण्डित उच्यते॥ ३३॥

श्रुत प्रज्ञानुग यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा।
असम्भिन्नार्यमर्याद पण्डिताख्या लभेत स ॥ ३४॥

अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामना ।
अर्थांश्चाकर्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधै ॥ ३५॥

स्वमर्थं य परित्यज्य परार्थमनुतिष्ठति।
मिथ्या चरति मित्रार्थे यश्च मूढ स उच्यते॥ ३६॥

अकामान् कामयति य कामयानान् परित्यजेत्।
बलवन्त च यो द्वेष्टि तमाहुर्मूढचेतसम्॥ ३७॥

अमित्र कुरुते मित्र मित्र द्वेष्टि हिनस्ति च।
कर्म चारभते दुष्ट तमाहुर्मूढचेतसम्॥ ३८॥

ससारयति कृत्यानि सर्वत्र विचिकित्सते।
चिर करोति क्षिप्रार्थे स मूढा भरतर्षभ॥ ३९॥

श्राद्ध पितृभ्यो न ददाति दैवतानि न चार्चति।
सुहृन्मित्र न लभते तमाहुर्मूढचेतसम्॥ ४०॥

अनाहूत प्रविशति अपृष्टो बहु भाषत।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधम ॥ ४१॥

जो पहले निश्चय करके फिर कार्यका आरम्भ करता हे, कार्यक बीचमे नहीं रुकता, समयका व्यर्थ नहीं जान दता और चित्तको वशमं रखता है, वही पण्डित कहलाता हे॥ २९॥ भरतकुल-भूषण! पण्डितजन श्रेष्ठ कर्मोम रुचि रखते हैं, उन्नतिके कार्य करते है तथा भलाई करनेवालाम दोष नहीं निकालते हे॥ ३०॥ जो अपना आदर होनेपर हर्षके मारे फूल नहीं उठता अनादरस सतप्त नहीं होता तथा गङ्गाजीके कुण्डके समान जिसक चित्तको क्षोभ नहीं होता, वह पण्डित कहलाता है॥ ३१॥ जा सम्पूर्ण भौतिक पदार्थोकी असलियतका ज्ञान रखनेवाला सब कार्योके करनेका ढग जाननवाला तथा मनुष्याम सबसे बढकर उपायका जानकार है, वही मनुष्य पण्डित कहलाता हे॥ ३२॥ जिसकी वाणी कहीं रुकती नहीं जा विचित्र ढगसे वातचीत करता हे, तर्कम निपुण ओर प्रतिभाशाली है तथा जा ग्रन्थक तात्पर्यको शीघ्र वता सकता है, वही पण्डित कहलाता है॥ ३३॥ जिसकी विद्या बुद्धिका अनुसरण करती ह और बुद्धि विद्याका तथा जो शिष्ट पुरुषोकी मर्यादाका उल्लङ्घन नहा करता, वही 'पण्डित' की पदवी पा सकता है॥ ३४॥ बिना पढ ही गर्व करनेवाले दरिद्र हाकर भी बड-बड मनसूबे बाँधनेवाले और बिना काम किये ही धन पानेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यको पण्डितलाग मूर्ख कहत हे॥ ३५॥ जो अपना कर्तव्य छोडकर दूसरेके कर्तव्यका पालन करता हे तथा मित्रके साथ असत् आचरण करता है, वह मूर्ख कहलाता है॥ ३६॥ जो न चाहनेवालाको चाहता हे ओर चाहनेवालाको त्याग देता है तथा जो अपनस बलवान्के साथ बेर बाँधता है, उसे 'मूढ विचारका मनुष्य' कहते हे॥ ३७॥ जो शत्रुको मित्र बनाता आर मित्रसे द्वेष करते हुए उस कष्ट पहुँचाता है तथा सदा बुरे कर्मोका आरम्भ किया करता ह, उसे 'मूढ चित्तवाला' कहत है॥ ३८॥ भरतश्रेष्ठ! जो अपन कामाको व्यर्थ ही फलाता है सवत्र सदेह करता है तथा शीघ्र होनेवाले कामम भी दर लगाता हे, वह मूढ है॥ ३९॥ जो पितरोंका श्राद्ध और दवताओका पूजन नहीं करता तथा जिसे सुहृद् मित्र नहीं मिलता उस 'मूढ चित्तवाला' कहते हैं॥ ४०॥ मूढ चित्तवाला अधम मनुष्य विना बुलाये ही भीतर चला आता है विना पूछ ही बहुत बोलता है तथा अविश्वसनीय मनुष्यापर भी विश्वास करता है॥ ४१॥

पर क्षिपति दोपेण वर्तमान स्वय तथा।
यश्च कुध्यत्यनीशान स च मूढतमो नर ॥ ४२॥

स्वय दोपयुक्त वर्ताव करते हुए भी जा दूसरपर उसक दोप बताकर आक्षेप करता है तथा जा असमर्थ हात हुए भी व्यर्थका क्राध करता ह, वह मनुष्य महामूख ह॥ ४२॥

आत्मनो बलमज्ञाय धर्मार्थपरिवर्जितम्।
अलभ्यमिच्छन्नैष्कर्म्यान्मूढबुद्धिरिहोच्यत ॥ ४३॥

जा अपने बलको न समझकर विना काम किये हा धर्म और अर्थसे विरुद्ध तथा न पाने याग्य वस्तुकी इच्छा करता हे, वह पुरुप इस ससारम 'मूढबुद्धि' कहलाता ह॥ ४३॥

अशिष्य शास्ति यो राजन् यश्च शून्यमुपासते *।
कदर्यं भजते यश्च तमाहुर्मूढचेतसम्॥ ४४॥

राजन्! जो अनधिकारीको उपदेश देता आर शून्यकी उपासना करता हे तथा जो कृपणका आश्रय लता हे, उस मूढ चित्तवाला कहते हे॥ ४४॥

अर्थं महान्तमासाद्य विद्यामैश्वर्यमव वा।
विचरत्यसमुन्नद्धो य स पण्डित उच्यते॥ ४५॥

जो बहुत धन, विद्या तथा ऐश्वर्यको पाकर भी इठलाता नहीं चलता, वह पण्डित कहलाता हे॥ ४५॥

एक सम्पन्नमश्नाति वस्ते वासश्च शोभनम्।
योऽसविभज्य भृत्येभ्य को नृशसतरस्तत ॥ ४६॥

जा अपने द्वारा भरण-पापणके याग्य व्यक्तियोको बाँटे विना अकेले ही उत्तम भाजन करता और अच्छा वस्त्र पहनता हैं, उसस बढकर क्रूर कौन होगा॥४६॥

एक पापानि कुरुते फल भुङ्क्ते महाजन ।
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्ता दोपेण लिप्यते॥ ४७॥

मनुष्य अकेला पाप करता है और बहुत-से लोग उससे मोज उडाते हें। मोज उडानेवाले तो छूट जाते हें, पर उसका कर्ता ही दोपका भागी हाता है॥ ४७॥

एक हन्यान्न वा हन्यादिपुर्मुक्तो धनुष्मता।
बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टा हन्याद् राष्ट्र सराजकम्॥ ४८॥

किसी धनुर्धर वीरके द्वारा छाडा हुआ बाण सम्भव ह एकको भी मारे या न मारे। मगर बुद्धिमान्‌द्वारा प्रयुक्त की हुई बुद्धि राजाके साथ-साथ सम्पूर्ण राष्ट्रका विनाश कर सकती है॥ ४८॥

एकया द्वे विनिश्चित्य त्रींश्चतुर्भिर्वशे कुरु।
पञ्च जित्वा विदित्वा पद् सप्त हित्वा सुखी भव॥ ४९॥

एक (बुद्धि)-से दो (कर्तव्य आर अकर्तव्य) का निश्चय करके चार (साम, दान, भेद, दण्ड)-स तीन (शत्रु, मित्र तथा उदासीन)-को वशम कीजिये। पाँच (इन्द्रियो)-को जीतकर छ (सन्धि विग्रह, यान आसन द्वैधीभाव और समाश्रयरूप) गुणाको जानकर तथा सात (स्त्री, जूआ, मृगया, मद्य, कठोर वचन, दण्डकी कठारता आर अन्यायसे धनका उपार्जन)-को छाडकर सुखी हा जाइये॥४९॥

एक विषरसो हन्ति शस्त्रेणैकश्च वध्यत।
सराष्ट्र सप्रज हन्ति राजान मन्त्रविप्लव ॥ ५०॥

विपका रस एक (पीनेवाले)-का हा मारता है शस्त्रसे एकका ही वध होता ह, किंतु मन्त्रका फूटना राष्ट्र और प्रजाके साथ ही राजाका भी विनाश कर डालता है॥ ५०॥

एक स्वादु न भुञ्जीत एकश्चार्थान्न चिन्तयेत्।
एको न गच्छेदध्वान नैक सुप्तेपु जागृयात्॥ ५१॥

अकले स्वादिष्ट भोजन न कर अकला किसी विपयका निश्चय न करे अक्ला रास्ता न चल और बहुत से लाग सोये हा ता उनम अकला न जागता रह॥ ५१॥

एकमेवाद्वितीय तद् यद् राजन्नावबुध्यस।
सत्य स्वर्गस्य सापान पारावारस्य नौरिव॥ ५२॥

राजन्! जैसे समुद्रके पार जानेके लिये नाव हा एकमात्र साधन है उसी प्रकार स्वगक लिय सत्य ही एकमात्र सापान है, दूसरा नहीं, किंतु आप इसे नहीं समझ रह हैं॥ ५२॥

एक क्षमावता दोपो द्वितीयो नोपपद्यत।
यदेन क्षमया युक्तमशक्त मन्यते जन ॥ ५३॥

क्षमाशील पुरुपाम एक ही दोपका आराप हाता है दूसरका ता सम्भावना ही नहीं है। वह दोप यह है कि क्षमाशील मनुष्यको लोग असमर्थ समझ लते हैं— ॥ ५३॥

* यहाँ उपास्ते के स्थानपर 'उपासते' यह प्रयाग आर्प समझना चाहिये।

सोऽस्य दोषो न मन्तव्य क्षमा हि परम बलम्।
क्षमा गुणो ह्यशक्ताना शक्ताना भूषण क्षमा॥५४॥

क्षमा वशीकृतिर्लोक क्षमया कि न साध्यते।
शान्तिखड्ग करे यस्य कि करिष्यति दुर्जन ॥५५॥

अतृणे पतितो वह्नि स्वयमेवापशाम्यति।
अक्षमावान् पर दोषैरात्मान चैव योजयेत्॥५६॥

एको धर्म पर श्रेय क्षमैका शान्तिरुत्तमा।
विद्यैका परमा तृप्तिरहिंसैका सुखावहा॥५७॥

द्वाविमौ ग्रसते भूमि सर्पो बिलेशयानिव।
राजान चाविरोद्धार ब्राह्मण चाप्रवासिनम्॥५८॥

द्वे कर्मणी नर कुर्वन्नस्मिल्लोके विरोचते।
अब्रुवन् परुष किञ्चिदसतोऽनर्चयस्तथा॥५९॥

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र परप्रत्ययकारिणौ।
स्त्रिय कामितकामिन्यो लोक पूजितपूजक ॥६०॥

द्वाविमौ कण्टकौ तीक्ष्णौ शरीरपरिशोषिणौ।
यश्चाधन कामयते यश्च कुप्यत्यनीश्वर ॥६१॥

द्वावेव न विराजेते विपरीतेन कर्मणा।
गृहस्थश्च निरारम्भ कार्यवाश्चैव भिक्षुक ॥६२॥

द्वाविमौ पुरुषौ राजन् स्वर्गस्योपरि तिष्ठत ।
प्रभुश्च क्षमया युक्तो दरिद्रश्च प्रदानवान्॥६३॥

न्यायागतस्य द्रव्यस्य बोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ।
अपात्रे प्रतिपत्तिश्च पात्रे चाप्रतिपादनम्॥६४॥

द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ गले बध्वा दृढा शिलाम्।
धनवन्तमदातार दरिद्र चातपस्विनम्॥६५॥

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हत ॥६६॥

त्रयो न्याया मनुष्याणा श्रूयन्ते भरतर्षभ।
कनीयान् मध्यम श्रेष्ठ इति वेदविदो विदु ॥६७॥

—किंतु क्षमाशील पुरुषका वह दोष नहीं मानना चाहिये, क्योंकि क्षमा बहुत बडा बल है। क्षमा असमर्थ मनुष्योका गुण तथा समर्थोंका भूषण है॥ ५४॥ इस जगत्मे क्षमा वशीकरणरूप है। भला क्षमासे क्या नहीं सिद्ध होता? जिसके हाथमे शान्तिरूपी तलवार है, उसका दुष्ट पुरुष क्या कर लेगा?॥ ५५॥ तृणरहित स्थानमे गिरी हुई आग अपने-आप बुझ जाती है। क्षमाहीन पुरुष अपनेको तथा दूसरेको भी दोषका भागी बना लेता है॥ ५६॥ केवल धर्म ही परम कल्याणकारक है एकमात्र क्षमा ही शान्तिका सर्वश्रेष्ठ उपाय है। एक विद्या ही परम संतोष देनेवाली है और एकमात्र अहिंसा ही सुख देनेवाली है॥ ५७॥ बिलमे रहनेवाले मेढक आदि जीवोको जैसे साँप खा जाता है उसी प्रकार यह पृथ्वी शत्रुसे विरोध न करनेवाले राजा और परदेश-सेवन न करनेवाले ब्राह्मण—इन दोनोको खा जाती है ॥५८॥ जरा भी कठोर न बोलना और दुष्ट पुरुषोका आदर न करना—इन दो कर्मोको करनेवाला मनुष्य इस लोकमे विशेष शोभा पाता है॥ ५९॥ दूसरी स्त्रीद्वारा चाहे गये पुरुषकी कामना करनेवाली स्त्रियाँ तथा दूसरोके द्वारा पूजित मनुष्यका आदर करनेवाले पुरुष—ये दो प्रकारके लोग दूसरोपर विश्वास करके चलनेवाले हैं॥ ६०॥ जो निर्धन होकर भी बहुमूल्य वस्तुकी इच्छा रखता और असमर्थ होकर भी क्रोध करता है—ये दोनो ही अपने शरीरको सुखा देनेवाले काँटोके समान हैं॥ ६१॥ दो ही अपने विपरीत कर्मके कारण शोभा नहीं पाते—अकर्मण्य गृहस्थ और प्रपञ्चमे लगा हुआ संन्यासी॥ ६२॥ राजन्! ये दो प्रकारके पुरुष स्वर्गके भी ऊपर स्थान पाते हैं—शक्तिशाली होनेपर भी क्षमा करनेवाला और निर्धन होनेपर भी दान देनेवाला॥ ६३॥ न्यायपूर्वक उपार्जित किये हुए धनके दो ही दुरुपयोग समझने चाहिये—अपात्रको देना और सत्पात्रको न देना॥ ६४॥ जो धनी होनेपर भी दान न दे और दरिद्र होनेपर भी कष्ट सहन न कर सके—इन दो प्रकारके मनुष्योको गलेमे मजबूत पत्थर बाँधकर पानीमे डुबा देना चाहिये॥ ६५॥ पुरुषश्रेष्ठ! ये दो प्रकारके पुरुष सूर्यमण्डलको भेदकर ऊर्ध्वगतिको प्राप्त होते हैं—योगयुक्त संन्यासी और संग्राममें लोहा लेते हुए मारा गया योद्धा॥ ६६॥ भरतश्रेष्ठ! मनुष्योका कार्यसिद्धिके लिये उत्तम मध्यम और अधम—ये तीन प्रकारके न्यायानुकूल उपाय सुने जाते हैं ऐसा वेदवेत्ता विद्वान् जानते हैं॥ ६७॥

त्रिविधा पुरुषा राजन्नुत्तमाधममध्यमा ।
नियोजयद् यथावत् तास्त्रिविधष्वेव कर्मसु॥ ६८॥
त्रय एवाधना राजन् भाया दासस्तथा सुत ।
यत् ते समधिगच्छन्ति यस्य त तस्य तद्धनम्॥ ६९॥
हरण च परस्वाना परदाराभिमर्शनम्।
सुहृदश्च परित्यागस्त्रया दोषा क्षयावहा ॥ ७०॥
त्रिविध नरकस्यद द्वार नाशनमात्मन ।
काम क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादतत् त्रय त्यजत्॥ ७१॥
वरप्रदान राज्य च पुत्रजन्म च भारत।
शत्रोश्च मोक्षण कृच्छ्रात् त्रीणि चैक च तत्समम्॥ ७२॥
भक्त च भजमान च तवास्मीति च वादिनम्।
त्रीनताश्छरण प्राप्तान् विषमऽपि न सत्यजत्॥ ७३॥
चत्वारि राज्ञा तु महाबलेन
वर्ज्यान्याहु पण्डितस्तानि विद्यात्।
अल्पप्रज्ञै सह मन्त्र न कुर्या-
न्न दीर्घसूत्रै रभसैश्चारणैश्च॥ ७४॥
चत्वारि त तात गृह वसन्तु
श्रियाभिजुष्टस्य गृहस्थधर्मे।
वृद्धा ज्ञातिरवसन्न कुलीन
सखा दरिद्रा भगिनी चानपत्या॥ ७५॥
चत्वार्याह महाराज साद्यस्कानि बृहस्पति ।
पृच्छत त्रिदशन्द्राय तानीमानि निबोध मे॥ ७६॥
दवताना च सङ्कल्पमनुभाव च धीमताम्।
विनय कृतविद्याना विनाश पापकर्मणाम्॥ ७७॥
चत्वारि कर्माण्यभयङ्कराणि
भय प्रयच्छन्त्ययथाकृतानि।
मानाग्निहोत्रमुत मानमौन
माननाधीतमुत मानयज्ञ ॥ ७८॥
पञ्चाग्नयो मनुष्यण परिचर्या प्रयत्नत ।
पिता माताग्निरात्मा च गुरुश्च भरतर्षभ॥ ७९॥
पञ्चैव पूजयँल्लोके यश प्राप्नोति कवलम्।
दवान् पितॄन् मनुष्याश्च भिक्षूनतिथिपञ्चमान्॥ ८०॥
पञ्च त्वानुगमिष्यन्ति यत्र यत्र गमिष्यसि।
मित्राण्यमित्रा मध्यस्था उपजीव्यापजीविन ॥ ८१॥

राजन्! उत्तम, मध्यम और अधम—य तीन प्रकारक पुरुष हात हैं, इनको यथायोग्य तीन ही प्रकारक कर्मोंमें लगाना चाहिये॥ ६८॥ राजन्! तीन ही धनक अधिकारी नहीं माने जाते—स्त्री, पुत्र तथा दास। य जो कुछ कमाते हैं वह धन उसीका होता है जिसक अधीन य रहते हैं॥ ६९॥ दूसरक धनका हरण दूसरकी स्त्रीसे ससर्ग तथा सुहृद्—मित्रका परित्याग—ये तीनों ही दोष नाश करनेवाले होते हैं॥ ७०॥ काम क्रोध और लोभ—य आत्माका नाश करनेवाले नरकके तीन दरवाजे हैं अत इन तीनोंका त्याग देना चाहिये॥ ७१॥ भारत! वरदान पाना राज्यकी प्राप्ति और पुत्रका जन्म—य तीन एक ओर और शत्रुके कष्टसे छूटना—यह एक तरफ, व तीन और यह एक बराबर ही हैं॥ ७२॥ भक्त सेवक तथा मैं आपका ही हूँ ऐसा कहनेवाले—इन तीन प्रकारक शरणागत मनुष्योंको सकट पडनेपर भी नहीं छोडना चाहिये॥ ७३॥ थोडी बुद्धिवाले दीर्घसूत्री, जल्दबाज और स्तुति करनेवाले लोगोंके साथ गुप्त सलाह नहीं करनी चाहिये—ये चारों महाबली राजाके लिये त्यागने योग्य बताये गये हैं। विद्वान् पुरुष ऐसे लोगोंको पहचान ले॥ ७४॥ तात! गृहस्थ-धर्ममें स्थित लक्ष्मीवान् आपके घरमें चार प्रकारके मनुष्योंको सदा रहना चाहिये—अपने कुटुम्बका बूढा सकटमें पडा हुआ उच्च कुलका मनुष्य धनहीन मित्र और बिना सतानकी बहिन॥ ७५॥ महाराज! इन्द्रके पूछनेपर उनसे बृहस्पतिजीने जिन चारोंको तत्काल फल देनेवाला बताया था, उन्हें आप मुझसे सुनिये— ॥ ७६॥ दवताओंका सङ्कल्प बुद्धिमानोंका प्रभाव विद्वानोंकी नम्रता और पापियोंका विनाश॥ ७७॥ चार कर्म भयको दूर करनेवाले हैं किंतु वे ही यदि ठीक तरहसे सम्पादित न हों तो भय प्रदान करते हैं। व कर्म हैं—आदरके साथ अग्निहोत्र, आदरपूर्वक मौनका पालन आदरपूर्वक स्वाध्याय और आदरके साथ यज्ञका अनुष्ठान॥ ७८॥ भरतश्रेष्ठ! पिता, माता, अग्नि आत्मा और गुरु—मनुष्यको इन पाँच अग्नियोंकी बडे यत्नसे सेवा करनी चाहिये॥ ७९॥ दवता पितर, मनुष्य सन्यासी और अतिथि—इन पाँचोंकी पूजा करनेवाला मनुष्य शुद्ध यश प्राप्त करता है॥ ८०॥ राजन्! आप जहाँ-जहाँ जायँगे वहाँ-वहाँ मित्र-शत्रु उदासीन आश्रय देनेवाले तथा आश्रय पानेवाले—य पाँच आपके पीछे लगे रहेंगे॥ ८१॥

पञ्चेन्द्रियस्य मर्त्यस्यच्छिद्रं चेदेकमिन्द्रियम्।
ततोऽस्य स्रवति प्रज्ञा दृते पात्रादिवोदकम्॥ ८२॥

षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता॥ ८३॥

षडिमान् पुरुषो जह्याद् भिन्नां नावमिवार्णवे।
अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम्॥ ८४॥

अरक्षितारं राजानं भार्यां चाप्रियवादिनीम्।
ग्रामकामं च गोपालं वनकामं च नापितम्॥ ८५॥

षडेव तु गुणाः पुंसा न हातव्याः कदाचन।
सत्यं दानमनालस्यमनसूया क्षमा धृतिः॥ ८६॥

अर्थागमो नित्यमरोगिता च
प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन्॥ ८७॥

षण्णामात्मनि नित्यानामैश्वर्यं योऽधिगच्छति।
न स पापैः कुतोऽनर्थैर्युज्यते विजितेन्द्रियः॥ ८८॥

षडिमे षट्सु जीवन्ति सप्तमो नोपलभ्यते।
चौराः प्रमत्ते जीवन्ति व्याधितेषु चिकित्सकाः॥ ८९॥

प्रमदाः कामयानेषु यजमानेषु याजकाः।
राजा विवदमानेषु नित्यं मूर्खेषु पण्डिताः॥ ९०॥

षडिमानि विनश्यन्ति मुहूर्तमनवेक्षणात्।
गावः सेवा कृषिर्भार्या विद्या वृषलसंगतिः॥ ९१॥

षडेते ह्यवमन्यन्ते नित्यं पूर्वोपकारिणम्।
आचार्यं शिक्षिताः शिष्याः कृतदाराश्च मातरम्॥ ९२॥

नारीं विगतकामास्तु कृतार्थाश्च प्रयोजकम्।
नावं निस्तीर्णकान्तारा आतुराश्च चिकित्सकम्॥ ९३॥

आरोग्यमानृण्यमविप्रवासः
सद्भिर्मनुष्यैः सह सम्प्रयोगः।
स्वप्रत्यया वृत्तिरभीतवासः
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन्॥ ९४॥

पाँच ज्ञानेन्द्रियोंवाले पुरुषकी यदि एक भी इन्द्रिय छिद्र (दोष)-युक्त हो जाय तो उससे उसकी बुद्धि इस प्रकार बाहर निकल जाती है, जैसे मशकके छेदसे पानी॥ ८२॥ ऐश्वर्य या उन्नति चाहनेवाले पुरुषोंको नींद, तन्द्रा (ऊँघना), डर, क्रोध, आलस्य तथा दीर्घसूत्रता (जल्दी हो जानेवाले काममें अधिक देर लगानेकी आदत)— इन छः दुर्गुणोंको त्याग देना चाहिये॥ ८३॥ उपदेश न देनेवाले आचार्य, मन्त्रोच्चारण न करनेवाले होता, रक्षा करनेमें असमर्थ राजा, कटु वचन बोलनेवाली स्त्री, गाँवमें रहनेकी इच्छावाले ग्वाले तथा वनमें रहनेकी इच्छावाले नाई—इन छः को उसी भाँति छोड़ दे, जैसे समुद्रकी सैर करनेवाला मनुष्य फटी हुई नावका परित्याग कर देता है॥ ८४-८५॥ मनुष्यको कभी भी सत्य, दान, कर्मण्यता, अनसूया (गुणोंमें दोष दिखानेकी प्रवृत्तिका अभाव), क्षमा तथा धैर्य—इन छः गुणोंका त्याग नहीं करना चाहिये॥ ८६॥ राजन्! धनकी आय, नित्य नीरोग रहना, स्त्रीका अनुकूल तथा प्रियवादिनी होना, पुत्रका आज्ञाके अंदर रहना तथा धन पैदा करनेवाली विद्याका ज्ञान—ये छः बातें इस मनुष्यलोकमें सुखदायिनी होती हैं॥ ८७॥ मनमें नित्य रहनेवाले छः शत्रु—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मात्सर्यको जो वशमें कर लेता है, वह जितेन्द्रिय पुरुष पापोंसे ही लिप्त नहीं होता, फिर उनसे उत्पन्न होनेवाले अनर्थोंकी तो बात ही क्या है॥ ८८॥ निम्नाङ्कित छः प्रकारके मनुष्य छः प्रकारके लोगोंसे अपनी जीविका चलाते हैं, सातवेंकी उपलब्धि नहीं होती। चोर असावधान पुरुषसे, वैद्य रोगीसे, मतवाली स्त्रियाँ कामियोंसे, पुरोहित यजमानोंसे, राजा झगड़नेवालोंसे तथा विद्वान् पुरुष मूर्खोंसे अपनी जीविका चलाते हैं॥ ८९-९०॥ क्षणभर भी देख-रेख न करनेसे गौ, सेवा, खेती, स्त्री, विद्या तथा शूद्रोंसे मेल—ये छः चीजें नष्ट हो जाती हैं॥ ९१॥ ये छः सदा अपने पूर्व उपकारीका अनादर करते हैं—शिक्षा समाप्त हो जानेपर शिष्य आचार्यका, विवाहित बेटे माताका, कामवासनाकी शान्ति हो जानेपर पुरुष स्त्रीका, कृतकार्य मनुष्य सहायकका, [illegible] दुर्गम धारा पार कर लेनेवाले पुरुष नावका तथा रोगी पुरुष रोग छूटनेके बाद वैद्यका तिरस्कार कर देते हैं॥ ९२-९३॥ राजन्! नीरोग रहना, [illegible] न होना, परदेशमें न रहना, अच्छे लोगोंके साथ मेल होना, अपनी [illegible] जीविका चलाना और निडर होकर रहना—ये छः मनुष्यलोकके सुख हैं॥ ९४॥

ईर्ष्यी घृणी न सन्तुष्ट क्रोधनो नित्यशङ्कित ।
परभाग्यापजीवी च षडेते नित्यदु खिता ॥ ९५ ॥
सप्त दोषा सदा राज्ञा हातव्या व्यसनोदया ।
प्रायशो यैर्विनश्यन्ति कृतमूला अपीश्वरा ॥ ९६ ॥
स्त्रियोऽक्षा मृगया पान वाक्पारुष्य च पञ्चमम्।
महच्च दण्डपारुष्यमर्थदूषणमेव च ॥ ९७ ॥
अष्टौ पूर्वनिमित्तानि नरस्य विनशिष्यत ।
ब्राह्मणान् प्रथम द्वेष्टि ब्राह्मणैश्च विरुध्यत ॥ ९८ ॥
ब्राह्मणस्वानि चादत्ते ब्राह्मणाश्च जिघामति।
रमते निन्दया चैषा प्रशसा नाभिनन्दति ॥ ९९ ॥
नैनान् स्मरति कृत्येषु याचितश्चाभ्यसूयति।
एतान् दोषान् नर. प्राज्ञो बुध्येद् बुद्ध्वा विसर्जयेत् ॥१०० ॥
अष्टाविमानि हर्षस्य नवनीतानि भारत।
वर्तमानानि दृश्यन्ते तान्येव स्वसुखान्यपि ॥ १०१ ॥
समागमश्च सखिभिर्महाश्चैव धनागम ।
पुत्रेण च परिष्वङ्ग सनिपातश्च मैथुने ॥ १०२ ॥
समये च प्रियालाप स्वयूथ्येषु समुन्नति ।
अभिप्रेतस्य लाभश्च पूजा च जनससदि ॥ १०३ ॥
अष्टौ गुणा पुरुष दीपयन्ति
प्रज्ञा च कौल्य च दम श्रुत च।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च
दान यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥ १०४ ॥
नवद्वारमिद वेश्म त्रिस्थूण पञ्चसाक्षिकम्।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठित विद्वान् यो वेद स पर कवि ॥ १०५ ॥
दश धर्म न जानन्ति धृतराष्ट्र निबोध तान्।
मत्त प्रमत्त उन्मत्त श्रान्त क्रुद्धो बुभुक्षित ॥ १०६ ॥
त्वरमाणश्च लुब्धश्च भीत कामी च ते दश।
तस्मादेतेषु सर्वेषु न प्रसज्जेत पण्डित ॥ १०७ ॥
अत्रैवोदाहरन्तीममितिहास पुरातनम्।
पुत्रार्थमसुरेन्द्रेण गीत चैव सुधन्वना ॥ १०८ ॥
य काममन्यू प्रजहाति राजा
पात्रे प्रतिष्ठापयत धन च।
विशेषविच्छ्रुतवान् क्षिप्रकारी
त सर्वलाक कुरुते प्रमाणम् ॥ १०९ ॥

ईर्ष्या करनेवाला, घृणा करनेवाला असतोषी, क्रोधी, सदा शङ्कित रहनेवाला और दूसरेके भाग्यपर जीवन-निर्वाह करनेवाला—ये छ सदा दु खी रहते हैं ॥ ९५ ॥ स्त्रीविषयक आसक्ति, जूआ शिकार मद्यपान वचनकी कठोरता अत्यन्त कठोर दण्ड देना और धनका दुरुपयोग करना—ये सात दु खदायी दोष राजाको सदा त्याग देने चाहिये। इनसे दृढमूल राजा भी प्राय नष्ट हो जाते हैं ॥ ९६-९७ ॥ विनाशके मुखमे पडनेवाले मनुष्यके आठ पूर्वचिह्न हैं—प्रथम तो वह ब्राह्मणोसे द्वेष करता है, फिर उनके विरोधका पात्र बनता है, ब्राह्मणोका धन हडप लेता है उनको मारना चाहता है, ब्राह्मणोंकी निन्दामे आनन्द मानता है उनकी प्रशसा सुनना नहीं चाहता यज्ञ-यागादिमे उनका स्मरण नहीं करता तथा कुछ माँगनेपर उनमे दोष निकालने लगता है—इन सब दोषोंको बुद्धिमान् मनुष्य समझे और समझकर त्याग दे ॥ ९८—१०० ॥ भारत! मित्रोसे समागम, अधिक धनकी प्राप्ति, पुत्रका आलिङ्गन, मैथुनमे प्रवृत्ति, समयपर प्रिय वचन बोलना, अपने वर्गके लोगोमे उन्नति, अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति और जनसमाजमे सम्मान—ये आठ हर्षके सार दिखायी देते हैं और ये ही अपने लौकिक सुखके भी साधन होते हैं ॥ १०१—१०३ ॥ बुद्धि कुलीनता, इन्द्रियनिग्रह शास्त्रज्ञान, पराक्रम, अधिक न बोलना, शक्तिके अनुसार दान और कृतज्ञता—ये आठ गुण पुरुषकी ख्याति बढा देते हैं ॥ १०४ ॥ जो विद्वान् पुरुष [आँख कान आदि] नौ दरवाजेवाले, तीन (वात, पित्त कफरूपी) खम्भोवाले, पाँच (ज्ञानेन्द्रियरूप) साक्षीवाले आत्माके निवासस्थान इस शरीररूपी गृहको जानता है, वह बहुत बडा ज्ञानी है ॥ १०५ ॥ महाराज धृतराष्ट्र! दस प्रकारके लोग धर्मको नहीं जानते उनके नाम सुनो। नशेमे मतवाला, असावधान पागल थका हुआ क्रोधी भूखा जल्दबाज लोभी, भयभीत और कामी—ये दस हैं। अत इन सब लोगोमे विद्वान् पुरुष आसक्ति न बढावे ॥ १०६-१०७ ॥ इसी विषयमे असुरोके राजा प्रह्लादने सुधन्वाके साथ अपने पुत्रके प्रति कुछ उपदेश दिया था। नीतिज्ञ लोग उस पुराने इतिहासका उदाहरण देते हैं ॥ १०८ ॥ जो राजा काम और क्रोधका त्याग करता है और सुपात्रको धन देता है विशेषज्ञ है शास्त्रोंका ज्ञाता और कर्तव्यको शीघ्र पूरा करनेवाला है, उसे सब लोग प्रमाण मानते हैं ॥ १०९ ॥

जानाति विश्वासयितु मनुष्यान्
विज्ञातदोषेषु दधाति दण्डम्।
जानाति मात्रा च तथा क्षमा च
त तादृश श्रीर्जुषते समग्रा॥ ११०॥
सुदुर्बल नावजानाति कञ्चिद्
युक्तो रिपु सेवते बुद्धिपूर्वम्।
न विग्रह रोचयते बलस्थै
काल च यो विक्रमते स धीर ॥ १११॥
प्राप्यापद न व्यथते कदाचि-
दुद्योगमन्विच्छति चाप्रमत्त ।
दु ख च काले सहते महात्मा
धुरन्धरस्तस्य जिता सपत्ना ॥ ११२॥
अनर्थक विप्रवास गृहेभ्य
पापै सन्धि परदाराभिमर्शम्।
दम्भ स्तैन्य पैशुन मद्यपान
न सवते यश्च सुखी सदैव॥ ११३॥
न सरम्भेणारभते त्रिवर्ग-
माकारित शसति तत्त्वमेव।
न मित्रार्थे रोचयते विवाद
नापूजित कुप्यति चाप्यमूढ ॥ ११४॥
न योऽभ्यसूयत्यनुकम्पते च
न दुर्बल प्रातिभाव्य करोति।
नात्याह किञ्चित् क्षमते विवाद
सर्वत्र तादृग् लभते प्रशसाम्॥ ११५॥
यो नाद्धत कुरुते जातु वेष
न पौरुषणापि विकत्थतेऽन्यान्।
न मूर्च्छित कटुकान्याह किञ्चित्
प्रिय सदा त कुरुते जनो हि॥ ११६॥
न वैरमुद्दीपयति प्रशान्त
न दर्पमारोहति नास्तमेति।
न दुर्गतोऽस्मीति करात्यकार्यं
तमार्यशील परमाहुरार्या ॥ ११७॥
न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं
नान्यस्य दु खे भवति प्रहृष्ट ।
दत्त्वा न पश्चात् कुरुतेऽनुताप
स कथ्यते सत्पुरुषार्यशील ॥ ११८॥
देशाचारान् समयाञ्जातिधर्मान्
बुभूषत य स परावरज्ञ ।
स यत्र तत्राभिगत सदैव
महाजनस्याधिपत्य करोति॥ ११९॥

जो मनुष्यामे विश्वास उत्पन्न करना जानता है जिनका अपराध प्रमाणित हो गया ह, उन्हींको दण्ड देता ह, जो दण्ड देनेकी न्यूनाधिक मात्रा तथा क्षमाका उपयाग जानता है, उस राजाकी सेवाम सम्पूर्ण सम्पत्ति चली आती है॥ ११०॥ जो किसी दुर्बलका अपमान नहीं करता सदा सावधान रहकर शत्रुके साथ बुद्धिपूर्वक व्यवहार करता ह, बलवानाक साथ युद्ध पसद नहीं करता तथा समय आनेपर पराक्रम दिखाता हे, वही धीर है॥ १११॥ जो धुरन्धर महापुरुष आपत्ति पडनेपर कभी दु खी नहीं होता, बल्कि सावधानीक साथ उद्योगका आश्रय लेता ह तथा समयपर दु ख सहता है, उसके शत्रु ता पराजित ही ह॥ ११२॥ जा निरर्थक विदेशवास पापियोसे मेल परस्त्रीगमन, पाखण्ड, चारी, चुगलखोरी तथा मदिरापान नहीं करता वह सदा सुखी रहता है॥ ११३॥ जो क्रोध या उतावलीके साथ धर्म अर्थ तथा कामका आरम्भ नहीं करता, पूछनपर यथार्थ बात ही बतलाता हे, मित्रके लिये झगडा नहीं पसद करता, आदर न पानेपर क्रुद्ध नहीं होता विवेक नहीं खो बेठता दूसराके दोष नहीं देखता, सबपर दया करता है, दुर्बल होत हुए किसीकी जमानत नहीं देता, बढकर नही बोलता तथा विवादको सह लेता है, एसा मनुष्य सब जगह प्रशसा पाता है॥ ११४-११५॥ जो कभी उद्दण्डका-सा वेष नहीं बनाता दूसराके सामने अपने पराक्रमकी भी डींग नही हॉकता क्रोधसे व्याकुल होनेपर भा कटु वचन नहीं बोलता, उस मनुष्यको लोग सदा ही प्यारा बना लेते हैं॥ ११६॥ जा शान्त हुई वेरकी आगको फिर प्रज्वलित नहीं करता गर्व नहीं करता, हीनता नहीं दिखाता तथा 'म विपत्तिम पडा हूँ,' ऐसा सोचकर अनुचित काम नहीं करता उस उत्तम आचरणवाल पुरुषको आर्यजन सर्वश्रेष्ठ कहते है॥ ११७॥ जो अपन सुखम प्रसन्न नहीं होता दूसरके दु खके समय हर्ष नहीं मानता और दान दकर पश्चात्ताप नहीं करता, वह सज्जनाम सदाचारी कहलाता है॥ ११८॥ जो मनुष्य दशके व्यवहार लोकाचार तथा जातियोके धर्मोंको जाननकी इच्छा करता है, उसे उत्तम-अधमका विवेक हो जाता ह। वह जहाँ-कहीं भी जाता है सदा महान् जनसमूहपर अपनी प्रभुता स्थापित कर लेता ह॥ ११९॥

दम्भ माह मत्सर पापकृत्य
राजद्विष्ट पैशुन पूगवैरम्।
मत्तोन्मत्तैर्दुर्जनैश्चापि वाद
य प्रज्ञावान् वजयत् स प्रधान ॥ १२० ॥
दान होम दैवत मङ्गलानि
प्रायश्चित्तान् विविधाँल्लाकवादान्।
एतानि य कुरुते नत्यकानि
तम्योत्थान देवता राधयन्ति ॥ १२१ ॥
समैर्विवाह कुरुते न हीनै
समे सख्य व्यवहार कथा च।
गुणैर्विशिष्टांश्च पुरो दधाति
विपश्चितस्तस्य नया सुनीता ॥ १२२ ॥
मित भुङ्क्ते सविभज्याश्रितेभ्यो
मित स्वपित्यमित कर्म कृत्वा।
ददात्यमित्रेष्वपि याचित स-
स्तमात्मवन्त प्रजहत्यनर्था ॥ १२३ ॥
चिकीर्षित विप्रकृत च यस्य
नान्ये जना कर्म जानन्ति किञ्चित्।
मन्त्रे गुप्ते सम्यगनुष्ठिते च
नाल्पोऽप्यस्य च्यवते कश्चिदर्थ ॥ १२४ ॥
य सर्वभूतप्रशमे निविष्ट
मत्यो मृदुर्मानकृच्छुद्धभाव ।
अतीव स ज्ञायत ज्ञातिमध्य
महामणिजात्य इव प्रसन्न ॥ १२५ ॥
य आत्मनापत्रपते भृश नर
स सर्वलोकस्य गुरुर्भवत्युत।
अनन्ततजा सुमना समाहित
स तेजसा सूर्य इवावभासते ॥ १२६ ॥
वने जाता शापदग्धस्य राज्ञ
पाण्डा पुत्रा पञ्च पञ्चेन्द्रकल्पा ।
त्वयैव बाला वर्धिता शिक्षिताश्च
तवादेश पालयन्त्याम्बिकेय ॥ १२७ ॥
प्रदायपामुचित तात राज्य
सुखी पुत्रै सहितो मादमान ।
न देवाना नापि च मानुषाणा
भविष्यसि त्व तर्कणीया नरेन्द्र ॥ १२८ ॥

जो बुद्धिमान् दम्भ माह, मात्सर्य पापकर्म, राजद्रोह चुगलखोरी, समूहसे वेर आर मतवाले, पागल तथा दुर्जनोंसे विवाद छोड देता है, वह श्रेष्ठ है ॥ १२० ॥ जो दान होम देवपूजन, माङ्गलिक कर्म प्रायश्चित तथा अनेक प्रकारके लौकिक आचार—इन नित्य किये जाने योग्य कर्मोंको करता है देवतालोग उसके अभ्युदयकी सिद्धि करते हैं ॥ १२१ ॥ जो अपने बराबरवालोंके साथ विवाह मित्रता व्यवहार तथा बातचीत करता है, हीन पुरुषोंके साथ नहीं और गुणोंमें बढे-चढे पुरुषोंको सदा आगे रखता है, उस विद्वान्‌की नीति श्रेष्ठ है ॥ १२२ ॥ जो अपने आश्रित जनोंको बाँटकर थोडा ही भोजन करता है बहुत अधिक काम करके भी थोडा सोता है तथा माँगनेपर जो मित्र नहीं है उसे भी धन देता है, उस मनस्वी पुरुषको सारे अनर्थ दूरसे ही छोड देते हैं ॥ १२३ ॥ जिसके अपनी इच्छाके अनुकूल और दूसरोंकी इच्छाके विरुद्ध कार्यको दूसरे लोग कुछ भी नहीं जान पाते मन्त्र गुप्त रहने और अभीष्ट कार्यका ठीक-ठीक सम्पादन होनेके कारण उसका थोडा भी काम बिगडने नहीं पाता ॥ १२४ ॥ जो मनुष्य सम्पूर्ण भूतोंको शान्ति प्रदान करनेमें तत्पर, सत्यवादी कोमल, दूसरोंको आदर देनेवाला तथा पवित्र विचारवाला होता है, वह अच्छी खानसे निकले और चमकते हुए श्रेष्ठ रत्नकी भाँति अपनी जातिवालोंमें अधिक प्रसिद्धि पाता है ॥ १२५ ॥ जो स्वयं ही अधिक लज्जाशील है, वह सब लोगोंमें श्रेष्ठ समझा जाता है। वह अपने अनन्त तेज, शुद्ध हृदय एव एकाग्रतासे युक्त होनेके कारण कान्तिमें सूर्यके समान शोभा पाता है ॥ १२६ ॥ अम्बिकानन्दन! शापसे दग्ध राजा पाण्डुके जो पाँच पुत्र वनमें उत्पन्न हुए, वे पाँच इन्द्रोंके समान शक्तिशाली हैं उन्हें आपहीने बचपनसे पाला और शिक्षा दी है, वे भी सदा आपकी आज्ञाका पालन करते रहते हैं ॥ १२७ ॥ तात! उन्हें उनका न्यायोचित राज्यभाग देकर आप अपने पुत्रोंके साथ आनन्द भोगिये। नरेन्द्र! ऐसा करनेपर आप देवता या मनुष्योंकी टीका-टिप्पणीके विषय नहीं रह जायँगे ॥ १२८ ॥ [क्रमश]

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये त्रयस्त्रिंशोऽध्याय ॥ ३३ ॥

महामति विदुर और उनका नीतिशास्त्र

(डॉ० श्रीभवानीलालजी भारतीय)

वाल्मीकीय रामायण तथा भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यासरचित महाभारत भारतीय वाङ्मयके दो अनमोल रत्न हैं। महाभारतके विषयमे कहा गया है—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥

(महा० आदिपर्व ६२।५३)

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इस पुरुषार्थ-चतुष्टयका जो विवेचन इस ग्रन्थमे हुआ है वही अन्यत्र भी मिलेगा, किंतु जिसका उल्लेख यहाँ नहीं हुआ है, वह अन्यत्र शायद ही मिले। धर्म अध्यात्म, नीति, लोक-परलोक कर्तव्याकर्तव्य—ये सभी मनुष्योपयोगी विषय महाभारतमें विवेचित हुए हैं। इसीलिये कहा गया है—

भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः।

महाभारतके निमित्तसे महामुनि व्यासने वेदार्थको ही इसमे निर्दिष्ट किया है।

महाभारतमे कौरव-पाण्डवोकी कथा तो प्रधान है ही, अन्यान्य उपाख्यान प्रसग एव सदर्भोंकी अवतारणा कर महर्षि व्यासने धर्म, नीति सदाचार, लोक-व्यवहार, राजधर्म-जैसे अनेक उपयोगी विषयोको भी निरूपित किया है। इसके नीतिगत उपदेश बडे ही मार्मिक है। इसी उपदेश-शृखलामे महामति विदुरद्वारा धृतराष्ट्रको जो उपदेश दिये गये, वे ही विदुरनीतिके नामसे प्रसिद्ध हो गये। महात्मा विदुरको धर्मका अवतार कहा गया है। वे अत्यन्त बुद्धिमान्, नीतिनिपुण धर्मज्ञ, व्यवहारकुशल तथा ईश्वरभक्त थे। धृतराष्ट्र पाण्डु तथा विदुर—ये तीनो भाई थे। यद्यपि धृतराष्ट्रने उन्हें अपने मन्त्रीके पदपर विभूषित किया था, किंतु पाण्डवोको धर्मपथका अनुगामी माननेके कारण विदुरकी सहानुभूति पाण्डवपक्षकी ओर ही रही। समय-समयपर उन्होने पाण्डवोकी सहायता की तथा अलक्ष्य विपत्तियोसे उन्हे बचाया। भगवान् कृष्ण और विदुरका स्नेह अतुलनीय कहा जा सकता है। जब भगवान् श्रीकृष्ण दुर्योधनसे युद्ध-विरत होने तथा पाण्डवोसे विग्रह छोडकर शान्तिपूर्वक रहनेका प्रस्ताव लेकर हस्तिनापुर गये तब दुर्योधनने उन्हे राजकीय अतिथिके रूपमे सम्मानित कर भोजनका निमन्त्रण दिया। किंतु श्रीकृष्णने उसके प्रस्तावको अस्वीकार करते हुए कहा—

सम्प्रीतिभोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुनः।
न च सम्प्रीयसे राजन् न चैवापद्गता वयम्॥

(महा० उद्योगपर्व ९१।२५)

राजन्! भोजनका प्रस्ताव दो स्थितियोमे स्वीकार किया जाता है एक तो जिससे प्रीति होती है उसके यहाँ जानेपर भोजन किया जाता है अन्यथा आपत्कालमे भोजन किया जा सकता है। प्रेम तो तुम रखते नहीं और मैं विपत्तिग्रस्त भी नही हूँ। तदनन्तर श्रीकृष्णने महामति विदुरका आतिथ्य भी स्वीकार किया और भोजन भी।

महाभारत-जैसे विशाल ग्रन्थमे नीति-तत्त्वकी चर्चा अनेक स्थलोपर आयी है। शान्तिपर्व और अनुशासनपर्व तो धर्म, नीति, अध्यात्म, सदाचार तथा कर्तव्याकर्तव्यके ज्ञानकी दृष्टिसे पठनीय एव आलोचनीय है ही, उद्योगपर्वके अन्तर्गत आठ अध्यायोकी 'विदुरनीति' इस ग्रन्थका एक महत्त्वपूर्ण अश है। जिस समय महाराज धृतराष्ट्र अपने पुत्रोके अधर्म-अनीतिमय आचरण तथा पाण्डवोके प्रति अन्यायपूर्ण आचरणकी बात सुन-सुनकर और स्वयको सर्वथा विवश जानकर सुखकी नींद नहीं सो पाते थे, उस समय अचानक उन्हे महामति विदुरका स्मरण हो आया। उन्होने विदुरको बुला लानेका आदेश द्वारपालको दिया। विदुरजीके आनेपर अपना मानसिक कष्ट उन्हे बताते हुए धृतराष्ट्रने उनसे आग्रह किया कि वे उनसे श्रेयकी बात कहें। प्रज्ञाचक्षु राजाको विदुरकी बुद्धिमत्ता तथा नीतिमत्तापर पूरा भरोसा था। इस प्रसगमे राजाने विदुरको महाप्राज्ञ दीर्घदर्शी, धर्मार्थकुशल तथा कवि-जैसे विशेषणोसे विभूषित किया। उन्होने तो यह भी स्पष्ट कह दिया कि कुरुवशियोमे आप ही विद्वानोके द्वारा माननीय हैं—

अस्मिन् राजर्षिवंशे हि त्वमेकः प्राज्ञसम्मतः॥

(विदुरनीति १।१५)

राजाके मानसिक कष्ट तथा आत्मग्लानिसे उत्पन्न पीडाका अनुभवकर महामति विदुरने अपने अग्रजको

जो नीतिसम्मत उपदेश दिये, वे ही विदुरनीतिके आठ अध्यायोंमें समाविष्ट हुए हैं। आरम्भमें विदुरजी पण्डितके लक्षण बतलाकर पुनः मूढ़के लक्षण भी बताते हुए स्पष्ट कहते हैं—

अमित्रं कुरुते मित्रं मित्रं द्वेष्टि हिनस्ति च।
कर्म चारभते दुष्टं तमाहुर्मूढचेतसम्॥
(१।३८)

जो शत्रुको मित्र बनाता है और मित्रसे द्वेष करते हुए उसकी हानि करता है तथा दुष्ट कर्मोंमें लगा रहता है वह मूढ़चित्तवाला है।

महात्मा विदुरकी दृष्टिमें नरकके तीन द्वार हैं—काम, क्रोध तथा लोभ। घरमें चार प्रकारके लोगोंका निरन्तर वास हितकर होता है—कुल-वृद्ध, संकटग्रस्त कुलीन, धनहीन मित्र तथा निःसंतान बहिन। देवता, पितर, मनुष्य, संन्यासी और अतिथि—इनका सत्कार करनेवाला मनुष्य यशका भागी होता है। ऐश्वर्य और उन्नति चाहनेवालोंको इन छहोंका परित्याग कर देना चाहिये—निद्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस्य तथा दीर्घसूत्रता (देर करनेकी आदत)। एक स्थानपर विदुर यह भी कहते हैं कि धनकी प्राप्ति, नीरोगता, अनुकूल तथा प्रियवादिनी पत्नी, आज्ञाकारी पुत्र तथा अर्थकारी विद्या—ये छः मनुष्यके लिये सुखकारी होते हैं। राजाके लिये ये सात दोष—विषयासक्ति, शिकार, जुआ खेलना, मद्यपान, कठोर वचन बोलना, कठोर दण्ड देना तथा धनका दुरुपयोग—त्याज्य बताये गये हैं। आठ गुण मनुष्यको दीप्तियुक्त करते हैं—बुद्धि, कुलीनता, इन्द्रिय-संयम, शास्त्र-ज्ञान, पराक्रम, अधिक न बोलना (वाक्संयम), यथाशक्ति दान तथा कृतज्ञताका भाव।

विदुरनीतिके दूसरे अध्यायमें मुख्यतः राजधर्मका विवेचन हुआ है। यों तो राजधर्म (हमारे शास्त्र राजनीतिकी अपेक्षा राजधर्म शब्दका प्रयोग अधिक समीचीन मानते हैं)-का उपदेश मनु आदि स्मृतिकारों तथा शुक्र, कामन्दक आदि नीतिज्ञोंने विस्तारसे किया है, किंतु विदुर तो स्वयं राजपरिवारके सदस्य एवं समसामयिक राजनैतिक घटनाओं तथा कूटनीतिपूर्ण षड्यन्त्रोंके साक्षी होनेके कारण राजधर्मका प्रवचन करनेके अधिकारी थे। राजाको प्रजासे राजस्वका अधिग्रहण कैसे करना चाहिये, इसके लिये भौंरेद्वारा फूलोंसे मधु ग्रहण करनेकी उपमा महात्मा विदुरने दी है—

यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः।
तद्वदर्थान्मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया॥
(२।१७)

उनका यह भी कथन है कि जैसे माली उद्यानसे एक-एक फूल तोड़ता है, उसकी जड़ नहीं काटता, उसी प्रकार राजा पुष्प-संचयकी भाँति यथावश्यक राजस्व ले ले, कोयला बनानेवालेकी भाँति वृक्षको ही न काटे—

पुष्पं पुष्पं विचिन्वीत मूलच्छेदं न कारयेत्।
मालाकार इवारामे न यथाङ्गारकारकः॥
(२।१८)

विदुरनीतिके दूसरे अध्यायमें कतिपय आध्यात्मिक प्रसंग भी आये हैं। कठोपनिषद्में निरूपित 'शरीररूपी रथ' के रूपकका संकेत करते हुए विदुरजी कहते हैं—

रथः शरीरं पुरुषस्य राज-
न्नात्मा नियन्तेन्द्रियाण्यस्य चाश्वाः।
तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वै-
र्दान्तैः सुखं याति रथीव धीरः॥
(२।५९)

मनुष्यका शरीर ही रथ है। बुद्धि सारथि है, इन्द्रियाँ अश्व हैं। इन्हें वशमें करके सावधान, चतुर एवं धीर पुरुष अपने वशमें किये घोड़ोंसे रथीकी भाँति सुखपूर्वक जीवन यात्रा करते हैं।

विदुरकी दृष्टिमें बुद्धि मनुष्यका मार्गदर्शन करती है। देवता-लोग चरवाहोंकी तरह डंडा लेकर पहरा नहीं देते, उन्हें जिसकी रक्षा अभीष्ट होती है उसे वे उत्तम बुद्धि प्रदान करते हैं—

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत्।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संविभजन्ति तम्॥
(३।४०)

महात्मा विदुरकी सम्मतिमें वृद्धोंसे रहित सभाको सभा कहना उचित नहीं है। वे वृद्ध वास्तवमें वृद्ध कहलानेके अधिकारी नहीं हैं, जो धर्मकी बात नहीं करते। वह धर्म धर्म नहीं जिसमें सत्य नहीं है और जो छलयुक्त है वह सत्य नहीं है। 'न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा०' (३।५८)—यह तो एक सूक्ति ही बन गयी है।

अतिथि-सत्कारके लिये विदुरजी कहते हैं—

तृणानि भूमिरुदक वाक् चतुर्थी च सूनृता।
सतामेतानि गेहेपु नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥
(४।३४)

भाव यह है कि सद्गृहस्थके घरमे अतिथिके लिये तृणका आसन उसे बिछानेके लिये भूमि, पीनेके लिये जल तथा मीठी वाणी तो सदा उपलब्ध ही रहती है।

अपनेसे बडाका अभिवादन करनेमे छोटेको कैसा मनोवैज्ञानिक लाभ मिलता है इसका उल्लेख महात्मा विदुर इस प्रकार करते हैं—

ऊर्ध्व प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यून स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्या पुनस्तान् प्रतिपद्यते॥
(६।१)

जब कोई वृद्ध पुरुप निकट आता है तो उस समय युवा पुरुपके प्राण ऊपर उठने लगते हैं, किंतु जब वह उठकर वृद्धका स्वागत करता है और उसे प्रणाम करता है तो उसके प्राण पुन स्थिर हो जाते हैं।

नारीकी महिमा बताते हुए महात्मा विदुर कहते हैं—

पूजनीया महाभागा पुण्याश्च गृहदीप्तय ।
स्त्रिय श्रियो गृहस्योक्तास्तस्माद्रक्ष्या विशेपत ॥
(६।११)

स्त्रियाँ घरकी लक्ष्मी हैं, वे पूजनीया हैं, अत्यन्त भाग्यशालिनी हैं, पुण्यशीला हैं तथा उनसे घरकी शोभामे वृद्धि होती है। अत वे विशेपरूपसे रक्षाके योग्य हैं।

विद्यार्थी और सुखार्थी दो विपरीत ध्रुवोपर खडे रहते हैं। विद्यार्थीके लिये सुख कहाँ अर्थात् सुखकी इच्छा करनेवाला विद्या नहीं प्राप्त कर सकता। विदुरके शब्दामे—

सुखार्थिन कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिन सुखम्।
सुखार्थी वा त्यजेद् विद्या विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम्॥
(८।६)

विदुरकी दृष्टिमे धर्मका आचरण सर्वोपरि है। कामना, भय लोभ तथा इस जीवनके लिये भी कभी धर्मका परित्याग न करे। कारण—धर्म नित्य है और सुख-दु ख अनित्य हैं। जीव नित्य है किंतु उसका हेतु (अविद्या) अनित्य है। इसलिये अनित्यको छोडकर नित्यमे स्थित होना चाहिये और संतोप धारण करना चाहिये, क्योंकि संतोप ही सबसे बडा लाभ है।

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतो ॥
नित्यो धर्म सुखदु खे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्य ।
त्यक्त्वानित्य प्रतितिष्ठस्व नित्ये
सतुष्य त्व तोपपरो हि लाभ ॥
(८।१२-१३)

महाप्राज्ञ विदुरने आत्माको नदीके रूपमे कल्पित किया तथा पुण्य-कर्मोंको तीर्थ सत्यको जल धैर्यको कूल (किनारा) और दयाको लहर बताया। यह साङ्गरूपक इस प्रकार है—

आत्मा नदी भारत पुण्यतीर्था
सत्योदका धृतिकूला दयोर्मि ।
तस्या स्नात पूयते पुण्यकर्मा
पुण्यो ह्यात्मा नित्यमलोभ एव॥
(८।२१)

—इस आत्मारूपी नदीमे पुण्यकर्मा मनुष्य अवगाहन कर स्वयको पवित्र करते हैं।

महात्मा विदुरकी दृष्टिमे राजाके लिये धर्म ही सर्वोपरि पालनीय और आचरणीय है—

धर्मेण राज्य विन्देत धर्मेण परिपालयेत्।
धर्ममूला श्रिय प्राप्य न जहाति न हीयते॥
(२।३१)

राजाके लिये उचित है कि वह धर्मसे ही राज्य प्राप्त करे धर्मसे ही उसकी रक्षा करे, क्योंकि धर्ममूलक राज्यको पाकर न तो राजा ही राज्यलक्ष्मीको त्यागता है और न लक्ष्मी ही उसे छोडती है।

दीर्घदर्शी विदुरके अनुसार सत्य, न्याय, धर्म तथा नीतियुक्त कथनको न तो कहना आसान है और न सुनना ही। वे अपने अग्रज धृतराष्ट्रसे स्पष्ट कहते हैं—

सुलभा पुरुपा राजन् सतत प्रियवादिन ।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभ ॥
(५।१५)

सदा प्रिय वचन बोलनेवाले पुरुष तो बहुत मिलेंगे, किंतु अप्रिय लगनेवाले हितकारी वचनको कहनेवाले तथा सुननेवाले मनुष्य तो दुर्लभ ही हैं।

धृतराष्ट्रके प्रसंगमें विदुरकी यह सत्योक्ति सर्वथा सार्थक सिद्ध हुई, जिसे प्रज्ञाचक्षु राजाने स्वीकार भी किया—

सर्वं त्वमायतीयुक्तं भाषसे प्राज्ञसम्मतम्।
न चोत्सहे सुतं त्यक्तुं यतो धर्मस्ततो जयः॥ (७।९)

विदुर! तुम जो कह रहे हो वह बुद्धिमानोंसे अनुमोदित है तथा परिणाममें भी हितकर है। मैं यह भी मानता हूँ कि जिसके पक्षमें धर्म है उसकी ही जय होती है तथापि अधर्मी पुत्र दुर्योधनको त्यागनेमें मैं असमर्थ हूँ। उपसंहारमें राजाने अपनी बौद्धिक दुर्बलताको भी स्वीकार किया—

सा तु बुद्धिः कृताप्येव पाण्डवान् प्रति मे सदा।
दुर्योधनं समासाद्य पुनर्विपरिवर्तते॥ (८।३१)

यद्यपि मैं पाण्डवोंके प्रति ऐसी ही नीतियुक्त बुद्धि रखता हूँ, किंतु दुर्योधनसे मिलनेपर मेरी बुद्धि पलट जाती है।

तब इसके लिये दोष किसे दिया जाय? यहाँ राजा धृतराष्ट्रने वाक्-चातुर्यका सहारा लेकर प्रारब्धको ही दोषी ठहराया—

न दिष्टमभ्यतिक्रान्तुं शक्यं भूतेन केनचित्।
दिष्टमेव ध्रुवं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम्॥ (८।३२)

धृतराष्ट्रकी दृष्टिमें पुरुषार्थ भले ही निरर्थक हो, किंतु महामना विदुरद्वारा प्रतिपादित नीतिका अनुसरण करनेवाले तो निश्चय ही पुरुषार्थको प्राथमिकता देंगे।

नैतिक चिन्तन-बिन्दु

(श्रीरामसेवकजी भाल)

१ कुछ करनेकी ही इच्छा हो तो सबका भला करो।

२ पालन करनेकी इच्छा हो तो सच्चे धर्मका पालन करो।

३ यदि कुछ बोलनेकी इच्छा हो तो सदा सत्य और मधुर तथा हितकारी वचन बोलो।

४ संग करना हो तो सदा सज्जनोंका संग करो।

५ यदि कोई व्यसन पालना हो तो सिर्फ दान करनेका व्यसन पालो।

६ ग्रहण करना हो तो सत्पुरुषोंके उत्कृष्ट गुणोंको ग्रहण करो।

७ लोभ न छूटे तो सदा सद्गुणोंका लोभ करो।

८ निन्दा किये बिना रहा न जाय तो सदा अपने ही कुकृत्योंकी निन्दा करो।

९ कुपित होना हो तो अपने क्रोधपर कुपित होओ।

१० यदि दूर ही भागना हो तो परिग्रहसे दूर भागो।

११ यदि किसीसे बचना हो तो पापसे बचो।

१२ यदि देखनेकी इच्छा हो तो यह देखो कि 'मैं कौन हूँ'?

१३ यदि किसीको शत्रु मानना हो तो अपने ही राग-द्वेषको शत्रु मानो।

१४ डरनेकी इच्छा हो तो अपने कुकृत्योंसे डरो।

१५ नाटक देखनेकी इच्छा हो तो संसारका नाटक देखो।

१६ दूसरोंकी निन्दा और अपनी प्रशंसा कभी मत करो।

१७ मानवकी शोभा सौन्दर्यसे नहीं संयमसे है।

१८ सद्ग्रन्थोंका मूल्य रत्नोंसे भी अधिक है, क्योंकि रत्न बाहरी चमक-दमक दिखाते हैं जबकि ग्रन्थ अन्तःकरणको उज्ज्वल करते हैं।

१९ पढ़ना सब जानते हैं, पर क्या पढ़ना चाहिये यह कोई-कोई ही जानता है।

२० अज्ञान ही विपदा है और ज्ञान ही सम्पदा।

२१ लोभी मन अर्थको ही जीवनका आधार मानता है।

२२ सरलतासे शक्तिपर विजय मिलती है।

२३ भक्तिसे हृदयकी प्रीति मिलती है।

२४ विरक्तिसे मुक्ति मिलती है।

२५ धनसे बड़ा ज्ञान है, क्योंकि धनको हम रखते हैं जबकि ज्ञान हमें रखता है।

पुराणमे निर्दिष्ट नीतिचतुष्टयी

[सामनीति, भेदनीति, दाननीति आर दण्डनीति]

राजधर्म एव सामान्य नीति

भगवान् मत्स्य राजर्षि मनुसे कहते हैं कि राजन्! राजाओंके लिये जैसे युद्धविमुख न होना, प्रजाओंका परिपालन तथा ब्राह्मणोंकी शुश्रूषा—ये तीनों धर्म परम कल्याणकारी हैं, उसी प्रकार दुर्दशाग्रस्त, असहाय और वृद्धा तथा विधवा स्त्रियोंके योगक्षेम एव जीविकाका प्रबन्ध भी राजाको करना चाहिये। राजाको वर्णाश्रमकी व्यवस्था विशेषरूपसे करनी चाहिये तथा अपने धर्मसे भ्रष्ट हुए लोगोंको पुन अपने-अपने धर्मोंमे स्थापित करना चाहिये।[1]

राजाके छिद्रको शत्रु न जान सके, किंतु वह शत्रुके छिद्रको जान ले। वह कछुएकी भाँति अपने अङ्गोंको छिपाये रखे और अपने छिद्रकी रक्षा करे। अविश्वसनीय व्यक्तिका विश्वास न करे और विश्वसनीयका भी बहुत विश्वास न करे क्योंकि विश्वाससे उत्पन्न हुआ भय मूलको भी काट डालता है।[2]

राजाको शिकार, मद्यपान तथा द्यूतक्रीडाका परित्याग कर देना चाहिये क्योंकि पूर्वकालमें इनके सेवनसे बहुत-से राजा नष्ट हो चुके हैं जिनकी गणना नहीं की जा सकती। राजाको कटुवचन बोलना और कठोर दण्ड देना—ये दोनों कर्म नहीं करने चाहिये। राजाको परोक्षमें किसीकी निन्दा करना उचित नहीं है।[3]

राजाको दो प्रकारके अर्थ-दोषोंसे बचना चाहिये—एक अर्थ-दोष और दूसरा अर्थ-सम्बन्धी दोष। अपने दुर्गके परकोटोंका तथा मूल दुर्ग आदिकी उपेक्षा और उनकी अस्त-व्यस्तता—ये अर्थ-दोष कहे गये हैं। उसी प्रकार कुदेश और कुसमयमें कुपात्रको दिया गया दान तथा असत्कर्मका प्रचार—ये अर्थ-सम्बन्धी दोष कहे गये हैं। राजाको आदरसहित काम क्रोध, मद मान, लोभ तथा हर्षका प्रयत्नपूर्वक त्याग करना चाहिये। राजाको इनपर विजय प्राप्त करनेके पश्चात् अनुचरोंको जीतना चाहिये। इस प्रकार अनुचरोंको जीतनेके बाद पुरवासियों और देशवासियोंको अपने अधिकारमे करे। उन्हे जीतनेके पश्चात् बाहरी शत्रुओंको परास्त करे। तुल्य, आभ्यन्तर और कृत्रिम-भेदसे बाह्य शत्रुओंको अनेक प्रकारका समझना चाहिये। स्वामी, मन्त्री, राष्ट्र, दुर्ग, सेना कोश तथा मित्र—ये राज्यके सात अङ्ग कहे गये हैं। इस सप्ताङ्गयुक्त राज्यका भी मूल स्वयं राजा कहा गया है। राज्य तथा राज्याङ्गोंका मूल होनेके कारण वह प्रयत्नपूर्वक रक्षणीय है।[4]

फिर राजाके द्वारा राज्यके शेष छ अङ्गोंकी प्रयत्नपूर्वक रक्षा की जानी चाहिये। जो मूर्ख इन छ अङ्गोंमेसे किसी एकके साथ द्रोह करता है उसे राजाको शीघ्र ही मार डालना

---

१ सग्रामेष्वनिवर्तित्व प्रजाना परिपालनम्। शुश्रूषा ब्राह्मणाना च राज्ञा नि श्रेयसं परम्॥
कृपणानाथवृद्धाना विधवाना च पालनम्। योगक्षेम च वृत्ति च तथैव परिकल्पयेत्॥
वर्णाश्रमव्यवस्थान तथा कार्यं विशेषत । स्वधर्मप्रच्युतान् राजा स्वधर्मे स्थापयेत् तथा॥ (मत्स्यपु० २१५।६१—६३)

२ नास्य च्छिद्र परो विन्द्याद् विन्द्याच्छिद्र परस्य तु। गूहेत् कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद् विवरमात्मन ॥
न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्। विश्वासाद् भयमुत्पन्न मूलादपि निकृन्तति॥ (मत्स्यपु० २१५।६७-६८)

३ मृगयापानमक्षाश्च वर्जयेत् पृथिवीपति । एतांस्तु सेवमानास्तु विनष्टा पृथिवीक्षित ॥
बहवो नृपशार्दूल तेषा सख्या न विद्यते।
वाक्पारुष्य न कर्तव्य दण्डपारुष्यमेव च । परोक्षनिन्दा च तथा वर्जनीया महीक्षिता॥ (मत्स्यपु० २२०।८—१०)

४ अर्थस्य दूषण राजा द्विप्रकार विवर्जयेत्। अर्थाना दूषण चैक तथार्थेषु च दूषणम्॥
प्राकाराणा समुच्छेदो दुर्गादीनामसत्क्रिया। अर्थाना दूषण प्रोक्त विप्रकीर्णत्वमेव च॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रे दानमेव च। अर्थेषु दूषण प्रोक्तमसत्कर्मप्रवर्तनम्॥
काम क्रोधो मदो मानो लोभो हर्षस्तथैव च। एते वर्ज्या प्रयत्नेन सादर पृथिवीक्षिता॥
एतेषा विजय कृत्वा कार्यो भृत्यजयस्तत । कृत्वा भृत्यजय राजा पौराञ्जानपदाञ्जयेत्॥
कृत्वा च विजय तेषा शत्रून् बाह्यास्ततो जयेत्। बाह्याश्च विविधा ज्ञेयास्तुल्याभ्यन्तरकृत्रिमा ॥
स्वाम्यमात्यौ जनपदो दुर्गं दण्डस्तथैव च। कोशो मित्र च धर्मज्ञ सप्ताङ्ग राज्यमुच्यते॥
सप्ताङ्गस्यापि राज्यस्य मूल स्वामी प्रकीर्तित । तन्मूलत्वात् तथाङ्गाना स तु रक्ष्य प्रयत्नत ॥
(मत्स्यपु० २२०।११—१६ १९-२०)

चाहिये। राजाको कोमल वृत्तिवाला नहीं होना चाहिये, क्योंकि ऐसा राजा पराजयका भागी होता है। साथ ही अधिक कठोर भी नहीं होना चाहिये क्योंकि ऐसे शासकसे लोग उद्विग्न हो जाते हैं। जो लोकद्वयापेक्षी राजा समयपर मृदु तथा समयपर कठोर हो जाता है, वह दोनों लोकोंमें विजयी हो जाता है। राजाको अपने अनुचरोंके साथ परिहास नहीं करना चाहिये, क्योंकि उस समय अनुचरगण आनन्दमें निमग्न हुए राजाका अपमान कर बैठते हैं। राजाको सभी प्रकारके व्यसनोंसे दूर रहना चाहिये।[1]

राजाको सदा अपनी मन्त्रणा गुप्त रखनी चाहिये, क्योंकि प्रकट मन्त्रणावाले राजाको निश्चय ही सभी आपत्तियाँ प्राप्त होती हैं।[2]

आकृति संकेत गति, चेष्टा, वचन, नेत्र तथा मुखके विकारोंसे अन्तःस्थित मनोभावोंका पता लगता है। हे राजपुत्र! जिस राजाके मनका इन उपर्युक्त उपायोंद्वारा कुशल लोग भी पता न लगा सकें, वसुधरा उसके वशमें सदा बनी रहती है।[3]

राजाको कभी केवल एक व्यक्तिसे या एक ही साथ अनेक लोगोंसे मन्त्रणा नहीं करनी चाहिये। जिसकी परीक्षा न की गयी हो, ऐसी विषम नौकापर राजा सवार न हो। राजाके जो भूमिविजेता शत्रु हों, उन सबको सामादि उपायोंद्वारा वशमें लाना चाहिये। अपने राष्ट्रकी रक्षामें तत्पर राजाका यह कर्तव्य है कि वह उपेक्षाके कारण प्रजाओंको दुर्बल न होने दे। जो अज्ञानवश असावधानीसे अपने राष्ट्रको दुर्बल कर देता है, वह शीघ्र ही भाई-बन्धुओंसहित राज्य एवं जीवनसे च्युत हो जाता है। जिस प्रकार पालतू बछड़ा बलवान् होनेपर कार्य करनेमें समर्थ होता है, उसी तरह पालन-पोषणकर समृद्ध किया हुआ राष्ट्र भी भविष्यमें कार्यक्षम हो जाता है। जो अपने राष्ट्रके ऊपर अनुग्रहकी दृष्टि रखता है, वस्तुतः वही राज्यकी रक्षा कर सकता है। जो उत्पन्न हुई प्रजाओंकी रक्षा करता है, वह महान् फलका भागी होता है। राजा राष्ट्रसे सुवर्ण, अन्न और सुरक्षित पृथ्वी प्राप्त करता है। माता और पिताके समान अपने राष्ट्रकी रक्षामें तत्पर रहनेवाला नृपति विशेष प्रयत्नसे नित्यप्रति स्वकीय एवं परकीय दानों ओरसे होनेवाली बाधाओंसे अपने राष्ट्रकी रक्षा करे। अपनी इन्द्रियोंको संयत तथा गुप्त रखे और सर्वदा उनका प्रयोग गोपनीय रूपसे करे, तभी उनसे उत्तम फल प्राप्त होता है।

जीवनके सभी कार्य दैव और पौरुष—इन दोनोंके अधिकारमें रहते हैं। उन दोनोंमें दैव तो अचिन्त्य है किंतु पौरुषमें क्रिया विद्यमान रहती है। इस प्रकार पृथ्वीका पालन करनेवाले राजाके प्रति प्रजाका परम अनुराग हो जाता है। प्रजाके अनुरागसे राजाको लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है तथा लक्ष्मीवान् राजाको ही परम यशकी प्राप्ति होती है।[4]

आलसी और भाग्यपर निर्भर रहनेवाले पुरुषोंको अर्थकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिये सभी प्रयत्नोंसे पुरुषार्थ करनेमें तत्पर रहना चाहिये। लक्ष्मी भाग्यपर भरोसा रखनेवाले एवं आलसी पुरुषोंको छोड़कर पुरुषार्थ करनेवाले पुरुषोंको यत्नपूर्वक ढूँढ़कर वरण करती है इसलिये सर्वदा पुरुषार्थशील होना चाहिये।[5]

साम-नीति

मत्स्यभगवान्‌ने पुनः कहा—मनुजेश्वर! [राजनीतिमें]

---

१ षडङ्गरक्षा कर्तव्या तथा तेन प्रयत्नतः। अङ्गेभ्यो यस्तथैकस्य द्रोहमाचरतेऽल्पधीः॥
वधस्तस्य तु कर्तव्यः शीघ्रमेव महीक्षिता। न राज्ञा मृदुना भाव्यं मृदुर्हि परिभूयते॥
न भाव्यं दारुणेनातितीक्ष्णादुद्विजते जनः। काले मृदुर्यो भवति काले भवति दारुणः॥
राजा लोकद्वयापेक्षी तस्य लोकद्वयं भवेत्। भृत्यैः सह महीपाल परिहासं विवर्जयेत्॥
भृत्याः परिभवन्तीह नृपं हर्षवशं गतम्। व्यसनानि च सर्वाणि भूपतिः परिवर्जयेत्॥ (मत्स्यपु० २२०।२१—२५)

२ राज्ञा संवृतमन्त्रेण सदा भाव्यं नृपोत्तम॥
तस्यासंवृतमन्त्रस्य राज्ञः सर्वापदो ध्रुवम्। (मत्स्यपु० २२०।३१-३२)

३ आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च॥
नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः। न यस्य कुशलैस्तस्य वशे सर्वा वसुन्धरा॥
भवतीह महीभर्तुः सदा पार्थिवनन्दन। (मत्स्यपु० २२०।३५-३६१/२)

४ सर्वं कर्मेदमायत्तं विधाने दैवमानुषे। तयोर्दैवमचिन्त्यं च पौरुषे विद्यते क्रिया॥
एवं महीं पालयतोऽस्य भर्तुर्लोकानुरागः परमो भवत्तु। लोकानुरागप्रभवा च लक्ष्मीर्लक्ष्मीवतश्चापि परा च कीर्तिः॥
(मत्स्यपु० २२०।४६-४७)

५ नालसाः प्राप्नुवन्त्यर्थान्न च दैवपरायणाः। तस्मात् सर्वप्रयत्नेन पौरुषे यत्नमाचरेत्॥
त्यक्त्वाऽऽलसान् दैवपरान् मनुष्यानुत्थानयुक्तान् पुरुषान् हि लक्ष्मीः। अन्विष्य यत्नाद्वृणुयान्नृपेन्द्र तस्मात् सदोत्थानवता हि भाव्यम्॥
(मत्स्यपु० २२२।११-१२)

साम (स्तुति-प्रशसा), भेद, दान, दण्ड, उपेक्षा, माया तथा इन्द्रजाल—ये सात प्रयोग बतलाये गये हैं। उनमेस साम, दान आदि चतुर्विध-नीति मैं बतला रहा हूँ, सुनिय।

साम तथ्य और अतथ्यभेदसे दो प्रकारका कहा गया है। उनमे भी अतथ्य (झूठी प्रशसा) साधु पुरुषोकी अप्रसन्नताका ही कारण बन जाता है। इसलिये सज्जन व्यक्तिको प्रयत्नपूर्वक तथ्य साम (सच्ची प्रशसा)-से वशम करना चाहिये। जो उन्नत कुलम उत्पन्न सरल प्रकृति धर्मपरायण और जितेन्द्रिय हैं, वे [तथ्य] सामसे ही साध्य होते हैं अत उनके प्रति अतथ्य सामका प्रयोग नहीं करना चाहिये। उनके प्रति तथ्य सामका प्रयोग, उनके कुल और शील-स्वभावका वर्णन, किय गये उपकाराकी चर्चा तथा अपनी कृतज्ञताका कथन करना चाहिये। इसी युक्ति तथा इस प्रकारके सामसे धर्मम तत्पर रहनेवालाको अपने वशम करना चाहिये। यद्यपि राक्षस भी साम-नीतिके द्वारा वशम किये जाते हैं—ऐसी परा श्रुति है, तथापि असत्पुरुषाके प्रति इसका प्रयाग उपकारी नहीं होता। दुर्जन पुरुप सामकी बात करनेवालेका अतिशय डरा हुआ समझते है, इसलिये उनक प्रति इसका प्रयाग नहीं करना चाहिये। राजन्! जो पुरुप शुद्ध वशमे उत्पन्न सरलप्रकृतिवाले विनम्र, धर्मिष्ठ, सत्यवादी, विनयी एव सम्मानी है वे ही निरन्तर सामद्वारा साध्य बतलाये गये हैं।[1]

भेद-नीति

जो परस्पर वैर रखनेवाले क्रोधी, भयभीत तथा अपमानित हैं, उनके प्रति भेद-नीतिका प्रयोग करना चाहिये, क्याकि वे भेदद्वारा साध्य माने गये हैं। जो लाग जिस दोषके कारण दूसरेसे भयभीत नहीं हाते, उन्हं उसी दोषक द्वारा भेदन करना चाहिये। उनके प्रति अपनी ओरसे आशा प्रकट करे और दूसरेसे भयकी आशङ्का दिखलाये। इस प्रकार उन्हं फोड ले तथा फूट जानेपर उन्हं अपने वशमे कर ले। सगठित लाग भेद-नीतिके बिना इन्द्रद्वारा भी दु साध्य होत हैं। इसीलिये नीतिज्ञ लोग भेद-नीतिकी ही प्रशसा करत हैं। इस नीतिको अपने मुखसे तथा दूसरेके मुखसे भद्य व्यक्तिसे कहे या कहलाये, परतु अपने विषयम दूसरेके मुखस सुनी हुई भेद-नीतिकी परीक्षा करके ठीक मानना चाहिये। अपन कार्यके उद्देश्यसे सुनिपुण नीतिज्ञोद्वारा जो तुरत भेदित किये जाते हैं, वे ही सच्चे अर्थम भेदित कहे जाते हैं, अर्थवादियो एव राजाद्वारा किये गये नहीं। जहाँ राजाआके सम्मुख आन्तरिक कोप और बाहरी कोप—दोनो उपस्थित हो, वहाँ आन्तरिक कोप ही महान् है, क्याकि वह राजाआके लिये विनाशकारी होता है।[2]

छोटे राजाओका क्रोध बडे राजाके लिय बाह्य क्रोध कहा गया है तथा रानी, युवराज, सेनापति, अमात्य, मन्त्री और राजकुमारक द्वारा किया गया क्रोध आन्तरिक कोप कहा गया हैं। इन लोगोका कोप राजाआके लिये भयानक बतलाया गया है। महाभाग! अत्यन्त भीषण बाह्य कोपके उत्पन्न होनेपर भी यदि राजाका अन्त पुर (दुर्गस्थ महारानी युवराज, मन्त्री आदि

---

१ द्विविध कथित साम तथ्य चातथ्यमेव च॥
तत्राप्यतथ्य साधूनामाक्रोशायैव जायते। तत्र साधु प्रयत्नेन सामसाध्यो नरोत्तम॥
महाकुलीना ऋजवो धर्मनित्या जितेन्द्रिया। सामसाध्या न चातथ्य तेपु साम प्रयोजयेत्॥
तथ्य साम च कर्तव्य कुलशीलादिवर्णनम्। तथा तदुपचाराणा कृताना चैव वर्णनम्॥
अनयैव तथा युक्त्या कृतज्ञाख्यापन स्वकम्। एव साम्ना च कर्तव्या वशगा धर्मतत्परा॥
साम्ना यद्यपि रक्षासि गृह्णन्तीति परा श्रुति। तथाप्येतदसाधूना प्रयुक्त नोपकारकम्॥
अतिशङ्कितमित्यव पुरुप सामवादिनम्। असाधवो विजानन्ति तस्मात् तेपु विवर्जयेत्॥
ये शुद्धवशा ऋजव प्रणीता धर्मे स्थिता सत्यपरा विनीता। ते सामसाध्या पुरुषा प्रदिष्टा मानोन्नता ये सतत च राजन्॥
(मत्स्यपु० २२२। ३—१०)

२ परस्पर तु ये दुष्टा क्रुद्धा भीतावमानिता। तेषा भेद प्रयुञ्जीत भेदसाध्या हि ते मता॥
ये तु येनव दोषेण परस्मान्नापि बिभ्यति। ते तु तद्दोपपातेन भेदनीया भृश तत॥
आत्मीया दर्शयेदाशा परस्माद् दर्शयेद् भयम्। एव हि भेदयेद् भिन्नान् यथावद् वशमानयेत्॥
सहता हि विना भेद शक्रेणापि सुदु सहा। भेदमेव प्रशसन्ति तस्मान्नयविशारदा॥
स्वमुखेनाश्रयेद् भेदं भेद परमुखेन च। परीक्ष्य साधु मन्येत भेद परमुखाच्छ्रुतम्॥
सद्य स्वकार्यमुद्दिश्य कुशलैर्ये हि भेदिता। भेदितास्ते विनिर्दिष्टा नैव राजार्थवादिभि॥
अन्त कोपो बहि कोपो यत्र स्याता महीक्षिताम्। अन्त कोपो महास्तत्र नाशक पृथिवीभिताम्॥
(मत्स्यपु० २२३। १—७)

प्रकृतित) शुद्ध एव अनुकूल है तो वह शीघ्र ही विजय-लाभ करता हे। यदि इन्द्रके समान हो ता भी वह अन्त (दुर्गस्थ रानी, युवराज, मन्त्री आदिके)-कोपसे नष्ट हो जाता है। इसलिये राजाको प्रयत्नपूर्वक उस आन्तरिक कोपकी रक्षा करनी चाहिये। शत्रुआको जीतनेकी इच्छावाले राजाको चाहिये कि दूसरेसे भेद-नीतिद्वारा क्रोध पैदा कराकर उसकी जातिम भेद उत्पन्न कर दे और प्रयत्नपूर्वक अपने जाति-भेदकी रक्षा करे। यद्यपि सतत भाई-बन्धु राजाकी उन्नति देखकर जलते रहते हैं तथापि राजाको दान और सम्मानद्वारा उनको मिलाये रखना चाहिये, क्योंकि जातिगत भेद बडा भयकर होता है। जातिवालापर प्राय लोग अनुग्रहका भाव नहीं रखते और न उनका विश्वास ही करते हैं, इसलिये राजाओंको चाहिये कि जातिम फूट डालकर शत्रुको उनसे अलग कर दे। इस भेद-नीतिद्वारा भिन्न किये गये शत्रुओंके विशाल समूहको भी सग्रामभूमिमे थोडी-सी सुसगठित सेनासे ही नष्ट किया जा सकता है अतएव नीतिकुशल लोगोंको सुसगठित शत्रुआके प्रति भी भेद-नीतिका ही प्रयोग करना चाहिये।[१]

दान-नीति

मत्स्यभगवान्ने कहा—दान सभी उपायाम सर्वश्रेष्ठ है। प्रचुर दान देनेसे मनुष्य दोनो लोकोको जीत लेता है। राजन्! ऐसा कोई नहीं है, जो दानद्वारा वशमे न किया जा सके। दानसे देवतालोग भी सदाके लिये मनुष्याके वशमे हो जाते हैं। नृपोत्तम! सारी प्रजाएँ दानके बलसे ही पालित होती हैं। दानी मनुष्य ससारमे सभीका प्रिय हो जाता है। दानशील राजा शीघ्र ही शत्रुओको जीत लेता है। दानशील ही सगठित शत्रुओंका भेदन करनेमे समर्थ हो सकता है। यद्यपि निर्लोभ तथा समुद्रके समान गम्भीर स्वभाववाले मनुष्य स्वय दानको अङ्गीकार नहीं करते, तथापि वे [भी दानी व्यक्तिके] पक्षपाती हो जाते हैं। अन्यत्र किया गया दान भी अन्य लोगोंको अपने वशमे कर लेता है इसलिये लोग सभी उपायोमे श्रेष्ठतम दानकी प्रशसा करते हैं। दान पुरुषोंका कल्याण करनेवाला तथा परम श्रेष्ठ है। लोकमे दानशील व्यक्तिकी सर्वदा पुत्रकी भाँति प्रतिष्ठा होती है। दानपरायण पुरुषश्रेष्ठ केवल एक भूलोकको ही अपने वशमे नहीं करते प्रत्युत वे अत्यन्त दुर्जय देवराज इन्द्रके लोकको भी, जो देवताओंका निवासस्थान है, जीत लेते हैं।[२]

दण्ड-नीति

मत्स्यभगवान्ने कहा—राजन्! जो (पूर्वोक्त सामादि) तीनो उपायोके द्वारा वशमे नहीं किये जा सकते उन्हे

---

१ सामन्तकोपो बाह्यस्तु कोप प्रोक्तो महीभृत। महिषीयुवराजाभ्या तथा सेनापतेर्नृप॥
अमात्यमन्त्रिणा चैव राजपुत्रे तथैव च। अन्त कोपो विनिर्दिष्टो दारुण पृथिवीक्षिताम्॥
बाह्यकोपे समुत्पन्ने सुमहत्यपि पार्थिव। शुद्धान्तस्तु महाभाग शीघ्रमेव जयी भवेत्॥
अपि शक्रसमो राजा अन्त कोपेन नश्यति। सोऽन्त कोप प्रयत्नेन तस्माद् रक्ष्यो महीभृता॥
परत कोपमुत्पाद्य भेदेन विजिगीषुणा। ज्ञातीना भेदन कार्यं परेषा विजिगीषुणा॥
रक्ष्यश्चैव प्रयत्नेन ज्ञातिभेदस्तथात्मन। ज्ञातय परितप्यन्ते सतत परितापिता॥
तथापि तेषा कर्तव्य सुगम्भीरेण चेतसा। ग्रहण दानमानाभ्या भेदस्तेभ्यो भयकर॥
न ज्ञातिमनुगृह्णन्ति न ज्ञाति विश्वसन्ति च। ज्ञातिभिर्भेदनीयास्तु रिपवस्तेन पार्थिवै॥
भिन्ना हि शक्या रिपव प्रभूता स्वल्पेन सैन्येन निहन्तुमाजौ।
सुसहताना हि तदस्तु भेद कार्यो रिपूणा नयशास्त्रविद्भि॥ (मत्स्यपु० २२२।८—१६)

२ सर्वेषामप्युपायाना दान श्रेष्ठतम मतम्। सुदत्तेनेह भवति दानेनोभयलोकजित्॥
न सोऽस्ति राजन् दानेन वशगो यो न जायते। दानेन वशगा देवा भवन्तीह सदा नृणाम्॥
दानमेवोपजीवन्ति प्रजा सर्वा नृपोत्तम। प्रियो हि दानवाँल्लोके सर्वस्यवोपजायते॥
दानवानचिरेणैव तथा राजा पराञ्जयेत्। दानवानेव शक्नोति सहतान् भेदितु परान्॥
यद्यप्यलुब्धगम्भीरा पुरुषा सागरोपमा। न गृह्णन्ति तथाप्येते जायन्ते पक्षपातिन॥
अन्यत्रापि कृत दान करोत्यन्यान् यथा वशे। उपायेभ्य प्रशसन्ति दान श्रेष्ठतम जना॥
दान श्रेयस्कर पुसा दान श्रेष्ठतम परम्। दानवानेव लोकेषु पुत्रत्वे ध्रियते सदा॥
न केवल दानपरा जयन्ति भूर्लोकमेक पुरुषप्रवीरा।
जयन्ति ते राजसुरेन्द्रलोक सुदुर्जय यो विबुधाधिवास॥ (मत्स्यपु० २२४।१—८)

दण्ड-नीतिक द्वारा वशमे करे, क्याकि दण्ड मनुष्याको निश्चितरूपसे वशम करनेवाला ह। बुद्धिमान् राजाको सम्यक्-रूपसे उस दण्ड-नीतिका प्रयोग धर्मशास्त्रके अनुसार पुरोहित आदिकी सहायतासे करना चाहिये। उस दण्ड-नीतिका सम्यक् प्रयोग जिस प्रकार करना चाहिय, उसे सुनिये। राजाको अपने दशम अथवा पराये देशम वानप्रस्थाश्रमी, धर्मशील ममतारहित, परिग्रहहीन और धर्मशास्त्रप्रवीण विद्वान् पुरुषोंकी परिपद्द्वारा भलीभाँति विचार करके दण्ड-नीतिका प्रयोग करना चाहिय, क्योकि सब कुछ दण्डपर ही प्रतिष्ठित है। सभी आश्रमधर्मक व्यक्ति, ब्रह्मचारी, पूज्य, गुरु, महापुरुप तथा अपन धर्मम स्थित रहनेवाला काई व्यक्ति ऐसा नहीं ह जो राजाके द्वारा दण्डनीय न हो, किंतु अदण्डनीय पुरुपाको दण्ड दने तथा दण्डनीय पुरुपाको दण्ड न देनेसे राजा इस लाकम राज्यसे च्युत हा जाता है और मरनेपर नरकम पडता ह। इसलिये विनयशील राजाका लोकानुग्रहकी कामनासे धर्मशास्त्रक अनुसार ही दण्ड-नीतिका प्रयोग करना चाहिये। जिस राज्यम श्यामवर्ण, लाल नेत्रवाला और पापनाशक दण्ड विचरण करता है तथा राजा ठीक-ठीक निर्णय करनवाला हाता है, वहाँ प्रजाएँ कष्ट नहीं झलतीं। यदि राज्यमे दण्ड-नीतिकी व्यवस्था न रखी जाय तो बालक वृद्ध, आतुर सन्यासी, ब्राह्मण, स्त्री और विधवा—ये सभी मात्स्यन्यायके अनुसार आपसम एक-दूसरेको खा जायँ। यदि राजा दण्डकी व्यवस्था न करे तो सभी दवता, दैत्य, सर्पगण, प्राणी तथा पक्षी मर्यादाका उल्लघन कर जायँगे।[१]

दण्ड सभी प्रजाओपर शासन करता हे तथा दण्ड ही सबका रक्षा करता है। दण्ड सभीके सो जानपर भी जागता रहता है, अतएव बुद्धिमान् लोग दण्डको धर्म मानते ह। कुछ पापी राजदण्डके भयसे, कुछ यमदण्डक भयसे और कतिपय पारस्परिक भयसे भी पापकर्म नहीं करते। इस प्रकार इस प्राकृतिक जगत्म सभी कुछ दण्डपर ही प्रतिष्ठित हे। यदि दण्ड न दिया जाय तो प्रजा घोर अधकारम डूब जाय। चूँकि दण्ड दमन करता है और दुर्मदाको दण्ड भी देता है, इसलिये दमन करने तथा दण्ड देनेक कारण बुद्धिमान् लोग उस दण्ड मानत हैं।[२]

मत्स्यभगवान्ने कहा—ब्रह्माने समस्त प्राणियाकी रक्षाके निमित्त दण्डका प्रयाग करनेके लिये दवताओक अशाका लेकर राजाकी सृष्टि की है। चूँकि तेजसे देदीप्यमान होनके कारण कोई भी उसकी आर देख नहीं सकता, इसीलिय राजा लोकम सूर्यके समान प्रभावशाली हाता है। जिस समय उसे देखनेस लाग हर्पका प्राप्त होते हे उस समय वह नेत्राक लिये आनन्दकारी होनेके कारण चन्द्रमाक समान हा जाता है। जिस प्रकार यमराज समय आनेपर शत्रु-मित्र—सबको दण्ड देते हैं उसी तरह राजाको प्रजाके साथ

---

१ न शक्या ये वशे कर्तुमुपायत्रितयेन तु। दण्डेन तान् वशीकुर्याद् दण्डो हि वशकृन्नृणाम्॥
सम्यक् प्रणयन तस्य तथा कार्यं महीक्षिता। धर्मशास्त्रानुसारेण सुसहायेन धीमता॥
तस्य सम्यक् प्रणयन यथा कार्यं महीक्षिता। वानप्रस्थाश्च धर्मज्ञान् निर्ममान् निष्परिग्रहान्॥
स्वदेशे परदेशे वा धर्मशास्त्रविशारदान्। समीक्ष्य प्रणयेद् दण्ड सर्वं दण्डे प्रतिष्ठितम्॥
आश्रमी यदि वा वर्णी पूज्यो वाथ गुरुर्महान्। नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति य स्वधर्मेण तिष्ठति॥
अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्याश्चैवाप्यदण्डयन्। इह रा यात् परिभ्रष्टो नरक च प्रपद्यते॥
तस्माद् राज्ञा विनीतेन धर्मशास्त्रानुसारत। दण्डप्रणयन कार्यं लोकानुग्रहकाम्यया॥
यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा। प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत् साधु पश्यति॥
बालवृद्धातुरयतिद्विजस्त्रीविधवा यत। मात्स्यन्यायेन भक्ष्यरन् यदि दण्ड न पातयत्॥
देवदैत्योरगगणा सर्वे भूतपतत्रिण। उत्क्रामयेयुर्मर्यादा यदि दण्ड न पातयेत्॥
(मत्स्यपु० २२५।१—१०)

२ दण्ड शास्ति प्रजा सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति॥
दण्ड सुप्तेषु जागर्ति दण्ड धर्मं विदुर्बुधा। राजदण्डभयादेव पापा पाप न कुर्वते॥
यमदण्डभयादेके परस्परभयादपि। एव सासिद्धिके लोके सर्वं दण्ड प्रतिष्ठितम्॥
अन्धे तमसि मज्जेयुर्यदि दण्ड न पातयेत्।
यस्माद् दण्डो दमयति दुर्मदान् दण्डयत्यपि। दमनाद् दण्डनाच्चैव तस्माद् दण्ड विदुर्बुधा॥
(मत्स्यपु० २२५।१४—१७)

व्यवहार करना चाहिये, यह 'यम-व्रत' है। जिस तरह वरुणद्वारा पाशसे बँधे हुए लोग दिखायी पडते हैं, उसी प्रकार पापाचरण करनेवालाको पाशबद्ध करना चाहिये, यह 'वरुण-व्रत' है। जैस मनुष्य पूर्ण चन्द्रको देखकर प्रसन्न होता है, उसी प्रकार जिसे देखकर प्रजा प्रसन्न हाती है, वह राजा चन्द्रमाक समान है।[१]

अग्नि-व्रतम स्थित राजाको पापिया, दुष्ट सामन्ता तथा हिसकाके प्रति नित्य प्रतापशाली एव तेजस्वी हाना चाहिये। जिस प्रकार स्वय पृथ्वी समस्त जीवाको धारण करती है उसी प्रकार राजा भी सम्पूर्ण प्राणियाका पालन-पोषण करता है। यह 'पार्थिव-व्रत' है। राजाको इन्द्र, सूर्य, वायु, यम वरुण, चन्द्रमा, अग्नि तथा पृथ्वीके तजोव्रतका आचरण करना चाहिये। जिस प्रकार इन्द्र वर्षाके चार महीनाम वृष्टि करते हैं उसी प्रकार राजाको भी अपने राष्ट्रम स्वेच्छापूर्वक दानवृष्टि करनी चाहिय, यह 'इन्द्र-व्रत' है। जिस प्रकार सूर्य आठ महीनेतक अपनी किरणास जलका आहरण करते हैं, उसी प्रकार राजाको भी नित्य राज्य (प्रजा)-से कर-ग्रहण करना चाहिये। यह 'सूर्य-व्रत' है। जिस प्रकार मारुत सभी प्राणियाम प्रवेश करके विचरण करता है उसी प्रकार राजाके लिय भी गुप्तचराद्वारा सभी प्राणियाम प्रविष्ट होनेका विधान है। यह 'मारुत-व्रत' है।[२]

अदण्डनीय पुरुषाको दण्ड देने तथा दण्डनीयाको दण्ड न देनेसे राजा महान् अपयशका भागी बनता है और मरनेपर नरकगामी होता है। इसलिये राजा मनुष्यके अपराधको भलीभाँति जानकर तथा यथासमय ब्राह्मणाकी अनुमति लेकर दण्डनीयाके प्रति दण्डकी कल्पना करे और जो जिस प्रकारके दण्डका पात्र हो, उसकी भलीभाँति समीक्षा कर उसे उसी प्रकारका समुचित दण्ड दे।[३] (मत्स्यपुराण)

सेवा है सर्वस्व

(प्राचार्य श्रीसाकेतविहारीजी शर्मा 'मन्त्रमुदित')

सोचो भाई अन्त मे जाएगा क्या साथ? आज नहीं तो कल सही फल लगना है हाथ॥
फल लगना है हाथ, नियम को निश्चित माना। शुभ कर्मों को करना ही तुम हितकर जाना॥
'मन्त्रमुदित' की दृष्टि मे सेवा है सर्वस्व। पद के मद का क्षणिक ही रहता है वर्चस्व॥

---

१ दण्डप्रणयनार्थाय राजा सृष्ट स्वयम्भुवा। देवभागानुपादाय सर्वभूतादिगुप्तये॥
तेजसा यदमु कश्चिन्नैव शक्नोति वीक्षितुम्। ततो भवति लोकेषु राजा भास्करवत् प्रभु॥
यदास्य दर्शने लोक प्रसादमुपगच्छति। नयनानन्दकारित्वात् तदा भवति चन्द्रमा॥
यथा यम प्रियद्वेष्ये प्राप्ते काले प्रयच्छति। तथा राज्ञा विधातव्या प्रजास्तद्धि यमव्रतम्॥
वरुणेन यथा पाशैर्बद्ध एव प्रदृश्यते। तथा पापान् निगृह्णीयाद् व्रतमेतद्धि वारुणम्॥
परिपूर्णं यथा चन्द्र दृष्ट्वा हृष्यति मानव। तथा प्रकृतयो यस्मिन् स चन्द्रप्रतिमो नृप॥ (मत्स्यपु० २२६।१-६)

२ प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्य स्यात् पापकर्मसु। दुष्टसामन्तहिंस्रेषु राजाग्नेयव्रते स्थित॥
यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते स्वयम्। तथा सर्वाणि भूतानि बिभ्रत पार्थिव व्रतम्॥
इन्द्रस्यार्कस्य वातस्य यमस्य वरुणस्य च। चन्द्रस्याग्नेः पृथिव्याश्च तेजोव्रत नृपश्चरेत्॥
वार्षिकाश्चतुरो मासान् यथेन्द्रोऽप्यभिवर्षति। तथाभिवर्षेत् स्व राज्य काममिन्द्रव्रत स्मृतम्॥
अष्टौ मासान् यथाऽऽदित्यस्तोय हरति रश्मिभि। तथा हरेत् कर राष्ट्रान्नित्यमर्कव्रत हि तत्॥
प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुत। तथा चारै प्रवेष्टव्य व्रतमेतद्धि मारुतम्॥ (मत्स्यपु० २२६।७-१२)

३ अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्। अयशो महदाप्नोति नरक चाधिगच्छति॥
ज्ञात्वापराध पुरुषस्य राजा काल तथा चानुमत द्विजानाम्।
दण्ड्येषु दण्ड परिकल्पयतु यो यस्य युक्त स समीक्ष्य कुर्यात्॥ (मत्स्यपु० २२६।२१५-२१६)

राजनीति-विशारद कणिककी कूटनीति*

महाभारतयुद्धके पूर्वकी बात है, उस समय राजा धृतराष्ट्रने पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरका युवराजपदपर अभिषिक्त कर दिया था। एक तो युधिष्ठिरमे धैर्य, स्थिरता, सहिष्णुता, दयालुता, नम्रता ओर अविचल प्रेम आदि बहुत-से लोकोत्तर गुण थे, दूसरे सारी प्रजा चाह रही थी कि युधिष्ठिर ही युवराज हो। युवराज होनेके अनन्तर थोडे ही दिनोमे धर्मराज युधिष्ठिरने अपने शील, सदाचार और विचारशीलताके द्वारा प्रजाके हृदयपर सद्गुणोकी ऐसी छाप बैठा दी कि लोग उनके उदारचरित्र पिताको भी भूलने लगे।

इधर भीमसेनने बलरामजीसे खड्ग, गदा और रथके युद्धकी विशिष्ट शिक्षा प्राप्त की। युद्ध-शिक्षा पूरी हो जानेपर वे अपने भाइयोके अनुकूल रहने लगे। कई विशेष अस्त्र-शस्त्रोके सञ्चालनमे, फुर्ती और सफाईमे उन दिनो अर्जुनके समान कोई योद्धा नहीं था। द्रोणाचार्यका भी ऐसा ही निश्चय था। उन्होने एक दिन कौरवोकी भरी सभामे अर्जुनसे कहा—'अर्जुन! देखो, मैं महर्षि अगस्त्यके शिष्य अग्निवेश्यका शिष्य हूँ। उन्हींसे मैंने ब्रह्मशिर नामक अस्त्र प्राप्त किया था, जो तुम्हे दे दिया। उसके नियम भी तुम्हे बतला चुका हूँ। अब मुझे तुम अपने भाई-बन्धुओके सामने यह गुरुदक्षिणा दो कि यदि युद्धमे हमारा और तुम्हारा सामना हो तो तुम मुझसे लडनेमे भी मत हिचकना।' अर्जुनने गुरुदेवकी आज्ञा स्वीकार की और वे उनके चरणोका स्पर्श करके बायीं ओरसे निकल गये। पृथ्वीपर सर्वत्र यह बात फैल गयी कि अर्जुनके समान श्रेष्ठ धनुर्धर और कोई नहीं है।

भीमसेन और अर्जुनके समान ही सहदेवने भी बृहस्पतिद्वारा सम्पूर्ण नीतिशास्त्रकी शिक्षा ग्रहण की थी। अतिरथी नकुल भी बडे विनीत और तरह-तरहके युद्धोमे कुशल थे। अर्जुनने तो सौवीर देशके राजा दत्तामित्रको भी—जो बडा बली और मानी था, जिसने गन्धर्वोका उपद्रव रहते हुए भी तीन वर्षतक लगातार यज्ञ किया था और जिसे स्वयं राजा पाण्डु भी नहीं जीत सके थे—युद्धमे मार गिराया। इसके अतिरिक्त भीमसेनकी सहायतासे पूर्व दिशा और अपने पराक्रमसे दक्षिण दिशापर भी विजय प्राप्त कर ली। दूसरे राज्योके धन-वैभव राज्यमे आने लगे, उनके राज्यकी बडी वृद्धि हुई। देश-देशमे पाण्डवोकी प्रसिद्धि हो गयी और सभी उनकी ओर आकर्षित होने लगे।

यह सब देख-सुनकर सहसा धृतराष्ट्रके भावमे परिवर्तन हो गया। दूषित भावके उद्रेकके कारण वे अत्यन्त चिन्तित रहने लगे। जब उनकी आतुरता अत्यन्त बढ गयी तब उन्होने अपने श्रेष्ठ मन्त्री राजनीति-विशारद कणिकको बुलवाया। धृतराष्ट्रने कहा—'कणिक! दिनोदिन पाण्डवोके यश एवं पराक्रमकी वृद्धि होती ही जा रही है। इससे मेरे चित्तमे बडी जलन हो रही है। तुम निश्चितरूपसे बतलाओ कि उनके साथ मुझे संधि करनी चाहिये या विग्रह? मैं तुम्हारी बात मानूँगा।'

कणिकने कहा—राजन्! आप मेरी बात सुनिये, मुझपर रुष्ट न होइयेगा। राजाको सर्वदा दण्ड देनेके लिये उद्यत रहना चाहिये और दैवके भरोसे न रहकर पौरुष प्रकट करना चाहिये—'नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः' (महा० आदि० १३९।६)। राजा अपनेमे कोई कमजोरी न आने दे और हो भी तो किसीको मालूम न होने पाये। दूसरोकी कमजोरी जानता रहे। यदि शत्रुका अनिष्ट प्रारम्भ कर दे तो उसे बीचमे न रोके। काँटेकी नोक भी यदि

*इस लेखमे महाभारतके प्रसंगानुसार कणिकद्वारा धृतराष्ट्रको मुख्यरूपसे कूटनीति समझायी गयी है जो सामान्यतः सर्वग्राह्य नहीं है।

भीतर रह जाय तो बहुत दिनोंतक मवाद देती रहती है। शत्रुको कमजोर समझकर आँखें मूँद नहीं लेनी चाहिये। यदि समय अनुकूल न हो तो उसकी ओरसे आँख-कान बंद कर ले, परंतु सर्वदा सावधान रहे। शत्रुके तीन (मन्त्र, बल और उत्साह), पाँच (सहाय, सहायक साधन, उपाय, देश-कालका विभाग) तथा सात (साम, दान, दण्ड, भेद, माया, ऐन्द्रजालिक प्रयोग और शत्रुके गुप्त कार्य) राज्याङ्गोंको नष्ट करता रहे। जबतक समय अपने अनुकूल न हो, तबतक शत्रुको कंधेपर चढ़ाकर भी ढोया जा सकता है। परंतु समय आनेपर मटकेकी तरह पटककर उसे फाड़ डालना चाहिये। साम, दान, दण्ड, भेद आदि किसी उपायसे अपने शत्रुको नष्ट कर देना ही राजनीतिका मूल मन्त्र है।

धृतराष्ट्रने कहा—कणिक! साम, दान, दण्ड अथवा भेदके द्वारा किस प्रकार शत्रुका नाश किया जाता है—यह बात तुम ठीक-ठीक बतलाओ।

कणिकने कहा—महाराज! मैं आपको इस विषयमें एक कथा सुनाता हूँ—किसी वनमें एक बड़ा बुद्धिमान् और स्वार्थकोविद गीदड़ रहता था। उसके चार सखा—बाघ, चूहा, भेड़िया और नेवला भी वहीं रहते थे। एक दिन उन्होंने एक बड़ा बलवान् और हट्टा-कट्टा हरिणोंका सरदार देखा। पहले तो उन लोगोंने उसे पकड़नेकी चेष्टा की, परंतु असफल रहे। तदनन्तर उन्होंने आपसमें विचार किया। गीदड़ने कहा—'यह हरिण दौड़नेमें बड़ा फुर्तीला, जवान और चतुर है। भाई बाघ! आपने इसे मारनेकी कई बार कोशिश की, पर सफलता न मिली। अब ऐसा उपाय किया जाय कि जब यह हरिण सो रहा हो तो चूहा भाई जाकर धीरे-धीरे इसके पैर कुतर ले। फिर आप पकड़ लीजिये तथा हम सब मिलकर इसे मौजसे खा जायँ।' सबने मिल-जुलकर वैसा ही किया। हरिण मर गया। खानेके समय गीदड़ने कहा—'अच्छा, अब तुमलोग स्नान कर आओ। मैं इसकी देख-भाल करता हूँ।' सबके चले जानेपर गीदड़ मन-ही-मन कुछ विचार करने लगा। तबतक महाबली बाघ स्नान करके नदीसे लौट आया।

गीदड़को चिन्तित देखकर बाघने पूछा—'मेरे चतुर मित्र! तुम किस उधेड़-बुनमें पड़े हो? आओ, आज इस हरिणको खाकर हमलोग मौज करें।' गीदड़ने कहा—'बलवान् बाघ भाई! चूहेने मुझसे कहा है कि बाघके बलको धिक्कार है। हरिणको तो मैंने मारा है। आज वह बाघ मेरी कमाई खायगा। सो भाई! उसकी यह घमण्डभरी बात सुनकर मैं तो अब हरिणको खाना अच्छा नहीं समझता।' बाघने कहा—'अच्छा ऐसी बात है? उसने तो मेरी आँख खोल दी। अब मैं अपने ही बलबूतेपर पशुओंको मारकर खाऊँगा।' यह कहकर बाघ चला गया। उसी समय चूहा आया। गीदड़ने कहा—'चूहा भाई! नेवला मुझसे कह रहा था कि बाघके काटनेसे हरिणके मांसमें जहर मिल गया है। मैं तो इसे खाऊँगा नहीं, यदि तुम कहो तो मैं चूहेको खा जाऊँ। अब तुम जैसा ठीक समझो, करो।' चूहा डरकर अपने बिलमें घुस गया। अब भेड़ियेकी बारी आयी। गीदड़ने कहा—'भेड़िया भाई! आज बाघ तुमपर बहुत नाराज हो गया है। मुझे तो तुम्हारा भला भी नहीं दीखता। वह अभी बाघिनके साथ यहाँ आयेगा। जो ठीक समझो करो।' भेड़िया दुम दबाकर भाग निकला। तबतक नेवला आया। गीदड़ने कहा—'देख रे नेवले! मैंने लड़कर बाघ, भेड़िये और चूहेको भगा दिया है। यदि तुझे कुछ घमण्ड हो तो आ, मुझसे लड़ ले और फिर हरिणका मांस खा।' नेवलेने कहा—'जब सभी तुमसे हार गये तो मैं तुमसे लड़नेकी हिम्मत कैसे करूँ?' वह भी चला गया। अब गीदड़ अकेला ही मांस खाने लगा।

राजन्! चतुर राजाके लिये भी ऐसी ही बात है। डरपोकको भयभीत कर दे, शूरवीरको हाथ जोड़ ले। लोभीको कुछ दे दे और बराबर तथा कमजोरको पराक्रम दिखाकर वशमें कर ले—

> एवं समाचरन्नित्यं सुखमेधते भूपतिः।
> भयेन भेदयेद् भीरुं शूरमञ्जलिकर्मणा॥
> लुब्धमर्थप्रदानेन समं न्यूनं तथौजसा।
>
> (महा० आदि० १३९।५०-५१)

शत्रु कोई भी हो, उसे मार ही डालना चाहिये। सौगन्ध खाकर और धनका लालच देकर, जहर या धोखेसे भी शत्रुको जीत लेना चाहिये। मनमें द्वेष रहनेपर भी मुसकराकर बातचीत करनी चाहिये। मारनेकी इच्छा रखता और मारता हुआ भी मीठा ही बोले। मारकर कृपा करे, अफसोस करे

और रोवे। शत्रुका सतुष्ट रख परतु उसकी चूक दखत ही चढ बैठे। जिनपर शङ्का नहीं होती, उन्हींपर अधिक शङ्का करनी चाहिये। वैसे लोग अधिक धोखा देते हैं। जो विश्वासपात्र नहीं हैं उनपर तो विश्वास नहीं ही करना चाहिये, किंतु जो विश्वासपात्र हैं, उनपर भी अधिक विश्वास नहीं करना चाहिये। क्योंकि अतिविश्वाससे होनेवाला भय जड-मूलका भी नाश कर डालता हे—

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्।
विश्वासाद् भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति॥

(महा० आदि० १३९। ६२)

सर्वत्र पाखण्डी, तपस्वी आदिके वेषमे परीक्षित गुप्तचर रखने चाहिये। बगीचे, टहलनेके स्थान, मन्दिर, सडक तीर्थ, चौराह, कुएँ, पहाड, जगल और सभा भीड-भाडक स्थानाम गुप्तचराको अदलते-बदलते रहना चाहिये। वाणीका विनय और हृदयकी कठोरता भयकर काम करते हुए भी मुसकराकर बोलना—यह नीतिनिपुणताका चिह्न है। हाथ जोडना, सागन्ध खाना, आश्वासन देना, पैर छूना और आशा बँधाना—य ही सब ऐश्वर्य-प्राप्तिके उपाय हैं। जो अपने शत्रुसे संधि करके निश्चिन्त हो जाता है, उसका होश तब ठिकाने आता है जब सर्वनाश हो जाता हे। अपनी बात केवल शत्रुसे ही नहीं, मित्रसे भी छिपानी चाहिये। किसीको आशा दे भी तो बहुत दिनोकी। बीचम अडचन डाल दे। कारण-पर-कारण गढता जाय। राजन्! आपको पाण्डुपुत्रासे अपनी रक्षा करनी चाहिये। वे दुर्योधन आदिसे बलवान् हैं। आप ऐसा उपाय कीजिये कि उनसे कोई भय न रहे और पीछे पश्चात्ताप भी न करना पडे। इससे अधिक और मैं क्या कहूँ।' यह कहकर कणिक अपने घर चला गया। धृतराष्ट्र और भी चिन्तातुर होकर सोच-विचार करने लगे।

~~~~

आख्यान—

दु खदायी परिहासका कटु परिणाम

पूर्वकालमे एक सहस्रपाद नामके ऋषिकुमार थे। उनम सभी गुण थे, केवल एक दुर्गुण था कि वे अपने मित्रा और साथियाको हँसीमे चौंका दिया करते या डरा दिया करते थे। उनक एक मित्र थे ऋषिकुमार खगम। वे सत्यवादी थे और परम तपस्वी थे परतु अत्यन्त भीरु थे। सर्पसे उन्हे बहुत डर लगता था।

एक दिन ऋषिकुमार सहस्रपादने खेल-खेलमें घासका एक सर्प बनाया और उसे लेकर दबे पैर अपने मित्र खगमजीके पीछे जा खडे हुए। उस समय ऋषिकुमार खगम अग्निहोत्र कर रहे थे। सहस्रपादने वह घासका सर्प उनके ऊपर फेंक दिया। इससे भयके मारे खगम मूर्च्छित हो गये।

मूर्च्छा भङ्ग होनेपर खगमने उस घासके सर्पको पहचाना और क्रोधसे उनके नेत्र लाल हो गये। उन्होने सहस्रपादको शाप दिया—'तूने मुझे विषरहित तृणके सर्पसे डराया है अत तू विषहीन सर्पयोनि प्राप्त करेगा।'

इस भयकर शापको सुनकर सहस्रपाद घबरा उठे। वे पृथ्वीपर गिर पडे और हाथ जोडकर प्रार्थना करने तथा गिडगिडाने लगे। इससे खगमको दया आ गयी। उन्होने बताया—'भृगुवशम प्रमतिके पुत्र रुरु होगे वे जब तुम्हे मिलेगे, तब तुम मेरे शापसे छूट जाओगे। शापको सर्वथा मिथ्या नहीं किया जा सकता। अपने मुखसे निकले शब्दोको मैं भी असत्य नहीं कर सकता।'

सहस्रपादको डुण्डुभ जातिका सर्प होना पडा। प्रमतिके पुत्र रुरुकी पत्नी सर्पके काटनेसे जब मर गयी, तब सर्प-जातिपर ही रुष्ट होकर वे मोटा डडा लेकर घूमने लगे और जो भी सर्प मिलता उसीको मार देते। रुरुको मार्गमे डुण्डुभ सर्प बने सहस्रपाद भी मिले। उन्हे भी मारनेको रुरुने डडा उठाया। सहस्रपादने उन्हे रोका और बताया कि 'विषहीन निरपराध डुण्डुभ जातिके सर्पोंको मारना तो पाप ही है। प्राणी कालकी प्रेरणासे ही मरता है। सर्प, विद्युत् या रोग आदि तो मृत्युके निमित्तमात्र हैं। प्राणियाको अभय देना—अहिसा ही परम धर्म है।' इस प्रकार रुरुको धर्मोपदेश करके वे ऋषिकुमार सर्पयोनिसे छूट गये। (महाभारत आदि० अ० ११)

~~~~

भारद्वाज कणिककी कूटनीति

महाभारतमे कणिक नामके नीतितत्त्वोपदेष्टा दो आचार्योंका वर्णन प्राप्त होता है। प्रथम कणिक महाराज धृतराष्ट्रके एक मन्त्री थे, ये कूट-राजनीति और अर्थशास्त्रके पण्डित थे तथा विविध शास्त्रों एवं मन्त्रोंके ज्ञाता भी थे। इन्होंने धृतराष्ट्रको कूटनीतिका उपदेश दिया था, जो महाभारतके आदिपर्व (अ० १३९)-मे उपनिबद्ध है।

द्वितीय कणिक भारद्वाजकुलोत्पन्न एक ब्राह्मण थे और राजशास्त्रके श्रेष्ठ पण्डित थे। इन्होने सौवीरदेशके राजा शत्रुञ्जयको, जब वे शत्रुओंद्वारा घिर गये थे तथा राज्यमे अधर्मका बाहुल्य हो गया था, कूटनीतिका उपदेश दिया, उसी उपदेशका सार यहाँ दिया जा रहा है।

'*विपत्तिके समयमें मेरा क्या कर्तव्य होना चाहिये*', राजा शत्रुञ्जयद्वारा ऐसा प्रश्न करनेपर भारद्वाज कणिक बोले—

'सौवीर-नरेश! राजाको सर्वदा दण्ड देनेके लिये उद्यत रहना चाहिये और सदा ही पुरुषार्थ प्रकट करना चाहिये। राजा अपनेमे छिद्र अर्थात् दुर्बलता न रहने दे। शत्रुपक्षके छिद्र या दुर्बलतापर सदा ही दृष्टि रखे और यदि शत्रुओंकी दुर्बलताका पता चल जाय तो उसी समय उनपर आक्रमण कर दे। जो सदा दण्ड देनेके लिये उद्यत रहता है, उससे प्रजाजन बहुत डरते हैं, इसलिये समस्त प्राणियोंको दण्डके द्वारा काबूमे कर लेना चाहिये।

इसी प्रकार संकटकाल उपस्थित होनेपर राजा सुन्दर मन्त्रणा उत्तम पराक्रम एवं उत्साहपूर्वक युद्ध करे तथा अवसर आ जाय तो सुन्दर ढंगसे पलायन भी करे। आपत्कालके समय आवश्यक कर्म ही करना चाहिये, सोच-विचार नहीं करना चाहिये—

सुमन्त्रितं सुविक्रान्तं सुयुद्धं सुपलायितम्।
आपदास्पदकाले तु कुर्वीत न विचारयेत्॥

राजा केवल बातचीतमे ही अत्यन्त विनयशील हो, हृदयको छुरेकी धारके समान तीक्ष्ण बनाये रखे, पहले मुसकराकर मीठे वचन बोले तथा काम-क्रोधका त्याग दे। शत्रुके साथ किये जानेवाले समझौते आदि कार्यमे संधि करके भी उसपर विश्वास न करे। अपना काम बना लेनेपर बुद्धिमान् पुरुष शीघ्र ही वहाँसे हट जाय। जिसकी बुद्धि संकटमे पड़कर शोकाभिभूत हो जाय, उसे भूतकालकी बातें (राजा नल तथा भगवान् श्रीराम आदिके जीवन-वृत्तान्त) सुनाकर सान्त्वना दे। जिसकी बुद्धि अच्छी नहीं है उसे भविष्यमे लाभकी आशा दिलाकर तथा विद्वान् पुरुषको तत्काल ही धन आदि देकर शान्त करे।

ऐश्वर्य चाहनेवाले राजाको चाहिये कि वह अवसर देखकर शत्रुके सामने हाथ जोड़े, शपथ खाये आश्वासन दे और चरणोंमे सिर झुकाकर बातचीत करे। इतना ही नहीं वह धीरज देकर उसके आँसूतक पोंछे—

अञ्जलिं शपथं सान्त्वं प्रणम्य शिरसा वदेत्।
अश्रुप्रमार्जनं चैव कर्तव्यं भूतिमिच्छता॥

जबतक समय अपने अनुकूल न हो जाय, तबतक शत्रुको कन्धेपर बिठाकर ढोना पड़े तो वह भी करे परंतु जब समय अनुकूल आ जाय, तब उसे उसी प्रकार नष्ट कर दे, जैसे घड़ेको पत्थरपर पटककर फोड़ दिया जाता है—

वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत्कालस्य पर्ययः।
प्राप्तकालं तु विज्ञाय भिन्द्याद् घटमिवाश्मनि॥

राजेन्द्र! दो ही घड़ी सही मनुष्य तिन्दुककी लकड़ीकी मशालके समान जोर-जोरसे प्रज्वलित हो उठे (शत्रुके सामने घोर पराक्रम प्रकट करे) दीर्घकालतक भूसीकी आगके समान बिना ज्वालाके ही धुआँ न उठाये अर्थात् मन्द पराक्रमका परिचय न दे—

मुहूर्तमपि राजेन्द्र तिन्दुकालातवज्ज्वलेत्।
न तुषाग्निरिवानर्चिर्धूमायेत चिरं नरः॥

कोयल सूअर, सुमेरु पर्वत, शून्यगृह, नट तथा अनुरक्त सुहृद्—इनमे जो श्रेष्ठ गुण या विशेषताएँ हैं, उन्हें राजा काममे लाये*—

कोकिलस्य वराहस्य मेरोः शून्यस्य वेश्मनः।
नटस्य भक्तमित्रस्य यच्छ्रेयस्तत् समाचरेत्॥

* कोयलका श्रेष्ठ गुण है कण्ठकी मधुरता सूअरके आक्रमणको रोकना कठिन है यही उसकी विशेषता है मेरुका गुण है सबसे अधिक उन्नत होना सूने घरकी विशेषता है अनेकका आश्रय देना नटका गुण है दूसरोंको अपने क्रिया-कौशलद्वारा संतुष्ट करना तथा अनुरक्त सुहृद्की विशेषता है हितपरायणता। ये सारे गुण राजाको अपनाने चाहिये।

राजाको चाहिये कि वह प्रतिदिन उठ-उठकर पूर्ण सावधान हो शत्रुके घर जाय और उसका अमङ्गल ही क्यों न हो रहा हो सदा उसकी कुशल पूछे और मङ्गल-कामना करे—

उत्थायोत्थाय गच्छेत नित्ययुक्तो रिपोर्गृहान्।
कुशलं चास्य पृच्छेत यद्यप्यकुशलं भवेत्॥

जो आलसी हैं, कायर हैं, अभिमानी हैं, लोकचर्चासे डरनेवाले और सदा समयकी प्रतीक्षामें बैठे रहनेवाले हैं, ऐसे लोग अपने अभीष्ट अर्थको नहीं पा सकते—

नालसाः प्राप्नुवन्त्यर्थान् न क्लीबा नाभिमानिनः।
न च लोकरवाद् भीता न वै शश्वत् प्रतीक्षिणः॥

राजा इस तरह सतर्क रहे कि उसके छिद्रका शत्रुको पता न चले, परंतु वह शत्रुके छिद्रको जान ले। जैसे कछुआ अपने सब अङ्गोंको समेटकर छिपा लेता है, उसी प्रकार राजा अपने छिद्रोंको छिपाये रखे—

नास्यच्छिद्रं परो विद्याद् विद्याच्छिद्रं परस्य तु।
गूहेत् कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद् विवरमात्मनः॥

राजा बगुलेके समान एकाग्रचित्त होकर कर्तव्य विषयका चिन्तन करे और सिंहके समान पराक्रम प्रकट करे—

बकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत्।

राजा बाँसका धनुष बनाये, हिरनके समान चौकन्ना होकर सोये, अंधा बने रहने योग्य समय हो तो अंधेका भाव किये रहे और अवसरके अनुसार बहरेका भाव भी स्वीकार कर ले—

कुर्यात् तृणमयं चापं शयीत मृगशायिकाम्।
अन्धः स्यादन्धवेलायां बाधिर्यमपि संश्रयेत्॥

बुद्धिमान् पुरुष देश और कालको अपने अनुकूल पाकर पराक्रम प्रकट करे। देश-कालकी अनुकूलता न होनेपर किया गया पराक्रम निष्फल होता है—

देशकालौ समासाद्य विक्रमेत विचक्षणः।
देशकालव्यतीतो हि विक्रमो निष्फलो भवेत्॥

अपने लिये समय अच्छा है या खराब? अपना पक्ष प्रबल है या निर्बल? इन सब बातोंका निश्चय करके तथा शत्रुके भी बलको समझकर युद्ध या संधिके कार्यमें अपने-आपको लगाये—

कालाकालौ सम्प्रधार्य बलाबलमथात्मनः।
परस्य च बलं ज्ञात्वा तत्रात्मानं नियोजयेत्॥

नीतिज्ञ राजा ऐसे वृक्षके समान रहे, जिसमें फूल तो अधिक लगे हों, परंतु फल न हों। फल लगनेपर भी उसे पानेके लिये उसपर चढ़ना अत्यन्त कठिन हो, वह रहे तो कच्चा, पर दीखे पकेके समान तथा स्वयं कभी जीर्ण-शीर्ण न हो—

सुपुष्पितः स्यादफलः फलवान् स्याद् दुरारुहः।
आमः स्यात् पक्वसंकाशो न च शीर्येत कस्यचित्॥

राजा शत्रुकी आशा पूर्ण होनेमें विलम्ब पैदा करे, उसमें विघ्न डाल दे। उस विघ्नका कुछ कारण बता दे और उस कारणको युक्तिसङ्गत सिद्ध कर दे—

आशां कालवतीं कुर्यात् तां च विघ्नेन योजयेत्।
विघ्नं निमित्ततो ब्रूयान्निमित्तं चापि हेतुतः॥

जबतक अपने ऊपर भय न आया हो, तबतक भयभीतकी भाँति उसे टालनेका प्रयत्न करते रहना चाहिये, परंतु जब भयको सामने आया हुआ देखे तो निडर होकर शत्रुपर प्रहार कर देना चाहिये—

भीतवत् संविधातव्यं यावद् भयमनागतम्।
आगतं तु भयं दृष्ट्वा प्रहर्तव्यमभीतवत्॥

जहाँ प्राणोंका संशय हो, ऐसे कष्टको स्वीकार किये बिना मनुष्य कल्याणका दर्शन नहीं कर सकता। प्राण-संकटमें पड़कर यदि वह पुनः जीवित रह जाता है तो अपना भला देखता है—

न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति।
संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति॥

भविष्यमें जो संकट आनेवाले हों, उन्हें पहलेसे ही जाननेका प्रयत्न करे और जो भय सामने उपस्थित हो जाय उसे दबानेकी चेष्टा करे। दबा हुआ भय भी पुनः बढ़ सकता है, इस डरसे यही समझे कि अभी वह निवृत्त हो नहीं हुआ है [और ऐसा समझकर सतत सावधान रहे]—

अनागतं विजानीयाद् यच्छेद् भयमुपस्थितम्।
पुनर्वृद्धिभयात् किंचिदनिवृत्तं निशामयेत्॥

जिसके सुलभ होनेका समय आ गया हो, उस

सुखका त्याग देना और भविष्यमें मिलनेवाले सुखकी आशा करना—यह बुद्धिमानोंकी नीति नहीं है—

प्रत्युपस्थितकालस्य सुखस्य परिवर्जनम्।
अनागतसुखाशा च नैव बुद्धिमतां नयः॥

जो शत्रुके साथ संधि करके विश्वासपूर्वक सुखसे सोता है, वह उसी मनुष्यके समान है जो वृक्षकी शाखापर गाढ़ी नींदमें सो गया हो। ऐसा पुरुष नीचे गिरने (शत्रुद्वारा संकटमें पड़ने)-पर ही सजग या सचेत होता है—

योऽरिणा सह संधाय सुखं स्वपिति विश्वसन्।
स वृक्षाग्रे प्रसुप्तो वा पतितः प्रतिबुद्ध्यते॥

मनुष्य कोमल या कठोर, जिस किसी भी उपायसे सम्भव हो, दीन-दशासे अपना उद्धार करे। इसके बाद शक्तिशाली हो पुनः धर्माचरण करे—

कर्मणा येन तेनैव मृदुना दारुणेन च।
उद्धरेद् दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत्॥

जो लोग शत्रु-के-शत्रु हों, उन सबका सेवन करे। अपने ऊपर शत्रुओंद्वारा जो गुप्तचर नियुक्त किये गये हों उनको भी पहचाननेका प्रयत्न करे। अपने तथा शत्रुके राज्यमें ऐसे गुप्तचर नियुक्त करे, जिन्हें कोई जानता-पहचानता न हो। शत्रुके राज्यमें पाखण्डवेषधारी और तपस्वी आदिको ही गुप्तचर बनाकर भेजना चाहिये।

जो विश्वासपात्र नहीं है, उसपर कभी विश्वास न करे, परंतु जो विश्वासपात्र है उसपर भी अधिक विश्वास न करे क्योंकि अधिक विश्वाससे भय उत्पन्न होता है, अतः बिना समुचित परीक्षण किये किसीपर भी विश्वास न करे—

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्।
विश्वासाद् भयमभ्येति नापरीक्ष्य च विश्वसेत्॥

जो संदेह करने योग्य न हो, ऐसे व्यक्तिपर भी संदेह करे—उसकी ओरसे चौकन्ना रहे, किंतु जिससे भयकी आशंका हो उसकी ओरसे तो सदा-सर्वथा सावधान रहे ही, क्योंकि जिसकी ओरसे भयकी आशंका नहीं है उधरसे यदि भय उत्पन्न होता है तो वह जड़-मूलसहित नष्ट कर देता है—

अशङ्क्यमपि शङ्केत नित्यं शङ्केत शङ्कितात्।
भयं ह्यशङ्किताज्जातं समूलमपि कृन्तति॥

कोई जन्मसे ही मित्र अथवा शत्रु नहीं होता है। सामर्थ्ययोगसे ही शत्रु और मित्र उत्पन्न होते रहते हैं—

नास्ति जात्या रिपुर्नाम मित्रं चापि न विद्यते।
सामर्थ्ययोगाज्जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा॥

ऐश्वर्यकी इच्छा रखनेवाला राजा दोषदृष्टिका परित्याग करके सदा लोगोंको अपने पक्षमें मिलाये रखने तथा दूसरोंपर अनुग्रह करनेके लिये यत्नशील बना रहे और शत्रुओंका दमन भी प्रयत्नपूर्वक करता रहे—

सग्रहानुग्रहे यत्नः सदा कार्योऽनसूयता।
निग्रहश्चापि यत्नेन कर्तव्यो भूतिमिच्छता॥

ऐश्वर्यकी इच्छा रखनेवाले राजाको मधुर वचन बोलकर, दूसरोंका सम्मान करके और सहनशील होकर लोगोंको अपने पास आनेके लिये निमन्त्रित करना चाहिये। यही लोककी आराधना अथवा साधारण जनताका सम्मान है। इसे अवश्य करना चाहिये—

निमन्त्रयीत सान्त्वेन सम्मानेन तितिक्षया।
लोकाराधनमित्येतत् कर्तव्यं भूतिमिच्छता॥

सूखा वैर न करे तथा दोनों बाँहोंसे तैरकर नदीके पार न जाय। यह निरर्थक और आयुनाशक कर्म है। यह कुत्तेके द्वारा गायका सींग चबाने-जैसा कार्य है जिससे उसके दाँत भी रगड़ उठते हैं और रस भी नहीं मिलता—

न शुष्कवैरं कुर्वीत बाहुभ्यां न नदीं तरेत्।
अनर्थकमनायुष्यं गोविषाणस्य भक्षणम्।
दन्ताश्च परिमृज्यन्ते रसश्चापि न लभ्यते॥

ऋण, अग्नि और शत्रुमेंसे कुछ बाकी रह जाय तो वह बारम्बार बढ़ता रहता है इसलिये इनमेंसे किसीको शेष नहीं छोड़ना चाहिये—

ऋणशेषमग्निशेषं शत्रुशेषं तथैव च।
पुनः पुनः प्रवर्धन्ते तस्माच्छेषं न धारयेत्॥

यदि बढ़ता हुआ ऋण रह जाय, तिरस्कृत शत्रु जीवित रहे और उपेक्षित रोग शेष रह जायँ तो ये सब तीव्र भय उत्पन्न करते हैं—

वर्धमानमृणं तिष्ठेत् परिभूताश्च शत्रवः।
जनयन्ति भयं तीव्रं व्याधयश्चाप्युपेक्षिताः॥

किसी कार्यको अच्छी तरह सम्पन्न किये बिना न

छोडे और सदा सावधान रहे। शरीरमे गडा हुआ काँटा भी यदि पूर्णरूपसे निकाल न दिया जाय—उसका कुछ भाग शरीरम ही टूटकर रह जाय तो वह चिरकालतक विकार उत्पन्न करता है—

नासम्यक्कृतकारी स्यादप्रमत्त सदा भवेत्।
कण्टकोऽपि हि दुश्छिन्ना विकार कुरुते चिरम्॥

राजा गीधके समान दूरतक दृष्टि डाले, बगुलक समान लक्ष्यपर दृष्टि जमाये, कुत्तेके समान चौकन्ना रहे और सिहके समान पराक्रम प्रकट करे। मनम उद्वेगको स्थान न दे। कौएकी भाँति सशक रहकर दूसराकी चेष्टापर ध्यान रखे और दूसरेके बिलम प्रवश करनेवाले सर्पके समान शत्रुका छिद्र देखकर उसपर आक्रमण करे—

गृध्रदृष्टिर्बकालीन श्वचेष्ट सिहविक्रम ।
अनुद्विग्न काकशङ्की भुजङ्गचरित चरेत्॥

जो अपनेसे शूरवीर हो उसे हाथ जोडकर वशमे करे, जो डरपोक हो उस भय दिखाकर फाड ले, लोभीको धन दकर वशमे कर ले तथा जो बराबर हो उसके साथ युद्ध छेड द—

शूरमञ्जलिपातेन भीरु भेदेन भेदयेत्।
लुब्धमर्थप्रदानेन सम तुल्येन विग्रह ॥

राजा सदा कोमल बना रहे तो लोग उसकी अवहेलना करते हैं और सदा कठार रहे तो उससे उद्विग्न हो उठते हैं, अत जब कठोरता दिखानेका समय हा तो कठोर और जब कोमलतापूर्ण बर्ताव करनेका अवसर हो तो कोमल बन जाय—

मृदुरित्यवजानन्ति तीक्ष्ण इत्युद्विजन्ति च।
तीक्ष्णकाले भवेत् तीक्ष्णो मृदुकाले मृदुर्भवेत्॥

बुद्धिमान् राजा कोमल उपायसे कोमल शत्रुका नाश करता है आर कोमल उपायस ही दारुण शत्रुका भी सहार कर डालता है। कोमल उपायसे कुछ भी असाध्य नहीं है, अत कोमल ही अत्यन्त तीक्ष्ण है—

मृदुनैव मृदु हन्ति मृदुना हन्ति दारुणम्।
नासाध्य मृदुना किंचित् तस्मात् तीक्ष्णतरा मृदु ॥

जो समयपर कोमल होता है और समयपर कठोर बन जाता है, वह अपने सार कार्य सिद्ध कर लता हे ओर शत्रुपर भी उसका अधिकार हा जाता हे—

काले मृदुर्यो भवति काले भवति दारुण ।
प्रसाधयति कृत्यानि शत्रु चाप्यधितिष्ठति॥

विद्वान् पुरुपसे विरोध करके 'मैं दूर हूँ' ऐसा समझकर निश्चिन्त नहीं होना चाहिये, क्योकि बुद्धिमान्‌की बाहे बहुत बडी होती हैं (उसके द्वारा किय गय पतीकारके उपाय दूरतक प्रभाव डालते हें), अत यदि बुद्धिमान् पुरपपर चोट की गयी तो वह अपनी उन विशाल भुजाओद्वारा दूरसे भी शत्रुका विनाश कर सकता है—

पण्डितेन विरुद्ध सन् दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसत्।
दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू याभ्या हिंसति हिंसित ॥

इस प्रकार हितार्थी ब्राह्मण भारद्वाज कणिककी कही हुई इन यथार्थ बाताको सुनकर सौवीरदेशके राजाने उनका यथोचितरूपसे पालन किया, जिससे वे बन्धु-बान्धवासहित समुज्वल राजलक्ष्मीका उपभोग करने लग। *

चेतावनी

भारद्वाज कणिकने इस प्रकार कूटनीतिका उपदेश देकर अन्तम यह कहा—'हे राजन्! यह जो मैंने शत्रुके प्रति बर्तावका उपदश दिया ह, इसे समर्थ पुरुष सम्पत्तिक समय कभी भी आचरणमे न लाये, किंतु शत्रु जब इस प्रकारक अनुचित उपायाद्वारा अपन ऊपर सकट उपस्थित कर दे तब प्रतीकारके रूपम इन उपायाको प्रयोगम लानका विचार करना चाहिये'—

इतीदमुक्त वृजिनाभिसहित
न चैतदेव पुरुप समाचरेत्।
परप्रयुक्ते न कथ विभावये-
दतो मयाक्त भवतो हितार्थिना॥

(महा० शान्ति० १४०।७०)

---

* यथावदुक्त वचन हितार्थिना निशम्य विप्रण सुवीरराष्ट्रप । तथाकराद् वाक्यमदीनचतन श्रिय च दाप्ता बुभुज सबान्धव ॥

नीति-सम्राट्—चाणक्य और उनकी नीति

(डॉ० श्रीदीनानाथजी झा 'दिनकर')

ईसासे लगभग चार सौ साल पूर्व भारतमे चाणक्य नामक एक महापुरुषने जन्म लिया था। उन्होंने अपनी बुद्धिके चमत्कारसे यूनानी शासकोंको देशसे बाहर निकाल दिया तथा साथ ही छोटे-छोटे राज्योंको मिलाकर एक विशाल भारतीय साम्राज्यकी नींव रखी थी। चाणक्य राजनीतिके गहरे-से-गहरे रहस्योंको समझते थे, यही कारण है कि उन्हें कूटनीतिका सम्राट् भी कहा जाता है।

चाणक्यका नाम कौटल्य भी है। चाणक्यकी प्रसिद्धिका दूसरा कारण उनकी लिखी हुई पुस्तक 'अर्थशास्त्र' है, जिससे उस समयके भारतकी आर्थिक और सामाजिक दशाका बोध होता है। 'अर्थशास्त्र'मे चाणक्यने शासन-सम्बन्धी अपने जो सिद्धान्त रखे हैं, उन्हें आज भी अद्वितीय माना जाता है।

राज-काजके मामलोंमे चाणक्यकी गहरी और पैनी दृष्टिका जो प्रमाण अर्थशास्त्रमे मिलता है, वह उन्हें संसारके योग्यतम राजनीतिज्ञो एवं कूटनीतिज्ञोंकी परम्परामें बहुत ऊँचा स्थान दिलानेके लिये पर्याप्त है। उनके द्वारा बनायी गयी नीतियोंको 'चाणक्यनीति' के नामसे जाना जाता है।

चाणक्यका हृदय जितना कोमल था उतने ही वे दृढनिश्चयी भी थे। चाणक्यका मत था कि जो व्यक्ति अपनी जननीके आदेशोंका पालन नहीं कर सकता, अपने व्यवहारोंसे उसे सुख प्रदान नहीं कर सकता वह व्यक्ति दूसरेको कदापि सुख नहीं प्रदान कर सकता है। माता सत्यस्वरूपा है। सत्यरूपिणी माताको जाननेके बाद ही ज्ञानरूपी पिता धर्मरूपी भ्राता दयारूपी सखा, शान्तिरूपिणी पत्नी तथा क्षमारूपी पुत्रको बान्धव बनाया जा सकता है। नीति-ग्रन्थमे लिखा है—

> सत्य माता पिता ज्ञानं धर्मो भ्राता दया सखा।
> शान्तिः पत्नी क्षमा पुत्रः षडेते मम बान्धवाः॥
>
> (चा०नी०द० १२।११)

चाणक्यका जन्म तक्षशिला नामक स्थानमे हुआ था। तक्षशिला उस समय सभी प्रकारकी विद्याओंका केन्द्र था। चाणक्य तक्षशिलामे जब विद्याध्ययन समाप्त कर चुके, तब वे उच्च अध्ययनहेतु पाटलिपुत्र आये। उस समय मगधके सिंहासनपर घननन्द नामक एक राजा अधिष्ठित था जो अत्यन्त ही लोभी और अत्याचारी था। चाणक्यके सम्पर्कमें आनेके बाद घननन्दके स्वभावमे परिवर्तन आया और वह दानी हो गया।

चाणक्य विद्वान् और अनोखी प्रतिभाके धनी थे। किंतु उनका रूप अच्छा नहीं था वर्ण भी कृष्ण था। एक दिन घननन्दने चाणक्यको अपने दरबारमे बुलाया। किसी बातपर उसने चाणक्यसे कह दिया—'जितनी तुम्हारी प्रतिभा है, उतना ही स्वरूप भी यदि सुन्दर होता तो कुछ अलग बात होती।'

चाणक्यको राजाकी बातपर अत्यन्त क्रोध आ गया। उन्होंने दरबारमे अपनी चोटी खोल दी और बोले—'राजन्! तुमने आज मेरा भरे दरबारमे जो अपमान किया है, उसका बदला मैं तुमसे अवश्य लूँगा। मैं मगधके सिंहासनपर किसी योग्य व्यक्तिको बैठाऊँगा और जबतक ऐसा नहीं कर लूँगा तबतक अपनी चोटी नहीं बाँधूँगा।'

चाणक्यनीतिमे कहा गया है कि राजाका न होना अच्छा है, किंतु बुरे राजाका होना अच्छा नहीं। मित्रका न होना अच्छा है, किंतु कुमित्रका होना अच्छा नहीं। शिष्य न हो तो अच्छा, किंतु निन्दित शिष्यका होना अच्छा नहीं। पत्नी न हो तो अच्छा है, किंतु कुदारा (व्यभिचारिणी पत्नी)-का होना अच्छा नहीं—

> वरं न राज्यं न कुराजराज्यं
> वरं न मित्रं न कुमित्रमित्रम्।
> वरं न शिष्यो न कुशिष्यशिष्यो
> वरं न दारा न कुदारदाराः॥
>
> (चा०नी०द० ६।१३)

फिर चाणक्य राजा घननन्दके दरबारको छोड़कर बाहर चले गये। वे पाटलिपुत्रसे जा ही रहे थे कि उनकी भेंट अचानक चन्द्रगुप्तसे हो गयी। चन्द्रगुप्तके साथ कुछ समयतक रहनेसे चाणक्यको पता लग गया कि वह बड़ा ही होनहार और साहसी है। वे उसे साथ लेकर तक्षशिला चले गये। यहाँ उन्होंने चन्द्रगुप्तको शस्त्र और शास्त्रोंकी शिक्षा दी।

चाणक्यने चन्द्रगुप्तको नीतिगत शिक्षा प्रदान करते हुए बताया कि गुणाकी सर्वत्र पूजा होती है, विशाल सम्पत्तिकी नहीं। क्या कलक-ग्रहणयुक्त पूर्ण चन्द्र उस प्रकार वन्दनीय होता है, जिस प्रकार दूजका निष्कलक चन्द्रमा? अपमानित हाकर जीनेसे अच्छा है मर जाना, क्याकि प्राणत्यागम क्षणिक दु ख हाता है और मानहानि हानेपर तो प्रतिदिन कष्ट होता है—

गुणा सर्वत्र पूज्यन्ते न महत्योऽपि सम्पद ।
पूर्णेन्दु कि तथा वन्द्यो निष्कलङ्को यथा कृश ॥
वर प्राणपरित्यागो मानभङ्गेन जीवनात्।
प्राणत्याग क्षण दु ख मानभङ्गे दिने दिने॥

(चा०नी०द० १६।७ १६)

चाणक्यने किस प्रकार अपने बुद्धि-कौशलसे राजा नन्द (घननन्द)-को पराजित करके अपनी प्रतिज्ञा पूरी की—यह कथा विशाखदत्तरचित सस्कृत नाटक 'मुद्राराक्षस' मे विस्तारसे बतायी गयी है।

चाणक्यने चन्द्रगुप्तका मगधके सिहासनपर बिठाकर उनके साम्राज्यका विस्तार करनेम महत्त्वपूर्ण सहयोग किया। चाणक्य त्यागी वृत्तिके थे। उन्हाने महलाम रहना कभी स्वाकार नहीं किया। चन्द्रगुप्त-जैसे प्रतापी सम्राट्के प्रधान मन्त्री होनेपर भी वे सर्वदा कुटियाम ही रहते थे। सादा भोजन करते आर सादे वस्त्र पहनते। उनका मानना था कि धर्म, धन, अन्न, गुरुके वचन और ओपधिको सावधानीपूर्वक ग्रहण करना चाहिये। जो ऐसा नहीं करता वह जीवित नही रह सकता—

धर्मं धन च धान्य च गुरोर्वचनमौपधम्।
सुगृहीत च कर्तव्यमन्यथा तु न जीवति॥

(चा०नी०द० १४।१९)

चाणक्यका मत था कि राजाका उद्देश्य प्रजाके कल्याणकी चिन्ता करना होना चाहिये। राजा वही अच्छा होता है जो प्रजाके सुखके सामन अपन सुखकी परवा न करे। चाणक्यने अपने 'अर्थशास्त्र' म इस बातपर जोर दिया है कि राजा चरित्रवान् हो। उनका मानना था कि प्रजाक सुखमे ही राजाका सुख है उसीके हितमें राजाका हित है।

चाणक्यने अपने अर्थशास्त्रम राजधर्म, मन्त्रिपरिपद्, राज्यव्यवस्था, राज्यके लिये अर्थकी व्यवस्था, न्याय, वैदेशिक नीति आदि विपयोपर विस्तारसे लिखा है।

चाणक्य दृढ सकल्पवाले एव अनेक विपयाके ज्ञाता थे। उनकी नीतियाँ समाजके हर वर्गके लिये थीं। राजा, प्रजा, पुत्र, पत्नी, सेवक, विद्वान्, धनवान् आदि सभी वर्गोंको उनके नीति-श्लाकासे लाभ मिलता आया है। उनकी नीतियोका अनुसरण करक न केवल भारत ही अपितु विश्वके अनेक राष्ट्र अपने राज-काजका सचालन करते रहे हैं। उनके नीतिगत श्लोक आज भी प्रासगिक हे।

चाणक्यने अपने नीतिगत श्लोकाक माध्यमसे चारित्रिक शिक्षा प्रदान करते हुए जीवनको उन्नत बनानकी 'सजीवनी' प्रस्तुत की है। कहना न हागा कि आज विश्वके समक्ष जा भी समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं, उन समस्याआका मूल कारण है नीतिका पालन न करना। 'नैतिक पतन' की स्थितिपर पहुँचे हम मानवोक लिये चाणक्यनीतिके श्लोक पथप्रदर्शक हा सकते हैं। उदाहरणार्थ कतिपय श्लोक यहाँ भावार्थसहित प्रस्तुत है—

छिन्नोऽपि चन्दनतरुर्न जहाति गन्ध
वृद्धोऽपि वारणपतिर्न जहाति लीलाम्।
यन्त्रार्पितो मधुरता न जहाति चेक्षु
क्षीणोऽपि न त्यजति शीलगुणान् कुलीन ॥

(चा०नी०द० १५।१८)

अर्थात् जैसे चन्दन-वृक्ष काट जानेपर भी अपनी गन्ध और शीतलताक गुणाको नहीं छोडता, वृद्धावस्थाको प्राप्त होनेपर भी गजराज अपनी क्रीडा नहीं छोडता कोल्हूम परे जानेके बाद भी ईख अपनी मधुरताका त्याग नहीं करती, इसी प्रकार मनुष्यका भी दरिद्रता तथा विपन्नताकी स्थितिमे अपने शील एव गुणाका त्याग नही करना चाहिये।

लोभश्चेदगुणेन कि पिशुनता यद्यस्ति कि पातकै
सत्य चत् तपसा च कि शुचिमनो यद्यस्ति तीर्थेन किम्।
सौजन्य यदि कि गुणै सुमहिमा यद्यस्ति कि मण्डनै
सद्विद्या यदि कि धनैरपयशो यद्यस्ति कि मृत्युना॥

(चा०नी०द० १७।४)

अर्थात् मनुष्यम यदि लोभरूपी दुर्गुण हे ता उसके समक्ष सभी दुर्गुण तुच्छ हैं। यदि परनिन्दा (पिशुनता)-की

प्रवृत्ति है तो दूसरे सभी पाप उसके सामने तुच्छ हैं। यदि सत्यरूपी तपस्यासे वह समृद्ध है तो उसे अन्य तपस्याकी क्या आवश्यकता? यदि मन पवित्र है तो किसी तीर्थाटनकी क्या आवश्यकता? यदि सज्जनता है तो अन्य गुणोंकी क्या आवश्यकता? यदि सुयश है तो अलंकार (गहना)-को धारण करनेकी क्या आवश्यकता? यदि उत्तम विद्या है तो अन्य धनकी क्या आवश्यकता और यदि व्यक्ति अपयशी है तो उसे मृत्युकी प्रतीक्षाकी क्या आवश्यकता क्योंकि वह तो जीते-जी ही मर चुका होता है।

प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः।
तस्मात् तदेव वक्तव्यं वचने का दरिद्रता॥
संसारकटुवृक्षस्य द्वे फले अमृतोपमे।
सुभाषितं च सुस्वादु सङ्गतिः सज्जने जने॥

(चा०नी०द० १६।१७-१८)

अर्थात् मधुर एवं प्रिय वचन बोलनेसे सभी प्राणी प्रसन्न होते हैं। मधुरतारूपी प्रिय वचनसे पराया भी अपना हो जाता है। अतः मधुर वचन बोलनेमें कृपणता नहीं करनी चाहिये। इस संसाररूपी कटु वृक्षमें अच्छे वचन और सुजनों (सज्जनों)-की संगति—ये दो अमृत-फल लगते हैं, जिनके प्रयोगसे जीवनकी कठिनतम परिस्थितियाँ भी सुगम बन जाया करती हैं।

यस्य पुत्रो वशीभूतो भार्या छन्दानुगामिनी।
विभवे यश्च संतुष्टस्तस्य स्वर्ग इहैव हि॥

(चा०नी०द० २।३)

जिसका पुत्र अपने वशमें हो, स्त्री आज्ञाकारिणी हो तथा जिसे अपनी उपलब्ध सम्पत्तिपर संतोष हो उसके लिये यहीं स्वर्ग है।

विद्या, तप, दान, चरित्र, गुण एवं धर्म (कर्तव्य)-से विहीन व्यक्तिको पृथ्वीका भार बताते हुए चाणक्यनीतिमें कहा गया है कि ऐसे व्यक्ति मानो मृगरूपमें घूम रहे हैं—

येषां न विद्या न तपो न दानं
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥

(चा०नी०द० १०।७)

उनका यह मानना है कि इस संसारमें विद्वान् व्यक्ति ही प्रशंसा प्राप्त करते हैं, उन्हींको सर्वत्र गौरव बढ़ता है। विद्यारूपी धनसे सब कुछ प्राप्त होता है। विद्या सर्वत्र पूजित होती है—

विद्वान् प्रशस्यते लोके विद्वान् सर्वत्र गौरवम्।
विद्यया लभते सर्वं विद्या सर्वत्र पूज्यते॥

(चा०नी०द० ८।२०)

भावना ही सबसे बड़ी नीति होती है जो शीलका निर्माण करती है। शुद्ध भावोंसे युक्त मनुष्य घर बैठे ही ईश्वरको प्राप्त कर सकता है। ईश्वरका निवास न तो किसी लकड़ीकी प्रतिमामें होता है और न ही पत्थर तथा मिट्टीकी मूर्तियोंमें। भावकी प्रधानताके कारण ही पत्थर, मिट्टी और लकड़ीसे बनी प्रतिमाएँ भी 'देवत्व' को प्राप्त करती हैं। अतः भावकी शुद्धता आवश्यक है—

न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृण्मये।
भावे हि विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारणम्॥

(चा०नी०द० ८।१२)

जिस प्रकार हजारों गायोंके झुंडमें गायका बछड़ा अपनी माताके ही पास जाता है, उसी प्रकार मनुष्यका कर्म (पाप-पुण्य) भी उस कर्ताको ही प्राप्त होता है। अतः सत्कर्मोंका उपार्जन करते रहना चाहिये—

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो गच्छति मातरम्।
तथा तच्च कृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति॥

(चा०नी०द० १३।१५)

वस्तुतः चाणक्यद्वारा कही गयी नीतियाँ कल्याण पथपर बढ़नेके लिये प्रेरित करती हैं।

आजके समयमें जबकि नैतिकताका पतन तीव्रतर गतिसे होता जा रहा है, इस स्थितिमें चाणक्यकी नीतियाँ जीवनको सही मार्गपर ले जानेवाली सिद्ध हो सकती हैं। विशेषकर आजके राजनीतिज्ञोंको 'चाणक्यनीति' से अवश्य ही शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये, जिससे राष्ट्रका कल्याण सम्भव हो सके।

कौटल्यकी अनूठी नीतियाँ

(श्रीनरेन्द्रदेवजी उयाना)

विष्णुगुप्त शर्मा (कौटल्य) एक कुलीन ब्राह्मण थे। इनका जन्मनाम विष्णुगुप्त था। ये इन्द्रियजयी, मेधावी, विद्वान्, नीतिमान् और अत्यन्त प्रभावशाली थे। कुटलगोत्रीय होनेसे ये कौटल्य कहलाते हैं।[१] चणकके पुत्र (वंशज) होनेसे ये चाणक्य कहलाये। अत्यन्त चतुर होनेके कारण भी इन्हें चाणक्य कहा जाता है। कूटनीतिज्ञके रूपमें चाणक्यका स्थान भारतीय राजनीतिमें सर्वोपरि माना जाता है। एक साधारण युवक चन्द्रगुप्त मौर्यका विशाल मगध-साम्राज्यका अधिपति बना देना साधारण बात नहीं थी, किंतु इस महान् राजनीतिज्ञने चन्द्रगुप्तको न केवल मगध-सम्राट्के रूपमें स्थापित किया, प्रत्युत उसकी सारी राज्य-व्यवस्थाका बौद्धिक संचालन इतनी कुशलतासे किया कि उसका शासन सुदृढ़से सुदृढ़तर होता चला गया।

आचार्य चाणक्यके नामसे लघुचाणक्य, वृद्धचाणक्य, चाणक्यनीतिदर्पण, कौटलीय अर्थशास्त्र तथा चाणक्यसूत्र आदि अनेक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनमें भी चाणक्यनीतिदर्पण, कौटलीय अर्थशास्त्र तथा चाणक्यसूत्र विशेष महत्त्वके हैं। चाणक्यसूत्रमें सूत्ररूपसे नीतिधर्म तथा राजशास्त्रका अद्भुत निदर्शन हुआ है। इसका प्रारम्भिक सूत्र ही धर्मनीतिपरक है। यथा—'सुखस्य मूलं धर्मः'। अर्थात् जिसे परम सुखकी अभिलाषा हो वह धर्मनीतिका पालन करे। राजा तथा राज्यके लिये सूत्रात्मक उपदेशमें वे कहते हैं—'राज्यमूलमिन्द्रियजयः' (चा०सू० ४)। अर्थात् राजा और राज्यका मूल है इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करना। इन्द्रियजयका मूल है विनय और वह प्राप्त होता है वृद्धजनोंकी सेवासे—'इन्द्रियजयस्य मूलं विनयः।' 'विनयस्य मूलं वृद्धोपसेवा।' (चा०सू० ५-६) इस प्रकार चाणक्यसूत्र भी मूलतः नीतिका ही प्रतिपादन करता है। चाणक्यनीतिदर्पण तो नीतियोंका सिरमौर ही है। इसका लोकमें बहुत आदर है तथा इसके उपदेश लोक-व्यवहारज्ञानके साथ ही परमार्थकी सिद्धिमें भी सहायक हैं। यहाँ इसके कुछ नीतिवचनोंको दिया जा रहा है—

चाणक्य ब्रह्माण्डमें परम तत्त्वके अतिरिक्त किसी अन्यकी सत्ता स्वीकार नहीं करते थे। इसी कारण ज्ञान, कला, शृङ्गार, प्रेम, भक्ति आदि भावोंको भी ईश्वरीय वरदान मानते हुए वे उसकी महिमाके आगे सदा नतमस्तक होते रहे। अपने नीतिग्रन्थमें उन्होंने स्थान-स्थानपर परम प्रभुकी स्तुति की है। जैसे—

प्रणम्य शिरसा विष्णुं त्रैलोक्याधिपतिं प्रभुम्।
नानाशास्त्रोद्धृतं वक्ष्ये राजनीतिसमुच्चयम्॥

(चा०नी०द० १।१)

अर्थात् तीनों लोकोंके स्वामी उन सर्वसमर्थ नारायणके चरणोंमें शीश नवाते हुए मैं सभीके मङ्गलके लिये विभिन्न शास्त्रोंसे एकत्र किये गये राजनीतिक सिद्धान्तोंका वर्णन करता हूँ।

का चिन्ता मम जीवने यदि हरिर्विश्वम्भरो गीयते
नो चेदर्भकजीवनाय जननीस्तन्यं कथं निःसरेत्।

(चा०नी०द० १०।१७)

इसका भाव यह है कि मुझे अपने जीवनकी चिन्ता नहीं। मैं जगत्के पालनहारकी महिमाका गुणगान करते हुए उनकी ही आराधना करता हूँ, क्योंकि वे ही जगत्की चिन्ता करनेवाले हैं।

उद्बोधन—

त्यज दुर्जनसंसर्गं भज साधुसमागमम्।
कुरु पुण्यमहोरात्रं स्मर नित्यमनित्यताम्॥

(चा०नी०द० १४।२०)

आचार्यका उपदेश है कि दुर्जनोंकी संगतिका त्याग करो, साधुजनोंकी संगतिमें रहो, रात-दिन सत्-कार्य करते रहो और संसारकी अनित्यताका स्मरण करते हुए उन पतितपावन परमात्माका स्मरण करो।

मित्रताकी कसौटी—अपनी तीक्ष्ण दृष्टिसे आचार्य चाणक्यने मित्र और मित्रताकी कसौटीकी पहचान बतायी है।

---

१ कूटो घटः तं धान्यपूर्णं लान्ति संगृह्णन्ति इति कुटलाः। कुम्भीधान्याः त्यागपरा ब्राह्मणश्रेष्ठाः। तेषां गोत्रापत्यं कौटल्यो विष्णुगुप्तो नाम। (कौटल्य-अर्थशास्त्र)

अर्थात् कूट घटका नाम है। जो लोग एक घटसे अधिक अन्नका संग्रह नहीं करते थे, उन कुम्भीधान्य नामक अत्यन्त श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका गोत्रापत्य कौटल्य कहलाता है। कौटल्यका मुख्य नाम विष्णुगुप्त है।

प्रवृत्ति है तो दूसरे सभी पाप उसके सामने तुच्छ हैं। यदि सत्यरूपी तपस्यासे वह समृद्ध है तो उसे अन्य तपस्याकी क्या आवश्यकता? यदि मन पवित्र है तो किसी तीर्थाटनकी क्या आवश्यकता? यदि सज्जनता है तो अन्य गुणोंकी क्या आवश्यकता? यदि सुयश है तो अलंकार (गहना)-को धारण करनेकी क्या आवश्यकता? यदि उत्तम विद्या है तो अन्य धनकी क्या आवश्यकता और यदि व्यक्ति अपयशी है तो उसे मृत्युकी प्रतीक्षाकी क्या आवश्यकता, क्योंकि वह तो जीते-जी ही मर चुका होता है।

प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः।
तस्मात् तदेव वक्तव्यं वचने का दरिद्रता॥
संसारकटुवृक्षस्य द्वे फले अमृतोपमे।
सुभाषितं च सुस्वादु सङ्गतिः सज्जने जने॥
(चा०नी०द० १६।१७-१८)

अर्थात् मधुर एवं प्रिय वचन बोलनेसे सभी प्राणी प्रसन्न होते हैं। मधुरतारूपी प्रिय वचनसे पराया भी अपना हो जाता है। अतः मधुर वचन बोलनेमें कृपणता नहीं करनी चाहिये। इस संसाररूपी कटु वृक्षमें अच्छे वचन और सुजनों (सज्जनों)-की संगति—ये दो अमृत-फल लगते हैं, जिनके प्रयोगसे जीवनकी कठिनतम परिस्थितियाँ भी सुगम बन जाया करती हैं।

यस्य पुत्रो वशीभूतो भार्या छन्दानुगामिनी।
विभवे यश्च सन्तुष्टस्तस्य स्वर्ग इहैव हि॥
(चा०नी०द० २।३)

जिसका पुत्र अपने वशमें हो, स्त्री आज्ञाकारिणी हो तथा जिसे अपनी उपलब्ध सम्पत्तिपर संतोष हो उसके लिये यहीं स्वर्ग है।

विद्या, तप, दान, चरित्र, गुण एवं धर्म (कर्तव्य)-से विहीन व्यक्तिको पृथ्वीका भार बताते हुए चाणक्यनीतिमें कहा गया है कि ऐसे व्यक्ति मानो मृगरूपमें घूम रहे हैं—

येषां न विद्या न तपो न दानं
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥
(चा०नी०द० १०।७)

उनका यह मानना है कि इस संसारमें विद्वान् व्यक्ति ही प्रशंसा प्राप्त करते हैं, उन्हींका सर्वत्र गौरव बढ़ता है। विद्यारूपी धनसे सब कुछ प्राप्त होता है। विद्या सर्वत्र पूजित होती है—

विद्वान् प्रशस्यते लोके विद्वान् सर्वत्र गौरवम्।
विद्यया लभते सर्वं विद्या सर्वत्र पूज्यते॥
(चा०नी०द० ८।२०)

भावना ही सबसे बड़ी नीति होती है जो शीलका निर्माण करती है। शुद्ध भावोंसे युक्त मनुष्य घर बैठे ही ईश्वरको प्राप्त कर सकता है। ईश्वरका निवास न तो किसी लकड़ीकी प्रतिमामें होता है और न ही पत्थर तथा मिट्टीकी मूर्तियोंमें। भावकी प्रधानताके कारण ही पत्थर, मिट्टी और लकड़ीसे बनी प्रतिमाएँ भी 'देवत्व' को प्राप्त करती हैं। अतः भावकी शुद्धता आवश्यक है—

न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृण्मये।
भावे हि विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारणम्॥
(चा०नी०द० ८।१२)

जिस प्रकार हजारों गायोंके झुंडमें गौका बछड़ा अपनी माताके ही पास जाता है, उसी प्रकार मनुष्यका कर्म (पाप-पुण्य) भी उस कर्ताको ही प्राप्त होता है। अतः सत्कर्मोंका उपार्जन करते रहना चाहिये—

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो गच्छति मातरम्।
तथा तच्च कृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति॥
(चा०नी०द० १३।१५)

वस्तुतः चाणक्यद्वारा कही गयी नीतियाँ कल्याण-पथपर बढ़नेके लिये प्रेरित करती हैं।

आजके समयमें जबकि नैतिकताका पतन तीव्रतर गतिसे होता जा रहा है इस स्थितिमें चाणक्यकी नीतियाँ जीवनको सही मार्गपर ले जानेवाली सिद्ध हो सकती हैं। विशेषकर आजके राजनीतिज्ञोंको 'चाणक्यनीति' से अवश्य ही शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये, जिससे राष्ट्रका कल्याण सम्भव हो सके।

कौटल्यकी अनूठी नीतियाँ

(श्रीनरेन्द्रदेवजी उपाना)

विष्णुगुप्त शर्मा (कौटल्य) एक कुलीन ब्राह्मण थे। इनका जन्मनाम विष्णुगुप्त था। ये इन्द्रियजयी, मधावी विद्वान्, नीतिमान् ओर अत्यन्त प्रभावशाली थे। कुटलगोत्रीय होनेसे ये कौटल्य कहलाते हें।[१] चणकके पुत्र (वशज) होनेस ये चाणक्य कहलाये। अत्यन्त चतुर होनेके कारण भी इन्ह चाणक्य कहा जाता हे। कूटनीतिज्ञके रूपम चाणक्यका स्थान भारतीय राजनातिमें सर्वोपरि माना जाता है। एक साधारण युवक चन्द्रगुप्त मौर्यका विशाल मगध-साम्राज्यका अधिपति बना दना साधारण बात नहीं थी, किंतु इस महान् राजनीतिज्ञन चन्द्रगुप्तको न कवल मगध-सम्राट्क रूपम स्थापित किया, प्रत्युत उसकी सारी राज्य-व्यवस्थाका बौद्धिक सचालन इतनी कुशलतासे किया कि उसका शासन सुदृढसे सुदृढतर होता चला गया।

आचार्य चाणक्यके नामस लघुचाणक्य, वृद्धचाणक्य चाणक्यनीतिदर्पण कौटलीय अर्थशास्त्र तथा चाणक्यसूत्र आदि अनेक ग्रन्थ प्रसिद्ध हें। इनम भी चाणक्यनीतिदर्पण, कौटलीय अर्थशास्त्र तथा चाणक्यसूत्र विशेष महत्त्वके हैं। चाणक्यसूत्रमे सूत्ररूपसे नीतिधर्म तथा राजशास्त्रका अद्भुत निदर्शन हुआ है। इसका प्रारम्भिक सूत्र ही धर्मनीतिपरक हे। यथा—'सुखस्य मूल धर्म '। अर्थात् जिसे परम सुखकी अभिलाषा हा वह धर्मनीतिका पालन करे। राजा तथा राज्यके लिये सूत्रात्मक उपदेशमे वे कहते हैं—'राज्यमूलमिन्द्रियजय ' (चा०सू० ४)। अर्थात् राजा और राज्यका मूल ह इन्द्रियापर विजय प्राप्त करना। इन्द्रियजयका मूल है विनय और वह प्राप्त हाता है वृद्धजनोकी सेवासे—'इन्द्रियजयस्य मूल विनय ।' 'विनयस्य मूल वृद्धोपसेवा।' (चा०सू० ५-६) इस प्रकार चाणक्यसूत्र भी मूलत नीतिका ही प्रतिपादन करता है। चाणक्यनीतिदर्पण ता नीतियोका सिरमौर ही है। इसका लाकम बहुत आदर हे तथा इसके उपदेश लोक-व्यवहारज्ञानके साथ ही परमार्थकी सिद्धिम भी सहायक हैं। यहाँ इसके कुछ नीतिवचनोको दिया जा रहा ह—

चाणक्य ब्रह्माण्डमे परम तत्त्वके अतिरिक्त किसी अन्यकी सत्ता स्वीकार नहीं करत थ। इसी कारण ज्ञान, कला, शृङ्गार, प्रेम, भक्ति आदि भावाका भी ईश्वरीय वरदान मानते हुए वे उसकी महिमाके आग सदा नतमस्तक हाते रहे। अपने नीतिग्रन्थम उन्हाने स्थान-स्थानपर परम प्रभुकी स्तुति की है। जेस—

प्रणम्य शिरसा विष्णु त्रैलोक्याधिपति प्रभुम्।
नानाशास्त्रोद्धृत वक्ष्ये राजनीतिसमुच्चयम्॥
(चा०ना०द० १।१)

अर्थात् तीना लोकाके स्वामी उन सवसमर्थ नारायणके चरणामें शीश नवाते हुए मैं सभीक मङ्गलके लिय विभिन्न शास्त्रासे एकत्र किय गये राजनीतिक सिद्धान्ताका वर्णन करता हूँ।

का चिन्ता मम जीवने यदि हरिर्विश्वम्भरा गीयते
नो चेदर्भकजीवनाय जननीस्तन्य कथ नि सरेत्।
(चा०नी०द० १०।१७)

इसका भाव यह है कि मुझे अपन जीवनकी चिन्ता नहीं। मैं जगत्के पालनहारकी महिमाका गुणगान करते हुए उनकी ही आराधना करता हूँ, क्याकि वे ही जगत्की चिन्ता करनवाल हें।

उद्बोधन—

त्यज दुर्जनससर्गं भज साधुसमागमम्।
कुरु पुण्यमहोरात्र स्मर नित्यमनित्यताम्॥
(चा०ना०द० १४।२०)

आचार्यका उपदेश हे कि दुर्जनाकी सगतिका त्याग करा साधुजनाकी सगतिम रहो रात-दिन सत्-कार्य करते रहो ओर ससारकी अनित्यताका स्मरण करते हुए उन पतितपावन परमात्माका स्मरण करो।

मित्रताकी कसौटी—अपनी तीक्ष्ण दृष्टिस आचार्य चाणक्यने मित्र और मित्रताकी कसौटीकी पहचान वतायी हे।

---

१ कूटो घट त धान्यपूर्णं लान्ति सगृह्णन्ति इति कुटला । कुम्भाधान्या त्यागपरा ब्राह्मणश्रेष्ठा । तेषा गोत्रापत्य कोटल्या विष्णुगुप्ता नाम। (काटल्य-अथशास्त्र)

अर्थात् कूट घटका नाम है। जो लोग एक घटसे अधिक अन्नका सग्रह नहीं करते थे उन कुम्भीधान्य नामक अत्यन्त श्रेष्ठ ब्राह्मणाका गात्रापत्य कौटल्य कहलाता है। कौटल्यका मुख्य नाम विष्णुगुप्त है।

मैत्री क्या ह? मैत्री कैसी हो? इस विषयमें वे कहते हैं—

परोक्षे कार्यहन्तार प्रत्यक्षे प्रियवादिनम्।
वर्जयेत् तादृश मित्र विषकुम्भं पयोमुखम्॥
(चा०नी०द० २।५)

पीठ-पीछे बुराई करके काम विगाडनेवाले और सामने मधुर स्वरमे बोलनेवाले मित्रको अवश्य छोड देना चाहिये। एसा मित्र उस विषपूर्ण घडेके समान है, जिसक मुखके ऊपर थोडा-सा दूध लगा हुआ दीखता हो।

न विश्वसेत् कुमित्रे च मित्रे चापि न विश्वसेत्।
कदाचित् कुपित मित्र सर्वं गुह्य प्रकाशयेत्॥
(चा०नी०द० २।६)

कुमित्रपर तो कदापि विश्वास न कर और मित्रपर भी विश्वास न करे, क्याकि वह रुष्ट होनेपर विश्वास करके (मैत्रीके समय वताय गये) सभी भेदाको खोल देता है।

उत्सवे व्यसने प्राप्ते दुर्भिक्षे शत्रुसकटे।
राजद्वार श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धव ॥
(चा०नी०द० १।१२)

उत्सव, सकटकाल, अकाल, शत्रु-आक्रमण राजद्वार एव श्मशानम जो साथ रहता है वही बन्धु है।

पुत्रके साथ कैसा बर्ताव करे—

लालयेत् पञ्चवर्षाणि दशवर्षाणि ताडयेत्।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्र मित्रवदाचरेत्॥
(चा०नी०द० ३।१८)

पाँच वर्षतक पुत्रको प्यार करे, दस वर्षतक कठोर अनुशासनम रखे और जब सोलह वर्षका हो जाय तो उसके साथ मित्रवत् व्यवहार करे।

यहीं स्वर्ग है—

यस्य पुत्रो वशीभूतो भार्या छन्दानुगामिनी।
विभवे यश्च सतुष्टस्तस्य स्वर्ग इहैव हि॥
(चा०नी०द० २।३)

जिसका पुत्र वशम हो भार्या आज्ञाकारी एव पतिव्रता हो जो प्राप्त धनसे सतोष कर लेता हो—उस परिवारमें स्वर्गीय आनन्द इस लोकमे ही है।

सुपुत्रकी महिमा—

एकेनापि सुवृक्षेण पुष्पितेन सुगन्धिना।
वासित तद्वन सर्वं सुपुत्रेण कुल यथा॥
(चा०नी०द० ३।१४)

जिस प्रकार एक अच्छे सुन्दर पुष्पित एव सुगन्धित वृक्षसे सारा वन सुगन्धस सुरभित हो उठता है उसी प्रकार एक ही सुपुत्रसे परिवारका नाम उजागर हो जाता है।

कि जातैर्बहुभि पुत्रै शोकसतापकारकै।
वरमेक कुलालम्बी यत्र विश्राम्यते कुलम्॥
(चा०नी०द० ३।१७)

दु ख-दर्द देनेवाल बहुत-से पुत्रोंसे क्या लाभ? महा देनेवाला एक ही पुत्र श्रेष्ठ है जिससे सारा कुल सुख पाता है।

कुपुत्रकी निन्दा—

एकेन शुष्कवृक्षेण दह्यमानेन वह्निना।
दह्यते तद्वन सर्वं कुपुत्रेण कुल यथा॥
(चा०नी०द० ३।१५)

जैसे एक ही सूखे वृक्षम आग लगनेमे सारा जगल भस्म हो जाता है, उसी प्रकार एक ही कुपुत्रसे सारा कुल कलकित हो जाता है।

चार शत्रु—

ऋणकर्ता पिता शत्रुर्माता च व्यभिचारिणी।
भार्या रूपवती शत्रु पुत्र शत्रुरपण्डित ॥
(चा०नी०द० ६।११)

ऋण लेनेवाला पिता, व्यभिचारिणी माता सुन्दर पत्नी तथा मूर्ख पुत्र—ये चारो मनुष्यके शत्रु हैं।

विद्यार्थीके नियम—

कामक्रोधौ तथा लोभ स्वादु शृङ्गारकौतुके।
अतिनिद्राऽतिसेवे च विद्यार्थी ह्यष्ट वर्जयेत्॥
(चा०नी०द० ११।१०)

विद्यार्थीके लिये आवश्यक है कि वह काम क्रोध तथा लोभसे और स्वादिष्ट पदार्थों तथा शृगार एव हँसी-मजाकसे दूर रहे। निद्रा और अपनी शरीर-सेवामें अधिक समय न दे। इन आठोंके त्यागस ही विद्यार्थीको विद्या प्राप्त हो सकती है।

सत्यधर्मकी महिमा—

सत्येन धार्यते पृथ्वी सत्येन तपते रवि ।
सत्येन वाति वायुश्च सर्व सत्ये प्रतिष्ठितम्॥
(चा०नी०द० ५।१९)

पृथ्वीम यदि कुछ स्थायी है तो वह सत्य है। इसीके वलपर पृथ्वी आधृत—टिकी है। सत्यसे ही सूर्य तपता है। सत्यके बलपर वायु प्रवहमान होती है। तात्पर्य यह कि सब कुछ सत्यपर ही आधारित है।

धर्माचरणकी अबाध आवश्यकता—

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वत ।
नित्य सनिहितो मृत्यु कर्तव्यो धर्मसग्रह ॥
(चा०नी०द० १२।१२)

शरीर—प्राण-जीवन तथा विभव-भोगविलासकी वस्तु-घर-द्वार आदि—ये सभी अनित्य हैं—शाश्वत नहीं हैं। सब कुछ चञ्चल हैं, इस चलायमान ससारम केवल धर्म ही स्थिर है। अत मनुष्यको अपने धर्मका पालन अवश्य करना चाहिये।

कालकी इतिकर्तव्यता—

काल पचति भूतानि काल सहरते प्रजा ।
काल सुसेपु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रम ॥
(चा०नी०द० ६।७)

काल सब प्राणियोको खा जाता है। काल ही सारी प्रजाको नष्ट कर देता है। सब कुछ विलीन हो जानेपर भी केवल काल ही जागता रहता है। कालको कोई टाल नहीं सकता।

विवेककी महिमा—

पुष्पे गन्ध तिले तैल काष्ठे वह्नि पयोधृतम्।
इक्षौ गुड तथा देह पश्यात्मान विवेकत ॥
(चा०नी०द० ७।२१)

जिस प्रकार फूलम गन्ध, तिलम तेल, लकडीम अग्नि दूधमे घी, ईखम गुड होता है, उसी प्रकार शरीरमे आत्मा होती है इसे विवेक-विचारक द्वारा ही जाना जा सकता है।

विपयोका त्याग करो—

मुक्तिमिच्छसि चत् ताल विपयान् विपवत् त्यज।
क्षमार्जवदयाशौच सत्य पीयूपवत् पिब॥
(चा०नी०द० ९।१)

यदि तुम मुक्तिकी इच्छा रखते हो तो विपय-वासनारूपी विपको त्याग दो। सहनशीलता सरलता, दया पवित्रता आर सचाईका अमृतकी तरह पान करो।

लौकिक सुख—

यदि रामा यदि च रमा यदि तनयो विनयगुणापेत ।
तनये तनयोत्पत्ति सुरवरनगरे किमाधिक्यम्॥

यदि घरमे सुन्दर स्त्री हो, लक्ष्मी भी हो और पुत्र-पौत्र गुणवान् हो तो वह घर इन्द्रलोकसे भी अधिक सुन्दर है।

कहाँ सतोप करे, कहाँ नही —

सतोपस्त्रिषु कर्तव्य स्वदारे भोजन धन।
त्रिषु चैव न कर्तव्योऽध्ययने जपदानयो ॥
(चा०नी०द० ७।४)

अपनी स्त्री भोजन और धन—इन तीनोम सतोप करना चाहिये। पर विद्या-प्राप्तिम जप और दान करनेम सतोप न करे।

क्या करे—

दृष्टिपूत न्यसेत् पाद वस्त्रपूत पिबेज्जलम्।
शास्त्रपूत वदेद् वाक्य मन पूत समाचरत्॥
(चा०नी०द० १०।२)

आँखोसे देखभालकर पैर रखे, पानी कपडेसे छानकर पीये, शास्त्रानुसार वाक्य बोले मनमे ठीक-ठीक सोच-विचारकर कार्य करे।

कहाँ रहे, कहाँ न रहे—

यस्मिन् देशे न सम्मानो न वृत्तिर्न च बान्धव ।
न च विद्यागमोऽप्यस्ति वासस्तत्र न कारयत्॥
(चा०नी०द० १।८)

जिस देशमे आदर न हो, जीविका न हो भाई-बन्धु न हो, विद्याप्राप्तिके साधन न हो वहाँ कदापि नहीं रहना चाहिये।

धनिक श्रोत्रियो राजा नदी वैद्यस्तु पञ्चम ।
पञ्च यत्र न विद्यन्त न तत्र दिवस वसत्॥
(चा०नी०द० १।९)

जहाँ धनवान् व्यक्ति वेदपाठी ब्राह्मण राजा नदी और वैद्य—ये पाँच न हो, वहाँ एक दिन भी रहना उचित नहीं है।

लोकयात्रा भय लज्जा दाक्षिण्य त्यागशीलता।
पञ्च यत्र न विद्यन्ते न कुर्यात् तत्र सगतिम्॥
(चा०नी०द० १।१०)

जहाँ जीविका, भय, लज्जा, चतुरता और त्याग—ये पाँच प्रकारकी भावनाएँ न हों, वहाँके लोगोंसे किसी भी प्रकारकी मित्रता वर्जित है।

उत्तम वस्तुका ग्रहण करें—

विषादप्यमृतं ग्राह्यममेध्यादपि काञ्चनम्।
नीचादप्युत्तमा विद्या स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि॥

विषसे भी अमृत, अपवित्र स्थानसे भी स्वर्ण, नीच जनोंसे भी विद्या, दुष्ट कुलसे भी सुशील पत्नीको प्राप्त कर लेना चाहिये।

मूर्खसे दूर रहे—

मूर्खस्तु परिहर्तव्यः प्रत्यक्षो द्विपदः पशुः।
भिनत्ति वाक्यशल्येन निर्दृशः कण्टको यथा॥

मूर्खसे दूर रहना उचित है, क्योंकि वह दो पैरोंवाला पशु है। उसमें काँटे दिखलायी तो नहीं पड़ते, पर वह वाक्यशल्यसे बार-बार काँटे चुभोता रहता है।

क्या करनेसे क्या नहीं होता—

उद्योगे नास्ति दारिद्र्यं जपतो नास्ति पातकम्।
मौने च कलहो नास्ति नास्ति जागरतो भयम्॥

उद्योग करनेपर दरिद्रता नहीं रहती, भजन करनेपर पाप नहीं लगता, चुप रहनेसे झगड़ा नहीं बढ़ता, जागते मनुष्यको भय नहीं रहता।

विषम परिस्थिति—

उपसर्गेऽन्यचक्रे च दुर्भिक्षे च भयावहे।
असाधुजनसंसर्गे यः पलायति स जीवति॥

किसी स्थानपर उपद्रव हो जानेपर, किसीके अचानक आक्रमण करनेपर, भीषण अकाल पड़नेपर, दुष्टका साथ हो जानेपर जो भाग जाता है वही जीवित रहता है।

विनाशकी स्थिति—

अनालोक्य व्ययं कर्ता ह्यनर्थः कलहप्रियः।
आतुरः सर्वक्षेत्रेषु नरः शीघ्रं विनश्यति॥

बिना आगे-पीछे देखे खर्च करनेवाला, निरर्थक बातोंमें झगड़ा करनेवाला तथा सभी कार्योंमें आतुर व्यक्ति थोड़े समयतक जीवित रहता है।

अन्यायोपार्जितं द्रव्यं दशवर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते चैकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति॥

(चा०नी०१५।६)

अन्यायद्वारा अर्जित सम्पत्ति केवल दस वर्षतक ठहरती है। ग्यारहवें वर्षमें वह समूल नष्ट हो जाती है।

आचार्य चाणक्यने अपने विशद ज्ञान तथा अनुभवके बलपर अनेक सूक्तियाँ भी लिखीं। किसी गूढ बातको अलंकार, छन्द, उपमाके माध्यमसे रोचक रूपमें निरूपित करना उनकी विशेषता है। आचार्य चाणक्यने कड़ुवा सत्य कहनेका साहस किया, जो बहुत कम नीतिकार करते हैं। पर उन्होंने स्पष्टरूपसे अपनी बात लिखकर मानव-समाजके कल्याणमें योग दिया। जैसे कुछ नीतियोंका भावार्थ इस प्रकार है—द्वेष सदा हानिकारक है, बिना बुद्धिके बल व्यर्थ है, सुयशहेतु सुकर्म आवश्यक है, महान् कार्य करनेसे मनुष्य बड़ा होता है, दुष्टोंसे भी सीख ली जा सकती है, राजा, अग्नि, गुरु तथा स्त्रीकी निकटता खतरनाक होती है, सभी अँगुलियाँ बराबर नहीं होती हैं इत्यादि। इन्होंने अपने नीतिग्रन्थमें विद्याके महत्त्वको भी स्पष्ट किया। दानकी महिमा, श्रद्धा एवं कर्तव्य-जैसे विषयोंसे भी इनका नीतिग्रन्थ सम्पृक्त है। इसमें संदेह नहीं कि कौटिल्यका अर्थशास्त्र तथा चाणक्यनीति मानवमात्रके लिये सदा ग्रहणीय हैं। इतिहासमें चाणक्य अपना नाम अजर-अमर कर गये। आचार्य चाणक्य भारतके महान् गौरव हैं। कूटनीतिज्ञके रूपमें आचार्य चाणक्यका स्थान सर्वोपरि है। काला-कलूटा, सिरपर घने सूखे बाल, गौकी पूँछके समान मोटी चोटी, आँखें छोटी पर भयानक, मोटे लटकते ओष्ठ, दाँत कुछ मुड़े तथा कुछ बाहर निकले, बेढब-बेडौल शरीर, परंतु एक अनोखे तेजसे व्याप्त व्यक्तित्व—जिसको कुरूप कहा गया—विश्वको अपनी अनूठी नीतियाँ दान कर गया, जो एक शास्त्र बन गयीं।

अंहः संहरदखिलं सकृदुदयादेव सकललोकस्य। तरणिरिव तिमिरजलधिं जयति जगन्मङ्गलं हरेर्नाम॥

सम्पूर्ण जगत्का मङ्गल करनेवाला भगवान् श्रीहरिका नाम सर्वोपरि विराजमान है। एक बार ही प्रकट होनेपर वह अखिल विश्वकी समस्त पापराशिका उसी प्रकार विनाश कर देता है, जैसे भगवान् भुवनभास्कर अन्धकारके समुद्रको सोख लेते हैं।

आचार्य भर्तृहरिका नीतितत्त्वोपदेश

(डॉ० श्रीवेदप्रकाशजी शास्त्री एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०)

संस्कृत-साहित्यकी महत्ताको दिग्दिगन्तमे प्रसारित करनेवाले रससिद्ध कवियामे नीति, शृगार एव वैराग्य-शतकाके प्रणता भर्तृहरिजीका अन्यतम स्थान है। ये प्रतिभावान् कविक साथ-साथ व्याकरण-शास्त्रके भी अप्रतिम ज्ञाता थ।

नीतिशतकका सम्बन्ध मानव-जीवनके व्यावहारिक पक्षसे है। नीतिशतकमे मनुस्मृति और महाभारतकी नैतिकता कविकी गम्भीर एव नवनवान्मेपशालिनी प्रतिभाके माध्यमस अभिनवरूपम प्रस्फुटित हुई है। इसम विद्या, वीरता, साहस, मैत्री उदारता भूत-दया आदि मानवकी आदर्श और उदार वृत्तियाका अत्यन्त सरस वर्णन किया गया है। नीतिशतकके श्लोकोमे प्रतिपादित नीतिसिद्धान्त विना किसी भेदभावक विश्वकी समग्र मानव-जातिके लिय कल्याणकारी हैं। कुछ व्यक्ति इसक—

पत्र नैव यदा करीरविटपे दाषो वसन्तस्य कि
नालूकोऽप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य कि दूषणम्।
धारा नैव पतन्ति चातकमुख मेघस्य कि दूषण
यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखित तन्मार्जितु क क्षम *॥ (९४)

—जैसे श्लोकोको देखकर विचार करते ह कि कविके ये श्लोक मनुष्यको भाग्यपर आश्रित रहनेकी प्रेरणा देते हैं। किंतु भाग्यको मानते हुए भी श्रीभर्तृहरिने कर्मके महत्त्वकी कहीं उपेक्षा नहीं की। कहीं भी उन्हाने कर्मसे विरत रहनेका समर्थन नहीं किया। इसके विपरीत उन्हाने कर्मके महत्त्वका प्रतिपादन करते हुए कर्म-फल-प्राप्तिपर्यन्त अनवरत कर्म करनेकी प्रेरणा दी हे—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचै
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्या ।
विघ्नै पुन पुनरपि प्रतिहन्यमाना
प्रारभ्य तूत्तमजना न परित्यजन्ति॥ (२७)

अर्थात् नीच पुरुप विघ्नके भयसे किसी कार्यमे हाथ ही नहीं लगाते (किसी कार्यको आरम्भ ही नहीं करते)। मध्यम श्रेणीके व्यक्ति कार्यारम्भ करनेके पश्चात् विघ्नके आ जानेपर तत्काल कार्यसे हाथ खींच लेते हैं। परतु उत्तम कोटिके मनुष्य विघ्नाद्वारा बार-बार विचलित किये जानेपर भी किसी कार्यको आरम्भ करके उसे पूर्ण किय विना उससे हाथ नहीं खींचते। इस श्लाकम सतत कमरत रहनेकी प्रेरणा बडी कुशलतासे गुम्फित हुई है।

मूर्खताको कविने अभिशाप माना है, क्योंकि मूर्खपर किसी बातका प्रभाव नहीं हाता। अत वे स्पष्ट शब्दाम कहते हैं—

अज्ञ सुखमाराध्य सुखतरमाराध्यते विशेपज्ञ ।
ज्ञानलवदुर्विदग्ध ब्रह्मापि च त नर न रञ्जयति॥ (३)

अर्थात् अज्ञ (अबोध) व्यक्तिको सहज ही प्रसन्न किया जा सकता है, विशेपज्ञको उसकी अपेक्षा और भी आसानीसे प्रसन्न किया जा सकता ह, परतु ज्ञानका स्पर्शमात्र पाकर निपुण बननेवाले व्यक्तिको ब्रह्मा भी नहीं रिझा सकते। मूर्खको समझा पाना न केवल कठिन अपितु असम्भव ही होता है।

जा व्यक्ति सुधासिक्त मधुर वचनोसे दुष्टोको सज्जनोके मार्गपर लाना चाहता है, उसका प्रयास वैसा ही है जैसा कोमल कमल-नालक धागो (रेशो)-से हाथीको बाँधनेकी इच्छा करना अथवा शिरीपपुष्पके अग्रभागसे हीरेको काटनेका यत्न करना या खारे समुद्रको शहदकी कुछ बूँदासे मीठा बनानेकी इच्छा करना—

व्याल वालमृणालतन्तुभिरसौ रोद्धु समुज्जृम्भते
छेत्तु वज्रमणीञ्छिरीपकुसुमप्रान्तन सनह्यते।
माधुर्यं मधुबिन्दुना रचयितु क्षाराम्बुधेरीहते
नेतु वाञ्छति य खलान् पथि सता सूक्तै सुधास्यन्दिभि ॥ (६)

मूर्खकी मूर्खताको छिपानेका एकमात्र आवरण है—मौन जिसकी सृष्टि विशेपत इसी उद्देश्यस हुई है। यह मौन

* करीरके वृक्षम यदि पत्ते नहीं लगते ता इसम वसन्त (ऋतु)-का क्या दोष है? उल्लू यदि दिनमें नहीं देख पाता तो इसमें सूर्यका क्या दाष चातक पक्षीके मुँहमे यदि वर्षाका धारा नहीं पडती तो इसमें बादलका क्या दोष? अर्थात् किसीका दोप नहीं है। विधाताने जिसके ललाटमे जो पहले लिख दिया है उसे मिटानेमे कौन समर्थ हो सकता है? अर्थात् कोई नहीं।

मूर्खोंके लिये आभूषण-स्वरूप है—

स्वायत्तमेकान्तगुणं विधात्रा
विनिर्मितं छादनमज्ञतायाः ।
विशेषतः सर्वविदां समाजे
विभूषणं मौनमपण्डितानाम्॥
(७)

गर्वका-ज्वर विद्वज्जन-संगतिसे उपलब्ध ज्ञानद्वारा ही उतर सकता है, अन्य उपायोंसे नहीं, इसका निर्देश करते हुए श्रीभर्तृहरि लिखते हैं—

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः ।
यदा किञ्चित् किञ्चिद् बुधजनसकाशादवगतं
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः ॥
(८)

जब मैंने कुछ थोडा-बहुत जाना तो हाथीके समान मतवाला हो गया और मुझे ऐसा लगा कि मैं सर्वज्ञ हो गया हूँ। परंतु जब विद्वानोंके सम्पर्कसे मुझे कुछ और ज्ञान हुआ तो ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं तो मूर्ख हूँ, यह समझकर मेरा अभिमान सनिपात-ज्वरके समान उतर गया।

शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक् छत्रेण सूर्यातपो
नागेन्द्रो निशिताङ्कुशेन समदो दण्डेन गोगर्दभौ।
व्याधिर्भेषजसंग्रहैश्च विविधैर्मन्त्रप्रयोगैर्विषं
सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम्॥
(११)

अर्थात् अग्निको जलसे शमित किया जा सकता है, छातेसे सूर्यकी धूपका निवारण किया जा सकता है, तीक्ष्ण अंकुशसे मदमत्त गजको वशमें किया जा सकता है, डंडेसे गौ (बैल) और गधेको मार्गपर लाया जा सकता है, औषध-संग्रह (प्रयोग)-से रोगोंको शमित किया जा सकता है और मन्त्रप्रयोगसे विष भी उतारा जा सकता है। अतः सभीके उपचारका विधान शास्त्रोंमें वर्णित है, परंतु मूर्खकी मूर्खताके उपचारके लिये कोई औषधि नहीं है।

विद्या, तप, दान, ज्ञान, शील, गुण तथा धर्मसे रहित व्यक्तियोंको श्रीभर्तृहरिने नर-पशु माना है और बताया है कि ये पृथ्वीके लिये भारस्वरूप हैं—

येषां न विद्या न तपो न दानं
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः ।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥
(१३)

विद्वानोंके प्रति कविके मनमें सहज अनुराग है अतः उन्हें राजाओंसे श्रेष्ठ ठहराते हुए कविने लिखा है—

हर्तुर्याति न गोचरं किमपि शं पुष्णाति यत् सर्वदा
ह्यर्थिभ्यः प्रतिपाद्यमानमनिशं प्राप्नोति वृद्धिं पराम्।
कल्पान्तेष्वपि न प्रयाति निधनं विद्याख्यमन्तर्धनं
येषां तान् प्रति मानमुज्झत नृपाः कस्तैः सह स्पर्धते॥
(१६)

जो धन चोरोंके द्वारा किसी भी प्रकार नहीं देखा जा सकता, जो सदा कल्याण—मङ्गल ही करता है, जो देनेपर नित्य बढ़ता ही रहता है तथा कल्पान्तमें भी विनष्ट नहीं होता, ऐसे सतत वर्धनशील विद्याधनके आवासभूत विद्वानोंकी समता कोई नहीं कर सकता। अतः हे राजाओ! उनके प्रति गर्व दिखाना उचित नहीं।

कविने विद्याकी प्रशंसा मुक्तकण्ठसे की है और विद्याविहीन पुरुषको पशु-तुल्य मानते हुए लिखा है—

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं
विद्या भोगकरी यशः सुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः ।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता
विद्या राजसु पूज्यते नहि धनं विद्याविहीनः पशुः ॥
(२०)

विद्या ही मानवकी सर्वश्रेष्ठ सुन्दरता है, वही उसका छिपा हुआ सुरक्षित धन है। विद्या ही भोग देनेवाली, यश और सुख देनेवाली तथा गुरुओंकी भी गुरु है। विदेशमें विद्या बन्धुके समान है एवं सबसे बड़ी देवी है। राजाओंद्वारा विद्या ही पूजी जाती है धन नहीं। अतः इससे विरहित व्यक्ति मात्र पशुकोटिमें ही परिगणित होने योग्य है।

जीवनके अनुभवोंको नीतिरूपमें प्रस्तुत करते हुए कविने अपने नीतिशतकमें इस प्रकार अनुस्यूत किया है—

क्षान्तिश्चेत्कवचेन किं किमरिभिः क्रोधोऽस्ति चेद्देहिनां
ज्ञातिश्चेदनलेन किं यदि सुहृद्दिव्यौषधैः किं फलम्।
किं सर्पैर्यदि दुर्जनाः किमु धनैर्विद्याऽनवद्या यदि
व्रीडा चेत् किमु भूषणैः सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम्॥
(२१)

अर्थात् यदि मनुष्यके पास क्षमा है तो कवचका क्या

आवश्यकता? यदि क्रोध है तो शत्रुओंकी क्या आवश्यकता? इसी प्रकार यदि अपने सगे-सम्बन्धी हैं तो अग्निकी, मित्र हैं तो दिव्योपधियाकी, दुष्ट हैं तो साँपोकी, निष्कलक विद्या है तो धनकी, लज्जा है ता अन्य आभूषणाकी तथा कवित्व-शक्ति है तो राज्यकी क्या आवश्यकता हे?

सत्सगतिकी महत्ताका ख्यापन कविने इस प्रकार किया है—

जाड्य धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्य
मानोन्नति दिशति पापमपाकरोति।
चेत प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्ति
सत्सगति कथय कि न करोति पुसाम्॥
(२३)

सत्सग बुद्धिकी जडताको मिटाता है, वाणीम सत्यको समाविष्ट करके मानको बढाता है तथा सर्वत्र यशको फैलाता है। अत कौन-सा कार्य इसके द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता?

मानवको अनुकूल एव अभीष्ट वस्तुओकी प्राप्ति ईश्वरकृपासे ही सम्भव है इसका निदर्शन करते हुए कविका उल्लेख है—

सूनु सच्चरित सती प्रियतमा स्वामी प्रसादोन्मुख
स्निग्ध मित्रमवञ्चक परिजनो निष्क्लेशलेश मन।
आकारो रुचिर स्थिरश्च विभवो विद्यावदात मुख
तुष्टे विष्टपहारिणीष्टदहरौ सम्प्राप्यते देहिना॥
(२५)

सर्वकामनापूरक भगवान् श्रीमन्नारायणके प्रसन्न होनेपर ही व्यक्तिका सदाचारी पुत्र, पतिव्रता पत्नी, प्रसन्न रहनेवाला स्वामी, स्नेही मित्र विश्वस्त सेवक, चिन्तारहित मन, सुन्दर आकृति चिरस्थायी सम्पत्ति और विद्यासे देदीप्यमान मुख आदिकी प्राप्ति होती है (अत उनका आश्रय लेना आवश्यक है)।

सर्वसाधारणके कल्याणका मार्ग भी कविने गम्भीर पर्यवेक्षणके उपरान्त इस प्रकार निर्दिष्ट किया है—

प्राणाघातान्निवृत्ति परधनहरणे सयम सत्यवाक्य
काले शक्त्या प्रदान युवतिजनकथामूकभाव परेषाम्।
तृष्णास्रोतोविभङ्गो गुरुषु च विनय सर्वभूतानुकम्पा
सामान्य सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधि श्रेयसामेष पन्था॥
(२६)

अर्थात् जीवहिंसासे दूर रहना पराये धनसे परहेज करना, सत्य बोलना, समय-समयपर यथाशक्ति दान देना, परायी स्त्रियोकी चर्चाके समय मोन रहना लालचके स्रोतको रोकना, गुरुजनोके प्रति विनय-भाव अपनाना, सब जीवोपर दया करना—*यही शास्त्रानुमोदित सामान्य कल्याण-मार्ग है।*

इसके साथ ही सदा न्याय-सगत मधुर व्यवहार करना, प्राण सकटमे पड जानेपर भी पाप-कर्मम लिप्त न होना, दुर्जनसे कुछ न माँगना, निर्धन मित्रसे याचना न करना, विपत्कालमे अधीर न होना तथा बड लोगोके मार्गका अनुसरण करना सन्मार्ग है, जिसे असिधाराव्रतकी सज्ञा दी गयी है—

असन्तो नाभ्यर्थ्या सुहृदपि न याच्य कृशधन
प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरम्।
विपद्युच्चे स्थेय पदमनुविधेय च महता
सता केनोद्दिष्ट विषममसिधाराव्रतमिदम्॥
(२८)

ससारमे जन्म-मरणका चक्र चलता ही रहता है, परतु जन्म लेना उसीका सफल है जिसके जन्म लेनेसे वशकी उन्नति हो—

स जातो येन जातेन याति वश समुन्नतिम्।
परिवर्तिनि ससारे मृत को वा न जायते॥
(३२)

पराक्रमका प्रदर्शन स्वभावपर निर्भर करता है न कि आयुपर। सिह-शावक मद बहनेसे काले हुए गण्डस्थलवाले हाथीपर ही आक्रमण करता है—

सिह शिशुरपि निपतति मदमलिनकपोलभित्तिषु गजेषु।
प्रकृतिरिय सत्त्ववता न खलु वयस्तेजसो हेतु॥
(३८)

धनकी तीन गतियाँ होती हैं—दान, भोग तथा नाश। जो धन न याचकाको दिया जाता और न ही जिसका उपभोग किया जाता है उसकी तीसरी गति होती हे अर्थात् वह धन नष्ट हो जाता है—

दान भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति॥
(४३)

राजाको प्रजासे किस प्रकार 'कर' लेना चाहिये, इस विषयम कविवर भर्तृहरिका यह कथन पथ-प्रदर्शक बन सकता है—

राजन् दुधुक्षसि यदि क्षितिधेनुमेना
तेनाद्य वत्समिव लोकममुं पुषाण।
तस्मिंश्च सम्यगनिशं परिपोष्यमाणे
नानाफलैः फलति कल्पलतेव भूमिः ॥
(४६)

हे राजन्! यदि आप इस पृथ्वीरूपिणी गौको दुहना चाहते हैं तो प्रजाजनोंका बछड़ेकी भाँति पालन-पोषण करें। ऐसा करनेपर ही पृथ्वी कल्प-लताकी भाँति समृद्ध होकर आपकी इच्छापूर्तिमें सहायक होगी।

निर्दयता, अकारण कलह, पर-धन, पर-स्त्रीकी लालसा, स्वजनोंके प्रति असहनशीलताका व्यवहार आदि दुष्टोंके स्वाभाविक लक्षण हैं। ऐसे दुष्ट कितने ही विद्वान् और गुणी क्यों न हों, मणिधर सर्पकी भाँति दूर रखने योग्य होते हैं—

अकरुणत्वमकारणविग्रहः
परधने परयोषिति च स्पृहा।
सुजनबन्धुजनेष्वसहिष्णुता
प्रकृतिसिद्धमिदं हि दुरात्मनाम्॥
दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्यया भूषितोऽपि सन्।
मणिनालङ्कृतः सर्पः किमसौ न भयङ्करः॥
(५२-५३)

दुर्जनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है अच्छे-भले आदमीपर दोषारोपण करना और यही कारण है कि वे लज्जाशील व्यक्तिको जड, धार्मिक और व्रतीको पाखण्डी पवित्रात्माको धोखेबाज शूरको निर्दय, सरल लोगोंको मतिहीन, मधुरभाषीको दीन, तेजस्वीको अहंकारी, वक्ताको वाचाल, और धीरको निर्बल कहते हैं—

जाड्यं ह्रीमति गण्यते व्रतरुचौ दम्भः शुचौ कैतवं
शूरे निर्घृणता ऋजौ विमतिता दैन्यं प्रियालापिनि।
तेजस्विन्यवलिप्तता मुखरता वक्तर्यशक्तिः स्थिरे
तत्को नाम गुणो भवेत् स गुणिनां यो दुर्जनैर्नाङ्कितः॥
(५४)

यदि व्यक्तिमें लोभ है तो अन्य दुर्गुणकी उसे आवश्यकता ही नहीं। यदि चुगलखोरीका स्वभाव है तो अन्य पापका क्या काम? यदि सत्य है तो तपस्याकी क्या आवश्यकता? यदि मन पवित्र है तो तीर्थाटनसे क्या लाभ? यदि सज्जनता है तो बन्धु-बान्धवोंकी क्या आवश्यकता? यदि उत्तम विद्या है तो धनकी क्या आवश्यकता और यदि अपयश है तो मृत्युकी क्या आवश्यकता—

लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः
सत्यं चेत् तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम्।
सौजन्यं यदि किं गुणैः स्वमहिमा यद्यस्ति किं मण्डनैः
सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना॥
(५५)

सच्चे और दुर्जन व्यक्तिकी मैत्री दिनके पूर्वार्ध और परार्धकी छायाकी भाँति आरम्भमें सघन फिर क्षीण परंतु सच्ची मित्रता प्रारम्भमें क्षीण तथा कालान्तरमें कितनी सघन हो जाती है—इस अनुभवसिद्ध बातको बताते हुए कविने कहा है—

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण
लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात्।
दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना
छायेव मैत्री खलसज्जनानाम्॥
(६०)

सज्जन तथा भले मनुष्य किन गुणोंके अधिष्ठान होते हैं, इसका अनुभवसिद्ध निदर्शन निम्नाङ्कित तीन श्लोकोंमें इस प्रकार अनुस्यूत है—

वाञ्छा सज्जनसंगमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद्भयम्।
भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खले
ष्वेते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नमः॥
विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्॥
प्रदानं प्रच्छन्नं गृहमुपगते सम्भ्रमविधिः
प्रियं कृत्वा मौनं सदसि कथनं चाप्युपकृतेः।
अनुत्सेको लक्ष्म्या निरभिभवसाराः परकथाः
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम्॥
(६२—६४)

भले लोगोंकी संगतिकी इच्छा दूसरेके गुणोंमें अनुराग गुरुजनोंके प्रति विनम्रता विद्यामें रुचि अपनी पत्नीसे प्रेम

लाक-निन्दाका भय, भगवान् शिवम भक्ति, मनका वशम करनेका शक्ति तथा दुजनाकी सगतिका परित्याग, विपत्तिम धर्य धारण करना, उन्नतिमे क्षमाशील हाना, सभाम चतुराईस सम्भाषण करना युद्धम पराक्रम दिखाना, यश-प्राप्तिम अनुराग रखना, वदाध्ययनम आसक्ति रखना, दा हुई राशिका गुप्त रखना किसीक घर आनेपर उसका उठकर स्वागत करना उपकार करके मान रहना और अपने ऊपर किय गय उपकारका सत्रक सामन कहना, धन पाकर गर्व न करना तथा दूसराक गुणाकी प्रशसा करना—ये सब सज्जनाके स्वाभाविक गुण ह।

सच्ची पत्नी सच्च पुत्र और सच्चे मित्रक विषयम बताया गया है—

य प्रीणयत्सुचरिते पितर स पुत्रो
यद्भर्तुरेव हितमिच्छति तत्कलत्रम्।
तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रिय य-
देतत्त्रय जगति पुण्यकृतो लभन्त॥ (६८)

जा अपन सुन्दर आचरणसे पिताको प्रसन्न करता ह वही पुत्र ह। जा अपने पतिकी भलाई चाहती ह वही स्त्री है। जो अपने मित्रके सुख-दु खम एक समान रहता ह वही मित्र ह। जगत्म पुण्यात्मा ही इन तीनाका प्राप्त करत हैं।

परापकार मानव-जीवनका गुणमात्र ही नहीं अपितु अलकार भी है। शास्त्राम कहा गया ह—'परोपकाराय सता विभूतय ।' परोपकारकी भावना मनुष्यम स्वभावगत होती है। अचेतनाम भी इस भावक दशन होत ह—

भवन्ति नम्रास्तरव फलोद्गमै-
र्नवाम्बुभिर्भूरिविलम्बिना घना ।
अनुद्धता सत्पुरुषा समृद्धिभि
स्वभाव एवष परोपकारिणाम्॥ (७१)

फल आ जानपर वृक्ष नम्र हो जाते हैं। वर्षासे भर बादल नीच झुक जात हैं इसी प्रकार सत्पुरुष एश्वयसम्पन्न हो जानेपर उदार हो जाते हैं। परोपकारी जनाका यह स्वभाव ही ह।

शरीर और शरीरक विभिन्न अङ्ग क्या गहनासे ही शाभा पाते है—नहीं कवि इसे और स्पष्टतासे समझाते हुए कहते ह—

श्रोत्र श्रुतेनैव न कुण्डलन
दानेन पाणिर्न तु कङ्कणन।
विभाति काय करुणापराणा
परोपकारैन तु चन्दनन॥ (७२)

अर्थात् सत्पुरुषाके कान शास्त्र-श्रवणस सुशाभित हात हैं, सोनेके हीरक-जटित कुण्डलस नहीं। हाथ दानस सुशाभित हात हैं, कङ्कणस नहीं। शरीर परापकारस सुशाभित होता ह, चन्दनस नहीं।

सच्चा मित्र कौन है? इसका परिज्ञान कविन इस प्रकार कराया है—

जा मित्रको पाप-कमम प्रवृत्त हानस राकता ह तथा उस कल्याणकारी कार्योम प्रवृत्त करता ह मित्रक गोपनयाग्य रहस्यको छिपाता है, गुणाका प्रकट करता ह विपत्ति पडनपर साथ नहीं छोडता ओर समय पडनपर अपना सवस्व मित्रपर निछावर कर दता ह सच्च अर्थोम वही मित्र कहलान योग्य है—

पापान्निवारयति योजयत हिताय
गुह्य च गूहति गुणान् प्रकटीकराति।
आपद्गत च न जहाति ददाति काले
सन्मित्रलक्षणमिद प्रवदन्ति सन्त ॥ (७३)

सत्पुरुष बननके लिय क्या-क्या विशपताएँ मनुष्यम आनी चाहिये इस बताते हुए कविने लिखा है—लाभका त्याग क्षमा-धारण गर्वका त्याग पापस अरुचि सत्य-भाषण सज्जनानुमादित मार्गका अनुसरण विद्वानाकी सवा पूज्यजनाका आदर, शत्रुआसे अनुनय—नम्र भाव अपन गुणाका प्रकाशन स्वयश-रक्षणम तत्परता तथा दु खी जावापर दया हा सत्पुरुषाक लक्षण है—

तृष्णा छिन्धि भज क्षमा जहि मद पाप रति मा कृथा
सत्य ब्रूह्यनुयाहि साधुपदवीं सेवस्व विद्वज्जनान्।
मान्यान् मानय विद्विषोऽप्यनुनय प्रख्यापय स्वान् गुणान्
कीर्ति पालय दु खिते कुरु दयामेतत् सता लक्षणम्॥ (७४)

धैर्य एक ऐसा महान् गुण ह जा भयानक सकटम मानवको जागरूक करके विपत्तिम निकलनका माग

सुझा देता है और तबतक सम्बद्ध व्यक्तिको चैनसे नहीं बैठने देता जबतक उद्देश्य-पूर्ति न हो जाय। उदाहरणार्थ समुद्र-मन्थनकी घटनाको लिया जा सकता है। समुद्रको श्रीमन्नारायणद्वारा निर्दिष्टरूपसे मथकर रत्नोंको निकालकर भी देवगण संतुष्ट न हुए, भयानक हलाहलके प्रकट होनेपर डरकर मन्थन-कर्मसे विरत न हुए। इसी धीरता और पुरुषार्थसे उन्हें अमृत-लाभ हुआ। वस्तुतः धैर्यवान् अपने उद्देश्यको पूर्ण किये बिना कभी नहीं रहते। इसी तथ्यको प्रकट करते हुए कविने लिखा है—

रत्नैर्महार्हैस्तुतुषुर्न देवा
न भेजिरे भीमविषेण भीतिम्।
सुधां विना न प्रययुर्विरामं
न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः॥

(८१)

धैर्यवान् जनोंका सर्वोच्च गुण यह होता है कि वे न्यायसंगत मार्गसे तिलभर भी नहीं हटते, भले ही नीतिनिपुण लोग उनकी निन्दा करें या प्रशंसा, लक्ष्मी इच्छानुसार आये या चली जाय, आज ही उनकी मृत्यु हो जाय अथवा एक युगके बाद—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

(८४)

मनुष्यकी सर्वाधिक स्पृहणीय वस्तु है शील, जिसे उसका सर्वश्रेष्ठ भूषण कहा गया है—'शीलं परं भूषणम्।' जिस मनुष्यमें विश्वकी सबसे प्रिय वस्तु शील है उसके लिये आग पानी बन जाती है, समुद्र सामान्य नदी बन जाता है, मेरु सामान्य शिलाखण्ड बन जाता है, सिंह हरिणकी तरह व्यवहार करने लगता है। सर्प फूलोंकी माला बन जाता है तथा विष अमृत हो जाता है—

वह्निस्तस्य जलायते जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणा-
न्मेरुः स्वल्पशिलायते मृगपतिः सद्यः कुरङ्गायते।
व्यालो माल्यगुणायते विषरसः पीयूषवर्षायते
यस्याङ्गेऽखिललोकवल्लभतमं शीलं समुन्मीलति॥

(१०९)

शास्त्रोंके अनुसार ऐश्वर्यका विभूषण सुजनता, शौर्यका वाक्संयम, ज्ञानका शान्ति, शास्त्रज्ञानका विनय, धनका सत्पात्रको दान, तपका अक्रोध, प्रभुताका क्षमा, धर्मका भूषण निश्छलता तथा इन सब गुणोंका कारणस्वरूप शील सभीका भूषण है—

ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक्संयमो
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो वित्तस्य पात्रे व्ययः।
अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजता
सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम्॥

(८३)

कार्य-सिद्धि चाहनेवाला व्यक्ति कभी भूमिपर सोता है कभी पलंगपर। कभी साग खाता है, कभी भात। कभी गुदड़ी पहनता है, कभी दिव्य वस्त्र। भले ही किसी भी स्थितिमें निर्वाह करना पड़े, वह बिना सुख-दुःखकी चिन्ता किये अपनी कार्य-सिद्धिके लिये यत्नशील रहता है—

क्वचिद्भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यङ्कशयनं
क्वचिच्छाकाहारः क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः।
क्वचित् कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो
मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम्॥

(८२)

नीतिशतकमें भर्तृहरिजी कुछ विशेष नैतिक सिद्धान्तोंकी शिक्षा देते हैं जिनका उद्देश्य मनुष्यको उसके दैनिक जीवनमें पथ-प्रदर्शन करना है। आत्म-सम्मानको वे विशेष महत्त्व देते हैं, उसका महत्त्व बतलाते हुए वे विषम स्थितिमें भी उसे न त्यागनेकी शिक्षा देते हैं। भर्तृहरिका आदर्श है—परोपकार, जिसे उन्होंने सज्जनोंका स्वाभाविक कर्म माना है। कविकी दृष्टिमें शील (सदाचार)-का विशेष महत्त्व है, जिसकी रक्षा प्रत्येक व्यक्तिको पूर्ण मनोयोगपूर्वक करनी चाहिये। इसी प्रकार धैर्य, सत्य, क्षमा तथा सत्संगति आदि गुणोंकी ओर भी कविने ध्यान आकृष्ट किया है। यही उनका नीतितत्त्वोपदेश है।

नीतिशतक—एक सफल और सुखी जीवनकी कुंजी

(वैद्य श्रीरामनिवासजी शर्मा)

वेदो और पुराणो तथा सस्कृतके अन्य धार्मिक ग्रन्थामे नीति-सम्बन्धी विविध उपयोगी बाते कही गयी है। इनम भर्तृहरिका नीतिशतक भी एक अद्वितीय लघु ग्रन्थ है जिसमे नीति-सम्बन्धी अनेक बातोको बहुत ही प्रभावशाली ढगसे कहा गया है।

बात सन् १९५०ई० के आस-पासकी है। मैंने आयुर्वेदकी शिक्षा समाप्त करके चिकित्सा-कार्य करना आरम्भ किया था। लगभग उसके साथ ही मुझे आयुर्वेदके अध्यापनका कार्य भी मिल गया। साधारण तथा अल्प ज्ञान एक तरहकी उच्छृखलता उत्पन्न करनेके साथ ही अहम्मन्यताकी दुर्भावना भी पैदा कर देता हे ओर व्यक्ति 'मैं सर्वज्ञ हूँ'— ऐसे मिथ्या भ्रममे पड जाता है। उस समय मे भी कुछ इसी बुरी भावनाका शिकार हो गया था। अपने-आपको विपयका अच्छा ज्ञाता मानकर मै सहयोगियाके साथ वाद-विवादमे उलझ जाता। मेरी इस प्रवृत्तिके कारण लोग मुझे अपने समुदायम अवाञ्छित समझने लगे। ऐसे वातावरणमे मुझे अनुभव होने लगा कि मेरी प्रगति बिलकुल रुक गयी है, साथ ही मुझे अपने आस-पास केवल विरोधियाकी सख्या ही अधिक दिखायी देने लगी।

समय ता बीतता चला गया, पर आज इसे मैं अपना सौभाग्य ही मानता हूँ कि उस समय मुझे भर्तृहरिका निम्न श्लोक कहीं पढनेको मिला—

> प्रदान प्रच्छन्न गृहमुपगते सम्भ्रमविधि
> प्रिय कृत्वा मौन सदसि कथन चाप्युपकृते ।
> अनुत्सको लक्ष्म्या निरभिभवसारा परकथा
> सता केनोद्दिष्ट विपममसिधाराव्रतमिदम्॥

अर्थात् यदि किसीको कुछ दे दिया तो उसे सदा गुप्त ही रहने दो। घरम जब कभी कोई आ जाय तो उसका विधिपूर्वक सत्कार करो। यदि किसीका प्रिय कार्य कर दिया है तो उसके सम्बन्धमे मौन रहो आर यदि किसीने तुम्हारा उपकार किया हे तो उसे सबके सामने प्रकट करते रहो। यदि लक्ष्मी (धन) प्राप्त हो तो उसे प्रकट करनक लिये उत्सुक मत रहो। दूसरोके सामन किसीकी बुराई मत करो। ये बाते सज्जन बननेके लिये कितनी अच्छी ह, पर हैं तलवारकी धारपर चलनेके समान कठिन।

भर्तृहरिके इस श्लोकको मेंने बार-बार पढा ओर जितनी बार पढा उतनी ही बार मुझे अपनेम अनेक त्रुटियाँ दिखायी पडीं। इस मेंने बडे-बडे अक्षराम लिखवाकर अपने चिकित्सा-परामर्श-कक्षम अपनी कुर्सीक सामने टाँग दिया। कई बार परामर्श प्राप्त करनेके लिये आनेवाले लोग मुझसे पूछते—'यह क्या है और इसका अर्थ क्या है? यदि यह इतना लाभकारी है ता इसे हिंदीमे क्या नहीं लिखवा दते?' में कहता—'यदि इसे हिंदीमे लिखवा दूँ तो लोग मुझसे क्या पूछगे? यदि में दस बार लोगाको इसका अर्थ बताऊँगा तो कम-स-कम एक बार ता उसके अनुसार काम करूँगा।' भर्तृहरिजीके उक्त अनुभूत उपदेशप्रद वचनोका अर्थ लोगाको बतात हुए मे आजतक कभी नहीं थका। इस तरह बार-बार पढत और बार-बार लोगाको इसका अर्थ बताते-बताते मुझम तथा मरे कार्य करनेकी शैलीम अन्तर आने लगा एव धीरे-धीरे बहुत-सी ऐसी गलत आदत जिनका में अभ्यस्त हो गया था, मुझस दूर होने लगीं। कुछ ही वर्षोम एक तरहमे मेरा जीवन ही बदल गया। मित्रो आर सहयोगियाका बडा स्नेही समूह मरे साथ जुड गया। आज इसे प्रकट करते हुए मैं अत्यन्त हर्पका अनुभव करता हूँ कि मुझे वेसा सब कुछ मिला है जैसा एक सच्चा आयुर्वेद-चिकित्सक पानेकी इच्छा कर सकता है। इन सबका श्रेय मैं भर्तृहरिके इस 'प्रदान प्रच्छन्न०' श्लोकका देता हूँ।

योगीन्द्र भर्तृहरिका नीतिशतक

(डॉ० श्रीविनोदकुमारजी शर्मा)

महायोगीश्वर श्रीभर्तृहरिजीद्वारा रचित नीतिशतक, शृङ्गारशतक एवं वैराग्यशतक विश्वसाहित्यमें अनुपम उपदेशपरक मुक्तक गीतिकाव्यके रूपमें सुविख्यात हैं।

विद्वानोंने भर्तृहरिको राजा, विद्वान्, योगी और सन्यासीके रूपमें देखा है। ऐसा माना जाता है कि उन्होंने अपने जीवनमें व्यापक अनुभव प्राप्त किया था तथा उन्हें राज-वैभव भी प्राप्त था, किंतु बादमें उन्हें जीवन और जगत्‌के समस्त बन्धन, ऐश्वर्य तथा आनन्द नीरस लगने लगे। इसीलिये वैरागी होकर योगीन्द्र श्रीभर्तृहरिने अपने सुदीर्घ कालके अनुभवका निचोड़ इन शतकोंमें प्रसादगुणसम्पन्न प्रवाहमयी भाषामें अभिव्यक्त किया। विभिन्न छन्दोंमें निबद्ध इन मुक्तकोंमें इतने अनूठे ढंगसे एक-एक कथ्य सँजोया गया है कि प्रत्येक श्लोक अपने-आपमें सम्पूर्ण काव्यके समान प्रभाव छोड़ता है। तीनों शतकोंमें सुभाषितोंकी मुक्तावलियाँ मिलती हैं। ये सुभाषित-मुक्तावलियाँ भर्तृहरिकी काव्य-प्रतिभा, मार्मिक अनुभूति, भावोत्कर्ष, सूक्ष्म दृष्टि, गहन ज्ञान तथा जीवनके सभी पक्षोंके गहरे अनुभवकी परिचायिका हैं।

इनके नीतिशतकमें महाभारत एवं मनुस्मृतिका औपदेशिक गाम्भीर्य है। समाजको अनीति, अन्याय, कदाचार और बहुविध दोषोंसे बचानेके लिये उन्होंने नीतिशतकमें सत्सङ्गति, सदाचार, सन्मित्रता, परहित, सत्कर्म, दान, राजधर्म, मानवमूल्य तथा श्रेय पथ-प्रभृति नीतितत्त्वोंका उपदेश दिया है। उनके उपदेश विश्वके किसी भी जाति, धर्म तथा सम्प्रदायके लिये अत्यन्त प्रेरणास्पद एवं उपयोगी हैं।

नीतिशतकमें समागत भर्तृहरिजीके नीतितत्त्वोपदेशोंपर संक्षेपमें यहाँ विचार किया जा रहा है—

सत्सङ्गति-नीति—सज्जनोंकी संगति सत्संगति कही जाती है। लोकमें सत्संगतिका इतना महत्त्व है कि इसके प्रभावसे गुणहीन सद्गुणसम्पन्न, क्रूरहृदय सहृदय, अधमात्मा धर्मात्मा, पापी पुण्यकर्मा, अज्ञानी ज्ञानी तथा कलंकी भी निष्कलंक हो जाता है। जैसे पद्म-पत्रपर स्थित जल मुक्ताफलकी आभाको प्राप्त कर लेता है, वैसे ही उत्तम संगतिसे दुर्जन भी सज्जन हो जाता है।[1]

सत्संगतिके लाभोंकी गणना करते हुए योगीन्द्र भर्तृहरिने कहा है कि यह बुद्धिकी मंदता दूर करती है, वाणीको सत्यसे सींचती है, मान बढ़ाती है, पाप दूर करती है, चित्तको प्रसन्न करती है तथा सभी दिशाओंमें यश फैलाती है, अतः सत्संगति मनुष्योंके लिये क्या-क्या नहीं करती—

> जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं
> मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
> चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं
> सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम्॥
> (नीति० २३)

जिस प्रकार गर्म लोहेपर पड़े हुए जलका नाम भी नहीं रह जाता, जबकि कमलिनीके पत्तेपर स्थित वही जल मोती जैसा सुशोभित होता है और स्वाति नक्षत्रमें समुद्रकी सीपीमें पड़कर मोती बन जाता है, उसी प्रकार निकृष्ट, मध्यम तथा उत्तम गुण प्रायः देहधारियोंके संसर्गसे ही उत्पन्न होते हैं—

> संतप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न ज्ञायते
> मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते।
> स्वात्यां सागरशुक्तिमध्यपतितं तन्मौक्तिकं जायते
> प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणः संसर्गतो जायते॥
> (नीति० ६७)

सत्संगतिके विपरीत कुसंगतिसे मनुष्योंको सावधान करते हुए मनीषिप्रवरने कहा है कि पर्वतोंके दुर्गम स्थानोंमें वनवासियोंके साथ घूमना अच्छा है, परंतु मूर्खोंके साथ इन्द्रके महलमें भी रहना अच्छा नहीं है।[2]

सदाचारपरक नीति—सज्जन जैसा आचरण तथा व्यवहार करते हैं, वैसा ही आचरण सदाचार कहा जाता है। भर्तृहरिने शील—सदाचारको सर्वोत्कृष्ट भूषण निरूपित किया है—'सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम्'

---

१ महाजनस्य सम्पर्कः कस्य नोन्नतिकारकः। पद्मपत्रस्थितं तोयं धत्ते मुक्ताफलश्रियम्॥ (पञ्चतन्त्रम् ३।६०)

२ वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह। न मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि॥ (नीति० १४)

(नीतिशतक ८३)। मनुष्यके लिये सदाचारपरक नीतिसे श्रेष्ठ कोई भी नीति नहीं है। अखिल लोकका प्रियतम सदाचार जिस पुरुषमे प्रतिष्ठित है, उसके लिये आग पानीके समान, समुद्र कुल्या (नहर)-के समान, सुमेरु पर्वत छोटी-सी चट्टानके समान, सिंह साधारण मृगके समान, साँप मालाके समान तथा विषका रस अमृतकी वर्षाके समान हो जाता है—

वह्निस्तस्य जलायते जलनिधि कुल्यायत तत्क्षणा-
न्मेरु स्वल्पशिलायते मृगपति सद्य कुरङ्गायते।
व्यालो माल्यगुणायते विषरस पीयूषवर्षायते
यस्याङ्गेऽखिललोकवल्लभतम शील समुन्मीलति॥
(नीति० १०९)

नीतिशतकमे सज्जनोके आचरणको कठोर असिधाराव्रतकी सज्ञा दी गयी है, क्योकि इसमे असज्जनो तथा थोडे धनवाले मित्रोसे (धन आदि) नहीं माँगा जाता। प्रिय एव न्यायोचित जीविकाका आश्रय लिया जाता है। प्राण-नाशकी सम्भावना होनेपर भी निन्द्य कर्म करना त्याज्य होता है, विपत्तिमे मनस्वी मानवोकी भाँति रहना तथा बडे लोगोके मार्गका अनुसरण करना होता है।[1]

मनीषिप्रवर भर्तृहरिने सत्पुरुषोकी अभ्यर्थना करते हुए कहा है—सज्जनोके साथ रहनेकी इच्छा दूसरोके गुणोमे अनुराग गुरुके प्रति नम्रता, विद्याका व्यसन अपनी स्त्रीसे प्रेम, लोक-निन्दाका भय, भगवान् शङ्करके प्रति भक्ति, मनको वशमे करनेकी शक्ति तथा दुष्टोके सगका त्याग—ये निर्मल गुण जिन पुरुषोमे रहते हैं उनको नमस्कार है—

वाञ्छा सज्जनसङ्गमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता
विद्याया व्यसन स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद्भयम्।
भक्ति शूलिनि शक्तिरात्मदमने ससर्गमुक्ति खले-
ष्वेत येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नम ॥
(नीति० ६२)

जैसे सूर्य बिना प्रार्थना किये ही कमल-समूहको विकसित करता है, चन्द्रमा कैरव-समूहको प्रफुल्लित करता है तथा मेघ प्राणियोको जल देता है, उसी प्रकार सत स्वय ही परहितमे लगे रहते हैं।[2] सज्जन विपत्तिसे कभी दु खी नहीं होते, क्योकि वे जानते है कि पेड कट जानेपर भी पनपता है और चन्द्रमा घट जानेपर भी बढता है—

छिन्नोऽपि रोहति तरु क्षीणोऽप्युपचीयते पुनश्चन्द्र ।
इति विमृशन्त सन्त सतप्यन्ते न ते विपदा॥
(नीति० ८८)

नीतिशतकमे सज्जनोके आचरणका आदर्श इस प्रकार स्थापित करते हुए हमे यह नीतिका पाठ पढाया गया है कि लोभ छोड दो। क्षमा धारण करो। गर्वका त्याग करो। पापमे रुचि मत रखो। सत्य बोलो। साधुओके मार्गका अनुसरण करो। विद्वानोकी सेवा करो। पूज्यजनोका सम्मान करो। शत्रुओको भी मनाओ। अपने गुणोका प्रकाशन करो। यशकी रक्षा करो तथा दु खीजनोपर दया करो—

तृष्णा छिन्धि भज क्षमा जहि मद पापे रतिं मा कृथा
सत्य ब्रूह्यनुयाहि साधुपदवीं सेवस्व विद्वज्जनान्।
मान्यान् मानय विद्विषोऽप्यनुनय प्रख्यापय स्वान् गुणान्
कीर्तिं पालय दु खिते कुरु दयामेतत् सता लक्षणम्॥
(नीति० ७८)

स्वाभिमान-नीति—मनस्वी पुरुषोकी स्थितियाँ फूलोके गुच्छेकी भाँति दो प्रकारकी होती हैं। मनस्वी पुरुष या तो सबका मूर्धन्य (सिरमौर) बनकर रहता है अथवा वनमे ही स्वय सूखकर नष्ट हो जाता है—

कुसुमस्तबकस्येव द्वे वृत्ती तु मनस्विन ।
मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य विशीर्येत वनेऽथवा॥
(नीति० ३३)

धीर-वीर पुरुषोकी नीति—जैसे सूर्य अपनी किरणोसे समस्त पृथ्वीको व्याप्त कर लेता है, उसी प्रकार वीर पुरुष

१ असन्तो नाभ्यर्थ्या सुहृदपि न याच्य कृशधन प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरम्।
विपद्युच्चै स्थेय पदमनुविधेय च महता सता केनोद्दिष्ट विषममसिधाराव्रतमिदम्॥ (नीति० २८)

२ पद्माकर दिनकरो विकचीकरोति चन्द्रो विकासयति कैरवचक्रवालम्।
नाभ्यर्थितो जलधरोऽपि जल ददाति सन्त स्वय परहिते सुकृताभियोगा ॥ (नीति० ७४)

सार पृथ्वीतलको अपने पैरा-तले कर लेता है—

एकेनापि हि शूरेण पादाक्रान्तं महीतलम्।
क्रियते भास्करेणेव परिस्फुरिततेजसा॥

(नीति० १०८)

शक्ति-सम्पन्न प्राणियोंके तेजका कारण उनकी आयु नहीं होती। उनमें तेजस्विता स्वाभाविक होती है। जैसे सिंह-शावक शिशु होनेपर भी मदभरे गण्डस्थलवाले हाथियोंपर ही आक्रमण करता है—

सिंहः शिशुरपि निपतति मदमलिनकपोलभित्तिषु गजेषु।
प्रकृतिरियं सत्त्ववतां न खलु वयस्तेजसो हेतुः॥

(नीति० ३८)

धीर एवं वीर पुरुष न्याय्य पथसे एक कदम भी पीछे नहीं हटते। चाहे नीतिमें पारंगत विद्वान् लोग उनकी प्रशंसा करें या निन्दा, इच्छानुसार सम्पत्ति उनके पास आये अथवा चली जाय, मृत्यु आज ही हो अथवा युगों बाद—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

(नीति० ८४)

सुहृद्-नीति—सच्चा मित्र अपने मित्रको पापसे रोकता है, उसे कल्याणके कार्योंमें लगाता है, उसके छिपाने योग्य व्यवहारको छिपाता है, गुणोंको प्रकट करता है, विपत्ति पड़नेपर उसका साथ नहीं छोड़ता तथा समय आनेपर धन आदि देकर उसका सहयोग करता है—ऐसा संतोंका कहना है।[1]

नीच प्रकृतिवाले स्वार्थी व्यक्तिकी मित्रता दिनके पहले भागकी छाया-सी होती है जो आरम्भमें बड़ी होती है और फिर धीरे-धीरे कम होती जाती है। किंतु सज्जनोंकी मित्रता दिनके पिछले आधे भागकी छायाके समान होती है जो आरम्भमें कम और बादमें बढ़ती जाती है—

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण
लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात्।
दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना
छायेव मैत्री खलसज्जनानाम्॥

(नीति० ६०)

परोपकार-नीति—जैसे फल आनेपर वृक्ष झुक जाते हैं, जलभरे दूरके बादल नीचे आ जाते हैं और समृद्धि पाकर सज्जन नम्र हो जाते हैं वैसे ही सच्चे परोपकारी व्यक्ति होते हैं—

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्‍गमै-
र्नवाम्बुभिर्भूरिविलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम्॥

(नीति० ७१)

दैवनीति—भाग्य या दैव कर्मसे भिन्न नहीं है। पूर्वार्जित कर्मोंका परिणाम ही भाग्य कहलाता है। भाग्यकी प्रबलताके विषयमें भर्तृहरिजी कहते हैं—'यदि करीलके पेड़में पत्ता नहीं आता तो वसन्तका क्या दोष? यदि उल्लू दिनमें भी नहीं देख पाता तो सूर्यका क्या दोष और यदि चातकके मुँहमें वर्षाकी बूँदोंकी धारा नहीं पड़ती तो बादलका क्या दोष? ब्रह्माजीने जिसके ललाट (भाग्य)-में जो कुछ पहले लिख दिया है उसे कौन मिटा सकता है—

पत्रं नैव यदा करीरविटपे दोषो वसन्तस्य किं
नोलूकोऽप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम्।
धारा नैव पतन्ति चातकमुखे मेघस्य किं दूषणं
यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः॥

(नीति० [illegible])

दाननीति—भर्तृहरिने धनकी तीन गतियाँ बतायी हैं—दान, भोग और नाश। जो न देता है और न भोग करता है उसके धनकी तीसरी गति होती है अर्थात् धन नष्ट हो जाता है—

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति॥

(नीति० [illegible])

---

1. पापान्निवारयति योजयते हिताय गुह्यं च गूहति गुणान् प्रकटीकरोति।
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः॥ (नीति० [illegible])

नीतिशतकके एक श्लोकसे ध्वनित होता है कि धनका श्रेष्ठ दाता वही है जो याचकोंको दान वचनोंकी प्रतीक्षा किये बिना ही दान देता है। जैसे कि मेघ चातककी याचनाके बिना ही उसे जल प्रदान करता है।[१]

राजधर्म-नीति—आचार्य भर्तृहरिने राजोचित गुणोंका भी वर्णन किया है। उन्होंने क्रोधको राजाओंका महान् दुर्गुण निरूपित करते हुए कहा है कि अत्यन्त क्रोधी राजाओंका कोई भी अपना या सगा नहीं होता।

भर्तृहरिजीने प्रजा-पालनको परम राजधर्म घोषित करते हुए राजाओंको उपदेश दिया है कि हे राजाओ! यदि पृथ्वीरूपिणी गायको दुहनेकी इच्छा करते हो तो प्रजावर्गको बछड़ेके समान पोषण करो। प्रजावर्गका सम्यक् पालन करनेपर ही पृथ्वी कल्पलताकी भाँति अनेक प्रकारके फल देती है—

राजन् दुधुक्षसि यदि क्षितिधेनुमेनां
तेनाद्य वत्समिव लोकममुं पुषाण।
तस्मिंश्च सम्यगनिशं परिपोष्यमाणे
नानाफलैः फलति कल्पलतेव भूमिः॥
(नीति० ४६)

पुत्र, पत्नी एवं मित्रका नीतिधर्म—सत्पुत्र, सत्पत्नी एवं सन्मित्र—ये तीनों पुण्यात्माओंको ही प्राप्त होते हैं। भर्तृहरिके अनुसार जो अपने आज्ञा-पालनरूप सुन्दर चरित्रसे पिताको प्रसन्न करता है वही पुत्र है, जो पतिका कल्याण चाहती है वही पत्नी है और जो विपत्ति तथा सुखमें एक-जैसा व्यवहार करता है वही मित्र है—

यः प्रीणयेत् सुचरितैः पितरं स पुत्रो
यद्भर्तुरेव हितमिच्छति तत् कलत्रम्।
तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रियं य-
देतत् त्रयं जगति पुण्यकृतो लभन्ते॥
(नीति० ६८)

महापुरुषोंका आदर्श चरित्र—नीतिशतकमें महान् आत्माओंके आदर्श चरित्रका भी निरूपण किया गया है, जिसका अनुकरण करके मनुष्य श्रेय पथकी ओर अग्रसर हो सकता है। महान् आत्माओंकी लोकहित-नीतिका सोदाहरण प्रकाशन करते हुए श्रीभर्तृहरि कहते हैं कि शेषनागको देखें वे अपने फणोंपर बिना हलचलके अनन्त भुवनोंकी अनन्त पङ्क्तियाँ धारण किये हुए हैं, कच्छपराज उन्हें अपनी पीठपर अनवरत धारण किये रहते हैं तथा कच्छपराजको भी समुद्र बिना परिश्रमके अपनी गोदमें रखे हुए है। अहो! महान् आत्माओंके व्यापारोंकी महिमा अपरिमित होती है।[२]

विपत्तिमें धैर्य, अभ्युदयमें क्षमा, सभामें वाक्पटुता, युद्धमें पराक्रम, कीर्तिमें विशेष रुचि तथा वेदाध्ययनमें आसक्ति—ये महनीय गुण महापुरुषोंमें स्वभावसे ही होते हैं।[३] उनका चित्त सम्पत्तिके समय कमलकी भाँति कोमल और विपत्तिके समय बड़े पर्वतकी चट्टानोंकी भाँति कर्कश हो जाता है।[४]

मानवमूल्य—महायोगीश्वर श्रीभर्तृहरिजीने जीवनमें मानवमूल्योंको विशिष्ट महत्त्व प्रदान किया है। उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें घोषित किया है कि जिन मनुष्योंमें विद्या, तप, दान, ज्ञान, शील, गुण तथा धर्म नहीं है, वे पृथ्वीपर भाररूप पशु हो हैं जो मनुष्यके रूपमें विचरण करते हैं।[५]

इसके अतिरिक्त उन्होंने क्षमा, मित्रता, लज्जा, गुणग्रियता, उदारता, दया, प्रीति, नीति, शूरता तथा उद्योगको भी मनुष्योंके लिये आवश्यक माना है।
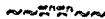
---

१ [illegible] (नीति० ५०)

२ [illegible]
[illegible] (नीति० ३५)

३ [illegible]
[illegible] (नीति० ६३)

४ [illegible] (नीति० ६६)

५ [illegible] (नीति० १३)

पञ्चतन्त्रमे नीतिके प्रेरक तत्त्व

(डा० श्रीसूर्यमणिजी त्रिपाठी एम्० ए० साहित्याचार्य पी एच्० डी०)

शास्त्रोंकी परम्परामें ही लोक-कल्याणकी भावनासे प्रेरित होकर नीतिकारोंने *अनेक नीतिग्रन्थोंकी* रचना की है। इनमें आचार्य श्रीविष्णुशर्माद्वारा रचित 'पञ्चतन्त्र' ग्रन्थ विशेष सरल होनेपर भी बड़े महत्त्वका है। यह नीतिग्रन्थ भारतीय जनताके लिये ही प्रेरक नहीं रहा बल्कि इसकी लोकप्रियता विश्वव्यापिनी हुई। यह बात इसके सैकड़ों विदेशी भाषाओंके अनुवादों तथा दो सौसे अधिक संस्करणोंसे प्रमाणित होती है।[१] विभिन्न निष्कर्षोंके आधारपर इतिहासकारोंने इसकी रचनाका समय ३०० ईसा पूर्वके लगभग स्वीकार किया है। कथामुख-खण्डके प्रस्तावनारूपमें ग्राह्य होनेके कारण शेष पाँच तन्त्रोंमें निबद्ध होकर यह 'पञ्चतन्त्र' नामको सार्थक करता है। कथामुख-भागमें भारतीय परम्पराके अनुसार देवस्मरण इस प्रकार किया गया है—

ब्रह्मा रुद्रः कुमारो हरिवरुणयमा वह्निरिन्द्रः कुबेर-
श्चन्द्रादित्यौ सरस्वत्युदधियुगनगा वायुरुर्वी भुजङ्गाः।
सिद्धा नद्योऽश्विनौ श्रीर्दितिरदितिसुता मातरश्चण्डिकाद्या
वेदास्तीर्थानि यज्ञा गणवसुमुनयः पान्तु नित्यं ग्रहाश्च॥

इस श्लोकमें कथित ब्रह्मा, रुद्र तथा कुमार[२] आदिका स्मरण ग्रन्थके निर्विघ्न समाप्तिके साथ ही लोक-कल्याणकी भावनाको लेकर किया गया है। व्यक्तिगत भावनाओंसे ऊपर उठकर लेखकने लोक-मङ्गलकी भावना प्रकट की है। कथामुखमें ही आचार्य विष्णुशर्माने मनु, बृहस्पति, शुक्र, पराशर, व्यास एवं चाणक्य आदि नीतिशास्त्रविदोंका स्मरण इस प्रकार किया है—

मनवे वाचस्पतये शुक्राय पराशराय ससुताय।
चाणक्याय च विदुषे नमोऽस्तु नयशास्त्रकर्तृभ्यः॥
सकलार्थशास्त्रसारं जगति समालोक्य विष्णुशर्मेदम्।
तन्त्रैः पञ्चभिरेतच्चकार सुमनोहरं शास्त्रम्॥
(२-३)

कथाकारके उपर्युक्त कथनसे स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य विष्णुशर्मा धर्मशास्त्रज्ञ थे। सारी कथाएँ पाँच तन्त्रोंमें विभक्त हैं। कहते हैं कि दक्षिणमें महिलारोप्य नामक नगरमें अमरशक्ति नामका एक राजा था। उसके बहुशक्ति, उग्रशक्ति और अनन्तशक्ति नामक तीन पुत्र थे। ये तीनों ही महामूर्ख थे। राजाने इन बालकोंको सुबुद्ध बनानेके लिये *विष्णुशर्मा नामक विद्वान्को सौंप दिया था। ये कथा सुनकर* सुबुद्ध बने। नीतिकार *श्रीविष्णुशर्माजीने अपने ग्रन्थकी* उपयोगितापर बल देते हुए लिखा है—

अधीते य इदं नित्यं नीतिशास्त्रं शृणोति च।
न पराभवमाप्नोति शक्रादपि कदाचन॥
(१०)

—इस फलश्रुतिके साथ कथामुख-भाग समाप्त हो जाता है। शेष ग्रन्थ मित्रभेद, मित्रसम्प्राप्ति, काकोलूकीय, लब्धप्रणाश एवं अपरीक्षितकारक नामके पाँच तन्त्रोंमें विभक्त है। पाँचों तन्त्रोंको मिलाकर ७१ कथाएँ हैं। इनमें मित्रभेदमें २२, मित्रसम्प्राप्तिमें ८, काकोलूकीयमें १६, लब्धप्रणाशमें १२ एवं अपरीक्षितकारक-तन्त्रमें १३ कथाएँ आयी हैं। इनकी ४५ कथाओंमें पशु-पक्षियोंको पात्र बनाया गया है। शेष २६ कथाओंमें मनुष्योंको पात्र बनाया गया है।[१] *स्मृतियोंके अध्ययनसे नीरसतापूर्वक राजकुमारोंको सुशिक्षित* किया जा सकता था, किंतु इस विशाल ग्रन्थमें उन्हें लोकव्यवहारके ज्ञाताके रूपमें प्रस्तुत करना साधारण कार्य न था। इसी भावनासे प्रेरित होकर कथाकारने अपने इस ग्रन्थमें लालित्यका समावेश किया। कथाओंके बीच-बीचमें अनेक स्थलोंपर ग्रन्थकारने नीतिकारोंका भी स्मरण किया है। अस्तु! यहाँ हम कथाके मात्र उन्हीं अंशोंपर विचार करना है, जो सदाचरणके लिये प्रेरणादायक हों। इसमें नीतिकारके लिये पिशुन-कर्म महान् दोषके रूपमें स्वीकार हुआ है। इसके मित्रभेद नामक प्रथम तन्त्रके प्रारम्भमें ही—'पिशुनेनातिलुब्धेन जम्बुकेन विनाशितः' कहकर पिशुन कर्मको अति गर्हित बतलाया गया है।

इसके बाद बिना कामके काम करनेवाले व्यक्तिका *अपने-आप ही नष्ट हो जाना निर्दिष्ट है।* जुआ, मदिरापान और कामवासनाको निन्दनीय तथा हितसाधनमें बाधक कहा गया है। धनोपार्जनके लिये कभी भी मनुष्यको अनीतिका सहारा नहीं लेना चाहिये, क्योंकि इससे अर्जित किया हुआ धन तो नष्ट हो ही जाता है, उपार्जनकर्ता भी स्वयं नष्ट हो जाता है। इस कारण कथाकारने **'भिक्षया नृपसेवया कृषिकर्मणा विद्योपार्जनेन व्यवहारेण वणिक्कर्मणा वा'** कहकर नीतिपूर्वक धनोपार्जन करनेके

१ इसका विश्वमें प्रचार-क्रम देखनेके लिये Hertel निर्मित सूची देखनी चाहिये।

२ इसके अनेक संस्करणोंकी कथा-संख्याओंमें कुछ भिन्नता है। उनमें 'निर्णयसागरप्रेस'के संस्करण विशेष प्रामाणिक है।

लिये कहा है। नीतिमें बताया गया है कि कभी भी किसी व्यक्तिपर पूर्ण विश्वास करके अपनी गुप्त जानकारी नहीं देनी चाहिये। असत्य-भाषण नहीं करना चाहिये। प्रत्येक स्थानपर एक-जैसी ही नीतिका पालन नहीं करना चाहिये। देवताओं और राजाओंके समक्ष किंचित् भी असत्य नहीं बोलना चाहिये। अतिथि-सत्कारपर बल देते हुए कहा गया है कि अतिथिका स्वागत करनेसे अग्नि, आसन-दान करनेसे इन्द्र, चरण धोनेसे पितर और अर्घ्य देनेसे भगवान् शिव प्रसन्न हो जाते हैं। कामुक नारियोंकी भर्त्सना करते हुए कथाकारने लिखा है—

अन्तर्विषमया ह्येता बहिश्चैव मनोरमा।
गुञ्जाफलसमाकारा योषितः केन निर्मिता॥

स्त्रियोंके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग भावोंको स्पष्ट करनेके लिये मापनेकी सबसे छोटी इकाई गुंजाको ग्रहण करके कथाकारने कामिनीसे सदा सचेत रहनेको कहा है। इतना होनेपर भी इस ग्रन्थमें स्त्रीके रक्षार्थ सदा तत्पर रहनेके लिये कहा गया है। गो, ब्राह्मण, स्वामी, स्त्री और राष्ट्रके निमित्त जो लोग प्राणत्याग करते हैं, उन्हें सनातनलोककी प्राप्ति होती है—यह भी कहा गया है। इसमें जहाँ मित्रद्रोहको जघन्य अपराध कहा गया है, वहीं शत्रुताको प्रेम या उपेक्षा आदिसे जैसे-तैसे दूर करनेकी बात भी बतायी गयी है। अपनी जातिका कभी अनिष्ट नहीं करना चाहिये। इसमें धर्मबुद्धिकी परिभाषा करते हुए कहा गया है—

मातृवत् परदाराणि परद्रव्याणि लोष्टवत्।
आत्मवत् सर्वभूतानि वीक्षन्ते धर्मबुद्धयः॥*
(१।४३५)

'धर्मबुद्धिवाले परस्त्रीको माताके समान, परधनको मिट्टीके समान और सभी प्राणियोंको अपनी आत्माके समान देखते हैं, मित्रसम्प्राप्तिमें प्रीतिके छः लक्षण बताये गये हैं—

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति।
भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम्॥
(२।५१)

देना-लेना, गुह्य बात कहना-पूछना, तथा खाना-खिलाना—प्रीतिके ये छः लक्षण कहे गये हैं। मनुष्यके लिये तीन कार्य वर्ज्य हैं—

अयशः प्राप्यते येन येन चापगतिर्भवेत्।
स्वर्गाच्च भ्रश्यते येन न तत्कर्म समाचरेत्॥
(२।११५)

'जिस कर्मके करनेसे अपयश होता हो, दुर्गति होती हो और स्वर्गप्राप्तिसे वञ्चित रह जाना पड़े—ऐसा कर्म मनुष्यको नहीं करना चाहिये।' शत्रु और रोगको कभी भी नहीं बढ़ाना चाहिये। इनपर ध्यान न देनेसे ये विनाशके कारण बनते हैं। कथाकारने कहा है—

य उपेक्षेत शत्रुं स्वं प्रसरन्तं यदृच्छया।
रोगं चालस्यसंयुक्तः स शनैस्तेन हन्यते॥
(३।२)

यदि मानव आलस्यवश मनमाना बढ़ते हुए अपने शत्रु और रोगकी उपेक्षा कर देता है तो ये धीरे-धीरे इतने प्रभावपूर्ण हो जाते हैं कि इनके द्वारा वह मारा जाता है।

मनुष्यको प्राण और धनकी रक्षा प्रत्येक स्थितिमें करनी चाहिये।

सर्वनाशे च संजाते प्राणानामपि संशये।
अपि शत्रुं प्रणम्यापि रक्षेत् प्राणान् धनानि च॥
(४।२२)

'सब कुछ नष्ट हो जानेकी यहाँतक कि प्राणनाशकी स्थितिमें भी शत्रुको प्रणामकर प्राण और धनकी रक्षा कर लेनी चाहिये।' इस प्रकार 'पञ्चतन्त्र' में राजनीति आदिके साथ लोक-नीतिका भी निर्धारण हुआ है। कहानियोंके अधिकतर पात्र पशु-पक्षी हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि मनुष्य तो विशेष बोधयुक्त प्राणी है, अतः वह नीतिगत विषयोंमें पशु-पक्षियोंकी अपेक्षा विज्ञ हो, यही इष्ट है।

यद्यपि ग्रन्थके कथामुख-भागमें राजा अमरशक्तिके पुत्रोंको ज्ञानवान् बनानेके लिये आचार्य श्रीविष्णुशर्माद्वारा इसकी रचनाकी बात है, किंतु रचनाके उद्देश्य-प्रतिपादनमें कथाकार यह प्रतिज्ञावाक्य भी दुहराते हैं कि संसारमें अल्प ज्ञान रखनेवालोंके श्रेयके लिये यह ग्रन्थ भूतलमें प्रवृत्त रहेगा। इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि ग्रन्थकी रचना सर्वसामान्य जनोंके कल्याणकी भावनासे अनुप्राणित होकर ही की गयी है।

---

* यह श्लोक थोड़े अन्तरसे गरुडपुराण १।१११।१२, स्कन्दपुराण ब्रह्मखण्ड धर्मारण्य० २।११।९, हितोपदेश १।१४ तथा चाणक्य-नीति १२।१४ आदिमें भी प्राप्त होता है।

पञ्चतन्त्रकी दो कथाएँ

(श्रीज्ञानेन्द्रकुमारजी पाण्डेय)

[१]

दक्षिणके किसी राज्यमें महिलाराप्य नामका एक नगर था। उसमें शास्त्रोंमें निपुण महादानी अमरशक्ति नामक एक राजा राज्य करते थे। उनके बहुशक्ति उग्रशक्ति और अनन्तशक्ति नामक तीन महामूर्ख पुत्र थे। राजाने उन्हें शास्त्रसे विमुख देख मन्त्रियोंको बुलाकर कहा—मन्त्रियो! आप सबको ज्ञात है कि मेरे ये पुत्र शास्त्रविमुख और विवेकरहित हैं। यह देखकर मैं राज्यके लिये भविष्यमें सुख नहीं देख रहा हूँ और मैं जबतक जीवित रहूँगा तबतक दुःखी ही रहूँगा, क्योंकि यदि पुत्र उत्पन्न ही नहीं हुआ या उत्पन्न होकर मर गया अथवा मूर्ख हुआ—इन तीनोंमेंसे पुत्रका उत्पन्न ही न होना और उत्पन्न होकर मर जाना यह अच्छा है क्योंकि वे अल्प दुःखदायी होते हैं, किंतु अन्तिम मूर्ख पुत्र तो जीवनपर्यन्त संताप ही देता रहता है। इसलिये इनको जिस प्रकार बुद्धिका प्रकाश हो वैसा ही कोई उपाय कीजिये। तब एक मन्त्रीने कहा—हे देव! बारह वर्षोंमें व्याकरणका ज्ञान प्राप्त होता है, तब विविध शास्त्रोंको जाना जाता है। सुमति नामक दूसरे मन्त्रीने कहा—जीवन नश्वर है और शास्त्र बहुत हैं तथा कठिन भी हैं। अतः इन कुमारोंके ज्ञानके लिये संक्षेपमें किसी एक शास्त्रके बारेमें सोचा जाना चाहिये। इसके बाद वहाँ सभी शास्त्रोंमें पारंगत विष्णुशर्मा नामक एक ब्राह्मण सामने आये और बोले—'राजन्! मैं शीघ्र ही आपके पुत्रोंको बुद्धिमान् बना सकता हूँ।' राजाने विष्णुशर्माकी यह बात सुनकर कहा—'ब्राह्मणदेव! मेरे ये पुत्र शास्त्रविमुख और विवेकरहित हैं। अतः ये जिस प्रकारसे शीघ्र प्रबुद्ध बन जायँ वैसा कीजिये। मैं आपको धन-धान्यसे समृद्ध कर दूँगा।' तब विष्णुशर्माने राजासे कहा—'राजन्! मेरी सही बात सुनिये। मैं विद्या नहीं बेचता हूँ, किंतु छः महीनेमें यदि मैंने आपके पुत्रोंको नीतिशास्त्रका ज्ञाता नहीं बनाया तो अपना नाम बदल दूँगा। अतएव आप आजकी तिथि लिख लीजिये।' राजा ब्राह्मणकी प्रतिज्ञा सुनकर आश्चर्य और प्रसन्नतासे भर गये। उन्होंने राजकुमारोंको आदरपूर्वक विष्णुशर्माको समर्पित कर दिया। इसके बाद विष्णुशर्माने राजपुत्रोंको पढ़ानेके लिये मित्रभेद, मित्रसम्प्राप्ति काकोलूकीय, लब्धप्रणाश और अपरीक्षितकारक नामक पाँच तन्त्रोंकी रचना की और राजकुमारोंको पढ़ाया। तब वे छः महीनेमें ही पूरे नीतिशास्त्रज्ञ बन गये। उपर्युक्त पाँच तत्त्वोंवाला यह पञ्चतन्त्र नामका नीतिशास्त्र सारे भूतलपर नीतिज्ञानके लिये प्रसिद्ध हो गया।

[२]

दक्षिणमें महिलाराप्य नामका एक नगर था। वहाँ वर्धमान नामका एक धनिक रहता था। पूर्णरूपसे धन होनेपर भी उसने विचार किया कि दूसरे देशमें जाकर धन एकत्र किया जाय। इसके बाद वह नन्दक और संजीवक नामक दो बैलोंको गाड़ीमें जोतकर मथुराकी ओर चल दिया। मार्गमें संजीवकका घुटना टूट गया और वह गिर पड़ा। इसलिये वह व्यापारी संजीवकको वहीं छोड़कर दूसरे बैलको लेकर आगे चल पड़ा।

दैवकी कृपासे थोड़े ही समयमें संजीवक चलनेमें समर्थ हो गया और धीरे-धीरे हरी-हरी घास चरता हुआ स्वस्थ और बलशाली भी हो गया। इस विषयमें नीतिशास्त्रने कहा है—

> अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं
> सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति।
> जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः
> कृतप्रयत्नोऽपि गृहे विनश्यति॥
>
> (मित्रभेद २०)

अर्थात् अरक्षित वस्तु भी दैवसे रक्षित होकर बची रहती है और अच्छी तरहसे रक्षित वस्तु भी दैवसे अरक्षित होकर नष्ट हो जाती है। वनमें परित्यक्त हुआ अनाथ भी जी जाता है किंतु घरमें विशेष प्रयत्न करनेपर भी नष्ट हो जाता है।

वह संजीवक घुटना टूटनेसे सर्वथा अशक्त हो गया था, किंतु उसका दैव प्रबल था अतः समय पाकर वह पूर्ण

स्वस्थ एव पहलेसे भी अधिक बलवान् हो गया।

एक बार नदीके किनारे चरते हुए उसने अपनी इच्छासे जोरसे आवाज की। उस आवाजको सुनकर वनके राजा पिंगलक नामके सिंहने आश्चर्यचकित होते हुए अपने मन्त्रीके पुत्रों करटक और दमनक नामके सियारोंसे कहा—लगता है इस वनमें कोई विशिष्ट पशु आया हुआ है। जाकर देखो, वह कौन है? तब राजाके आदेशसे आगे जाकर करटक तो एक वृक्षके नीचे बैठ गया और दमनक संजीवकके पास जाकर बोला—अरे बैल! यहाँ हम राजा पिंगलकके द्वारा वनकी रक्षाके लिये नियुक्त किये गये हैं। सेनापति करटककी आज्ञासे तुम हमारे स्वामीकी शरणमें चलो अन्यथा यहाँसे दूर चले जाओ। तब संजीवक नामक वह बैल करटकसे डरते हुए बोला—मैं तुम्हारे स्वामीके पास चलूँगा। इसपर करटकने कहा—तुम बिना किसी शङ्काके चलो, डरो मत। उसके बाद करटक तथा दमनक दोनों संजीवकको दूर ठहराकर राजा पिंगलकके समीप गये और बोले—महाराज, हम लोगोंने उस जानवरका पता लगा लिया, वह आपसे मिलना चाहता है। तत्पश्चात् पिंगलककी आज्ञासे वे उसे ले आये। कुछ समय बाद पिंगलक तथा संजीवकमें मैत्री हो गयी और वे सुखपूर्वक वहाँ रहने लगे। पिंगलकने संजीवक बैलको भोजन बाँटनेके कार्यमें नियुक्त कर दिया। उसके बाद वे दोनों प्रगाढ मैत्रीमें आकर करटक और दमनकको भी भोजन देनेमें कम आदर-भाव—उपेक्षा दिखाने लगे। इससे करटक और दमनकने सोचा—अब पिंगलक और संजीवककी मैत्रीके भेदका कोई उपाय करना पड़ेगा। इसके बाद दमनक सिंहके पास जाकर हाथ जोड़कर बोला—देव! संजीवक आपसे द्रोह करता है, इसलिये इससे सम्बन्ध तोड़ लेना चाहिये, यदि आप बतानेपर भी हमारा विश्वास न करें तो इसमें हमारा कोई दोष नहीं है। सिंह बोला—यदि ऐसा है, तब मैं शीघ्र ही उसे मार डालूँगा। उसके बाद वे दोनों संजीवकके पास जाकर बोले—स्वामी आपसे ईर्ष्या करते हैं और आपको मार डालनेके लिये तैयार बैठे हैं। इसे जाकर स्वयं देख लें। इसके बाद बैल (संजीवक)-ने उनके वचनोंका विश्वासकर सिंहके समीप जाकर जोरसे हुंकार भरी। सिंह उस आवाजको सुनकर क्रोधित हो उठा और उसे मार कर खा गया। इसलिये नीतिशास्त्रमें कहा गया है कि संसारमें मालिककी कृपाको दूसरे सेवकगण सहन नहीं कर सकते—'**प्रभो प्रसादमन्यस्य न सहन्तीह सेवकाः।**' (मित्रभेद ३०९)

संजीवक बैलको राजा सिंहने अपना प्रिय सेवक तथा मित्र बना लिया था, किंतु सिंहके दूसरे सेवक करटक तथा दमनकको यह सहन नहीं हो सका। अतः उन्होंने उन दोनों मित्रोंमें भेद उत्पन्न करा दिया और इसी भेदनीतिके परिणामस्वरूप संजीवकको अपने प्राण गँवाने पड़े।

पञ्चतन्त्रके कुछ आख्यान

(१)

कपोतकी अतिथि-सेवा

गोदावरीके समीप ब्रह्मगिरिपर एक बड़ा भयंकर व्याध रहता था। वह नित्य ही ब्राह्मणों, साधुओं, यतियों, गौओं और मृग-पक्षियोंका दारुण संहार किया करता था। उस महापापी व्याधके हृदयमें दयाका लेश भी न था और वह बड़ा ही क्रूर, क्रोधी तथा असत्यवादी था। उसकी स्त्री और पुत्र भी उसीके स्वभाववाले थे।

एक दिन अपनी पत्नीकी प्रेरणासे वह घने जंगलमें घुस गया। वहाँ उसने अनेक पशु-पक्षियोंका वध किया और दूसरोंको जीवित ही पकड़कर पिंजरेमें डाल दिया। इस प्रकार आखेट पूरा करके जब वह तीसरे पहर घरको लौट रहा था, तब एक ही क्षणमें आकाशमें मेघोंकी घनघोर घटा घिर आयी और बिजली कौंधने लगी। हवा चली और पानीके साथ जोरोंसे ओला-वृष्टि होने लगी। मूसलाधार वर्षा होनेके कारण बड़ी भयंकर दशा हो गयी। व्याध राह चलते-चलते थक गया। जलकी अधिकताके कारण जल थल और गड्ढे एक-से हो रहे थे। अब वह पापी सोचने

लगा—'कहाँ जाऊँ, कहाँ ठहरूँ क्या करूँ?'

इस प्रकार चिन्ता करते हुए उसने थोडी ही दूरीपर एक उत्तम वृक्षको देखा। वह वहीं आकर बैठ गया। उसके सब वस्त्र भीग गये थे। वह जाडेसे ठिठुर रहा था तथा नाना प्रकारकी बातें सोच ही रहा था कि सूर्यास्त हो गया। अब उसने वहीं रहनेकी ठानी। उसी वृक्षपर एक कबूतर भी रहता था। उसकी स्त्री कपोती बडी पतिव्रता थी। उस दिन वह चारा चुगकर नहीं लौट सकी थी। अब कपोत चिन्तित हुआ। वह कहने लगा—'कपोती न जाने क्यों अबतक नहीं आयी। आज बडी आँधी-वर्षा थी, पता नहीं वह सकुशल है या नहीं? उसके बिना आज यह घोसला उजाड-सा जान पडता है। वास्तवमें (गृह) घरको (गृह) घर नहीं कहते—गृहिणीको ही (गृह) घर कहा जाता है। जिस गृहमें गृहिणी नहीं वह तो जंगल है। यदि आज मेरी प्रिया न लौटी तो मैं इस जीवनको रखकर क्या करूँगा?'

इधर उसकी कपोती भी इस व्याधके ही पिंजरेमें पडी थी। जब उसने कबूतरको इस प्रकार विलाप करते सुना तो बोली—'महामते! आज मैं धन्य हूँ, जो आप मेरी ऐसी प्रशंसा कर रहे हैं। पर आज आप मेरी एक प्रार्थना स्वीकार कीजिये। देखिये, यह व्याध आज आपका अतिथि बना है। यह सर्दीसे निश्चेष्ट हो रहा है, अतएव कहींसे तृण तथा अग्नि लाकर इसे स्वस्थ कीजिये।'

कबूतर यह देखकर कि उसकी स्त्री वहीं है होशमें आया तथा उसकी बात सुनकर उसने धर्ममें मन लगाया। वह एक स्थानसे थोडा तृण तथा अग्नि चोंचसे उठा लाया और अग्नि प्रज्वलित करके उस व्याधको तपाया। कपोतीने कहा—'महाभाग! मुझे आगमें डालकर अब इस व्याधका भोजन-सत्कार कर दीजिये, क्योंकि यह क्षुधा-जठरानलमें जल रहा है।'

कपोत बोला—'शुभे! मेरे जीते-जी तुम्हारा यह धर्म नहीं। मुझे आज्ञा दो, मैं ही इसका आतिथ्य करूँ।' ऐसा कहकर उसने तीन बार अग्निकी परिक्रमा की और भक्तवत्सल चतुर्भुज महाविष्णुका स्मरण करते हुए स्वयं अग्निमें प्रवेश कर गया। अब व्याध होशमें था उसने जब कबूतरको ऐसा करते देखा तो सहसा बोल उठा—'हाय! मैंने यह क्या कर डाला? मैं बडा ही नीच क्रूर और मूर्ख हूँ। अहा! इस महात्मा कबूतरने मुझ दुष्टके लिये प्राण दे दिये। मुझ नीचको बार-बार धिक्कार है!' ऐसा कहकर उसने अपनी लाठी, शलाका, जाल और पिंजरा—इन्हें फेंककर उस कबूतरीको भी छोड दिया और महाप्रस्थानका निश्चय कर वहाँसे तप करनेके लिये चल दिया।'

उस कबूतरीने भी तीन बार कपोत एवं अग्निकी प्रदक्षिणा की और बोली—'स्वामीके साथ चितामें प्रवेश करना स्त्रीके लिये बहुत बडा धर्म है। वेदमें इसका विधान है और लोकमें भी इसकी बडी प्रशंसा है।' यह कहकर वह भी आगमें कूद गयी। इसी समय आकाशमें जय-जयकी ध्वनि गूँज उठी। तत्काल दो वे दोनों दिव्य विमानपर चढकर स्वर्ग जाने लगे। व्याधने उन्हें इस प्रकार जाते देख हाथ जोडकर उनसे अपने उद्धारका उपाय पूछा।

कपोत-दम्पतिने कहा—'व्याध! तुम्हारा कल्याण हो। तुम गोदावरी नदीके तटपर जाओ। वहाँ पंद्रह दिनोंतक स्नान करनेसे तुम सब पापोंसे मुक्त हो जाओगे। पापमुक्त हो जानेपर जब तुम पुनः गौतमी (गोदावरी) गङ्गामें स्नान करोगे तो तुम्हें अश्वमेधयज्ञका पुण्य प्राप्त होगा।'

उनकी बातें सुनकर व्याधने वैसा ही किया। फिर तो वह भी दिव्य रूप धारणकर एक श्रेष्ठ विमानपर आरूढ होकर स्वर्ग चला गया। इस तरह कपोत कपोती और व्याध—तीनों ही स्वर्ग चले गये। गोदावरी-तटपर जहाँ यह घटना घटी थी, वह स्थान कपोत-तीर्थके नामसे विख्यात हो गया। वह आज भी उस महात्मा कपोतका स्मरण दिलाता हुआ हृदयको पवित्र करता है तथा स्नान, दान, जप, तप, यज्ञ एवं पितृ-पूजन करनेवालोंको अक्षय फल प्रदान करता है।

(महाभारत शान्तिपर्व आपद्धर्म अध्याय १४३—१४९ ब्रह्मपुराण अ० ८० पञ्चतन्त्र काकोलूकीय कथा ८, स्कन्दपुराण ब्रह्मखण्ड)

(२)

अति लोभी शीघ्र ही मृत्युको प्राप्त होता है

किसी तालावके किनारे अनेक जल-जन्तुओंके साथ एक बगुला रहा करता था। अपने यौवन-कालमें वह नित्य-प्रति अनेक मछलियोंको अपना आहार बनाया करता था, परंतु वृद्धावस्थाके कारण उसमें अब पहले-जैसी शक्ति नहीं रह गयी थी। इस कारण प्रायः उसे भूखा ही रहना पड रहा था। एक दिन उसने विचार किया कि शारीरिक बलके क्षीण होनेपर मुझे अब छल-कपटका आश्रय लेना चाहिये।

यह सोचकर बगुलेने झूठा ही प्रचार करना प्रारम्भ किया कि यह तालाब जल्दी ही सूख जायगा और सभी जल-जन्तु मर जायँगे इसलिये प्राण-रक्षाहेतु तुम लोगोंको यहाँसे थोडी दूरपर स्थित एक विशाल एवं रमणीय जलाशयमें चले जाना चाहिये। उसके इस असत्य प्रचारको सत्य समझकर सभी जल-जन्तु घबरा गये और उस तालाबसे पलायनकी बात सोचने लगे। कुछ उभयचर जन्तु जो जल-स्थल दोनोंपर विचरण कर सकते थे वे तो पहले ही चले गये। परंतु बेचारी मछलियाँ उसी तालाबमें पडी रह गयीं। उन्होंने बगुलेसे प्रार्थना की—हे बकश्रेष्ठ! आपके बताये मार्गका अनुसरण कर दूसरे जल-जन्तु तो निर्भय हो गये हैं, परंतु हम लोग वहाँतक पहुँच पानेमें अक्षम हैं। अतः कृपा करके कोई ऐसा उपाय करें, जिससे हम सबकी भी जीवन-रक्षा हो सके।

बगुलेने कहा—उपाय तो है, परंतु तुम सबको मेरा विश्वास करना होगा मैं एक-एक मछलीको अपनी पीठपर चढाकर तीव्र वेगसे उडकर उस जलाशयमें पहुँचा दूँगा। इस प्रकार कुछ दिनोंमें तुम सभी मछलियाँ जलाशयमें पहुँच जाओगी। इस कृत्यसे मेरेद्वारा पूर्वमें किये पापोंका प्रायश्चित्त भी हो जायगा।

यद्यपि बगुला मछलियोंका स्वाभाविक शत्रु था, परंतु आपत्तिकाल और कुछ उसकी मीठी बातोंने उन्हें यह माननेके लिये विवश कर दिया।

अब बगुलेके दिन फिर गये थे। वह दुष्टात्मा एक-एक मछलीको ले जाता और उन्हें मारकर खा जाता। एक दिन तालाबमें मछलियोंके बीच उसे एक केकडा दिखायी दिया। उस दुष्टबुद्धि लोभी बगुलेने सोचा—प्रतिदिन मछलियोंका आहार करते-करते मन ऊब गया है अतः आज इस केकडेको खाकर जीभका स्वाद बदलना चाहिये। इस प्रकार विचारकर उसने केकडेसे कहा—'भानजे! चलो, आज तुम्हें जलाशय पहुँचा आऊँ।' केकडा प्रसन्न होकर बगुलेकी पीठपर बैठ गया। कुछ देरकी उडानके बाद केकडेने पूछा—'मामा! अभी जलाशय कितनी दूर है?' बगुलेने उसे अपने वशमें जान रहस्योद्घाटन करते हुए कहा कि यहाँ कोई जलाशय नहीं है, यह कार्य वृद्धावस्थामें मेरी आजीविकाका साधन है। मैं प्रतिदिन मछलियोंको लाकर उस चट्टानपर पटककर मार डालता हूँ और उन्हें खा जाता हूँ। भानजे! मछलियोंको खाते-खाते मैं ऊब गया था अतः आज तुम्हें खाकर स्वाद बदलूँगा।'

केकडेने कहा—'मामा! आज तुम्हारे पापका घडा भर गया है अब अपने कुकृत्योंका स्मरण करो और यमलोकमें जानेकी तैयारी करो।' यह कहकर केकडेने बगुलेकी कमलनालके समान कोमल और उज्ज्वल ग्रीवाको अपने तीक्ष्ण दाँतोंसे दबाना प्रारम्भ किया और उसे निष्प्राण कर डाला। फिर उसकी कटी ग्रीवा मुखमें दाबे हुए तालाबपर आकर उसने उस दुष्टका दुष्कृत्य और परिणाम अन्य जलचरोंको बताया। इस प्रकार अति लोभके कारण दुष्ट बगुला मारा गया। अतः लोभका सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये। काम क्रोध, लोभ मोह आदि—ये महान् शत्रु हैं पतन करानेवाले हैं। साधना-मार्गमें तो ये प्रबल बाधक हैं। नीतिका यह तथ्य है कि कल्याणकामीको इन शत्रुओंसे सदा दूर रहना चाहिये। (पञ्चतन्त्र मित्रभेद)

(३)

बुद्धि ही श्रेष्ठ बल है

किसी वनमें भासुरक नामक एक सिंह रहता था। वह बहुत ही क्रूर तथा निर्दयी था और प्रतिदिन अनेक पशुओंका वध किया करता था। एक दिन सभी पशुओंने मिलकर विचार किया कि इस प्रकार तो हमारी वंश-परम्परा ही समाप्त हो जायगी। अतः हमें कोई उपाय करना चाहिये। यह निश्चय हुआ कि सिंहके पास ही चलकर अपनी बात बतानी चाहिये। तदनन्तर सभी पशु उसके पास जाकर कहने लगे—

स्वामिन्! यदि आप हमारा इसी प्रकार संहार करते रहेंगे तो हम लोग शीघ्र ही समाप्त हो जायँगे। इसलिये हम प्रतिदिन आपके लिये एक जानवर भेज दिया करेंगे, क्योंकि आपकी तृप्ति तो एक ही प्राणीसे हो जाती है इससे आपकी भूख भी मिट जायगी और हम भी बहुत दिनोंतक बने रहेंगे। सिंहने प्रसन्नतापूर्वक उनका यह प्रस्ताव मान लिया और साथ ही यह भी चेतावनी दी कि यदि ऐसा न हुआ तो मैं सभीको एक ही दिन मार डालूँगा। सभी पशु राजी हो गये।

अब सिंहके दिन आरामसे बीतने लगे। प्रतिदिन एक पशु उसके पास आ जाता और वह उसको खा जाता। एक दिन सिंहके पास जानेका क्रम एक खरगोशका था, सभी पशुओंद्वारा प्रेरित करनेपर बड़े व्यग्र मनसे वह सिंहका ग्रास बननेके लिये चला। खरगोश यद्यपि क्षीणकाय था परंतु उसकी बुद्धि बड़ी तीव्र थी। वह मन-ही-मन सिंहसे छुटकारा पानेकी योजना बनाने लगा। इसी क्रममें मार्गमें उसे एक कुआँ दिखायी दिया। कुएँके पाससे जाते हुए उसे अपना प्रतिबिम्ब कुएँके जलमें दिखायी दिया। खरगोशके मस्तिष्कमें एक विचार कौंधा कि क्यों न उस दुरात्मा सिंहको इसी कुएँमें गिरा दूँ? यह सोचता हुआ वह पूरा दिन बिताकर सायंकाल सिंहके पास पहुँचा।

उधर क्षुधा-पीड़ित सिंह क्रुद्ध हो होठोंको चबा रहा था। उसने मन-ही-मन निर्णय कर लिया था कि इसके दण्डस्वरूप कल सारे पशुओंको मार डालूँगा।

सायंकाल एक छोटे खरगोशको आया देख क्रोधसे पागल हो सिंहने गरजकर कहा—'रे नीच शशक! एक तो तू यों ही इतना छोटा है, दूसरे इतनी देरसे आया है। तेरे इस अपराधके कारण मैं तुझे मारनेके बाद कल समस्त जानवरोंको कालके गालमें छोड़ दूँगा।'

खरगोशने कहा—स्वामिन्! इसमें मेरा या अन्य पशुओंका कोई दोष नहीं है, मुझे छोटा समझकर उन जानवरोंने मेरे साथ चार अन्य खरगोशोंको भी भेजा था। परंतु मार्गमें एक बड़े सिंहने माँदसे निकलकर हम सबको रोक लिया। वह अपनेको जंगलका राजा कह रहा था और क्षमा करें महाराज, वह कह रहा था कि भासुरकमें यदि शक्ति हो तो आकर मुझसे लड़े और इन चार खरगोशोंको ले जाय, अन्यथा अब तुम सब मुझे ही एक जानवर प्रतिदिन खानेके लिये भेजा करना।

इतना सुनते ही क्रोधसे पागल हुआ भासुरक गरजकर बोला—कहाँ है वह सिंह? ले चलो मुझे उसके पास।

खरगोश तो यह चाहता ही था, वह सिंहको लेकर कुएँके पास गया और बोला—स्वामिन्! वह दुष्ट सिंह इसीमें छिपा है। मूर्ख सिंह उस कुएँमें झाँकने लगा। कुएँमें दिखायी पड़नेवाले अपने ही प्रतिबिम्बको दूसरा सिंह समझकर वह प्रबल वेगके साथ गरजा। उसे आशा थी कि उसकी गरज सुनकर वह सिंह डर जायगा। परंतु उसके गरजनकी प्रतिध्वनि कुएँमेंसे और भी अधिक वेगसे उसे सुनायी दी। अब तो क्रोधोन्मत्त हुआ सिंह बिना कुछ सोचे-समझे कुएँमें कूद पड़ा और मर गया। इस प्रकार छोटेसे खरगोशकी बुद्धिने भयानक और दुर्दान्त सिंहका काम तमाम कर दिया। इसीलिये कहा गया है—

यस्य बुद्धिर्बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्।
वने सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः॥

अर्थात् जिसके पास बुद्धि है, उसीके पास बल भी है, बुद्धिहीनके पास बल कहाँ? तभी तो वनमें मदोन्मत्त सिंह खरगोशद्वारा मार डाला गया। (पञ्चतन्त्र मित्रभेद)

~~~

दया धर्म हिरदै बसै, बोलै अमृत बैन। तेई ऊँचे जानिये जिन के नीचे नैन॥
सुंदर देही पाइ कै, मत कोइ करै गुमान। काल दरेरा खायगा, क्या बूढ़ा क्या ज्वान॥
इस जीने का गर्ब क्या, कहाँ देह की प्रीत। बात कहत ढह जात हैं बारू की-सी भीत॥
आदर मान महत्त्व सत बालापन को नेह। यह चारो तबहीं गये, जबहीं कहा कछु देह॥
प्रभुता ही को सब मरै प्रभु को मरै न कोय। जो कोई प्रभु को मरै, तो प्रभुता दासी होय॥

—बाबा मलूकदास

~~~

नीतिशास्त्रका सार्वदेशिक ग्रन्थ हितोपदेश

(डॉ० श्रीनरेशजी झा शास्त्रचूडामणि)

प्राचीन कालसे भारतवर्षकी ख्याति जगद्गुरुके रूपमें चली आ रही है। यह सार्वदेशिक ख्याति समूलक है। यहाँकी प्राचीन नीतियाँ तथा उपदेश सर्वमान्य होते थे। इस विषयमें मानव-धर्मशास्त्रप्रणेता महाराज मनुने अपनी स्मृतिमें स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥
(२।२०)

अर्थात् इस कर्मभूमि भारतवर्षके अग्रजन्मा ब्राह्मणोंसे पृथ्वीके समस्त मानवोंने अपनी-अपनी मनोरम उपदेशप्रद शिक्षाएँ प्राप्त की थीं। यह शिक्षा तो नीत्यात्मक तथा हितकारक उपदेशोंके द्वारा ही सम्भव है।

यह सर्वविदित है कि नीति वह है जिसे मनुष्यमात्र दैनिक व्यवहारमें लाता है। अतः इसकी उपयोगिता स्वतः सिद्ध है। हितोपदेश नीतिशास्त्रका बहुप्रचलित सार्वदेशिक ग्रन्थ है। वैसे तो वैदिक वाङ्मयसे लेकर रामायण-महाभारत और विभिन्न काव्यग्रन्थोंतकमें लोकोपकारी नीतियाँ और उपदेश भरे हुए हैं, किंतु पञ्चतन्त्र, नीतिशतक, विदुरनीति और हितोपदेश आदि विशेष लोकप्रिय हैं।

प्रस्तुत हितोपदेशमें दो शब्दोंका योग है—हित और उपदेश। इस हित शब्दका प्रयोग कोशकारोंने विशेषण, पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्गमें किया है।

इसकी व्युत्पत्ति धा (हि)+क्तके योगसे होती है। यहाँ 'धा' का 'हि' हो गया है और आगे 'क्त' प्रत्ययके लगनेसे 'हित' शब्द बना है। हित और उपदेश शब्दका षष्ठी-तत्पुरुष समास (हितस्य उपदेशः)-के बाद गुणसंधि करनेपर हितोपदेश शब्द बना है। जिसका अर्थ है, हितकारक उपदेश। यहाँ विशेषणके रूपमें हितका अर्थ होगा—हितकारी लाभप्रद उपयुक्त, मित्रवत् और कृपालु आदि। पुँल्लिङ्ग हितका अर्थ है—मित्र, परोपकारी और नपुंसकलिङ्ग 'हितम्' शब्दका अर्थ होगा—उपकार, लाभ, कोई भी उपयुक्त या समुचित बात। इस प्रकार हितोपदेशका व्यापक अर्थ प्रत्यक्ष है एक प्रकारसे यह हितकारक नीतियोंका ही उपदेश है।

अर्थगौरवके आचार्य महाकवि भारविने अपने महाकाव्य 'किरातार्जुनीयम्' के प्रथम सर्गमें ही 'हित' शब्दका तीन बार प्रयोग कर इस राजनीति-संघटित शब्दको प्रमाणित किया है। जैसे—'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः' अर्थात् जो हितकर हो और वह मधुर भी हो ऐसा वचन दुर्लभ है। अपरञ्च—'नहि प्रियं प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः' आशय यह है कि हित चाहनेवाले लोग कटु सत्य भी बोलते हैं। अन्यच्च 'हितान्न यः संशृणुते स किं प्रभुः' जो हितकारक बात न सुने वह क्या राजा हो सकता है आदि। यह तो सर्वविदित है कि नीति एक ऐसा शास्त्र है, जिसे मानवमात्र व्यवहारमें लाता है।

नीति दो प्रकारकी होती है—धर्मनीति और राजनीति (दण्डनीति)। यद्यपि राजनीतिक एक-से-एक बढ़-चढ़कर अपूर्व ग्रन्थ (कामन्दकीय आदि) पाये जाते हैं तथापि पण्डित विष्णुशर्माद्वारा रचित पञ्चतन्त्र जिसमें राजनीतिक अङ्गों (संधि-विग्रह-यान-आसन आदि)-के साथ-साथ नीत्यात्मक उपदेशोंका प्रचुर भण्डार है, एक अद्भुत ग्रन्थ है। कालान्तरमें पण्डित श्रीनारायणशर्माने सर्वजनहिताय उक्त पञ्चतन्त्र तथा अन्य नीतिके ग्रन्थोंके आधारपर हितोपदेश नामक ग्रन्थकी रचना की, जैसा कि कहा गया है—

मित्रलाभः सुहृद्भेदो विग्रहः संधिरेव च।
पञ्चतन्त्रात् तथान्यस्माद् ग्रन्थादाकृष्य लिख्यते॥
(प्रस्ताविका ९)

यह ग्रन्थ चार भागोंमें विभक्त है—मित्रलाभ, सुहृद्भेद, विग्रह और संधि। प्रस्तावनामें इसकी महिमा कही गयी है—

श्रुतो हितोपदेशोऽयं पाटवं संस्कृतोक्तिषु।
वाचां सर्वत्र वैचित्र्यं नीतिविद्यां ददाति च॥
(प्रस्ताविका २)

अर्थात् यह हितोपदेश संस्कृत भाषाके बोलनेमें (बातचीत करनेमें) पटुताके साथ-साथ वाणीकी विचित्रता (ऊहापोहकी शक्ति) तथा नीति-विद्याको प्राप्त कराता है।

इसकी रचनाके सम्बन्धमें एक रोचक लघु कथा इस प्रकार है—भागीरथी (गङ्गा)-के किनारे पाटलिपुत्र (पटना) नामक नगरमें सुदर्शन नामक एक राजा थे। उनके चार पुत्र थे। समय प्राप्त होनेपर अपढ़ पुत्रोंके लिये राजाकी चिन्ता स्वाभाविक थी, क्योंकि वे जानते थे कि शास्त्र अनेक संदेहोंको दूरकर भविष्यके मार्गको दिखलाता है अतः शास्त्र सबका नेत्र है। जिसने शास्त्राभ्यास नहीं किया वह वस्तुतः अन्धा है। उसके लिये कहा गया है कि यौवन

धन-सम्पत्ति, प्रभुता और अविवेक—इनमसे एक-एक भी अनर्थ करनवाला है और जिसम ये चारा हा उसके विषयम क्या कहना—

यौवन धनसम्पत्ति प्रभुत्वमविवेकता।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्॥

(प्रस्ताविका ११)

राजाने साचा कि मेरे पुत्राम तो ये चारा बात विद्यमान ह, इसलिये मुझ कोई उपाय करना चाहिये।

इसी चिन्ताम पडे राजाने नीतिशास्त्रके वेत्ता प० विष्णुशर्माका बुलाकर उनसे कहा—हे विद्वन्! कृपया हमारे इन पुत्राका नीतिशास्त्रका उपदेश करके शिक्षित कर। तदनुसार उन्हाने पुत्राको जा हितकर उपदेश दिया, वही हितोपदेश कहलाया।

इसम गुणवान् और मूर्ख पुत्रकी समीक्षा, दैव (भाग्य) आर प्रयत्नकी समीक्षाके पश्चात्—मित्रलाभम आठ, सुहृद्भेदम दस, विग्रहमे दस और सधिम तेरह कथाएँ वर्णित हैं।

इन कथाआके मुख्य आधारभूत पात्र हैं—काग (काआ), कछुआ मृग (हरिण), चूहा बूढा बाघ, मुसाफिर धूर्त गीदड अन्धा गिद्ध बिलाव, चिडिया, सन्यासी, धनिक राजकुमार, सुन्दर युवती, हाथी, बनिया, बेल ओर सिह। इनम अधिकाश वन्य प्राणी, पशु-पक्षी हैं जिनकी कथाआम अत्यधिक राचकता ह। इनके अध्ययनसे व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त हाता है।

इन पात्राक कथोपकथनम जो उपदशप्रद नीतियाँ आयी ह, उनक श्लाकोकी सख्या मित्रलाभम २१६ सुहृद्भेदम १८४ विग्रहम १४९ ओर सधिम १३३ ह।

मुख्य रूपसे इनका वर्ण्य विषय है—विद्याकी प्रशसा कुपुत्रकी निन्दा ससारके छ सुख धर्मकी प्रशसा और उद्योग विपत्ति तथा मृत्युके नजदीक होनेका लक्षण आदि। विग्रहम विशेपरूपसे साम दान दण्ड और भेदका महत्त्व वर्णित है। इनके नीति-सवलित उपदशाम कतिपय उपदश निम्नलिखित हैं। जैसे मृत्युसमीप हानका लक्षण—

दीपनिर्वाणगन्ध च सुहृद्वाक्यमरुन्धतीम्।
न जिघ्रन्ति न शृण्वन्ति न पश्यन्ति गतायुप ॥

जिनकी आयु समाप्तप्राय है उन्ह दीपकके बुझनेकी गन्धका आभास नहीं हाता मित्रके वाक्यको व नहीं सुनते अरुन्धती ताराको नहीं दख पाते। इसके अतिरिक्त कुछ उपदेशाका साकतिक श्लाक दकर उनका यहाँ उपस्थापन किया जा रहा हैं। यथा—

'म हि गगनविहारी कल्मपध्वसकारी०'

—आकाशमें विहार करनवाले अन्धकारका दूर करनवाले चन्द्रमाको भी राहु ग्रस लता ह। अत भाग्य ही बलवान् ह।

असम्भव हेममृगस्य जन्म
तथापि रामो लुलुभे मृगाय।
धियोऽपि पुसा मलिना भवन्ति॥

स्वर्णमृगका हाना असम्भव है, फिर भी रामका मृगके लिये लोभ हो गया। प्राय विपत्तिके समय बुद्धिमानाकी भी बुद्धि मलिन हो जाती हैं।

'विपदि धैयम्'

विपत्तिके समय मनुष्यको धैर्य धारण करना चाहिये।

'अतिथिर्यस्य भग्नाशा०'

जिसक घरसे अतिथि निराश होकर लाट जाता ह उसे वह अपना पाप दकर जाता हैं।

'धनेन कि यो न ददाति नाश्नुत'

उस धनस क्या प्रयाजन, जा न दनक कामम आय आर न सदुपयाग करनेम।

'बलेन कि यश्च रिपून् न बाधत'

जो शत्रुआको परास्त न कर सके उस बलसे क्या लाभ।

'श्रुतेन कि या न च धर्ममाचरेत्'

उस शास्त्राध्ययनसे क्या लाभ जो धर्मका आचरण न करे।

'किमात्मना या न जितन्द्रिया भवेत्'

उस आत्मास क्या लाभ जो जितन्द्रिय न हो।

'वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा'

राजनाति वेश्याकी तरह अनेक रूप धारण करती है।

'न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा '

वह सभा सभा नहीं है, जहाँ वृद्ध न हा।

ग्रन्थके अन्तम मार्मिक फलश्रुति दा गया ह जिसस इसक महत्त्वके विषयम स्पष्ट सकेत मिलता है—

प्रालेयाद्रे सुताया प्रणयनिवसतिश्चन्द्रमालि स याव-
द्यावल्लक्ष्मीर्मुरारेर्जलद इव तडिन्मानस विस्फुरन्ती।
यावत् स्वर्णाचलोऽय दवदहनसमो यस्य सूर्य स्फुलिङ्ग-
स्तावन्नारायणेन प्रचरतु रचित सग्रहोऽय कथानाम्॥

जबतक हिमालयका पुत्री पार्वतीक प्रणयम चन्द्रमौलि (शङ्करजी)-का अनुराग हे जबतक मघम बिजलीके समान भगवान् विष्णुके मनम लक्ष्मी विराजमान ह और जबतक सूर्यक स्फुलिङ्गक समान सानेका पर्वत सुमेरु स्थित हैं तबतक नारायण पण्डितक द्वारा विरचित यह कथाआका सग्रह—हितोपदेश प्रचलित रहे।

हितोपदेशके कुछ आख्यान

(१)
कुसगका परिणाम

गङ्गाजीक किनारे गृध्रकूट नामक पर्वतपर एक विशाल पाकडका वृक्ष था। उसक खाखलेम एक अधा गीध रहा करता था। उसका नाम जरद्गव था। वह गीध बूढा और कमजोर था, इसलिये उस वृक्षपर रहनेवाले सभी पक्षी अपने-अपने भोजनममे थाडा-थोडा भाग उस दे दिया करते थे। गीध भी अपन जीवनके अनुभव और ज्ञानकी बातें सुनाकर उन सबके प्रम तथा आदरका पात्र बना हुआ था। इस प्रकार उस वृक्षका वातावरण उन सबक सामञ्जस्यस बडा ही सुखद बना हुआ था।

एक दिन दुर्भाग्यकी काला छायाके रूपम दीर्घकण नामक एक विलाव पक्षियाक बच्चाको खानेके लिये उस पेडपर आ पहुँचा। उस देखकर बच्चे घबडाकर चीं-चीं करने लग। बच्चाका भयभीत स्वर सुनकर गीधने जारसे पूछा—'कान है?' गीधकी आवाज सुनकर बिलाव भयभीत हा गया ओर मनम विचार करने लगा कि हाय! मैं तो यहाँ आया था लाभवश अपन भाजनकी तलाशम, पर लगता है अब म ही मृत्युको प्राप्त हो जाऊँगा। मृत्युको सनिकट जान उस बिलावने कपट-बुद्धिका आश्रय लिया और धीरसे कहा—'महाराज! में आपको प्रणाम करता हूँ।' गीध बाला—'तू कौन हे?' वह बाला—'म बिलाव हूँ।' गीधने कहा—'दूर हट जा नहीं तो मैं तुझे मार डालूँगा'।

बिलाव बाला—'महाराज! पहले मरी बात ता सुन लीजिये, फिर में मारने योग्य हाऊँगा ता मुझ मार डालियेगा।'

गीध बाला—'बता तू किसलिय यहाँ आया है?' बिलावन कहा—'महागज! में नित्य गङ्गा-स्नान करता हूँ, मास-भक्षणका त्याग करके इन्द्रिय-सयम और ब्रह्मचर्यका पालन तथा चान्द्रायणव्रत भी करता हूँ। पक्षियोंद्वारा आपके धर्म-ज्ञानकी प्रशसा सुनकर मैं आपक पास धर्मका रहस्य सुनन आया हूँ। महागज! मैं आपका अतिथि हूँ श्रद्धा-भावसे आपके पास आया हूँ, इसलिय मेरा त्याग न कीजिये।' गीधने कहा—'बिलाव मासभक्षी हाता है ओर यहाँ पक्षियोक छोटे-छाटे बच्चे रहत ह। मैं इन सवका रक्षक हूँ, अत में तुझे यहाँ नहीं रहन दूँगा। तेरी-मेरी मित्रता नहीं हो सकती।'

बिलावने भूमिका स्पर्श करके शपथ लेत हुए कहा—'महाराज! मने धर्मशास्त्रसे सुना हे कि 'अहिसा ही परम धर्म ह' इसलिये मैंने मास-भक्षण छाड दिया ह। म फल आर अन्नपर ही जीवन-निर्वाह कर रहा हूँ। नित्य गङ्गा-स्नान और चान्द्रायणव्रतसे मरी मनोवृत्ति वदल गयी ह। आप सत्पुरुष ह, आपका दर्शन ही मर लिये मङ्गलमय ह अत आप मुझ अपने चरणोम आश्रय द।'

बिलावकी मीठी एव कपटभरी बातापर विश्वास करक गीधने उसे अपना मित्र वना लिया आर वह दुरात्मा बिलाव वही रहन लगा।

कुछ दिन बीत जानेपर जव वह गीधका विश्वासपात्र बन गया ता उसकी मासभोजी प्रवृत्ति उस पक्षिशावकाका भक्षण करनके लिये प्रेरित करन लगी। वह यह भी समझ गया था कि गीध अधा है, अत यह मरी हानि नहीं कर सकगा। फिर क्या था अगल दिनसे जव सब पक्षी अपन-अपने घोंसलासे भोजनकी तलाशम दूर चल जाते ता उसने उनक घोंसलामे घुसकर उनके बच्चाका खाना शुरू कर दिया। पक्षी रोज वापस लोटकर अपने बच्चाका न पात तो बहुत दु खी होते। इस प्रकार बिलाव उन पक्षियाक सभी बच्चाको खा गया। बच्चाको खानक बाद वह उनकी हड्डियाको गीधक निवास-स्थानपर रख देता था। अधा होनके कारण गीधको कुछ पता भी नहीं चल पाता था। एक दिन सभी पक्षी शोकसे व्याकुल हा अपन बच्चाका ढूँढत हुए उस खोखल स्थानतक आये। वहाँ उन्ह बिलाव दिखायी नहीं दिया, क्याकि वह ता चुपचाप वहाँस कबका भाग चुका था। पक्षियोने जब गीधके आवासम अपन बच्चोकी हड्डियाँ देखी तो गीधको ही अपने बच्चाका हत्यारा समझकर उसे मार डाला। इस प्रकार दुष्टका साथ रखनेक कारण निर्दोष गीध मृत्युका प्राप्त हुआ।

इसीलिये कहा गया हे कि दुष्ट व्यक्तिका साथ घातक होता है।

बचारा गीध सभी पक्षियाके बच्चाका रक्षाका उपकारी कार्य करता था, किंतु हिसक बिलावका सग हानेस न

कवल गीध ही मारा गया वल्कि पक्षियाक वच्च भी कालक गालम चल गये। इसीलिये कुसगसे सदा वचते रहना चाहिय। (मित्रलाभ)

(२)
लोभका फल

दक्षिणके किसी वनमे एक बूढा बाघ रहता था। एक दिन वह स्नान करके हाथम कुशको लेकर तालाबके किनार आकर कहने लगा—'अरे राहगीरो! इस सोनेक कगनको मुझसे दानमे ग्रहण करो।' यह सुनकर लोभके वशीभूत होकर एक राहगीरन सोचा—'आज भाग्यस यह कगन मुझे मिलेगा, क्याकि भाग्यस ही सब कुछ होता है। किंतु सदेहम डालनेवाल कार्यका विना साचे-समझे नहीं करना चाहिय। इसलिये बाघकी बातका पहले निश्चय कर लूँ।'

यह साचकर वह तालाबक किनार आकर बाघस पूछने लगा—'अरे बाघ! तुम्हारा कगन कहाँ है?' तब बाघन हाथ फैलाकर दिखाया। उसक हाथका कुश दूरस कगन-जैसा मालूम पड रहा था। इसपर राहगीरने कहा—'तुम-जैस हिसक पशुपर कैस विश्वास किया जा सकता है?' तब बाघन कहा—'राहगीर! तुम ठीक ही कहत हो। पहले युवावस्थाम मैं भी बडा दुराचारी था। अनक जीवाकी हत्या किया करता था और इसी पापक परिणामस्वरूप मर पत्नी-पुत्रादि सभी मर गय मैं वशहीन हो गया। एक दिन एक धर्मात्मान मुझ उपदश दिया कि 'तुम दान-पुण्य किया करो इसस सब ठीक हो जायगा।' तबस उन्हीं महात्माकी बात मानकर मैंन हिसा करना छाड दिया है और प्रतिदिन स्नान करक कुछ-न-कुछ दान किया करता हूँ। अब मैं वृद्ध हो गया हूँ, मुझम शक्ति नहीं रही मर दाँत तथा नख आदि भी कमजोर हो गय हैं अत मुझस भय नहीं करना चाहिय। किंतु आज न जान क्या बात है इस कगनको दानमें दनक लिय मैं बहुत दरस पुकार रहा हूँ, पर मरी काई भी नहीं सुनता लाक हो है—'बाघ मनुष्यको खा जाता है' इस लाकप्रसिद्धिको हटाना बहुत कठिन है। अब तुम इस तालाबमें स्नान करके इस कगनको ग्रहण करो जिसस मरा मनारथ पूरा हो सक।'

उस बाघक कपटभरे किंतु मीठ वचनापर विश्वास करके राहगीरने ज्या ही तालाबम स्नान करनेक लिये प्रवेश किया त्या ही वह कीचडम फँस गया। राहगीरका कीचडम फँसा दखकर बाघने कहा—अर भाई! तुम तो कीचडम फँस गये हो, परतु घबडाओ मत, वहीं रुक जाओ, मैं तुम्ह निकाल देता हूँ—ऐसा कहकर बाघ धीर-धीरे उसक पास गया। उसने राहगीरको दबाच लिया और मारकर खा गया।

चालाक बाघ तो अपनी योजनाम सफल हो गया किंतु लोभी राहगीर लाभक वशीभूत हो उसकी चिकनी-चुपडी बाताम आकर उसीका ग्रास बन गया। इसलिय नीति यह शिक्षा देती है कि लाभ बिलकुल भी नहीं करना चाहिय और बिना विचारे काई भी कार्य कभी नहीं करना चाहिये—'सर्वथाऽविचारितं कर्म न कर्तव्यम्।'

(मित्रलाभ)

(३)
दुर्जनका क्षणिक सग भी अनिष्टकारी होता है

भगवान् महाकालेश्वरकी नगरी उज्जयिनीके मार्गम पाकडका एक विशाल वृक्ष था। उसपर अनक पक्षियान अपन घासले बना रखे थे। उसी वृक्षपर एक हस भी निवास करता था। हस अपन सरल स्वभावक कारण सभी पक्षियाक आदरका पात्र था परतु एक दुष्ट कौआ उससे ईर्ष्या करता था।

एक दिन काई यात्री उस मार्गस जा रहा था उसक शरीरपर मूल्यवान् वस्त्र और कन्धपर धनुष-बाण शाभा द रह थ। वह ग्रीष्म-ऋतुक प्रचण्ड तापस व्याकुल हो रहा था। पाकड-वृक्षकी सघन छाया दखकर उसन उसक नीच विश्राम करनका निर्णय लिया। वृक्षकी सुखद छायाम लटत ही विश्रान्त पथिकको नींद आ गयी। थाडी दर बाद सूर्यकी रोशनी पत्ताम छन-छनकर उसक सिरपर आन लगी परतु नींद गहरी हानक कारण वह साता ही रहा। हसन जब उसक मुखपर सूर्य-किरणाको पडते दखा ता दयावश उसन अपन पखोंको फैलाकर छाया कर दी जिसस उस सुख प्राप्त हो गया। यात्री सुखपूर्वक साता रहा नींदमें उसका मुख खुल गया था। उसी समय कौआ भी उडता हुआ आकर हसक पास बैठ गया। साधु-स्वभाववाल हसन कौएको अपन समान

आया देख उसे सादर बैठाया आर कुशल-प्रश्न पूछा। कौआ तो स्वभावसे ही दुष्ट था हसको छाया किये देखकर वह मन-ही-मन सोचन लगा कि यदि में इस यात्रीके ऊपर बीट करके उड जाऊँ तो यह यात्री जग जायगा तथा पख फेलाये हसका ही बीट करनेवाला समझकर मार डालेगा, इससे मैं इस हससे मुक्ति पा जाऊँगा, क्योंकि जबतक यह हस यहाँ रहेगा, तबतक सब इसीकी प्रशसा करते रहगे।

यह विचारकर उस ईर्ष्यालु कोएन सोते हुए पथिकके मुखमे बीट कर दी और उड गया। मुखमे बीटके गिरते ही यात्री चॉककर उठ बैठा। जब उसने ऊपरकी ओर देखा तो हसको पख फेलाये बैठा पाया। यद्यपि हसन उसका उपकार किया था, परतु दुष्टके क्षणिक सगने उसे ही दोषी बना दिया। यात्रीने सोचा कि इस हसने ही मेरे मुखमे बीट की है, यह निश्चितकर क्रुद्ध हा उसने अपना धनुप-बाण उठाया और एक ही बाणसे हसके प्राण ले लिये। बेचारा हस उस दुष्ट कौएके क्षणिक सगके कारण मृत्युको प्राप्त हुआ।

इसीलिये कहा गया है—'न स्थातव्य न गन्तव्य दुर्जनेन सम क्वचित्' अर्थात् दुष्टके साथ न तो कभी बैठना चाहिये और न उसके साथ कहीं जाना ही चाहिये।

(विग्रह)

(४)
'बुद्धिर्यस्य बल तस्य'

किसी वनमे चन्द्रसरोवर नामका एक तालाब था। उसके किनारे खरगोशोका एक समूह रहा करता था। खरगोश किनारेपर उगी हुई कोमल-हरी घास खाते और आनन्दपूर्वक क्रीडा किया करते थे। उनम विजय नामका खरगोश बहुत बुद्धिमान्, वाक्पटु तथा नीतिनिपुण था।

एक दिन हाथियोका एक समूह उस सरोवरके किनारे आया और सरोवरम घुसकर जलक्रीडा करन लगा। उनकी जलक्रीडासे सरोवरका जल मलिन हो गया और उसम खिले कमल भी नष्ट हो गये। जलक्रीडाक पश्चात् हाथी तालाबसे बाहर निकलकर इधर-उधर घूमने लगे। उन मतवाले हाथियाके पैराके नीचे आकर अनक खरगोश काल-कवलित हो गये। यह देख बचे हुए खरगाश भागकर उस चतुर खरगोश विजयके पास गये ओर उसे हाथियाक उपद्रवकी बात बतायी।

विजयन विचार किया कि इन मदमस्त हाथियाका शारीरिक बलसे तो पराजित किया नहीं जा सकता, अत इन्हे यहाँसे भगानेके लिये कूटनीति और बुद्धि-बलका आश्रय लेना होगा। एसा सोचकर वह हाथियोके राजा चतुर्दन्तके पास गया और बोला—गजेन्द्र! एक स्थानपर साथ-साथ रहनेस मत्री भाव उत्पन्न हा जाता है आर एक मित्रको दूसरे मित्रकी हित-कामना करनी चाहिये। यह चन्द्रसरोवर भगवान् चन्द्रदेवका निवास-स्थान है और हम लाग उनकी प्रजा हैं। आपके साथियाने भगवान् चन्द्रदेवक इस निवास-स्थानको मलिन कर दिया है ओर उनकी प्रजा-रूपी खरगोशाको मार डाला है। इसलिये चन्द्रदव आपसे क्रुद्ध हो गये हैं, क्याकि प्रजाक अपराधका दण्ड राजाका ही भोगना पडता है।

यह सुनकर चतुर्दन्त भयसे व्याकुल हो गया। उसने विजयसे विनयपूर्वक कहा—'तुम ठीक ही कहते हो। चन्द्रदेव मेरे आदरणीय हैं, मुझे उनका दर्शन करा दो। म उनसे क्षमा माँगकर यहाँसे चला जाऊँगा।' बुद्धिमान् विजयने रात्रिमे सरोवरके जलम चन्द्र-प्रतिबिम्ब दिखाते हुए चतुर्दन्तसे कहा—'देखो! क्रोधके कारण चन्द्रदेवकी भृकुटि टढी हो गयी हे, अत शीघ्र क्षमा-याचनाकर इस वनस चले जाओ।'

चतुर्दन्तने घुटन टेककर चन्द्रदेवको प्रणाम किया ओर अपने अपराधके लिये क्षमा माँगी। तदनन्तर वह अपने सभी साथियाका लेकर उस वनसे दूर चला गया।

इस प्रकार विजयकी बुद्धिमानीसे खरगोशोपर आया हुआ सकट दूर हो गया। हाथियोने पुन कभी उस वनकी ओर दृष्टि भी नहीं डाली। खरगोशा तथा वनके दूसर छोट प्राणियाने खरगोशकी बुद्धिकी प्रशसा की। इसलिये बुद्धिबलको अन्य बलाकी अपक्षा श्रेष्ठ माना गया हे।

(हितोपदश विग्रह)
(पञ्चतन्त्र काकोलूकीयम्)

राजा भोज और उनकी राज्यनीति

(विद्यावाचस्पति डॉ० श्रीरंजनसूरिदेवजी)

भारतीय राजधर्मके पालनकर्ताओंमें राजा भोजका नाम अग्रगण्य है। वे भारतके उन राजाओंमें परिगणनीय हैं, जो राज्य-प्रशासनमें पटु होनेके साथ ही साहित्यके सर्जनामें भी विस्मयकारिणी प्रतिभाके धनी हुए। ऐतिहासिक दृष्टिसे वे ग्यारहवीं शतीके राजा थे।

संस्कृत-साहित्यमें राजा भोज भोजराजके नामसे चर्चित हैं। धारानगरी उनकी राजधानी थी, इसलिये वे धारानरेश भी कहलाते थे। सम्प्रति धारानगरीकी अवस्थिति मध्यप्रदेशकी राजधानी भोपालके निकट मानी जाती है। उदारता, दयालुता और दानशीलतामें उनकी द्वितीयता नहीं थी।

संस्कृत-साहित्यके इतिहासमें भोजराजद्वारा रचित तीन कृतियोंकी चर्चा विशेष रूपसे की गयी है। वे ये हैं— 'सरस्वतीकण्ठाभरण', 'शृंगारप्रकाश' और 'रामायणचम्पू'। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' तथा 'शृंगारप्रकाश'—ये दोनों काव्यशास्त्रके प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। भोजराजकी तीसरी कृति 'रामायणचम्पू' गद्य-पद्यमिश्रित चम्पूकाव्य है। यह महावीर हनुमान्‌जीके दिव्य चरितपर आश्रित है। इस चम्पूका आधार महर्षि वाल्मीकिरचित वाल्मीकीय रामायण है।

भोजराज और भोजदेवको एक माना जाय तो उनकी एक और कृति 'समराङ्गणसूत्रधार' उल्लेखनीय है। यह वास्तुविद्यासे सम्बद्ध है।

कैयट तथा वेदभाष्यकार उव्वटने भोजराजकी दानशीलताकी नीतिका सादर उल्लेख किया है और उनकी राज्यनीतिकी विशिष्टताका ज्ञान 'भोजप्रबन्ध' और 'सिंहासनबत्तीसी' से प्राप्त होता है।

संस्कृत-साहित्यमें बल्लाल कवि (सोलहवीं शती)-का 'भोजप्रबन्ध' अति प्रसिद्ध है। पुस्तकके नाममें ही स्पष्ट है कि यह धारानरेश महाराजाधिराज भोजकी विद्वत्ता, कविप्रियता तथा दानशीलताका विवरण प्रस्तुत करता है। इसके अनुसार महाराज भोज धारानरेश मुञ्जके भतीजे थे तथा मुञ्जके बाद धारानगरीके राज्यासनपर आसीन हुए थे। भोजके चाचा मुञ्ज स्वयं विद्वान् और कवि थे। उनके संस्कृत एवं अपभ्रंशके कई पद्य अलंकार-ग्रन्थों और सुभाषित-संग्रहोंमें मिलते हैं। धनञ्जयने अपने नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'दशरूपकावलोक' में मुञ्जके कतिपय संस्कृत पद्य 'मुञ्जराजस्य भणिता' के साथ उद्धृत किये हैं। मुञ्जकी राजसभामें धनञ्जय, धनिक, पद्मगुप्त आदि अनेक कवि विद्यमान थे। इस प्रकार राजा भोजका समग्र कुल संस्कृतज्ञ विद्वान् और कवि-व्यक्तित्वसे मण्डित था।

'सिंहासनबत्तीसी' ('द्वात्रिंशत्पुत्तलिकासिंहासनम्')-की कथाके अनुसार राजा भर्तृहरि महाराजा विक्रमादित्यको अपना राज्यभार सौंपकर तपस्याके लिये जंगल चले गये। पुनः राजा विक्रमादित्यके महाप्रयाणके बाद कालक्रमसे राजा भोजने गद्दी सँभाली। वे राजा विक्रमादित्यकी राज्यनीतिके अनुयायी थे। राजा विक्रमादित्य वीर, धीर, साहसी और पराक्रमी होनेके साथ सम्पूर्ण शास्त्रोंके भी ज्ञाता थे। कुशल राज्य-प्रशासक होनेके साथ ही वे राज्यनीतिमें अति निपुण थे। वे शास्त्र-प्रतिपादित राजधर्मका पालन आलस्यरहित भावसे करते थे। जिस राजाकी प्रजा संतुष्ट और प्रसन्न रहती है, उसीकी राज्यनीति सफल मानी जाती है। इस दृष्टिसे राजा विक्रमादित्य एक अतिशय सफल राज्यनीतिज्ञ थे और उन्हींका अनुसरण राजा भोजने किया था, इसलिये उनकी भी राज्यनीति राजा विक्रमादित्यकी भाँति ही स्पृहणीय थी। प्राणपणसे प्रजाओंकी रक्षा करना ही उनका राजधर्म था।

राजा विक्रमादित्यका भूगर्भमें स्थित सिंहासन भोज-राजको प्राप्त हुआ था, जिसमें बत्तीस पुत्तलियाँ लगी थीं। राजा भोजको क्रमशः उन बत्तीसों पुत्तलियोंने विक्रमादित्यकी राज्यनीतिकी उत्तमताके विषयमें बताया था और अन्तमें कहा था कि 'हे भोजराज! आप भी विक्रमादित्यकी तरह असाधारण राजा हैं। आप दोनों ही नर-नारायणके अवतार हैं। वर्तमानमें आपके जैसा परम पवित्र चरित्रवाला, सकल कला-प्रवीण तथा उदारताके गुणसे युक्त कोई राजा नहीं है। आप इस सिंहासनपर बैठने योग्य हैं, इसलिये वर्णाश्रमधर्मकी रक्षापूर्वक प्रजाका पालन करते हुए इस सिंहासनको सुशोभित करें' (३२वीं कथा)।

'सिंहासनबत्तीसी' में वर्णित भोजराजद्वारा राजा विक्रमादित्यके सिंहासनके उद्धारकी कथासे सूचना मिलती है कि भोजराजकी राज्यनीति क्षेत्रीय स्तरकी नहीं, अपितु भूमण्डलीय स्तरकी थी। वे समस्त विश्वकी पीड़ाका निवारण करना चाहते थे। सभी लोग निर्धनतासे पूर्णतः मुक्त

हा, यह उनकी आन्तरिक कामना थी। उनकी राज्यनीतिम दुष्ट दण्डनीय आर सज्जन पालनीय थ। व प्रजाका धमपूर्वक रक्षाके पक्षपाती थे। यदि कोई शरीर माँगे ता वह भी उसे दे दना चाहिये यह सिद्धान्त उनकी अतिशय महनीय राज्यनीतिका ही अङ्ग था।

तत्कालीन प्रजाकी राजाक सम्बन्धम ऐसी धारणा थी कि राजा साक्षात् विष्णुके अवतार हात हैं। उनकी दृष्टि जिसपर पड जाती है उसकी दीनता, दरिद्रता, दुभाग्य आदि दोषाकी राशि तत्क्षण नष्ट हो जाती है। राजा साक्षात् कल्पवृक्ष हैं, जिनके दृष्टिगोचर होते ही समग्र दार्भाग्य सोभाग्यम बदल जाता है। सारी अभिलाषाएँ पूरी हो जाती ह।

राजा भाजका राज्यनीतिम मन्त्रियाका बहुत महत्त्व था। राज्यके नीति-निर्देशन कार्यकी सफलता मन्त्रियापर ही निर्भर होती हे। राजा भाज कहते हैं—जा अनर्थकारा कार्योका निवारण करता है ओर आगामी अर्थका साधनम कुशल होता है वही उत्तम मन्त्री हाता है—

स्थितस्य कार्यस्य समुद्भवार्थ-
मागामिनाऽर्थस्य च सम्भवार्थम्।
अनर्थकार्ये प्रतिघातनार्थ
यो मन्यतेऽसौ परमो हि मन्त्री॥
(भानुमती-कथाकी अवतरणिका)

अर्थात् वतमान कार्यकी युक्ति-कौशलद्वारा सफलता आगामी विषयकी सम्भाव्यता एव अनिष्टकर कार्योके निवारणके बारम जा विचार करता है, वहा श्रष्ठ मन्त्री हाता है। राजा भोजकी राज्यनीतिक अनुसार मन्त्रियाक विना राज्यका कल्पना ही नहीं की जा सकती—

यन्मन्त्रिणा विना राज्य गृह धान्यादिक विना।
सौभाग्य यौवनमृते विना ज्ञान विरागता॥
(भानुमती-कथा०)

अर्थात् मन्त्रीके बिना राज्य धान्य आदिके बिना घर, यौवनक विना सौभाग्य आर विवकक विना वराग्य निष्फल है।

अपने स्वामीकी भलाई करना ही सभी मन्त्रियाका काम है और उनकी सलाह राज्यके कार्योक अनुसार हाना चाहिये। ऐस ही मन्त्री राजाक याग्य हैं अन्यथा वे लाहकी पुतली-जैसे हो निष्क्रिय हात हैं—

मन्त्र कार्यानुगो येषा कार्य स्वामिहितानुगम्।
त एव मन्त्रिणो राज्ञा न तु ये गल्लपुद्गला॥
(भानुमता-कथा०)

राजा भोजके मन्त्रियाका राज्य-नीतिसे सदर्भित सिद्धान्त यह था कि जा स्वय बुद्धिमान् नहीं हाता आर न दूसरकी बुद्धिकी वात सुनता है वह अवश्य ही विनाशका प्राप्त होता है। राजा भोजके सम्बन्धम मन्त्रियाका मन्तव्य था कि वे बुद्धिमान् होकर भी आप्ताकी बात सुनत थ, इसलिय उनक समस्त कार्य निर्विघ्न सम्पन्न हात थे।

राज्य-प्रशासनम राजा आर मन्त्रीकी भूमिका महत्त्वपूर्ण होती ह। भोजराजकी राज्यनीतिक अनुसार राजाक गुण इस प्रकार हैं—उस गुरुजनाकी सेवा करनी चाहिय आप्ताका वचन मानना चाहिय, देवा आर ब्राह्मणाका समादर करना चाहिय और उस (राजा)-का प्रत्यक आचरण न्यायमार्गक अनुसार होना चाहिय।

मन्त्रियाके गुण इस प्रकार ह—राज्यकार्यके प्रति सतत उद्यमशीलता पापम भय, प्रजाकी रक्षा परिचारकाका सयाजन, राजाकी चित्तवृत्तिका अनुसरण समयक आचित्यका परिज्ञान ओर अनिष्टकारी कार्योस राजाका राकना।
(भानुमता-कथा०)

राजा भोजकी कथास सदर्भित 'भाजप्रबन्ध' एतिहासिक दृष्टिस यद्यपि अप्रामाणिक ह, तथापि उसम एस सुभाषित सकलित हैं, जिनसे राजा भाजकी राज्यनीतिका सकत प्राप्त हाता है। कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं—

न स्वल्पस्य कृत भूरि नाशयन्मतिमान् नर।
एतदवातिपाण्डित्य यत्स्वल्पाद् भूरिरक्षणम्॥
जातमात्र न य शत्रु व्याधि वा प्रशम नयत्।
अतिपुष्टाङ्गयुक्तोऽपि स पश्चात् तन हन्यत॥
प्रज्ञागुप्तशरीरस्य कि करिष्यन्ति सहता।
हस्तन्यस्तातपत्रस्य वारिधारा इवारय॥
(१३—१५)

अर्थात् बुद्धिमत्ता इसीम है कि स्वल्पक लिय अधिकका नाश न कर प्रत्युत स्वल्पम अधिकका रक्षा कर। उत्पन्न हात ही वरी और रागका जा शमन नहीं करत व बादम अति पुष्ट शरारस युक्त हानपर भी उन राग और शत्रुक द्वारा नष्ट कर दिय जात हैं। जिस प्रकार जल-वृष्टि छाता धारण करनेवालका कुछ विगाड नहीं सकती, उसी

प्रकार बुद्धिसे रक्षित शरीरवाले अर्थात् बुद्धिपूर्वक काम करनेवालेको शत्रु कुछ भी हानि नहीं पहुँचा सकते।

राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठा पापे पापपरा सदा।
राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजा॥

(४४)

अर्थात् प्रजा राजाका अनुसरण करती है। राजा यदि धार्मिक होता है तो प्रजा भी धर्मनिष्ठ होती है और राजाके पापपरायण होनेपर प्रजा भी पाप करनेवाली होती है।

भोजराजकी राज्यनीतिके संदर्भमें राजा और उसके मन्त्रीके कतिपय नीति-निर्देशक तत्त्व इस प्रकार हैं—

पातकाना समस्ताना द्वे परे तात पातके।
एकं दुःसचिवो राजा द्वितीयं च तदाश्रयः॥
अविवेकमतिर्नृपतिर्मन्त्री गुणवत्सु वक्रितग्रीवः।
यत्र खलाश्च प्रबलास्तत्र कथं सज्जनावसरः॥
राजा सम्पत्तिहीनोऽपि सेव्यः सेव्यगुणाश्रयः।
भवत्याजीवनं तस्मात् फलं कालान्तरादपि॥

(५०—५२)

अर्थात् समस्त पापोंमें दो पाप प्रधान हैं—एक तो राजा द्वारा दुष्ट मन्त्री रखना और दूसरा वैसे राजा तथा मन्त्रीका आश्रय लेना। जहाँ राजा अविवेकी है, मन्त्री गुणियोंकी उपेक्षा करनेवाला है और जहाँ दुर्जन बली हैं, वहाँ सज्जनोंका समावेश कैसे सम्भव है? सद्गुणसम्पन्न राजा सम्पत्तिरहित होनेपर भी सेव्य है, क्योंकि समय अनुकूल होनेपर वैसे राजासे जीविका भी मिलती है और फलकी भी प्राप्ति होती है।

'भोजप्रबन्ध' से यह स्पष्ट होता है कि राजा भोजकी राज्यनीति शास्त्रानुमोदित थी। उन्होंने दान, धर्म, तप, त्याग और ऐश्वर्यसे युक्त राज्य किया था। सरस्वती और लक्ष्मी दोनों समान भावसे उनके राज्यमें प्रतिष्ठित थीं। राजा भोजकी दानशक्तिके बारेमें रूपकाश्रित शैलीमें कहा गया है कि अभीप्सितको पूरा करनेमें समर्थ चिन्तामणि, कामधेनु और कल्पवृक्षकी उत्पत्ति राजा भोजके दान-जलसे हुई थी, अन्यथा साधारण जलसे पत्थर (चिन्तामणि), गाय (कामधेनु) और पेड़ (कल्पवृक्ष)-में इतनी दानशक्ति कैसे आती? इस प्रकार राजा भोज अपने युगके उत्तम राज्यनीतिसम्पन्न राजाओंमें सर्वाग्रणी थे।

महर्षि मेँहींकी नैतिक शिक्षा

(प्रियंका कुमारी 'बिहारी')

महर्षि मेँहीं परमहंसजी महाराजकी कतिपय कृतियोंमें 'महर्षि मेँहीं-पदावली' सर्वाधिक लोकप्रिय है। इसके पद्य गेय तथा भावसौन्दर्यसे भरपूर हैं। इनमें महर्षि मेँहींकी साधनाजनित सद्यः अनुभूतिकी सम्यक् अभिव्यक्ति हुई है। महर्षि मेँहीं ऋषियों और संतोंकी दीर्घकालीन अविच्छिन्न परम्पराकी आधुनिकतम कड़ीके रूपमें परिगणित हैं। इन्होंने समस्त संसारके लोगोंको नैतिक शिक्षा देते हुए कहा है—

सुनिये सकल जगत के वासी। यह जग नश्वर सकल विनासी॥
यह जग धूम धाम रे भाई। यह जग जानो छला महाई॥
सबहिं कहा यहि अगमापाई। तुम पकड़ा यहि जानि सहाई॥
मृगतृष्णा जल सम सुख याकी। तुम मृग ललचहु दखि एकाकी॥
याते भवदुख सहहु महाई। बिन सतगुरु कहो कौन सहाई॥
यहि सराइ महँ निज नहिं कोई। सुत पितु मातु नारि किन होई॥
भाई बंधु कुटुंब परिवारा। राजा रैयत सकल पसारा॥

वस्तुतः इस संसारमें रहनेवाले सभी प्राणी नाशवान् हैं। यह संसार आकाशमें उठते हुए धुएँसे बननेवाले महलकी तरह नाशवान् है। यह संसार भ्रममें—मिथ्या ज्ञानमें भी डाल रखनेवाला है। सभी विवेकी लोगोंने इसे उत्पत्तिशील और विनाशशील कहा है, परंतु अविवेकी जन इसे सुखदायी और सत्य समझकर इसमें आसक्त हो रहे हैं। इस संसारका सुख मृगतृष्णाके समान झूठा है। जिस प्रकार रेगिस्तानमें हिरन दूरमें जलाशय-जैसी मालूम पड़नेवाली तेज सूर्यकिरणोंको बिना विचारे जलाशय समझ बैठता है और अपनी प्यास बुझानेकी आशासे उसे ओर दौड़ पड़ता है, वैसे प्रकार संसारके लोग भी विषयोंको प्रत्यक्ष करते हो बिना विचारे उन्हें सुखरूप समझ बैठते हैं और उनकी प्राप्तिके लिये व्याकुल हो जाते हैं। इसलिये सांसारिक जीव जन्म-मरणके दुःखोंको रो-रोकर सह रहे हैं। ऐसी स्थितिमें

सत सद्गुरु ही सच्चे सहायक बनत हैं। इस ससाररूपी धर्मशालाम कोई किसीका नही है। पुत्र, पिता, माता और पत्नी कौन किसके साथ गया ह? भाई, बन्धु, मित्र, सम्बन्धी, परिवारके लाग, राजा-प्रजा सब सम्बन्ध झूठे हैं।

महर्षि मेँहीँ परमहसजी महाराजने परम सत्यके सम्बन्धम ठीक ही कहा है—

शान्ति रूप सर्वेश्वर जानो। शब्दातीत कही सन्त बखानो॥

× × ×

यहि तुम्हार निज प्रभु र भाई। जहाँ तहाँ तव सदा सहाई॥
इन्ह की भक्ति करो मन लाई। भक्ति भेद सतगुरु स पाई॥
सतगुरु इन्ह म अन्तर नाहीं। अस प्रतीत धरि रहु गुरु पाहीं॥

सर्वेश्वरको शान्तिस्वरूप जानना चाहिये। सताने उसे शब्दातीत पदसे बोधितकर उसीका वणन किया ह। सभी प्राणियास प्रेम करनेवाला सर्वेश्वर क्षर-अक्षर और सगुण-निर्गुणक पर है। यही सर्वेश्वर एकमात्र सबका स्वामी है, जो सब स्थानापर सदैव सबका सहायक है। सर्वेश्वरकी भक्ति करनकी युक्ति सद्गुरसे जानकर और उसके स्वरूपका अच्छी तरह विचारकर तत्परतापूर्वक उसकी भक्ति करनी चाहिये। सद्गुरु और सर्वेश्वरमे मूलत काई अन्तर नहीं है—मनम ऐसा विश्वास रखकर सदा गुरकी सनिधिमे रहना चाहिये।

महर्षि मेँहीँ परमहसजी महाराजने ससारम रहते हुए किस प्रकारकी नीति अपनानेस कल्याण हो सकता है इसके सम्बन्धम बताते हुए कहा है—

अनासक्त जग म रहो भाई। दमन करो इन्द्रिन दुखदाया॥
काम क्रोध मद मोह को त्यागो। तृष्णा तजि गुरु भक्ति म लागो॥
मन कर सकल कपट अभिमाना। राग द्वेष अवगुण विधि नाना॥
रस रस तजो तबहि कल्याना। धरि गुरु मत तजि मन मत खाना॥

सासारिक पदार्थोंसे उदासीन हाकर रहना चाहिय। दु ख दनवाली अपनी इन्द्रियाका विषय-वासनाकी आर जानस रोकना चाहिये। काम क्रोध अहकार, माह और लालच—इन मानसिक विकाराका छोडकर गुरुभक्तिम लगना चाहिये। कपट, अभिमान राग-द्वेष—जा मनके विकार और अवगुण है, सबको धीर-धीरे छोड देना चाहिय तभी कल्याण हागा। इसी तरह सभी व्यर्थ बाताका त्याग करके गुरुके उपदशाका हृदयमे धारण करना नितान्त आवश्यक है।

महर्षि मेँहीँने पाँच पापासे बचकर रहनकी नेक सलाह दी है—

परतिय झूठ नशा अरु हिंसा। चोरी लकर पाँच गरिसा॥
तजो सकल यह तुम्हरो घाती। भव बधन कर जबर सघाती॥
दारू गाँजा भाँग अफीमा। ताड़ी चडू मदक कोकीना॥
सहित तँबाकू नशा है जितने। तजन योग्य तज डारो तितन॥
मास मछलिया भाजन त्यागो। सतगुण खान-पान म पागो॥
खान-पान को प्रथम सम्हारो। तब रस रस सब अवगुण मारो॥

परस्त्री-गमन, झूठ बोलना, नशा सवन करना, हिसा आर चोरी करना—ये पॉच बडे पाप हैं। इन पाँच पापाका छोडना नितान्त आवश्यक ह, क्याकि य सब जीवनका बर्बाद करनेवाल हैं ओर जन्म-मरणरूप बन्धनम फँसा रखनेवाली मायाके बड बलवान् सहयोगी ह। दारू, गाँजा भाँग, अफीम ताडी, चडू, मदक, कोकीन आर तबाकूसहित जितन त्याग करने योग्य नशीले पदार्थ हैं, सब छोड देने चाहिये। मास-मछली आदिका परित्याग करक सात्त्विक भाजन करना चाहिये। पहल अपन खान-पानका सुधारकर धीर-धीरे सब अवगुणाका दूर करो।

महर्षि मेँहीँने सत्सगपर बहुत अधिक बल दिया ह—

नित सतसगति करो बनाई। अन्तर बाहर द्वै विधि भाई॥
धर्म कथा बाहर सत्सगा। अन्तर सत्सग ध्यान अभगा॥

महर्षि मेँहीँ कहते हैं कि प्रतिदिन अदर और बाहर—दोना प्रकारसे अच्छी तरह सत्सगम सम्मिलित हाना चाहिय। कतव्य और अकतव्य-कर्मोक विषयम तथा अध्यात्मग्रन्थाकी बाताका परस्पर कहना-सुनना बाहरी सत्सग है ओर नियमका भग किय बिना लगातार प्रतिदिन ध्यानाभ्यास करना भीतरी सत्सग ह। मेँहीँ महाराजका कहना है कि शान्तिस्वरूप पद सबका प्राप्तव्य है। इस शान्तिस्वरूप पदतक जिसकी पहुँच होती है व सत हैं। ऐसे मुक्त सत ससारक लागाका अनान-निद्रास जगात हैं।

कृषकाचार्य घाघकी नीति

(आचार्य श्रीबलरामजी शास्त्री, शास्त्राचार्य एम० ए० साहित्यरत्न)

भारत एक कृषिप्रधान देश है। भारतमें कृषिकी प्रधानता आज भी है। कृषकाचार्य घाघने कृषिकी उन्नतिके लिये समस्त उपयोगी साधनोंपर प्रकाश डाला है। हल हलवाह, बीज बैल उपजाऊ भूमि आदिपर घाघकी नीतियाँ बहुत प्रचलित हो गयी हैं। घाघकी ज्योतिष-सम्बन्धी कहावतें तो साधारण जनतामें आज भी प्रचलित हैं। कहावतोंमें अधिक घाघकी नीतियोंकी विशेष प्रसिद्धि है। *'बाढ़े पूत पिता के धर्मा। खेती उपजे अपने कर्मा॥'*— घाघकी यह सूक्ति बहुत प्रसिद्ध है। कृषिके उपकरणोंके सन्दर्भमें घाघने बहुत कुछ कहा है। गृहस्थके सुख-दु:खोंसे वे पूर्णत: परिचित थे। उन्होंने लिखा है—

भुइयाँ खेडे हर है चार। घर होय गिहथिन गऊ दुधार॥
रहर की दाल जड़हन के भात। गागल निबुआ औ घिउ तात॥
खाँड़ दही जो घर में होय। बाँके नैन परोसे जोय॥
कहै घाघ तब सबही झूठा। उहाँ छाड़ि इहवें बैकुंठा॥

घाघने आगे कहा है—

निहपछ राजा मन हो हाथ। साधु परोसी नीमन साथ॥
हुकुमी पूत धिया सतवार। तिरिया भाई रखे विचार॥
कहै घाघ हम करत विचार। बड़े भाग से दे करतार॥

अर्थात् राज्यका राजा न्यायी हो मन अपने वशमें हो पड़ोसी सज्जन हों, उत्तम जनोंका साथ हो, पुत्र आज्ञापालक हो पुत्री सच्चरित्रा हो स्त्री तथा सगे भाई उत्तम विचारके हों ये सब बड़े भाग्यसे प्राप्त होते हैं। घाघका कथन है—

जोइगर बँसगर बुझगर भाइ। तिय सतवन्ती नीक सुहाइ॥
धन पुत हो मन होइ विचार। कहै घाघ ई 'सुक्ख अपार॥

जिस घरमें विवाहित बलवान् समझदार भाई हों। सुन्दर और सती स्त्री हो। स्वयं पति भी पुत्रवान् और सद्विचारवान् हो तो उस घरमें अपार सुख प्राप्त होता है।

घाघका निम्न कथन भी बहुत प्रासंगिक है—

जेकर ऊँचा बैठना जेकर खेत नीचान।
ओकर बैरी का करै जेकर मीत दीवान॥

जो ऊँचे लोगोंके साथ उठता-बैठता हो, जिसका खेत निचानमें हो और जिसके साथी बड़े लोग हों तो बैरी उसका क्या बिगाड़ सकेगा।

घाघ गृहस्थ (किसान)-के कष्टका भी प्रतिपादन करते हैं—

पूत न मानै आपन डाँट। भाई लड़ै चहै नित बाँट॥
तिरिया कलही करकस होइ। नियरे बसल दुष्ट सब कोइ॥
मालिक नाहिंन करै विचार। घाघ कहैं ये विपति अपार॥

पुत्र आज्ञाकारी न हो। सगा भाई सदा अपना हिस्सा बाँटने-हेतु झगड़ता हो। स्त्री कर्कशा एवं झगड़ालू हो। पास पड़ोसमें दुष्टजन हों। गृहस्वामी न्याय-अन्यायका विचार न करके कार्य करता हो तो घरमें विपत्तिका डेरा समझना चाहिये।

किसानकी विपत्तिपर घाघने यह भी लिखा है—

नसकट खटिया दुलकन घोर। कहै घाघ यह विपत क ओर॥

सोनेके लिये अपनी लम्बाईसे छोटी खाट हो और घोड़ा साधी चाल न चलनेवाला हो तो जीवनमें संकट-ही-संकट है। किसानके संकटमें कई कारण बनते हैं।

ओछे (नीच) जनोंके साथ उठना-बैठना सब कुछ घातक है। इस कथनको बताते हुए घाघ कहते हैं—

आछे बैठक आछे काम। ओछी बात आठों जाम॥
घाघ बताये तीन निकाम। भूलि न लीजौ इनको नाम॥

ओछे जनोंके संगकी अपेक्षा सर्पके साथ रहना ठीक माना गया है। सर्प एक ही बार डँसता है किंतु ओछे लोग तो पग-पगपर डँसते (कष्ट देते) रहते हैं।

गृहस्थ जीवन निर्धनताके कारण अभिशाप माना गया है। इसे समस्त विद्वानोंने स्वीकार किया है। घाघने सड़कपरका निवास, बड़े लोगोंका साथ और धनहीनता— तीनों विपत्तिके कारण हैं—ऐसा स्वीकार किया है।

एक तो बसो सड़क पर गाँव। दूजे बड़े बड़न में नाँव॥
तीजे परे दरब (धन)-से हीन। घग्घा हमको बिपता तीन॥

कृषकाचार्य घाघने स्पष्ट कहा है कि खेतीका संचालन पत्रका लिखना, विनती करना सवारीवाले घोड़ेकी सेवा अपने हाथों ही करनी चाहिये—

खेती पाती बीनती औ घोड़े की तंग।
अपने हाथ सँवारिये लाख लोग हों संग॥

घाघका कथन है कि छप्पर घना छाना चाहिये किसानको आलसी नहीं होना चाहिये साधुको स्त्री नहीं रखनी चाहिये तथा दुर्जनोंसे लेन-देनका व्यवहार नहीं करना चाहिये।

भगवान् बसवेश्वर और उनसे बोधित नीति

(श्री एम० एन० लक्ष्मीनरसिहजी भट्ट)

भगवान् बसवश्वर भारतके उच्च कोटिके स्पष्ट प्रवक्ता हैं। ये ११३२ इसवीमे इङ्गलेश्वर बागेवाडी नामक ग्रामम आविर्भूत हुए। यह ग्राम कर्नाटक राज्यके बीजापुर जिलेम हे। बसवेश्वर बचपनसे ही क्रान्तिकारी मनोभावमे सम्पन्न थे। इन्हाने समाजम व्याप्त हिसा तथा बलि-प्रथाका प्रबल विराध किया ओर नारीके सम्मानको प्रतिष्ठित किया। इन्ह भगवान् शिवके वाहन नन्दीका अवतार माना गया है।

बसवेश्वरजीन हजारो पदोकी रचना करके लोगाको उद्बोधित किया तथा अपन विचारास परिचित कराया। इन पदाको कन्नड भाषामे 'वचन' कहते हैं। ये वचन 'बसवापनिषत्'क नामस प्रसिद्ध हैं तथा सामाजिक नीति, वराग्य और शिवभक्तिसे ओत-प्रोत है। बसवश्वरक इन उपदेशासे बहुत लोग आकर्षित हुए ह।

इनक कुछ नीतिबाधक वचनाका मूल ओर हिन्दीम भावानुवाद यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। इन वचनाक अन्तम इन्हाने अपने आराध्य दव कूडलसगम नामक परशिवका अङ्कन किया ह।

साधक केसे हो ?

छलबेकु शरणगे परधनव नोल्लेनेंबा, छलबेकु शरणगे परसतिय नोल्लनबा, छलबेकु शरणगे परदैवव नोल्लेनेबा, छलबेकु शरणग लिगजगम आदेयबा, छलबेकु शरणगे प्रसाद दिटवबा, छल विल्लदवर मेच्च कूडलसगमदेवा।

शिवभक्तिके साधनमे जो साधक लगे हैं उन्ह परधनकी इच्छा न हो, परनारियाकी वासना न हो भक्त आर परशिव दोनाम भेद-भाव न हो। भगवान् शिवक भागसे बचा हुआ प्रसाद ही सवन करने योग्य हे। ऐसे भावापर अचल विश्वास ओर तीव्र इच्छाशक्ति रहनी चाहिये। एमा नही हो तो हमारे कूडलसगमदव उस साधकका अनुगृहीत नहीं करग।

सत्य-अहिंसा आदि प्रशस्त आचरण ह

कळवडा कोलवडा, हुसियनुडियलु बेडा मुनियवडा, अन्यरिगे असह्य पडवडा, तन्न, बण्णिस बडा इदिर हळियलु वडा इद अतरग शुद्धि इद बहिरग शुद्धि इदे नम्म कूडलसगमदेवनालिसुव परि।

चारी प्राणि-वध झूठ क्रोध दूसरास जुगुप्सा और आत्मप्रशसा तथा दूसराकी निन्दा मत करो यही अन्तरगशुद्धि ओर बहिरगशुद्धि है। कूडलसगमदवका प्रसन्न करनकी रीति यहा है।

दूसरोसे अच्छा बर्ताव करे

इवनारव, इवनारव, इवनारव यदनिसदिरय्या, इवन्मव नंदिनेसय्या, कूडलसगमदेवा निम्म मनय मगनदनिसय्या।

यह आरोका ह और यह दूसराका ह—एमा भाव नहीं हा। यह हमारा हे, यह हमारा हैं—एसा भाव हा कूडलसगमदव! आप मुझ अपने घरका वेटा समझ।

दूसरोसे मधुर वाणी बोलनी चाहिये

ऐनुवदिरि हदुळविद्दिर एदोडे निम्ममैसिरि हारिहाहुदे? कुळ्ळिरदिरे नेल कुळिहोहुदे? ओडने नुडिदडे सिर होट्टे योडेवुदे, कोडलिल्लदिद्दरोदु, गुणविल्लदिद्दर कडहि मूग कोय्यदे माण्बन कूडलसगमदेवा।

आइये क्षेम तो ह न, किसलिय आय ह—एसा कहनस क्या आपकी सम्पत्ति चली जायगी? बेठिये कहनेसे क्या धरती उड जायगी? तुरत स्वागत करनेस क्या सारा ऐश्वर्य नष्ट हा जायगा? चाह अतिथिका कुछ मत दो पर सद्भाव भी नहीं हो ता क्या कूडलसगमदव गिराकर नाक नहीं काट लगे?

दयाकी महत्ता

दयविल्लद धर्म वावुदय्या? दयव बकु सकल प्राणिगळेल्लरल्लियू। दयवे धर्मद मलवय्या। कूडलसगय्य नतोल्लदोल्लनय्या।

दया-धमके विना और कान-सा धम ह? प्राणिसामान्यमे दया आवश्यक है। दया ही धर्मकी जड है। एसा नहीं हा तो कूडलसगमदेव प्रसन्न नहीं हागे।

मृदु वचनकी प्रशसा

मृदुवचनवे सकल जपगळय्या। मृदुवचनव सकल तपगळय्या सदु विनयव सदाशिवन आलुमयय्या। कूडलसगमदवा।

मृदु वचन ही सव तरहक जप हैं। मृदु वचन ही सव तरहक तप हैं। सच्चा विनय ही सदाशिवका प्रिय ह। कूडलसगमदव।

इहलोकमें अच्छा व्यवहार परलोकका राजमार्ग है

मर्त्यलोकवबुदु कर्तारन कम्मटवय्या, इल्लि सल्लुवरु अल्लियू सल्लुवरय्या, इल्लि सल्लदवरु अल्लियू सल्लरय्या। कूडलसगमदेवा।

सृष्टिकर्ताका कार्यस्थान है भूलोक। यहाँ अच्छा काम करनेसे परलोकमें भी सुख मिलता है और बुरा काम करनेसे वहाँ भी दु:ख भोगने पड़ते हैं। कूडलसगमदेव।

सच्चे भावसे दान करना, काम करना उचित है

माडि माडि केट्टरु मन विल्लदे, नीडि नीडि केट्टरु निजविल्लदे, माडुवा नीडुवा गुणउळ्ळोडे कूडिकोंडिप्पा नम्म कूडलसगमदेवा।

दान, धर्म, ध्यान, पूजा आदि सच्चे भावसे नहीं करनेपर तो दु:खका भागी होना पड़ता है, किंतु अच्छे भावसे और सचाईसे करनेपर हमारे कूडलसगमदेव प्रसन्न होते हैं।

सभी कामोंमें अन्तरंगशुद्धि होनी चाहिये

हुत्तव बडिदाड हावु साय बल्लुदे अय्या, अघोर तपव माडिदोडेनु अतरग आत्मशुद्धि यिल्लदवरनतु नवुवनय्या कूडलसगमदेवा।

वल्मीक मारनेसे क्या साँप मरेगा? तीव्र तपसे क्या लाभ? अन्तरंगकी शुद्धि होनी चाहिये। ऐसा नहीं हो तो कूडलसगमदेव प्रसन्न नहीं होते।

तत्त्वनिष्ठा हो तो लोकनिन्दासे भयकी आवश्यकता नहीं

आयुश्य तीरिदल्लदे मरणविल्ला, भाष तीरिदल्लद दारिद्र्यविल्ल, अजलका लोकविगर्हणेग अजलका कूडलसगमदेव निम्माळागि।

किसीकी आयु समाप्त हुए बिना मरण नहीं होता। भगवान्‌की दी हुई अभय वाणी जबतक रहती है तबतक गरीबी नहीं होगी। लोकापवादसे डरनेकी क्या बात है? हे कूडलसगमदेव! मैं आपका सेवक हूँ, अतः मुझे डरनेकी आवश्यकता नहीं।

सदाचारकी प्रशंसा

कोल्लेनय्या प्राणिगळ, मेल्लेनय्या बायिच्छग आल्लनय्या परसतियर सगव, बल्लेनय्या मुद तोडरुटबुद, बळ्ळद बायन वन्द मनव माडि निल्लिसय्या कूडलसगमदेवा।

प्राणिवध नहीं करूँगा, जीभका दास होकर सब कुछ नहीं खाऊँगा, परनारियोंका संग नहीं करूँगा, क्योंकि ऐसे दुर्गुणोंसे आगे भयंकर कष्ट आते हैं। मेरे मनको स्थिर करो हे कूडलसगमदेव!

भगवान् बसवेश्वरने ऐसे ही नीतिबोधक वचनोंका उपदेश दिया है। इनकी भाषा लोकग्राह्य होनेसे साधारण जन भी समझ सकते हैं। इनके वचन न केवल समझते हैं, परंतु अपना भाव श्रोताओंके हृदयान्तरालमें पहुँचाकर तादात्म्यसम्बन्ध भी स्थापित कराते हैं।

भोगवादकी नीतिसे मानवका पतन

(प्रो० श्रीराजेन्द्रजी जिज्ञासु)

भोगके साथ त्याग और प्रवृत्तिके साथ निवृत्तिकी वृत्ति अनिवार्य है। इसके बिना सुख-सम्पादन हो ही नहीं सकता। भोगवादका परिणाम ह्रास तथा विनाश है। विश्व-इतिहास इस प्रकारकी घटनाओंसे भरा पड़ा है। इतिहासकार एक स्वरसे यह स्वीकार करते हैं कि मौर्य-राज्य, गुप्त-राज्य, रोम-साम्राज्य तथा मुगल-राज्य—इन सबके पतनका मुख्य कारण था शासकोंका विलासी होना।

इतिहास साक्षी है कि मुगलोंके पास अथाह धन-सम्पदा तथा विशाल सैन्य बल था। ऐसे मुगलोंने मराठोंके दमनके लिये अपनी सारी शक्ति झोंक दी। किंतु मराठोंको दबाते-दबाते औरंगजेब स्वयं ही महाराष्ट्रमें दबाया गया। ऐसा क्यों और कैसे हुआ? वीर मराठोंका स्वराज्य-प्रेम, शौर्य, नीतिमत्ता, पराक्रम तथा चरित्रकी विशेषताएँ तो इसका कारण थीं ही, परंतु एक मुख्य कारण मुगलोंका भोगवाद भी था।

जब मुगल-सेनाएँ रणभूमिमें जाती थीं तो उनके साथ नौकर-चाकरोंका बहुत बड़ा लश्कर भी होता था। नवाबों, सूबेदारों तथा सेनापतियोंका रनिवास भी साथ-साथ जाता था। पूनामें जब शायस्ता खाँ छत्रपति शिवाजी महाराजको कुचलनेके लिये गया तो ऐसा लगता था कि जैसे अब शिवाजीके लिये कोई ठिकाना ही नहीं रहा, परंतु शायस्ता खाँकी विजयको शिवाजीने क्षणभरमें पौरुष तथा नीतिसे पराजयमें बदल डाला।

पूनाके दुर्गमें अपने मुट्ठीभर वीरोंके साथ जब शिवाजीने प्रवेश करके मुगल सेनाकी कटाई आरम्भ की तो शायस्ता खाँकी अँगुलियाँ ही नहीं कटीं, उसकी छ बेगमें भी वहीं ढेर हो गयीं। उसका पुत्र मारा गया।

थोडी कल्पना तो कीजिये कि सैनिक-शिविरमें अपनी छ मामियोंके मारे जानेका समाचार सुनकर औरंगजेबपर क्या बीती होगी? यह सब कुछ भोगवादका परिणाम है। इतिहास साक्षी है कि दक्षिणसे उत्तरमें स्थानान्तरित होनेके लिये मुगल-सेनापति भारी घूस देते थे। क्यों? इसलिये कि भोगवादके कारण वे अब निस्तेज, निष्प्राण तथा पराक्रमशून्य हो चुके थे। इसके विपरीत बिना भोजन-सामग्रीके ही रणभूमिको प्रस्थान करनेवाले मराठे अपने तपके कारण पग-पगपर मौतको ललकारते-हुंकारते हुए विजयी होते रहे।

लोकमान्य तिलकजीने लिखा है Luxury leads to downfall अर्थात् भोग-विलासका परिणाम पतनके सिवा कुछ भी नहीं है। गीतामें जहाँ नरकके द्वार गिनाये गये हैं, वहाँ यही तो बताया गया है कि भोगवादका परिणाम पाप, ताप तथा दुःख-दारिद्र्य ही है। एक संतने लिखा है कि आवश्यकतासे अधिक धनका बढ जाना पतन एवं विनाशका कारण होता है।

वेद-उपनिषद् चेतावनी देते हुए कहते हैं कि भोगोंका त्यागभावसे भोगो। इनमें आसक्त मत होओ, धन किसीका भी नहीं है—'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥' भोगोंमें लिप्त हो जाना डूब जाना ही भोगवाद है। फ्रांसके मार्शल पीटाननें द्वितीय विश्वयुद्धके समय हिटलरकी सेनाके सामने फ्रांसकी लज्जाजनक पराजयके विषयमें कहा था— France lost because her youngones were given to lust फ्रांस पिट गया क्योंकि उसके युवक भोगवादी थे।

आजके समयमें तो पद सम्पदा तथा साधनोंकी बहुलतावाला व्यक्ति प्रतिष्ठित माना जाता है, किंतु गीताके अनुसार जिसने इन्द्रियोंको अपने वशमें कर लिया वही प्रतिष्ठित है। हमारे प्रतिष्ठित होने एवं भोगवादी संस्कृतिके प्रतिष्ठित होनेकी परिभाषा तथा सोचमें भारी अन्तर है। परिणाममें जो अन्तर है सो तो सबके सामने ही है।

तप जीवनकी आधारशिला है—वैदिक संस्कृतिमें तपको जीवनकी आधारशिला माना गया है। हमारी संस्कृतिमें तपसे बढकर महानताकी कोई कोटि नहीं है। कच्ची ईंटोंका मूल्य साधारण-सा होता है, परंतु भट्ठेमें तपकर कच्ची ईंटें जब पक जाती हैं तो उनका मूल्य कई गुना अधिक हो जाता है। इसी प्रकार सामान्य मनुष्यमें जब तपकी प्रतिष्ठा हो जाती है तो वह स्वरूपस्थितिके समीप पहुँचने लगता है। इस प्रकार जड और चेतन—दोनों तपके नियमकी परिधिमें आते हैं।

इसलाम धर्म भी तपकी वैदिक मर्यादाको मानता है। हदीसमें आता है कि हजरत मुहम्मद साहबने एक बार कहा था—'ऐ मुसलमानो! मुझे तुम्हारी कंगाली—निर्धनतासे उतना डर नहीं लगता, जितना कि तुम्हारी सम्पन्नता तथा ऐश्वर्यसे।' भाव यही है कि संयम एवं तपसे शून्य व्यक्ति सम्पन्न होते ही भोगवादी बनकर विनाशके मुखमें चला जाता है।

वेदोंमें तप एवं ब्रह्मचर्यकी बडी महिमा गायी गयी है। अथर्ववेदके ब्रह्मचर्य-सूक्तमें ब्रह्मचारीके लिये चार बातें आवश्यक बतायी गयी हैं। इन्हें जीवनका शृङ्गार अथवा भूषण मानना चाहिये। ये चार बातें हैं—समिधा, मेखला, श्रम तथा तप। इनके पालनसे संतापकी वृत्ति घनीभूत होती है।

विश्वका इतिहास साक्षी है कि भोगवाद व्यक्ति तथा समाजको पराजित कर देता है।

बडे दुःखकी बात है कि आजकी पीढी तप शून्य होकर भोगवादी तथा प्रमादी बनकर निस्तेज एवं निष्प्राण बनती जा रही है। इसके मूलमें अपने सांस्कृतिक नैतिक मूल्योंकी अवमानना ही मुख्य हेतु दिखायी देता है। यदि पुनः नैतिक आदर्शोंको प्रतिष्ठित कर लिया जाय तो हम अपने खोये हुए गौरवको फिरसे पा सकते हैं।

[प्रेषक—श्रीशिवकुमारजी गोयल]

क्षमा-नीतिका आदर्श

(डॉ० श्रीअशोककुमारजी पण्ड्या डी० लिट्०)

वस्तुत नीति परमतत्त्वकी प्रतिभूति ही है। जो कुछ कल्याणकारी है वही नीति है। यह शाश्वत अनन्त प्रवाहा एव ईश्वरीय विभूति ह। सृष्टिका यही पीयूषतत्त्व है। भगवान्ने स्वय गीता (२। १४)-मे कहा है—'तास्तितिक्षस्व' अर्थात् 'सहन कर लो।' सहन करनेकी यह कला मनुष्यको ईश्वरके निकट लिये चलती है। क्या यह भूलने योग्य है कि भगवान् श्रीकृष्णका जन्म कारावासमे हुआ था या स्वय वासुदेव श्रीकृष्णने अर्जुनका रथ हाँका था। अत प्रत्येक परिस्थितिमे कर्तव्य-निर्वाह करते जाना और थोडा भी विचलित न होना ही नीतिका मुख्य रूप है। इस नियति समझनेकी भूल भी हम नहीं करनी चाहिये।

नीतिमे क्षमाका स्थान बहुत ऊँचा है। वस्तुत क्षमाभाव नीतिका ही अङ्ग है। 'अनुग्रहाय भूतानाम्'—परमात्माका यह परोपकार (अनुग्रह)-भाव ही क्षमा-नीति है। कितनी ही बार परमात्माने मानव-देह धारणकर इस सृष्टिको सम्बल प्रदान किया। ईश्वरने अपना ईश्वरपद छोडकर भी इस धराका दु ख कम किया। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि उन्होने ईश्वरपद छोडा ईश्वरत्व नहीं। यही अनुग्रह कहलाया तथा इसीने क्षमाभावको परिपुष्ट किया।

परमात्मा तो बडे दयालु है। उनके कारुण्यकी कल्पनातक मानव नहीं कर सकते। यही करुणा-नीतिका सर्वश्रेष्ठ पाठ है, जहाँ ईश्वरने अपने भक्तको अपनेसे भी ऊँचा बनानेमे कोई कसर नहीं छोडी उसकी प्रार्थनापर स्वय प्रस्तुत हुए, उसका दु ख दूर किया और यहाँतक कि कभी-कभी अपने भक्तोसे क्षमातक माँगनेमे भी वे नहीं हिचकिचाये। इस तरह स्वय ईश्वरने अनायास ही विश्वको क्षमा-नीति प्रदान की, जो सह-अस्तित्वका मूल है।

भक्त प्रह्लादके जीवनसे सम्बन्धित प्रसग है। निर्दयी पिता राजा हिरण्यकशिपु अपने पुत्र भक्त प्रह्लादको असीम यातनाएँ देता है। किंतु वह बालक विचलित नहा होता। सब कुछ सहन करता है। एक लोमहर्षक प्रसगमे लोहेका गर्म—तप्त लाल खम्भा है हिरण्यकशिपु बालक प्रह्लादको उलाहना देते हुए निष्ठुरतापूर्वक कहता है—'यहाँ भी तेरा भगवान् होगा?'

'क्वासौ यदि स सर्वत्र कस्मात् स्तम्भे न दृश्यते॥'

(श्रीमद्भा० ७। ८। १३)

कहाँ है वह तुम्हारा भगवान्? तुम तो कहते हो वह सर्वत्र है। यदि ऐसा है तो फिर वह इस स्तम्भमे क्यो नहीं दिखायी देता? आह! कितना बीभत्स, कितना हृदय-विदारक प्रसग रहा होगा वह। कितनी उलाहनासे भरा प्रश्न! भक्तका इसे सहन करनेके सिवाय क्या चारा! परंतु ईश्वरकी भक्तवत्सलता देखिये—स्तम्भ फट जाता है, स्वय भगवान् प्रकट होते हैं और बडे आर्त स्वरमे अपने प्रिय भक्त प्रह्लादसे कहते है—

क्वेद वपु क्व च वय सुकुमारमेतत्
क्वैता प्रमत्तकृतदारुणयातनास्ते।
आलोकित विषयमेतदभूतपूर्व
क्षन्तव्यमङ्ग यदि मे समये विलम्ब ॥

'प्रिय वत्स! कहाँ तेरा कोमल शरीर, कहाँ तेरी छोटी उम्र एव कहाँ उन्मत्त दैत्यद्वारा दी गयी दारुण यातनाएँ! अहो! यह कैसा अद्भुत दृश्य देखनेमे आया! मेरे आनेमे विलम्ब हो गया हो तो हे वत्स! तू मुझे क्षमा कर।' वाह प्रभु! धन्य है आपका ईश्वरत्व! सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके स्वामी परब्रह्म परमेश्वर आज एक अष्ट वर्षीय बालकसे क्षमा-याचना कर रहे हैं। उसे अपनी गोदमे बिठाकर वात्सल्यामृत निःसृतकर क्रोधाग्निका शमन कर रहे है।

यह है ईश्वरत्वका औदार्य। हाँ, वे अपनी सम्पूर्ण सम्प्रभुता भूलकर अपने-आपको भक्ताधीन निरूपित करते है। नायकाधिनायकका यह आचरण नि सन्देह नीतिका सर्वश्रेष्ठ गुण है। तभी तो भगवान्ने गीताजीमे कहा है—'नीतिरस्मि जिगीषताम्' और इस तरह उन्होने अपने वचन सत्य सिद्ध कर दिये—'अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभि ।' (श्रीमद्भा० ११। १४। १६)

'मैं भक्तोके पीछे-पीछे इसलिये घूमता हूँ ताकि उनकी चरणरजसे पवित्र हो जाऊँ।' परम पवित्रको क्या पवित्र होना है! वह तो स्वय शुचितासे भी परे हैं तथापि इस औदार्य भावको सरक्षित-पल्लवित करनेका उद्देश्य लिये उच्चारित करते हैं। भगवान्ने तो यहाँतक कह दिया—

साधवो हृदय मह्य साधूना हृदय त्वहम्।
मदन्यत् त न जानन्ति नाह तेभ्यो मनागपि॥
(श्रीमद्भा० ९।४।६८)

'साधु पुरुष मेरे हृदय ह और उनका हृदय मे हूँ। व मेरे अतिरिक्त कुछ नहीं जानते और में उनक अतिरिक्त कुछ नहीं जानता।'

ईश्वरका यह क्षान्त-भाव ही अहको निगल रहा है, अन्यथा यह सृष्टि 'में' के चक्रव्यूहम ऐसी उलझ जाती कि कहीं भी, कुछ भी शेष नहीं रहता। भगवान् श्रीरामने इसी बातको आगे बढाते हुए हनुमान्‌जीसे कहा— 'मदङ्गे जीर्णता यातु यत् त्वयोपकृत कपे।' (वाल्मीकि० ७।४०।२४)

अर्थात् 'में जीवनपर्यन्त तुम्हारा ऋण नहीं चुका पाऊँगा—तुम्हारा उपकार नहीं भूल पाऊँगा। हनुमन्! म ता यही चाहता हूँ कि तुमने जो-जो उपकार किये है, वे सब मेरे शरीरमे शमित हो जायें।'

भगवान्‌का यह व्यवहार यही सिखाता हे कि हम सभी एक-दूसरेक पूरक हैं, काइ पूर्ण नहीं। इस दृष्टिसे हम लोक-व्यवहारमे क्षान्त-भावको अपने स्वभावका अङ्ग बना लेना चाहिये। यही यथेष्ट हे।

क्षमा माँगनेकी ही तरह क्षमा करना भी बडप्पन ही है। शिशुपालके सो अपराध भगवान् श्रीकृष्णन क्षमा कर दिया। वृत्रासुर, बकासुर हिरण्याक्ष रावण, कस आदि अनेक दैत्याको भी क्षमा करक उन्ह अपन धाम बुला लिया। भगवान् श्रीरामन तो क्षमाका यहाँतक महिमा-मण्डित किया है कि कुछ कहा ही नहीं जा मकता। वे कहत ह—

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहि ताहू॥
(रा०च०मा० ५।४४।१)

'कराडों ब्रह्महत्याआका भागी भी यदि मेरी शरण आता है तो मैं उसे भी नहीं त्यागता (क्षमा कर दता हूँ)।'

अत 'क्षमा-नीतिका वही स्वर्णिम अध्याय ह, जहाँ द्वत स्वत समाप्त होकर एकत्व स्थापित हो जाता ह। तभी तो कहा है— 'क्षमा वीरस्य भूषणम्।' क्षमा वीरका आभूषण हे।

ईश्वरकी ही तरह ईश्वराश उनके भक्तान भी इस क्षमाभावको आचरित किया है। महाभारतका बडा ही कारुणिक प्रसग हे—अश्वत्थामा पाण्डव समझकर द्रापदीक साये हुए सभी पाँचा पुत्राको मातक घाट उतार दत हं। पुत्र-शोकसे विह्वल भीम अश्वत्थामाको मारनेके लिय उद्यत होत ह परतु द्रौपदीके अन्त करणम विराजित क्षमाभाव-स्वरूप ईश्वर मुखरित हात ह—

मा रोदीदस्य जननी गौतमी पतिदेवता।
यथाह मृतवत्साऽऽर्ता रोदिम्यश्रुमुखी मुहु ॥
(श्रीमद्भा० १।७।४७)

'गुरुवर द्रोणाचार्यका पतिव्रता पत्नी देवी गातमी भी ता मेरी तरह माता हैं। यदि य (अश्वत्थामा) मर जायेंग ता वह माँ भी रोयगी। मर पुत्र मर गय है ता में आँसू बहा रही हूँ, एस ही वह माँ न रोय'—ऐसा कहत हुए द्रौपदी फुँफकार उठती ह—'छाड दा, छाड दो इन्ह।'

वाह भारत-धरा तू आर तेरी बाला! तुम धन्य हा। पाँच-पाँच पुत्राकी बलिके बाद भी द्रापदी अपनी काख उजाडनेवालेका कहती है— 'मुच्यता मुच्यतामप' (श्रीमद्भा० १।७।४३) धन्य है प्रभु तरी यह माया आर तेरा यह क्षमाभाव।

या दवी सर्वभूतेपु क्षान्तिरूपेण सस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नम ॥

जो दवी सब प्राणियाम क्षान्ति (क्षमा)-रूपसे स्थित हैं, उन्ह नमस्कार, उन्ह नमस्कार, उन्ह बारम्बार नमस्कार है।
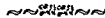
धन दारा अरु सुतन सा, लगौ रहै नित चित्त। नहि रहीम कोऊ लख्यो, गाढे दिन को मित्त॥
भार झाँकि कै भार म, रहिमन उत्तरे पार। पै बूडे मँझधार म, जिन के सिर पर भार॥
रहिमन कबहुँ बडेन के, नाहिं गर्व को लेस। भार धरैं ससार का, तऊ कहावत सेस॥
रहिमन तीन प्रकार ते हित-अनहित पहिचानि। परबस परे, परोस बस, परे मामिला जानि॥
रहिमन पर उपकार क, करत न यारी बीच। माँस दिया शिवि भूप ने, दीन्हा हाड दधीच॥
—सत रहीम

व्यावहारिक जीवनमे अहिंसा-नीतिका उपयोग कैसे करे

(श्रीरामनिवासजी लखोटिया)

विश्वके प्राय सभी धर्मोमे अहिसाके महत्त्वपर बहुत प्रकाश डाला गया है। परतु सनातन हिदू-धर्म और जेन-धर्मके सभी ग्रन्थाम अहिसाकी विशेष प्रशसा की गयी है। अष्टाङ्गयोगके प्रवर्तक महर्षि पतञ्जलिने योगके आठा अङ्गोमे प्रथम अङ्ग 'यम'के पाँच महत्त्वपूर्ण अश बतलाये हैं, जिनम उन्हाने 'अहिसा' को प्रथम स्थान दिया है। इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने भी गीताम अहिंसाकी महत्तापर जगह-जगह प्रकाश डाला हे। महाभारतक अनुशासनपर्वमे विश्वविख्यात वाक्य **'अहिंसा परमो धर्म'** कहा गया है। भगवान् महावीरने अपनी शिक्षाओका मूल आधार अहिसाको वताते हुए कहा हे कि 'जियो और जीने दो।' भगवान् महावीरने व्यावहारिक जीवनम अहिसाको वह महत्त्व दिया हे, जिससे इस बहुत ही सम्माननीय पद प्राप्त हुआ हे। वास्तवम अहिसाका अपने जीवनम उतारनस ही इसका महत्त्व समझमे आ सकता हे।

अहिंसा क्या है?—अहिसा मात्र हिसाका अभाव ही नहीं, बल्कि किसी भी जीवका सकल्पपूर्वक वध नहीं करना और किसी जीवको अकारण दु ख नहीं पहुँचाना है तथा ऐसी जीवनशैली अपनानेका नाम ही अहिसात्मक जीवनशैली है। अहिसाकी इस प्रारम्भिक बातका पालन किये बिना अर्थात् अहिसात्मक जीवनशैली अपनाये बिना कोई भी व्यक्ति किसी भी हालतमें न तो पूर्ण योगी ही हो सकता है, न उसे ध्यान आदिम पूर्ण सफलता ही मिल सकती हे एव न वह पूर्णरूपसे धार्मिक या आध्यात्मिक ही कहा जा सकता है। अत जीवनके परम उद्देश्यको प्राप्त करनेका प्रथम सापान है व्यावहारिक जीवनमें अहिसाका समग्ररूपसे अनुपालन।

ईर्ष्या-द्वेपरहित जीवन—अपने दैनिक जीवनम हम बहुधा यह पाते हैं कि दूसरे व्यक्तिकी उन्नति देखकर हमारे मनमे उनके प्रति कभी ईर्ष्याकी भावना आती है तो कभी द्वेपकी। यदि हमने ऐसी ईर्ष्या या द्वेपकी भावनाको मनम स्थान दिया तो यह वैचारिक हिसा होगी, जिसका सबसे बडा नुकसान हम ही होगा, क्याकि ईर्ष्या ओर द्वप वह विप है जो उस घडेको ही अधिक नुकसान पहुँचाता है जिसम वह एकत्रित किया जाता है बजाय उस व्यक्तिके जिसके प्रति ऐसा भाव अपनाया जाता है।

आवश्यकताओकी सीमा बाँधना—आजकी उपभाक्ता सस्कृतिद्वारा निरन्तर इस बातको फैलानेक प्रयास किये जा रह हैं कि हम प्रत्यक समय नयी वस्तुआका उपभाग करना चाहिय। परतु भारतीय सस्कृतिके आधारभूत मूल्यामेंस प्रधान मूल्य है—'सतोप' और 'अपरिग्रह'। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम अपनी आर्थिक उन्नतिके लिये प्रयासशाल नहीं रह वल्कि हम अधिक परिश्रम करे आर कमाय किंतु धनका सदुपयोग परोपकारके लिये ही कर। इसके साथ ही कही ता हम अपनी आवश्यकताआकी एक रेखा खींचनी ही होगी। हम अपनी परिस्थितिया, भावनाआ और आवश्यकताआके अनुसार अपनी आवश्यक वस्तुआको एक सीमा-रेखामे बाँध ल ओर जब यह सम्भव होगा ता भ्रष्टाचारके उन्मूलनमे हम भी सहायक होगे। नैतिक मूल्याका जीवनकी आवश्यकताओके साथ जोडते हुए जब हम लाभरहित सतोषपूर्ण, उच्च विचारयुक्त सादा एव सयमित जीवन व्यतीत करगे ता हमार व्यवहारम अहिसाका यह रूप बहुत ही सुख ओर शान्ति-प्रदायक होकर आयगा। इसलिये यह नितान्त आवश्यक है कि हम अपनी आवश्यकताआकी सीमा स्वय ही तय कर।

शाकाहारी तथा व्यसनमुक्त जीवन—अहिसाका पालन किये बिना अर्थात् बिना जीव-हत्या रोके हम पूर्णरूपस धार्मिक या आध्यात्मिक हो ही नहीं सकत। इसके लिये यह नितान्त आवश्यक है कि हम पूर्णरूपसे शाकाहारी बन रह ओर किसी भी प्रकारके मास, मछली जीव-जन्तु या क्रूरतासे उत्पन्न अन्न आदिको ग्रहण नहीं कर। यह तभी सम्भव होगा जब हम दयाकी भावना हृदयम धारण करग। 'दया धर्मका मूल है' और दयाको व्यावहारिक जीवनमें उतारनेके लिये यह आवश्यक हा जाता है कि हम शाकाहारी रह। यदि सम्भव हो सक तो कभी किसी बूचडखानेका निरीक्षण कर ल। यदि मासाहारी व्यक्ति भी कभी किसी बूचडखानेका निरीक्षण करेगा तो जिस क्रूरता और जिस निर्मम ढगसे जानवराकी हत्या की जाती हे, उसे देखकर अपने-आप मासाहारको त्यागनेकी बात उसक मनम सदाक लिये बैठ जायगी। इसी प्रकार तथाकथित मुर्गी-पालन-केन्द्राको देख तो हम पायेग कि कितनी यातनाएँ मुर्गियाको दी जाता हैं। उनकी चाच और पख काट दिय जाते हैं। उन्ह तज रोशनामें रखा जाता है और अत्यन्त क्रूरतापूण ढगस उन्ह कृत्रिम

तराकेसे अडे उत्पन्न करनेके लिये बाध्य किया जाता है। —यह घोर हिंसात्मक कार्य है। इसलिय किसी भी हालतम अडेकी कोई भी चीज और अडामिश्रित कक, पैस्ट्री, रशियन सलाद आदि हमे कभी भी नहीं खाना चाहिये एव अपने परिवार, मित्रा तथा बन्धु-बान्धवोको भी ऐसा करनेसे रोकना चाहिये। ऐसा करनपर ही व्यावहारिक जीवनम अहिसाको हम उतार सकत हैं। इसी प्रकार किसी भी रूपम शराब और अन्य मादक द्रव्याका सेवन न करें। क्योकि मदिरा-पानसे बुद्धि भ्रष्ट होती है और जब बुद्धि ही भ्रष्ट हो जाती है तो मनुष्य किसी भी प्रकारका अनर्थ करनेम नहीं हिचकता। दूसरी बात यह है कि अधिकाश अच्छी शराबाम इजिनग्लास और कई प्रकारक मासाहारी तत्त्व—जैस रक्त, हड्डी आदि मिलाये जात हैं, जिससे मदिरा-पान हिसाके अन्तगत आता है। इसलिये व्यावहारिक जीवनम अहिसाको उचित स्थान देनेक लिये यह नितान्त आवश्यक है कि हम पूर्णरूपसे शाकाहारी ही रह और किसी भी रूपम मदिरा-पान न कर तथा अन्य विभिन्न प्रकारके व्यसनासे भी अपन-आपको मुक्त रख।

क्रोधपर सयम—अकारण या बात-बातम क्रोध आ जाना हिसाकी प्रवृत्तिका एक प्रारम्भिक रूप है। इसलिये हमे ईश्वरसे प्रार्थना करनी चाहिये कि हम क्रोधी न हा। जीवनम कई बार ऐसे प्रसग उत्पन्न होते हैं जब हमारी बात नहीं मानी जाती या हमारी भावनाके अनुरूप कोई कार्य नहीं होता जिससे तुरत हम क्रोध आ जाता है। गीताम भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि क्रोध करनेसे बुद्धिका नाश होता है और जब बुद्धिका ही नाश हो गया तो अपने जीवनके परम उद्देश्यकी प्राप्तिका तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिये व्यावहारिक जीवनम यह अति आवश्यक है कि हम क्रोधपर नियन्त्रण रख।

क्षमा-दान—जैन-समाजके सभी पन्थों एव शाखाआक सदस्याद्वारा पर्युषण-पर्वको आत्म-शुद्धि क्षमा-याचना और क्षमा-प्रदान-जैसे विशिष्ट कार्योंके लिये जीवनका एक आवश्यक अङ्ग माना जाता है। परतु जीवनम पूर्ण अहिसाको प्रतिष्ठित करनेके लिये हमे सच्चे मनसे यह भावना मनमे लानी होगी कि हम पर्युषण-पर्वपर ही नहीं, बल्कि सदाके लिय सभीसे क्षमा-याचना करते रह। इसके लिये यह भावना करनी होगी कि मुझे सभी क्षमा कर। सभी प्राणी मेरे लिये मित्रवत् हैं। मेरा किसीसे भी वर नहीं ह, ऐसी भावनासे प्ररित होकर हम व्यावहारिक जीवनम इस उतारनका प्रयत्न कर तो फिर अहकारवश उत्पन्न हुआ क्रोध या द्वेष समाप्त हो जायगा। इसी प्रकार क्षमाका दूसरा पहलू भी ध्यानम रखते हुए हम अपने हृदयम किसीक प्रति द्वेष आदिकी जो भावना रखते हैं, उसे निकाल द। दूसराके द्वारा हमारे प्रति किये गये दुर्व्यवहारकी स्मृतिको समाप्त करनेम हमारा हृदय विकाररहित होता है और वह अहिसा-व्रतके पालनका प्रमुख अङ्ग बनता है। अन्यथा यदि हम दूसराक प्रति मनम बुरे भाव रखगे आर उनके द्वारा अपने प्रति जाने-अनजाने किये गये अपराधाका क्षमा न करेगे तो हमारे मनम हमेशा उनके प्रति हिसाकी भावना रहगी और तब हम किसी भी प्रकारसे अहिसाके पुजारी नहीं कहला सकत।

परिवारम अहिंसा—परिवारमे अहिसाका पालन करना पारिवारिक सुखके लिये नितान्त आवश्यक ह और इसका सबसे बडा सूत्र है 'सहनशीलता'। जब हम उदारता और सहनशीलताका परिचय दगे ता पायगे कि पारस्परिक सम्बन्धामे कितनी मिठास है। जब हम अपनी आवश्यकताआकी पूर्तिकी सीमा बाँधकर ईर्ष्या आर द्वेषकी भावनाआको अपने हृदयसे निकाल दगे ता परिवारम अपने-आप ही सामञ्जस्य एव प्रेम पैदा हो जायगा, इससे पारिवारिक जीवनमे व्यावहारिक अहिसा उभरेगी।

स्वयका प्रभावी उत्कृष्ट जीवन और आचरण—हम अपने जीवनमे अहिसाको प्रमुख स्थान दना है और ईर्ष्या तथा द्वेषरहित होकर, लोभ-वृत्तिका त्याग करते हुए, सयमित खान-पान तथा व्यवहार एव क्षमाकी भावनाको जीवनमे उचित स्थान देते हुए एसा उत्कृष्ट जीवन जीना है कि हमारी जीवनशैली एक अनुकरणीय आदर्श बन जाय। हमारा स्वयका आचरण और दैनन्दिन व्यावहारिक जीवन ऐसा हो जिसे देखकर दूसरा व्यक्ति स्वय ही उस ओर उन्मुख हो जाय। इससे नैतिक मूल्याका पालन स्वत हो जायगा और सत्य अहिसाकी प्रतिष्ठा भी हो जायगी। पूर्ण अहिसाक प्रतिष्ठित हो जानेपर स्वाभाविक वैर भी भूल जाते हैं और परस्पर उदात्त मैत्रीका भाव स्थापित हो जाता है—

'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग ॥'

(पातञ्जल योग० २। ३५)

मार्क्सवाद और रामराज्य

(डा० श्रीभीष्मदत्तजी शर्मा)

मार्क्सवादी दर्शनमे पाश्चात्य दार्शनिक विचारोका विकास हुआ है, जिससे यह पाश्चात्य विचारधाराके साथ दर्शन, राजनीति, संस्कृति, शिक्षा और अर्थ-व्यवस्था आदिके क्षेत्रोमे विश्वमे फलता चला गया। मार्क्सवादसे ही समाजवाद और साम्यवाद-जैसी विश्वव्यापी विचारधाराओका रूप विकसित हुआ है। कार्लमार्क्सको मार्क्सवादका जन्मदाता माना जाता है। इन्होने विश्वमे सुख-समृद्धिके लिये साम्यवाद या समष्टिवादको आवश्यक ही नहा, अपितु अवश्यम्भावी बताया ह। वस्तुत इस वादमे ईश्वर, आत्मा, धर्म, पाप-पुण्य और अध्यात्म आदि आस्तिक विचारोका खण्डन करके शुद्ध भौतिकवादका समर्थन किया गया है, इसलिये वेद-उपनिषद्, रामायण महाभारत पुराण तथा मनु-याज्ञवल्क्य आदिके धर्मशास्त्रोपर आधारित भारतीय दर्शनका मार्क्सवादसे मेल नहीं खाता। यही कारण है कि मार्क्सवादी विचारधारा विश्वमे और कहीं भी भले ही फली-फूली हो परतु भारतवर्षमे नहीं। वर्तमान युगके महान् मनीषी एव अविस्मरणीय महापुरुष धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजद्वारा मार्क्सवादके खण्डनमे लिखित और 'गीताप्रेस' गोरखपुरद्वारा प्रकाशित ग्रन्थ 'मार्क्सवाद और रामराज्य' मे इस वादकी युक्तियुक्त समालोचना कर रामराज्य-जैसी शासन-प्रणाली तथा भारतीय जीवन-दर्शनको ही विश्वके लिये कल्याणकारी बताया गया है। उस विश्वविख्यात ग्रन्थके आधारपर ही यहाँ इस विषयमे विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है—

कार्लमार्क्स

इनका स्थिति-काल सन् १८१८ ई०से सन् १८८३ ई०तक माना जाता है। इनका 'दास कैपिटल' नामक ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। इनका जन्म एक मध्यमवर्गीय परिवारमे हुआ था। पहले इन्होंने वकालत पढी परतु वकालत न करके ये पत्रकार बन गये। इसी दौरान मार्क्सने 'हीगेलवाद'-का अध्ययन किया और अपनेसे पूर्ववर्ती कई दार्शनिकोके विचारोसे प्रभावित होकर नयी ऐतिहासिक विश्लेषण-पद्धतिको जन्म दिया। कुछ समय पश्चात् हीगेलके मानवतावादसे प्रेरित होकर वे मजदूरोके आन्दोलनसे जुड गये और शीघ्र ही उनके नेता बन गये। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओमे प्रकाशित होनेवाले लेखोसे अपनी जीविका चलाते हुए भी वे कभी अपने ध्येयसे विचलित नहीं हुए। अन्तत उनकी गणना प्लेटो, अरस्तू और हीगल आदि दार्शनिकोकी श्रेणीमे होने लगी। मार्क्सके प्रसिद्ध ग्रन्थोके नाम हैं—'पॉवर्टी ऑफ फिलॉसफी' 'मैनिफेस्टो ऑफ कम्युनिस्ट पार्टी' 'एटीन्थ ब्रूमेयर ऑफ लुई बोनापार्ट', 'ए कण्ट्रिब्यूशन टू द क्रिटिक ऑफ पॉलिटिकल इकॉनामी', 'क्लास-स्ट्रगल इन फ्रांस' और 'रिवेल्यूशन एंड काउंटर रिवेल्यूशन' आदि। मार्क्सको आर्थिक तथा बौद्धिक सहायता देनेवाला एंगिल्स नामक धनी व्यक्ति एक मिलका मालिक था। मार्क्सकी मृत्यु होनेपर उसने ही कम्युनिस्ट आन्दोलनका नेतृत्व किया। बादमे लेनिन इस आन्दोलनके नेता बने। सन् १९१७ ई०मे उनके नेतृत्वमें समाजवादी क्रान्ति हुई और जीवनभर वे सोवियत शासनके सूत्रधार बने रहे। मार्क्सके राजनैतिक दर्शनके आधारपर आजतक रूसकी शासन-व्यवस्था चल रही है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

मार्क्सके दर्शनको द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (डाइलेक्टिकल मेटिरियलिज्म) या ऐतिहासिक भौतिकवाद (हिस्टॉरिकल मटिरियलिज्म) भी कहा जाता है। यह दर्शन द्वन्द्वात्मक दृष्टिसे प्राकृतिक घटनाओकी जाँच और पहचान करता है तथा भौतिकवादी दृष्टिसे प्राकृतिक घटनाओकी व्याख्या करके सिद्धान्तकी विवेचना करता है। लेनिनके पश्चात् रूसकी सत्ता सँभालनेवाले स्टालिनके अनुसार मार्क्सवाद न तो अन्ध श्रद्धा है और न ही अन्धविश्वास। अत उसकी व्याख्या समयानुसार परिवर्तित होती रहती है। यही कारण है कि साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रान्तियुगमे लेनिनने मार्क्सवादकी पुन व्याख्या की थी। अत लेनिनवादको प्रधान रूपसे सर्वहाराके अधिनायकत्वका दर्शन कहा जाता है। इतिहास और समाजकी आर्थिक व्याख्या मूल्य एव अतिरिक्त मूल्यका सिद्धान्त वर्गसंघर्ष और सर्वहाराका अधिनायकत्व उसके दर्शनके मुख्य विषय हैं।

मार्क्सवादके सिद्धान्त

हीगेलके द्वन्द्ववाद ब्रिटेनके अर्थशास्त्र और फ्रांसके समाजवादी दर्शनके अध्ययनद्वारा मार्क्सने द्वन्द्वात्मक

भौतिकवादके नामसे जिस नये दर्शनका प्रवर्तन किया, उसके मुख्य सिद्धान्त य ह—

(१)वर्गोका अस्तित्व उत्पादन-व्यवस्थाके अनुकूल होता है। दासताके युगम वर्गोका अस्तित्व आर सघर्ष उस युगकी उत्पादन-व्यवस्थाक अनुकूल था। इसी प्रकार सामन्तशाही एव पूँजीवादी युगाम वर्गोका अस्तित्व ओर सघर्ष इन युगाकी उत्पादन-व्यवस्थाक अनुकूल था।

(२)वर्ग-सघर्ष अनिवार्यरूपसे सर्वहारादलके अधिनायकत्वका मार्ग प्रशस्त करता हे।

(३)विश्वम दा वर्ग हैं शोषित और शोषक। दोनाम सघर्षकी प्रक्रिया सतत रूपसे चलती रहती है। शापित वर्ग वहुसख्यक आर शोषक वर्ग अल्पसख्यक हाता है।

(४) शापित वगको शोषक वर्गक विरुद्ध क्रान्ति करनेक लिये सदैव कटिबद्ध रहनकी आज सबसे बडी आवश्यकता ह।

(५) सर्वहाराका अधिनायकत्व सक्रमणकालिक हागा।

(६) समाजम सवहाराका अधिनायकत्व हो जानपर वर्गोका अन्त हा जायगा और एक वर्गविहीन समाजका उदय होगा।

(७) धर्म, ईश्वर, अध्यात्म और अति प्राकृतिक एव अलाकिक मान्यताआका जीवन-जगत्‌म काई महत्त्व नहीं ह। अत इन सबका त्याग करक यथार्थ-चिन्तन करनेस ही वास्तविक जीवन-दर्शनका जन्म होगा।

रामराज्य

रामराज्य भारतीय दर्शनका पर्याय है। यह ऐसा सम्पूर्ण जीवन-दशन है जिसम धम सस्कृति लोकिक एव पारलौकिक सभी विषयोका उचित समावश हे। भारतीय दशनम धर्म अथ काम आर मोक्ष—ये जावनक चार पुरुषार्थ मान गये है। धर्म आर माक्ष पारलोकिक सुख-शान्तिके लिय तथा अर्थ एव काम लाकिक सुख-शान्तिके लिय हैं। अत भारतीय दर्शन एक ऐसा सर्वाङ्गीण दर्शन ह जिसम भौतिक एव आध्यात्मिक दाना प्रकारके विकासपर पूरा ध्यान दिया गया है। रामराज्य केवल एक शासन-प्रणाली ही नहीं है वरन् वह एक एस जीवन-यापनका ढग है जिसक विषयम गास्वामी श्रीतुलसीदासजीकी य पक्तियाँ प्रसिद्ध हैं—

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥
चारिउ चरन धर्म जग माहीं। पूरि रहा सपनहुँ अघ नाहीं॥
राम भगति रत नर अरु नारी। सकल परम गति क अधिकारी॥
अल्पमृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुदर सब बिरुज सरीरा॥
नहिं दरिद्र काउ दुखी न दीना। नहि काउ अबुध न लच्छन हीना॥
सब निर्दभ धर्मरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥
सब गुनग्य पडित सब ग्यानी। सब कृतग्य नहिं कपट सयानी॥

राम राज नभगस सुनु सचराचर जग माहिं।
काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं॥

(रा०च०मा० ७। २१। १—८ २१)

अर्थात् रामराज्यम दहिक दविक आर भातिक ताप किसीको नहीं व्यापत। सब मनुष्य परस्पर प्रम करत ह ओर वदामे बतायी हुइ नीति (मर्यादा)-म तत्पर रहकर अपने-अपने (वर्णाश्रम-) धर्मका पालन करते हैं। धर्म अपने चारा चरणो (सत्य शोच, दया ओर दान)-स जगत्‌म परिपूर्ण हो रहा है, स्वप्नम भी कहीं पाप नहीं ह। पुरुप आर स्त्री सभी रामभक्तिम लगे है, जिसस सभी परम गति (मोक्ष)-के अधिकारी हैं। छोटी आयुम किसाकी मृत्यु नहा हाती, किसीको कोई पीडा नही होती। सभीक शरीर सुन्दर एव रागरहित हैं। न काई दरिद्र ह न दु खी आर न कोई दान है। न कोई अज्ञानी ह आर न कोई शुभ लक्षणासे हीन हे। सभी दम्भरहित धर्मपरायण आर पुण्यात्मा ह। पुरुष और स्त्री सभी चतुर एव गुणवान् हैं। सभा गुणाका आदर करनेवाल और पण्डित हैं तथा सभी ज्ञानी हैं। सभी दूसराके किय हुए उपकारका माननवाल ह। कपट और चतुराई (धूर्तता) किसीमे नहीं ह। काकभुशुण्डिजा कहते हैं—हे पक्षिराज गरुडजी। सुनिय श्रीरामक राज्यम जड-चेतन समस्त जगत्‌मे काल कर्म स्वभाव आर गुणास उत्पन्न हुए दु ख किसीको भी नहीं होत (अथात् सब इन बन्धनास मुक्त हैं)।

यह ह रामराज्यका आदर्श जीवन-पद्धति। इसालिय भारतवर्षम रामराज्य सभीके लिय कमनीय रहा है। वस्तुत धर्मविहीन काई भी व्यवस्था कभा फलदायी नहीं हा सकती। यही कारण है कि धर्मविरुद्ध हानके फलस्वरूप मार्क्सवाद धीर-धार विश्वस लुप्त हाता जा रहा है। आज रूस आर चीनम भी मार्क्सवाद अपनी अन्तिम साँस गिन रहा ह।

मार्क्सवादकी विचारशून्यता

यह विडम्बना ही थी कि गरीबीकी हालतमे आर्थिक कष्टसे पीडित मार्क्सको धनके अलावा कुछ और नहीं दिखायी पडता था। सच है सावनके अन्धेको हरा-ही-हरा नजर आता है। जिस प्रकार प्यासेको पानी भूखेको रोटी और गरीबको धन ही नजर आना स्वाभाविक है, उसी प्रकार मार्क्सकी अर्थ-चिन्ता स्वाभाविक थी। परतु ब्रह्म धर्म, आत्मा, पाप-पुण्य और नैतिक मूल्यो-जैसी सभी महत्त्वपूर्ण वस्तुओको मार्क्सद्वारा अर्थके सामने नगण्य माना जाना वस्तुत उसके दर्शनकी विचार-शून्यता ही कही जायगी। धनका जीवनमे अवश्य महत्त्व है। इसीलिये भारतीय धर्मशास्त्रोमे धनके महत्त्वको स्वीकार करते हुए इसकी चार पुरुषार्थोमे गणना की गयी है परतु धर्म-नियन्त्रित धनको ही श्रेष्ठ माना गया है और उससे पूरी होनेवाली कामनाएँ ही प्रशसनीय हैं। तभी व्यक्तिको अन्तिम पुरुषार्थ मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है। धार्मिक, आध्यात्मिक और नैतिक विकास तथा इनके अनुकूल सभी नियमोका आधार धनको समझना एव धनके लिये सनातन सत्य, शाश्वत न्याय, आत्मा-परमात्मा और पाप-पुण्यके विचारका परित्याग कर देना मार्क्सवादका दिमागी फितूर ही है। न यह व्यक्तिके लिये कल्याणकारी है और न समाजके लिये ही। भारतवर्षमे अनेक ऐसे राजा, महाराजा, धनवान् और महापुरुष हुए हैं, जिन्होने परोपकारके लिये, धर्मके लिये, अध्यात्मनिष्ठाके लिये और दूसरोके दुःख दूर करनेके लिये धनका ही नहीं अपने शरीर एव प्राणो तकका भी परित्याग कर दिया। भगवान् श्रीराम रन्तिदेव, हरिश्चन्द्र शिवि और दिलीप आदि इसीके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

धर्मनिरपेक्ष नहीं, धर्मसापेक्ष दर्शन

मार्क्सवादी दर्शन धर्मनिरपेक्ष होकर भी पक्षपातपूर्ण है, जबकि रामराज्यवादी दर्शन धर्मसापेक्ष होकर भी पक्षपातरहित है। यह प्राणिमात्रके कल्याणका मार्ग प्रशस्त करता है, जबकि मार्क्सवाद एक विशिष्ट समुदाय (श्रमिकवर्ग)-का ही हित-चिन्तन करता है। काम क्रोध मद लोभ ईर्ष्या द्वेष लूट-मार करना और हिंसा आदि मनुष्यके दोष हैं गुण नहीं। मार्क्सवादी इन्हीं दुर्गुणोको उत्तेजित करके उनके द्वारा अपना राजनीतिक उल्लू सिद्ध करना चाहते हैं, जो कि सर्वथा गलत है। दूसरोकी वस्तुओका अपहरण करना मार्क्सकी दृष्टिमे न्याय ही है, अन्याय नहीं। यह सब उसके धर्मनिरपेक्ष सिद्धान्तका ही कुफल कहा जायगा। वस्तुत रामराज्यका धर्मसापेक्ष पक्षपातविहीन राजनीति ही कल्याणकारी है। धर्मनिरपेक्षता कभी भी विश्वके लिये कल्याणकारी नहीं हो सकती। यह एक ऐसा विष है जो देखने और चखनेमे तो मीठा प्रतीत होता है, परतु व्यक्ति समाज और विश्वको धीरे-धीरे विनाशकी ओर ले जाता है। आज इसी धर्मनिरपेक्षतावादने भारतीय राजनीतिको इतनी बुरी तरहसे ग्रस रखा है कि देशके राजनीतिक दलो और राजनेताओको इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं सूझ रहा है। बस सब बात तो धर्म-निरपेक्षताकी करेंगे किंतु सम्पूर्ण राष्ट्रको बहुसख्यक और अल्पसख्यक समुदायोमे बाँटकर भी जब यहाँके राजनेताओंको चैन नहीं पडा तो इन्होने अपने राजनीतिक स्वार्थके लिये समस्त देशको जातिगत आरक्षणका नशा कराकर छोटी-छोटी जाति-बिरादरियोमे बॉट दिया। वोट-बैंकको मजबूत करनेके लिये तुष्टीकरणकी नीति अपनाकर राजनेताओने समस्त समाजको भाषावाद क्षेत्रवाद और प्रान्तवाद-जैसी सकीर्ण भावनाओकी दलदलमे फँसा दिया। यह सब मार्क्सवादके अन्धानुकरणका ही तो दुष्परिणाम है कि आज कहा भी सम्पूर्ण राष्ट्रके चिन्तनकी चर्चा नहीं सुनायी पडती। भारत विश्वकी आत्मा है। यह अनादिकालसे धर्मप्रधान देश रहा है। इसीलिये धर्मकी रक्षाहेतु यहाँ स्वय श्रीमन्नारायण कभी श्रीरामके रूपमे और कभी श्रीकृष्णके रूपमे अवतरित होते रहे हैं। धर्म इस देशकी प्राण-शक्ति है। धर्म यहाँके कण-कणमे व्याप्त है। इसलिये भारतभूमिकी वन्दना माँ दुर्गाके रूपमे करके यहाँके कवियोने यह बताया है कि 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' अर्थात् जननी और जन्मभूमि—ये दोनो स्वर्गसे भी श्रेष्ठ हैं। यही कारण है कि हमारे यहाँ धर्मविहीन मार्क्सवादका कोई मूल्य नहीं है और धर्माधारित तथा धर्मनीतिकी मर्यादापर स्थापित रामराज्य ही हमारे लिये महत्त्वपूर्ण है। भारतीय मनीषियोका यह कथन हमे सदैव याद रखना चाहिये—

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥

नीतिग्रन्थोका सक्षिप्त परिचय

(डॉ० श्रीसूर्यमणिजी शास्त्री एम्० ए० साहित्याचार्य पी-एच्० डी०)

मानव-जीवनमे नीतिशास्त्रका महत्त्वपूर्ण स्थान ह। मानवकी मानवता जन्मसे लकर मृत्युपर्यन्त नीतिगत आदर्शोपर ही आधृत हे। महान् गौरवका बात है कि अन्य शास्त्राकी भाँति इस नीतिशास्त्रका भी सूत्रपात भारतकी धरतीपर हुआ। जेस वदादि शास्त्राम तत्त्वज्ञानके साथ ही लोकज्ञानकी भी बहुत-सी बात हैं वैस ही इसमे भी हैं। नातिशास्त्रके आदि उद्भावक भगवान् ब्रह्मा हैं, उनसे शकरजीको फिर इन्द्र बृहस्पति, शुक्राचार्य आदिको प्राप्त होता हुआ यह नीतिशास्त्र लोकम व्याप्त हो गया। नीतिशास्त्रके अनेका ग्रन्थ हैं, जिनम पञ्चतन्त्रका इतिहास अति प्राचीन है। पञ्चतन्त्र नीतिकथाआका आदर्श कन्द्र रहा ह। भारतके वाद फारसम नीतिकथाओका प्रचार-प्रसार हुआ। फारसके बादशाह खुसरो नोशरवाँके दरवारी हकीम बुरजोईने ५३३ ई० मे पञ्चतन्त्रका फारसी भाषाम अनुवाद किया था। ५६० ई० म एक ईसाई पादरीने कलिलग और दमनग नामक पहलवीसे सीरियन भाषामे इसका अनुवाद किया था। सीरियनसे अरबी अनुवाद अब्दुला बिन अलमुकफ्फाने ७५० ई० म किया तथा ७८१ ई० मे दूसरा अनुवाद अब्दुल्ला बिन हवाजाने पहलवीसे अरबीम किया। सहल-बिन-नवरख्तन इसका अनुवाद अरबी कविताम किया।

चीनके ६६८ ई० के तैयार किये विश्वकोशम भारतीय कहानियाका उल्लेख मिलता है। इस तरह इन कहानियाके अनुवाद लैटिन, ग्रीक, जर्मन, फ्रेंच तथा स्पनिश आदि भाषाआमे १६वीं शताब्दीतक होते रहे। 'सालामन्स जजमेन्ट' एव सिकन्दरकी अन्य जितनी कथाएँ ग्रीक, अरबी, हिब्रू तथा फारसी भाषाआम उपलब्ध हैं उनम भारतीय कथाआका ही उल्लख मिलता है। इन साक्ष्यास यही सिद्ध हाता है कि कथाआकी नातिशास्त्रीय परम्पराका मूलाधार भारतीय धरती हा है। यहाँ सक्षपम भारतोय नीतिकथासग्रहाका परिचय दते हुए उनकी नीतिशास्त्रीय परम्परापर विचार किया जा रहा ह—

(१) पञ्चतन्त्र—इसका 'तन्त्राख्यायिका' नामक प्राचान काश्मारी सस्करण आज भी उपलब्ध है। वर्तमानम इसके चार सस्करण उपलब्ध हैं—

(१) पहलवा अनुवाद—सीरियन एव अरवी अनुवादम प्राप्य (२) गुणाढ्यकृत बृहत्कथाक बृहत्कथामञ्जरी एव सामदवकृत कथासरित्सागर (३) तन्त्राख्यायिका और (४) दक्षिणी पञ्चतन्त्रका मूल रूप।

पञ्चतन्त्रम मित्रभेद, मित्रसम्प्राप्ति, काकोलूकीय लब्धप्रणाश एव अपरीक्षितकारक नामक पाँच तन्त्र है। महिलाराप्य नगरक अमरशक्ति नामक राजाके मूर्ख पुत्राको नीतिशास्त्रका ज्ञान करानेके लिय आचार्य विष्णुशर्माने यह सग्रह तयार किया था। इसकी कथाआके माध्यमसे राजकुमाराम सदाचार नीतिपटुता एव व्यवहारकुशलताकी प्रतिष्ठा हा गयी थी। इसमे विनादपूर्ण मुहावरेदार भाषाका प्रयाग किया गया ह। उपदेशकी सूक्तियाँ पद्यम हे एव कथानक गद्यम। उपदेशका मूल कथ्य प्राय प्राचीन ग्रन्थासे लिया गया ह। नीतिकथाआके माध्यमसे व्यवहारज्ञानकी तथा लोकशिक्षाकी बात बतलानेवाला यह अनूठा ग्रन्थ ह। इसकी बहुत प्रसिद्धि ह।

(२) नीतिमञ्जरी—यह सग्रह ऋग्वदक सवादसूक्तापर आधारित है। स्तुतिसम्बन्धी सूक्तोके मनोरञ्जक एव शिक्षाप्रद आख्यानाके आधारपर आचार्य द्याद्विवेदने १५वा शताब्दीम यह नीतिमञ्जरी नामक सग्रह तैयार किया। वदार्थदीपिका एव सायणके वेदभाष्यस अनेक उद्धरण इसम सगृहीत हैं।

(३) हितोपदेश—चादहवीं शताब्दीक आस-पास पञ्चतन्त्रक आधारपर ही नारायण पण्डितन हितापदेश नामक ग्रन्थ बनाया। मित्रलाभ सुहृद्भेद विग्रह एव सन्धि नामवाल इसम चार परिच्छद हैं। भाषा सरल-सुबाध, श्लोक उपदेशात्मक और कथाएँ शिक्षाप्रद ह।

(४) बृहत्कथा—बृहत्कथाम सस्कृत-साहित्यका मनोरञ्जक कथाआका सकलन ह। गुणाढ्य पण्डितन प्रथम शताब्दीम पैशाची भाषाम इसका रचना का था। वर्तमानम सस्कृतम इसक तीन रूप उपलब्ध ह—

(१) बृहत्कथाश्लाकसग्रह—बुधस्वामीकृत (२) बृहत्कथा-मञ्जरी—क्षमन्द्रकृत तथा (३) कथासरित्सागर—सामदेवकृत।

नपाली बृहत्कथामे सक्षेपम कथाआका वणन है। काश्मीरी बृहत्कथाम कलात्मक अशाका प्राचुय है। साम-दवकी रचनाम मूल वस्तुकी रक्षाका विशष उद्याग है।

(५) वतालपञ्चविंशति—जम्भलदत्तन वताल-पञ्चविंशति नामक सग्रहम वतालका पच्चीस कहानियाका सग्रह तैयार किया है। इसका भाषा गद्यमया आर कथाएँ

रोचक तथा बुद्धिवर्धक एव कौतूहलवर्धक है। डॉ० हर्टलने शिवदासको इसका सग्रहकार माना है।

(६) बृहत्कथामञ्जरी—क्षेमेन्द्रकृत बृहत्कथामञ्जरीम अठारह अध्याय ह। कथानायक वत्सराज उदयनका पुत्र नरवाहनदत्त है। कथाका आरम्भ उदयन एव वासवदत्ताक सवादस होता है।

(७) बाधिसत्त्वावदान—क्षेमेन्द्रकृत इस ग्रन्थम भगवान् बुद्धके पारमितासूचक आख्यानाका सग्रह ह। इसम बुद्धके शुभ चरिताका वणन ह।

(८) राजतरगिणी—कल्हणकी राजतरगिणीम आठ तरग हैं। इस ग्रन्थम पाराणिक आख्यानाकी याजना है। प्रामाणिक इतिहासकी याजना कम है। भागालिक विवरणके आधारपर ऐतिहासिक तथ्य सत्य उजागर हुए ह। बाद्ध एव जैनधर्मोका सामञ्जस्य भी इस ग्रन्थम दिखाया दता है।

(९) विक्रमचरित—इसका प्रसिद्ध नाम 'सिहासन-द्वात्रिशिका' है। इसम राजा भाजकी बत्तीस कहानियाका सग्रह है। उत्तरी ओर दक्षिणी दो वाचनिकाएँ मिलती ह। विक्रमचरित पद्य एव गद्य दा स्वरूपाम मिलता है।

(१०) शुकसप्तति—एक सुग्गा परदश जानेवाले पतिके प्रति सद्भाव स्थिर रखनेके लिये स्वामिनीका कहानियाँ सुनाता है। इसकी एक विस्तृत एव एक सक्षिप्त वाचनिका ह।

—इन कहानी-सग्रहकि अतिरिक्त पुरुषपरीक्षा, प्रबन्धकोश, कथारत्नाकर, भट्टकद्वात्रिंशिका, कथारत्नाकर, प्रबन्धचिन्तामणि, विविधतीर्थकल्प, भोजप्रबन्ध, अवदानशतक, दिव्यावदान आदि कथाआ एव नीतिकथाआके सग्रह भा प्रसिद्ध हैं।

वेदाकी अपौरुपयता, पौराणिक साहित्यका विस्तार महाभारत एव रामायणक साहित्यिक स्वरूप तथा उपनिपदाका चिन्तनीय परम्पराके कारण लोकजावनको नीतिमान् बनानक लिये सरल, सहज एव बाधगम्य भापाकी महती आवश्यकताका अनुभव किया गया। इसकी पूर्ति-हतु लाकजावनक परम्परागत ज्ञानकी धाराको अक्षुण्ण बनाय रखनक लिय एक साहित्यिक स्वरूपकी आवश्यकता प्रतात हुई। कथाआ आख्याना, वाताआ एव सवादाके माध्यमस प्राच्य एव पूर्ववर्ती ज्ञानको साहित्यिक स्वरूप देनेक लिय इन नातिके आख्यानसग्रहोका आविभाव हुआ। सामान्य जन भा साहित्यिक चष्टाआसे अपरिचित न रहें इस उद्देश्यकी पूर्तिमे इन नीतिपरक सग्रहाका महत्त्वपूर्ण योगदान हैं। हिन्दू, जैन बौद्ध, इस्लाम सभी धर्मोकी नीतिगत मान्यताआको इन सग्रहाम प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। साहित्यकी प्रचुरता एव विशालताके कारण सामान्य जन-जीवनमे इन कहानियाका प्रतिष्ठापूर्ण सम्मान एव स्थान आजतक मिला हुआ है। भारतका इस क्षेत्रम प्रतिष्ठित करनेका सौभाग्य इन कहानियाक माध्यमसे भी प्राप्त हुआ है। इन ग्रन्थाका धार्मिक सहिष्णुता एव सामञ्जस्यक कारण ही अरबी एव आग्ल भापाआम भी इनके अनुवाद हुए ह। आख्यानाके माध्यमसे गूढतम ज्ञानको भी उद्घाटित करना तथा व्यावहारिक ज्ञानकी प्राप्ति कराना—यही इन नीतिकथाआका तात्पर्यमूलक उद्दश्य रहा है।

~~~~

बाजीराव प्रथमकी उदारता

बाजीराव प्रथम उर्फ बाजीराव बल्लाल पेशवा और निजाम-उल-मुल्कके बीच सन् १७२८ मे गोदावरीके किनारे लडाई हुई। मराठ जीत गय और मुस्लिम-सनाम अन्नका भारी ताडा आ गया। इसी बीच एक मुस्लिम-त्योहार आया। निजामने बाजीरावक पास दूत भेजकर अपील की कि 'सनाम भोजनकी बडी कमी आ गयी है, इसलिये अन्न और किरानकी मदद भेजिय।'

बाजीरावने अपने प्रमुख सहायकाकी गुप्त बैठक बुलायी और निजामकी यह अपील उनके समक्ष रखकर निर्णय माँगा। प्राय सभीन यही सलाह दी कि 'निजामका कुछ भी न भेजा जाय। इत तरह अनायास शत्रुको भलीभाँति तग करनेका मतलब सध जायगा।'

पशवाको यह निर्णय पसद नहीं आया। उन्हाने कहा—'हम सैनिकाके लिये यह कदापि उचित नहीं कि शत्रु बीमार, भूखा या साया हुआ हो तो धाखस उसे नष्ट कर डाला जाय। नवाबने जितनी माँग की है, उससे अधिक भेजकर उसका सम्मान किया जाय।'

पेशवान पाँच हजार बैलापर सारी सामग्री रखकर निजामके पास भिजवा दी। निजाम अत्यन्त प्रभावित हुआ और शाघ्र ही सलाह-मशविराक माध्यमस दानाकी भेट हुई। (नातिबाध)

~~~~

नीति-वाङ्मयका संक्षिप्त परिचय

वद—वद समग्र ज्ञानका उत्स ह जिसका उद्भव ब्रह्माजीसे हे। ऋपियाको ऋतम्भरा-प्रज्ञाद्वारा समाधिम जिन मन्त्राक स्वरूपका दर्शन हुआ वे उनकी आर्प-वाणीसे मन्त्ररूपम प्रस्फुटित हुए और उसीका नाम वद-सहिता हुआ। किसी पुरुपक द्वारा ये मन्त्र रचे नहीं गय, इसीलिय वद अपौरुपेय कहलाता ह। सहितात्मक ममग्र वदका व्यासजीने प्रतिपाद्य विपयकी दृष्टिस चार भागाम विभक्त किया और ये चार भाग ही ऋग्वद, यजुर्वेद, सामवद तथा अथववद नामस प्रसिद्ध हुए। अथववदका ऋग्वदसे अधिक साम्य हे, इसीलिय वदत्रयीस ऋक्, यजु तथा सामका बोध हाता ह। सहिताक साथ ही इनम ब्राह्मणभाग भी सम्मिलित है। इसीलिये 'मन्त्रब्राह्मणयार्वेदनामधेयम्'—यह वेदका लक्षण है।

वैदिक साहित्य वहुत विशाल हे। इसम सहिता, ब्राह्मणग्रन्थ आरण्यक तथा उपनिपद् सम्मिलित हैं। वदार्थके सम्यगवबोधके लिये शिक्षा, कल्प निरुक्त, व्याकरण, छन्द तथा ज्यातिप—इन पडङ्गाके ज्ञानकी आवश्यकता होती ह। इसालिये य छ वेदाङ्ग कहलाते हैं। मुख्यत वेदाम ज्ञान-विज्ञान तथा उपासनाकी सभी बात निरूपित हैं। लौकिक तथा पारलौकिक कल्याणक उपाय इनम सनिहित हें। नातिविद्याक मूल सूत्र भी वेदाम प्रतिपादित हैं तथा कई आख्यानोंम नीतिविद्याकी सुन्दर बात आयी हुइ हैं। आचार्य द्याद्विवदने ऋग्वेदस नीतिकथाआका एक विलक्षण सग्रह किया है, जा नीतिमञ्जरीक नामस विख्यात हे। वेदकी वे नैतिक कथाएँ बहुत ही रोचक और शिक्षाप्रद ह।

यद्यपि नीतिम मुख्यत सत्-परामर्श रहता ह और नीतिक वाक्य या कथापकथन सुहृत्-सम्मित रहते ह। जैस अच्छा मित्र हितकी बात बता देता है पर कर्तव्यमे कर्ताका स्वातन्त्र्य रहता है, परतु वैदिक नीतियाँ प्राय आज्ञारूप ह। जैसे श्रुति कहती है—'सत्य वद'—सत्य बोलो 'धर्म चर'—धर्मका आचरण करो 'मातृदवो भव'—मातामें दवबुद्धि रखनेवाले बनो 'पितृदवो भव'—पिताम देवबुद्धि रखनवाले बनो 'अतिथिदेवो भव'—अतिथिम देवबुद्धि रखनवाले बनो 'मा गामनागामदिति वधिष्ट'—निरपराध, उपकारी गायकी हिसा मत करा इत्यादि। यहाँ ये नीतिवचन आज्ञारूप ह। इनकी अवश्यकरणीयता रहती ह अन्यथा शास्त्रकी आज्ञाका उल्लघन हानेसे अवश्य ही दण्डका भागी बनना पडता ह। इस प्रकार सामान्य नीतिवचनो आर वैदिक नीतिवचनाम यह अन्तर स्पष्ट दीखता है। सामान्य नीतिवचन सुहृत्-सम्मित ह और वैदिक नीतिवचन प्रभु-सम्मित हैं। इस प्रकारक नीतिवचना आर नीतिशिक्षाओसे वेद भरा पडा ह।

धर्मशास्त्र—'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्र तु वै स्मृति'—इस वचनसे ज्ञात हाता ह कि स्मृतियाँ ही मुख्यरूपसे धर्मशास्त्राकी बोधिका ह। मानवके प्रात जागरणसे लेकर रात्रिम सुपुप्ति आर स्वप्नतकक सारे विधान स्मृतियाम निर्दिष्ट ह। इतना ही नहीं, जन्मान्तरीय स्वरूपका परिज्ञान भी इनक अध्ययनस हाता हे ओर इस अध्ययनके अनुसार चर्या बनानेसे लोक-परलाक दाना सुधर जात ह। स्मृतियाम जीवन जीनेकी आदर्श शैली प्रतिपादित हे। मनु, याज्ञवल्क्य, अत्रि गोतम, हारीत, भरद्वाज पराशर तथा शङ्ख आर लिखित आदि ऋपियाद्वारा प्रणीत धर्मशास्त्र ह, जा उन्हींके नामस प्रसिद्ध हैं। यथा—मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति आदि। इन स्मृतियाम नीतिकी सारी बाते निरूपित हे। स्मृतियाँ वदार्थका ही अनुगमन करती हैं। अत स्मृतियाम निर्दिष्ट कल्याणकारी नीतियाँ हमार लिये आज्ञारूपिणी ही हैं। दा-एक नीतिवचन यहाँ दिये जा रहे हें—

> जितेन्द्रिय स्यात् सतत वश्यात्माक्रोधन शुचि ।
> प्रयुञ्जीत सदा वाच मधुरा हितभापिणीम्॥
>
> (औशनसस्मृति ३। १५)

इसका भाव इस प्रकार है—आत्मकल्याणकारा व्यक्तिका चाहिये कि वह निरन्तर इन्द्रियाका अपन वशम रखकर जितेन्द्रिय रहे। मनके वश न होकर आत्माक वशम रहे। क्राध न करे, सदा बाह्याभ्यन्तर पवित्र रहे और एसी वाणी बाल जो मधुर एव हित करनवाली हा अथात् परुप (कठार) एव अकल्याणकारी वाणी न बोल।

एक दूसरे नातिवचनम कहा गया ह—

य त्वार्या क्रियमाण प्रशसन्ति स धर्मो य गर्हन्त सोऽधर्म ।

(आप० धर्मसूत्र ७।७)

अर्थात् सत्पुरुष जिस किये जाते हुए आचारकी प्रशसा करते ह, उसका अनुमोदन करनेका परामर्श देते ह वह धर्म है और जिस आचारकी निन्दा करते हैं तथा स्वय भी जिसका आचरण नहीं करते, वह अधर्म है।

इस प्रकार धर्मशास्त्र बताता है कि हमे सत्पुरुषोके बताये गये मार्गपर ही चलना चाहिये।

इसी प्रकार महर्षि अगिरा बहुत ही कल्याणकारी बात बताते हुए हमे सावधान करते ह—

न देवबलमाश्रित्य पापकर्मरतिर्भवत्।
अज्ञानाद्वा प्रमादाद्वा दहते कर्म नेतरम्॥

(अगिरास्मृति १२०)

कोई भी व्यक्ति देवताओके बल या शास्त्रोके बल अथवा बादमे इसका प्रायश्चित्त कर लूँगा—एसा समझकर पापकर्मम प्रवृत्त न होवे क्योकि इस प्रकार करनेसे वह कर्म देवापराध, शास्त्रापराध अथवा प्रायश्चित्तसम्बन्धी अपराध बन जाता है। निन्द्य कर्म चाहे अज्ञानमे बन पडे या प्रमादसे हो जाय तो भी वह जला ही डालता है अत व्यवहारमे बहुत ही सावधानी रखनी चाहिये।

वाल्मीकीय रामायण—नीतिके आचार्य शुक्रका कहना ह— 'न रामसदृशो राजा पृथिव्या नीतिमानभूत्' अर्थात् पृथ्वीपर श्रीरामके सदृश कोई नीतिमान् राजा नहीं हुआ। उन्हीं नीतिमर्यादाओका प्रतिष्ठापित करनेवाले भगवान् श्रीरामका पावन चरित वाल्मीकीय रामायणमे गुम्फित है जिसकी रचना ब्रह्माजीकी आज्ञासे प्राचेतस वाल्मीकिजीद्वारा हुई। यह भूतलका आर्ष ग्रन्थ ह। इसमे भगवान्‌का शरणागत नीतिका तथा मर्यादाओके आदर्शका निरूपण हुआ है। भगवान् श्रीरामने ससारमे रहनेकी नीतिकलाका ज्ञान हमे अपने उदात्त चरित्रके माध्यमसे करके दिखाया है। यह अनुकरणीय आदर्श सबके लिये परम कल्याणकारी है। इस ग्रन्थका एक-एक श्लोक नीतिका मूल मन्त्र हैं।

पुराण—महर्षि वेदव्यासने पुराणोकी रचना कर लोकपर महान् अनुग्रह किया हैं। पुराणोमे वेदार्थका ही उपबृहण है। वेदोमे जो बात सूत्ररूपमे निर्दिष्ट हैं, पुराणोमे उन्हींका विस्तार व्यासजीने आख्यानशैलीमे कर दिया। जैसे वेदका हमारे लिये नैतिक आदेश है— 'सत्य वद'—सत्य बोलो 'धर्म चर'—धर्मका आचरण करो। इसी बातको वेदव्यासजीने सत्यवादी हरिश्चन्द्र तथा धर्मराज युधिष्ठिर आदिके आख्यानसे समझा दिया है। इसीलिये पुराणोमे रोचकता अधिक है। भागवत, विष्णु, पद्म ब्रह्म, स्कन्द आदि अठारह महापुराण हैं। इतने ही उपपुराण भी हैं।

वैसे तो सर्ग प्रतिसर्ग, वश वशानुचरित तथा मन्वन्तर—ये पाँच मुख्यरूपसे पुराणोके प्रतिपाद्य विषय हैं, परतु शायद ही एसा कोई विषय हो जो पुराणोमे न आया हो। इसीलिये पुराण भारतीय सनातन सस्कृतिके प्रतिष्ठारूप है। इनका अध्ययन, मनन और तदनुसार आचरण करना आवश्यक है।

मत्स्यपुराण अग्निपुराण विष्णुधर्मोत्तरपुराण तथा गरुडपुराण—ये तो समस्त विद्याओके भण्डार हैं विश्वकोष हैं। इनमे नीतिकी सारी बाते आ गयी हैं। अग्निपुराणमे भगवान् श्रीरामद्वारा बतायी गयी नीति विस्तारसे आयी है। गरुडपुराणमे देवगुरु बृहस्पति तथा महात्मा शौनकद्वारा प्रतिपादित नीति सुरक्षित हैं। मत्स्यपुराणमे भगवान् मत्स्यद्वारा विस्तारसे राजधर्मनीतिका प्रतिपादन हुआ ह। इसी प्रकार मार्कण्डेयपुराण तथा कालिकापुराणमे विस्तारसे नीतिकी बाते आयी हैं। श्रीमद्भागवत तथा विष्णुपुराण तो आध्यात्मिक नीतिके खजाने ही हैं। यदि इन नीतियोका आश्रय ले लिया जाय तो जीवन सुधर जाय काम बन जाय।

महाभारत—'यन्न भारते तन्न भारते' तथा 'धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ। यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥' आदि वचनोके आधारपर यह निश्चित है कि जो महाभारतमे कहा गया है वही अन्यत्र भी कहा गया है और जो इसमे नहीं कहा गया है वह अन्यत्र भी नहीं कहा गया है। महाभारत महर्षि वेदव्यासकी रचना है। इसमें एक लाख श्लोक है। इसीलिये यह महाभारत कहलाता ह। यह सभी विद्याओका आकर है। नीतिविद्याका तो यह विशाल भण्डार ही है।

महाभारतने ही हमे बताया है कि देवताओद्वारा प्रार्थना करनेपर सृष्टिकी रक्षाके लिये तथा मर्यादाकी प्रतिष्ठाके लिये सर्वप्रथम ब्रह्माजीने एक विशाल ग्रन्थका निर्माण किया जो 'नीतिशास्त्र' कहलाया। इस ग्रन्थमे एक लाख अध्याय थे यही आदिनीतिशास्त्र था। कुछ समय बाद भगवान् शङ्करने उस शास्त्रको छोटा कर दिया और बादमे लोगोकी शक्ति

सामर्थ्य आदिके घटते रूपको देखकर उसी नीतिशास्त्रको इन्द्र, बृहस्पति तथा शुक्राचार्य संक्षिप्त करते गये। शुक्राचार्यजीके नीतिशास्त्रमें एक हजार अध्याय थे।

इस प्रकार लोकमें नीतिशास्त्रका प्रवर्तन हुआ और ये सभी नीतिशास्त्रके आचार्य कहलाये। देवलोकसे भूलोकमें नीतिकी प्रतिष्ठा हुई।

महाभारतके अनुशासनपर्व तथा शान्तिपर्वमें सम्पूर्ण राजधर्म, राजशास्त्र तथा नीतिशास्त्र वर्णित है। कहीं भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा, कहीं महाभागवत भीष्मके द्वारा, कहीं ऋषि-महर्षियोंके द्वारा तो कहीं धर्मराज युधिष्ठिर आदिके द्वारा समस्त नीतियाँ इसमें उपन्यस्त हैं। कूटनीतिका भी आदिस्रोत महाभारत है। इसमें कूटनीतिके दो आचार्योंका नीतिका वर्णन आया है। एक हैं धृतराष्ट्रके अमात्य कणिक तथा दूसरे हैं सौवीरनरेश शत्रुञ्जयके मन्त्री भारद्वाज कणिक। 'राष्ट्रकी रक्षाके लिये कूटनीतिका प्रयोग किया जा सकता है'—इस बातका इन्होंने प्रतिपादन किया और यह भी सावधान किया है कि जब परराष्ट्र अथवा शत्रुद्वारा कूटनीति अपनायी जाय तो उस समय राष्ट्रहितको ध्यानमें रखते हुए कूटनीतिका आश्रय लिया जा सकता है। राजाको चाहिये कि वह सामान्य स्थितिमें, साधन-सम्पन्नताकी स्थितिमें कूटनीतिका कदापि प्रयोग न करे।

श्रीमद्भगवद्गीता—महाभारतके भीष्मपर्वमें समाहित श्रीमद्भगवद्गीता साक्षात् भगवान्‌की वाणी है। भगवान्‌ने कितनी कल्याणकारी बातें हमें बतायी हैं, ये तो गीताके अध्येता जानते ही हैं। उसमें शरणागतिको सर्वोपरि नीति बतलाया गया है और भगवान्‌ने अपनी विभूतियोंमें नीतिको परिगणित किया है। गीताके अन्तमें सञ्जय भी भगवान्‌के आश्रयको 'ध्रुवा नीति' बताते हैं।

इस प्रकार महाभारतमें पद-पदपर नीतिकी बातें भरी पड़ी हैं। इसके नीतिमय सुभाषित बहुत ही मार्मिक और कण्ठस्थ करने योग्य हैं।

विदुरनीति—विदुरनीति-जैसा विलक्षण ग्रन्थ महाभारतमें ही गुम्फित है। इसमें विदुरजीने राजा धृतराष्ट्रको धर्मनीतिका आश्रय लेनेका परामर्श दिया है। विदुरद्वारा बतायी गयी बातें यद्यपि धृतराष्ट्रको सम्बोधित करती हैं किंतु ये सभीके लिये उपयोगी तथा काममें लाने लायक हैं।

कामन्दकीय नीति—कामन्दक नामके एक आचार्य हुए हैं, जिन्होंने 'नीतिसार' नामक ग्रन्थ बनाया जो 'कामन्दकीय नीतिसार' कहलाया। इसमें मुख्यरूपसे राजधर्म तथा राजनीतिका वर्णन है। यह अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है।

निबन्धग्रन्थ—पं० लक्ष्मीधर भट्ट नामक एक आचार्य हुए हैं जिनका 'कृत्यकल्पतरु' धर्मशास्त्रीय निबन्धग्रन्थ है। इसमें पुराणों, स्मृतियों आदिके वचन संगृहीत हैं। यह कई काण्डोंमें विभक्त है। इसका 'राजधर्मकाण्ड' नीतिका प्रामाणिक संग्रह है। आचार्य लक्ष्मीधर भट्टका समय १२वीं शताब्दी माना जाता है। इसी प्रकार आचार्य चण्डेश्वरका 'राजनीतिरत्नाकर' भी प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इनका समय १४वीं शती है। आचार्य नीलकण्ठकी रचना 'भगवन्तभास्कर' या 'स्मृतिभास्कर' धर्मशास्त्रीय एक प्रौढ निबन्धग्रन्थ है, जिसमें १२ प्रकरण हैं और वे मयूखके नामसे प्रसिद्ध हैं। इन्हीं मयूखोंमें 'नीतिमयूख' बड़ा प्रसिद्ध है। इसमें सामान्य नीति राजनीति, राजधर्म, राज्य तथा राज्याङ्गोंका सूक्ष्म वर्णन हुआ है। इसी प्रकार पं० मित्रमिश्रका संग्रह-ग्रन्थ 'वीरमित्रोदय' विशाल ग्रन्थ है। यह २२ प्रकाशोंमें विभक्त है। इनमेंसे 'राजनीतिप्रकाश' तथा 'व्यवहारप्रकाश'में राजधर्मनीतिकी प्रायः सभी बातोंका संग्रह हो गया है। कूर्माचलनरेश बाजबहादुरचन्द्रके राज्याश्रित पं० अनन्तदेवका 'स्मृतिकौस्तुभ' एक महत्त्वका ग्रन्थ है। इस ग्रन्थके 'राजधर्मकौस्तुभ' प्रकरणमें नीतिकी सुन्दर बातें प्रतिपादित हैं।

चाणक्य—विष्णुगुप्त, चाणक्य अथवा कौटिल्यका नाम तो नीतिशास्त्रके आचार्योंमें विश्रुत ही है। ये नीतिके महान् पण्डित थे। लोकमें भी जो चतुर और नीतिमान् होता है, उसे चाणक्य कह दिया जाता है। यह इनकी प्रसिद्धिको ही ख्यापक है। इनके 'चाणक्यनीतिदर्पण' 'चाणक्यसूत्र', 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

भर्तृहरि—शृङ्गार नीति और वैराग्यशतकके प्रणेता आचार्य भर्तृहरि महान् नीतिकार तथा योग-ज्ञानसम्पन्न थे। इनका नीतिशतक बहुत ही सुन्दर है। इसमें लोकज्ञानके साथ ही परमार्थकी प्राप्तिके उपाय भी वर्णित हैं। वैराग्यशतक संसारकी असारता, भोगोंकी दुःखरूपता तथा परमश्रेयकी इतिकर्तव्यताका प्रतिपादन करता है।

पञ्चतन्त्र—पञ्चतन्त्र तो नीतियोंका सिरमौर है। इसमें मित्रभेद मित्रसम्प्राप्ति आदि पाँच तन्त्र हैं। यह आचार्य विष्णुशर्माकी रचना है। उन्होंने राजाके मूर्ख पुत्रोंको थोड़े

ही समयमे इस पञ्चतन्त्रका पढाकर विद्या-बुद्धिस सम्पन्न बना दिया। इसम पशु-पक्षियाक माध्यमसे नीतिज्ञानकी सुन्दर बात बतायी गयी हैं। विश्वकी अनक भाषाआम इसके अनुवाद हो चुक ह। इसकी लाकप्रियता बहुत व्यापक है।

हितोपदेश—पञ्चतन्त्रकी शलीम ही उपनिबद्ध 'हितापदेश' नामक ग्रन्थ श्रीनारायण पण्डितकी रचना है। नीतिज्ञान तथा व्यावहारिक शिक्षाका यह भी एक मुख्य ग्रन्थ है। इसम पञ्चतन्त्रकी बहुत-सी कथाएँ आ गया हैं।

कथासरित्सागर तथा राजतरगिणी—'कथासरित्सागर' सामदेवकी रचना है तथा राजतरगिणी कश्मीरी प० कल्हणद्वारा विरचित ह। दोनाम कथाआक माध्यमम नीतिके तत्त्व समझाय गय हैं।

इसी प्रकार 'दशकुमारचरित' (आचार्य दण्डाकृत) भी राजपुत्राको नीतिज्ञान प्रदान करनेवाला एक साहित्यिक ग्रन्थ ह। गुणाढ्यकी बृहत्कथा आख्यान-शैलाका मुख्य ग्रन्थ ह। एसे ही क्षमन्द्रन 'बृहत्कथामञ्जरी' नामक ग्रन्थकी रचना का जा नीतिज्ञानकी शिक्षा दता है। बाणभट्टकी कादम्बराका शुकनासोपदेश' बहुत ही विलक्षण ह। कविवर गुमानीकी 'गुमानी-नीति'की बहुत प्रसिद्धि है। वशम्पायनकी 'नीतिप्रकाशिका' भा प्रतिष्ठित ग्रन्थ ह। इसी प्रकार 'नीतिवाक्यामृत' ग्रन्थ भी नीतिका प्रामाणिक ग्रन्थ है। अनेक सुभाषित-सग्रहा, सूक्तिसग्रहाम नीतिकी बहुत-सा बात सगृहीत हैं।

रामचरितमानस—'रामचरितमानस' ता जन-जनका अपना ग्रन्थ है। नीति-प्रीतिक पालक भगवान् श्रीरामकी अनुपम गाथाका इसमे गान हुआ है। नीतिके आदर्शोकी इसम व्यावहारिक प्रतिष्ठा हुई है। 'जा हाना चाहिय' वह इस ग्रन्थमे करके दिखाया गया है इसालिय यह ग्रन्थ बहुत ही मान्य हुआ है। अत इस ग्रन्थकी धर्ममय नीतिक विषयम जितना कहा जाय उतना कम है। गोस्वामीजीने इस ग्रन्थका प्रणयन करक हमारे लोक-परलाकका पथ प्रशस्त कर दिया है।

नीतिमञ्जरी—आचार्य द्याद्विवेदका 'नीतिमञ्जरा' नामक ग्रन्थ नीतिसाहित्यका सर्वोपरि ग्रन्थ है। इसकी मुख्य विशेषता यह ह कि इसम ऋग्वदक दसों मण्डलामे नातिक आख्यानाका छाँट-छाँटकर सग्रहीत किया गया ह। यदि वह आख्यान सायण भाष्य अनुक्रमणिका बृहद्देवता तथा निरुक्त अथवा ब्राह्मणग्रन्थाम विवेचित हुआ है ता उस भा साथम सकलित कर दिया गया है। आचार्यन प्रत्यक नाति-कथाक तात्पर्यार्थका श्लाकम बनाकर बड ही सरल शब्दोमें विवेचित किया है। यथा—शुन शेपक आख्यानका उन्हाने इस प्रकार दिया है—

> पितरौ हि सदा वन्द्यौ न त्यजेदपराधिनौ।
> पित्रा बद्ध शुन शेपो ययाचे पितृदर्शनम्॥
> (नीतिमञ्जरी १।११)

इस आख्यानमे निगूढ नीतिका यह तत्त्व बताया गया है कि सतानक द्वारा माता-पिता सदा ही वन्दनीय हाने चाहिय भल ही माता-पिताद्वारा सतानका कितना ही अनिष्ट हा जाय। पिताके द्वारा यूपम बाँधा गया शुन शेप भी दवताआस यही प्रार्थना करता है कि यदि आज मैं नष्ट हो जाऊँगा ता पितृदर्शन कैसे कर पाऊँगा। अत मैं माता-पिताका दर्शन करता रहूँ, इस निमित्तसे दवता मुझ जीवित रखे। कितनी उत्तम नीतिकी बातें वेदक माध्यमस इसम बतायी गया ह। यह आख्यान ऋग्वेद (१।२४।१)-म आया है। नीतिमञ्जरीम इस प्रकारकी लगभग डढ सौसे अधिक नीतिकथाएँ आयी हुई ह। नीतिमञ्जरी अत्यधिक प्रामाणिक ग्रन्थ ह और इसमे वदिक नीतिकथाआका प्रतिपादन हुआ है।

पालि-प्राकृतसाहित्य—भगवान् बुद्धके वचनाम सत्य अहिसा तथा भगवान् महावीरकी वाणियाम करुणाकी नीति ओतप्रोत है। जातककथाआम भगवान् बुद्धन बडी ही उत्तम शिक्षाएँ प्रदान का हैं। बौद्धग्रन्थ पालि तथा जैनग्रन्थ प्राकृत भाषाम उपनिबद्ध हैं।

हिन्दीसाहित्य—हिन्दीसाहित्यम कबीर सूर, तुलसी रहीम, जायसी, गिरिधर, विद्यापति एव घाघ आदिके वचनाम नीतिक पद्य आये हुए हैं जिनमे लोकज्ञानकी शिक्षा मिलती है।

इस प्रकार वदस लेकर अर्वाचीन साहित्यतक नीतिके तत्त्व सर्वत्र व्याप्त ह। इनके अध्ययन और मननसे तथा इन्हे व्यवहारम लानेस लाकजीवन ता सुधर ही जायगा परमार्थका पथ भी प्रशस्त हो सकगा।

वेदोमे नीतिशास्त्रीय सूत्र

(पद्मश्री डॉ० श्रीकपिलदेवजी द्विवेदी)

नीतिशास्त्र जीवनके व्यापक स्वरूपको प्रकट करता है। इसमे सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एव विश्वजनीन सभी विषय समाहित हैं। मनुष्यको अपने-पराये, सजातीय-विजातीय, मित्र-शत्रु, परिचित-अपरिचित आदिसे किस प्रकारका व्यवहार करना चाहिये, इसकी शिक्षा नीतिशास्त्र देता है। मानव-जीवनकी क्या उपयोगिता है? सामाजिक और राष्ट्रिय उन्नतिके क्या साधन हैं? बाह्य और आन्तरिक शत्रुओके प्रति क्या व्यवहार करना चाहिये? अनर्थकारी प्रवृत्तियोको कैसे रोका जाय? किन साधनोसे मानवकी उन्नति होती है और किन कारणोसे उसकी अवनति होती है? व्यक्ति विश्वशान्ति विश्वबन्धुत्व और विश्वसस्कृतिके उन्नयनमे क्या योगदान कर सकता है? इत्यादि विविध विषयोकी मीमासा नीतिशास्त्रके अन्तर्गत आती है—

वेदोमे इन विषयोसे सम्बद्ध सामग्री प्रचुर मात्रामे है। यहाँपर केवल परिवार समाज, राष्ट्र श्री-वृद्धि, जन-कल्याण, सगठन, अभ्युदय तथा विश्वबन्धुत्व आदि विषयोसे सम्बद्ध नीतिसूत्रोका सक्षेपमे उल्लेख किया जा रहा है—

सत्यका महत्त्व

समाज और राष्ट्रके अभ्युदयके लिये सत्यकी प्रतिष्ठा अनिवार्य है। सत्यको आधारशिलाके रूपमे प्रतिष्ठापित करनेपर ही राष्ट्रका कल्याण होता है। अथर्ववेदका कथन है कि सत्य ऋत (विश्वव्यापी प्राकृतिक नियम), दीक्षा (समर्पण) तप (अनुशासन) ब्रह्म (ज्ञान) और यज्ञ ('इद न मम'की भावना)—ये सब पृथ्वीको रोके हुए हैं—

सत्य बृहदृतमुग्र दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञ पृथिवीं धारयन्ति। (१२।१।१)

सत्यसे भूमि रुकी हुई है और ऋतसे सूर्य प्रतिष्ठित है— **सत्येनोत्तभिता भूमि०। ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति** (अथर्व० १४।१।१)। यजुर्वेदका कथन है कि यज्ञकी सफलता तभी है जब हम असत्यको छोडकर सत्यके मार्गको अपनाते हैं— **इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि** (१।५)। ऋग्वेदका कथन है कि सत्यसे जीवनमे जागृति आती है— **तेन सत्येन जागृतम्** (१।२१।६)। एक अन्य मन्त्रका कथन है कि सत्य वचन मनुष्यकी सब ओरसे रक्षा करता है— **सा मा सत्योक्ति परि पातु विश्वत ।** (ऋक्० १०।३७।२)

श्री-वृद्धि

वेदोमे अनेक मन्त्रोमे धन-वैभवकी प्राप्तिकी प्रार्थना की गयी है। यजुर्वेदका कथन है कि हम धन-वैभवके स्वामी हो— **वयꣳस्याम पतयो रयीणाम्** (१०।२०)। हम योग-क्षेम (योग—धनकी प्राप्ति, क्षेम—प्राप्त धनकी सुरक्षा) प्राप्त हो— **योगक्षेमो न कल्पताम्** (यजु० २२।२२)। ऋग्वेदका कथन है कि अवसर चूकनेवालेको धन-सम्पत्ति नहीं मिलती है— **न स्रेधन्त रयिर्नशत्** (७।३२।२१)।

श्री-वृद्धिके उपाय

वेदोमे श्री-वृद्धिके कुछ उपायोका भी उल्लेख है। उनमे कुछ उपाय ये हैं— १-चरितम्—चरित्र एव व्यवहारमे शुद्धि। इससे व्यक्ति विश्वसनीय होता है, २-उत्थितम्—अध्यवसाय, कठोर परिश्रम और साहसिक पग उठाना (Enterprise) ३-उपोह—दूरस्थ वस्तुओको क्रय करके अपने पास विक्रयार्थ रखना ४-समूह—वस्तुओका सग्रह करके रखना और ५-सूझबूझ और अवसरोचित कार्य करना—वेदमे धी (बुद्धि सूझबूझ)-को सैकडो लाभ देनेवाली देवी (शतसेय) कहा गया है। सूझबूझका सदा उपयोग करे।*

श्री-वृद्धिके साधनोमे समुद्री व्यापारका भी उल्लेख है। ऋग्वेदका कथन है कि धन-लाभकी कामनासे व्यापारी समुद्री यात्राएँ करते है। वे समीपस्थ और दूरस्थ स्थानोसे समुद्रकी यात्रा करके धन लाते हैं। (क) **समुद्रे न श्रवस्यव** (१।४८।३), (ख) **आ समुद्रादवरादा परस्मात्०** (७।६।७)।

धन और दान

अथर्ववेदका कथन है कि सौ हाथोसे धन अर्जित करो और हजार हाथोसे उसका दान करो— **शतहस्त समाहर सहस्रहस्त स किर** (३।२४।५)। ऋग्वेदका कथन है कि दानी पुरुष अमर हो जाते हैं और उनकी योजनाएँ कभी असफल नहीं होतीं— **न भोजा मम्रुर्न न्यर्थमीयु** (१०।१०७।८)। ऋग्वेदका ही कथन है कि दानी मनुष्य अमृत (अमरत्व) पाते हैं और उनकी आयु बढ जाती है— **दक्षिणावन्तो अमृत भजन्ते दक्षिणावन्त प्र तिरन्त आयु ॥** (१।१२५।६)

दान और परोपकार

ऋग्वेदके एक महत्त्वपूर्ण मन्त्रमे कहा गया है कि

* (क) शुन नो अस्तु चरितमुत्थित च॥ (अथर्व० ३।१५।४) (ख) उपोहश्च समूहश्च ताविहा वहता स्फाति बहु भूमानमक्षितम्॥ (अथर्व० ३।२४।७) (ग) इमा धिय शतसेयाय देवाम्॥ (अथर्व० ३।१५।३)

अकेला खानेवाला पापी होता है— मोघमन्नं विन्दते अप्रचेता । कवलाघो भवति केवलादी (१०।११७।६)। उसका धनी होना व्यर्थ है जो अपने इष्ट-मित्रोंकी सहायता नहीं करता। यह धन वस्तुतः उस धनीके लिये ही काल (मृत्यु) है। ऋग्वेदके ही एक मन्त्रमें कृपणको समाजका शत्रु बताते हुए उसके नाशका आदेश दिया गया है—

अपघ्नन्तो अराव्णः॥(९।६३।५)

सहयोग, सहायता

यजुर्वेदका कथन है कि प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है कि वह दूसरे व्यक्तिकी सहायता करे और कष्टमें उसे सहयोग दे—

पुमान् पुमाꣳसं परि पातु विश्वतः॥(२९।५१)

पुरुषार्थ—उद्योग

यजुर्वेदका कथन है कि मनुष्य सौ वर्षतक पुरुषार्थ करता हुआ ही जीवित रहे— कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः (४०।२)। अथर्ववेदका कथन है कि देवता पुरुषार्थीकी ही सहायता करते हैं और उसे चाहते हैं आलसीको नहीं— इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति (२०।१८।३)। अथर्ववेदका ही कथन है कि हमारे दाहिने हाथमें पुरुषार्थ हो और बायेंमें विजय— कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः (७।५०।८)।

कठोर परिश्रम

कठोर परिश्रमका महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि देवता अथक परिश्रमीकी ही सहायता करते हैं— न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः (ऋक्० ४।३३।११)। एक अन्य मन्त्रमें कहा गया है कि अथक परिश्रमसे ही दो हाथोंमें श्री और सौभाग्य होते हैं— अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः (ऋक्० १०।६०।१२)। सफलताका रहस्य बताया गया है कि अप्रमादी-अकुटिल और घोर परिश्रमीको ही सफलता मिलती है— अतन्द्रासोऽवृका अश्रमिष्ठाः (ऋक्० ४।४।१२)

परिवारमें सुख-समृद्धि

पारिवारिक सुख-समृद्धिका साधन पारस्परिक प्रेम, सहृदयता और सामञ्जस्य बताया गया है। गाय जिस प्रकार नवजात बछड़ेसे प्रेम करती है, उसी प्रकारका प्रेम परिवारके सभी व्यक्तियोंमें होना चाहिये—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥

(अथर्व० ३।३०।१)

पति-पत्नी परस्पर मधुर वचन बोलें— जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥ (अथर्व० ३।३०।२)

माता-पिता और पुत्र

पुत्रका कर्तव्य है कि वह पिताका आज्ञाकारी हो और माताका आदर करे— अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः। (अथर्व० ३।३०।२)

भाई-बहनका प्रेम

भाई अपने भाईसे प्रेम करे और बहन अपनी बहनसे। वे आपसमें कोई कटुता न रखें तथा समान विचारवाले हों और परस्पर मधुर वचन बोलें—

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥

(अथर्व० ३।३०।३)

संगठन, सह-अस्तित्व

ऋग्वेदके 'संज्ञानसूक्त'में संगठनका बहुत सुन्दर वर्णन हुआ है। मन्त्रका कथन है कि तुम मिलकर चलो, मिलकर बोलो, तुम्हारे विचारोंमें हार्दिक एकता हो— सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् (१०। १९१। २)। तुम्हारी मन्त्रणाएँ, तुम्हारी सभा-समिति, तुम्हारे मन और चित्तमें एकता हो— समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् (१०।१९१।३)। तुम्हारे विचार हृदय और मनमें एकता हो, जिससे तुम सह-अस्तित्वका सुख प्राप्त करो—

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

(ऋक्० १०।१९१।४)

आदर्श समाज

अथर्ववेदमें आदर्श समाजका सुन्दर चित्रण किया गया है। तुममें पारस्परिक शत्रुता न हो, तुम ज्ञानवान् होओ, तुम बड़ोंका आदर करो, तुम्हारा लक्ष्य एक हो, तुम परस्पर मधुर वचन बोलो, तुम सन्मार्गपर चलते हुए उच्च विचारवाले होओ—

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत०॥

(३।३०।५)

तुममें ऊँच-नीचका भेदभाव न हो, तुममें भ्रातृप्रेम हो और तुम सौभाग्यके लिये आगे बढ़ो— अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय। (ऋक्० ५।६०।५)

धार्मिक सहिष्णुता

अथर्ववेदने एक सुन्दर उदाहरण देकर धार्मिक सहिष्णुताका पाठ पढ़ाया है। जिस प्रकार पृथिवी धर्म-भेद भाषा-भेद आदिके होते हुए भी सबको एक परिवारके तुल्य पालती है, उसी प्रकार तुम भी धार्मिक सहिष्णुता आदि गुणोंको धारण करके एक परिवारके तुल्य रहो— जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।

(१२।१।४५)

कोई भूखा-प्यासा न रहे

अथर्ववेदका कथन है कि परिवार और समाजमें कोई भूखा-प्यासा न रहे तथा उसे किसी प्रकारका भय न हो—

अक्षुध्या अतृष्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन॥
(७।६०।४)

जागरूक रहे

सतत जागरूकको ही परमात्मा और मारे वेद चाहते हैं—यो जागार तमृच कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति (ऋक्० ५।४४।१४)। इसलिये सदा जागरूक रहो। अपने घरम प्रमादरहित होकर सदा जागरूक रहो—स्वे गये जागृह्यप्रयुच्छन्॥ (अथर्व० २।६।३)

उन्नति करे

वेदाका कथन है कि हम सदा उन्नति कर, कभी अवनतिकी ओर अग्रसर न हा। अथर्ववेदका कथन हे कि हे पुरुष! तेरा सदा उत्थान हो, अवनति नहीं—उद्यान ते पुरुष नावयानम् (८।१।६)। तुम अपने स्थानसे ऊपरकी ओर बढो, नीचे न गिरो—उत्क्रामात पुरुष माव पत्था (८।१।४)। ऋग्वेदम प्रार्थना की गयी है कि ह ईश! हम प्रगति और जीवनी शक्तिके लिये उच्च चरित्रवाला बनाओ—कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे। (१।३६।१४)

मधुर वचन

वेदाम मधुर वचन बोलनेका उपदेश दिया गया है। हम सदा मधुर वचन बोले—मधुमतीं वाचमुदेयम् (अथर्व० १६।२।२)। यजुर्वेदका कथन है कि परमात्माने मधुर वचन बोलनेके लिये ही मनुष्यका उत्पन्न किया है—भद्रवाच्याय प्रपितो मानुष सूक्तवाकाय सूक्ता ब्रूहि। (२१।६१)

निर्भयता

हम मित्रा और शत्रुओसे कोई भय न हो।

सारी दिशाएँ हमारे लिये मित्रवत् हों—अभय मित्रादभयम-मित्राद्"" सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु (अथर्व० १९।१५।६)। हम सब ओरसे अभय हो। हमारी प्रजा और पशुओको भी अभय प्राप्त हो—यतो यत समीहसे ततो नो अभय कुरु। श न कुरु प्रजाभ्योऽभय न पशुभ्य॥ (यजु० ३६।२२)

सद्गुण अपनाये

परमात्मा हमारे दुर्गुणाका दूर करें और सद्गुणाका दे—विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्र तन्न आ सुव (यजु० ३०।३)। सत्कर्म करनेवालेका भविष्य सुखद होता है—भद्र भवाति न पुर (अथर्व० २०।२०।६)। पापी आज जीवित है, कल नहीं रहगा—अद्य जीवानि मा श्व (अथर्व० ५।१८।२)। पापीकी श्री-वृद्धि रुक जाती है—

असमृद्धा अघायव। (अथर्व० १।२७।२)

मित्रके साथ व्यवहार

सब मुझ मित्रकी दृष्टिसे देख ओर में सबका मित्रकी दृष्टिसे देखूँ। सब परस्पर मित्रकी दृष्टिसे दखे—मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याह चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥ (यजु० ३६।१८)

जा मित्रकी सहायता नही करता, वह सच्चा मित्र नहीं है—न स सखा यो न ददाति सख्ये। (ऋक्० १०।११७।४)

देश-प्रेम

पृथ्वी हमारी माता है और हम उसक पुत्र ह—माता भूमि पुत्रो अह पृथिव्या (अथर्व० १२।१।१२)। हम देशक लिये बलिदानी हो—वय तुभ्य बलिहृत स्याम (अथर्व० १२।१।६२)। हम अपने राष्ट्रम सदा जागरूक रह आर राष्ट्र-रक्षाके काममे अग्रणी रह—वयथ्ठ राष्ट्र जागृयाम पुराहिता (यजु० ९।२३)।

स्वराज्य

ऋग्वेदका कथन है कि स्वराज्यकी पूजा करा—अर्चन्ननु स्वराज्यम् (१।८०।१)। यजुर्वेदका कथन है कि देशम स्वराज्य हो। हमे स्वतन्त्र राष्ट्र मिले—स्वराज स्थ, राष्ट्रदा राष्ट्र दत्त। (१०।४)

जन-कल्याण और विश्वबन्धुत्व

यजुर्वेदका कथन है कि स्वराज्य तभी सफल है जब जन-जनका कल्याण हा और जनता सुखी रहे— जनभृत स्थ, विश्वभृत स्थ, स्वराज स्थ (१०।४)। यह भी कहा गया हे कि जनहितके साथ ही विश्वके हितका भी ध्यान रखना चाहिये। यजुर्वेदका यह भी कथन हे कि मानवमात्रक साथ एकत्व और तादात्म्यकी अनुभूति करनी चाहिये, तभी भय एव शोक दूर होगे आर विश्वबन्धुत्वका भाव उदित हागा—यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानत। तत्र को माह क शोक एकत्वमनुपश्यत॥ (४०।७)

विश्व-कल्याण

ऋग्वेदका कथन है कि ससारके सभी मनुष्य (द्विपाद) ओर पशु (चतुष्पाद) नीरोग और सुखी रहें—द्विपच्चतुष्पदस्माक सर्वमस्त्वनातुरम् (१०।९७।२०)। यजुर्वेदम कामना की गयी है कि सारा ससार नीरोग प्रसन्नचित्त और सुखा रह—यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्व पुष्ट ग्राम अनातुरम् (१६।४८)। यथा न सर्वमिज्जगदयक्ष्मथ्ठसुमना असत्। (१६।४)। यह भी प्राथना की गयी है कि द्यावा पृथिवीपर काई भी भूखा और प्यासा न रहे एसी व्यवस्था होनी चाहिय—एय वा द्यावापृथिवी उपस्थे मा क्षुधन्मा तृपत्॥
(अथव० २।२९।४)

वेदोमे प्रतिपादित राजनीतिक आदर्श

(डॉ० श्रीनलिनीकान्तजी झा एम्० ए० (स्वर्णपदकप्राप्त), एम्० फिल्०, पी एच्० डी० एल्-एल्०बी०)

भारतीय सस्कृतिका मूल आधार वद है। मनुने स्पष्टत उद्घाषित किया है कि धर्मका एकमात्र आधार वद ही है—'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' (मनुस्मृति २। ६)। स्मृति आदिकी प्रामाणिकताका आधार भी वेद ही है अर्थात् स्मृति आदिकी जा प्रामाणिकता हे वह केवल इसलिये है कि वे वेदके प्रतिकूल नहीं हैं। अतएव वदाम प्रतिपादित राजनीतिक आदर्शोको भारतीय राजनीतिक दर्शनका आधार-स्तम्भ कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा।

वदोक्त राजनीतिक आदर्शोंकी सर्वाधिक मुख्य विशपता है राज्यशक्ति निरङ्कुश एव स्वेच्छाचारी न हाकर नियन्त्रित एव सयमित होनी चाहिये। अथर्ववेदका उद्घाप है—

प्रजापतिर्वि राजति विराडिन्द्राऽभवद् वशी॥
ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्र वि रक्षति।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवभ्य स्वराभरत्॥
(११।५।१६-१७ १९)

इन वैदिक मन्त्राका आशय यह है कि राष्ट्रकी रक्षाके लिय तपस्या ब्रह्मचर्य आर साधनाकी महती आवश्यकता है। यदि व्यक्ति-विशेषका जीवन सयम एव साधनाके अभावमे असफल हो जाता है ता व्यक्तिसमूह समाज एव राष्ट्रकी उन्नतिके लिये राष्ट्रनायका एव नागरिकाद्वारा सयम तथा नियमानुकूल आचरण ओर भी अधिक वाञ्छनीय है।

इन मन्त्रोके अनुशीलनसे यह भी स्पष्ट होता ह कि 'राष्ट्र' एव 'विधिके शासन' (Rule of Law)-की अवधारणाएँ यूरापीय सभ्यताकी देन नहीं वरन् भारतीय धरोहर हैं। अन्तर यह हे कि विधिसम्मत शासन या नियन्त्रित सरकारकी ब्रिटिश अवधारणामे कानूनद्वारा राज्यशक्तिको नियन्त्रित करनेपर बल दिया गया है जबकि भारतीय परम्परामे स्वनियन्त्रणपर बल दिया गया है, क्योंकि कानून तो परिधिमे बँधा है, जिसकी मनाऽनुकूल व्याख्या कर राज्यशक्तिका अमर्यादित प्रयोग किया जा सकता है। इसक विपरीत बाल्यावस्थासे स्वनियन्त्रण कर्तव्यपालन तथा यम-नियमादिका अभ्यास हानस विभिन्न व्यक्तिया, सघो तथा राज्यके अधिकाराकी सुरक्षा शान्ति एव सौहार्दके साथ सम्भव है।

वदोक्त सयमकी महत्ताका प्रतिपादन अन्य भारतीय वाड्मयम भी किया गया ह। उदाहरणार्थ तैत्तिराय-उपनिषद् (१। ९)-म ऋत, सत्य, स्वाध्याय तप दम शम आदिकी महत्ताका विशेष वणन हुआ है—'सत्यमिति सत्यवचा राथीतर। तप इति तपोनित्य पौरुशिष्टि। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्य। तद्धि तपस्तद्धि तप।' 'पातञ्जलयोग-दर्शन'म भी इसी तरह यम-नियमकी आवश्यकतापर बल दिया गया है। आधुनिक युगम इसी वैदिक आदर्शका अनुमादन महामना प० मदनमोहन मालवीय महात्मा गाँधी, महर्षि अरविन्द तथा लोकमान्य तिलक-जैसे महान् पुरुषाने किया।

वैदिक स्वराज्यकी अवधारणा यम-नियम-पालनके इसी आदर्शपर आधारित है। स्वराज्यका अर्थ अमर्यादित एव स्वच्छन्द व्यवहार तथा भागलिप्सा नहीं, वरन् इसका अथ मनुष्यद्वारा अपनी पाशविक प्रवृत्तिया और एषणाआपर अङ्कुश लगाना है। जब मानव अपनेको नश्वर शरीरस भिन्न नित्य आत्मतत्त्व समझकर अपनी इच्छाआ तथा वासनाआको नियन्त्रित करता है तभी वास्तविक स्वतन्त्रता एव स्वराज्यकी प्राप्ति हाती है क्याकि भोग्य वस्तुआ तथा सुख-सुविधाआकी प्राप्ति तो प्रारब्धपर निर्भर है। जब आत्मतत्त्वका समझनवाला, नीतिमान् एव सयमी मानव शासन-कार्यका सचालन करता है तभी राजनीतिक एव सामाजिक क्षेत्रोम स्वराज्यका प्रादुर्भाव हाता है। ऋग्वेदका उद्घाप है—

इत्था हि सोम इन्मद ब्रह्मा चकार वर्धनम्।
शविष्ठ वज्रिन्नाजसा पृथिव्या नि शशा अहिमर्चन्ननु स्वराज्यम्॥
(१।८०।१)

अर्थात् स्वराज्यकी प्राप्ति तभी सम्भव है जब ज्ञान और शक्तिकी सहायतासे राक्षसी प्रवृत्तियाका दमन किया जाय। ऋग्वेदम अन्यत्र वणन है—

स्वादोरित्था विषूवतो मध्व पिबन्ति गौर्य।
या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभस वस्वीरनु स्वराज्यम्॥
(१।८४।१०)

अर्थात् सर्वत्र शान्ति-सतोषके बाहुल्य तथा श्रमपालनसे ही स्वराज्यका प्राकट्य हो सकता है।

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि शान्ति-सतोष, श्रम-पालन तथा सयमके महत्त्वको भुला देनेसे आज सर्वत्र अन्याय, अत्याचार, छल-छद्मका ताण्डव नर्तन हो रहा है। आज स्वतन्त्रता समानता तथा प्रजातन्त्रके खोखले नारोके बावजूद सर्वत्र हाहाकार मचा हुआ है। आज मनुष्य भोगलिप्सा-ग्रस्त हो स्वच्छन्दताको स्वतन्त्रता (मनमानी) समझनेकी गलती कर रहा है। फलत न्याय-अन्याय धर्म-अधर्म और सत्-असत्का भेद लुप्त होता जा रहा है तथा मनुष्य 'स्व' का वास्तविक अर्थ मात्र अपने शरीरको ही समझकर घोर अशान्ति तथा आसुरी भावको प्राप्त हो रहा है।

मानवीय सभ्यताकी इस सक्रमण-वेलामे वेदप्रतिपादित राजनीतिक आदर्शोंका पालन वास्तविक स्वराज्यकी स्थापनाके लिये परमावश्यक है। वैदिक धारणाके अनुसार अपने क्षुद्र स्वार्थोंको भूलकर समस्त जनसमूह राष्ट्र तथा राजासे तादात्म्य स्थापित करनेपर ही वास्तविक स्वराज्यकी स्थापना हो सकती है। यजुर्वेदका उद्घोष है—

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याह चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥
(३६।१८)

स्वराज्यके अतिरिक्त वेदोमे जनमतके आदरपर भी बल दिया गया है। वेदोके अनुसार राजाको स्वेच्छाचारी न होकर प्रजाकी इच्छाओ, आकाङ्क्षाओ और आदर्शोंके अनुरूप आचरण करना चाहिये। दूसरे शब्दोमे राज्यका आधार केवल शक्ति नहीं वरन् जन-समर्थन भी होता है। अतएव राजनीतिक सम्प्रभुता अर्थात् जन-मतपर आधारित राजसत्ताकी अवधारणा वैदिक राजदर्शनकी देन है।

वेदप्रतिपादित राजदर्शनका एक अन्य वैशिष्ट्य है—ब्राह्मबल और क्षात्रबलका समन्वय। यजुर्वेदका कथन है—

यत्र ब्रह्म च क्षत्र च सम्यञ्चौ चरत सह।
तँल्लोक पुण्य प्रज्ञेष यत्र देवा सहाग्निना॥
(२०।२५)

ब्राह्मबल तथा क्षात्रबलके समन्वय-सम्बन्धी वैदिक आदर्शका जीवन्त प्रतिमान भगवान् श्रीराम, भगवान् श्रीकृष्ण, भीष्मपितामह आदिके उदात्त चरित्रोमे उपलब्ध होता है। वेदोमे किसी वर्ग या व्यक्तिविशेषके हाथमे शक्तिके केन्द्रीकरणका विरोध किया गया है। अथर्ववेदमे कहा गया है—

त सभा च समितिश्च सेना च०॥
(१५।९।२)

सभ्य सभा मे पाहि ये च सभ्या सभासद॥
त्वमिन्द्रा पुरुहूत विश्वमायुर्व्यश्नवत्।
(अथर्ववेद १९।५५।५-६)

अर्थात् 'राजसभाकी रक्षा होनी चाहिये। सभाके सभासद् सुसस्कृत होकर सत्य और धर्मकी रक्षा करे।' दूसरे शब्दोमे यदि सभासद् अपने स्वार्थोंके वशीभूत हो राजाके अनुचित कार्योंका विरोध नहीं करेगे तो राजाके हाथो शक्तिका केन्द्रीकरण होगा तथा प्रजा शोषित-उत्पीडित होगी। अतएव सामान्य जनके हितसवर्धनके लिये जन-सहमतिको राज्यका आधार बताया गया है—

'विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु।'

वेदप्रतिपादित स्वराज्यवाद जन-सहमति शस्त्र एव शास्त्रबलोमे समन्वय तथा विकेन्द्रीकरणका आदर्श ही आजकी स्वार्थमूलक राजनीतिसे जन-समाजको मुक्त कर सर्वताभावेन प्रगतिके पथपर समारूढ कर सकता है। महात्मा गाँधी-जैसे महापुरुषोने इन आदर्शोंका अनुपालन कर भारतको गौरवान्वित करनेका प्रयास किया। दुर्भाग्यवश स्वातन्त्र्योत्तर भारतमे इन आदर्शोंको न केवल विस्मृत कर दिया गया है वरन् पथनिरपेक्षताको धर्मनिरपेक्षताका पर्यायवाची मान लेनेसे अनैतिकता एव उच्छृखलताका सर्वत्र ताण्डव नृत्य चल रहा है। अत राष्ट्रके गौरवकी सुरक्षा देशके कल्याण तथा प्रजाकी भलाईके लिये धर्मनीतिका आश्रय लेना ही पड़ेगा।

आख्यान—

वेदप्रतिपादित नीतिके आदर्श राजा नल

कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च।
ऋतुपर्णस्य राजर्षे कीर्तन कलिनाशनम्॥*
(महा० वन० ८०।१०)

महाराज नल बड ही धर्मात्मा नीतिमान् और प्रजापालक नरपति थे। इनक राज्यम सर्वत्र धर्मका प्रचार था, कलियुगके लिये कहीं तनिक भी स्थान नहीं था। सभी युगाम चारा युग न्यूनाधिकरूपम रहते हैं, किंतु नलने कलिका एकदम अपने राज्यसे बाहर कर दिया था। इसस कलियुग नाराज होकर चला गया और उसने राजास बदला लेनेकी प्रतिज्ञा की।

एक बार महाराज नल जगलम जा रहे थे वहाँ उन्ह एक हस मिला। महाराजन उसे जिस किसी प्रकार पकड लिया।

हसने कहा—'महाराज। आप मुझे छोड द मे आपका प्रिय करूँगा।' महाराजने उसे छोड दिया। वह विदर्भ देशक महाराजकी पुत्री दमयन्तीके यहाँ गया। उन दिनो ससारभरकी समस्त राजकुमारियोमे दमयन्ती सबसे अधिक रूपवती थी। देवता भी उसे पानकी इच्छा करते थे। हसने जाकर दमयन्तीसे महाराज नलके गुणाकी प्रशसा की। दमयन्तीने मन-ही-मन महाराज नलका वरण कर लिया। देवताओन भाँति-भाँतिसे उस उसक निश्चयस डिगाना चाहा, किंतु वह दृढ बनी रही। उसन सहेलियाद्वारा यह बात अपने पितातक पहुँचा दी। पितान उसका स्वयवर रचा। स्वयवरम दमयन्तीन राजा नलक गलेम जयमाल डाल दी। महाराजका दमयन्तीक साथ विवाह हो गया। दमयन्ती बडी पतिव्रता थी। पतिकी आज्ञाके विरुद्ध वह कुछ भी नहीं करती थी। महाराज भी उसस बहुत अधिक प्रम करते थ। दमयन्तीके गर्भसे महाराजक एक कन्या और एक पुत्र हुआ।

कलियुग तो महाराजका नीचा दिखानेकी चिन्ताम था ही। एक बार महाराज अपने भाइक साथ जूआ खेल रह थे। उन्ह ध्यान ही न रहा कि जूएम कलियुगका निवास है। कलिको अच्छा अवसर मिला वह पासमे आकर बैठ गया। महाराज नलकी बराबर हार होती रही। यहाँ तक कि वे राज-पाट धन-धान्य महल-सवारी सब हार गय। उनके भाईन उनको स्त्रीसहित एक-एक वस्त्र देकर घरसे निकाल दिया। महाराजन पुत्र और पुत्रीको तो विदर्भ भेज दिया और स्वय रानी-सहित जगलाम भूख-प्यासे भटकने लग। उनक पास खानेके लिय कोई वस्तु नहीं थी भूखके कारण व्याकुल हो गये। रानी भूख-प्याससे दुखी होकर अत्यन्त थकावटक कारण एक वृक्षके नीचे सो गयी। महाराज उदास मनसे सोच रहे थे कि अब क्या कर। इतनेम ही कलियुग सोनेका पक्षी बनकर इधर-उधर घूमने लगा। महाराजने उसे पकडनेके लिये अपनी धोती फकी। वह तो कलियुगका रूप था। महाराजके पास एक धोती थी उसे भी लेकर उड गया। महाराज बहुत घबडाये उन्होने सोती हुइ रानीका आधी धोती फाडकर पहन ली और उसे यो ही सोती छोडकर चल दिय। आगे चलकर उन्ह एक जगलमे आग लगी हुई दिखायी दी उसमे एक नाग जल रहा था। उसने राजासे प्रार्थना की कि मुझे उठा लो। राजाने उसे वहाँसे उठाकर दूसरी जगह रख दिया रखते ही उसन

* कर्कोटक नाग दमयन्ती नल और ऋतुपर्ण राजर्षि—इनका कीर्तन करनेसे कलिका प्रभाव नहीं पडता।

महाराज नलको काट लिया। उसक काटनस महाराजका शरीर काला पड गया और उनका रूप एकदम बदल गया। महाराजने कहा—

'तुमन यह क्या कृतघ्नता की?' उसने कहा—'मैं कर्कोटक नाग हूँ, मैंन आपका उपकार ही किया है इससे आपको कोई ओर पहचान नहीं सकेगा।' कर्कोटकने राजाको एक वस्त्र दिया ओर कहा कि आप जब इस पहन लगे तब आपको अपना असला रूप फिर प्राप्त हा जायगा। महाराज नलने वहाँसे जाकर अयोध्याक नरेश महाराज ऋतुपर्णके यहाँ रथ हाँकनेको नौकरी कर ली।

इधर दमयन्ती किसी तरह घूमती-घामती अपन पिताके घर जा पहुँची। उसके पिताने देश-विदश दूत भेजकर नलका पता लगवाया। एक दूतस पता चला कि वे अयोध्यानरेशके यहाँ नोकर हैं। उनका रूप बदला हुआ था इसलिये राजान परीक्षाके निमित्त दमयन्तीके दूसरे स्वयवरकी घोषणा की और समय एक ही दिनका रखा। उसम राजा ऋतुपर्णको भी बुलाया गया। महाराज नल तो अश्वविद्याके आचार्य हा थे उन्हाने समयस पहल ही राजाको विदर्भ देशम पहुँचा दिया। दमयन्तीने कई प्रकारसे अपने पतिकी परीक्षा करके अपन पिताको वता दिया कि य व ही ह। तव राजाने नलकी विधिवत् पूजा की। अयोध्याधिपति महाराज ऋतुपर्णने भी उन्ह पहचानकर उनका सत्कार किया, उनस अश्वविद्या सीखी ओर उन्ह द्यूतविद्या सिखायी।

महाराज ऋतुपर्णसे द्यूतविद्या सीखकर नल अपनी राजधानी गये, वहाँ उन्हाने भाईस फिर द्यूत खेला और अपना सव राज-पाट जीतकर वे फिर राजा हुए।

महाराज नल पुण्यश्लोक क्या हुए? इसीलिय कि उन्हान अपन धर्मको नहीं छोडा। दुष्ट लोगापर कोइ विपत्ति पडती है तो व मयादाधर्मका छोडकर भाँति-भाँतिक पापमय उपायास उस हटानेकी चष्टा करते हैं किंतु जा धर्मात्मा एव सन्नीतिक परिपालक हाते है व कैसी भी विपत्ति आ जाय उस दृढतासे सहन करते हैं—

'विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रम ।'

महाभारतम वताया गया ह कि जसे दवराज इन्द्र सम्पूर्ण देवताओके सिरमौर ह, उसी प्रकार राजा नलका स्थान सभी राजाओके ऊपर ह। वे तजम भगवान् सूयक समान, ब्राह्मणभक्त, वेदवत्ता शूरवीर तथा सत्यवादा थे। वे प्रजाजनाके रक्षक ओर धनुर्धराम साक्षात् मनुक समान थे (महा०, वन० ५३)। वे धर्मनीतिपूर्वक प्रजाका पालन करते थ। उनके राज्यमे सारी प्रजा सव प्रकारसे सुखी थी—

अरञ्जयत् प्रजा वीरो धर्मेण परिपालयन्।
(महा० वन० ५७।४४)

उन्हाने अनेक यज्ञ-यागादिका अनुष्ठान किया। देवता स्वय उनक राजोचित गुणाका वर्णन करत हुए कहते हैं कि राजा नलने भलीभाँति ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करक चारा वेदा तथा पञ्चम वेद समस्त इतिहास-पुराणका भी अध्ययन किया ह। वे सब धर्मोका जाननेवाले है। उनके यहाँ देवयज्ञ, पितृयज्ञ आदि पञ्चयज्ञाद्वारा देवता पितृगण तथा अतिथिगण सदा तृप्त रहते हैं। वे अहिसापरायण सत्यवादी तथा दृढतापूर्वक व्रतका पालन करनेवाल हैं। उनम दक्षता धैर्य ज्ञान, तप शाच, शम और दम आदि गुण नित्य निवास करते हैं। (महा० वनपर्व अ० ५८)

मनुस्मृतिमे नीतितत्त्वोपदेश

(डॉ० श्रीरामेश्वरप्रसादजी गुप्त एम्०ए०, अध्यक्ष-संस्कृतविभाग)

धर्मशास्त्रामे मनुस्मृति प्रमुखरूपसे मान्य है। 'वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्य हि मनो स्मृतम्' (मनु० १।१ की मन्वर्थमुक्तावली टीका) तथा 'यत्कि च मनुरवदत् तद्भेषज भेषजताया' (ताण्ड्य० २३।१६।७) आदिके अनुसार राजर्षि मनुके वचन सर्वोपरि मान्य हैं। समाजका सुचारुरूपसे व्यवस्थित करनेके लिये इसमे उल्लिखित नीतितत्त्व सर्वोपरि साधन हैं। एक आदर्श एव श्रेष्ठ समाजकी सरचना तथा स्थापनाके लिये इस शास्त्रमे निर्दिष्ट नीतितत्त्व सभी मनुष्याद्वारा अनिवार्यरूपसे आचरणीय और अनुकरणीय है। कुछ नीतिवचन इस प्रकार है—

(१) सर्वसमभाव—मनुस्मृति समन्वकी उपदेष्टा है। एक आदर्श समाजके लिये आवश्यक है कि मनुष्य मानवीय तत्त्वाके आधारपर समान दृष्टिसे उपेत हो एव सभीसे स्नेह तथा सौहार्दपूर्ण व्यवहार करे। मनुका कथन है—जो सभी मनुष्याको समानभावसे देखता है, सम्पूर्ण जीवामे परमात्मतत्त्वका दर्शन करता है एव अपने समान ही सबसे व्यवहार करता है, वही मानव कहलाने योग्य है तथा वही शान्ति या मोक्ष-प्राप्तिका अधिकारी होता है। यथा—

एव य सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति पर पदम्॥
(१२।१२५)

(२) कर्मभावके फलके प्रति असङ्ग एव करणीय कर्माभिरुचिका नैतिक उपदेश—मनीषी मनुने मानव-जीवनके साफल्यके लिये कर्मफलकी इच्छानुरक्तिको श्रेष्ठ नहीं कहा है—

कामात्मता न प्रशस्ता०। (२।२)

मनुका कथन है कि नैतिक एव शास्त्रोक्त कर्मानुरक्तिसे मनुष्य शान्ति या मोक्ष-प्राप्तिका अधिकारी बन जाता है—

तेषु सम्यग्वर्तमानो गच्छत्यमरलोकताम्।
यथा सङ्कल्पिताश्चेह सर्वान्कामान्समश्नुते॥
(२।५)

(३) जीवनकी सार्थकताका आधार सयम—मनुने मनुष्यको अपना जीवन सफल बनानेके लिये सयमकी नीतिका आश्रय ग्रहण करनेपर विशेष बल दिया है। उनकी दृष्टिमे मानव-जीवनकी धन्यताके लिये इन्द्रियसयम एव विषयविरक्ति अपेक्षित है—

इन्द्रियाणा प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसशयम्।
सनियम्य तु तान्येव तत सिद्धि नियच्छति॥
(२।९३)

अर्थात् इन्द्रियाके विषयो (शब्द स्पर्श, रूप, रस और गन्ध)-मे आसक्त होकर मनुष्य अवश्य ही दोषका भागी होता है। इन इन्द्रियोको वशमे करके ही मनुष्य सिद्धिको प्राप्त करता है और भी—

न जातु काम कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
(२।९४)

अर्थात् विषयाके उपभोगसे इच्छा कभी भी शान्त नहीं होती, अपितु घृतसे अग्निकी भाँति वह इच्छा बढती ही जाती है। इस प्रकार मनुने मानवमात्रको शान्ति एव सुखकी प्राप्तिके लिये सतोष तथा अनासक्तभावकी नीति भी प्रस्तुत की।

(४) मनुकी धर्मनीति—मनुने धर्मके कलेवरको पूर्णत स्पष्ट, निर्मल तथा अविवादित रूपसे मानवसमाजके समक्ष प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार धर्म या धर्मका स्वरूप एव धर्मनीति इस प्रकार है—

धृति क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशक धर्मलक्षणम्॥
(६।९२)

मनुके मतमे धर्म मात्र दस गुणो या सुनीतियाका स्वरूप है। इन्हीं सुनीतियाका सधान कर तदनुसार व्यवहार एव आचरण करनेवाला व्यक्ति ही धर्मानुयायी है।

सत्यनीतिको मनुने मृदु व्यवहारके साथ सयुक्त करके कहा है—

सत्य ब्रूयात्प्रिय ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रिय च नानृत ब्रूयादेष धर्म सनातन ॥
(४।१३८)

इस प्रकार सत्यके साथ मधुर गुणको जोडकर मनुने मानवको मानवताकी नैतिक अनुकरण-हेतु

उत्प्रेरित किया ह।

(५) धनार्जनकी नीति—मनुकी धर्मानुकूल धनार्जन-नीति समग्र समाजके लिय सुखका ता आधार है ही, समाजम शान्ति, समृद्धि, समुन्नति एव मानव-समुत्कर्षकी भी श्रेयस्कर साधना है। मनु समस्त मानव-समाजको अर्थनीतिसे अवगत कराते हुए प्रत्येक मनुष्यको सचेत करते हैं कि समस्त शुद्धियाम धनका शुद्धि ही श्रेष्ठ शुद्धि है, अर्थात् न्यायोचित रीतिसे उपार्जित धन ही शुद्ध एव श्रेष्ठ धन है एव वही उपभाग्य है। जा व्यक्ति धनस शुद्ध है अर्थात् जिसन अन्यायम धनार्जन नहीं किया है, वह धनशुद्ध व्यक्ति ही शुद्ध या पवित्र है। जो व्यक्ति केवल मिट्टी-जल आदि (बाह्य साधना)-से शुद्ध होता है, परतु धनसे शुद्ध नहीं है अर्थात् अनैतिक रूपस या अन्यायसे धनार्जन करता है, वह व्यक्ति शुद्ध नहीं होता अपितु अपवित्र है और वह अस्पृश्य है। स्पष्ट उल्लेख ह—

सर्वेपामेव शौचानामर्थशोच पर स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचि शुचि ॥
(५।१०६)

मनुस्मृतिके उपर्युक्त नीतितत्त्वोपदश मानव-समाजको उचित दिशा-निर्देश करत हैं। उपर्युक्त नीतितत्त्व एक आदर्श सुखी शान्त, समृद्ध एव अध्यात्मवादी तथा समुन्नत समाजकी सुस्थापनाके लिये साररूप सशक्त साधन हैं, अतएव ये नीतिनियम सभी व्यक्तियाद्वारा अपन श्रयके लिये अनुकरणीय एव आचरणीय है।

गरुडपुराणकी नीतिसारावली

(डॉ० श्रीमुकुन्दपतिजी त्रिपाठी 'रत्नमालीय')

सर्वेषा मङ्गल भूयात् सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु खभाग्भवेत्॥
(गरुडपुराण २१।३५।५२)

सभीका मङ्गल हो सभी नीरोग हो सभी मङ्गलका ही दर्शन करं, किसीको भी कोइ दु ख न हा—इस मङ्गल-कामनाका उद्घोष करनेवाला 'गरुडपुराण' पुराण-वाङ्मयका एक अनघ्य रत्न है। 'वैष्णवी वाक्सुधारूप' यह ग्रन्थ हरिभक्ति, सदाचार और आरोग्य-विमर्शकी पावन त्रिवणा है। इसका 'आचारकाण्ड' विशेपरूपस जीवनका सजाने-सँवारनेवाली अनमोल शिक्षाआसे भरा-पूरा है। इसके 'भुवनकोप-वर्णन' म यदि भारतका एतिहासिक मानचित्र है तो 'नीतिसार' (अ० १०८ से ११५), 'धर्मसार' (अ० २१३) एव 'गीतासार' (अ० २२१)-म स्वस्थ सुसगत भारतीय जीवन-पद्धति एव विचारसरणिका सारग्राही समावेश मिलता है। जप-तप-व्रत-नियम अनुष्ठानविधि, प्रायश्चित्तविधान श्राद्धनिरूपण, शिव-विष्णु-सूर्य-गणश-दुर्गा-लक्ष्मी-गायत्री-विपयक स्तोत्रादिसे सवलित यह रचना रामायण-महाभारतादिके रोचक आख्यानासे भी समृद्ध है। इसम 'बार्हस्पत्य नीतिशास्त्र' तथा 'शोनकीय नीतिसार' का विशद विवेचन हुआ है जिसका सक्षिप्त सारतर अभिलेख यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

सद्भि सङ्ग प्रकुर्वीत सिद्धिकाम सदा नर।
नासद्भिरिहलाकाय परलोकाय वा हितम्॥
(१०८।२)

सिद्धिकी कामना रखनवाले मनुष्यका सज्जनाकी सगति करनी चाहिये। असज्जनाकी सगतिस न ता इस लाकमे कल्याण होता है न परलोकमे ही। असज्जन-ससर्ग उभय लाक-विनाशक है।

सद्भिरासीत सतत सद्भि कुर्वीत सङ्गतिम्।
सद्भिर्विवाद मैत्रीं च नासद्भि किञ्चिदाचरेत्॥
(११३।२)

सर्वदा सज्जनाके साथ रहना चाहिये उनकी सगति करनी चाहिये। विवाद तथा मैत्री भी सज्जनाके साथ ही करनी चाहिये। दुर्जनाके साथ कुछ भी नहीं करना चाहिये।

विप्राणा भूपण विद्या पृथिव्या भूपण नप।
नभसो भूपण चन्द्र शील सर्वस्य भूषणम्॥
(११३।१३)

ब्राह्मणाका भूपण विद्या ह, पृथ्वीका भूपण राजा ह आकाशका भूपण चन्द्रमा है और शील सभीका भूपण ह।

तन्मङ्गल यत्र मन प्रसन्न
तज्जीवन यत्र परस्य सवा।

तदर्जित यत्स्वजनेन भुक्त
तद्गर्जित यत्समरे रिपूणाम्॥

(११५। ५४)

मङ्गल वही हे जिसम मन प्रसन्न रहे, जीवन वही है जा परसेवारत हो उपार्जन वही हे जिसे स्वजनाके साथ मिल-बैठकर उपभोग किया जाय ओर गजना वही है जो समर-भूमिम शत्रुआक समक्ष हो।

अधमा कलिमिच्छन्ति सन्धिमिच्छन्ति मध्यमा ।
उत्तमा मानमिच्छन्ति मानो हि महता धनम्॥

(११५। ११)

अधम मनुष्य कलह एव विवादप्रिय हाते हैं, मध्यम कोटिके पुरप सन्धिकी कामना करत हैं, किंतु उत्तम कोटिके मनुष्य मानकी ही कामना करते हैं। सम्मान ही महानुभावाका परम धन है।

वनेऽपि सिंहा न नमन्ति कर्णं
बुभुक्षिता नाशनिरीक्षण च।
धनैर्विहीना सुकुलेपु जाता
न नीचकर्माणि समारभन्ति॥

(११५। १४)

वनम भूखे रहनपर भी सिह कान झुकाकर किसीक द्वारा दिय गये टुकडकी ओर नहीं निहारत। उसी प्रकार धनरहित रहनेपर भी उत्तम कुलके व्यक्ति नीच कार्योम प्रवृत्त नहीं हात।

कुले नियोजयेद् भक्त पुत्र विद्यासु योजयेत्।
व्यसने योजयच्छत्रुमिष्ट धर्मे नियोजयत्॥

(११०। १०)

भक्त-अनुरक्तजनाका परिवारकी सवाम लगाना [illegible] पुत्रको विद्यापाजनम प्रवृत्त करना चाहिय। शत्रुको कष्टप्रद कार्योम एव मित्रजनाका धर्मकार्योमें लगाना चाहिये।

कुसुमस्तबकस्येव द्वे गती तु मनस्विन ।
मूर्ध्नि वा सर्वलोकाना शीर्यत पतिता वन॥

(११०। १३)

मनस्वी व्यक्तियोंकी पुष्प गुच्छकी भाँति दो प्रकारकी [illegible] हैं [illegible] सभी [illegible] सिरपर सुशोभित [illegible] हैं अथवा एकान्तमें ही मुरझाकर [illegible] हैं।

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च।
नेत्रवक्त्रविकाराभ्या लक्ष्यतेऽन्तर्गत मन ॥

(१०९। ५२)

व्यक्तियाक मनोभावाका ज्ञान आकार गति इङ्गित चेष्टा वाणी, नेत्र-मुखके विकाराके द्वारा होता ह। हाव-भाव मनुष्यके अन्तस्तमके परिचायक हैं।

स जीवति गुणा यस्य धर्मो यस्य स जीवति।
गुणधर्मविहीनो यो निष्फल तस्य जावनम्॥

(१०८। १७)

वहा व्यक्ति वास्तविक रूपम जीता ह जिसके गुण धर्म जीवित रहते हैं। जो गुण-धर्म-विहान है, उसका जीवन निष्फल है।

त्यजदेक कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुल त्यजेत्।
ग्राम जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥

(१०९। २)

कुलकी रक्षाक लिये व्यक्तिविशेषका और ग्रामकी रक्षाक लिये कुलका परित्याग कर दना चाहिय। जनपदक कल्याणके लिये ग्रामका ओर आत्मकल्याणक लिय सारा पृथ्वीका परित्याग कर दना चाहिय।

आपत्सु मित्र जानीयाद् रण शूर रह शुचिम्।
भार्यां च विभव क्षीण दुर्भिक्षे च प्रियातिथिम्॥

(१०९। ८)

आपत्तिकालम मित्रका रणभूमिम शूरका आर एकान्तम चारित्रिक पवित्रताका परखना चाहिय। धन क्षीण हानपर पत्नी एव अभावग्रस्त क्षणाम अतिथि-सत्कार-परायणताका पराक्षा करनी चाहिय।

वृक्ष क्षीणफल त्यजन्ति विहगा
शुष्क सर सारसा
निर्द्रव्य पुरुष त्यजन्ति गणिका
भ्रष्ट नृपं मन्त्रिण ।
पुष्प पर्युषित त्यजन्ति मधुपा
दग्धं वनान्तं मृगा
सर्वे कार्यवशाज्जना हि रमन्त
कस्यास्ति वो वल्लभ ॥

(१०९। ०)

[illegible] फल [illegible] वृक्षका परित्याग कर [illegible]

हैं, सरोवरके सूखनेपर सारस अन्यत्र चले जाते है निर्धन पुरुषोंको वेश्याएँ छोड देती हैं, राज्यहीन राजाका परित्याग उसके मन्त्रिगण कर देते हैं। बासी-मुरझाये पुष्पोंकी उपेक्षा कर भौंरे उड जाते हैं और दावाग्निदग्ध जगलको छोडकर पशु अन्यत्र चले जाते हैं। इस ससारमे कोई किसीका प्रियपात्र नहीं है केवल स्वार्थसिद्धिके लिये ही लोग प्रेम-नाट्य करते हैं।

स बन्धुर्यो हिते युक्त स पिता यस्तु पोषक ।
तन्मित्र यत्र विश्वास स देशो यत्र जीव्यते॥
(१०८। १५)

वही बन्धु है जो हितकारी है, वही पिता है जो भरण-पोषण करता है, वही मित्र है जिसपर विश्वास है और वही स्वदेश है जहाँ आजीविका प्राप्त होती है।

अदृष्टपूर्वा बहव सहाया
सर्वे पदस्थस्य भवन्ति मित्रा ।
अर्थैर्विहीनस्य पदच्युतस्य
भवत्यकाले स्वजनोऽपि शत्रु ॥
(१०९। ७)

उच्च पदपर आसीन व्यक्तिके, पूर्वकालमे सर्वथा अज्ञात-अदृष्ट अनेक मित्र प्रकट होने लगते हैं। इसके विपरीत जब वह अर्थहीन हो जाता है तो उसके स्वजन भी शत्रुवत् हो जाते है।

त्यज दुर्जनससर्गं भज साधुसमागमम्।
कुरु पुण्यमहोरात्र स्मर नित्यमनित्यताम्॥
(१०८। २६)

दुर्जनोकी सङ्गति छोड दो साधु-समागमका आश्रयण करो। रात-दिन पुण्यकर्म करो और प्रतिपल ससारकी अनित्यताका चिन्तन करो।

शनैर्विद्या शनैरर्था शनै पर्वतमारुहेत्।
शनै काम च धर्म च पञ्चैतानि शनै शनै ॥
(१०९। ४६)

विद्या और धनका धीरे-धीरे सचय करना चाहिये। धीरे-धीरे ही पर्वतपर चढना चाहिये। धर्म और काम इन दोनोका सेवन भी धीरे-धीरे ही करना चाहिये। अर्थात् इन पाँचो कर्मोमे शीघ्रता अपेक्षित नहीं है।

उपकारगृहीतेन शत्रुणा शत्रुमुद्धरेत्।
पादलग्न करस्थेन कण्टकेनैव कण्टकम्॥
(११०। २१)

उपकारद्वारा वशमे किये गये शत्रुके माध्यमसे शत्रुका उद्धार करना चाहिये, जैसे पैरमे गडे काँटेका हाथमे लिये काँटेकी सहायतासे निकाला जाता है।

वाग्यन्त्रहीनस्य नरस्य विद्या
शस्त्र यथा कापुरुषस्य हस्ते।
न तुष्टिमुत्पादयते शरीरे
अन्धस्य दारा इव दर्शनीया ॥
(११०। २)

वाणीविहीन मनुष्यकी विद्या कापुरुष (डरपोक)-के हाथमे रखे गये शस्त्रकी तरह निष्फल है। उसका उसी भाँति कोई फल नहीं निकलता, जैसे दर्शनीय नारियोके रूप-सौन्दर्यका कोई प्रभाव अन्धे मनुष्यापर नहीं पडता।

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासङ्कटे।
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटन कारित
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नम कर्मणे॥
(११३। १५)

उस महामहिम कर्मको नमस्कार है जिससे प्रेरित होकर ब्रह्माजी कुम्भकारकी तरह ब्रह्माण्ड-सरचनामे सलग्न रहते हैं, भगवान् विष्णु दशावतार ग्रहण करनेहेतु घोर सकट सहन करनेके लिये बाध्य हैं, देवाधिदेव महादेव हाथमे कपाल लिये भिक्षाटन करनेको विवश हैं तथा भगवान् भुवनभास्कर जिसकी प्रेरणासे नित्य ही गगन-मण्डलमे सचरण करनेको उद्यत रहते हैं।

सर्वं परवश दु ख सर्वमात्मवश सुखम्।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षण सुखदु खयो ॥
(११३। ६०)

जो दूसरेके अधीन है वही दु खी है जो अपने अधीन है वही सब सुखस्वरूप है। सुख-दु खका यही लक्षण सक्षेपमे जानना चाहिये।

यत्र स्नेहो भय तत्र स्नेहो दु खस्य भाजनम्।
स्नेहमूलानि दु खानि तस्मिंस्त्यक्ते महत् सुखम्॥
(११३। ५९)

जहाँ स्नेह है वहाँ भय है। स्नेह ही दु खका हेतु है। सभी मानसिक दु ख उससे ही उत्पन्न होते है। स्नेहासक्तिके परित्यागसे महान् सुखका प्राप्ति होती है।

भूतपूर्व कृत कर्म कर्तारमनुगच्छति।
यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्॥
(११३। ५४)

पूर्वकालम किया हुआ कर्म कर्ताका उसी प्रकार अनुगमन करता ह, जिस प्रकार हजारा गायोके बीच भी बछडा अपनी मॉको ढूँढकर उसीके पास चला जाता है।

नीच सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यति।
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति॥
(११३। ५७)

नाच व्यक्ति दूसरोके सरसा बराबर छोटे छिद्राको दखता ह, किंतु अपने बेलके समान बडे दोपपर भी उसकी दृष्टि नही जाती।

दुर्जन परिहर्तव्यो विद्ययाऽलङ्कृतोऽपि सन्।
मणिना भूपित सर्प किमसा न भयङ्कर॥
(११२। १५)

विद्या-विभूपित होनेपर भी दुर्जनका परित्याग कर दना चाहिये क्याकि मणिसे अलकृत सर्प भयकर ही होता ह।

धीरा कष्टमनुप्राप्य न भवन्ति विपादिन।
प्रविश्य वदन राहो कि नोदति पुन शशी॥
(१११। २४)

धीर पुरुप कष्टम पडनेपर विपाद नहीं करते। क्या राहुग्रस्त चन्द्रमा पुन उदित नहीं होता?

सद्भावेन हि तुष्यन्ति देवा सत्पुरुपा द्विजा।
इतरे खाद्यपानेन मानदानन पण्डिता॥
(१०९। ११)

दवता, सत्पुरुप ओर ब्राह्मण सद्भावसे अन्य कोटियके प्राणी खान-पानसे एव पण्डितजन सम्मानदानसे सतुष्ट होत हैं।

उद्योग साहस धैर्यं बुद्धि शक्ति पराक्रम।
पड्विधो यस्य उत्साहस्तस्य देवाऽपि शङ्कते॥
(१११। ३२)

जिस व्यक्तिक पास उद्याग साहस धैर्य, बुद्धि शक्ति आर पराक्रमरूपी पड्विध उत्साह रहता ह उसका अनिष्ट करनम देवता भी हिचकत हैं।

न दवेभ्यो न विप्रभ्यो बन्धुभ्यो न चात्मनि।
कदर्यस्य धन याति त्वग्नितस्कराजसु॥
(१०९। २७)

कृपण पुरुपका धन दव विप्र बन्धुक कामम या स्वय अपने कामम नहीं लगना। अग्नि चार और राजाद्वारा उसका हरण किया जाता है।

सञ्चित क्रतुशतैर्न युज्यते याचित गुणवत न दायत।
तत् कदर्यपरिरक्षित धन चारपार्थिवगृहे प्रयुज्यत॥
(१०९। २६)

कृपणद्वारा सचित धन सेकडा यज्ञाम नहीं लगता आर न याचना करनेपर किसी गुणवान्को ही दिया जाता है, वह कृपणद्वारा रक्षित धन तो चोरो और राजाक हा घरोंम यथेच्छरूपम उपभुक्त होता हे।

सा भार्या या गृहे दक्षा सा भार्या या प्रियवदा।
सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या पतिव्रता॥
(१०८। १८)

पत्नी वही ह जा गृहकार्योम दक्ष हो मधुर वचन बोलती हो जिसके प्राण पतिमे बसत हा आर जो पतिव्रता हो।

दुष्टा भार्या शठ मित्र भृत्यश्चोत्तरदायक।
ससर्पे च गृहे वासो मृत्युरेव न सशय॥
(१०८। २५)

दुष्टा पत्नी, शठ मित्र ओर उत्तर देनवाला सेवक— य तीना ही विनाशकारी हैं। जिस प्रकार सर्पयुक्त घरमें निवास करनेवालेकी मृत्यु निश्चित रहती हे वेस ही उपर्युक्त जनोक सङ्गसे नुकसान होता है।

विपादप्यमृत ग्राह्यममेध्यादपि काञ्चनम्।
नीचादप्युत्तमा विद्या स्त्रीरत्न दुष्कुलादपि॥
(११०। ८)

विपमसे भी अमृत अपवित्र स्थलम भी पडा स्वर्ण नीच व्यक्तियासे भी उत्तम विद्या तथा अनुत्तम कुलस भी स्त्री-रत्न ग्रहण कर लेना चाहिय।

यदीच्छेच्छाश्वतीं प्रीति त्रीन् दोपान् परिवर्जयेत्।
द्यूतमर्थप्रयाग च परोक्षे दारदर्शनम्॥
(११४। ५)

यदि अविच्छिन्न—स्थायी प्रमभावकी कामना हो तो तीन दोपाका परित्याग कर दना चाहिये— १-जुआ खेलना २-धनका लन-दन तथा ३-किसी व्यक्तिकी अनुपस्थितिम उसकी स्त्रीका दर्शन।

एकनापि सुपुत्रेण विद्यायुक्तेन धीमता।
कुल पुरुपसिहन चन्द्रण गगन यथा॥
(११४। ५६)

एक ही विद्वान् सुपुत्रक उत्पन्न हानसे कुल शाभायुक्त हा जाता है जिस प्रकार अकला चन्द्रमा आकाश-

मण्डलको सुशोभित कर देता है।

नवे वयसि य शान्त स शान्त इति मे मति ।
धातुषु क्षीयमाणेषु शम कस्य न जायते॥

(११४। ७३)

नवीन युवावस्थामें जो शान्तचित्त रहे, उसे ही शान्त मानना चाहिये क्योंकि सातों धातुओंके क्षीण हो जानेपर किसकी प्रकृति शान्त नहीं हो जाती?

यज्जीव्यते क्षणमपि प्रथित मनुष्यै-
र्विज्ञानविक्रमयशोभिरभग्नमानै ।
तन्नाम जीवितमिति प्रवदन्ति तज्ज्ञा
काकोऽपि जीवति चिर च बलि च भुङ्क्ते॥

(११५। ३३)

विज्ञान, विक्रम एव विमल यशयुक्त क्षणभर जीना भी सुविज्ञ पुरुषोंकी दृष्टिमें जीवित रहना माना जाता है। कौवेकी तरह चिरकालतक जीने और बलि खानेवाले जीवनको तत्त्वदर्शी जन नाममात्रका ही जीवन मानते हैं।

अत्यम्बुपान कठिनाशन च
धातुक्षयो वेगविधारण च।
दिवाशया जागरण च रात्रौ
षड्भिर्नराणा प्रभवन्ति रोगा ॥

(११४। २८)

अत्यधिक जल पीने, गरिष्ठ भोजन करने धातु क्षीण होने, मल-मूत्रादिका वेग धारण करने, दिनमें सोने और रात्रिमें जागने—इन छ कारणोंसे मनुष्य रोगयुक्त होते हैं।

एकवृक्षे सदा रात्रौ नानापक्षिसमागम ।
प्रभातेऽन्यदिश यान्ति तत्र का परिदेवना॥

(११३। ४६)

जिस प्रकार नाना प्रकारके पक्षी रात्रि होनेपर किसी एक वृक्षका सदा आश्रय लेते हैं और प्रात काल होनेपर विभिन्न दिशाओंमें उड जाते हैं, उस वृक्षको छोडनेका पछतावा नहीं करते, उसी प्रकार ससार-यात्रापर आये हुए जीवोंको मृत्युकालमें घर-परिवारके वियोगसे खिन्न नहीं होना चाहिये।

दाता बलिर्याचनको मुरारि-
र्दान मही विप्रमुखस्य मध्ये।
दत्त्वा फल बन्धनमेव लब्ध
नमोऽस्तु ते दैव यथेष्टकारिणे॥

(११३। १६)

दैवकी महिमा बडी विचित्र है। वह अपनी इच्छाके अनुरूप कार्य करा लेता है। बलिके समान दाताद्वारा मुरारिके समान सत्पात्र याचकको प्रख्यात विप्रमण्डलीके समक्ष विस्तृत पृथ्वीका दान देनेपर भी बन्धन ही तो प्राप्त हुआ।

पुराधीता च या विद्या पुरा दत्त च यद्धनम्।
पुरा कृतानि कर्माणि ह्यग्रे धावन्ति धावत ॥

(११३। २४)

पूर्वकालमें पढी हुई विद्या, पूर्वकालमें दिया गया दान एव पूर्वकृत कर्म मनुष्यके आगे-आगे चलते हैं।

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वत ।
नित्य सन्निहितो मृत्यु कर्तव्यो धर्म सञ्चय ॥

मानव-शरीर क्षणभङ्गुर है, धन-सम्पत्ति स्थायी नहीं है मृत्यु सुनिश्चित एव साथ-साथ चलनेवाली है ऐसा सोचकर धर्म-सग्रह करना चाहिये।

सकृदुच्चरित येन हरिरित्यक्षरद्वयम्।
बद्ध परिकरस्तेन मोक्षाय गमन प्रति॥

(११४। ३)

जिसने 'हरि' इन दो अक्षरोंका उच्चारण कर लिया उसने मोक्ष प्राप्त करनेके लिये मानो अपने कमरमें फेंटा कस लिया।

विद्याओंकी अधिष्ठात्री देवी भगवतीको नमस्कार

विद्या समस्तास्तव देवि भेदा स्त्रिय समस्ता सकला जगत्सु।
त्वयैकया पूरितमम्बयैतत् का ते स्तुति स्तव्यपरा परोक्ति ॥
या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण सस्थिता। नमस्तस्यै॥ नमस्तस्यै॥ नमस्तस्यै नमो नम ॥

देवि! सम्पूर्ण विद्याएँ तुम्हारे ही भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं। जगत्में जितनी स्त्रियाँ हैं वे सब तुम्हारी ही मूर्तियाँ हैं। जगदम्ब! एकमात्र तुमने ही इस विश्वको व्याप्त कर रखा है। तुम्हारी स्तुति क्या हो सकती है? तुम तो स्तवन करने योग्य पदार्थोंसे परे एव परा वाणी हो।

जो देवी सब प्राणियोंमें बुद्धिरूपसे स्थित है उनको नमस्कार, उनको नमस्कार, उनको बारम्बार नमस्कार है।

आनन्दरामायणके नीति-विषयक उपदेश

(आचार्य श्रीसुदर्शनजी मिश्र)

चरित रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्।
एकैकमक्षर पुसा महापातकनाशनम्॥

वास्तवम श्रीराम-चरित अथाह एव अनन्त ह—'हरि अनत हरिकथा अनता।' प्रभु श्रीरामको साक्षात् धर्मका विग्रह कहा गया हैं—'रामो विग्रहवान् धर्म ।' इस रामकथा-परम्पराम आनन्दरामायण अपन विस्तृत बहु आयामी स्वरूपक कारण सबसे अनूठी है। जहाँ रामकथा-सम्बन्धी अन्य ग्रन्थाम श्रीरामजीक राज्याभिषकके पश्चात् कथाको विराम प्राप्त हो जाता हे, वहीं आनन्दरामायण श्रीरामराज्यके ग्यारह हजार वर्पकी सुविस्तृत परम रोचक एव मनाहारिणी झाँकियाको अति मार्मिक रूपमे प्रस्तुत करती हे। इसम भगवान् रामभद्रकी विविध लीलाओ, उपासना-सम्बन्धी अनुष्ठाना तथा रामलिङ्गताभद्राकी रचना-प्रकार आदि अनमोल निधियाका दिग्दर्शन है। मूलत इसम श्रीरामकी भक्तिधारा प्रवाहित है, साथ ही अनेक प्रसगाम धर्म-नीति तथा राज-नीतिकी अति प्रभावी घटनाएँ उपन्यस्त हुई हैं, उनमसे कुछका यहाँ निदर्शन किया जा रहा है—

विवाहोपरान्त अयोध्याम बारह वर्पतक प्रभु श्रीरामका निवास रहा। इसी मध्य एक दिन जब प्रभु श्रीराम पिता महाराज श्रीदशरथको प्रात काल अभिवादन करने पहुँचे, तब दशरथजीन कहा कि मुझ मुद्गल मुनि एव गुरु वसिष्ठक द्वारा यह भलीभाँति ज्ञात हो गया है कि 'राम। तुम साक्षात् नारायण हो। तुमने पृथ्वीका भार हरण करनेके लिय अवतार लिया है। तुम मुझसे उत्पन्न हुए हो—जा लाग एसा कहते हैं वे अज्ञानी हैं'—

राम नारायणस्त्व हि भूभारहरणाय च।
मत्ता जातोऽसीति लोका वदन्त्यज्ञानबुद्धय ॥

(सारकाण्ड ५। १०३)

'राम। मायासे माहित मरी बुद्धि स्त्री-पुत्रादिम आसक्त है, इसके शमनक लिये मुझे कुछ उपदेश करा।' इसपर प्रभु श्रीरामने कहा—'राजन्। आत्मा नित्य परमानन्दस्वरूप है और सासारिक पदार्थ नाशवान् हैं'—

देहागारसुतस्त्रीपु मामकेति च या मति ॥
उपसहृत्य युद्ध्या सन्यस्य ब्रह्मणि चिद्घने।
यद्यत्किञ्चिद्भासतेऽत्र तत्तन्नारायणात्मकम्॥
पश्य त्व सर्वभावेन मुच्यसे भवसकटात्।

(सारकाण्ड ५। ११२—११४)

'अर्थात् अपने शरीरम, भवनमे, पुत्र-स्त्रा आदिमे जो ममत्व-बुद्धि है, उस बुद्धिको मुझ नारायणस्वरूप परमात्मामे लगाकर सम्पूर्ण विश्वको नारायणस्वरूप मानकर आप समस्त सासारिक सकटोसे मुक्ति पा जाइयगा।' इस प्रकारकी आध्यात्मिक नीतिका उपदेश देकर प्रभु श्रीरामने वहुत सक्षेपमे साररूपमे परम कल्याणकी सारी बात बता दी है।

अश्वमेधयज्ञम जब श्रीराम यज्ञिय अश्वका पूजन करके श्रीशत्रुघ्नजीको सदल-बल उसके सरक्षणार्थ भेज देते है ओर भरतजीको समस्त अतिथियाके स्वागतार्थ नियुक्त कर देते हैं तथा लक्ष्मणको महाप्रबन्धकके रूपम नियुक्त करते हुए आदेश देते हैं कि 'भैया। इस यज्ञम आये हुए समस्त ऋपि-मुनि, राजागण, ब्रह्मचारी, गृहस्थ वानप्रस्थ सन्यासी, ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और चाण्डाल आदि सभीको प्रसन्न एव सतुष्ट रखना तुम्हारा दायित्व है। जो भा अभ्यागत जो-जो कामना करे जो-जो चाहे तुम उसे मुझस विना पूछे ही दे देना। किसीका भी निराश नहीं करना। किसीकी कोई भी अभिलापा विफल न हो—

न केपामभिलापाश्च विफला हि विधीयताम्॥

(यागकाण्ड २।५८)

इतना ही नहीं, भगवान् श्रीरामने तो यहाँ तक कह दिया कि—

अयोध्या कामधेनु च जानकीं कौस्तुभ मणिम्।
चिन्तामणि पुष्पक च राज्य कोशादिक च म॥
एतेष्वपि च यो यद्वै याचयिष्यति तत् त्वया।
न दत्त चेति वै श्रुत्वा ममातोपा भवेत् त्वयि॥

(यागकाण्ड २।५९ ६०)

अर्थात् अयोध्या कामधेनु जानका कौस्तुभमणि चिन्तामणि पुष्पक विमान राज्य काश आदि कुछ भा जो चाहे उसे द दना। मुझम पूछनेकी आवश्यकता नहीं है। किसोकी भी याचना पूण न हानेपर तुम्हें मरा असतोप प्राप्त होगा (मुझ तुमपर अप्रसन्नता हागी)। यह है यज्ञकी धर्म-नीति—'यज्ञ वै भूरिदक्षिणा।' यज्ञम

यज्ञकी दक्षिणा अधिक-से-अधिक देनेका विधान है। श्रीरामनीके इस यज्ञमें आये हुए सभी अभ्यागत अतिथि संतुष्ट होते हुए ही ब्राह्मणोंको विशेषतया संतुष्ट किया गया।

एक बार दीन-हीन-दशामें एक ब्राह्मणीको देखकर करुणामयी माता सीताने बड़े आदरसे उसे अपने पास बुलाया और लक्ष्मणके द्वारा उसे लाखों रुपया दिलाया तथा वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत कर विदा किया और सप्तद्वीपा वसुमतीमें यह घोषणा भी करवा दी कि 'आजसे कोई भी स्त्री-पुरुष ऐसा न दिखायी दे जिसके शरीरपर सुन्दर वस्त्राभूषण न हो। यदि किसी राजाके राज्यमें इसका उल्लंघन होगा तो वह राजा दण्डनीय होगा।' उस आज्ञाको सुनकर सातों द्वीपोंके राजाओंने विधिवत् उसका पालन किया—

सप्तद्वीपनृपतयश्चैतत् सीतासुशिक्षितम्।
गजदुन्दुभिघोषेण श्रुत्वा चक्रुस्तथैव च॥
(विलासकाण्ड ६। ३५)

इस प्रकार सम्पूर्ण रामराज्यमें कोई भी स्त्री-पुरुष दीन-हीन तथा कंगाल नहीं था। सभी सुखी एवं स्वस्थ थे। कोई व्यक्ति दुखी नहीं दिखायी देता था। सीतानाथ लोकेश्वर प्रभु श्रीरामके पृथ्वीका शासक होनेपर पृथ्वी अन्नसे पूर्ण रहती थी। सभी वृक्ष भरपूर फलते थे। सभी मनुष्य धर्माचरणमें लगे रहते। सब स्त्रियाँ पतिभक्ता थीं। श्रीरामके राज्य रहते किसीको अपने पुत्रकी मृत्यु नहीं देखनी पड़ती थी अर्थात् अकाल-मृत्यु नहीं होती थी।

श्रीरामचन्द्रजीके राज्यमें संसारके सब लोगोंको सदा आनन्द रहता था—

राघवे शासति भुवं लोकनाथे रमापतौ।
वसुधा सस्यसम्पन्ना फलवन्तश्च भूरुहा॥
जना स्वधर्मनिरता पतिभक्तिपरा स्त्रिय।
नापश्यत् पुत्रमरणं कश्चिद्राजनि राघवे॥
× × ×
रामराज्ये सदानन्दः सर्वासांसीज्जनानां भुवि।
(सारकाण्ड १३। १९६-१९७ राज्यकाण्ड १५। १)

ऐसे अनेक ज्ञान देनेवाले शिक्षाप्रद नीतिपूर्ण उदाहरण 'आनन्दरामायण'में भरे पड़े हैं।

एक बार प्रभु श्रीरामने लव, कुश, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्नको सम्बोधित करते हुए राजनीतिके बड़े महत्त्वपूर्ण तथ्योंका उपदेश करते हुए कहा—

शृणु वत्स कुशाद्य त्वं यूयं सर्वे लवादिकाः॥
शृणुतात्र स्वस्थचित्ता राजनीतिं वदाम्यहम्।
(राज्यकाण्ड १६। २-३)

हे लव-कुशादि! मैं तुम सबको राजनीतिका उपदेश कर रहा हूँ, जिसका पालन करके राजा इस लोकमें सुख प्राप्त कर अन्तमें वैकुण्ठलोकका अधिकारी होता है।

दीर्घ आयुकी कामनावाले राजाको कभी असत्य भाषण नहीं करना चाहिये—

अनृतं नैव वक्तव्यं नृपेण चिरजीविना॥
सत्यं शौचं दया क्षान्तिरार्जवं मधुरं वचः।
द्विजगोयतिसद्भक्तिः सप्तैते शुभदा गुणाः॥
(राज्यकाण्ड १६। ४-६)

अर्थात् राजाके शुभकारक ये सात गुण हैं—(१) सत्य (२) पवित्रता (३) दया, (४) क्षमा, (५) स्वभावमें कोमलता (६) मधुरवाणी तथा (७) गो-ब्राह्मण संत एवं सज्जनोंपर श्रद्धा।

इसी प्रकार राजाके सात दोष भी हैं, जैसे—

निद्रालस्यं मद्यपानं द्यूतं वाराङ्गनारतिः।
अतिक्रीडाऽतिमृगया सप्त दोषा नृपस्य च॥
(राज्यकाण्ड १६। ७)

अर्थात् (१) अधिक निद्रा (२) आलस्य (३) मद्यपान (४) जूआ, (५) वेश्याओंसे प्रेम (६) ज्यादा खेलकूद और (७) अधिक शिकार खेलना—ये राजाके सात दोष हैं।

राजाको प्रजाका पालन पुत्रके समान करना चाहिये। 'पुत्रवत् पालनीयाश्च प्रजा नृपतिना भुवि' (१६। ८)। दूसरे देशोंमें राजाको अपने गुप्तचर अति सावधानीसे रखने चाहिये, जिससे वहाँके समाचारोंका ज्ञान होता रहे। राजाको समय-समयपर उचित रीतिसे दण्ड, भेद साम तथा दान-नीतियोंका प्रयोग करना चाहिये— 'दण्डो भेदस्तथा साम दानं कालोचितं चरेत्' (१६। ११)।

राजाको चाहिये कि अपने मनमें सोचे हुए कार्यको किसीसे न कहे कार्यके पूर्ण हो जानेपर मन्त्रीजन आदिसे उसका प्रकाशन करे—

मनसा चिन्तितं कार्यं कथनीयं न कस्यचित्।
कृत्वा कार्यं दर्शनीयं जनान् मन्त्रिजनानपि॥
(राज्यकाण्ड १६। १२)

राजाको शत्रुका पराक्रम सुनकर कभी अधीर नहीं होना चाहिये और न संग्रामसे कभी पलायन ही करना चाहिये। उसे प्रतिमास कारागारका निरीक्षण करना चाहिये।

अन्न आदि दैनिक उपयोगमें आनेवाली वस्तुओंमें तेजी लानेपर व्यापारियोंको दण्डित करना चाहिये। अकाल पड़नेपर प्रजाको 'कर'से मुक्त कर देना चाहिये—

धान्य समर्घ कर्तुं वै दण्डयेद् व्यवसायिन ॥
दृष्ट्वा किञ्चिन्महर्घं तु स्वीयराष्ट्रे हि भूभृता।
न्यून कार्यं करभार किञ्चिद्देशसुखाय च॥

(१६।८९-९०)

राजाको कभी भी अति कृपणता (कंजूसी) नहीं करनी चाहिये तथा जनतामें उदारताका ही प्रदर्शन करते रहना चाहिये। द्रव्य लेकर तस्करोंको नहीं छोड़ना चाहिये।

नातिशाठ्य कदा कार्यमौदार्यं दर्शयेज्जनान्।
द्रव्य गृहीत्वा राज्ञा हि मोचनीया न तस्करा ॥

(१६।९१)

राजाको कभी भी मुख देखकर न्याय नहीं करना चाहिये। यदि कोई दुखी व्यक्ति राजाके पास आये तो उसे चाहिये कि वह उसके सारे वृत्तान्तको बड़े आदरपूर्वक ध्यानमें सुने उसकी उपेक्षा न करे—

आर्तानां सकल वृत्त श्रोतव्य सादर नृपै ।
यज्ञो दान जपो होम सन्ध्या ध्यान शिवार्चनम्।
स्नान पुराणश्रवण भक्त्या कार्यं नृपोत्तमै ॥
न मादक वस्तु सेव्य न कृच्छ्रादिकमाचरेत्।
न यात्रा स्वपदा कार्या सप्तद्वीपाधिपेन हि॥

(१६।९३ ९५-९६)

अर्थात् सप्तद्वीपाधिपतिको यज्ञ-दान-जप-होम-संध्या, ध्यान और शिवार्चन तथा पुराण-श्रवण आदि भक्तिपूर्वक करते रहना चाहिये। मादक वस्तुओंका सेवन कभी भी नहीं करना चाहिये। अधिक कठोर एवं शरीरको सुखानेवाले व्रत तथा उपवास आदि भी नहीं करने चाहिये, साथ ही पैदल यात्रा भी नहीं करनी चाहिये।

क्रोधवश जिन व्यक्तियोंको कभी कारागारमें डाल दिया गया हो, उन्हें उत्सवोंके उपलक्ष्यमें छोड़ देना चाहिये। ब्राह्मण राजाके पास याचना-हेतु आये तो सम्मानपूर्वक उसे दान देकर संतुष्ट करना चाहिये, क्योंकि ब्राह्मण पृथ्वीके देवता होते हैं—'तस्मै विप्राय राज्ञा हि नृप भूसुरदेवता '॥ (१६।९८)

इस प्रकार श्रीरामजीने राजनीतिके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रसंगोंका निर्देशन किया है। इसके अतिरिक्त धर्मनीतिके भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अनेक प्रसंग 'आनन्दरामायण'में यत्र-तत्र अनमोल रत्नोंकी भाँति सुशोभित हैं। महामन्त्री सुमन्त्रजीके महाप्रयाणके प्रसंगमें प्रजाको प्राप्त धर्मनीतिका उपदेश तथा कैकेयी, सुमित्रा एवं कौसल्या माताको उपदिष्ट धर्मनीतिका अतिरोचक मार्मिक उपदेश इसमें प्राप्त होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं राजाधिराज प्रभु श्रीरामजीके ग्यारह हजार वर्षोंके राज्यकालकी अनुपम लीलाओंका चित्रण करते हुए राजनीति धर्मनीति लोकनीति, कूटनीति तथा साम-दान-दण्ड-भेद आदिसे सम्बद्ध विभिन्न नीतियोंका 'आनन्दरामायण'में जिस प्रकार निरूपण हुआ है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

माता सीताका लोकोपकारी नीतिपूर्ण अनुग्रह

[आनन्दरामायणका एक आख्यान]

(पं० श्रीजोषणरामजी पाण्डेय)

एक बारकी बात है। माता सीताके मनमें अयोध्याके बाजारको देखनेकी इच्छा उत्पन्न हुई। उन्होंने भगवान् श्रीरामके सामने अपनी इच्छा प्रकट की। त्रिकालदर्शी भगवान् श्रीराम समझ गये कि देवीके मनमें आज बाजार देखनेकी जो इच्छा उत्पन्न हुई है वह अवश्य ही प्रजाके कल्याणका कारण बनेगी। मुसकराते हुए भगवान् श्रीराम देवी सीताको लेकर एक ऊँचे प्रासादपर गये जहाँसे अयोध्याकी वीथियोंका दृश्य साफ-साफ दिखलायी देता था। माता सीता और भगवान् राम एक रत्नजटित सुन्दर सिंहासनपर बैठ गये तथा उसके गवाक्ष-मार्गोंसे अयोध्याके रमणीय दृश्य देखने लगे। वहाँ अनेक लोग इधर-उधर आ-जा रहे थे। भगवान् श्रीराम अङ्गुलिनिर्देश करते हुए अयोध्याके राजमार्गोंका परिचय बतलाने लगे। इसी बीच माता सीताकी दृष्टि एक ऐसी स्त्रीपर पड़ी जो कृशकाय

आर अत्यन्त ही दीन-हीन-अवस्थामे थी। उसक वस्त्र अत्यन्त मलिन आर जीर्ण-शीर्ण थ। किसी तरह एक हा वस्त्रसे उसन अपने शरीरका ढक रखा था। वह अपनी गोदमें एक नन्हे वालकको लिय हुए थी। उसे देखनेस ही ऐसा लग रहा था कि वह अत्यन्त अभावकी स्थितिम है और न जाने उसन कितनो दिनास भाजन नहीं किया है। लगता था कि वह भिक्षा माँगन वाजारम आया है।

उसका वैसी दशा देखकर करुणामयी माता सीताका अत्यन्त दु ख हुआ उनकी करुणा उमड पडी। उन्हाने शीघ्र ही एक दासी भेजकर उस अपने पास बुलवाया आर वडे हा आदर-सत्कारपूर्वक उसे आसनपर विठाकर पूछा—'भद्र! तुम कौन हो आर इस तरह विना वस्त्र एव आभूपणके वाजारम किसलिये घूम रही हो?' इसपर उस स्त्रीन कहा—'देवि! मैं एक अभागिनी ब्राह्मणपत्नी हूँ। मेरा कोई सहायक नहीं है। मरे पतिदेव बहुत दिन पहल तीर्थयात्राक लिये गय थ, किंतु अभीतक वे आय नहीं। लागाका कहना है कि उनका शरीर शान्त हा गया। मैं अपने पिताकी अतिप्रिय पुत्री था, अत मैंने पिताकी शरणम रहना ठीक समझा, किंतु कुछ समय वाद उनका भी देहान्त हा गया आर मैं यहाँ चली आया। अव मेरा तथा मरे बच्चेका पालन-पोषण करनेवाला इस ससारम काई भी नहीं है। आभूपणाकी तो वात ही नहीं रही आर वस्त्र भी अव कहाँसे पहनूँ, जवकि ठीकसे भाजन तक मिलना असम्भव है। किसी तरह भिक्षा माँग-माँगकर अपन इस वालकका तथा अपना पट भरती हूँ।' इतना कहकर वह ब्राह्मणी रोन लगी।

उसकी करुण गाथा सुनकर माता सीताकी आँखाम अश्रु भर आये। भगवान् राम भी पास ही वैठे सव देख-सुन रहे थे। जगन्मातान एक वार श्रीरामकी आर देखा आर उनकी मूक अनुमति पाकर तुरत ही वस्त्राभूषण मँगाकर उस विप्रपत्नीको दे दिये और कहा—'देवि! अब तुम लक्ष्मणके पास जाओ। मेरे आज्ञानुसार वे तुम्हे एक लाख स्वर्णमुद्राएँ देंगे उन्हे तुम ग्रहण कर लेना आर सुखपूर्वक रहना।'

ब्राह्मणी माता सीताके श्रीचरणाम गिर पडी और उनकी करुणाका ध्यान करते हुए लक्ष्मणके पास गयी। उनसे उसने सीता माताकी वात वतायी। लक्ष्मणजीने वड ही आदरपूर्वक उस ब्राह्मणीका एक लाख स्वर्णमुद्राएँ दे दीं। वह ब्राह्मणी अत्यन्त प्रसन्न हुई तथा श्रीसीतारामका गुणगान करती हुई अपने घर चली गयी आर सुखपूर्वक समय व्यतीत करने लगी। भला जिसपर जगन्माताकी कृपादृष्टि हो जाय तो फिर उसके आनन्दका क्या ठिकाना?

इसके पश्चात् माता सीतान सप्तद्वीपा वसुमतीम यह घोषणा करवा दी कि 'आजसे कोई भी स्त्री-पुरुष ऐसा न दिखायी दे जो कि सुन्दर वस्त्राभूषणासे सुसज्जित न हो अर्थात् राज्यम कोई भी किंचित् भी अभावम न रहे सभी सुख-शान्ति और सुसम्पत्तिसे सम्पन्न रहे। यदि कहीं किसी भी देश या राष्ट्रम कोई ऐसा अभावग्रस्त दिखायी देगा तो इसके लिये वहाँका राष्ट्राध्यक्ष अथवा राजा उत्तरदायी होगा। अत शासक लोग अपनी प्रजाम अपने धनका समुचित वँटवारा कर दें। ऐसा न करनेवाला श्रीरामद्वारा दण्डित होगा—'

> अयोध्यायां तथा राष्ट्रे घोषयामास दुन्दुभिम्॥
> सप्तद्वीपेषु सर्वत्र पृथग्वर्षेषु सादरम्।
> काचिन्नारी पुमान् वापि विना सद्वस्त्रभूषणं॥
> दृष्टश्चारैर्मया ज्ञातो यद्देशे यत्पुरे कदा।
> तद्राज्ञश्चास्तु मे दण्डो रामस्यापि विशेषत॥
> इति मच्छिक्षितं ज्ञात्वा स्वकोशै स्वीयराष्ट्रके।
> वस्त्रालङ्कारभूषाभिर्भूषणीया द्विजादय॥
>
> (विलासकाण्ड ६। ३१—३४)

उस घोषणाको सुनकर सभीने उसका पालन किया। यह माता सीताकी अद्भुत दयालुता, नीतिमत्ता आर मातृहृदयका स्नेह एव वात्सल्यमयी ममताका एक दृष्टान्तमात्र है। भगवान् श्रीसीतारामका अनन्त कृपाका वर्णन कौन कर सकता है? [प्रेषक—श्रीखेमचन्द्रजी सैनी]

ज्ञातयो ह्यवमन्यन्ते मित्राणि च धनाच्च्युतम्॥

(शान्तिपर्व १७७। ३४)

धनका नाश अत्यन्त दु खदायक ह। निर्धन व्यक्तिको उसकी जातिके जन तथा मित्र अपमानित करते रहते हैं।

न च शत्रुरवज्ञयो दुर्वलोऽपि वलीयसा।
अल्पोऽपि हि दहत्यग्निर्विपमल्प हिनस्ति च॥

(शान्तिपर्व ५८। १७)

वलवान् व्यक्तिको चाहिये कि वह दुर्वल शत्रुकी भी अनदेखी न करे। अग्निकी चिगारी भी अग्निको वढाकर सव कुछ जला देती है और जरा-सा विप भी मारक होता है।

पतिर्हि देवो नारीणा पतिर्वन्धु पतिर्गति ।
पत्या समा गतिर्नास्ति दैवत वा यथा पति ॥

(अनुशासनपर्व १४६।५५)

स्त्रियाका पति ही देवता, बन्धु आर गति हे, नारीके लिये पतिके समान न कोई सहारा है और न दूसरा देवता।

वल तु वाचि द्विजसत्तमाना
क्षात्र बुधा वाहुवल वदन्ति।

(कर्णपर्व ७०। १२)

ब्राह्मणाका वाक्य बलशाली होता ह और क्षत्रियाका वाहुबल श्रेष्ठ कहा गया है।

भीतवत् सविधातव्य यावद्भयमनागतम्।
आगत तु भय दृष्ट्वा प्रहर्तव्यमभीतवत्॥

(आदिपर्व १३९। ८२)

जवतक भय न आये तवतक भयभीतकी तरहसे रहना चाहिये और जव भय आ जाय तो भयरहित होकर उसका प्रतिकार करना चाहिये।

यतो धर्मस्ततो जय । (अनुशासनपर्व १६७। ४१)

जहाँ धर्म है वहीं विजय हे।

राजा चेन्न भवेल्लोके पृथिव्या दण्डधारक ।
जल मत्स्यानिवाभक्ष्यन् दुर्वल बलवत्तरा ॥

(शान्तिपर्व ६७। १६)

यदि पृथ्वीपर राजा दण्ड दनेवाला न हा तव जैसे जलम वडी मछलियाँ छोटी-छोटी दुर्वल मछलियाको खा जाती हैं वैसे ही दुर्वल जनाको बलवान् जन नष्ट कर देते हैं।

लोभात् पाप प्रवर्तते॥ (शान्तिपर्व १५८। २)

लोभस पाप बढता है।

विरूपो यावदादर्शे नात्मन पश्यते मुखम्।
मन्यते तावदात्मानमन्येभ्यो रूपवत्तरम्॥

(आदिपव ७४। ८७)

कुरूप व्यक्ति जवतक दर्पणम अपना मुख नहीं देखता, तवतक वह समझता है कि में हा सवस अधिक रूपवान् हूँ।

शत्रोरपि गुणा ग्राह्या दोपा वाच्या गुरोरपि।

(विराटपर्व ५१। १५)

शत्रुक भी यदि गुण हे ता उन्ह ग्रहण करना चाहिय यदि गुरुम दाप हैं तो उन्ह भी वताना चाहिय।

पड् दोपा पुरुपणह हातव्या भृतिमिच्छता।
निद्रा तन्द्रा भय क्रोध आलस्य दीर्घसूत्रता॥

(उद्यागपव ३३। ७८)

कल्याणकी कामना रखनवाले पुरुपका निद्रा तन्द्रा भय, क्राध, आलस्य तथा दीर्घसूत्रता—इन छ दापाका परित्याग कर देना चाहिय।

सत्यन रक्ष्यते धर्मो विद्या यागेन रक्ष्यते।
मृजया रक्ष्यते रूप कुल वृत्तेन रक्ष्यत॥

(उद्यागपर्व ३४। ३९)

सत्यक द्वारा धर्मकी रक्षा हाती है, यागक द्वारा विद्याकी रक्षा होती ह, स्वच्छतासे रूपकी रक्षा हाती है और सदाचारसे कुलकी रक्षा होती हे।

हर्पो याधगणस्यैको जयलक्षणमुच्यत॥

(भीष्मपव ३। ७५)

याद्धागणाका हर्प विजयका सूचक ह।

क्षत्रियाणा वल तेजो ब्राह्मणाना क्षमा वलम्।

(आदिपर्व १७४। २९)

क्षत्रियाका बल तज ओर ब्राह्मणोका बल क्षमा होता ह।

त्रिविध नरकस्येद द्वार नाशनमात्मन ।
काम क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादतत् त्रय त्यजेत्॥

(भाष्मपर्व ४०। २१)

काम, क्रोध तथा लोभ—य तीन नरकके द्वार आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् नरकम ले जानेवाल हैं। इसलिये इन तीनाको त्याग देना चाहिय।

ज्ञान तत्त्वार्थसम्बोध शमश्चित्तप्रशान्तता।
दया सर्वसुखैपित्वमार्जव समचित्तता॥

(वनपर्व ३१३। ९०)

परमार्थतत्त्वका यथार्थ बोध ही ज्ञान हे चित्तकी शान्ति ही शम हे, सबके सुखकी इच्छा रखना ही उत्तम दया ह और समचित्त होना ही आर्जव (सरलता) ह।

श्रीमद्भगवद्गीतामें शान्ति एवं सुखकी नीतिका विवेचन

(डॉ० श्रीवागीशजी शास्त्री वाग्योगाचार्य)

सम्पूर्ण संसार सुख-दु खात्मक द्वन्द्वोंसे घिरा हुआ है। मनके अनुकूल बननेवाली स्थितिसे सुखकी तथा प्रतिकूल बननेवाली स्थितिसे दु खकी अनुभूति होती है। जन्म-जन्मान्तरोंसे प्रवहमान वासनाने मनमें घर कर रखा है। उसके कारण सांसारिक सुख-भोगकी कामना होती है। सांसारिक भोगोंके प्रति मनके आकर्षणका नाम राग है। संक्षेपत विषयोंके प्रति अनपायिनी प्रीति ही राग है। रागका प्रतिद्वन्द्वी भाव द्वेष है। दु खके अनुभवमें आनेवाली घृणाकी वासना मनमें द्वेष उत्पन्न करती है।

चित्तका राग-द्वेषसे रहित होना—दुष्कर कार्य है। परमात्माने इन्द्रियोंको विषय-भोगोंके लिये ही बहिर्मुखी बनाया है— 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू ' (कठोपनिषद् २।१।१)। अत इन्द्रियरूपी अश्वोंका विषयरूपी शस्यसंवलित मैदानमें विचरण करना अव्याहत गतिसे दौड़ना और उसमें सुखकी भावना करना स्वाभाविक है। किंतु इन्द्रियोंके निर्बल तथा असमर्थ होनेपर विषय-सुख न भोग पानेसे मनमें अपार दु ख उत्पन्न होता है। इसलिये बुद्धिमान् व्यक्तिको यह समझना चाहिये कि इन्द्रियोंका विषय-भोगोंके साथ सम्बन्ध नित्य नहीं है। ऐसी समझ विषयोंके प्रति राग-द्वेषकी भावनाको क्षीण करती है। इसी आशयको लेकर भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

> रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
> आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
>
> (२।६४)

अर्थात् 'अपने वशमें किये हुए अन्त करणवाला साधक अपने अधीन की हुई राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्त करणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है।'

योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि प्रसन्नताके प्राप्त होनेपर दु ख स्वत विलीन हो जाता है। हमें इसे यों समझना चाहिये कि जिस प्रकार प्रकाश होते ही गाढ अन्धकार बिना प्रयास किये विलीन हो जाता है, उसी प्रकार प्रसन्नताके आते ही दु खोंका तिरोभाव स्वत हो जाता है। जिसका चित्त प्रसन्नतासे भर उठा हो, उसकी बुद्धि व्यवस्थित हो जाती है। यह विज्ञानसिद्ध तथ्य है कि आन्तरिक प्रसन्नतासे हमारे मस्तिष्ककी कोशिकाओंका उन्मीलन होने लगता है। परिणामत बोधशक्ति परिनिष्ठित एवं व्यवस्थित होने लगती है। किंतु जिना वशमें किये हुए अन्त करणवाले पुरुषमें बुद्धिका प्रस्फुरण नहीं होता। ऐसे अन्त करणमें श्रद्धाका भी उदय नहीं होता। श्रद्धाके बिना शान्ति नहीं मिल सकती और शान्तिके बिना सुखकी अनुभूति नहीं होती—

> प्रसादे सर्वदु खानां हानिरस्योपजायते।
> प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धि पर्यवतिष्ठते॥
> नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
> न चाभावयत शान्तिरशान्तस्य कुत सुखम्॥
>
> (२।६५ ६६)

श्रीमद्भगवद्गीतामें इस शान्ति-सुखकी महनीय नीतिका प्रतिपादन हुआ है। दैवी सम्पदाओंमें शान्ति भी अन्तर्भूत है। सामान्य शान्तिकी फलश्रुति है सुख और उच्चस्तरीय विशिष्ट शान्तिकी फलश्रुति है आनन्द।

जिस पुरुषका अन्त करण वशमें नहीं है उसके अन्त करणमें अनन्त कामनाएँ एक तटसे दूसरे तटतक टकरा-टकराकर अशान्ति उत्पन्न करती रहती हैं। उनके विलीन होनेकी स्थिति ही नहीं आती। अन्त करणको कामना-तरंगोंको विलीन करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण 'अचलप्रतिष्ठ' समुद्रकी उपमा देते हैं। वे कहते हैं कि अगणित जलस्रोत तथा नदियाँ समुद्रमें समाती जाती हैं किंतु उससे समुद्रकी सीमामें कोई अन्तर नहीं आता—न वह बढ़ता है और न घटता है। इसी प्रकार वशवर्ती बनाये गये अन्त करणमें हजारों कामनाएँ समाती जाती हैं। जिसकी इच्छाएँ उफनती नहीं हैं उसीको शान्ति मिलती है। कामनाओंको उबाल लानेवाले व्यक्तिको शान्तिके दर्शन नहीं होते—

> आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
> समुद्रमाप प्रविशन्ति यद्वत्।

तद्वत्कामा य प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥
(२।७०)

जिसने अपने शरीरमे ओर शरीरसे सम्बन्धित वस्तुआमे 'ममत्व' एव 'मैं' की भावनाका परित्याग कर दिया हो, वह नि स्पृह पुरुष शान्ति प्राप्त करता है (२।७१)। भगवान् श्रीकृष्ण शान्ति प्राप्त करनका एक अन्य उपाय भी बतात ह। पहले कहा गया था—'न चाभावयत शान्ति " श्रद्धाविहीनका शान्ति नहीं'। उसको आगे पुन कहत हैं—'श्रद्धावान् व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करता है और ज्ञान प्राप्त करक 'परा शान्ति' म पहुँचता ह' (४।३९)। पूर्ववर्ती सामान्य शान्तिसे इस 'परा शान्ति' की उच्च स्थिति बनता है। सर्वभूतसुहृद् एव सर्वलाकमहेश्वर परमात्माका जानकर शान्ति मिलती है (५।२९)। परमात्माकी कृपासे भी इसकी प्राप्ति होता है (१८।६२)।

शान्तिका एक अन्य स्तर ह—'नैष्ठिकी शान्ति'। वशम किये हुए अन्त करणवाला पुरुष कर्मफलका त्याग करके इस ब्रह्म-निष्ठावाली शान्तिकी पराकाष्ठाको प्राप्त करता हे। इस ब्रह्मनिष्ठाको 'ब्रह्मयोग' (५।२१) या 'ब्रह्मनिर्वाण' (५।२५) भी कहते हैं। एक उच्चतर स्थितिकी शान्तिका नाम है—'निर्वाणपरमा', जो परमात्मा—परब्रह्मसे साक्षात् आती है (६।१५)। इससे भिन्न प्रकारका शान्ति 'शश्वच्छान्ति' या 'नित्य-शान्ति' कहलाता है (९।३१)। इसे दवर्षि नारदने प्राप्त कर ब्रह्मपुत्रत्व प्राप्त किया था।

शान्तिकी एक स्थिति भयकी समाप्तिपर बनती ह। विश्वरूपदर्शन करके अर्जुन भयसे व्यथित आर उद्विग्न होनेके कारण शान्ति प्राप्त नही कर पा रह थ—'धति न विन्दामि शम च विष्णो' (११।२४), 'दिशा न जान न लभे च शर्म' (११।२५), 'सगद्गद भीतभीत प्रणम्य' (११।३५), 'भयेन च प्रव्यथित मनो म' (११।४५)। भय समाप्त होनपर अर्जुन कहते ह—'इदानीमस्मि सवृत्त सचता प्रकृति गत' (११।५१)।

भगवान् श्रीकृष्ण शान्तिका एक अन्य विकल्प आर बताते ह—'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' (१२।१२)। कर्मफलक त्यागस व्यक्ति शान्ति प्राप्त करता हे।

इस शान्तिको प्राप्त करनकी फलश्रुति ह—'सुख'। सुखके दा स्तर हे—एक भोगजन्य सुख तथा दूसरा अन्त सुख। भोगजन्य सुख ऊपरी सतहपर रहता ह। दु खम परिवर्तित हाते रहनेके कारण यह द्वन्द्वात्मक ह। सात्त्विक राजस और तामसक रूपम इस सुखकी त्रिविधता बनती हे (१८।३६)। सात्त्विक आहारसे भी सुखकी प्राप्ति हाता हे (१७।८)। भोगजन्य सुखसे भिन्न अन्त सुख या आनन्दकी अद्वन्द्वात्मक स्थिति बनती ह। इस सुखका आत्यन्तिक सुख (६।२१) उत्तम सुख (६।२७) अक्षय सुख (५।२१) तथा अत्यन्त सुख (६।२८) कहते ह।

आख्यान—

अनासक्तिके आदर्श राजर्षि खट्वाङ्ग

महाराज सगरक वशम विश्वसहके पुत्र महाराज खट्वाङ्ग हुए। जन्मसे ही व परम धार्मिक थे। अधर्मम उनका चित्त कभी जाता ही नहीं था। उत्तमश्लोक भगवान्को छोडकर ओर कोई वस्तु उन्ह स्वभावसे ही प्रिय नहीं थी। न तो स्वर्गादि लोक दनवाले सकाम कर्मोम उनका अनुराग था न लक्ष्मी राज्य ऐश्वर्य स्त्री-पुत्र तथा परिवारम ही उनकी आसक्ति थी। कर्तव्यबुद्धिसे भगवत्सवा मानकर ही वे प्रजापालन करत थे।

महाराज खट्वाङ्गने शरणागतकी रक्षाका व्रत ले रखा था। उनका इतना महान् पराक्रम तथा प्रभाव था कि जब भी दवता असुरासे पराजित हो जाते तब महाराजका शरण लेते। उन दिना असुर प्रबल हा रह थे। पराजित होनपर भा व बार-बार स्वर्गपर आक्रमण करत थे। महाराजका बार-बार देवताओंकी सहायता करन जाना पडता था। एक बार असुराको पराजित करके महाराज स्वर्गस पृथ्वीपर लौट रह थे, तब देवताआने उनसे इच्छानुसार वरदान माँगनका कहा।

महाराज पहलसे ही भोगासे विरक्त थ। ससारक मिथ्या प्रलाभनोम उनकी आसक्ति नही था। उन्हान सोचा—'यदि जावनक दिन अधिक शष हा तब ता यह कर्तव्यपालन राज्यशासनादि ठीक हा हैं किंतु यदि आयु थोडी ही हा ता इस प्रकार भागाम लग रहना बडा मूर्खता हागी। इस मनुष्य-शरारकी प्राप्ति कठिन हैं। इसी शरीरस

भवसागर पार न किया तो फिर पता नहीं, किस-किस योनिमें जाना पड़े। ये देवता भी इन्द्रियोंके वशमें हैं। इनकी इन्द्रियाँ भी चञ्चल हैं। इनकी बुद्धि भी स्थिर नहीं। दूसरोंकी तो चर्चा ही क्या, ये देवगण भी अपने हृदयमें निरन्तर स्थित परमप्रियस्वरूप आत्मतत्त्वको नहीं जानते। जब ये स्वयं आत्मज्ञानरहित हैं, तब मुझे कैसे मुक्त कर सकते हैं?' यह सब सोचकर उन्होंने देवताओंसे पूछा—'आपलोग कृपाकर पहले यह बताइये कि मेरी आयु कितनी शेष है।'

देवताओंने बताया कि 'महाराजकी आयु दो घड़ी ही बाकी है।' जब दो ही घड़ी आयु शेष है, तब भोगोंको लेकर क्या होगा? देवगण दीर्घायु दे सकते थे, किंतु महाराजको शरीरका मोह नहीं था। वे शीघ्रतापूर्वक परम पवित्र भारतवर्षमें पहुँचे और भगवान्के ध्यानमें निमग्न हो गये। महाराज खट्वाङ्गका मन एकाग्रभावसे भगवान्में लगा था। शरीर कब गिर गया, इसका उन्हें पतातक न लगा।

धन्य हैं महाराज खट्वाङ्ग! महाराजकी आयु तो उस समय दो घड़ी बची थी, किंतु हम सबको तो यह भी पता नहीं कि दो पल भी आयु शेष है या नहीं। भगवान्को पानेमें कुछ दस-बीस या सौ-दो सौ वर्ष नहीं लगते। सच्चे हृदयसे एक बार पुकारनेपर वे आ जाते हैं। चित्तको एकाग्रभावसे उनके चरण-चिन्तनमें लगाकर एक क्षणमें प्राणी उन्हें पा लेता है। खट्वाङ्गजीकी भाँति सिरपर मृत्युको खड़ा देखकर भोगोंसे चित्त हटाकर उसे तुरंत भगवान्के चरणोंमें ही लगा देना चाहिये।
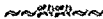
~~~

महाभारतोक्त महाभागवत भीष्मके नीतिगत उपदेश

(श्रीदीनानाथजी झुनझुनवाला)

महाभारतके शान्तिपर्वमें भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा पितामह भीष्मजीके गुण एवं प्रभावका वर्णन किया गया है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'हे तात, हे पृथ्वीनाथ! मैंने तीनों लोकोंमें सत्यवादी, एकमात्र कर्ममें तत्पर, शूरवीर, महापराक्रमी तथा शरशय्यापर शयन करनेवाले आप शान्तनुनन्दन भीष्मके अतिरिक्त दूसरे किसी प्राणीके विषयमें ऐसा नहीं सुना है, जिसने शरीरके लिये स्वभावसिद्ध मृत्युको अपनी तपस्यासे रोक दिया हो। सत्य, तप, दान और यज्ञके अनुष्ठानमें तथा वेद, धनुर्वेद तथा नीतिशास्त्रके ज्ञान, प्रजापालन, कोमलतापूर्ण बर्ताव, बाहर-भीतरकी शुद्धि, मन एवं इन्द्रियोंके संयम तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके हितसाधनमें आपके समान मैंने अन्य महारथीके विषयमें नहीं सुना है। नरेन्द्र! मनुष्योंमें आपके समान गुणयुक्त पुरुष इस पृथ्वीपर न तो मैंने कभी देखा और न सुना ही है—

मनुष्येषु मनुष्येन्द्र न दृष्टो न च मे श्रुतः।
भवतो यो गुणैर्युक्तः पृथिव्यां पुरुषः क्वचित्॥
(महा० शान्ति० ५०। २८)

—अतः आपसे यह निवेदन है कि ये ज्येष्ठ पाण्डव अपने कुटुम्बीजनोंके वधसे बहुत संतप्त हो रहे हैं। आप इनका शोक दूर करें। पुरुषप्रवर! संसारमें जो कोई संदेहग्रस्त विषय है, उसका समाधान करनेवाला आपको छोड़कर दूसरा कोई नहीं है।'

भगवान् श्रीकृष्णद्वारा प्रशंसित होनेपर श्रीभीष्मजीने दुर्बलता और कष्टके कारण उपदेश देनेमें अपनी असमर्थता प्रकट की। भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें कष्टमुक्त किया और दिव्य दृष्टि तथा दिव्य ज्ञान होनेका वर प्रदान किया, तब वे राजधर्मका उपदेश देने-हेतु तैयार हो गये।

भीष्मजीने उस समय राजा युधिष्ठिरसे कहा—बेटा युधिष्ठिर! तुम सदा पुरुषार्थके लिये प्रयत्नशील रहना। पुरुषार्थके बिना केवल प्रारब्ध राजाओंका प्रयोजन नहीं सिद्ध कर सकता। यद्यपि कार्यकी सिद्धिमें प्रारब्ध और पुरुषार्थ—ये दोनों साधारणतः समान कारण माने गये हैं तथापि मैं *पुरुषार्थको ही प्रधान मानता हूँ। प्रारब्ध तो पहलेसे ही निश्चित* है। अतः यदि आरम्भिक कार्य पूरा न हो सका अथवा उसमें बाधा पड़ जाय तो भी तुम्हें अपने मनमें दुःख नहीं मानना चाहिये। तुम सदा अपने-आपको पुरुषार्थमें ही लगाये रखना। यही राजाओंकी सर्वोत्तम नीति है—

'राज्ञामेष परो नयः' (महा०, शान्ति० ५६। १६)।

राजाओंके लिये सत्यसे बढ़कर दूसरा ऐसा कोई साधन नहीं, जो प्रजावर्गमें उसके प्रति विश्वास उत्पन्न करा सके। जो राजा गुणवान्, शीलवान्, मन और इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाला तथा कोमल स्वभाव, धर्मपरायण
~~~

जितेन्द्रिय, दखनेम प्रसन्नमुख आर वहुत देनेवाला उदारचित्त ह, वह कभी राजलक्ष्मीसे भ्रष्ट नहीं होता—

गुणवाञ्शीलवान् दान्तो मृदुर्धर्म्यो जितेन्द्रिय ।
सुदर्श स्थूललक्ष्यश्च न भ्रश्येत सदा श्रिय ॥
(महा० शान्ति० ५६।१९)

राजा आवश्यकताके अनुसार कठोरता एव कोमलता— इन दोनाका अवलम्बन करे। जैसे वसन्त ऋतुका तेजस्वी सूर्य न तो अधिक ठडक पहुँचाता है ओर न कडी धूप ही करता है, उसी प्रकार राजाको भी न तो बहुत कोमल और न अधिक कठोर होना चाहिये। उस सभी प्रकारक व्यसनोकी आसक्तिका परित्याग करना चाहिये। ओर अपनेको प्रिय लगनेवाले विषयका परित्याग करके जो सवजनहितकारक हा वही कार्य करना चाहिये। राजाका अपन सवकाके साथ अधिक हँसी-मजाक नहीं करना चाहिये। कारण, राजासे जाविका चलानवाले सेवक अधिक मुँहलगे हा जानेपर उसका अपमान कर बैठते हें। वे अपनी मर्यादाम स्थिर नहीं रहते ओर राजाकी आज्ञाका उल्लघन करने लगते हैं। वे जब किसी कार्यके लिये भेज जाते है ता उसकी सिद्धिमे सदेह उत्पन्न कर देते ह। राजाकी गापनीय त्रुटियाको भी सवके सामन ला देते हे। जो वस्तु नहीं माँगनी चाहिय उस भी माँग बैठते हैं तथा राजाके लिये रख हुए भोज्य पदार्थोको स्वय ही खा लत हें। घूस लेकर तथा धोखा देकर राजाके कार्योमें विघ्न डालते हें। जाली आज्ञापत्र जारी करके राजाके राज्यका जर्जर कर देते हैं। राजाक पास ही मुँह खोलकर जम्हाई लेते हैं और थूकते हैं। राजाकी अवहेलना करते हुए उसक घोडे हाथी अथवा रथको अपनी सवारीक भी कामम लेते है। इतना ही नहीं, वे परस्पर स्वार्थसाधनक निमित्त राजसभाम ही राजाके साथ विवाद करन लगते हैं।

राजाके धर्मानुकूल नातिपूर्ण बर्तावका वर्णन करते हुए भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! राजाको सदा ही उद्योगशील रहना चाहिये, तुम इस बातका अपने हृदयम धारण कर लो। जा सधि करने योग्य हा उनसे सधि करा ओर जो विरोधक पात्र हा उनका डटकर विरोध करा। राज्यके सात अङ्ग हैं— राजा, मन्त्री, मित्र, खजाना, देश, दुर्ग और सेना। जो इन सात अङ्गोसे युक्त राज्यके विपरीत आचरण करे, वह शत्रु हो या मित्र मार डालनेके ही योग्य है।[१] प्रजावर्गको प्रसन्न रखना ही राजाओका सनातन धर्म है तथा सत्यकी रक्षा और व्यवहारकी सरलता ही राजाचित कर्तव्य हे।

जिसने अपने मनका वशमे कर लिया हे क्रोधको जीत लिया है, शास्त्राके सिद्धान्तका निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त कर लिया हे और जो धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षके प्रयत्नम निरन्तर लगा रहता है, जिसे तीनो वेदाका ज्ञान हे एव जा अपने गुप्त विचाराको दूसरेपर प्रकट नहीं हाने दता वही राजा होने याग्य है।[२] जिनके पास अपन भरण-पापणका प्रबन्ध न हो, उनका पापण करना राजाका कर्तव्य हे। जेस पुत्र अपने पिताके घरम निर्भीक होकर रहते ह, उसी प्रकार जिस राजाके राज्यम मनुष्य निर्भय होकर विचरत हैं वह सब राजाओम श्रेष्ठ हे। जसे समुद्रकी यात्रामे टूटी हुई नौका त्याग दी जाती है, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्यको चाहिये कि वह अहितकर उपदेश देनेवाले आचार्य तथा रक्षा न कर सकनेवाले राजाका त्याग कर द।

राज्यरक्षाके साधनोका वर्णन करत हुए भीष्मजीन युधिष्ठिरसे कहा—'युधिष्ठिर! उद्योग ही राजधर्मका मूल है। दवराज इन्द्रने उद्योगसे ही अमृत प्राप्त किया, असुराका सहार किया तथा उससे ही देवलोक ओर इहलाकम श्रेष्ठता प्राप्त की। जो राजा उद्योगहीन होता है, वह बुद्धिमान् हानपर भा विपहीन सर्पक समान सदैव शत्रुओक द्वारा परास्त हाता रहता हे। बलवान् कभी दुर्वल शत्रुकी भी अवहलना न करे क्याकि आग थाडी-सी हो तो भी जला डालती है और विष थोडा-सा हा ता भी मार डालता ह।'

उपर्युक्त राजधर्म एव राजनीतिका विश्लपण कितना सटीक एव व्यापक ह! आजके राजा या लोकतन्त्रम शासनाध्यक्ष तथा अमात्यवर्ग भी इस धम एव नीतिका अनुसरण कर ता प्रजाकी खुशहाली वढगी। प्रजा अपनका सुरक्षित समझेगी। देशम सम्पन्नता बढगी और देशवासियाक चेहरसे प्रसन्नता प्रकट हागी। पितामह भीष्मन जैसे

१ सप्ताङ्गस्य च राज्यस्य विपरीत य आचरेत्। गुरुर्वा यदि वा मित्र प्रतिहन्तव्य एव स ॥ (महा० शान्ति० ५७।५)
२ आत्मवाश्च जितक्राध शास्त्रार्थकृतनिश्चय । धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च सतत रत ॥
त्रय्या सवृतमन्त्रश्च राजा भवितुमर्हति ॥ (महा० शान्ति० ५७।१३-१४)

राजधर्मका उपदेश दिया, वैसे ही आचार धर्म-नीति एवं परमार्थ-नीतिका भी सम्यक् निरूपण किया।

युधिष्ठिरके ब्रह्मचर्य धर्म और पवित्रता-विषयक प्रश्नका उत्तर देते हुए श्रीपितामहने कहा—मांस और मदिराका त्याग ब्रह्मचर्यसे भी श्रेष्ठ है, वेदोक्त मर्यादामें स्थिर रहना ही परम धर्म है, मन और इन्द्रियोंका संयम ही परम पवित्रता है। इसी भाँति अन्य प्रश्नोंके उत्तरमें उन्होंने बतलाया कि प्राणदानसे बढ़कर कोई दान नहीं, सबको अभय देनेवाला सब ओरसे अभय हो जाता है। जो दूसरोंको भयसे छुड़ाता है, उसे न हिंसक पशु मारते हैं और न पिशाच अथवा राक्षस ही कष्ट देते हैं। सब प्रकारसे अहिंसा ही धर्म है। तर्कका सहारा लेकर धर्मकी जिज्ञासा करना कदापि उचित नहीं है। अहिंसा, सत्य, अक्रोध और दान—ये सनातन धर्म हैं।

परमार्थ-नीतिका भी भीष्मजीने यथावत् उपदेश दिया है। धर्म करनेसे श्रेयकी वृद्धि होती है, विषयासक्त पुरुष प्रकृतिको प्राप्त होता है और विरक्त आत्मज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो जाता है। ध्यानद्वारा शुद्ध और सूक्ष्म हुए मनसे परमात्माके स्वरूपका अनुभव हो सकता है। परंतु सम्यक् ज्ञानके द्वारा ही ज्ञेयको जाना जा सकता है और उस परमात्माको जान प्राप्त करके मनुष्य परम मोक्षको प्राप्त कर लेता है।

लोक-परलोक दोनोंके कल्याण-हेतु 'श्रीविष्णुसहस्रनाम'के अन्तमें श्रीभीष्मजीने बताया है कि कमलनयन भगवान्‌को जो भजता है, उसका कभी भी पराभव नहीं होता और उसका सदा कल्याण-ही-कल्याण होता है—

'भजन्ति ये पुष्कराक्षं न ते यान्ति पराभवम्।'

संस्कृत-साहित्यमें नीतिवचन

(डॉ० श्रीशङ्करमणिजी त्रिपाठी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, एल्-एल्० बी०)

'नीति' शब्दकी निष्पत्ति संस्कृतकी 'नी' धातुसे 'क्तिन्' प्रत्यय लगानेपर होती है, जिसका अर्थ 'ले जाना' होता है। व्यापक अर्थमें 'नीति' शब्दको इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है—'समाजको स्वस्थ एवं संतुलित पथपर अग्रसर करने एवं व्यक्तिको पुरुषार्थचतुष्टय—धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी समुचित रीतिसे प्राप्ति करानेके लिये जिन विधि-निषेधमूलक सामाजिक, व्यावहारिक, आचारिक, धार्मिक तथा राजनीतिक आदि नियमोंका विधान देश, काल और पात्रके संदर्भमें किया जाता है, उसे 'नीति' शब्दसे अभिहित किया जा सकता है।'

संस्कृत-साहित्यमें नीतिके वर्णनपरक अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। वेदोंमें तो सूत्रात्मक पद्धतिसे जीवनको सुखमय तथा लाभप्रद बनानेके लिये नाना उपयोगी विषयोंका वर्णन किया गया है। रामायण, महाभारत, मनुस्मृति, बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र, शुक्रनीति, नीतिमयूख, नीतिमञ्जरी, राजनीतिरत्नाकर आदिके साथ ही नीतिके कुछ प्रमुख ग्रन्थ चाणक्य-नीति, विदुर-नीति एवं भर्तृहरि-नीति-शतक आदि भी हैं। चाणक्य-नीति भारतीय साहित्यका एक ऐसा विशिष्ट ग्रन्थरत्न है, जिसका प्रभाव मानव-जीवनके सुधारके लिये तथा राजाओंको नीतिकी शिक्षा प्रदान करनेके लिये भारत तथा बृहत्तर भारतके साहित्यमें व्यापकरूपसे उपलब्ध होता है। चाणक्य-नीतिका एक प्रभावशाली उदाहरण द्रष्टव्य है—

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम्॥

विद्याके समान कोई नेत्र नहीं है, सत्यके समान कोई तप नहीं है, रागके समान कोई दुःख नहीं है और त्यागके समान कोई सुख नहीं है।

भर्तृहरि-नीतिशतकमें सभी प्रकारकी नीतियोंका समावेश है। उसमें चारों आश्रम—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास एवं सज्जन, दुष्ट, मित्र, विद्वान्, मूर्ख, शत्रु, स्त्री, बालक, वृद्ध—सभीके विषयमें नीति-उपदेश भरा पड़ा है। कर्म और धैर्यकी प्रशंसामें जो कुछ लिखा है, वह मनन करने योग्य है। जिन दृष्टान्तों और उदाहरणोंका समावेश है, वे सभी अत्यन्त महत्त्वके और मननीय हैं। एक रमणीय उदाहरणकी झलक द्रष्टव्य है—

स्वायत्तमेकान्तगुणं विधात्रा विनिर्मितं छादनमज्ञतायाः।
विशेषतः सर्वविदां समाजे विभूषणं मौनमपण्डितानाम्॥
(भर्तृहरि-नीति० ७)

अर्थात् विधाताद्वारा बनाये गये मौनमें अनेक गुण हैं। इसे किसीसे माँगना नहीं पड़ता, जो चाहे इसे स्वाधीन रहनेवाली वस्तुकी भाँति काममें ला सकता है। मूर्खोंकी मूर्खताके लिये आच्छादनस्वरूप यह मौन विद्वानोंकी सभामें आभूषणस्वरूप ही है।

न्यायप्रिय पुरुषोंकी प्रशस्तिमें भर्तृहरि लिखते हैं—

असन्तो नाभ्यर्थ्या सुहृदपि न याच्य कृशधन
प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरम्।
विपद्युच्चै स्थेय पदमनुविधेय च महता
सता कनोद्दिष्ट विपममसिधाराव्रतमिदम्॥
(भर्तृहरि-नीति० २८)

अर्थात् महान् पुरुप न्यायप्रिय होते हैं, व घोर विपत्तिमे भी अनुचित कार्य नहीं करते। दुष्ट पुरुपसे या अल्प धनवाले सुहृद्से धनकी याचना कभी नहीं करते। प्राण भले ही चले जायँ परतु वे अपने गौरवको नष्ट नहीं होने देते, यह समझमे नहीं आता कि तलवारकी धारपर चलनेके समान यह कठोर व्रत उन्हे किसने सिखाया है?

महामति विदुरजीने अपनी विदुरनीतिमे राजनीतिक रहस्यको बताते हुए यह स्पष्ट किया है कि जो राजा अपनी गोपनीयता सुरक्षित रखता है अर्थात् उसकी भावी योजनाओंकी जानकारी अत्यन्त गोपनीय होती है, उसे तभी लोग जान पाते हैं जब वे योजनाएँ अपना परिणाम दे देती हैं तो ऐसे राजाकी राजनीति कभी असफल नहीं होती—

यस्य कृत्य न जानन्ति मन्त्र वा मन्त्रित परे।
कृतमेवास्य जानन्ति स वै पण्डित उच्यते॥

मानवको अपने सच्चे हितके विपयमे कभी निराश नहीं होना चाहिये। आशा ही मनुष्यको जिलाती है। भगवान्‌के प्रति विश्वास मनुष्यमे असीम बलका सचार कर देता है और फिर उसका सत्-प्रयत्न पुन प्रारम्भ हो जाता है। इसलिये नीतिशास्त्रोने हमे परामर्श दिया है—

उत्थातव्य जागृतव्य योक्तव्य भूतिकर्मसु।
भविष्यतीत्येव मन कृत्वा सततमव्यथै॥

अर्थात् 'मेरा कार्य अवश्य ही सिद्ध होगा' ऐसा दृढ निश्चय करके मनुष्यको आलस्य छोडकर उठना चाहिये और जागना चाहिये तथा प्रसन्नता और आशाके साथ कल्याणकारी उन्नतिके कार्योंमे जुट जाना चाहिये।

इस तरह हम देखते हैं कि संस्कृत-साहित्यमे जीवनके सभी क्षेत्रोंसे सम्बन्धित नीतियाँ भरी पडी है। ये नीतियाँ हमे शक्ति और आनन्दकी उपलब्धि कराकर जीवन जीनेका मार्ग प्रशस्त करती है। आवश्यकता इस बातकी है कि हम इन नीतियोंका अनुशीलन-परिशीलनकर उनके अनुसार जीवन-यापन करनेका व्रत लेना चाहिये। सत्य न्याय त्याग परोपकार, पराक्रमको हृदयगमकर नीतिगत जीवन व्यतीत करते हुए 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आधार बनाकर सबके कल्याणमे जुट जाना चाहिये। इसीसे मानवताका कल्याण होगा और धरापर स्वर्गका आगमन होगा।

मालवी लोक-साहित्यमे नीतिपरक कहावते

(प० श्रीरामप्रतापजी व्यास, एम्०ए० एम्०एड्०, साहित्यरत्न (द्वय)

मालवी लोक-साहित्यमे अनेक लोक-कहावते (कवाड) निर्दिष्ट है, जिनमे नीतिगत भावो, विचारो एव सार-तत्त्वोको दर्शाया गया है। यहाँ ऐसी ही कुछ नीतिगत मालवी कहावते दी जा रही है—

(१) 'नीति हाई बरकत'—अर्थात् जैसी हमारी नीयत होगी वैसी ही घरमे बरकत होगी।

(२) 'जैसा खावै धान, वैसी आवै ज्ञान'—जैसा हम अन्न खायँगे, वैसी ही हममे बुद्धि आयेगी।

(३) 'गुरु कीजै जान के, ने पानी पीजै छान के'—इसका तात्पर्य यह हुआ कि हमे कोई भी कार्य सोच-समझकर करना चाहिये। सोच-समझकर गुरु बनाने तथा पानीको छानकर पीनेसे पीछे पछताना नहीं पडता है।

(४) 'गई दीवारी ने गावे हीड़'—समयपर ही कार्य करना अच्छा होता है। 'हीड' नामक लोकगीत दीपावलीपर ही गाया जाता है इसके बाद नहीं।

(५) 'बिना मरे मरग नी दिसे'—बिना मृत्युके स्वर्ग दिखायी नहीं देता है अर्थात् किसी कार्यका परिणाम देखना हो तो स्वय कठोर कार्य (श्रम) करना चाहिये।

(६) 'घर मे बोले ढोकरा ने बाहर बोले छोकरा'—घरमे कही हुई बात एक-न-एक दिन बाहर निकल ही जाती है। अत हमे सोच-समझकर बोलना चाहिये।

(७) 'क्याँ राजा भोज ने क्याँ गगू तेली'—इसका भावार्थ यह है कि तुलना बराबरीवालेसे ही की जानी चाहिये।

(८) 'चलनी मे दूध काडे ने काम के दोष दवे'—हमारा कार्य करनेका मार्ग ही यदि गलत हो तो फिर भला सफलता कैसे मिल सकती है?

मालवी लोक-जीवनमे रची-पची ये कहावते हजारो वर्षोंसे मानव-जीवनका मार्ग प्रशस्त करती चली आ रही है। इतना ही नहीं यह लोक-विधा एक सजग प्रहरीके रूपमे प्रकाशस्तम्भ बनकर मालवी लोक-जीवनका सही मार्गकी ओर अग्रसर होनेमे महती भूमिका निभा रही है।

नीति-शास्त्रका सर्वोत्तम ग्रन्थ—'श्रीरामचरितमानस'

(श्रीश्यामनारायणजी शास्त्री रामायणी)

वास्तवमें श्रीरामचरितमानस समस्त निगमागम पुराण तथा उपनिषद् आदिका मन्थन करके साररूपमें निकाला गया शाश्वत नवनीत है। विश्वभरके मानवोंके लिये अनुकरणीय आचरण, आदर्श धर्म-निष्ठा, समस्त कर्तव्य-परायणता, पद-पदपर जीवके समस्त व्यवहारोंकी सुदृढ प्रतिष्ठित परम्परा तथा श्रद्धा, भक्ति, ज्ञान एवं कर्मोपासनाका सुव्यवस्थित सोपान और दिग्भ्रमितोंके लिये निर्भ्रान्त दिग्बोध-दिग्दर्शन—राजनीति, कूटनीति, अर्थनीति, धर्मनीति आदिका परिपुष्ट सिद्धान्त, जीवनकी समस्त समस्याओंका समुचित समाधान आदिका यह सर्वोत्तम अनुपम ग्रन्थ है।

इन प्रसंगोंके अन्तर्गत संक्षेपमें केवल नीति-शिक्षाका विचार-बिन्दु प्रस्तुत किया जा रहा है।

श्रीरामचरितमानसमें कहा गया है कि भगवान् परशुराममें बल-वीर्य एवं रूप तीनों ही थे, किंतु शील न होनेके कारण उनका आचरण मानवके लिये आदर्श न हो पाया। रावणमें बलोन्मत्तता थी फिर भी वह जब—

रन मद मत्त फिरइ जग धावा। प्रतिभट खोजत कतहुँ न पावा॥

—तब परम बलशाली होनेपर भी वह मानवके लिये मान्य नहीं बन पाया। किंतु श्रीराम तो रूप-शील-बल-इन तीनोंके ही धाम थे जो अन्यत्र एक स्थानपर मिलने दुर्लभ हैं। उन्होंने अपने रूपसे मिथिला तथा शीलसे अयोध्या एवं बलसे लङ्कापुरीको वशमें कर लिया। वास्तवमें श्रीसीतारामजीका विवाह तो एक माध्यम था इसमें अन्तर्भाव था बिछुड़े हुए जनोंको मिलाना जैसे—गौतम-अहल्या, विश्वामित्र और वसिष्ठ, श्रीदशरथ तथा श्रीजनक, सीता और राम एवं तीनों भाइयों—लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न तथा इनकी शक्तियोंका जो विवाह मण्डपमें सुशोभित हो रही है—

जनु जीव उर चारिउ अवस्था बिभुन सहित बिराजहीं॥

महाराज दशरथ जब श्रीरामके द्वारा शिव-धनुष टूटने और श्रीरामके साथ अपनी पुत्री जानकीका विवाह-संस्कार सम्पन्न कराने-हेतु दूतोंद्वारा निमन्त्रण-पत्र पाते हैं तो हर्ष-गद्गद हो अपने अवधपुरके बारातियोंके साथ जनकपुर आते हैं तो अवधपुरके लोगों और जनकपुरवासियोंके मिलनानन्दके वर्णनके प्रसंगमें गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

हरषि परसपर मिलन हित कछुक चले बगमेल।
जनु आनंद समुद्र दुइ मिलत बिहाइ सुबेल॥

अपने विवाहके माध्यमसे श्रीरामने इन सभीका मिलन तो करा ही दिया। आगे विवाहके अनन्तर वनवासी बनकर मुनिगणोंका मिलन और केवट, निषाद, वानर गीध, शबरी, किरात, सुग्रीव, विभीषण आदि विश्वभरके समस्त बिखरे हुए जनोंको परस्पर मिलाने एवं सभीमें प्रेम-राज्य स्थापित करने-करानेका परम सफल प्रयास किया। यह श्रीरामका अद्भुत एवं अनुपम संगठन था, जिसकी राष्ट्रमें शाश्वत आवश्यकता है। इसीलिये श्रीतुलसीदासजीने कहा—

अस को जीव जंतु जग माहीं। जेहि रघुनाथ प्रानप्रिय नाहीं॥

बालि और रावण परस्पर मित्र तथा अधर्म एवं अनीतिके पक्षपाती थे तो सुग्रीव और विभीषण धर्मनीतिके पक्षपाती थे। श्रीरामने बालि एवं रावणका उद्धार करके धर्मके राज्यकी स्थापना की। इसमें उनकी कुशल राजनीति एवं गुप्त कूटनीति भी थी। संक्षेपतः आजके परिप्रेक्ष्यमें यह धर्म-निरपेक्षतापर धर्म-सापेक्षताकी विजय थी। वास्तवमें—

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्मकः।
अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम॥

जो किसीके धर्ममें बाधा पहुँचाता है वह धर्म धर्म नहीं है बल्कि कुधर्म है। जो किसी भी धर्मका विरोध न करे वही वास्तविक धर्म है। इस कसौटीपर श्रीराम खरे उतरते हैं, इसलिये धर्मके साक्षात् स्वरूप वे ही हैं—'रामो विग्रहवान् धर्मः।' श्रीरामने अपने पूरे राज्यकालमें सारी प्रजासे सदा अपने-अपने वेदोक्त धर्मको सावधानीसे प्रतिष्ठित करने-करानेकी अक्षुण्ण परम्पराका आग्रह रखा। पूरी प्रजामें—

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग॥

यही कारण था कि समस्त भौतिक साधनोंसे सम्पन्न होनेपर भी रामके सामने रावणकी पराजय हुई और इसके कारण जिस प्रजा एवं मन्त्रिमण्डलका उस रावणने इतना

सुख-सुविधा दी कि सभी लोग प्रसन्न रहे—

जेहि जस जोग बाँटि गृह दीन्ह। सुखी सकल रजनीचर कीन्ह॥

किंतु श्रीरामका विरोधी होनेसे वही प्रजा रावणके अपयशका गान करती है—

सब मिलि देहिं रावनहिं गारी। राज करत एहिं मृत्यु हँकारी॥

श्रीरामकी प्रशंसामें अपने मरे हुए पतिके शवके सामने उसकी पत्नी स्वयं मन्दोदरी कह रही है—

अहह नाथ रघुनाथ सम कृपासिंधु नहिं आन।
जोगि बृंद दुर्लभ गति तोहि दीन्हि भगवान॥

धर्मनिरपेक्ष एवं धर्मसापेक्ष राजनीति

धर्मनिरपेक्ष और धर्मसापेक्ष राजनीतिके हानि-लाभकी ओर भी ध्यान देना चाहिये। इस प्रसंगपर थोड़ा विचार प्रस्तुत किया जा रहा है। दोनोंके अन्तरको गम्भीरतासे समझा जाय तो कुछ बातें इस प्रकार स्पष्ट होती हैं—

'धर्मसापेक्ष' (धर्मसहित) राजनीतिके पोषक श्रीरामके राज्यमें—

१-राजनीति वराङ्गना (पतिव्रता)-की भाँति पवित्र रहती है।

२-राजा धर्मपालक होता है—

सत्यसंध पालक श्रुति सेतू। राम जनमु जग मंगल हेतू॥

३-वेदोंकी शिक्षाके अनुसार, राज्यपालन तथा अनुशासन होता है।

४-धर्मके सहयोगियों—देव, विप्र, संत, पृथ्वी तथा शास्त्रोंका रक्षण होता है।

५-उपदेश मिलता है—वेदमार्गके अनुपालनका।

६-राजा राज्यके लिये समर्पित होता है।

७-संविधान वेदानुसार चलता है।

८-राज्यमें प्रीति-साम्राज्य रहता है।

९-राजा विजयका श्रेय दूसरेको देता है—

तुम्हरे बल मैं रावनु मार्‌यो।

१०-पुरस्कार मिलता है—

जातहिं राम तिलक तेहि सारा॥

११-शास्त्रकी प्रतिष्ठा होती है इसलिये राज्य आदर्श बन जाता है।

१२-प्रजा स्वतन्त्र किंतु धर्मनियन्त्रित रहती है।

१३-राजा आश्रितोंको आश्रय देते हैं।

१४-धर्मकथा होती है—

सब कें गृह गृह होहिं पुराना। रामचरित पावन बिधि नाना॥

'धर्मनिरपेक्ष' (अधर्म-सापेक्ष) राजनीति रावणके राज्यमें—

१-राजनीति वाराङ्गना (वेश्या)-की भाँति अनेक रूप धारण करती है—*'वाराङ्गनेव नृपतिनीतिरनेकरूपा'।*

२-राजा धर्मविध्वंसक होता है—

जेहि बिधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहिं बेद प्रतिकूला॥

३-राज्यपालन इच्छानुसार होता है अर्थात् मनोराज्य-शासन चलता है।

४-देव, विप्र, संत, पृथ्वी तथा वेद आदिकी अप्रतिष्ठा होती है।

५-रावणादेश चलता है—वेद-मार्गके उल्लंघनका।

६-रावण राज्यको अपने लिये समर्पित मानता है।

७-संविधान वेदविरुद्ध नीतिके अनुसार चलता है—

सो सब करहिं बेद प्रतिकूला॥

८-राज्यमें भीतिका साम्राज्य रहता है।

९-राजाकी शक्ति वैर बढ़ानेको प्रेरित करती है—

निज भुज बल मैं बयरु बढ़ावा।

१०-रावणके राज्यमें हितैषी जनोंको तिरस्कार मिलता है।

११-शस्त्रकी प्रतिष्ठा होती है और आतङ्क पनपता है।

१२-राज्यशक्ति प्रजाको परतन्त्रता प्रदान करती है।

१३-राजा आश्रितोंको प्रवास देता है।

१४-सत्कथा नहीं होती दुर्व्यवस्थासे व्यथा ही व्यथा होती है—जो भी हितकी बात करता है वह दण्डका भागी बनता है—

तेहि बहुबिधि त्रासइ देस निकासइ जो कह बेद पुराना॥

इस प्रकार धर्मसापेक्ष एवं अधर्म-सापेक्ष (धर्म-निरपेक्ष) राजनीतिका थोड़ा-सा उदाहरण दिया गया है, जो राम-रावणके माध्यमसे प्रस्तुत किया गया। उक्त दोनों राज्य-संचालनका परिणाम देखकर जाना जा सकता है कि किसके द्वारा राष्ट्रका कल्याण सम्भव है। धर्म-विहीन राजनीति वस्तुतः सुस्थिर एवं सुव्यवस्थित राष्ट्ररक्षण-परम्परा नहीं दे सकती। धर्मसापेक्ष राजनीति न्याय, सुरक्षा, सुव्यवस्था, सुख एवं शान्ति आदि सब कुछ दे सकती है। क्योंकि—

धर्मेण राज्यं लभते मनुष्यः
स्वर्गं च धर्मेण नरः प्रयाति।
आयुश्च कीर्तिं च तपश्च धर्मं
धर्मेण मोक्षं लभते मनुष्यः॥

मनुष्य धर्मसे ही राज्य प्राप्त करता है, धर्मसे ही स्वर्ग-लाभ करता है तथा आयु, कीर्ति, तप और धर्मकी प्राप्तिके साथ-साथ अन्तमें वह मोक्ष भी प्राप्त कर लेता है।

संक्षेपतः धर्मराज्य ही रामराज्य एवं अधर्मराज्य ही रावणराज्य है।

वर्तमानमें धर्मराज्यकी अनिवार्यता

धर्मोऽत्र मातापितरौ नरस्य
धर्मः सखा चात्र परे च लोके।
त्राता च धर्मस्त्विह मोक्षदश्च
धर्मादृते नास्ति तु किंचिदेव॥

अर्थात् इस लोकमें माता और पिता, सखा एवं रक्षक होनेके साथ-साथ ही परलोकमें भी धर्म ही सबसे बड़ा सबल है। परलोकमें जीवका सर्वदा साथ देनेवाला केवल धर्म ही है और कुछ नहीं।

भगवान् वेदव्यास अपने जीवनका समग्र अनुभव एवं सर्वकल्याणकारी मार्ग अपनी दोनों भुजा उठाकर बताते हैं—'अरे मानवो! सावधानीसे इस बातको सुनो—'धर्मादर्थश्च *कामश्च स किमर्थं न सेव्यते?*' धर्मके द्वारा अर्थ तथा काम सभी प्राप्त हो जाते हैं, उसका क्यों नहीं आचरण करते हो? भगवान् वेदव्यासके वचनोंकी आज साक्षात् उपेक्षा हो रही है।

राष्ट्रमें आज अनाचार, भ्रष्टाचार, झूठ, दगा, फरेब, अन्याय, आतंकवाद, अत्याचार, हत्या, अपहरण, असुरक्षा, चोरी, डकैती, बलात्कार आदि जो भी अनर्थ हो रहे हैं, उनके मूलमें केवल धर्म-नीतिका आचरण—पालन न करना ही एकमात्र कारण है। आज भी जो राष्ट्र अपने राष्ट्रधर्मका पालन कर रहे हैं, वे सब प्रकारसे सुखी और समृद्ध हैं।

धर्मका यदि पालन—आचरण किया जाता तो उक्त समस्त अनाचरणोंका समाधान एकमात्र धर्म-सेवनसे ही हो जाता; क्योंकि—

धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्।

समस्त प्रजाकी सुरक्षा एकमात्र धर्मको स्वीकार कर लेने मात्रसे ही हो जाती थी। श्रीरामराज्यकी प्रशंसा आजतक होती चली आयी है और भविष्यमें भी होती ही रहेगी। क्योंकि—

सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥
चारिउ चरन धर्म जग माहीं। पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं॥

शासन-परम्परा कैसी होनी चाहिये इस बातको 'हनुमन्नाटक'में बताते हुए कहा गया है कि शासकको मालीकी भाँति प्रजाका पालक होना चाहिये—

उत्खातान् प्रतिरोपयन् कुसुमिताश्चिन्वन् लघून् वर्धयन्
क्षुद्रान् कण्टकिनो बहिर्निरसयन् विश्लेषयन् संहतान्।
अत्युच्चान्नमयन् नतांश्च शनकैरुन्नामयन् भूतले
मालाकार इव प्रयोगचतुरो राजा चिरं नन्दतु॥

१-'जैसे माली उखड़े हुए वृक्षोंको पुनः रोपता है वैसे ही राजाको भी दीन-हीन प्रजाजनोंके लिये ठीकसे अन्न, धन, वस्त्र तथा भवन आदिकी व्यवस्था करनी चाहिये। श्रीरामने सुग्रीव-विभीषण, वानर-भालुओंको इसी प्रकार बसाया।

२-जिन वृक्षोंमें फल, फूल अधिक हों उनको चुनकर, भार कमकर अलग करके छोटे वृक्षोंको बढ़ानेका प्रयास करे। श्रीरामने यही किया केवट निषादके साथ—

राम कृपाल निषाद नेवाजा। परिजन प्रजउ चहिअ जस राजा॥

३-काँटोंसे दबे छोटे वृक्षोंको काँटोंसे निकालकर बाहर लगाकर जल-खाद देकर उसे पुष्ट करनेका प्रयास करे। श्रीरामने यही किया—

सिय निंदक अघ ओघ नसाए। लोक बिसोक बनाइ बसाए॥

४-जो वृक्ष बहुत घने हों उनको और भी बढ़नेके लिये व्यवस्था देनेके लिये और जो उनके पासमें अत्यधिक घने होनेसे बढ़ नहीं पा रहे हैं उनको निकालकर अलग स्थापित करके दोनोंका ही संवर्धन कराये।

५-जो अति ऊँचे हों उनको थोड़ा झुकाना या छाँटना करना, जो बहुत दबे हैं उनको थोड़ा लकड़ीका सहारा देकर पृथ्वीपर खड़ा करना। गुरु वसिष्ठ एवं निषादराज-मिलनके समयपर श्रीरामके व्यवहारमें यह देखा जा सकता है—

प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि तें दंड प्रनामू॥
रामसखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा॥
एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं। बड़ बसिष्ठ सम को जग माहीं॥

जेहि लखि लखनहु तें अधिक मिले मुदित मुनिराउ।
सो सीतापति भजन को प्रगट प्रताप प्रभाउ॥

भरत एवं वसिष्ठजीके साथ आनेपर उस मिलन-

प्रसगम भी यही बात है—

लोक बेद सब भाँतिहिं नीचा। जासु छाँह छुइ लेइअ सीचा॥
तेहि भरि अक राम लघु भ्राता। मिलत पुलक परिपूरित गाता॥

वसिष्ठजीसे—

देखि दूरि त कहि निज नामू। कीन्ह मुनीसहि दड प्रनामू॥
जानि रामप्रिय दीन्हि असीसा।

स्वय निषादराजन इस गरिमाका कारण बताया—

राम कीन्ह आपन जबही त। भयउँ भुवन भूषन तबही तें॥

इस प्रकार आज मालीकी भाँति राजाका तथा मन्त्रीगणाको प्रजाकी सुरक्षा-सुव्यवस्थाका ध्यान रखना चाहिये।'

राष्ट्रके बहुमुखी उत्थानके लिये मातृशक्तिकी प्रतिष्ठा

भावी परम्पराको यदि सुसस्कृत एव राष्ट्रापयोगा बनाना है ता सर्वप्रथम इसके मूलम स्थित मातृशक्तिको मानना हागा सुयोग्य बनाना हागा, क्योकि हमारे वेदाका उद्घाप है—'मातृदेवो भव।' सर्वप्रथम मार्गदर्शक माँ ही है तदनन्तर गुरु तत्पश्चात् सरक्षक ह। भारतीय सस्कृतिम आजतक जहाँ-जहाँ कल्याण मङ्गल करुणा, उदारता, निर्मलताका दर्शन भारतीय मनीषियान किया वहाँपर माँको ही प्रथमत मूलम पाया ह, क्याकि इसाका दूध सर्वप्रथम पिया है। इसके बाद परम पुनीत दिव्य जल पिया तो गङ्गा माँका दूध पिया ता गो माताका तत्पश्चात् पर्यावरण शुद्ध किया ता तुलसी माँसे, मन और बुद्धिका शुद्ध किया तो गायत्री माँस तथा धैर्य, क्षमा, सहिष्णुताका दर्शन किया तो सर्वसहा धरती माताम आर सस्कार, सस्कृति, उदारताका दशन किया तो भारत माँम। मूलरूपसे तो राष्ट्रके समस्त चरित्रका प्रकाशन एव गौरव-गरिमा-मण्डनका आधार मातृशक्ति हा है। इतिहासको यदि गम्भीर रूपसे दखा जाय ता हमारा भारतीय सस्कृतिकी उन्नायिका एव महापुरुपाक दिव्य जावन-चरित्रकी सवाहिका मातृशक्ति ही हे।

श्रीराम श्रीकृष्ण ध्रुव, प्रह्लाद, भरत रन्तिदेव अम्बरीष अज दिलीप तथा रघुस लकर आजतकके छत्रपति शिवाजी, महाराणा प्रताप, बन्दा बरागी इत्यादिकी जन्मदात्री उपदशिका, पथ-प्रदर्शिका चरित्र-निमाण करनवाली ओर काई नहीं, मातृशक्ति ही हे।

किंतु आज स्थिति विपरीत ही दिखती ह। विडम्बना ह कि मातृशक्तिका प्राय विकृत स्वरूप ही आज सामने आ रहा है। आजकी पाढी ता अपन प्राचीन गारवका सुनने तथा स्वीकार करनेमे लज्जाका अनुभव करती हे।

वह भी समय था, जब महारानी ककयीने समस्त अपयश अपन ऊपर लेकर अयोध्या-निवासियाका स्थायी सुयश दिलाया। श्रीरामने कभी भी माँ ककेयीपर किसी प्रकारका दापारोपण नहा किया, अपितु चोदह वर्षके वनवाससे वापस आकर उन्हान सर्वप्रथम माँ ककयीके ही महलम जाकर एव समझाकर उन्ह सतुष्ट किया आर कहा—माँ, यदि आप हम वनका न भजतीं ता—

हमार पिता श्रीदशरथजी कितन पुत्रस्नेही ह एव पिताके कसे आज्ञापालक पुत्र हैं? यह लोग कसे जानते। भरतजी, लक्ष्मणजी, शत्रुघ्नजी केसे आदर्श बन्धु ह। हनुमान् कस वीर एव सर्वगुणसम्पन्न हैं—लाग कस समझ पाते। सुग्रीवका सखा-भाव सीताका पातिव्रत, अवधपुरवासियाका विशुद्ध प्रम आदि सबकी गुण-गोरव-गरिमाका आपन स्वय कलक लेकर प्रकाशित कराया। इस कारण माँ आप परम धन्य है, यशस्विना हे। ऐसे अनेक दृष्टान्त भर पडे ह मातृ-गौरव-परम्पराक।

श्रीरामन अपने स्वयक परम दिव्य मानवादर्शका ससारम इसीलिय स्थापित किया कि आगकी पीढियाँ अपन आदर्शको इसी प्रकार स्थापित करके भारतीय सस्कृतिकी गरिमा-परम्पराका विश्वमे आलोकित कर सक। इसा कारण राम-राज्य एव उनके आदर्शकी गाथा अनन्त वर्षोंम निरन्तर गायी जा रही है और आग भी गायी जाती रहगी साथ ही यह उद्घाप भी बराबर गूँजता ही रहगा—

न राममदृशा राजा पृथिव्या नीतिमानभूत्।
(शुक्रनाति)
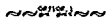
शान्तितुल्य तपा नास्ति न सन्तापात्पर सुखम्। न तृष्णाया परा व्याधिर्न च धर्मो दयापर ॥

शान्तिके समान काई तप नहीं है सन्तोपस बढकर काइ सुख नहीं है, तृष्णास बडी काइ व्याधि नहीं है और दयाक समान काई धर्म नहीं है।

श्रीरामचरितमानस नीति-शिक्षाका सर्वोत्तम ग्रन्थ

(डॉ० श्रीवनवारीलालजी यादव)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीका श्रीरामचरितमानस नीति-शिक्षाका सर्वोत्तम ग्रन्थ है। इसका शुभारम्भ करते समय श्रीतुलसीदासजीने जहाँ श्रीसरस्वतीजी, श्रीगणेशजी, श्रीपार्वतीजी, श्रीशङ्करजी आदि देवताओंकी वन्दना की है, वहीं वे दुष्टजनोंको भी हाथ जोड़कर प्रेमपूर्वक विनय करनेमें नहीं चूके हैं। वे जानते हैं कि संतोंका न कोई मित्र है और न कोई शत्रु, इसलिये वे दोनोंका ही समानरूपसे कल्याण करते हैं। किंतु दुष्टोंकी यह रीति है कि वे उदासीन, शत्रु अथवा मित्र—किसीका भी हित सुनकर जलते हैं। यह जानकर दोनों हाथ जोड़कर यह जन प्रेमपूर्वक उनसे विनय करता है—

उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिं खल रीति।
जानि पानि जुग जोरि जन बिनती करइ सप्रीति॥
(रा०च०मा० १।४)

संगतिके बारेमें वे कहते हैं कि बुरे संगसे हानि और अच्छे संगसे लाभ होता है। जैसे पवनके संगसे धूल आकाशपर चढ़ जाती है और वही नीच (नीचेकी ओर बहनेवाले) जलके संगसे कीचड़में मिल जाती है। साधुके घरके तोता-मैना राम-रामका सुमिरन करते हैं और असाधुके घरके तोता-मैना गिन-गिनकर गालियाँ देते हैं—

गगन चढ़इ रज पवन प्रसंगा। कीचहिं मिलइ नीच जल संगा॥
साधु असाधु सदन सुक सारीं। सुमिरहिं राम देहिं गनि गारीं॥
(रा०च०मा० १।७।९-१०)

सतीजीके पिता दक्षने यज्ञ किया। उन्होंने सबको निमन्त्रित किया, किंतु अपनी पुत्री सतीजी तथा जामाता शिवजीको निमन्त्रित नहीं किया। जब सतीजीको यज्ञके बारेमें पता चला तो उन्होंने शिवजीसे यज्ञमें जानेकी आज्ञा माँगी। शिवजी उन्हें समझाते हैं—

जदपि मित्र प्रभु पितु गुर गेहा। जाइअ बिनु बोलेहुँ न सँदेहा॥
तदपि बिरोध मान जहँ कोई। तहाँ गएँ कल्यानु न होई॥
(रा०च०मा० १।६२।५-६)

यद्यपि इसमें संदेह नहीं है कि मित्र, स्वामी, पिता और गुरुके घर बिना बुलाये भी जाना चाहिये तो भी जहाँ कोई विरोध मानता हो, उसके घर जानेसे कल्याण नहीं होता। सतीजी गयीं और इसका क्या परिणाम हुआ यह सर्वविदित है।

शत्रुको कभी कमजोर नहीं समझना चाहिये। उसके छल प्रपञ्च तथा उसकी मीठी-मीठी बातोंसे सदा सावधान रहना चाहिये। राजा प्रतापभानु कालकेतु राक्षसके छल-प्रपञ्चको नहीं समझ सके। इस विषयमें श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

रिपु तेजसी अकेल अपि लघु करि गनिअ न ताहु।
अजहुँ देत दुख रबि ससिहि सिर अवसेषित राहु॥
(रा०च०मा० १।१७०)

तेजस्वी शत्रु अकेला भी हो तो उसे छोटा नहीं समझना चाहिये। जिस राहुका मात्र सिर बचा था वह राहु आजतक सूर्य-चन्द्रमाको दुःख देता है।

सेवकको अपने कार्यके लिये स्वामीके घर जाना चाहिये ऐसी नीति है। श्रीरामचन्द्रजीके राज्याभिषेकके लिये दशरथजीने वसिष्ठजीको बुलाया और उन्हें शिक्षा (उपदेश) देनेके लिये श्रीरामचन्द्रजीके महलमें भेजा। श्रीरघुनाथजीने दरवाजेपर आकर उनके चरणोंमें मस्तक नवाया और दोनों हाथ जोड़कर उन्होंने कहा—

सेवक सदन स्वामि आगमनू। मंगल मूल अमंगल दमनू॥
तदपि उचित जनु बोलि सप्रीती। पठइअ काज नाथ असि नीती॥
(रा०च०मा० २।९।५-६)

यद्यपि सेवकके घर स्वामीका पधारना मङ्गलोंका मूल और अमङ्गलोंका नाश करनेवाला होता है, तथापि हे नाथ! उचित तो यही था कि प्रेमपूर्वक दासको ही कार्यके लिये बुला भेजते, ऐसी ही नीति है।

जब राजा दशरथने कैकेयीको दिये वचनोंका पालन करते हुए श्रीरामचन्द्रजीको चौदह वर्षका वनवास दिया और जब लक्ष्मणजीने यह समाचार पाया तब उन्होंने श्रीरामजीके चरण पकड़ लिये। वे कुछ कह नहीं सके और खड़े-खड़े दीनकी तरह देखते रहे। श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणजीको नीतिकी बात समझाते हुए कहते हैं कि हे तात! परिणाममें होनेवाले आनन्दको हृदयमें समझकर तुम प्रेमवश अधीर मत होओ—

मातु पिता गुरु स्वामि सिख सिर धरि करहिं सुभायँ।
लहेउ लाभु तिन्ह जनम कर नतरु जनमु जग जायँ॥

(रा०च०मा० २।७०)

जो लोग माता, पिता, गुरु और स्वामीकी शिक्षाको स्वाभाविक ही सिर चढाकर उसका पालन करते है, उन्होने ही जन्म लेनेका लाभ पाया है, नही तो जगत्‌मे जन्म लेना व्यर्थ ही है।

राजाका पद पाकर मनुष्यको राज्यमद हो जाता है। उस मदमे अन्धा होकर राजा धर्म और नीतिको त्यागकर अनीतिपर चलने लगता है। यहाँ इसी प्रसगमे राजा दशरथके पूछनेपर सुमन्त, श्रीरामचन्द्रजीने जो कुछ भरतके विषयमे कहा उसका वर्णन करते है—

कहब सँदेसु भरत के आएँ। नीति न तजिअ राजपदु पाएँ॥
पालेहु प्रजहि करम मन बानी। सेएहु मातु सकल सम जानी॥

(रा०च०मा० २।१५२।३-४)

भरतके आनेपर उनको मेरा सदेश कहियेगा कि राजाका पद पा जानेपर नीति न छोड देना, कर्म, वचन और मनसे प्रजाका पालन करना और सब माताओको समान जानकर उनकी सेवा करना।

स्त्रीका पति ही उसका परमेश्वर होता है। मन शरीर और वचनसे उसे पतिकी सेवा करनी चाहिये। अनसूयाजी सीताजीको अपनी मधुर कोमल वाणीसे समझाती हैं—

एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा॥

(रा०च०मा० ३।५।१०)

शूर्पणखा रावणसे नीतिकी बात कहती है—

राज नीति बिनु धन बिनु धर्मा। हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा॥
बिद्या बिनु बिबेक उपजाएँ। श्रम फल पढ़ किएँ अरु पाएँ॥
संग तें जती कुमंत्र ते राजा। मान ते ग्यान पान तें लाजा॥
प्रीति प्रनय बिनु मद ते गुनी। नासहिं बेगि नीति अस सुनी॥

(रा०च०मा० ३।२१।८—११)

नीतिके बिना राज्य और धर्मके बिना धन प्राप्त करनेसे भगवान्‌को समर्पण किये बिना उत्तम कार्य करनेसे और विवेक उत्पन्न किये बिना विद्या पढनेसे परिणाममे श्रम ही हाथ लगता है। विषयोके सङ्गसे संन्यासी, बुरी सलाहसे राजा मानसे ज्ञान, मदिरा-पानसे लज्जा, नम्रताके बिना प्रीति और मद (अहकार)-से गुणवान् शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं ऐसी नीति मैने सुनी है।

स्वार्थपरायण और नीच रावण मारीचके पास गया एव उसको सिर नवाया भगवान् शङ्कर कहते है—

नवनि नीच के अति दुखदाई। जिमि अकुस धनु उरग बिलाई॥
भयदायक खल कै प्रिय बानी। जिमि अकाल के कुसुम भवानी॥

(रा०च०मा० ३।२४।७-८)

नीचका झुकना (नम्रता) भी अत्यन्त दु खदायी होता है। जैसे अकुश धनुष साँप और बिल्लीका झुकना। हे भवानी! दुष्टकी मीठी वाणी भी उसी प्रकार भय देनेवाली होती है जैसे बिना ऋतुके फूल।

जब रावणने मारीचसे कहा कि तुम छल करनेवाले कपट-मृग बनो, जिससे मै उस राजवधू (सीता)-को हर लाऊँ तब मारीचने कहा—'वे (राम) मनुष्यरूपमे चराचरके ईश्वर है। हे तात! उनसे वैर न कीजिये। उन्हीके मारनेसे मरना और उनके जिलानेसे जीना होता है सबका जीवन-मरण उन्हींके अधीन है। अत अपने कुलका कुशल विचारकर आप घर लौट जाइये'। यह सुनकर रावण जल उठा और उसने उसे बहुत-सी गालियाँ दीं। तब मारीचने हृदयमे अनुमान किया कि—

तब मारीच हृदयँ अनुमाना। नवहि बिरोधें नहिं कल्याना॥
सस्त्री मर्मी प्रभु सठ धनी। बैद बंदि कबि भानस गुनी॥

(रा०च०मा० ३।२६।३-४)

शस्त्री (शस्त्रधारी), मर्मी (भेद जाननेवाला), समर्थ स्वामी, मूर्ख धनवान्, वैद्य भाट कवि और रसोइया—इन नौ व्यक्तियोसे विरोध (वैर) करनेमे कल्याण (कुशल) नहीं होता।

जब श्रीरामने छिपकर बालिके हृदयमे बाण मारा तब उसने प्रभुको पहचानकर चित्तको उनके चरणोमे लगा दिया। उसके हृदयमे प्रीति थी, पर मुखमे कठोर वचन थे। वह श्रीरामजीकी ओर देखकर बोला—हे गोसाइ! आपने धर्मकी रक्षाके लिये अवतार लिया है और मुझे व्याधकी तरह (छिपकर) मारा? मैं वैरी और सुग्रीव प्यारा? हे नाथ!

सृष्टिके रचयिता, पालक और संहारक हैं।

रावणका पुत्र प्रहस्त हाथ जोड़कर कहता है, प्रभो—

वचन परम हित सुनत कठोरे। सुनहिं जे कहहिं ते नर प्रभु थोरे॥
प्रथम बसीठ पठउ सुनु नीती। सीता देइ करहु पुनि प्रीती॥

(रा०च०मा० ६।९।९-१०)

सुननेमें कठोर परंतु (परिणाममें) परम हितकारी वचन जो सुनते और कहते हैं, वे मनुष्य बहुत ही थोड़े हैं। नीति सुनिये, [उसके अनुसार] पहले दूत भेजिये और [फिर] सीताको देकर श्रीरामजीसे प्रीति (मेल) कर लीजिये।

अंगद रावणको समझाता है—

प्रीति बिरोध समान सन करिअ नीति असि आहि।
जौं मृगपति बध मेडुकन्हि भल कि कहइ कोउ ताहि॥

(रा०च०मा० ६।२३ (ग))

प्रीति और वैर बराबरवालोंसे ही करना चाहिये नीति ऐसी ही है। सिंह यदि मेढकोंको मारे तो क्या उसे कोई भला कहेगा?

जब अंगद लङ्कासे वापस आ गये तो श्रीरामजीने सुवेल पर्वतपर उन्हें बुलाकर अपने पास बैठाया और उनसे हँसकर बोले। हे तात! मुझे बड़ा कौतूहल है। इसीसे मैं तुमसे पूछता हूँ, सत्य कहना। जो रावण राक्षसोंके कुलका तिलक है और जिसके अतुलनीय बाहुबलकी जगत्‌में प्रसिद्धि है उसके चार मुकुट तुमने किस प्रकारसे पाये! [अंगदने कहा—] हे सर्वज्ञ! हे शरणागतको सुख देनेवाले! सुनिये वे मुकुट नहीं हैं। वे तो राजाके चार गुण हैं—

साम दान अरु दंड बिभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा॥
नीति धर्म के चरन सुहाए। अस जियँ जानि नाथ पहिं आए॥

(रा०च०मा० ६।३८।९-१०)

हे नाथ! वेद कहते हैं कि साम दान, दण्ड और भेद—ये चारों राजाके हृदयमें बसते हैं। ये नीति—धर्मके चार सुन्दर चरण हैं। किंतु रावणमें धर्मका अभाव है ऐसा जीमें जानकर ये नाथके पास आ गये हैं।

श्रीरामजी जब रावणसे द्वन्द्व-युद्धके लिये रथ चलाकर आगे आये तो रावणने बहुत-से दुर्वचन श्रीरामको कहे। उसके दुर्वचन सुनकर उसे कालवश जान कृपानिधान श्रीरामजीने हँसकर यह वचन कहा—

तुम्हारी सारी प्रभुता जैसा तुम कहते हो बिलकुल सच है। पर अब व्यर्थ बकवाद न करो, अपना पुरुषार्थ दिखलाओ—

जनि जल्पना करि सुजसु नासहि नीति सुनहि करहि छमा।
संसार महँ पूरुष त्रिबिध पाटल रसाल पनस समा॥
एक सुमनप्रद एक सुमन फल एक फलइ केवल लागहीं।
एक कहहिं कहहिं करहिं अपर एक करहिं कहत न बागहीं॥

(रा०च०मा० ६।९० छं०)

व्यर्थ बकवाद करके अपने सुन्दर यशका नाश न करो। क्षमा करना, तुम्हें नीति सुनाता हूँ, सुनो! संसारमें तीन प्रकारके पुरुष होते हैं—पाटल (गुलाब) आम और कटहलके समान। एक [पाटल] फूल देते हैं एक [आम] फूल और फल दोनों देते हैं और एक [कटहल]-में केवल फल ही लगते हैं। इसी प्रकार [पुरुषोंमें] एक कहते हैं [करते नहीं] दूसरे कहते और करते भी हैं एवं [तीसरे] केवल करते हैं पर वाणीसे कहते नहीं।

श्रीरामजीने भरतजीसे कहा—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥
निर्नय सकल पुरान बेद कर। कहेउँ तात जानहिं कोबिद नर॥

(रा०च०मा० ७।४१।१-२)

हे भाई! दूसरोंकी भलाईके समान कोई धर्म नहीं है और दूसरोंको दुःख पहुँचानेके समान कोई नीचता (पाप) नहीं है। हे तात! समस्त पुराणों और वेदोंका यह निर्णय (निश्चित सिद्धान्त) मैंने तुमसे कहा है, इस बातको पण्डितलोग जानते हैं।

श्रीरामचरितमानसका उत्तरकाण्ड तो भगवान्‌की भक्तिकी शिक्षासे ज्ञानसे भरा हुआ है।

काकभुशुण्डिजी गरुडजीको भगवान्‌के भजनकी महिमाके बारेमें बतलाते हैं—

रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिषान॥

(रा०च०मा० ७।७८ (क))

श्रीरामचन्द्रजीके भजन बिना जो मनुष्य मोक्षपद चाहता है वह ज्ञानवान् होनेपर भी बिना पूँछ और सींगका पशु है।

गुन सब सुख ऐसे। लवन बिना बहु बिंजन जैसे॥
सुख कवन काजा। अस बिचारि बोलउँ खगराजा॥
(रा०च०मा० ७।८४।५-६)

रस रहित सब गुण और सब सुख वैसे ही फीके नमकके बिना बहुत प्रकारके भोजनके पदार्थ। हित सुख किस कामके?

ारि असि नीति श्रुति संमत सज्जन कहहिं।
नीचहु सन प्रीति करिअ जानि निज परम हित॥
(रा०च०मा० ७।९५ (क))

ारुडजी! वेदोंमें मानी हुई ऐसी नीति है और कहते हैं कि अपना परम हित जानकर अत्यन्त प्रेम करना चाहिये।

कभुशुण्डिजी अपने पहले जन्मकी कथा कहते हैं न मुझे बहुत प्रकारसे नीतिकी शिक्षा दी। उन्होंने हरिका सेवक कहा। यह सुनकर हे पक्षिराज! जल उठा। नीच जातिका मैं विद्या पाकर ऐसा हो दूध पिलानेसे साँप। मैं दिन-रात गुरुजीसे द्रोह ज़ी अत्यन्त दयालु थे, उनको थोड़ा-सा भी क्रोध। [मेरे द्रोह करनेपर भी] वे बार-बार मुझे उत्तम शिक्षा देते थे। अब वे अपने बारेमें बतलाते हैं—

नीच बड़ाई पावा। सो प्रथमहिं हति ताहि नसावा॥
सभव सुनु भाई। तेहि बुझाव घन पदवी पाई॥
(रा०च०मा० ७।१०६।९-१०)

। मनुष्य जिससे बड़ाई पाता है, वह सबसे पहले ारकर उसीका नाश करता है। हे भाई! सुनिये, त्पन्न हुआ धुआँ मेघकी पदवी पाकर उसी अग्निको बुझा देता है—

सुनु खगपति अस समुझि प्रसंगा। बुध नहिं करहिं अधम कर संगा॥
कबि कोबिद गावहिं असि नीती। खल सन कलह न भल नहिं प्रीती॥
(रा०च०मा० ७।१०६।१८-१४)

हे पक्षिराज गरुडजी! सुनिये, ऐसी बात समझकर बुद्धिमान् लोग अधम (नीच)-का सङ्ग नहीं करते। कवि और पण्डित ऐसी नीति कहते हैं कि दुष्टसे न कलह ही अच्छा है, न प्रेम ही।

पक्षिराज गरुडजीके पूछनेपर कि यह बताइये कि सबसे दुर्लभ कौन-सा शरीर है? काकभुशुण्डिजीने कहा— हे तात! अत्यन्त आदर और प्रेमके साथ सुनिये। मैं यह नीति संक्षेपसे कहता हूँ—

नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत तेही॥
नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी। ग्यान बिराग भगति सुभ देनी॥
(रा०च०मा० ७।१२१।९-१०)

मनुष्य-शरीरके समान दूसरा कोई शरीर नहीं है। चर-अचर सभी जीव उसकी याचना करते हैं। वह मनुष्य-शरीर नरक, स्वर्ग और मोक्षकी सीढ़ी है तथा कल्याणकारी ज्ञान, वैराग्य और भक्तिको देनेवाला है।

सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर। होहिं बिषय रत मंद मंद तर॥
काँच किरिच बदलें ते लेहीं। कर ते डारि परस मनि देहीं॥
(रा०च०मा० ७।१२१।११-१२)

ऐसे मनुष्य-शरीरको धारण (प्राप्त) करके भी जो लोग श्रीहरिका भजन नहीं करते और नीचसे भी नीच विषयोंमें अनुरक्त रहते हैं, वे पारसमणिको हाथसे फेंक देते हैं और बदलेमें काँचके टुकड़े ले लेते हैं।

वृक्षं क्षीणफलं त्यजन्ति विहगाः शुष्कं सरः सारसाः
पुष्पं पर्युषितं त्यजन्ति मधुपा दग्धं वनान्तं मृगाः।
निर्द्रव्यं पुरुषं त्यजन्ति गणिका भ्रष्टश्रियं मन्त्रिणः
सर्वं कार्यवशाज्जनोऽभिरमते कस्यास्ति को वल्लभः॥

पक्षी फल न रहनेपर वृक्षको छोड़ देते हैं, सारस जल सूख जानेपर सरोवरका परित्याग कर देते और बासी फूलको, मृग दग्ध वनको, वेश्या निर्धन पुरुषको तथा मन्त्रीगण श्रीहीन राजाको छोड़ देते सब लोग अपने-अपने स्वार्थवश ही प्रेम करते हैं, वास्तवमें कौन किसका प्रिय है?

श्रीरामचरितमानसमे नैतिक शिक्षा

(डॉ० श्रीजगेशनारायणजी शर्मा, मानसमराल)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीद्वारा विरचित श्रीरामचरितमानस नैतिक शिक्षाका आदर्श ग्रन्थ ह। श्रीरामचरितमानसके विविध प्रसगाम भिन्न-भिन्न पात्राद्वारा नेतिक उपदेश दिय गये ह।

ये नैतिक उपदश आदर्श पात्राद्वारा भी दिये गये ह ओर आदर्शविहीन पात्राद्वारा भी। इसके पीछे गास्वामीजीका निहित भाव यह हे कि जा आदर्श पात्र ह व स्वय अपने जीवनम नीतिका कठोरतासे पालन करत हें आर आवश्यकता पडनेपर दूसरके लिये उपदेश भी दत ह।

दूसरे प्रकारक एस भी लाग हें जा स्वय ता नैतिकताका पालन नहीं करते किंतु दूसराका उपदेश दनेम कुशल हाते ह। ऐसे कार उपदेशकापर गास्वामीजीन मीठा व्यग्य भी किया हे—

पर उपदेस कुसल वहुतर। जे आचरहि ते नर न घनर॥
(६।७८।२)

ऐसे खोखल उपदेशकाका समाजपर कुछ भी प्रभाव नहीं पडता, क्याकि दूसरका आदर्श वनानक पहले स्वयका आदर्श ओर नीतिक ढॉचम ढालना अपरिहार्य हाता ह।

श्रीरामचरितमानसके गायका आर वक्ताआक लिये गोस्वामीजीने एक बडा ही सुन्दर नीतिका उपदेश दिया है—

जे गावहिं यह चरित सँभार। तेइ एहि ताल चतुर रखवारे॥
(१।३८।२)

कविके कहनका तात्पर्य यह है कि श्रीरामचरितमानसकी मनमाना व्याख्या करनका किसीका अधिकार नहीं ह। जा शास्त्रीय मर्यादाके अनुसार इसकी व्याख्या कर सकता ह वही इस ग्रन्थका रक्षक है। कविद्वारा निहित भावाको प्रकाशित करना ही व्याख्याकाराका कर्तव्य ह, न कि मनमाना अर्थ करना।

यहाँ हम पात्रा और प्रमगाक माध्यमसे श्रीरामचरितमानसके कतिपय नीतिगत उपदेशाका मूल्याकन करगे। जव माता सतीने भगवान् शङ्करसे अपने पिताक यज्ञम जानेकी अनुमति माँगी तो भगवान् आशुतोषने उन्ह नीतिका सुन्दर उपदेश दिया—

जा विनु बोल जाहु भवानी। रहइ न सीलु सनेहु न कानी॥
जदपि मित्र प्रभु पितु गुर गहा। जाइअ बिनु बालहुँ न सँदेहा॥
तदपि बिराध मान जहँ कोई। तहाँ गएँ कल्यानु न हाई॥
(१।६२।४—६)

शङ्करजीके कहनेका तात्पर्य है कि किसाक उत्सवम विना वुलाये नहीं जाना चाहिये, क्याकि वहाॅ जानवालके शील, स्नेह आर मान-मर्यादाकी हानि हाती ह। यद्यपि मित्र, माता-पिता, स्वामी ओर गुरुक घर जानम किसी निमन्त्रणकी प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिये, वहाॅ तो बिना बुलाय भी जाना उचित ही ह, किंतु यदि इनस विराध हो जाय तो वहाँ जानपर कल्याण नही हाता। सतीन इस नातिवाक्यकी उपक्षा की जिसका दुष्परिणाम यह हुआ कि दक्षद्वारा अपमानित हाकर उन्ह आत्मदाह करना पडा।

भगवती सतीन भी इसी प्रसगम एक सुन्दर नातिका उपदश दिया हे, जिसका पालन सभीका करना चाहिय। उन्हान कहा हे कि जिस सभाम सत, शङ्कर, विष्णु आदि पूज्य लागाकी निन्दा हो रही हो वहाॅस या ता कान बद करके चले जाना चाहिये अथवा निन्दा करनवालका विरोध करना चाहिय—

सत सभु श्रीपति अपबादा। सुनिअ जहाँ तह असि मरजादा॥
काटिअ तासु जीभ जो वसाई। श्रवन मूदि न त चलिअ पराई॥
(१।६४।३-४)

भगवान् शङ्करने एक स्थलपर प्रभु श्रीरामसे कहा ह कि हे प्रभो! आपकी आज्ञा शिरोधार्य ह। क्याकि माता पिता, गुरु ओर प्रभुकी आज्ञा बिना विचार किये ही स्वीकार करनी चाहिये। इनकी आज्ञा मानना शुभदायक ह—

मातु पिता गुर प्रभु के बानी। बिनहिं विचार करिअ सुभ जानी॥
(१।७७।३)

पार्वतीजीन भी इसी प्रकार सप्तर्षियाका एक वडा सुन्दर नीतिगत उपदेश दिया—

गुर क बचन प्रतीति न जेही। सपनहुँ सुगम न सुख सिधि तेही॥
(१।८०।८)

जिस गुरुके वचनपर विश्वास नहीं ह उस स्वप्नम भी सुख आर सिद्धियाॅ उपलब्ध नहा हा सकतीं।

गास्वामाजीकी मान्यता हे कि कुसगतिम पडकर किसीका भी नाश हो जाता है। नीचक मतक अनुसार चलनपर चतुराई नहीं रह पाती—

का न कुसगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मत चतुराई॥
(२।२४।८)

—इसका प्रत्यक्ष उदाहरण कैकेयी हैं। मन्थराकी कुमन्त्रणाके कारण उन्होंने अपने प्राणप्रिय श्रीरामको वनवास दिला दिया।

श्रीलक्ष्मणजीकी मान्यता है कि विषयी जीव प्रभुत्व पाकर अभिमानसे भर जाता है—

बिषई जीव पाइ प्रभुताई। मूढ़ मोह बस होहिं जनाई॥
(२।२२८।१)

श्रीभरतजीकी मान्यता है कि स्वामीके प्रति कर्तव्य-पालन और स्वार्थ—ये दोनों परस्पर विरोधी हैं। वैर अन्धा होता है और प्रेममें प्रबोध नहीं होता। अर्थात् स्वार्थी आदमी स्वामिधर्मका पालन नहीं कर सकता—

स्वामि धरम स्वारथहि बिरोधू। बैरु अंध प्रेमहि न प्रबोधू॥
(२।२९३।८)

सती अनसूयाने माता सीताजीको पातिव्रतधर्मका उपदेश करते हुए एक सुन्दर नीति-सम्बन्धी बात बतायी है—

धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद काल परिखिअहिं चारी॥
(३।५।७)

अर्थात् धैर्य, धर्म, मित्र और नारीकी परीक्षा विपत्ति-कालमें होती है।

शूर्पणखासे वार्तालापके क्रममें श्रीलक्ष्मणजीने नीतिका सुन्दर प्रतिपादन किया है—

सेवक सुख चह मान भिखारी। ब्यसनी धन सुभ गति बिभिचारी॥
लोभी जसु चह चार गुमानी। नभ दुहि दूध चहत ए प्रानी॥
(३।१७।१५-१६)

कहनेका तात्पर्य है कि सेवक यदि सुख चाहे, भिखारी प्रतिष्ठा चाहे, व्यसनी धनकी कामना करे, व्यभिचारी शुभ गति, लोभी सुयश और अभिमानी धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष-प्राप्तिकी कामना करे तो यह व्यर्थ है। इनकी यह आशा ऐसी ही है जैसे आकाशको दुहकर कोई दूध प्राप्त करना चाहे।

आदर्श पात्रोंके अतिरिक्त [illegible] उन पात्रोंने भी नीतिके उपदेश दिये हैं जिनकी शिक्षा नीति-[illegible] परिपूर्ण है। शूर्पणखा उनमें प्रमुख है। नाक-कान कटे जानेके बाद दुःखी होकर वह रावणको अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपदेश देती है। वह रावणसे कहती है—

राज नीति बिनु धन बिनु धर्मा। हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा॥
बिद्या बिनु बिबेक उपजाएँ। श्रम फल पढ़ें किएँ अरु पाएँ॥
संग ते जती कुमंत्र ते राजा। मान ते ग्यान पान तें लाजा॥
प्रीति प्रनय बिनु मद ते गुनी। नासहिं बेगि नीति अस सुनी॥
(३।२१।८-११)

नीतिके बिना राज्यका, धर्मके बिना धनका, भगवान्‌को अर्पण किये बिना सत्कर्मका, बिना विवेक उत्पन्न किये विद्याका, विषयोंके कुसंगसे यतिका, कुमन्त्रसे राजाका, अभिमानसे ज्ञानका, सुरापानसे लज्जाका, नम्रताके बिना प्रीतिका और अहंकारसे गुणवानोंका अविलम्ब नाश हो जाता है। वह आगे कहती है कि शत्रु, आग, रोग, पाप, स्वामी और सर्पको छोटा नहीं समझना चाहिये। समय पाकर ये सभी विनाशके कारण बन सकते हैं—

रिपु रुज पावक पाप प्रभु अहि गनिअ न छोट करि।
अस कहि बिबिध बिलाप करि लागी रोदन करन॥
(३।२१)

मारीचका कहना है कि नौ व्यक्तियोंसे विरोध करना कल्याणकारी नहीं है—

सस्त्री मर्मी प्रभु सठ धनी। बैद बंदि कबि भानस गुनी॥
(३।२६।४)

शस्त्र धारण करनेवाले, मर्मको जाननेवाले, स्वामी (राजा), धनपति, वैद्य, चारण, मूर्ख, कवि और रसोइयेसे विरोध करना कल्याणकारी नहीं होता। भगवान् भोले शङ्कर रामकथा सुनाते हुए भवानीसे उत्तम नीतिके वचनोंका कथन करते हैं—

नवनि नीच कै अति दुखदाई। जिमि अंकुस धनु उरग बिलाई॥
भयदायक खल कै प्रिय बानी। जिमि अकाल के कुसुम भवानी॥
(३।२८।७-८)

शङ्करजीका कहना है कि नीचोंकी विनम्रता अति दुःखदायी होती है। जैसे अंकुश, धनुष, सर्प और बिल्ली झुकें तो समझो कि आक्रमण होनेवाला है। दुष्टोंकी प्रिय वाणी भयदायक और अकाल-कुसुमकी तरह आगामी विपत्तिकी सूचक है।

एक बार कपटी मुनिने राजा भानुप्रतापको एक नीतिपूर्ण वचन कहा—

जोग जुगुति तप मंत्र प्रभाऊ। फलइ तबहिं जब करिअ दुराऊ॥
(१।१६८।४)

योग, युक्ति, तपस्या और मन्त्रका प्रभाव तभी फलीभूत होता है जब उसे छिपाकर किया जाता है। [illegible] उसका प्रभाव नष्ट हो जाता है।

'नीति प्रीति पालक रघुराजू'

(मानसमणि प० श्रीरामनारायणजी शुक्ल, शास्त्री व्यास)

भगवान् श्रीरघुराज नीति एव प्रीतिकी रक्षा करनेवाले हैं—

धरम धुरान धीर नय नागर। सत्य सनेह सील सुख सागर॥
देसु कालु लखि समउ समाजू। नीति प्रीति पालक रघुराजू॥
बाल बचन बानि सरबसु से। हित परिनाम सुनत ससि रसु से॥
(रा०च०मा० २। ३०४। ५—७)

देश, राष्ट्र, समाज घर, परिवार तथा व्यक्ति जिस साधनसे अपने सत्य लक्ष्यपर पहुँचा दिये जायँ, उसे नीति कहते हैं। किञ्च धर्म, अर्थ तथा काम—इन तीनोंमें सामञ्जस्य रखनेवाली प्रणालीको नीति कहते हैं। इसमें धर्मका पालन हो तथा धर्मके अनुकूल ही अर्थका भी सञ्चय हो। और कामका उपभोग भी धर्मके अनुकूल ही होना चाहिये।

धर्म क्या है, इसके विषयमें कहा गया है—

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।
वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम॥
(श्रीमद्भा० ६। १। ४०)

'वेदोंने जिन कर्मोंका विधान किया है, वे धर्म हैं और जिनका निषेध किया है, वे अधर्म हैं। वेद स्वयं भगवान्के स्वरूप हैं वे उनके स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास एवं स्वयंप्रकाश—ज्ञान हैं, ऐसा हमने सुना है।'

इतिहास पुराण, धर्मशास्त्र, स्मृतियाँ तथा रामायण—ये सभी वेदोंका उपबृंहण करनेवाले हैं।

श्रीराम मूर्तिमान् धर्म है—रामो विग्रहवान् धर्मः।

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणमें भगवान् श्रीराम सुग्रीवको शिक्षा देते हैं—

निषण्णं तं ततो दृष्ट्वा क्षितौ रामोऽब्रवीत् ततः।
धर्ममर्थं च कामं च काले यस्तु निषेवते॥
विभज्य सततं वीर स राजा हरिसत्तम।
हित्वा धर्मं तथार्थं च कामं यस्तु निषेवते॥
स वृक्षाग्रे यथा सुप्तः पतितः प्रतिबुध्यते।
(४। ३८। २०-२१½)

भगवान् श्रीराम कह रहे हैं—'वीर! वानरशिरोमणे! जो व्यक्ति धर्म, अर्थ और कामके लिये समयका विभाग करके सदा उचित समयपर उनका [न्याययुक्त] सेवन करता है, वही श्रेष्ठ राजा है किंतु जो धर्म तथा अर्थका त्याग करके केवल कामका ही सेवन करता है, वह वृक्षकी अगली शाखापर सोये हुए मनुष्यके समान है। गिरनेपर ही उसकी आँख खुलती है।

भगवती सीताजी श्रीरामचन्द्रजीसे कहती हैं—

धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात् प्रभवते सुखम्।
धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत्॥
(वा० रा० ३। ९। ३०)

'धर्मसे अर्थ-प्राप्ति होती है, धर्मसे सुख होता है, धर्मसे ही सब कुछ प्राप्त होता है। यह सारा जगत् धर्मका सार है।'

नीति—धर्म और कालकी समुचित व्यवस्था राजा ही करता है। राजा धर्मिष्ठ होता है तो प्रजा भी धर्मिष्ठ होती है और राजा पापी होता है तो प्रजा भी अधर्माचरणमें प्रवृत्त रहती है। प्रजा राजाका ही अनुवर्तन करती है, जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा भी होती है—

राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः।
राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः॥
(चाणक्यनीति० १३। ८)

काल राजाका कारण है अथवा राजा कालका कारण है, इसमें संशय नहीं होना चाहिये क्योंकि राजा ही कालका कारण होता है—

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो मा भूद् राजा कालस्य कारणम्॥
(महा० शान्ति० ६९। ७९)

श्रीभरतजीने अयोध्यामें निश्चय किया—

एकहिं आँक इहइ मन माहीं। प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं॥
तुम्ह पै पाँच मोर भल मानी। आयसु आसिष देहु सुबानी॥
जेहिं सुनि बिनय मोहि जनु जानी। आवहिं बहुरि रामु रजधानी॥
(रा०च०मा० २। १८३। २ ७ ८)

श्रीराम चित्रकूट-धाम पहुँच गये। श्रीसीतारामजीकी असीम कृपा हुई। नीति-प्रीतिमें टक्कर होनेका समय आया। यदि श्रीराम वनमें जायें तो *'पितु आयसु सब धरमक टीका'* के अनुसार श्रीदशरथजीके सत्यकी रक्षा हो। धर्मका पालन हो। प्रभु श्रीरामका सत्य-धर्म भी सुरक्षित रहे। सुमन्त्रके प्रति श्रीरघुनाथजीका वचन है—

धरमु न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना॥

म सोइ धरमु सुलभ करि पावा। तज तिहूँ पुर अपजसु छावा॥
(रा०च०मा० २।९५।५-६)

धर्मकी रक्षा तो हो जायगी, पर प्रीतिवाले भक्तोको श्रीप्रभु-वियोगमे चौदह वर्ष तडपना पडेगा। यदि प्रभु श्रीराम अयोध्या लौट तो प्रमी जन सुखी हो पर सत्य-धर्मकी रक्षा कैसे होगी? भारी असमञ्जस ह।

बडी चतुराईसे श्रीवसिष्ठजीने अपने सिरका भार उतार दिया—कोई यह न कह कि गुरुदेव चाहत तो श्रीराम वापस अयोध्या चले आते। वसिष्ठजीने सभाका आयोजन करके भगवान् श्रीरामकी महिमा स्वरूप, अवतार, कारण सर्वज्ञता एव एश्वर्यका वर्णन करते हुए कहा—

बोले मुनिबरु समय समाना। सुनहु सभासद भरत सुजाना॥
धरम धुरीन भानुकुल भानू। राजा रामु स्ववस भगवानू॥
सत्यसध पालक श्रुति सतू। राम जनमु जग मगल हेतू॥
गुर पितु मातु बचन अनुसारी। खल दलु दलन देव हितकारी॥
नीति प्रीति परमारथ स्वारथु। कोउ न राम सम जान जथारथु॥
बिधि हरि हरु ससि रबि दिसिपाला। माया जीव करम कुलि काला॥
अहिप महिप जह लगि प्रभुताई। जोग सिद्धि निगमागम गाई॥
करि बिचार जियँ देखहु नीके। राम रजाइ सीस सबही के॥
राखे राम रजाइ रुख हम सब कर हित होइ।
समुझि सयाने करहु अब सब मिलि समत सोइ॥
(रा०च०मा० २।२५४।१—८ दो० २५४)

बस! गुरुवर वसिष्ठने जो परामर्श दिया यही अन्तमे सत्य होगा। सभाएँ तो चित्रकूटम बहुत होगी, विचार-विमर्श भी अत्यधिक होगा, परतु राजगुरुने जो निर्णय कर दिया श्रीराम उसी प्रकार *'नीति प्रीति पालक रघुराजू'* बनकर आज्ञाका पालन करगे।

श्रीगुरुजीने लीला-क्षेत्रम भरतके सम्मुख निम्न प्रस्ताव रखा—

सकुचउँ तात कहत एक बाता। अरध तजहि बुध सरबस जाता॥
तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई। फेरिअहिं लखन सीय रघुराई॥
(रा०च०मा० २।२५६।२-३)

—इसे सुनकर श्रीभरतजी इतने प्रसन्न हो गये कि माना पिताजी (श्रीदशरथजी) पुन जीवित हो गये हो एव श्रीरामचन्द्रजी राजगद्दीपर बिठा दिये गये हो।

श्रीभरतजीने घोषणा कर दी—गुरुदेव!

कानन करउँ जनम भरि बासू। एहि त अधिक न मोर सुपासू॥
(रा०च०मा० २।२५६।८)

श्रीवसिष्ठजी अत्यन्त प्रसन्न होकर श्रीभरतकी बडाई करते हुए श्रीरामके पास आ गये। श्रीरामजीने कहा—गुरुदेव!

प्रथम जो आयसु मो कहुँ होई। माथ मानि करौ सिख सोई॥
(रा०च०मा० २।२५८।४)

गुरुदेव बोले—म निर्णय कैसे दे सकता हूँ—

तहि त कहउँ बहोरि बहोरा। भरत भगति बस भइ मति मोरी॥
मोरे जान भरत रुचि राखी। जो कीजिअ सो सुभ सिव साखी॥
(रा०च०मा० २।२५८।७ ८)

श्रीरामजी भी विस्तृत भाषण करके इसी बातपर आ गये—

भरतु कहहिं सोइ किएँ भलाई। अस कहि राम रहे अरगाई॥
(रा०च०मा० २।२५९।८)

गुरुदेवने कहा—भरत क्या देख-सोच रहे हो—

कृपासिधु प्रिय बधु सन कहहु हृदय कै बात॥
(रा०च०मा० २।२५९)

श्रीभरतजीने लबा वक्तव्य देकर माता कैकयीकी कुटिलता एव अपनी दारुण दीनताको प्रकट करते हुए आत्मसमर्पण कर दिया। श्रीरामने कहा—भरत! तुम लोकोत्तर महापुरुष हो—

उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई। जाइ लोकु परलोकु नसाई॥
दोसु देहिं जननिहि जड़ तेई। जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई॥
मिटिहहिं पाप प्रपच सब अखिल अमगल भार।
लोक सुजसु परलोक सुखु सुमिरत नामु तुम्हार॥
(रा०च०मा० २।२६३।७-८ दो० २६३)

—इसपर नीति-प्रीति-पालक रघुराजने निर्णय दिया—भरत!

मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौ सोइ आजु।
सत्यसध रघुबर बचन सुनि भा सुखी समाजु॥
(रा०च०मा० २।२६४)

सर्वविध साधु भरतजीने कहा—सरकार, मेरे कहनेसे यदि कुछ किया जायगा तो लोग यही कहेगे कि भरतजीने राज्य नहीं लिया पर राजाज्ञा अपनी ही चलायी। अत—

प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जहि आयसु देब।
सो सिर धरि धरि करिहि सबु मिटिहि अनट अवरेब॥
(रा०च०मा० २।२६९)

इस घोषणाको सुनकर देवता प्रसन्न हो फूल बरसाने लगे। श्रीरामजी अब वनमे जायँगे। रावण शीघ्र मारा जायगा।

असमजस बस अवध नेवासी। प्रमुदित मन तापस बनबासी॥
चुपहि रहे रघुनाथ सँकोची। प्रभु गति देखि सभा सब सोची॥
(रा०च०मा० २।२७०।३-४)

श्रीजनकजीके आगमनकी सूचना मिली, तब नीति-प्रीति-पालक रघुराजने सोचा—एक पिताजीने वनवास दिया, अब दूसरे पूज्य पिताजी आ गये। इसपर वसिष्ठजीने सभाको विराम दिया और बोले—अब विदेहराजके परामर्शके अनुसार कार्य होगा। यह सुनकर अयोध्या और मिथिलाका समाज आनन्दसागरमें निमज्जित हो गया।

श्रीजनकजीने भरतजीसे निर्णयका प्रस्ताव लिया, क्या करना चाहिये। भरत बोले—

सिसु सेवकु आयसु अनुगामी। जानि मोहि सिख देइअ स्वामी॥
(रा०च०मा० २। २९३। ४)

फिर सब लोग श्रीरामके पास आये। श्रीरामने वसिष्ठजीसे कहा—

बिद्यमान आपुनि मिथिलेसू। मोर कहब सब भाँति भदेसू॥
राउर राय रजायसु होई। राउरि सपथ सही सिर सोई॥
(रा०च०मा० २। २९६। ७-८)

अब सब लोग श्रीभरतजीका मुख देखने लगे। भरतजीने भी श्रीरामजीका आश्रय लिया—अब आप ही हृदयस्थ हो हमारे मुखसे जो चाहे कहवा दें—

निरखि बिबेक बिलोचनन्हि सिथिल सनेहँ समाजु।
करि प्रनामु बोले भरतु सुमिरि सीय रघुराजु॥
(रा०च०मा० २। २९७)

अद्भुत भरत-भारती प्रकट हुई। प्रभु श्रीरामका विशद वर्णन जैसा भरतजीके श्रीमुखसे हुआ वह अन्यत्र दुर्लभ है—

प्रभु पद कमल गहे अकुलाई। समउ सनेहु न सो कहि जाई॥
कृपासिंधु सनमानि सुबानी। बैठाए समीप गहि पानी॥
भरत बिनय सुनि देखि सुभाऊ। सिथिल सनेहँ सभा रघुराऊ॥
(रा०च०मा० २। ३०१। ६—८)

श्रीभरतजीने इसीलिये श्रीरामचरण गह (पकड़) लिया, बोले—सरकार, आप संकोचमें न रहें। बस आज्ञा दें उसका परिपालन ही मुझ सेवककी सबसे बड़ी सेवा होगी।

अब नीति-प्रीति-पालक रघुराजने नीतिकी रक्षा की। कई बार धर्मका नाम लिया—

तात भरत तुम्ह धरम धुरीना। लोक बेद बिद प्रेम प्रबीना॥
तुम्हहि बिदित सबही कर करमू। आपन मोर परम हित धरमू॥
मातु पिता गुर स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनीधर सेसू॥
सो तुम्ह करहु करावहु मोहू। तात तरनिकुल पालक होहू॥
(रा०च०मा० २। ३०४। ८, ३०५। ३, ३०६। २, ३)

पिताकी सम्पत्ति बँटानेवाले बहुत बेटे होते हैं पर हमलोग विपत्ति बाँटेंगे—

बाँटी बिपति सबहिं मोहि भाई। तुम्हहि अवधि भरि बड़ि कठिनाई॥
(रा०च०मा० २। ३०६। ६)

भरतजीने कहा—प्रभो! नीतिका पालन तो आपने कर दिया पर अब प्रीतिका पालन करें—

अब कृपाल जस आयसु होई। करौं सीसि धरि सादर सोई॥
सो अवलंब देव मोहि देई। अवधि पारु पावौं जेहि सेई॥
(रा०च०मा० २। ३०७। ७-८)

श्रीराम-राज्याभिषेकके लिये तीर्थ-जल आया था, उसे ऋषि अत्रिजीकी आज्ञासे सिद्धकूपमें रख दिया गया—

भरतकूप अब कहिहहिं लोगा। अति पावन तीरथ जल जोगा॥
प्रेम सनेम निमज्जत प्रानी। होइहहिं बिमल करम मन बानी॥
(रा०च०मा० २। ३१०। ७-८)

श्रीभरतजीने चित्रकूटकी दिव्य परिक्रमा की। तत्पश्चात् विदाईके शुभ दिन जब श्रीभरतजी अयोध्या चलने लगे, तब श्रीरामचन्द्रजीका श्रीपादुकाके रूपमें नया अवतार हुआ। अब रघुराजने प्रीतिका पालन किया—

प्रभु करि कृपा पाँवरीं दीन्ही। सादर भरत सीस धरि लीन्ही॥
चरनपीठ करुनानिधान के। जनु जुग जामिक प्रजा प्रान के॥
संपुट भरत सनेह रतन के। आखर जुग जनु जीव जतन के॥
कुल कपाट कर कुसल करम के। बिमल नयन सेवा सुधरम के॥
भरत मुदित अवलंब लहे तें। अस सुख जस सिय रामु रहे तें॥
(रा०च०मा० २। ३१६। ४—८)

इसी श्रीराम-चरणपादुकासे भरतके स्नेह-रत्न (प्रीति)-की रक्षा होती है। पुरवासियोंकी प्रीति एवं प्राणकी रक्षा होती है। चरणपादुकाके रूपमें साक्षात् श्रीसीतारामजी ही अयोध्याके राजसिंहासनपर विराजमान हैं।

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति।
मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति॥
(रा०च०मा० २। ३२५)

अतः गोस्वामी तुलसीदासजीने श्रीरामचन्द्रजीके प्रति उचित ही लिखा है—

देसु कालु लखि समउ समाजू। नीति प्रीति पालक रघुराजू॥

म सोइ धरमु सुलभ करि पावा। तज तिहूँ पुर अपजसु छावा॥
(रा०च०मा० २।९५।५-६)

धर्मकी रक्षा तो हो जायगी, पर प्रीतिवाल भक्तोको श्रीप्रभु-वियोगम चौदह वर्प तडपना पडेगा। यदि प्रभु श्रीराम अयोध्या लाट ता प्रेमी जन सुखी हा पर सत्य-धर्मकी रक्षा कैसे होगी? भारी असमञ्जस है।

बडी चतुराईसे श्रीवसिष्ठजीने अपने सिरका भार उतार दिया—कोई यह न कह कि गुरुदेव चाहत ता श्रीराम वापस अयोध्या चले आते। वसिष्ठजीने सभाका आयोजन करक भगवान् श्रीरामकी महिमा स्वरूप अवतार कारण सर्वज्ञता एव ऐश्वर्यका वणन करते हुए कहा—

बाले मुनिवरु समय समाना। सुनहु सभासद भरत सुजाना॥
धरम धुरीन भानुकुल भानू। राजा रामु स्वबस भगवानू॥
सत्यसध पालक श्रुति सेतू। राम जनमु जग मगल हेतू॥
गुर पितु मातु बचन अनुसारी। खल दलु दलन देव हितकारी॥
नाति प्रीति परमारथ स्वारथु। कोउ न राम सम जान जथारथु॥
बिधि हरि हरु ससि रवि दिसिपाला। माया जीव करम कुलि काला॥
अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। जाग सिद्धि निगमागम गाई॥
करि बिचार जियँ देखहु नीकं। राम रजाइ सीस सबही के॥
राखे राम रजाइ रुख हम सब कर हित होइ।
समुझि सयाने करहु अब सब मिलि समत सोइ॥
(रा०च०मा० २।२५४।१—८ दो० २५४)

बस! गुरुवर वसिष्ठने जो परामर्श दिया यही अन्तम सत्य हागा। सभाएँ ता चित्रकूटम बहुत हागी, विचार-विमर्श भी अत्यधिक हागा परतु राजगुरुने जा निर्णय कर दिया श्रीराम उसी प्रकार *'नीति प्रीति पालक रघुराजू'* बनकर आज्ञाका पालन करग।

श्रीगुरुजीने लीला-क्षेत्रम भरतक सम्मुख निम्न प्रस्ताव रखा—

सकुचउँ तात कहत एक बाता। अरध तजहिं बुध सरबस जाता॥
तुम्ह कानन गवनहु दाउ भाई। फेरिअहिं लखन सीय रघुराई॥
(रा०च०मा० २।२५६।२-३)

—इसे सुनकर श्रीभरतजी इतने प्रसन्न हा गय कि माना पिताजी (श्रीदशरथजी) पुन जीवित हा गय हा एव श्रीरामचन्द्रजी राजगद्दीपर बिठा दिये गय हा।

श्रीभरतजीने घोषणा कर दी—गुरुदेव!

कानन करउँ जनम भरि बासू। एहि त अधिक न मोर सुपासू॥
(रा०च०मा० २।२५६।८)

श्रीवसिष्ठजी अत्यन्त प्रसन्न होकर श्रीभरतकी बडाई करते हुए श्रीरामके पास आ गये। श्रीरामजीने कहा—गुरुदेव!

प्रथम जो आयसु मो कहुँ होई। माथ मानि करा सिख सोई॥
(रा०च०मा० २।२५८।४)

गुरुदेव बोले—मै निर्णय कैसे दे सकता हूँ—

तेहि त कहउँ बहोरि बहोरी। भरत भगति बस भइ मति मोरी॥
मोरे जान भरत रुचि राखी। जो कीजिअ सो सुभ सिव साखी॥
(रा०च०मा० २।२५८।७ ८)

श्रीरामजी भी विस्तृत भाषण करके इसी बातपर आ गये—

भरतु कहहिं सोइ किएँ भलाई। अस कहि राम रहे अरगाई॥
(रा०च०मा० २।२५९।८)

गुरुदेवने कहा—भरत, क्या देख-सोच रहे हो—
कृपासिंधु प्रिय बधु सन कहहु हृदय कै बात॥
(रा०च०मा० २।२५९)

श्रीभरतजीने लबा वक्तव्य देकर माता ककयीकी कुटिलता एव अपनी दारुण दीनताको प्रकट करते हुए आत्मसमर्पण कर दिया। श्रीरामने कहा—भरत! तुम लाकोत्तर महापुरुष हो—

उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई। जाइ लोकु परलोकु नसाई॥
दोसु देहिं जननिहि जड तेई। जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई॥
मिटिहहिं पाप प्रपच सब अखिल अमगल भार।
लोक सुजसु परलोक सुखु सुमिरत नामु तुम्हार॥
(रा०च०मा० २।२६३।७ ८ दो०२६३)

—इसपर नीति-प्रीति-पालक रघुराजने निर्णय दिया—भरत!

मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु।
सत्यसध रघुबर बचन सुनि भा सुखी समाजु॥
(रा०च०मा० २।२६४)

सर्वविध साधु भरतजीने कहा—सरकार मेरे कहनेसे यदि कुछ किया जायगा ता लाग यही कहगे कि भरतजीने राज्य नहीं लिया पर राजाज्ञा अपनी ही चलाया। अत—

प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देब।
सो सिर धरि धरि करिहि सबु मिटिहि अनट अवरेब॥
(रा०च०मा० २।२६९)

इस घोषणाको सुनकर देवता प्रसन्न हो फूल बरसाने लगे। श्रीरामजी अब वनमे जायँगे। रावण शीघ्र मारा जायगा।

असमजस बस अवध नेवासी। प्रमुदित मन तापस बनबासी॥
चुपहि रहे रघुनाथ सँकोची। प्रभु गति देखि सभा सब सोची॥
(रा०च०मा० २।२७०।३-४)

श्रीजनकजाके आगमनकी सूचना मिली, तब नीति-प्रीति-पालक रघुराजने सोचा—एक पिताजीने वनवास दिया, अब दूसरे पूज्य पिताजी आ गये। इसपर वसिष्ठजीने सभाको विराम दिया और बोले—अब विदेहराजके परामर्शके अनुसार कार्य होगा। यह सुनकर अयोध्या और मिथिलाका समाज आनन्दसागरमें निमज्जित हो गया।

श्रीजनकजीने भरतजीसे निर्णयका प्रस्ताव लिया क्या करना चाहिये। भरत बोले—

सिसु सेवकु आयसु अनुगामी। जानि मोहि सिख देइअ स्वामी॥
(रा०च०मा० २।२९३।४)

फिर सब लोग श्रीरामके पास आये। श्रीरामने वसिष्ठजीसे कहा—

बिद्यमान आपुनि मिथिलेसू। मोर कहब सब भाँति भदेसू॥
राउर राय रजायसु होई। राउरि सपथ सही सिर सोई॥
(रा०च०मा० २।२९६।७-८)

अब सब लोग श्रीभरतजीका मुख देखने लगे। भरतजीने भी श्रीरामजीका आश्रय लिया—अब आप ही हृदयस्थ हो हमारे मुखसे जो चाहें कहवा दें—

निरखि बिबेक बिलोचनन्हि सिथिल सनेहँ समाजु।
करि प्रनामु बोले भरतु सुमिरि सीय रघुराजु॥
(रा०च०मा० २।२९७)

अद्भुत भरत-भारती प्रकट हुई। प्रभु श्रीरामका विशद वर्णन जैसा भरतजीके श्रीमुखसे हुआ, वह अन्यत्र दुर्लभ है—

प्रभु पद कमल गहे अकुलाई। समउ सनेहु न सो कहि जाई॥
कृपासिंधु सनमानि सुबानी। बैठाए समीप गहि पानी॥
भरत बिनय सुनि देखि सुभाऊ। सिथिल सनेहँ सभा रघुराऊ॥
(रा०च०मा० २।३०१।६—८)

श्रीभरतजीने इसीलिये श्रीरामचरण गह (पकड) लिया, बोले—सरकार, आप संकोचमें न रहें। बस आज्ञा दें उसका परिपालन ही मुझ सेवककी सबसे बड़ी सेवा होगी।

अब नीति-प्रीति-पालक रघुराजने नीतिकी रक्षा की, कई बार धर्मका नाम लिया—

तात भरत तुम्ह धरम धुरीना। लोक बेद बिद प्रेम प्रबीना॥
तुम्हहि बिदित सबही कर करमू। आपन मोर परम हित धरमू॥
मातु पिता गुर स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनीधर सेसू॥
सो तुम्ह करहु करावहु मोहू। तात तरनिकुल पालक होहू॥
(रा०च०मा० २।३०४।८ ३०५।३ ३०६।२-३)

पिताकी सम्पत्ति बँटानेवाले बहुत बेटे होते हैं पर हमलोग विपत्ति बाँटेंगे—

बाँटी बिपति सबहिं मोहि भाई। तुम्हहि अवधि भरि बड़ि कठिनाई॥
(रा०च०मा० २।३०६।६)

भरतजीने कहा—प्रभो! नीतिका पालन तो आपने कर दिया, पर अब प्रीतिका पालन करें—

अब कृपाल जस आयसु होई। करौं सीसि धरि सादर सोई॥
सो अवलंब देव मोहि देई। अवधि पारु पावौं जेहि सेई॥
(रा०च०मा० २।३०७।७-८)

श्रीराम-राज्याभिषेकके लिये तीर्थ-जल आया था उसे महर्षि अत्रिजीकी आज्ञासे सिद्धकूपमें रख दिया गया—

भरतकूप अब कहिहहिं लोगा। अति पावन तीरथ जल जोगा॥
प्रेम सनेम निमज्जत प्रानी। होइहहिं बिमल करम मन बानी॥
(रा०च०मा० २।३१०।७-८)

श्रीभरतजीने चित्रकूटकी दिव्य परिक्रमा की। तत्पश्चात् विदाईके शुभ दिन जब श्रीभरतजी अयोध्या चलने लगे तब श्रीरामचन्द्रजीका श्रीपादुकाके रूपमें नया अवतार हुआ। अब रघुराजने प्रीतिका पालन किया—

प्रभु करि कृपा पाँवरीं दीन्हीं। सादर भरत सीस धरि लीन्हीं॥
चरनपीठ करुनानिधान के। जनु जुग जामिक प्रजा प्रान के॥
संपुट भरत सनेह रतन के। आखर जुग जनु जीव जतन के॥
कुल कपाट कर कुसल करम के। बिमल नयन सेवा सुधरम के॥
भरत मुदित अवलंब लहे तें। अस सुख जस सिय रामु रहे तें॥
(रा०च०मा० २।३१६।८—८)

इसी श्रीराम-चरणपादुकासे भरतके स्नेह-रत्न (प्रीति)-की रक्षा होती है। पुरवासियोंकी प्रीति एवं प्राणकी रक्षा होती है। चरणपादुकाके रूपमें साक्षात् श्रीसीतारामजी ही अयोध्याके राजसिंहासनपर विराजमान हैं।

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति।
मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति॥
(रा०च०मा० २।३२५)

अतः गोस्वामी तुलसीदासजीने श्रीरामचन्द्रजीके प्रति उचित ही लिखा है—

देसु कालु लखि समउ समाजू। नीति प्रीति पालक रघुराजू॥

म सोइ धरमु सुलभ करि पावा। तज तिहूँ पुर अपजसु छावा॥
(रा०च०मा० २।९५।५-६)

धमकी रक्षा तो हो जायगी पर प्रीतिवाले भक्ताको श्रीप्रभु-वियागम चोदह वर्ष तडपना पडगा। यदि प्रभु श्रीराम अयाध्या लाट तो प्रेमी जन सुखी हा पर सत्य-धर्मकी रक्षा केसे होगी? भारी असमञ्जस है।

वडी चतुराईसे श्रीवसिष्ठजाने अपने सिरका भार उतार दिया—काई यह न कह कि गुरुदेव चाहते ता श्रीराम वापस अयोध्या चले आते। वसिष्ठजीने सभाका आयोजन करके भगवान् श्रीरामकी महिमा स्वरूप अवतार कारण सर्वज्ञता एव ऐश्वर्यका वणन करते हुए कहा—

ाले मुनिवरु समय समाना। सुनहु सभासद भरत सुजाना॥
रम धुरीन भानुकुल भानू। राजा रामु स्ववस भगवानू॥
यसध पालक श्रुति सेतू। राम जनमु जग मगल हेतू॥
पितु मातु वचन अनुसारी। खल दलु दलन देव हितकारी॥
। प्रीति परमारथ स्वारथु। कोउ न राम सम जान जथारथु॥
हरि हरु ससि रवि दिसिपाला। माया जीव करम कुलि काला॥
महिप जहँ लगि प्रभुताई। जाग सिद्धि निगमागम गाई॥
बिचार जियँ देखहु नीक। राम रजाइ सीस सबही के॥
राख राम रजाइ रुख हम/सब कर हित होइ।
समुझि सयाने करहु अब सब मिलि समत सोइ॥
(रा०च०मा० २।२५४।१—८ दो० २५४)

। गुरुवर वसिष्ठने जो परामर्श दिया यही अन्तम । सभाएँ तो चित्रकूटम बहुत हागी विचार-विमर्श धिक हागा परतु राजगुरुने जो निर्णय कर दिया भरत। ी प्रकार 'नीति प्रीति पालक रघुराजू' बनकर लन करग।

जीने लीला-क्षेत्रम भरतक सम्मुख निम्न प्रस्ताव

कहत एक बाता। अरध तजहि बुध सरबस जाता॥
बनहु दाउ भाई। फेरिअहि लखन सीय रघुराई॥
(रा०च०मा० २।२५६।२-३)

नकर श्रीभरतजी इतने प्रसन्न हो गय कि श्रीदशरथनो) पुन जावित हा गय हा एव नगदापर बिठा दिय गय हा।

घापणा कर दी—गुरुदव।

भरि यामू। एहि त अधिक न मार सुपासू॥
(रा०च०मा० २।२५६।८)

त्यन्त प्रसन्न हाकर श्रीभरतने बडाई करते हुए श्रीरामके पास आ गये। श्रीरामजीने कहा—गुरुदेव!

प्रथम जो आयसु मो कहुँ होई। माथ मानि करौ सिख सोई॥
(रा०च०मा० २।२५८।४)

गुरुदेव बाले—मैं निर्णय कैसे दे सकता हूँ—

तेहि त कहउँ बहोरि बहोरी। भरत भगति बस भइ मति मोरी॥
मोरे जान भरत रुचि राखी। जो कीजिअ सो सुभ सिव साखी॥
(रा०च०मा० २।२५८।७ ८)

श्रीरामजी भी विस्तृत भाषण करके इसी बातपर आ गये—

भरतु कहहिं सोइ किएँ भलाई। अस कहि राम रहे अरगाई॥
(रा०च०मा० २।२५९।८)

गुरुदेवने कहा—भरत क्या देख-सोच रहे हो—

कृपासिंधु प्रिय बंधु सन कहहु हृदय के बात॥
(रा०च०मा० २।२५९)

श्रीभरतजीने लंबा वक्तव्य देकर माता कैकेयीकी कुटिलता एव अपनी दारुण दीनताको प्रकट करते हुए आत्मसमर्पण कर दिया। श्रीरामने कहा—भरत! तुम लोकोत्तर महापुरुष हो—

उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई। जाइ लोकु परलोकु नसाई॥
दोसु देहिं जननिहि जड तेई। जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई॥
मिटिहहिं पाप प्रपच सब अखिल अमगल भार।
लोक सुजसु परलोक सुखु सुमिरत नामु तुम्हार॥
(रा०च०मा० २।२६३।७-८ दो०२६३)

—इसपर नीति-प्रीति-पालक रघुराजने निर्णय दिया—

मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु।
सत्यसंध रघुबर बचन सुनि भा सुखी समाजु॥
(रा०च०मा० २।२६४)

सर्वविध साधु भरतजीने कहा—सरकार मेरे कहनेसे यदि कुछ किया जायगा तो लोग यही कहेंगे कि भरतजीने राज्य नहीं लिया पर राजाको अपनी ही चलायी। अत—

प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देब।
सो सिर धरि धरि करिहि सबु मिटिहि अनट अवरेब॥
(रा०च०मा० २।२६९)

इस घोषणाको सुनकर देवता प्रसन्न हो फूल बरसाने लगे। श्रीरामजी अब वनमें जायँगे। रावण शीघ्र मारा जायगा।

असमंजस बस अवध नेवासी। प्रमुदित मन तापस बनबासी॥
चुपहिं रहे रघुनाथ सकोची। प्रभु गति देखि सभा सब सोची॥
(रा०च०मा० २।२७०।३ ४)

श्रीजनकजाके आगमनकी सूचना मिली तब नीति-प्रीति-पालक रघुराजने सोचा—एक पिताजीने वनवास दिया, अब दूसरे पूज्य पिताजी आ गये। इसपर वसिष्ठजीने सभाको विराम दिया और बोले—अब विदेहराजके परामर्शके अनुसार कार्य होगा। यह सुनकर अयोध्या और मिथिलाका समाज आनन्दसागरमें निमज्जित हो गया।

श्रीजनकजीने भरतजीसे निर्णयका प्रस्ताव लिया, क्या करना चाहिये। भरत बोले—

सिसु सेवकु आयसु अनुगामी। जानि मोहि सिख दइअ स्वामी॥
(रा०च०मा० २। २९३। ४)

फिर सब लोग श्रीरामके पास आये। श्रीरामने वसिष्ठजीसे कहा—

विद्यमान आपुनि मिथिलेसू। मोर कहब सब भाँति भदेसू॥
राउर राय रजायसु होई। राउरि सपथ सही सिर सोई॥
(रा०च०मा० २। २९६। ७-८)

अब सब लोग श्रीभरतजीका मुख देखने लगे। भरतजीने भी श्रीरामजीका आश्रय लिया—अब आप ही हृदयस्थ हो हमारे मुखसे जो चाहें कहवा दें—

निरखि बिबेक बिलोचनन्हि सिथिल सनेहँ समाजु।
करि प्रनामु बोले भरतु सुमिरि सीय रघुराजु॥
(रा०च०मा० २। २९७)

अद्भुत भरत-भारती प्रकट हुई। प्रभु श्रीरामका विशद वर्णन जैसा भरतजीके श्रीमुखसे हुआ, वह अन्यत्र दुर्लभ है—

प्रभु पद कमल गहे अकुलाई। समउ सनेहु न सो कहि जाई॥
कृपासिंधु सनमानि सुबानी। बैठाए समीप गहि पानी॥
भरत बिनय सुनि देखि सुभाऊ। सिथिल सनेहँ सभा रघुराऊ॥
(रा०च०मा० २। ३०१। ६—८)

श्रीभरतजीने इसीलिये श्रीरामचरण गह (पकड़) लिये बोले—सरकार, आप संकोचमें न रहें। बस आज्ञा दें उसका परिपालन ही मुझ सेवककी सबसे बड़ी सेवा होगी।

अब नीति-प्रीति-पालक रघुराजने नीतिकी रक्षा की कई बार धर्मका नाम लिया—

तात भरत तुम्ह धरम धुरीना। लोक बेद बिद प्रेम प्रबीना॥
तुम्हहि बिदित सबही कर करमू। आपन मोर परम हित धरमू॥
मातु पिता गुर स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनीधर सेसू॥
सो तुम्ह करहु करावहु मोहू। तात तरनिकुल पालक होहू॥
(रा०च०मा० २। ३०४। ८ ३०५। ३ ३०६। २-३)

पिताकी सम्पत्ति बँटानेवाले बहुत बँटे होते हैं पर हमलोग विपत्ति बाँटेंगे—

बाँटी बिपति सबहिं मोहि भाई। तुम्हहि अवधि भरि बड़ि कठिनाई॥
(रा०च०मा० २। ३०६। ६)

भरतजीने कहा—प्रभो! नीतिका पालन तो आपने कर दिया, पर अब प्रीतिका पालन करें—

अब कृपाल जस आयसु होई। करौं सीसि धरि सादर सोई॥
सो अवलंब देव मोहि देई। अवधि पारु पावौं जेहि सेई॥
(रा०च०मा० २। ३०७। ७-८)

श्रीराम-राज्याभिषेकके लिये तीर्थ-जल आया था उसे ऋषि अत्रिजीकी आज्ञासे सिद्धकूपमें रख दिया गया—

भरतकूप अब कहिहहिं लोगा। अति पावन तीरथ जल जोगा॥
प्रेम सनेम निमज्जत प्रानी। होइहहिं बिमल करम मन बानी॥
(रा०च०मा० २। ३१०। ७-८)

श्रीभरतजीने चित्रकूटकी दिव्य परिक्रमा की। तत्पश्चात् *विदाईके शुभ दिन जब श्रीभरतजी अयोध्या चलने लगे* तब श्रीरामचन्द्रजीका श्रीपादुकाके रूपमें नया अवतार हुआ। अब रघुराजने प्रीतिका पालन किया—

प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्ही। सादर भरत सीस धरि लीन्ही॥
चरनपीठ करुनानिधान के। जनु जुग जामिक प्रजा प्रान के॥
संपुट भरत सनेह रतन के। आखर जुग जनु जीव जतन के॥
कुल कपाट कर कुसल करम के। बिमल नयन सेवा सुधरम के॥
भरत मुदित अवलंब लहे तें। अस सुख जस सिय रामु रहे तें॥
(रा०च०मा० २। ३१६। ६—८)

इसी श्रीराम-चरणपादुकासे भरतके स्नेह-रत्न (प्रीति)-की रक्षा होती है। पुरवासियोंकी प्रीति एवं प्राणकी रक्षा होती है। चरणपादुकाके रूपमें साक्षात् श्रीसीतारामजी ही अयोध्याके राजसिंहासनपर विराजमान हैं।

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति।
मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति॥
(रा०च०मा० २। ३२५)

अतः गोस्वामी तुलसीदासजीने श्रीरामचन्द्रजीके प्रति उचित ही लिखा है—

देसु कालु लखि समउ समाजू। नीति प्रीति पालक रघुराजू॥

रामायणकी नीति और विश्वकी नियति

(श्रीलल्लनप्रसादजी व्यास)

इतिहासकी परिधि और प्राचीनतामें न समा सकनेवाली रामकथा भारतीय जीवनसे जिस अभिन्नतासे जुड़ी रही है उसे देख या समझकर ऐसा कहा जा सकता है कि रामायण भारतीय संस्कृतिकी आत्मा है। इस आत्माकी विशेषता है कि यह व्यक्त और अव्यक्त दोनों है। इसीलिये यह भी माना जा सकता है कि भारतीय संस्कृतिकी अमरता और रामकथा दोनों एक ही हैं, मानो ये एक-दूसरेके पर्याय हों। भारतीय संस्कृतिके जिस अमरत्वका भारत-सहित विश्व-मनीषाने अनुभव किया, भले ही वह अभिव्यक्तिसे परे रहा हो, वस्तुतः वह रामकथा ही है। भारतकी अडिग आस्था तो यही मानती है, बौद्धिकता इसे स्वीकार करे या न करे।

रामकथाकी अमरता और विश्वकी नियति—भारतकी जो अमर सांस्कृतिक धारा हिमालयकी ऊँचाइयों और महासागरकी गहराइयोंके बीच प्रवाहित होती है, उसका पोषण सर्वोच्च आदर्शों, सिद्धान्तों तथा उनके सन्देशोंसे होता है और ये सब मिलकर एक रामकथामें ही समाहित हैं। इसीलिये रामकथाके मुख्य नायक श्रीराम विश्वके महान् नायक और रामकथा विश्वकी सबसे महान् अथवा लोकप्रिय कथा बन गयी है, जिससे विश्वका कोई भी कोना अछूता नहीं रहा। रामकथाका जन्म भारतमें हुआ और यहींसे पालित-पोषित होकर उसका सम्पूर्ण विश्वमें विस्तार हुआ। रामायणकी नीतिका अनुपालक सच्चा मानव है। उसमें सच्चे कर्तव्यपरायण तथा आदर्शयुक्त मनुष्य बननेकी प्रक्रिया प्रदर्शित है। इसमें रामकथाके माध्यमसे न केवल प्रक्रिया ही वर्णित है, अपितु वह आध्यात्मिक शक्ति भी समाहित है जो मानव-जीवनमें उस प्रक्रियाको पूर्ण करनेमें सहायक बनती है— *'यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ।'*

असम्भवको सम्भव बनाना—इसपर सहसा सबका विश्वास हो पाना बहुत कठिन है, किंतु दृढ़ आस्थाके सम्बलसे यह भी सम्भव है। रामायणकी ऐसी युगान्तरकारी भूमिकाएँ इससे पूर्व भी घटित हुई हैं। जिनके प्रमाण आस्थावादी इतिहासोंमें पाये जाते हैं, उनमें सबसे पहला तो लगभग पाँच शताब्दी पूर्व मुगलकाल है जब मात्र कुछ हजार आततायी और आक्रमणकारियोंने इस विशाल भारत-भूमिको धीरे-धीरे अपने शासनमें कर लिया और यहाँके बहुसंख्यक समाजका भी मनोबल पूरी तरह उस समय टूट गया जब उसके सामने ही श्रद्धा-बिन्दुओंको तहस-नहस किया गया। समाजमें पूरी तरह पराजय और हताशाका वातावरण था। उस समय कोई सोच भी नहीं सकता था कि कभी यहाँ ऐसा परिवर्तन आयेगा, जब भारत दासताकी जंजीरोंसे मुक्त हो सकेगा। किंतु गोस्वामी तुलसीदास तथा अन्य भक्त कवियोंने भक्ति और अध्यात्मकी धारा प्रवाहित करके एक ओर संकट झेलनेकी शक्ति दी तो दूसरी ओर उससे उबरनेका साहस और मार्ग भी प्रदान किया। रामायणको केन्द्रमें रखकर भक्तिकी उस धाराने इतिहासमें असम्भव-जैसा परिवर्तन कर दिया।

इतिहासके अन्य प्रमाण—जब मुगल-शासनसे मुक्त होकर हम अंग्रेजोंकी दासतामें आये, तब एक बार फिर सम्पूर्ण भारतमें आध्यात्मिक पुनर्जागरणका शंखनाद हुआ। इसमें रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द-जैसी विभूतियाँ तो पूरी तरह रामायणसे जुड़ी थीं, जुड़ी ही नहीं बल्कि रामकृष्ण परमहंसको तो उस समय श्रीराम और हनुमान्‌जीसे मेल-मिलाप भी होता था, जब वे विभिन्न धर्मोंकी साधना कर रहे थे और यह परम्परा महात्मा गाँधीतक आते-आते पूरी तरह राममय बन गयी तथा *'रघुपति राघव राजाराम'* ने तो मानो स्वतन्त्रतासे पहले कीर्तनसे अधिक राष्ट्रगानका रूप ले लिया। महात्मा गाँधीके लिये राम और रामायण कल्पवृक्ष-जैसे सिद्ध हुए। उन्होंने अपनी कामनाकी पूर्ति नहीं बल्कि देशकी स्वतन्त्रताकी कामना-पूर्ति की। वे अपने श्वास-प्रश्वासके साथ रामसे जुड़े थे और अन्तिम समयमें भी 'राम' ही उनका अन्तिम शब्द था। रामकी आजीवन साधनाका यही सबसे बड़ा प्रमाण था।

रामायणकी तीसरी युगान्तरकारी ऐतिहासिक भूमिका प्रवासी भारतीयोंके संदर्भमें उस समय हुई, जब १९वीं शताब्दीके मध्यसे वे साधनहीन भारतीय हजारोंकी संख्यामें विश्वके विभिन्न कोनोंमें पहुँचने लगे। जिन देशोंमें वे पहुँचे उनमें मुख्यरूपसे फिजी, मॉरिशस, त्रिनिडाड, ब्रिटेन, गुयाना तथा डच गुयाना आदि थे। साधनकी दृष्टिसे वे भले ही खाली हाथ गये, किंतु उनमेंसे अधिकांशके साथ रामचरितमानस-जैसा पावन ग्रन्थ भी वहाँ पहुँच गया, जिसने उन्हें न केवल जीवित रहनेका सम्बल दिया अपितु

दासभावसे मुक्ति दिलाकर और सशक्त बनाकर उन देशोंको उत्तराधिकारोंसे भी सम्पन्न बना दिया। यह उसी रामचरितमानसका ही प्रभाव था।

भावी परिवर्तनमें भी समर्थ—उपर्युक्त जीवन्त प्रमाणों और दृष्टान्तोंसे तो यही निश्चित होता है कि रामचरितमानसका सेवन भावी परिवर्तनमें भी समर्थ है। इसीके साथ यह भी स्पष्ट है कि रामायणके माध्यमसे व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व—पूरी तरह मानवताका कायाकल्प तभी सम्भव है जब उससे भावात्मक और आध्यात्मिक रूपसे जुड़ा जाय। जीवनको बदलनेकी शक्ति आध्यात्मिक जुड़ावसे ही सम्भव है। रामायणके इस आध्यात्मिक पक्षको भक्ति या शरणागतिका मार्ग भी कह सकते हैं। श्रद्धा और आस्थाका तो यहाँ तक दावा है कि भक्ति जन्म-जन्मान्तरके कर्मफलसे विधाताद्वारा निर्धारित प्रारब्ध या नियतिको भी बदलनेमें समर्थ है। इसीलिये अनेक महापुरुषोंने सच्ची प्रार्थनापर बहुत बल दिया है।

दो मूर्ति, दो कहानी—इस उदाहरणको मैंने एक घटनाके रूपमें देखा जब मैं अपनी विश्व-यात्राके सिलसिलेमें मक्सिकोमें था। डॉ० माइगल डिमोरा नामक जिन सज्जनके यहाँ मैं ठहरा था, वे वाल्मीकीय रामायणके विद्वान् माने जाते हैं। उनका और उनकी पत्नीका गणेशजीके प्रति भी विशेष आकर्षण रहा है और वे गणेशजीकी सुन्दर मूर्ति भारतसे ले जाकर अपने ड्राइंगरूममें रखे हुए थे। एक रात पहाड़ीपर स्थित उनके घरमें ऐसी घटना हुई जिससे उनकी पत्नी बहुत भयभीत हो गयीं और उनके मनपर उसका बेहद प्रभाव पड़ा जो उनके चेहरे और व्यवहारसे व्यक्त होता था। तभी उन्होंने आपसमें स्पेनी भाषामें कुछ बात की जिसे मैं नहीं समझ सका और उसके बाद दोनोंने बड़ी विनम्रतासे मुझसे यह अनुरोध किया कि 'क्या आप कल प्रातःकाल इस गणेश-प्रतिमाको मन्त्र और पूजनसे विधिवत् अभिषिक्त कराकर इसकी स्थापना करा देंगे जिससे यह पूजाकी मूर्ति हो जाय और प्रत्येक विपत्तिसे हमारी रक्षा कर सके?' मैंने जब अनभिज्ञता प्रकट की तब उन दोनोंका यह उत्तर था कि 'आप ब्राह्मण हैं, इतना ही मूर्तिकी प्राण-प्रतिष्ठाके लिये पर्याप्त है।' मैंने मन-ही-मन उनकी प्रशंसा करते हुए दूसरे दिन जिस प्रकार यह शुभ कार्य करा सकता था करा दिया। विदेशी महानुभावोंकी भारतकी आस्तिकताके प्रति कितना आदर एवं श्रद्धाभाव है, यह देखकर मुझे बहुत आश्चर्य हुआ।

इसीसे मिलती-जुलती एक घटना इससे दो-तीन वर्ष पहले भी हो चुकी थी। वे ही सज्जन अन्ताराष्ट्रिय रामायण-सम्मेलनमें भारत आये थे। जब वे भारतसे जाने लगे तो मैंने पता नहीं, किस प्रेरणाके अन्तर्गत उन्हें यह परामर्श दिया कि यदि उनका अन्तःकरण कभी रामजीके प्रति विशेष भक्तिकी अनुभूति करना चाहे तो उन्हें श्रीरामचरित-मानसको भी अपनाना चाहिये। उन्हें मेरी बात कुछ ऐसी जँच गयी कि जब वे एक वर्षके बाद किसी अन्य सिलसिलेमें पुनः भारत आये तो उन्होंने मुझसे मिलकर देरतक रामचरितमानसके भक्ति-प्रसंगोंकी ही चर्चा की और बताया कि 'अब तो मैं रामचरितमानसका विद्यार्थी हूँ।'

साधना-समर्पण आवश्यक—रामायणके अध्ययन-अध्यापन, प्रवचन-श्रवण आदिमें जब साधना या समर्पणका भाव आ जाता है, तब उसमें छिपी आध्यात्मिक ऊर्जा प्रकट होकर व्यक्तिके जीवनमें प्रवेश करने लगती है। यही प्रक्रिया जब व्यक्तिके स्तरसे आगे बढ़कर समाजकी ओर फलती है तो समाजमें आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हो जाती है। श्रीराम भगवान् हैं और रामायणमें भगवदीय तत्त्व है तथा उसमें आध्यात्मिक प्रेरणाएँ हैं, इसीलिये वह सभी कालोंमें प्रासंगिक है।

मनोविकारी रावणोंकी समाप्ति राम-चेतनासे होगी—भारत-सहित विश्वकी नियति रामायणसे जुड़ी है, ऐसी सुदृढ़ आस्थाके बावजूद मनके किसी कोनेमें दबा यह प्रश्न उभर सकता है कि त्रेता-युगमें तो एक रावण और कुम्भकर्ण थे, किंतु इस युगमें जब घर-घर, समाज-समाज और देश-देशमें असंख्य रावण और कुम्भकर्ण मनोविकारोंके रूपमें पैदा हो चुके हैं तब अकेले रामायणसे इन सबका अन्त कैसे होगा? इसका उत्तर भी आस्थाके प्रकाशमें ही खोजा जा सकता है और वह यह कि जब रावण और कुम्भकर्णने सशरीर पैदा होकर पृथ्वीको अन्याय, अत्याचार, अनीति, हिंसा और पापसे भर दिया तब रामने भी मानव-शरीर धारण करके अपनी ईश्वरीय शक्ति तथा मानवीय पुरुषार्थसे दुष्टोंका दलन और सज्जनोंका संरक्षण किया, किंतु आज जब रावणी शक्ति समारंभरके मानवोंका मनोविकार बनकर सारी धरतीको हिंसा, स्वार्थ, संघर्ष और विनाशसे

भर रही है तब राम भी मनुष्यके रूपमें नहीं, बल्कि रामायणके माध्यमसे 'राम-चेतना' या 'राम-कृपा-शक्ति' बनकर उस विश्वव्यापी मनोविकारी रावणी वृत्तिपर विजय पायेंगे। यही तमपर सत्त्व हिंसापर अहिंसा छल-प्रपञ्च-असत्यपर सत्य, नास्तिकतापर आस्तिकता अन्यायपर न्याय अनीतिपर नीति और अन्धकारपर प्रकाशकी विजय होगी। मनुष्यके सूक्ष्म विकार जो अणुसे बने अणुबमके समान विनाशकारी है, ईश्वरकी सूक्ष्म सत्ता एवं अदृश्य कृपा-शक्तिमें ही समाप्त होंगे। वैसे भी रामका चिर उद्देश्य रहा है भक्तोंकी रक्षा और धर्मका विनाश करनेवालेको पराजित करना।

वर्तमान समयमें चारों ओर हिंसा, अन्याय अनीति और नग्नताका नाच हो रहा है। ऐसी स्थितिमें रामायणसे जुड़ी साधना उसी श्रीराम-चेतनाको जाग्रत् करनेमें सहायक सिद्ध हो सकती है जो कृपामयी चेतनाशक्ति सबको जीवन-दान देती आयी है और शक्ति प्रदान करती आयी है। विश्वके विभिन्न देशोंमें चल रहे अन्तारराष्ट्रिय रामायण-सम्मेलन भी उसी भाव, लक्ष्य एवं दिशाकी ओर उन्मुख है। यह आध्यात्मिक चेतना रामायणसे जुड़कर रामके नाम और गुणोंको हृदयमें धारण करते हुए अपने जीवनको रामायणके अनुसार बनानेसे आगे बढ़ेगी।

'नीति प्रीति परमारथ स्वारथु'

(डॉ० श्रीगयानन्दजी सिंह एम्० ए० पी-एच्० डी०, एल्-एल्० बी०)

श्रीरामचरितमानसमें श्रीराम नीतिके अधिष्ठाता हैं। इस ब्रह्माण्डमें नीति प्रीति, परमार्थ और स्वार्थको यथार्थरूपमें श्रीराम ही जानते हैं कोई दूसरा नहीं।

शुक्रनीतिसार ग्रन्थमें कहा गया है—'न रामसदृशो राजा पृथिव्यां नीतिमानभूत्।' इस अवनीतलपर श्रीरामचन्द्रजीके समान नीतिमान् दूसरा राजा नहीं हुआ। अतः स्पष्ट है कि श्रीरामका व्यक्तित्व ही नीतिका अधिष्ठान है। विशेषतः गोस्वामी तुलसीदासजीने मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामकी नीति-प्रीति और शील उनके स्नेह आदिका जिन रूपोंमें वर्णन किया है उनके आधारपर श्रीरामचरितमानसको सर्वोत्तम नैतिक ग्रन्थ कहा जा सकता है। श्रीरामचरितमानस समग्र नैतिकताकी स्वर्णमञ्जूषा है, जिसके मर्मस्थलमें श्रीराम अधिष्ठित हैं। आज जब मानवता परार्थ या परमार्थकी चोटीसे पतित होकर स्वार्थकी तलहटीमें छटपटा रही है तो ऐसे विकट समयमें परमार्थ और स्वार्थके प्रीतिपूर्ण यथार्थ ज्ञानके लिये श्रीरामकी शरणागति ही एकमात्र उपाय है, क्योंकि वे ही इस मर्मके एकमात्र ज्ञाता हैं जिन्हें मानसके विविध प्रसंगोंमें गोस्वामीजीने अत्यन्त कुशलतापूर्वक दर्शाया है।

चित्रकूटकी सभामें कुलगुरु वसिष्ठके अनुसार अनिर्णयकी स्थितिमें श्रीराम ही एकमात्र निर्णायक हैं और उन्हींके आदेशमें सबका हित है, क्योंकि वे श्रुति-सेतु-पालक और नीति-प्रीतिके यथार्थ ज्ञाता हैं—'*नीति प्रीति परमारथ स्वारथु*' (रा०च०मा० २।२५४।५)

यहाँ नीतिको प्रथम स्थान देकर श्रीरामकी नीति-परायणता और नीति-निपुणताको विशिष्टरूपमें दर्शाया गया है। मानसमें अनेक स्थलोंपर श्रीरामकी नीति-प्रीतिका साथ-साथ वर्णन किया गया है।

जनकपुर-प्रसंगमें श्रीराम जब मुनि विश्वामित्रसे लक्ष्मणको नगर दिखानेके लिये अत्यन्त विनम्रतापूर्ण वचनोंमें आज्ञा माँगते हैं तो मुनि विश्वामित्र कहते हैं—

सुनि मुनीसु कह बचन सप्रीती। कस न राम तुम्ह राखहु नीती॥
धरम सेतु पालक तुम्ह ताता। प्रेम बिबस सेवक सुखदाता॥
(रा०च०मा० १।२१८।७-८)

भाव यह है कि 'धर्म-नीति मर्यादा-पालनकी तत्परता और भक्त-वत्सलता देख-जानकर मुनीश राम-प्रेमवश हो गये और उन्होंने कहा कि तुम धर्म-नीतिकी रक्षाके लिये जैसे बोलते, करते एवं बरतते हो वह तुम्हारे लिये बिलकुल उचित ही है। तुम रघुवंशी ऐसा न करोगे तो दूसरा कौन करेगा।' यहाँ भी मुनि विश्वामित्र श्रीरामकी नीति (धर्मनीति) और प्रीतिकी महत्ता दर्शाते हैं। इसी प्रकार श्रीरामके द्वारा वनमें विनम्रतापूर्वक निवास-स्थान पूछनेपर वाल्मीकिजी कहते हैं—

कस न कहहु अस रघुकुलकेतू। तुम्ह पालक संतत श्रुति सेतू॥
(रा०च०मा० २।१२६।८)

हे रघुवंशके ध्वजा-स्वरूप! ऐसा कथन आपके योग्य ही है। आप सदैव वेदकी मर्यादाका पालन करनेवाले हैं।

वसिष्ठजी, विश्वामित्रजी और वाल्मीकिजीके वचनोंसे प्रतीत होता है कि श्रीराम वैदिक नीति और मर्यादाके एकमात्र धुरंधर हैं। वे श्रुतिसेतुपालक एवं नीति-धर्मके पूर्ण ज्ञाता हैं। वे नीति और प्रीतिके संवाहक एवं निर्वाहक भी हैं।

चित्रकूटकी सभामें असमंजसकी स्थितिमें गोस्वामी तुलसीदासजी श्रीरामको 'नय-नागर' और 'नीति-प्रीति-पालक' कहते हैं—

देखि दयाल दसा सबही की। राम सुजान जानि जन जी की॥
धरम धुरीन धीर नय नागर। सत्य सनेह सील सुख सागर॥
देसु कालु लखि समउ समाजू। नीति प्रीति पालक रघुराजू॥
बोले बचन बानि सरबसु से। हित परिनाम सुनत ससि रसु से॥
(रा०च०मा० २।३०४।४—७)

स्पष्ट है कि नीतिचतुर होनेके कारण श्रीराम सिद्धान्त और व्यवहार-पक्षमें नीति-प्रीतिके पालक हैं। मानसमें अन्यत्र भी कहा गया है—

लरिकाइहि तें रघुबर बानी। पालत नीति प्रीति पहिचानी॥
(रा०च०मा० २।२७४।५)

ऐसे सर्वसमर्थ नीति-प्रीतिके साक्षात् स्वरूप राजा राम हैं कि गुरु, द्विज और पुरवासियोंके सम्मुख अत्यन्त विनम्रता और सहजतासे कहते हैं—

सुनहु सकल पुरजन मम बानी। कहउँ न कछु ममता उर आनी॥
नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जो तुम्हहि सोहाई॥
सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥
जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥
(रा०च०मा० ७।४३।३—६)

श्रीराम अनीतिका वर्जन करते हैं तो शिवजी नीति-विरोधी गुरुद्रोही शिष्यको दण्डित करते हैं जिससे श्रुति-मार्ग सुरक्षित रहे—

तदपि साप सठ दैहउँ तोही। नीति बिरोध सोहाइ न मोही॥
जौं नहिं दंड करौं खल तोरा। भ्रष्ट होइ श्रुतिमारग मोरा॥
(रा०च०मा० ७।१०७।३-४)

श्रीराम नीतिके परम उपदेष्टा हैं। यही हेतु है कि वे ऋषि-मुनि, प्रजा, द्विज, वनवासियों, अनुजों, भक्तों, सखाओं, परिजनों, पुरजनोंके साथ-साथ युद्ध-स्थलमें रावणको भी नीति सिखाते हैं। मानसमें श्रीरामद्वारा नीति-उपदेशका विशद वर्णन मिलता है जो मानसरोवरके अनमोल मोतीके समान है। उनके द्वारा धर्मनीति, राजनीति, समाजनीति, राष्ट्रिय नीति, वैयक्तिक नीतिका सम्यक् उपदेश मानसमें मिलता है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

राम करहिं भ्रातन्ह पर प्रीती। नाना भाँति सिखावहिं नीती॥
(रा०च०मा० ७।२५।३)

सब कें प्रिय सेवक यह नीती। मोरें अधिक दास पर प्रीती॥
(रा०च०मा० ७।१६।८)

एहि बिधि गए कछुक दिन बीती। कहत बिराग ग्यान गुन नीती॥
(रा०च०मा० ३।१७।२)

सगुन उपासक परहित निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्रान समान मम जिन्ह कें द्विज पद प्रेम॥
(रा०च०मा० ५।४८)

चित्रकूटसे अयोध्या प्रस्थान करते समय राजधर्म-नीतिका उपदेश करते हुए श्रीरामजी भरतजीसे कहते हैं—

मुखिआ मुखु सो चाहिऐ खान पान कहुँ एक।
पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक॥
(रा०च०मा० २।३१५)

श्रीरामकी नीति सार्वभौम और सार्वकालिक है। उनकी अतिशय उदारताका परिचय तब प्राप्त होता है जब युद्ध-भूमिमें अत्याचारी रावणको भी वे नीति सिखाते हैं—

जनि जल्पना करि सुजसु नासहि नीति सुनहि करहि छमा।
संसार महँ पूरुष त्रिबिध पाटल रसाल पनस समा॥
एक सुमनप्रद एक सुमन फल एक फलइ केवल लागहीं।
एक कहहिं कहहिं करहिं अपर एक करहिं कहत न बागहीं॥
(रा०च०मा० ६।९० छं०)

भाव यह है कि संसारमें गुलाब (सिर्फ फूल) आम (फूल और फल दोनों) कटहल (सिर्फ फल)-की तरह मनुष्य भी तीन प्रकारके हैं। एक कहते हैं करते नहीं एक कहते भी हैं करते भी हैं और एक करते हैं कहते नहीं फिरते। काश श्रीरामद्वारा उपदिष्ट इस नीतिको हम समझते और मानते

ता युग और जीवनकी दिशा और दशा ही बदल जाती।

मानसके विविध प्रसंगोंको देखनेसे ऐसा लगता है कि नीतियाँ ही श्रीरामका अनुसरण करती हैं। नीतियोंके शरणस्थल हैं— श्रीराम। वे ही नीतिगङ्गाकी गङ्गोत्री हैं। यही कारण है कि जो नीतियाँ इनके पक्षमें रहती हैं उन्हें गोस्वामीजी अतिपावन कहते हैं और ऐसी नीतिके पक्षधर पात्रको नीति-निपुण, नीति-परायण और नीति-विभूषण कहते हैं।

मानसमें तीन प्रकारकी नीतियोंके वर्णन हैं। वे हैं— अपावन, पावन और अतिपावन।

अपावन—नीतिशास्त्रके विरुद्ध कर्म और वचन ही अपावन हैं। श्रीरामके सेनासहित समुद्रपार उतरनेपर रावणके मन्त्रीके वचन अपावन हैं, क्योंकि नीतिविरुद्ध हैं—

कहहु कवन भय करिअ बिचारा। नर कपि भालु अहार हमारा॥
(रा०च०मा० ६।८।१)

पावन—आगे प्रहस्त रावणसे जिस नीतिकी चर्चा करते हैं, वह पावन है, क्योंकि वे वचन नीतिशास्त्र और राजनीतिके अनुकूल हैं—

प्रथम बसीठ पठउ सुनु नीती। सीता देइ करहु पुनि प्रीती॥
(रा०च०मा० ६।९।१०)

अतिपावन—गोस्वामी तुलसीदासजी माल्यवन्तकी नीतिको अतिपावन कहते हैं, क्योंकि वह श्रुतिसम्मत और नीतिशास्त्रानुकूल है—

माल्यवंत अति जरठ निसाचर। रावन मातु पिता मंत्री बर॥
बोला बचन नीति अति पावन। सुनहु तात कछु मोर सिखावन॥
जब ते तुम्ह सीता हरि आनी। असगुन होहिं न जाहिं बखानी॥
बेद पुरान जासु जसु गायो। राम बिमुख काहुँ न सुख पायो॥
हिरन्याच्छ भ्राता सहित मधु कैटभ बलवान।
जेहिं मारे सोइ अवतरेउ कृपासिंधु भगवान॥
(रा०च०मा० ६।४८।५—८ दो०४८)

नीति, प्रीति, परमार्थ और स्वार्थके सूत्रधार श्रीरामकी महत्ताका प्रतिपादन करनेवाली नीति ही अतिपावन हो सकती है।

विभीषणजीने भी रावणके प्रति अतिपावन नीति कही थी जो श्रुतिसम्मत थी। यथा—

बुध पुरान श्रुति संमत बानी। कही बिभीषन नीति बखानी॥
(रा०च०मा० ५।४१।१)

विभीषणजीने रावणके सम्मुख श्रीरामके भगवत्ता-विषयक नीतिका वर्णन विस्तारपूर्वक किया। इसे सुनकर माल्यवन्तने विभीषणकी प्रशंसा करते हुए रावणसे कहा कि हे तात! तुम्हारे छोटे भाई विभीषण नीति-विभूषण हैं। ये जो कहते हैं उसे हृदयमें धारण करो—

माल्यवंत अति सचिव सयाना। तासु बचन सुनि अति सुख माना॥
तात अनुज तव नीति बिभूषन। सो उर धरहु जो कहत बिभीषन॥
(रा०च०मा० ५।४०।१-२)

माल्यवन्तको 'सचिव सयाना' इसलिये कहा गया कि उन्होंने विभीषणकी नीतिका रावणके सम्मुख अनुमोदन किया था।

यही कारण है कि गोस्वामीजी उत्तरकाण्डमें कहते हैं कि जिस मार्गसे भगवत्प्राप्ति हो उसीका अवलम्बन करना नीति-निपुणता है। वही नीतिमें कुशल है जिसका मन राम-चरणमें अनुरक्त है—

नीति निपुन सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धांत नीक तेहिं जाना॥
सोइ कबि कोबिद सोइ रनधीरा। जो छल छाड़ि भजइ रघुबीरा॥
(रा०च०मा० ७।१२७।३-४)

यही कारण है कि नीतिरत मनुष्य ही श्रीरामकथाके अधिकारी हैं—

राम कथा के तेइ अधिकारी। जिन्ह कें सतसंगति अति प्यारी॥
गुर पद प्रीति नीति रत जेई। द्विज सेवक अधिकारी तेई॥
ता कहँ यह बिसेष सुखदाई। जाहि प्रानप्रिय श्रीरघुराई॥
(रा०च०मा० ७।१२८।६—८)

श्रीरामकी धर्मनीति, राजनीति, राष्ट्रनीति और सामाजिक नीतिको दृष्टिगत करते हुए ही गोस्वामीजीने कहा था—

नीति प्रीति परमारथ स्वारथु। कोउ न राम सम जान जथारथु॥
(रा०च०मा० २।२५४।५)

भक्तिपथके अनन्य साधक गोस्वामी तुलसीदासजी इन सभी नीतियोंका समाहार निम्न चौपाईमें करते हैं—

सब कर मत खगनायक एहा। करिअ राम पद पंकज नेहा॥
(रा०च०मा० ७।१२२।१३)

गोस्वामीजीकी स्पष्ट मान्यता है कि श्रीरामकी शरणागतिसे ही मनुष्य नीति, प्रीति, परमार्थ और स्वार्थके ममतक पहुँचकर परम विश्रामको प्राप्त कर सकता है। नीति-पालनका यही परम ध्येय है।

मराठी सतोके नीतिसम्बन्धी उपदेश

(डॉ० श्रीभीमाशकरजी देशपाडे, एम्०ए०, पी-एच्० डी०, एल्-एल्० बी०)

महाराष्ट्र प्राचीनकालसे ही सतो एव भक्तोकी भूमि रही है। नामदेव, सत ज्ञानेश्वर सत एकनाथ आदिने यहींसे भक्ति एव ज्ञानकी धारा प्रवाहित की। इन महात्माओकी वाणियोमे नीतिकी बडी ही सुन्दर बात बतायी गयी है। यहाँ कुछ सतोके उपदेश दिये जा रहे है—

(१) मुकुन्दराज—मराठीके आद्य कवि श्रीमुकुन्दराज कहते हैं— *'अशुद्ध पात्री शुद्ध नव्हे ते दूध'* अर्थात् जिस प्रकार अशुद्ध पात्रमे दूध शुद्ध नहीं रहता उसी प्रकार अन्त करण मलिन होनेसे साधना व्यर्थ हो जाती है। मुकुन्दराज शाङ्कर वेदान्तके महान् आचार्य थे। तत्त्वज्ञानकी इस परम्पराको उत्तरकालमे कविवर्य दासोपन्त एव समर्थ रामदासजीने परिपुष्ट किया।

(२) कवि दासोपन्त—दासोपन्त महान् दत्तोपासक थे। अद्वैत तत्त्वज्ञानके वे श्रेष्ठ उपासक थे। उन्होने स्पष्ट चेतावनी दी है कि निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त हुए बिना मन शान्ति नहीं मिलती। ज्ञानका उपयोग आचरणके लिये है, जनसमूहको आकृष्ट करनेके लिये नही। ज्ञान पचाना पडता है। वे कहते हैं, ज्ञानी दो प्रकारके होते है। पहला ज्ञानी शास्त्राध्ययन करते हुए श्रद्धाके बलपर शीघ्र ही कृतकृत्य होता है, जबकि दूसरा अनेक शास्त्रोका अध्ययन करनेपर भी अश्रद्धाके कारण सशयग्रस्त होकर जीवनभर असतुष्ट बना रहता है। केवल शाब्दिक पण्डित बननेसे उसे समाधानकी प्राप्ति नहीं होती। जीवनमे साधकके लिये सर्वप्रथम रसना-जय प्राप्त करना आवश्यक है।

(३) नामदेव—भक्तसम्राट् नामदेवजीने 'नाम' को ही सबका सार बतलाया है। नाम निरन्तर सुख प्रदान करानेवाला है। उन्होने सनातन ब्रह्मको वशमे करनेके लिये नामसकीर्तनको प्रमुख साधन माना है। उनकी अभगरचना एव पदरचना विपुल हैं। उनका मानना है कि सहृदयता, नम्रता, आत्महित-दक्षता एव अल्पसतुष्टता—ये चार महत्त्वपूर्ण बाते आदर्श व्यक्तिके लिये आवश्यक हैं। ससारमे सभी व्यक्ति यदि इन चार बातोको अपना ले तो विश्वमे शान्तिका साम्राज्य होना निश्चित है। उनका यह भक्तिमार्ग विश्वको शान्ति प्रदान करनेवाला है। नामदेवका भक्ति-निरूपण सुनकर स्वय ज्ञानेश्वर महाराज प्रसन्न हुए और उन्होने उनकी प्रशसा की।

(४) सत ज्ञानेश्वर—मन शान्ति ही मानव-जीवनकी सर्वश्रेष्ठ शक्ति है—यह उपदेश ज्ञानेश्वर महाराज करते है। वे इसे 'अखण्डित प्रसन्नता' के नामसे सम्बोधित करते है। *आत्मसुख ही यथार्थ सुख है।* अमृत-प्राप्तिके लिये देवताओको मदराचलको सागरमे प्रयोग करना पडा, परतु यह आत्मसुख प्रत्येक व्यक्तिके भीतर स्वय तैयार ही रहता है। उसका स्मरण करनेसे ही वह सभीको प्राप्त होनेवाला है। इस ओर ध्यान देना हमारा परम कर्तव्य है। इस *आत्मसुखका विस्मरण होनेसे अनेक सकट आते हैं।* यह आत्मसुख कोई काल्पनिक विचार नहीं है बल्कि सत-महात्माओने इसका प्रत्यक्ष अनुभव किया है। यह सुख पूर्णत बाह्य परिस्थिति-निरपेक्ष है। अन्तर्मुखसे ही इसका उदय होता है। इसके स्वरूपबोध लक्षणको पहचानना आवश्यक है। जैसे समुद्रमे गिरे हुए नमकका स्वरूप एव पार्थक्य नष्ट हो जाता है और वह समुद्रमय तथा विशाल हो जाता है उसी प्रकार आत्मज्ञानी व्यक्तिका चित्त ही चैतन्य बन जाता है।

हमारे पूर्वज जिस मार्गसे गये, उसी मार्गको अपनाना हमारा श्रेष्ठतम कर्तव्य है। इससे लक्ष्यकी प्राप्ति अवश्य होगी।

अहकारके विषयमे ज्ञानेश्वर महाराज उपदेश करते है कि अहकारका पोषण अविद्यासे होता है। अविद्याका परदा हट जानेसे जीव और शिवका ऐक्य हो जाता है। माया एव अविद्याकी नदी पार करनेके लिये अहभावका भारी बोझ उतारकर फेक देना आवश्यक है। सत ज्ञानेश्वरजी अहकार और प्रपञ्चके सम्बन्धमे एक लघुत्तम कथा निवेदित करते हैं। यह प्रणयकथा है। कामकथा है। अहकार कुमारी तनसे प्रेम करता है। उनका विवाह सम्पन्न होता है। उनके सयोगसे इच्छा नामक कन्याका जन्म होता है। वह युवावस्थाको प्राप्त करती है। उसका सम्बन्ध द्वेषसे होता है। द्वेष और इच्छासे द्वन्द्व-मोह उत्पन्न होता है। यह द्वन्द्व-मोह

अपने पितामह अहकारके लाडसे पलता ह। यह लाडला द्वन्द्वमाह धैर्यसे हमेशा झगडता रहता है। आशा नामक धायका दूध पीकर यह बडा तगडा वन जाता ह। सब नियम एव वन्धन ताडकर यह असतोपरूपी मद्यका सेवन करते हुए वेलगाम, वताव हो जाता है आर विपयम रत विकृतिरूपी स्त्रीसे सख्य प्राप्तकर अन्त करणशुद्धिके मार्गम कॉटे विखर देता ह। जिससे यह अनुचित कर्मका मार्ग अपनाता है। इस तरहका यह प्रतापी अहकार असामान्य ही ह। ईश्वर एव ईश्वरके कर्तृत्वको भुला दनेवाला यह अहकार द्वैतवन्धुका भागीदार ह।

अर्जुन एस ही अहकारसे व्यग्र थे। उनका अज्ञान दूर करनेके लिये गीताका जन्म हुआ।

(५) सत एकनाथ—सत एकनाथजी अपनी एकादश-टाकाम कहते ह कि ज्ञान, कर्म, योग, नीति—इनकी तुलनाम भक्ति प्रमुख एव सर्वश्रेष्ठ है। नाथ-भागवतका पठन करत समय ज्ञानेश्वरीका स्मरण होता है। सत एकनाथजीन ज्ञानश्वरी-ग्रन्थका पुन विवेचन किया। वारकरी सम्प्रदायम उन्ह 'ज्ञानाचा एका' अथात् 'ज्ञानदेवके एकनाथ' कहते हैं। वे गुरुमहिमाकी परम्पराका तत्त्व वडी ही राचकतासे वतलाते ह जिससे सम्पूर्ण विश्व ही गुरुमय हानेका विश्वास होता है। भक्ति एव सत्सगकी तुलनाम योगका काई वर्चस्व नहीं। भक्तिके सामने ज्ञानका श्रेष्ठत्व नहीं ह। प्रथम भक्ति ह तदनन्तर ज्ञान। भक्तिके पश्चात् ज्ञानका जन्म होता है। जनसामान्यकी भापाम उन्हाने यह वदान्त ग्रथित किया है।

नातितत्त्वका आचरण प्रथम उन्हान स्वय अपन जावनम किया। उसक पश्चात् उपदशम प्रवृत्त हुए। उनक जावनका एक रोचक प्रसग ह—

'एक यालक वीमार था। पथ्यम उस गुड नहीं खाना था। वह घरम किसीकी भी यात नहीं मानता था। उसक पिताजा यालकका एकनाथ महाराजक पास लाय और उन्हान उस यालकका गुड न खानका उपदश दनकी प्राथना की। एकनाथ महाराजने उसे तीन दिनक पश्चात् लानका कहा। तान दिनतक उन्हान अपन रसाइम गुडका उपयाग न करनकी आज्ञा दा। तान राजक याद यालकक आत हा उन्हान उस प्रमस समझाया। यालकन भी मान लिया। पिताने जिज्ञासास पूछा कि यह तो तीन दिन पहले भी आप समझा सकते थ। एकनाथ महाराजन मुसकरात हुए उत्तर दिया कि तव म स्वय भी गुड खाता था आर स्वय गुड खात हुए उसे उपदेश करनेसे काई फल-प्राप्तिकी आशा नहीं थी। इसी कारण मैंने तीन दिनका समय लिया।'

प्रपञ्च और परमार्थका निजी सम्वन्ध उन्हान वडी कुशलतासे वतलाया ह। प्रपञ्चसे ही परमाथका शाभा ह। परमार्थसे प्रपञ्च शाभायमान ह। प्रपञ्च आर परमार्थका एक्य हानेसे जीवन कृतार्थ होता है। भागवत धर्मका यह मूल सिद्धान्त सत एकनाथजीके जीवन और वाणीम सुस्पष्टतास दिखायी देता ह। प्रपञ्चम परमार्थ दखनका उनका उपदश वड ही महत्त्वका ह।

(६) सत तुकाराम—वारकरी सम्प्रदाय तथा भक्तिमार्गके महान् सत श्रीतुकाराम महाराजकी अभगरचना मराठी भापाम प्रसिद्ध है। उन्हान भक्ति-साधनाका असाधारण महत्त्व प्रतिपादित किया है। भागवत धर्मकी नाव सत ज्ञानेश्वर महाराजने डाली। उस भागवत मन्दिरका शिखरारोहण तुकाराम महाराजसे हुआ।

जनभापाम किया हुआ उनका उपदश महत्त्वपूर्ण है। नाममार्ग ही श्रेयस्कर हानेका वे प्रमाण दत ह। जनताको धर्मरहस्य निवेदन करनेकी याग्यता उन्ह भक्तिसाधनासे ही प्राप्त हुई थी। वासना एव सव विकारास मुक्त हाकर परमार्थ-अवस्थाको प्राप्त करना वे श्रेष्ठ मानत थ।

तुकाराम महाराज कहते ह कि कविका आस्तिक होना आवश्यक ह। नाममात्र शाब्दिक त्याग न करत हुए ससारासक्तिका त्याग करना अनिवार्य ह। वह वदक आज्ञानुसार दहात्मवुद्धिस मुक्त हानपर ही प्रभावी काव्य लिख सकता है। परमार्थका नाटक करनपर नरकवास हा भागना पडता ह। वाक्-शक्ति एव वाणी परमात्माकी दन ह। यह काई काल्पनिक वात नहीं। इसका साक्षात्कार उन्ह स्वय अपन जावनम हुआ था। इसा कारण उन्हान अपना अभगरचनाका श्रय परमात्माको हा दिया ह। उनका सम्पूर्ण रचना धर्मोपदश नातिक उपदश आर भगवत्सवाका हा समर्पित है। व अन्य विपयका विवचन नहीं करत। व कहत हैं कि जिस व्यक्तिक पास आचरणका तालमल नहीं

हाता एसे अमङ्गलकारा व्यक्तिसे दूर रहना ठीक ह।

(८) समर्थ रामदास—समर्थ रामदास महाराष्ट्रक एक महान् आचार्य थे। वे कहते हैं कि जिसक जीवनम इन्द्रिय-दमन ह, निरन्तर श्रवण-मनन है विवक ह, उपासना ह, सत्सग ह आर जिसे समाधान प्राप्त हुआ है उसका जीवन धन्य है। वे परमेश्वरक सामथ्यका वर्णन करत हुए उसे पहचाननेको वार-वार प्रवृत्त करत हैं। वे केवल अध्यात्मज्ञानको ही ज्ञान कहत हैं। वे निष्ठावान् रामभक्त थे तथा उन्हान रामापासनाका ही प्रचार किया। रामकथाको ब्रह्माण्ड भेदकर पार ले जानका उपदेश उन्हाने किया ह।

सामाजिक जावनक दाप वतात हुए वे विवादका टालना तथा सवादक मागको अपनानेका आग्रह करते ह। भिन्न-भिन्न पन्थ, सम्प्रदायके विवादसे वे उदास भी हाते हैं। विपय-सुखम आश्रमधर्मसम्मत सयमका पालन होना आवश्यक है। वे कहते हे कि जिस स्थानपर मद हाता है वहाँ गुण-ग्राह्यताका अभाव होता हे। उनका कहना है कि काम-क्रोधादि पड् रिपुआका जीतनेवाला ही सर्वश्रष्ठ हाता हे। प्रवृत्तिमार्गमे भाग्यश्री आर निवृत्तिमार्गम माक्षश्री मिलनका साधन ज्ञान हा हे। वे आदिशक्तिकी उपासना करना महत्त्वपूर्ण मानते ह। दवीकी आराधनास समर्थजीने शक्ति जाग्रत् की तथा हनुमान्जीकी आराधनासे पराक्रमकी अग्नि प्रज्वलित की। वे श्रेष्ठ कोटिके धर्म-सस्थापक थ। भगवान् रामका जीवन धर्मकी स्थापनाके लिये हानेसे व उन्हाका गुणगान अपनी रचनाम करते हैं। समर्थ रामदासजाको हनुमान्जीका अवतार समझा जाता हे। उन्हान अनक स्थानोपर हनुमद्विग्रहकी प्रतिष्ठा की और धर्मप्रसारक लिये मठ स्थापित किये। व कहते हैं—

धर्म स्थापने चे नर। ते ईश्वराचे अवतार॥
झाले आहेत पुढे होणार। दणे ईश्वराचे॥

अर्थात् धर्मस्थापना करनवाले नर ईश्वरके अवतार ही हात ह। एस नर—पुरुप भूतकालम थे, वर्तमानम ह आर भविष्यम भी हागे। कारण यह ईश्वरकी ही दन हे।

समर्थ रामदासजीक सुयाग्य मार्गदर्शनम ही गा-ब्राह्मण-प्रतिपालक छत्रपति शिवाजी महाराज धर्म एव राष्ट्रसेवाम अग्रसर हुए। इसी कारण समर्थ गुरुका राष्ट्रगुरु कहते हैं।

समर्थ रामदासजी वतलाते ह कि अहिसा ओर प्रेममार्गद्वारा लोकसघटनका कार्य करनक लिय अपार सहनशीलताकी आवश्यकता हाती ह। कठार शब्दद्वारा किसीका कष्ट देना राक्षसाका कार्य ह। लाकसग्रह करते समय मर्यादा-पालनको वे आवश्यक वताते ह। लाकसग्रह अवश्य करना चाहिय। परतु सभीका समीप रखना उचित नहीं। किसे समीप आने देना हे अथवा कितने अन्तरपर रखना है—इसका विचार करते हुए उनके अधिकार ओर योग्यतापर विचार होना आवश्यक है। स्वय कष्ट सह लेना उचित मार्ग ह। दूसरापर विश्वास करना याग्य नही। प्रसग आनेपर दूसराका विराध करना आवश्यक हे। व समाजम 'भला आणि नष्ट' (बुरे या अच्छे)-की परख करनकी सलाह दते ह। यह विवेचन विस्तारसे उनकी रचनाम है। कार्यकर्ताको वे गुप्त रहकर राजकरण करनका सुझाव दते ह, परतु राजकरणम परपीडाकी बुद्धि रखना पाप हे। समर्थ रामदासजी नियमका कठोर पालन करनवाल थे। नियम-पालनम शिथिलता उन्ह मान्य नहीं थी। समर्थ रामदासजीकी यह विचारधारा उनके ग्रन्थ दासबोध, मनोवाधम विस्तारसे रोचक शब्दाम नि स्पृहतासे ग्रथित हें। नवधा भक्तिम पाँचवीं भक्ति अर्चन हे। वे कहते हे—

पाँचवीं भक्ति त अर्चन। अर्चन म्हणज दवतार्चन॥
शास्त्रोक्त पूजा विधान। केल पाहिज॥

अचन-भक्ति यानी देवतार्चन करना हे ता शास्त्रविधिके अनुसार ही पूजा हानी चाहिये। इससे उनक नियम-पालनकी महत्त्वपूर्ण दृष्टि स्पष्ट होती हे।

महाराष्ट्रके प्रमुख श्रेष्ठ साधु-सताके य नीतिविचार महत्त्वपूर्ण हे। इसी परम्परामे उत्तरकालीन अनक सताने समाजका उपदेश दिया। धर्मकार्यमें मराठी सताका यागदान महत्त्वपूर्ण हे।

श्रीरामचरितमानसकी रीति तथा नीति

(चक्रवर्ती श्रीरामाधारजी चतुर्वेदी)

वंश-परम्पराकी प्रसिद्ध प्रथा या रिवाजको रीति तथा राष्ट्रहित एवं प्रजाकी सुरक्षाके विधि-विधानको नीति कहते हैं। इसलिये रीतिसे कुलरीति एवं नीतिसे प्रायः राजनीतिका बोध होता है। रीति और नीति दोनों अनुसरणीय हैं, अतः दोनों प्रायः समानार्थक भी हैं, क्योंकि श्रवणार्थक 'रीङ्' धातुसे 'रीयते रयणं वा' इस भावबोधक व्युत्पत्तिमें 'क्तिन्' प्रत्ययके योगसे 'रीति' पद तथा गत्यर्थक 'णीञ्' धातुसे 'नीयते नयनं वा' इस अर्थमें 'क्तिन्' प्रत्ययके सम्बन्धसे 'नीति' पद सिद्ध होता है। दोनों सामान्यतः एक अर्थके बोधक हैं, फिर भी रीति पदका व्यवहार कुल-प्रथा तथा स्वभाव-नियम आदिके लिये होता है और नीति पद राष्ट्र तथा प्रजाकी उन्नतिके लिये योगरूढ है। इन दोनोंसे ही वंश तथा राष्ट्र सुरक्षित रहता है। अतः कुल-परम्परा तथा राष्ट्रहितके लिये दोनोंकी मान्यता प्रसिद्ध है।

प्राचीन भारतीय ऋषियोंद्वारा प्रणीत स्मृति, पुराण, महाभारत आदि ग्रन्थोंमें राजाओंके चरितवर्णन-प्रसंगमें रीति और नीतिका उल्लेख भी विशेष रूपसे हुआ है। वर्ण और आश्रम-व्यवस्थाके साथ-साथ राजनीतिक स्वरूपका परिचय भी उन ग्रन्थोंसे प्राप्त होता है। उनके अतिरिक्त संस्कृत तथा हिन्दी भाषाके साहित्य-ग्रन्थोंमें जो धार्मिक राजाओंके चरितका वर्णन है, वह भी रीति एवं नीतिकी शिक्षासे परिपूर्ण है। उदाहरणके रूपमें यहाँ 'श्रीरामचरितमानस'में वर्णित रीति तथा नीतिके प्रसंगोंको प्रस्तुत किया जा रहा है। कुलरीतिके विषयमें राजा दशरथने कैकेयीसे कहा था—

रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहुँ बरु बचनु न जाई॥
(रा०च०मा० २।२८।४)

भाव यह है कि सत्य वचनका पालन हमारी कुल-परम्परा है, अतः प्राण भले ही चला जाय पर वचन सत्य ही रहेगा। मैंने तुम्हें जो दो वर माँगनेको कहा था उसकी जगह तुम चार भी माँग सकती हो, किंतु मैं अपनी कुलरीतिसे विचलित नहीं होऊँगा। इसी प्रकार रामने सीताके सौन्दर्यको देखकर मुग्ध होनेपर अपनी वंश-परम्पराके स्वभावका स्मरण करते हुए लक्ष्मणसे कहा था—

रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मनु कुपथ पगु धरइ न काऊ॥
(रा०च०मा० १।२३१।५)

यहाँ सहज स्वभावसे कुलरीतिका ही संकेत है। स्वभाव-अर्थमें रीति पदका प्रयोग भी मानसमें हुआ है, जैसा कि—

सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥
(रा०च०मा० ४।१२।१)

अर्थात् देवता, मनुष्य, मुनि आदि सबका यह स्वभाव या नियम है कि अपने कार्यकी सिद्धिके लिये ही वे एक-दूसरेसे प्रेम करते हैं। इसी प्रकार अनुपम स्वभावके अर्थमें भी रीति पद प्रयुक्त हुआ है—

मोह न नारि नारि कें रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा॥
(रा०च०मा० ७।११६।२)

अर्थात् पुरुष और नारीका परस्पर आकर्षण तो होता है, किंतु एक नारी दूसरी नारीके सौन्दर्यसे आकृष्ट नहीं होती—यह स्वाभाविक नियम है। अतः रीतिसे यहाँ सहज स्वभावका बोध होता है, कुलरीतिका नहीं। रामकी स्वाभाविक रीतिका वर्णन करते हुए भी कहा गया है—

कहहु कवन प्रभु कै असि रीती। सेवक पर ममता अरु प्रीती॥
(रा०च०मा० ७।८५।२)

यहाँ रीति पद नीतिके अर्थमें है। अर्थात् सेवकपर ममता तथा प्रीति करना प्रभु रामकी स्वाभाविक नीति है।

इसी प्रकार नीति पदका प्रयोग मानसमें राजनीति तथा रीतिके अर्थमें भी हुआ है। सीताका पता लगानेके लिये चारों दिशाओंमें वानर-भालुओंको भेजना रामकी राजनीति थी, क्योंकि वे जानते ही थे कि सीताको रावण हरकर लङ्कामें ले गया है। फिर भी राजधर्मकी रीतिका उन्होंने पालन किया, जिसका उल्लेख इस प्रकार है—

जद्यपि प्रभु जानत सब बाता। राजनीति राखत सुरत्राता॥
(रा०च०मा० ६। ३।१३)

नीति-प्रतिपालक रामने पुनः अगाध समुद्रको पार

करनेका उपाय मन्त्रियासे पूछा तो विभीपणने कहा कि आपका बाण हा कराडा समुद्राको सुखा देनेवाला है—

जद्यपि तदपि नीति असि गाई। बिनय करिअ सागर सन जाई॥
प्रभु तुम्हार कुलगुर जलधि कहिहि उपाय बिचारि।
बिनु प्रयास सागर तरिहि सकल भालु कपि धारि॥
(रा० च० मा० ५।५०।८ दो० ५०)

विभीपणकी इस सामनीतिका स्वीकारकर राम सिन्धुके समाप गय और उन्होंने प्रणामकर कुशासनपर बैठकर तान दिनतक विनती की, किंतु समुद्रपर इसका काई प्रभाव नहीं हुआ। तब मर्यादापुरपात्तम श्रारामने दण्डनीतिको अपनात हुए कहा—

सठ सन बिनय कुटिल सन प्रीता। सहज कृपन सन सुदर नाती॥
ममता रत सन ग्यान कहानी। अति लाभी सन बिरति बखानी॥
क्राधिहि सम कामिहि हरि कथा। ऊसर बीज बएँ फल जथा॥
(रा० च० मा० ५।५८।२—४)

भाव यह हे कि शठ आर कुटिल आदिके साथ विनय तथा प्रीति आदिका व्यवहार ऊसर खतमे बीज बानके समान निष्फल होता ह। अत ये दण्डके पात्र ह, विनय या उपदशके नही।

इसा प्रकार अभिमानी रावणन भी मन्दोदराके नीतियुक्त वचनापर ध्यान नहीं दिया था। मन्दादरीने हाथ जाडकर तथा पतिका पैर पकडकर कहा था—

कत करय हरि सन परिहरहू। मार कहा अति हित हियँ धरहू॥
समुझत जासु दूत कइ करनी। स्रवहिं गर्भ रजनीचर घरनी॥
तासु नारि निज सचिव बोलाई। पठवहु कत जो चहहु भलाई॥
तव कुल कमल बिपिन दुखदाई। सीता सीत निसा सम आई॥
सुनहु नाथ सीता बिनु दीन्हे। हित न तुम्हार सभु अज कीन्हे॥
राम बान अहि गन सरिस निकर निसाचर भेक।
जब लगि ग्रसत न तब लगि जतनु करहु तजि टक॥
(रा० च० मा० ५।३६।६—१० दा० ३६)

मन्दादरीके इस हितकर वचनमे साम, दाम, दण्ड तथा भेद—इन चारा नीतियाका समावेश ह, किंतु अभिमानी रावणपर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं पडा वह तो नारीके स्वभावकी निन्दा करत हुए कहने लगा—

सभय सुभाउ नारि कर साचा। मगल महु भय मन अति काचा॥
(रा० च० मा० ५।३७।२)

इसी तरह जब कभी रामसे विराध न करनके लिये मन्दादरीने रावणसे अनुरोध किया ता अहकारसे अभिभूत रावणने उसपर ध्यान नहीं दिया।

रामने सदा रावणका हित ही चाहा था। इसलिये उसके पास दूतके रूपमे अङ्गदको भेजते हुए उन्हाने सामनीतिका उपयाग करनेका कहा—

काजु हमार तासु हित हाई। रिपु सन करहु बतकहा साई॥
(रा० च० मा० ६।१७।८)

पुन जब रावण रणक्षेत्रमे आया ता अपनी प्रशसा करने लगा, जिसे सुनकर रामने हँसकर कहा—

सत्य सत्य सब तव प्रभुताई। जल्पसि जनि दखाउ मनुसाई॥
जनि जल्पना करि सुजसु नासहि नीति सुनहि करहि छमा।
ससार महँ पूरुष त्रिबिध पाटल रसाल पनस समा॥
एक सुमनप्रद एक सुमन फल एक फलइ कवल लागही।
एक कहहिं कहहिं करहिं अपर एक करहिं कहत न बागहीं॥
(रा० च० मा० ६।९०।१० छ०)

यद्यपि रामने रावणसे कहा कि नीति-निपुण वह ह जो कहता नहा करके दिखा दता ह किंतु अभिमानी रावण रामके इस वचनको सुनकर हँसा आर कहा कि मुझे आज ज्ञानका उपदश कर रहे हो, वैर करत समय नहा साचा, आज प्राण प्रिय लग रहे ह—

राम बचन सुनि बिहँसा माहि सिखावत ग्यान।
बयरु करत नहि तब डर अब लाग प्रिय प्रान॥
(रा० च० मा० ६।९०)

वस्तुत मर्यादापुरुषात्तम श्रीराम राति तथा नीतिके इतने महान् रक्षक थ कि एक समय अपने पुरवासियाका उपदेश देते हुए उन्हाने स्पष्ट कह दिया था—

सुनहु सकल पुरजन मम बानी। कहउँ न कछु ममता उर आनी॥
नहिं अनाति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जा तुम्हहि साहाई॥
जा अनीति कछु भाषा भाई। तौ माहि बरजहु भय बिसराई॥
(रा० च० मा० ७।४३।३-४ ६)

भाव यह ह कि मेरे मुँहसे यदि काई अनुचित बात निकल जाय तो बिना भय एव सकाचके उसे राक दना। यह ह रामराज्यकी राजनीति जिससे प्रजातन्त्रका वास्तविक स्वरूप प्रकट हाता ह।

श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमें नीति-विषयक विवेचन

(डॉ० श्रीसुभाषचन्द्रजी सचदेवा 'हर्ष' एम०ए० एम०फिल्० पी-एच०डी०)

आध्यात्मिकताको एव परलोकको श्रेष्ठता प्रदान करते हुए श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमें यह तथ्य उजागर किया गया ह कि जो मानव इहलोक (मनुष्य-जन्म)-का सुखमय बनानकी व्यावहारिक नीतिको जान लता ह उसका परलोक स्वत ही सुखमय बन जाता है।[1] अत —'छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम्' के न्यायानुसार गुरुग्रन्थसाहिबमे इहलोक अथवा व्यावहारिक जगत्‌का सुखमय बनानेके अनेक नीति-सूत्र उपलब्ध होते ह।

व्यावहारिक जीवनकी सफलता एव सामाजिक उत्थानके मूलमे सद्‌विचार (सद्‌बुद्धि), सतोष एव सत्य—इन तीन नीतियोका अवलम्बन अपरिहार्य है। गुरुग्रन्थसाहिबमे इस नीतित्रयको मानव-जीवनका श्रेष्ठ आधार मानते हुए सन्मति अथवा सद्‌विचारको 'माता', सतोषको 'पिता' एव सत्यको 'भाई' की सज्ञा दी गयी है।[2] सिक्ख गुरुओने पारस्परिक व्यवहारमे उक्त नीतित्रय (सद्‌विचार, सतोष एव सत्य)-को अपनानेकी सत्प्रेरणा दी हे। इस नीतित्रयको शिरोधार्य करके अपने परिश्रमसे अर्जित की गयी नेक कमाईद्वारा ही मानव-जीवनमे मानसिक शान्ति एव आध्यात्मिक आनन्दका सचार होता है।[3]

मानव-जीवनमे निरन्तर सजगता एव सावधानीकी आवश्यकता ह, क्योकि पदे-पदे विषय-विकारोमे आक्रान्त होनेकी सम्भावना बनी रहती है।[4] गुरुग्रन्थसाहिबमे विषय-विकारोके विष (मल मल)-से मुक्त होनेका जो एक अनुपम नीतिका वर्णन किया गया ह वह ह दुर्मतिनाशिनी एव सद्‌गुणदायिनी नीति 'सत्सगति' अर्थात् सज्जन (साधु) पुरुषोका सङ्ग।[5] सत्सगरूपी इस नीतिके निर्वाहसे जीवनमे सद्‌गुणोको धारण करनेकी प्रवृत्ति अनायास ही उत्पन्न हो जाती हे। परिणामत प्रभु-शक्तिका दिव्य प्रकाश उदित होता ह,[6] जिसकी आभास जीवनको धूमिल करनेवाले काम क्रोध, अहकार एव मात्सर्य आदि निस्तेज हो जात ह तथा सत्य, सतोष दया, धर्म आदि आध्यात्मिक गुणोका सागर हृदयमे उमडने लगता हे।[7]

सिक्ख गुरु विश्वबन्धुत्व एव पारस्परिक सौहार्दके प्रबल समर्थक थ अत श्रीगुरुग्रन्थमे सकलित गुरुओ एव अन्य सतो[8]की वाणीमे मानवमात्रमे प्रेम सौहार्द सद्भाव एव परोपकार आदि दिव्य भावोको जाग्रत् करने-हेतु अनेक नीति-वचनोका उल्लेख हुआ है। इस नीतिवचनामृतके अन्तर्गत मुख्यत मधुर भाषण[9] विनम्रतायुक्त व्यवहार[10] पाखण्डका सर्वथा अभाव,[11] कृतज्ञता[12] एव निष्कपटता[13] आदिकी गणना की गयी

---

१ एह लोक सुखीए परलोक सुहेले। नानक हरि प्रभु आपहि मेले॥ (गउडी सुखमनी महला-५ पृ० २९२-९३)

२ माता मति पिता सतोखु। सत भाई कर ऐहु विसेखु॥ (राग गउडी गुआरेरी महला-१ पृ० १५१)
मति माता मति जीओ नाम मुखि रामा। सतोखु पिता करि गुरु पुरखु अजनमा॥ (महला-४ पृ० २७३)

३ उदम करत सीतल मन भए। मारगि चलत सगल दुख गए॥ (गउडी महला-५ पृ० २०१)

४ जगि हउमै मैल दुखु पाइआ। मल लागी दूजै भाइ॥ (सिरीराग महला-३ पृ० ३९)

५ सगल क्रिया महि ऊतम किरिआ। साधसगि दुरमति मल हिरिआ॥ (गउडी सुखमनी महला-५ पृ० २६६)

६ विणु गुण कीते भगति न होइ। (वाणी जपुजी पृ० ४)

७ काम क्रोध माइआ मद मत्सर ऐ खेलत सभि जुऐ हार। सतु सतोखु दइआ धरमु सचु इह अपुनै ग्रिह भीतरि वार॥
(आसामहला-५ पृ० ३७९)

८ श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमें गुरु नानक गुरु अगद, गुरु अमरदास आदि सिक्ख गुरुओकी वाणीके साथ-साथ नामदेव कबीर पीपा श्रीरामानन्द बाबा फरीद आदि सतोकी भी वाणी सकलित है।

९ आपु तिआगि सरणी पवा मुखि बोली मिठडे वैण॥ (माझ महला-५ दिन रैणि पृ० १३६)

१० आपस कउ जो जाणै नीचा। सोऊ गनीऐ सभ ते ऊचा॥ (गउडी सुखमनी महला-५ पृ० २६६)

११ पाखंडि भगति न होवई दुबिधा बोलि खुआरु। सो जनु रलाइआ ना रलै जिसु अतरि बिबेक बीचारु॥ (सिरीराग महला ३ पृ० २८)

१२ नरक घोर बहु दुख घणे अकिरतघणा का थान। (सलोक महला-४ पृ० ३१५)

१३ तजि कूड कपटु सुभाउ दूजा चाकरी लोकाणीआ। (बिलावल महला-१ पृ० ८४४)

है। ये दिव्य गुण मानवीय व्यवहारको मधुर बनानेके साथ-साथ मानवका आध्यात्मिक उत्थान करके[१४] 'एक पथ दो काज' की उक्तिको यथार्थ सिद्ध करते ह। इस प्रकार नरम नारायण आर मानवम माधवका दर्शन करता हुआ आध्यात्मिक साधक सामाजिक सवाक उदात्त सकल्पद्वारा आध्यात्मिक उत्कपको प्राप्त करता ह।[१५]

सिक्ख पथका आर भी एक महत्त्वपूर्ण तथा व्यावहारिक पक्ष है गृहस्थ-आश्रमका पालन करते हुए परमेश्वरकी प्राप्तिक लिये पुरुपार्थ (प्रयत्न) करना।[१६] श्रीगुरुग्रन्थसाहिबकी मान्यता ह कि गृहस्थ-आश्रमकी आजस्विता दाम्पत्य (पति-पत्नीके)-प्रमकी नीतिपर अधिष्ठित है आर दाम्पत्य-प्रमम प्रभु-भक्तिका समन्वय[१७] उसे (गृहस्थ-आश्रमको) 'मणिकाञ्चन' सयोग-जेसी गरिमा प्रदान करता ह। श्रीगुरुग्रन्थसाहिबम सामाजिक एव गाहस्थ्य—इन दोना स्तरापर नारी-जातिको सम्मान एव गारव प्रदान करनकी नीतिका समर्थन किया गया है।[१८] इसके साथ-साथ इस तथ्यकी भी उद्भावना की गयी है कि विवाहिता नारीका यह परम कर्तव्य हे कि वह पातिव्रत धर्मरूपी नीतिका निर्वाह करती हुई अपन जीवनका सदाचारमय (शीलादि गुणास सम्पन्न) बनाय। पतिद्वारा परिश्रम एव ईमानदारीसे कमाये गये धनपर ही सतोप कर।[१९]

श्रीगुरुग्रन्थसाहिबम सताके मर्यादित जावन-नीतिको इस प्रकार बताया गया हे—वास्तविक सत वे ह जो परिश्रम एव निष्कपटतास धन कमानेवाले एव सरल जीवन वितानवाले सज्जनाक घरासे ही प्राप्त सीधे-सादे (सात्त्विक) भोजनका ग्रहण करना पसद करते ह। उन्ह उन तथाकथित उच्च वर्गक लागाका भाजन कदापि स्वीकार्य नहीं होता जो दूसराका हक छीननेवाले एव निर्धनाका रक्त चूसनेवाले ह।[२०] 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धि' आदि अनुभवगम्य वाक्य इस तथ्यके प्रवल पोपक ह कि 'जैसा अन्न वसा मन'।

श्रीगुरुग्रन्थसाहिबम राजनीतिके परिप्रेक्ष्यम राजाके कर्तव्याकी भी व्याख्या की गयी ह। एक प्रकरणम कहा गया ह कि जा राजा अभिमानवश प्रजाआका अहित करता ह, वह नरकगामी होकर कुत्तेकी यानि प्राप्त करता ह।[२१] एक अन्य स्थलम दीन-हीन प्रजाआसे वलपूर्वक 'कर' (टेक्स) लनेवाले उन विदशी शासकाकी भर्त्सना की गयी ह, जो अपने पापपूर्ण कर्मोसे भारतीय सस्कृतिपर कुठाराघात कर रहे थे।[२२] एसे कलियुगी शासकाका 'कसाई' की सज्ञा देते हुए प्रकारान्तरसे इस आशयका उद्भावित किया गया ह कि एक कुशल शासकम प्रजाआके प्रति दया, वात्सल्य आदि गुणाके साथ-साथ न्याय, धर्म-पालन एव कर्तव्य-परायणता प्रभृति राजनीतिपरक विशिष्टताआका भी समन्वय हाना चाहिये।

श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमें ब्राह्मणक जीवनमे अपेक्षित अध्यात्म-नीतिका विशद विवेचन उपलब्ध हाता ह। या ता श्रीगुरुग्रन्थसाहिबम इस तथ्यका समर्थन हुआ ह कि सभी प्राणियाको अपन जीवनमे शील, सताप जप तप सयम प्रभु-नाम-स्मरण आदि दिव्य गुण धारण करने चाहिये तथापि ब्राह्मणाके जीवनम शील सतोप, जप, तप सयम मुमुक्षुत्व ब्रह्मज्ञान आदि—ये सभी आध्यात्मिक सम्पदाएँ मूर्तरूपसे उजागर

१४ 'मन के बिकार मनहि तजै मनि चूकै माह अभिमानु। आतम रामु पछाणिआ सहजे नामि समानु॥' (सिराराग महला-३ पृ० ३९)

१५ विचि दुनीआ सव कमाईए। ता दरगह बैसणु पाईए॥ (सिराराग महला-१ घर ५, पृ० २६)

१६ अनदिनु कीरतनु कवल बखानु। ग्रिहसत महि सोई निरबानु॥ (गउडी सुखमनी महला-५ पृ० २८१)

१७ नारी पुरख पिआर प्रेम सीगारिआ। करनि भगति दिन राति न रहनी वारिआ॥ (सलाक महला-२ पृ० १४८)

१८ 'भंडि जमीऐ भंडि निमीऐ भंडि मगणु विआहु। ॥
सा किउ मदा आखीए जितु जमहि राजान॥' (आसा दीवार सलोक महला-१ पृ० ४७३)

१९ भी सो सतीआ जाणी अनि साल सतोख रहनि। सेवन साई आपणा नित उठि सभालनि॥
(वारसूहीकी सलाका नालि महला-३ पृ० ७८७)

२० हकु पराइआ नानका उस सूअर उस गाइ। गुरु पीरू हामा ता भरे जा मुरदारु न खाइ॥ (सलाक महला-१ पृ० १४१)

२१ जिसकै अतरि राज अभिमानु। सा नरक पाती हावत सुआनु॥ (गउडा सुखमनी महला-५ पृ० २७८)

२२ पाप की जज लै काबला धाइआ जारी मगे दान वे लालो। सरमु धरमु दुई छप खलोए, कूड फिरै परधान व लाला॥
(तिलग महला-१ पृ० ७२२-२३)

हानी चाहिये[२३]—ऐसा श्रीगुरुग्रन्थसाहिबका मन्तव्य है।

श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमें 'वैष्णव'[२४] पदकी व्याख्याके प्रसगमें यह तथ्य प्रकाशित हुआ है कि जिसने अपने जीवनमें विकारोंको त्यागनेकी नीतिको अपना लिया है वही सच्चा 'वैष्णव' है।[२५] एक अन्य स्थलपर कहा गया है कि जो पवित्र (काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष आदि विकारोंसे शून्य) है और धर्मका पालन करनेवाला है, वही 'वैष्णव' कहलानेका सच्चा अधिकारी है।[२६] जिसके सत्कर्मोंके कारण परमेश्वर जिसपर सदा प्रसन्न रहते हैं जो विष्णु (परमात्मा)-की माया (ममता, मोह एवं प्रपञ्च आदि)-से मुक्त है, जिसने निष्कामभावसे कर्म करनेकी नीतिको अपने जीवनका आधार बना लिया है, जो दयाभावसे समन्वित है परमेश्वरकी भक्तिमें अहर्निश मग्न रहता है परमात्माके नाम-स्मरणमें स्वयं भी दृढ़ है और दूसरे लोगोंसे भी परमेश्वरके नामका स्मरण (जप) कराता है वही वैष्णव परमगति (मोक्ष)-को प्राप्त करता है।[२७]

[प्रेषक—श्रीशिवकुमारजी गोयल]

राजस्थानके लोकसाहित्यमें नीतितत्त्व

(डॉ० श्रीमनोहरजी शर्मा)

वीरभूमि राजस्थानके महिमामय इतिहासपर सम्पूर्ण भारत देश गौरवका अनुभव करता है और यह गौरवानुभूति यथार्थ भी है। यहाँके ऐतिहासिक नर-नारियोंको स्वर्णाक्षरोंमें लिखने योग्य कार्य करने-हेतु यहाँके साहित्यने ही प्रेरणा दी है जिसकी ओर समुचित ध्यान नहीं दिया गया है। पद्मिनी, जसमादे, प्रताप और दुर्गादास-जैसे अगणित महामानवोंका निर्माण यहाँके साहित्यकी प्रेरणासे ही हुआ है, जिसे वे जन्मभर समय-समयपर ग्रहण करते रहे हैं। फलतः सम्पूर्ण देशको चारित्र्य-सम्पन्न बनाने-हेतु राजस्थानी साहित्यकी परमोपयोगिता स्पष्ट है। राजस्थानी साहित्यका वह अंश विशेष ध्यान देने योग्य है, जो यहाँके लौकिक जीवनमें व्याप्त है और समय-समयपर प्रेरणा देने-हेतु जिसका प्रयोग कहावतके समान होता रहता है। यहाँ उसके कुछ ऐसे चुने हुए नमूने दिये जाते हैं जो प्रबल प्रेरणादायक एवं अत्यन्त रोचक भी हैं। विशेषता यह है कि ये सर्वथा सुबोध एवं सरल हैं। सर्वप्रथम शीलमहिमाके सम्बन्धमें लोक-प्रचलित राजस्थानी दोहे देखिये—

सील सरीरह आभरण सोनो भारिम अंग।
मुख-मण्डण सच्चउ वयण, विण तम्बोलह रंग॥

'वास्तवमें शील ही वास्तविक अलंकार है सोना तो अङ्गोंपर पड़ा हुआ भार है। मुखकी शोभा सत्य वचन है न कि ताम्बूलसे उसे रँगना।'

सत मत छाडो हे नराँ सत छाड्याँ पत जाय।
सत की बाँधी लिच्छमी फेर मिलेगी आय॥

'अरे लोगो! सत्य अर्थात् सन्मार्गको कभी मत छोड़ो उसे छोड़नेमें प्रतिष्ठा समाप्त हो जाती है। यदि सन्मार्गपर दृढ़ रहे तो गयी हुई लक्ष्मी फिर वापस मिल जायगी।'

प्रत्येक प्रदेशके कुछ विशेष आदर्श होते हैं, जिनके अनुसार जीवन-यापन करना मानव-जीवनका उद्देश्य है और उनकी प्राप्तिमें ही जीवनकी सफलता है। निश्चय ही ऐसे

२३ सो ब्रह्मणु जो बिंदै ब्रहमु। जपु तपु संजमु कमावै करमु॥
सील संतोख का रखै धरमु। बंधन तोड़ होवै मुकतु॥ सो ब्रह्मणु पूजण जुगतु॥ (महला-१ पृ० १४११)

२४ संस्कृतकी 'विष्लृ व्याप्तौ' इस धातुसे 'विष्णु' शब्द बनता है जिसका अर्थ सर्वव्यापक परमात्मा है। उस सर्वव्यापक सनके विष्णुके उपासक वैष्णव कहलाते हैं।

२५ सो बैसनो है अपर अपारु। कहु नानक जिनि तजे बिकार॥ (गउड़ी महला-४ पृ० १९९)

२६ बैसनो ते गुरमुखि सुच धरमा। (गउड़ी बावन अखरी महला-५ पृ० २५८)

२७ बैसनो सो जिसु ऊपरि सुप्रसंन। बिसन की माइआ ते होइ भिंन॥
करम करत होवै निह करम। तिसु बैसनो का निरमल धरम॥
काहू फल की इच्छा नहीं बाछै। केवल भगति कीरतन संगि राचै॥
मन तन अंतरि सिमरन गोपाल। सभ ऊपरि होवत किरपाल॥
आपि द्रिड़ै अवरह नामु जपावै। नानक ओहु बैसनो परमगति पावै॥ (गउड़ी सुखमनी महला ५ पृ० २७४)

आदर्श चारित्र्य-पालनके प्रकाशमान दिव्य सकेत ह। इस विपयम कहा गया है—

'जव कोई व्यक्ति रणक्षेत्रम जाता हो अथवा जव घरमे विवाहका माङ्गलिक कार्य सम्पन्न हो रहा हो या पुत्र-प्राप्तिका बधाई-सदेश सुनाया जाता हो तो राजा अथवा रक सवके लिये ये तीनो त्याग अर्थात् दानके शुभ अवसर हैं'—

रण-चढण, ककण-बधण, पुत्र-बधाई चाव।
ये तीनू दिन त्याग रा, कहा रक कहा राव॥

'सिहक केश, नागकी मणि, शूरवीरका शरणागत व्यक्ति, सतीक पयोधर (स्तन) ओर कृपणका धन उनके जीवित रहते किसीके हाथम नहीं आ सकत ये तो उनके मरनेपर ही प्राप्त हो सकते ह'—

केहरी केस, भुजग मिण, सरणाई सुहड़ाह।
सती पयोधर, क्रपण धन, पड़सी हाथ मुवाँह॥

राजस्थान सदासे वीर-भूमि ओर त्याग-भूमि रहा ह। अत यहाँकी लोकिक साहित्य-सामग्रीम शौर्य ओर त्यागका सदश व्याप्त होना स्वाभाविक ह। उदाहरण देखिये—

जननी जण ऐहडा जणे के दाता के सूर।
नातर रहजे बाझड़ी, मती गमाजे नूर॥

'कोई भी माता ऐसी ही सतानको जन्म दे जो या तो वीर हो अथवा दानी। ऐसी सतानक अभावमे जननीका वन्ध्या रहना हो अच्छा ह। असत् सतानको जन्म देकर योवन-सोन्दर्य नष्ट करना उचित नहीं।'

कहा लकपत ले गयो, कहा करण गयो खोय।
जस जावन, अपजस मरण, कर देखो सब कोय॥

'लङ्कापति रावण अपने साथ क्या ले गया और महारथी कर्णने ससारमे क्या खोया? स्वर्णमयी लङ्काका स्वामी होनेपर भी रावणने अपयश प्राप्त किया और महारथी कर्णने स्वर्णका दान करक ससारम यश प्राप्त किया। कोई भी करके देख ले यश ओर अपयश ही तो जीवन ओर मृत्यु हे।'

सदाचारम परमार्थका ऊँचा स्थान ह। सदा परमार्थका ध्यान रखनेवाला व्यक्ति ही उच्च कोटिका सदाचारी हे। इस विपयमे एक दोहा प्रसिद्ध है—

सरुवर, तरुवर, सत जन, चौथो बरसण मेह।
परमारथ रे कारणे, च्यारा धारी देह॥

'सरोवर, तरुवर, सतजन ओर जल बरसानेवाला वादल—ये चारो परमार्थके लिये ही उत्पन्न होत ह।'

पर-कारज, सीलावणा, पर कारज समरत्थ।
जा न राखै साइया, आडा द दे हत्थ॥

'जो व्यक्ति अपने घरक कार्यमे भले ही ढिलाई करते परतु दूसरोका काम पूरा करनेम कभी देर नही करत, ऐसे व्यक्तियोको भगवान् ससारमे दीर्घजीवन प्रदान कर।' [परोपकारकी केसी महिमा ह!]

चन्दण, चन्द, सुमाणसा, तानू एक निकास।
उण धसिया उण बोलिया, उण ऊगा होय उजास॥

'चन्दन, चन्द्रमा तथा सज्जन—इन तीनोकी उत्पत्तिका मूल स्थान एक ही है। इनक क्रमश घिसनेपर उगनेपर और बोलनेपर चतुर्दिक् प्रकाश हो जाता ह।'

कर्मवीरक जीवनमे उद्यमका भी ऊँचा स्थान हे। विना उद्यम किसीको भी अपने जीवनम सफलता नही मिल सकती। इस विपयम राजस्थानी दोहा देखिये—

राम कहे सुग्रीव न, लका केती दूर।
आलसियाँ अलधी घणी उद्यम हाथ हजूर॥

'रामचन्द्रजीने सुग्रीवसे पूछा—'लङ्का कितना दूर है?' सुग्रीवने तत्काल उत्तर दिया—'आलसीके लिये तो वह दूर-से-दूर है, परतु उद्यमीके लिये मात्र एक हाथकी दूरीपर ही है।'

सुख-सम्पत अर औदसा, सब काहू क होय।
ज्ञानी काटै ज्ञान सू, मूरख काटे रोय॥

'सुख-सम्पत्ति ओर बुरे दिन तो समयानुसार सभीके सामने आते रहत ह, परतु ज्ञानी व्यक्ति बुरे दिन ज्ञानसे ओर मूर्ख रोकर काटता ह।'

सदाचारम प्रतिज्ञा-पालनका भी विशेष स्थान हे। सदाचारी व्यक्तिको कितना भी कष्ट उठाना पडे, परतु वह अपनी मर्यादाका नहीं छोडता—

हसा आ ही अक्खड़ा, छीलर जल न पियत।
का तो पीय मानसर का तरसिया ममत॥

'हसकी यह प्रतिज्ञा होती ह कि वह छिछले तालका

पानी नहीं पीता। वह तो मानसरोवर-जल ही पान करता है—अन्यथा प्यासा ही घूमता रहता है।'

भल्ला जो सहजे भला, भूँडा किम हिंन हुंत।
चन्दन विसहर ढकिऊ परिमल तउ न तजंत॥

'जो भले होते हैं, वे स्वभावसे ही भले होते हैं। वे किसी भी परिस्थितिमें बुरे नहीं बनते। चन्दनमें सर्प लिपटे रहते हैं, परंतु वह अपना सुवास कभी नहीं छोड़ता।'

सदाचारमें प्रेम-भावका बड़ा महत्त्व है। प्रेम और सम्मान सदाचारी व्यक्तिके जीवनके अङ्ग होते हैं। इस विषयमें भी राजस्थानका दोहा प्रसिद्ध है—

सत प्रीत जासौ करै, अवस निभावै अन्त।
बाल वचन पलटै नही, गिरा रेख गजदन्त॥

'सतजन जिससे प्रेम करते हैं, उसका अन्ततक निर्वाह करते हैं। वे एक बार जो वचन मुखसे निकाल देते हैं, उसको कभी नहीं पलटते। उनकी वाणी हाथीदाँतपर खिंची हुई रेखाके समान होती है।'

कद सबरी चोका दिया, कद हरि पूछी जात।
प्रांत पुरातन जाणकर, फल खाया रघुनाथ॥

'शबरीने अपनी कुटियाको चौका देकर पवित्र कब किया था और भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने उसको अपनी जाति बतलानेके लिये कब कहा था? पुरातन प्रीतिके कारण ही तो श्रीरामचन्द्रजीने उसके जूठे बेर खाये थे।'

धर्माचरण ही वास्तवमें सदाचार है। इस विषयका एक लौकिक दोहा देखिये—

साईं सूँ साचा रहो बन्दा सूँ सत भाव।
भावू लाम्बा कैस रख, भावू घोट मुडाव॥

'भगवान्‌के प्रति सच्चा रहना चाहिये और भगवद्-भक्तोंके प्रति सदैव सद्भावना रखनी चाहिये। इतना होनेपर चाहे कोई लम्बे केश धारण करे अथवा मुण्डित-मस्तक रहे, इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता।'

जात वले नहीं दीहड़ा जिम गिर-निरझरणाह।
उठरे आतम, धरमकर, सुवै निचता काह॥

'जिस प्रकार पहाड़के झरने बह जानेके बाद वापस लौटकर नहीं आते, उसी प्रकार बीते हुए दिन लौटकर नहीं आते। ऐसी हालतमें हे आत्मन्! तुम कभी निश्चिन्त होकर मत सोओ, हर समय धर्मका आचरण करते रहो।'

सदाचार-हेतु जिस प्रकार सद्गुण-संग्रह आवश्यक है, उसी प्रकार दुर्व्यसनोंका कठोरतापूर्वक निषेध भी जरूरी है। इन दुर्व्यसनोंमें परनारी-प्रसंग, मद्यपान, द्यूतकर्म, मांसाहार आदि दुर्गुण सर्वथा निन्दनीय हैं। इस विषयमें कहा गया है—

दारू परदारा दुहूँ है तन धन री हान।
नर सांप्रत देखो नजर, नफो और नुकसान॥

'शराब और परायी स्त्री—इन दोनोंसे शरीर तथा धन दोनोंकी हानि होती है। कोई भी व्यक्ति इस विषयमें हानि है अथवा लाभ, यह प्रत्यक्ष देख सकता है।'

जीव मार हिंसा करे, खाता करे बखाण।
पीपा, परतख देख लो, थाली मांय मसाण॥

'किसी जीवकी हत्या करके उसके मांसको खाते समय उसकी सराहना करना बड़ा आश्चर्यजनक है। ऐसे व्यक्तिकी थालीमें तो प्रत्यक्ष ही श्मशान उपस्थित रहता है।'

वेस्या-नेह, जुवार-धन, काती-अबर छार।
पाछल-पौर कुपूत घर, जात न लागे बार॥

'वेश्याका प्रेम, जुआरीका धन, कार्तिकका बादल, दिनका पिछला पहर और कुपुत्रका घर—इन सबको समाप्त होते देरी नहीं लगती।'

इन लौकिक दोहोंपर ध्यान देनेसे सदाचारका एक ऐसा वातावरण सहज ही सामने आ जाता है जो जनसाधारणको सर्वदा नीतियुक्त सन्मार्गपर चलने-हेतु प्रेरणा देता है। ऐसी स्थितिमें इस लौकिक साहित्य-सामग्रीका असाधारण महत्त्व है। इसमें ओज-तेजके साथ ही सात्त्विकता और सरलता भी समन्वित है। कहना न होगा कि ऐसी सामग्रीने ही राजस्थानके इतिहासका निर्माण किया है और यह सम्पूर्ण जनसमाजके लिये नितान्त उपयोगी है।

पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामकी धर्ममय राजनीति

(स्वामी श्रीअच्युतानन्दजी)

जव राजनातिम धर्मका प्रवेश होता हे ता राजनीति पवित्र हो जाती ह ओर यदि धर्मम राजनीति प्रविष्ट होती है तो धर्म अपवित्र हो जाता है। जिस राजनीतिम धर्म नहीं, वह विनाश आर अशान्तिकी ओर ले जाती ह। वर्तमानम राजनीतिसे धर्म जेसे-जेसे दूर हाता जा रहा ह, वैसे-वेसे अशान्ति, अत्याचार भ्रष्टाचार आदि अनेतिक कर्म वढते जा रहे हैं। गोस्वामी श्रातुलसीदासजीन धर्ममय राजनीतिका बहुत ही उत्तम ढगसे वर्णन किया ह। यदि उस पढकर अमलम लाया जाय तो निश्चित हे कि चतुर्दिक् शान्ति विराजन लगगी।

प्रसग हे कि जव भगवान् श्रीराम लङ्काकी युद्धभूमिम पहुँचे तो रावणको रथपर आर भगवान् श्रीरामको विना रथक देखकर विभीषण अधीर होकर भगवान्के चरणाकी वन्दना करके कहने लगे—

नाथ न रथ नहि तन पद त्राना। केहि बिधि जितब बीर बलवाना॥

(रा०च०मा० ६।८०।३)

'विभीपणजी भगवान्से कहते ह—ह नाथ! आपके पास न रथ ह न शरीर-रक्षार्थ कवच हे आर न जूते ही हैं। उस बलवान् वीर शत्रु रावणको आप कसे जीत सकगे?' इसपर भगवान् श्रीरामने कहा—

सुनहु सखा कह कृपानिधाना। जेहि जय होइ सो स्यदन आना॥

(रा०च०मा० ६।८०।४)

कृपानिधान श्रीराम कहते ह—'ह सखे! सुनो, जिससे विजय प्राप्त होती ह वह रथ दूसरा ही हे।' रावणका रथ काठस वना होगा जिसम घाडे जुते हागे, परतु भगवान् जिस रथका वर्णन कर रहे हे, वह रथ अद्भुत ह। उसके रथीकी विजय निश्चित हे उसे काई जीत नहीं सकता। वह रथ धर्ममय ह। उस रथकी विशेपताका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥

(रा०च०मा० ६।८०।५)

अर्थात् शोर्य एव धीरज उस धर्ममय रथके चक्क ह सत्य तथा सदाचार या सत्ययुक्त नम्रता उसकी ध्वजा आर पताका है। शूरताम सत्यकी अनन्त आवश्यकता हे। सत्यके बिना जो शूरता होगी वह यथार्थम शूरता हागी ही नहीं। क्याकि जव रथ धर्ममय हे ता उसकी ध्वजा सत्य-हीन केस हागी? गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीका विश्वास हे कि—*'धरमु न दूसर सत्य समाना'*। जव सत्यसे वढकर दूसरा कोई धर्म ही नहीं हे ता धर्ममय रथकी ध्वजा ओर पताका भी सत्ययुक्त हानी ही चाहिय। भगवान् रामके धर्ममय रथक घाड तो ओर भा अद्भुत हे जिसका वर्णन इस प्रकार है—

बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥

(रा०च०मा० ६।८०।६)

अर्थात् विवेकका बल इन्द्रियदमन आर दूसरकी भलाई ही उस धर्ममय रथके घाडे ह। कोई याद्धा विना बलक समरभूमिम युद्ध कर सके, यह कभी सम्भव नहा हे। इसलिये धर्ममय रथक रथाको विवकका बल चाहिये। विवेक कव होता है? जव दृढतापूर्वक सत्सग करग, ऐसा सत्सग प्रभु-कृपासे ही सुलभ हाता हे। गास्वामीजीने लिखा है—

बिनु सतसग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न साई॥

(रा०च०मा० १।३।७)

सत्सगमे सत्यका अवलम्बन अनिवार्य हे। सत्यस्वरूप सर्वेश्वर परमात्मा हैं। उनकी कृपास ही विवकरूपी वलकी वृद्धि होती है। इस तरहके सत्सग करनवाले परापकारा अवश्य हागे। परापकार करनेवालेके लिये ईश्वरकी कृपासे ससारम कुछ भी दुर्लभ नहीं होता। जसा कि गास्वामाजान लिखा हे—

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहा॥

(रा०च०मा० ३।३१।९)

इसीलिये उन्हाने कहा—*'पर हित सरिस धर्म नहिं भाई।'* व्यासजीके अठारह पुराणाका सार भी ता यही ह—'अष्टादशपुराणेपु व्यासस्य वचनद्वयम्। परापकार पुण्याय पापाय परपीडनम्॥' अर्थात् परापकार ही पुण्य ह आर दूसरेको किसी भी प्रकार दु ख देना पाप ह। इसक लिये इन्द्रियनिग्रहकी नितान्त आवश्यकता ह। जा अपनी

सत्साहित्यमें नीति-मीमांसा

[विशेषाङ्क पृ० ४८८ से आगे]

रामस्नेही संतोकी रीति-नीति

(रामस्नेही श्रीपुरुषोत्तमदासजी शास्त्री)

हरिया रत्ता तत्व का, मत का रत्ता नाहि।
मत का रत्ता से फिरे, तहँ तत्व पाया नाहि॥

उपर्युक्त पंक्तियामें रामस्नेही आचार्य-प्रवर श्रीहरिरामदासजी महाराजका मन्तव्य स्पष्ट है कि 'सच्चे संत किसी भी मत-मतान्तर (पन्थ)-के पचड़ेमें नहीं रहते। वे सदैव पक्षपातरहित रहते हुए गुरुद्वारा उपदिष्ट साधनमें मन-वचन-कर्मसे तल्लीन रहा करते हैं। उनके लिये गुरुद्वारा निर्दिष्ट उपदेश, साधन तथा मार्ग आचरणीय रीति-नीति हुआ करते हैं और वे ही रीति-नीतियाँ आत्मोद्धार करने-करानेका आधार बनती हैं।'

सींथल-खेड़ापा रामस्नेही-पद्धतिमें गुरु महाराजसे दीक्षित होते समय शिष्यके लिये आचरणीय (पालनीय) जो बात बतायी जाती हैं, उनमेंसे कुछ-एकका दिग्दर्शन इस प्रकार है—

१ आडम्बरी परिधानका त्याग

बाह्य आडम्बरको साधनामें बाधक माना गया है। इसे आचारविरुद्ध बताते हुए कहा गया है—

प्रथम तजो तन साँङ्ग[1] बुहारा। नाटक चेटक मन वटपारा[2]॥
रस कस त कंचन नाँहा। पारस दूषण दीजे काँहा॥

२ धारणीय सहज परिधान

साधकको सहज परिधानमें रहना चाहिये, मनको निर्मल रखना चाहिये, हरि-गुरुमें प्रीति रखनी चाहिये और इसीमें मनको स्थिर भी करना चाहिये—

शुक्ल वर्ण पति आदि सम्प्रदा[3]। निर्मल तन-मन भेद बहुदा॥
जैमलदास आप गुरु राता। रहो इसी विध हरिगुरु प्राता॥
कर्मटाळ चण्डाळ कहाजे। आन-रूप में मन नहिं दाजे॥

३ साधना कहाँ करे?

भगवत्प्राप्तिके लिये कहीं बाहर जानेकी आवश्यकता नहीं है। सच्चे भावसे गुरु—रामके नामका स्मरण करना चाहिये। रामका स्मरण करनेसे राम-पदकी प्राप्ति हो जाती है—

घर वन कारण कदै न जानो। साच भाव गुरु शब्द पिछानो।
राम कहत जन परगट भया। घर वन पख तजि हरिपद लया॥
पाग दोप कारण नहीं, घर वन कारण नाहिं।
रामा सुमर राम कूँ, मिले रामपद माहिं॥

४ गृहस्थ साधक (पति-पत्नी) क्या अलग-अलग रहें?

बताया गया है कि गृहस्थ साधक घरमें रहता हुआ ही साधना करे। घरमें परिवारके साथ रहते हुए राममें मन लगाकर निर्मल भक्ति करनी चाहिये। स्त्री स्वयंको हरिदासी समझते हुए पति, गुरु तथा भगवान्‌की आज्ञाका प्रसन्नतापूर्वक पालन करे। जिन्हें यह सब प्राप्त हो जाय वे बड़े भाग्यशाली हैं—

युगल समीप रहो सुखदाई। निर्मल भक्ति करो मन लाई॥
स्वामी सो भर्त[4] रक्षा करिहै। हरिदासी पति-आज्ञा धरिहै॥
हरि गुरु पति स्त्री आज्ञा माँही। बड़ो भाग्य जिन भक्ती पाही॥

५ क्या साधकको उद्यमका परित्याग कर देना चाहिये?

साधकको चाहिये कि वह कर्तव्यकर्मोका अनुष्ठान करता रहे और संतोषी वृत्तिका पालन करे—

निरहिंसा उद्यम जन करिही। मिले संतोष उदर इम भरही॥

६ अयाची (आकाशीय)-वृत्ति धारण करे

रामस्नेहीको चाहिये कि वह अयाचक-वृत्तिसे रहे और भगवान्‌पर पूर्ण भरोसा रखे—

वृत्ति अजाच सूरमत जाको। एक उपाय भजन चित राखो॥
जाचे[5] नहीं रामजन कबहूँ। प्राण बिछोह होय भल अबहूँ॥
राम-भाव सूँ आवे सोई। लेत प्रसाद विचारजु कोई॥
अम्बर दूजे[6] भूंत कमावे कह्या वचन गुरुदेव।

१ आडम्बरी वेश-भूषा। २ लुटेरे। ३ श्री सम्प्रदाय। ४ सेवापरायण भामिनि। ५ याचना (माँगना)। ६ दुग्ध-वर्षा।

रामदास सौं सो तजौ, करो सन्ता की सेव॥

७ रामस्नेही कोन हे?

जो रामसे स्नेह करे, गुरुसे स्नेह करे और साधु-सगति करे वही रामस्नेही है। यह सारा जगत् झूठा है, इससे स्नेह करना बन्धनका हेतु है—

आन सनेह जाळ जग झूठा। जामण मरण काल क्रम कूटा॥
मोह सनेह जनम धर धरना। जाति सनेह चोरासी फिरना॥
काम क्रोध के लोभ सनेही। खान-पान उनमान मिलेही॥
पाँच-पचीच सनेह सनेहा। पञ्च-कोष मध चितवन देहा॥
ऐता नेह तजै रे भाई। एक प्रीति गुरु चरण सभाई॥
रामसनेही जाको नामा। हरि गुरु साध सगति विश्रामा॥

८ एकमात्र 'राम' नामकी उपासना करनी चाहिये

रामस्नेहीके लिये एकमात्र 'राम' नामकी उपासना ही सर्वोपरि है, इसलिये उस राम-नामका ही मुखसे उच्चारण (कीर्तन) करना चाहिये। राम-नामके जपसे ही तपस्या, सयम, याग, यज्ञ, तीर्थ, व्रत तथा वैराग्य आदि सब सिद्ध हो जाते हैं—

राम भजन विन मिद्धम सारा। उत्तम सोई राम भज पारा॥
गुरु सा धारण ऐ पट करमा। राम मत्र है सव को धरमा॥
रैं-धमैं विच साधन जता। साख्य याग नवध्या तप तेता॥
तारध व्रत शुचि यज्ञ आचारा। धर्म अनेक नाम की लारा॥
आन मन्त्र उर सवै बिसारो। राम मन्त्र इक मुखाँ उचारो॥
तपस्या सयम जाग जिग, तीरथ व्रत वैराग।
राम कह्याँ ते सब सजै, जन रामा बड़भाग॥

९ नाम-साधनाका लोक-दिखावा नही करना चाहिये

राम भजन एकान्तहि कीजै। और किसी को भेद न दाजे॥
ध्यान एकान्तहि पण[१] सो धरज्यो। जग बकवाद सग मत करज्यो॥
या जग सूँ बकवाद न करना। सयम-नियम देखि पग धरना॥

१० साधु कोन हे?

जो केवल भक्ति करे, भजन करे, नामकी साधना करे और सबका भला करे वही साधु है—

केवल भक्ति साधु सो कहिये॥
साध सुकोमल सुख करण द्वन्द्व निवारण दूर।
जन हरिया उण सन्त का नित भेटीजे नूर॥
साध साधना शब्द की, उर अन्तर मुख एक।
हितकारी सबका सजन, रामा ज्ञान विवेक॥

गुरुजनोकी अनुभव-वाणीसे उद्धृत इन सिद्धान्तोके अतिरिक्त समय-समयपर गुरुजनोद्वारा दी जानेवाली आज्ञा-विशेषको भी रामस्नेहीजन कल्याणकारी सिद्धान्तके रूपमे मानकर हृदयङ्गम किये रहते हैं।

आचार्य श्रीद्यालदासजी महाराजकी अनुभव-वाणीसे भी अनेक सिद्धान्त नि सृत हुए हैं जो बडे ही मार्मिक और कल्याणकारी हैं। साधकोके लिये इनका पालन करना विशेष महत्त्वपूर्ण है। यहाँ कुछ बाते दी जा रही हैं—

मिलता पारख परसिध, विमल चित रामसनेही।
उर कोमल मुख निर्मल, प्रेम प्रवाह विदेही॥
दरसण परसण भाव, नेम नित श्रद्धा दासा।
साच वाच गुरु ज्ञान, भक्ति प्रणमत इक आसा॥
देह गेह सम्पति सकल, हरि अर्पण परमानिये।
जन रामा मन वच करम, रामसनेही जानिये॥
खान पान पहिरान, निर्मली दशा सदाई।
सात्विक लेत अहार, हिंसा करहै न कदाई॥
नीर छाण तन वरत, दया जीवाँ पर राखे।
बोले ज्ञान विचार, असत कबहूँ नहि भाखे॥
साधु सगति पणव्रत सुदृढ़, नेम प्रेम दासा लियाँ।
रामसनेही रामदास, तन मन धन लेखे कियाँ॥
श्रद्धा सुमिरण राम मौन मम रामसनेही।
गुण ग्राही गुणवन्त, लाय लेखे हरि देही॥
अमल तम्बाखू भाग, तजे अमिष मद पान।
जुआ द्यूत का कर्म, नारि पर माता जान॥
साच शील क्षम्या गहे, राम-राम सुमिरण रता।
रामा भक्ति भाव दृढ, रामसनेही ये मता॥

(श्रीद्याल-वाणी छन्दभण)

रामस्नेही सताकी अभिव्यक्ति सूनृतावाणीके रूपसे समदर्शनकी प्रवर्तक है। इन रामस्नेही सताका लक्ष्य मानसिक दोषासे दूर रहते हुए परम विनय एव शीलको अपनाना तथा जीव-जन्तुमात्रके प्रति सेवाभाव रखना रहता है। रामस्नेहीजन गृहस्थ हो या नैष्ठिक ब्रह्मचारी, जो कुछ भी करता है उसका बल और आधार एकमात्र 'राम' ही होते हैं।

१ नियम तथा निष्ठापूर्वक।

धम्मपदका नीतिदर्शन

(डॉ० श्रीरामकृष्णाजी सर्राफ)

किसी भी देश अथवा समाजकी समुन्नति उसकी अपनी लोककल्याणकारी शाश्वत नीतिके निर्धारण एवं तदनुरूप आचरणपर आधारित होती है। विश्वके विभिन्न देशोंके बीच शान्ति एवं सौहार्दकी कल्पना भी उनकी अपनी अन्तः एवं बाह्य नीतिपर अवलम्बित होती है। कभी-कभी एककी महत्त्वाकाङ्क्षा दूसरेके लिये संकटका कारण बन जाती है। उसका कारण स्पष्ट है—आततायी राष्ट्रके द्वारा अपनी महत्त्वाकाङ्क्षाकी पूर्ति-हेतु नैतिक आचारसंहिताका तिरस्कार और उसकी अवहेलना।

इस सम्बन्धमें भारतीय मनीषियोंका नीति-चिन्तन स्पष्ट, व्यापक एवं सर्वदा लोककल्याणकारी रहा है। उसमें राष्ट्र, समाज तथा व्यक्तिके जीवनके प्रत्येक पक्षपर विचार किया गया है। उनके चिन्तनका निचोड़ निम्नांकित सार्वभौम मङ्गलाशंसामें निहित है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

इसी उदात्त चिन्तनसे भारतकी धर्मनीति, राजनीति एवं लोकनीति सदा अनुप्राणित रही है। इस देशमें नीति और धर्म एक-दूसरेके निरपेक्ष कभी नहीं रहे। न तो धर्मके बिना नीतिका कभी स्वीकार किया गया और न नीतिके बिना धर्मकी कभी कल्पना की गयी। इस प्रकार हमारे यहाँ नीतिको सदा व्यापक परिप्रेक्ष्यमें देखा गया है।

किसी भी देश अथवा व्यक्तिका चरित्र उसके आचरणमें प्रतिबिम्बित होता है। भारत-भूमिमें शील एवं आचारकी सदैव प्रतिष्ठा रही है। भारतका प्राचीन वाङ्मय नीति, धर्म एवं लोकमङ्गलकी भावनासे ओतप्रोत है। संस्कृत, जैन तथा बौद्ध वाङ्मयमें सर्वत्र नीतिसमन्वित धर्माचरणपर आग्रह है। इस दृष्टिसे भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृतिके प्रतिनिधि ग्रन्थोंमें श्रीमद्भगवद्गीताका विशिष्ट स्थान है। भगवान् पद्मनाभके मुखकमलसे विनिःसृत गीताके वचन किसी भी देश, समाज अथवा सम्प्रदायके लिये समान रूपसे मङ्गलकारी हैं। गीतामें सार्वजनीन, सार्वकालिक सत्य सिद्धान्तोंका प्रतिपादन मिलता है। नीतिके मार्गपर दृढ़तापूर्वक चलनेका उसमें शाश्वत संदेश है। जिस प्रकार संस्कृत वाङ्मयमें गीताकी अतिशय प्रतिष्ठा है, उसी प्रकार बौद्ध परम्परामें धम्मपदकी है।

धम्मपद पालि-साहित्यका अमूल्य ग्रन्थ-मणि है। इसे बौद्धोंकी गीता कहा जाता है। धम्मपद २६ वग्गों (वर्गों)-में विभक्त है तथा इसमें ४२३ गाथाएँ (पद्य) हैं। इन गाथाओंमें भगवान् बुद्धके द्वारा समय-समयपर अपने शिष्योंको दिये गये उपदेश-वचन संकलित हैं। बौद्ध साहित्यमें धम्मपदका अत्यन्त महत्त्व है। इसमें बौद्ध नीतियों एवं सिद्धान्तोंका सारगर्भित विवेचन मिलता है। भारतीय संस्कृतिसम्मत नैतिक आदर्श धम्मपदमें संगृहीत हैं। यह ग्रन्थ भगवान् तथागतद्वारा उपदिष्ट शील एवं आचारका उत्कृष्ट अभिलेख है।

धम्मपदमें नीति, शील, प्रज्ञा तथा निर्वाण आदिका बड़ी सुन्दरतासे वर्णन किया गया है। उसमें मानव-कल्याणका अत्यन्त सहज एवं सुगम मार्ग प्रशस्त है। धर्म एवं नीतिका धम्मपदमें बड़ा सुन्दर प्रतिपादन है जो *मानवमात्रके लिये सर्वथा उपादेय है। इसमें जीवनके लिये* अभीष्ट उदात्त गुणोंका सुन्दर विवेचन है जो भारतीय नीतिदर्शन एवं भारतीय प्रज्ञाके प्राणतत्त्व हैं। हेय गुणोंके परिहारका भी इसमें सार्थक संकेत मिलता है।

धर्मके सम्बन्धमें भगवान् तथागतके बड़े उदात्त विचार हैं। धर्मको वे आचरणसे जोड़ते हुए कहते हैं कि धर्म प्राणीके आचरणमें प्रतिबिम्बित होना चाहिये। धार्मिक वही है जो धर्माचरणमें कभी प्रमाद नहीं करता। धम्मपदका समग्र नीतिदर्शन इसी धर्मभावनासे परिचालित है—

स वे धम्मधरो होति यो धम्मं नप्पमज्जति॥
स वै धर्मधरो भवति यो धर्मं न प्रमाद्यति॥
(धम्मट्ठवग्गो-८ (गाथा २५९))

शास्ता कहते हैं कि जो पवित्रात्मा है वह इहलोक तथा परलोक—इन दोनों लोकोंमें आनन्द प्राप्त करता है (गाथा १८)। जो शील एवं सम्यक् दृष्टिसे सम्पन्न धर्ममें स्थित सत्यवक्ता और अपना कार्य निष्पादित करनेवाला होता है, लोग उससे प्रेम करते हैं (गाथा २१७)। वह यशस्वी होता है, अपने माता-पिताकी

सवा-सतुष्टिमे उसे आनन्दकी अनुभूति होती ह, श्रमण-भावम उसे प्रसन्नता प्राप्त हाती है तथा निष्कलुप जीवनम उसे सुख मिलता हे। ऐसा मनुष्य निन्दनीय कमसे सर्वथा मुक्त रहता ह (गाथा ३३२)। शास्ता कहते ह कि जो कभी क्रोध न करनवाला, व्रतधर, शीलवान् आर सयमी ह, उसे में ब्राह्मण अर्थात् निष्पाप-जावन जीनेवाला मानता हूँ (गाथा ४००)। उसकी समग्र शक्ति उसकी क्षमावृत्तिम निहित हाती ह—

खन्तिबल बलानीक तमह ब्रूमि ब्राह्मण॥

क्षान्तिवल बलानीक तमह वच्मि ब्राह्मणम्॥

(ब्राह्मणवग्गा-१७ (गाथा ३९९))

भगवान् तथागत कहते हैं कि जा धीर पुरुप अपने कार्य, वाणी एव मनस सयमवान् ह, व ही पूर्णरूपसे सयत हैं—

कायेन सवुता धीरा अथो वाचाय सवुता।
मनसा सवुता धीरा ते वे सुपरिसवुता॥

कायन सवृता धीरा अथ च वाचा सवृता ।
मनसा सवृता धीरा ते व सुपरिसवृता ॥

(कोधवग्गो-१४ (गाथा २३४))

भगवान् तथागतन अविद्याका परम मल मानते हुए भिक्षुआको उसस मुक्ति पानेका उपदश दिया हे (गाथा २४३)। असयत आचरणक दुष्परिणामासे उन्हाने सदा सचेत किया हे। सद्ग्रन्थाका पाठ करनवाले किंतु तदनुरूप आचरण न करनवालको भगवान्न गर्हणीय वतलाया हे (गाथा १९)। उन्हाने अप्रमादको प्रशसनीय एव प्रमादका सर्वथा निन्दनीय कहा ह (गाथा ३०)।

भगवान् वुद्ध कहते हैं कि जिसका चित्त स्थिर नहीं (चचल) हे, जो सद्धमको नहीं जानता तथा जिसक मनकी प्रसन्नता अस्थिर हे उसकी प्रज्ञा पूर्ण नहीं हा सकती—

अनवट्ठितचित्तस्स सद्धम्म अविजानतो।
परिप्लवपसादस्स पञ्ञा न परिपूरति॥

अनवस्थितचित्तस्य सद्धर्मं अविजानत ।
परिप्लवप्रसादस्य प्रज्ञा न परिपूर्यते॥

(चित्तवग्गो-६ (गाथा ३८))

किंतु जा अनासक्त, अपरिग्रही, क्षीणतारहित तथा द्युतिमान् ह व तो लोकम निर्वाण प्राप्त कर चुक ह—

आदानपटिनिस्सग्गे अनुपादाय ये रता।
खीणासवा जुतीमन्तो ते लोके परिनिब्बुता॥

आदानप्रतिनि सर्गे अनुपादेये ये रता ।
क्षीणास्रवा ज्योतिष्मन्तस्ते लोक परिनिर्वृत्ता ॥

(पण्डितवग्गा-१४ (गाथा ८९))

भगवान् तथागतने आत्मसयम आत्मदमन एव आत्मजयकी प्रशसा की ह (गाथा १०४-१०५), साथ ही उन्हाने श्रद्धा, शील, सत्य एव प्रिय वाणीकी भी प्रभूत प्रशसा की ह (गाथा १०९, ४०८)।

शास्तान एक सुन्दर रूपकके माध्यमसे तृष्णा एव अहकार आदि दूपणापर विजय प्राप्त करनेका सदश दिया हे (गाथा २९४)। मोहका व जन्म-मृत्युरूपी ससरण-पङ्कम डुवानेवाला वतलाते हैं (गाथा ४१४)। मूर्ख एव पण्डितके बीचके भेदको अत्यन्त सरल शब्दाम व्यक्त करते हुए भगवान् वुद्ध कहते ह कि जो मूर्ख अपनी मूर्खताको समझता ह, वह ता पण्डित है, किंतु जो मूर्ख होते हुए भी अपनको पण्डित मानता ह वह वास्तवम मूर्ख है। भगवान्के इन वचनाम व्यावहारिक नीतिका अत्यन्त गूढ रहस्य समुद्घाटित हुआ हे—

यो बालो मञ्ञती बाल्य पण्डितो चापि तेन सो।
बालो च पण्डितमानी स वै बालोति वुच्चति॥

यो बालो मन्यते बाल्य पण्डितश्चापि तन स ।
बालश्च पण्डितमानी स वे बाल इत्युच्यते॥

(बालवग्गो-८ (गाथा ६३))

मरा पुत्र एव मेरा धन—इसका लकर मूर्ख व्यक्ति आसक्ति एव परिग्रह-भावनाके कारण सदा अस्त-व्यस्त रहता ह जब कि सचाई यह हे कि जव मनुष्य स्वय ही अपना नहीं हे ता उसके पुत्र ओर धन यथार्थरूपम उसके कहाँस हा सकत ह (गाथा ६२)? इसीलिय धम्मपदम मूर्खकी सगतिका सदा निपेध किया गया हे (गाथा ६१)।

जो वास्तवम पण्डित ह वे निन्दा अथवा प्रशसासे कभी नहीं डिगते (गाथा ८१)। क्याकि पण्डित अथवा ज्ञानी पुरुपका कभी कोई आसक्ति नहीं हाती (गाथा १७)। धम्मपदम आसक्तिका कारण कामनाका वतलाया गया ह

(गाथा ३४७)। भगवान् बुद्ध राग, द्वेष एवं तृष्णासे दूर रहनेका उपदेश देते हैं, क्योंकि ये सभी पतनकी ओर ले जाते हैं (गाथा २५१)।

भगवान् बुद्ध सहनशीलता एवं क्षमाशीलताको परम तप कहते हैं (गाथा १८४)। वे कहते हैं कि संसारमें वैरसे वैर कभी समाप्त नहीं होता, प्रत्युत अवैर (मैत्रीभाव)-से वैर शान्त होता है—

न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो॥
न हि वैरेण वैराणि शाम्यन्तीह कदाचन।
अवैरेण च शाम्यन्ति एष धर्मः सनातनः॥

(यमक वग्गो-५ (गाथा-५))

धम्मपदमें कटुभाषणका निषेध किया गया है (गाथा-१३३)। क्रोध और अभिमानको त्यागनेका परामर्श दिया गया है (गाथा २२२)। क्रोधपर विजय प्राप्त करनेका साधन अक्रोध बतलाया गया है।

भगवान् तथागतने अकर्कश (मृदु) सार्थक एवं उद्वेगरहित सत्य वाणीकी प्रशंसा की है (गाथा ४०८)। विश्वासको सबसे बड़ा मित्र बतलाया है तथा संतोषको परम धन कहा है (गाथा २०४)। भगवान् कहते हैं कि यदि किसीके ऊपर कार्षापणों (मुद्राओं)-की भी वर्षा हो तो भी उसकी एषणाओंकी तृप्ति कभी नहीं हो सकती। सभी काम (भोग) अल्पस्वाद और दुःखद हैं, ऐसा जानकर विद्वान् देवताओंके भोगोंमें भी रति नहीं करता। वास्तविकता तो यह है कि सभी कामनाएँ अन्ततः दुःखदायी होती हैं—

न कहापणवस्सेन तित्ति कामेसु विज्जति।
अप्पस्सादा दुखा कामा इति विञ्ञाय पण्डितो॥
अपि दिब्बेसु कामेसु रतिं सो नाधिगच्छति।
न कार्षापणवर्षेण तृप्तिः कामेषु विद्यते।
अल्पस्वादा दुःखाः कामा इति विज्ञाय पण्डितः॥
अपि दिव्येषु कामेषु रतिं स नाऽधिगच्छति।

(बुद्धवग्गो ८-९ (गाथा-१८६-१८७))

शास्ता कहते हैं कि जो विवेकवान् ऐसा सही हितप्रद उपदेश दे, लोकको सन्मार्ग दिखाते हुए उन्हें कुमार्गसे बचाये वह सत्पुरुषोंको तो प्रिय होता है, किंतु दुर्जनोंको अप्रिय होता है (गाथा ७७)। इसलिये धम्मपदमें पापप्रिय मित्रों तथा अधम पुरुषोंकी संगति न करनेका उपदेश दिया गया है तथा सन्मित्रों एवं श्रेष्ठ पुरुषोंकी सत्संगति करनेको हितकर बतलाया गया है (गाथा ७८)।

भगवान् तथागतने उसी कर्मको करनेका उपदेश दिया है, जिसे करके अनुताप न करना पड़े एवं जिसके फलकी प्राप्तिमें प्रसन्नता हो—

तञ्च कम्मं कतं साधु यं कत्वा नानुतप्पति।
यस्स पतीतो सुमनो विपाकं पटिसेवति॥
तच्च कर्म कृतं साधु यत् कृत्वा नानुतप्यते।
यस्य प्रतीतः सुमना विपाकं प्रतिसेवते॥

(बालवग्गो-९ (गाथा ६८))

इसलिये धम्मपदमें स्वयं प्राणि-वध करने अथवा प्राणि-वध करनेके लिये किसी दूसरेको प्रेरित करनेके कृत्यका निषेध किया गया है (गाथा १३०)। हिंसाकर्मसे दूर रहनेवालोंकी प्रशंसा करते हुए भगवान् तथागत कहते हैं कि जो प्रज्ञावान् हिंसासे रहित हैं तथा ब्रह्मोपासना आदि नैत्यिक कार्योंमें संयत हैं, वे उस अच्युत पदको प्राप्त करते हैं जहाँ जाकर उन्हें शोक नहीं होता—

अहिंसका ये मुनयो निच्चं कायेन संवुता।
ते यन्ति अच्चुतं ठानं यत्थ गन्त्वा न सोचरे॥
अहिंसका ये मुनयो नित्यं कायेन संवृताः।
ते यन्ति अच्युतं स्थानं यत्र गत्वा न शोचति॥

(क्रोधवग्गो-५ (गाथा २२५))

धम्मपदमें कहा गया है कि नीतिसम्मत पवित्र आचरणमें ही जीवनकी सार्थकता है। भगवान् बुद्धके द्वारा बतलाये गये मार्गपर चलनेसे निर्वाणकी प्राप्ति होती है। उनके धर्मोपदेशोंमें मानव-जीवनके सर्वाङ्गीण कल्याणका मार्ग प्रशस्त होता है। इन्हीं उपदेशोंमें धम्मपदके नीतिदर्शनकी अभिव्यक्ति है। इस प्रकार धम्मपदमें नीति एवं धर्म परस्पर ताने-बानेके रूपमें अनुस्यूत हैं। उनसे प्रोत—निर्मित निर्मल पट जिसने ओढ़ा वह कृतार्थ हो गया।

बाइबिलमे नीतिवचन

(श्रीमहावीरसिंहजी यदुवंशी एम्०ए० बी० एड्० आयुर्वेदरत्न)

पुराना नियम

(नीतिवचन ३ १—१५)

हे मेरे पुत्र! प्रभुकी शिक्षासे मुँह न मोडना, जब वह तुझे डाँटे, तब तू बुरा न मानना, क्योकि प्रभु जिससे प्रेम करता है उसको डाँटता भी है, जैसे कि पिता उस पुत्रको ही डाँटता है, जिसे वह अधिक प्यार करता है।

धन्य है वह मनुष्य जो परमेश्वरसे बुद्धि एवं समझ प्राप्त करता है। क्योकि बुद्धिकी प्राप्ति चाँदीकी प्राप्तिसे अधिक महत्त्वपूर्ण है और उसका लाभ शुद्ध सोनेके लाभसे भी उत्तम है। वह मूँगेसे भी अधिक मूल्यवान् है। जिन-जिन वस्तुओकी तू इच्छा करता है उनमेसे कोई भी उसके तुल्य न ठहरेगी।

जिनका भला करना चाहिये, यदि तुझमे शक्ति रहे तो उनका भला करनेसे न रुकना।

यदि तेरे पास देनेको कुछ हो तो अपने पडोसीसे कभी यह न कहना कि—'जा कल फिर आना कल मै तुझे दूँगा।'

दूसरेको तुच्छ समझनेवालाको प्रभु तुच्छ समझता है, पर जो मनुष्य नम्र और दीन है उनपर प्रभु अनुग्रह करता है। बुद्धिमान्को सम्मान मिलता है, पर मूर्खका हर जगह अपमान होता है।

धर्मी और अधर्मी

(नीतिवचन १२ १—२५)

कोई भी मनुष्य दुष्टताके कारण स्थिर नहीं होता, परंतु धर्मियोकी जड कभी नहीं उखडती।

भली स्त्री अपने पतिका मानो मुकुट है परंतु जो व्यभिचार करती है, वह तो मानो उसकी ही हड्डियोके सडनेका कारण बनती है।

धर्मी मनुष्य अपने पालतू पशुके भी प्राणकी सुधि रखता है, परंतु अधर्मीकी दया भी निर्दयता है।

जो किसान अपनी भूमिको जोतता है वह पेटभर खाता है परंतु जो निकम्मोकी संगति करता है, वह निर्बुद्धि ठहरता है। बुरा मनुष्य अपने दुर्वचनोके कारण जालमे फँसता है, जबकि धर्मात्मा अपने सद्वचनसे बच निकलता है। 'जैसी जिसकी करनी वैसी उसकी भरनी' होती है।

बिना सोच-विचारे बोले गये वचन तलवारके समान चुभते हैं, परंतु बुद्धिमान् मनुष्यके वचन घावपर मरहमका काम करते है।

सचाई सदा बनी रहेगी जबकि झूठ पलभरका ही होता है।

षड्यन्त्र रचनेवालोके मनमे छल-कपट भरा रहता है परंतु मेल-मिलाप करानेवालोको आनन्द प्राप्त होता है।

सफल-जीवनके लिये महत्त्वपूर्ण सुझाव

(नीतिवचन २१ १—९)

मनुष्यका सारा आचरण उसे अपनी दृष्टिमे ठीक लगता है, परंतु प्रभु तो मनको जाँचता है।

जो धन झूठके द्वारा प्राप्त हो वह वायुसे उड जानेवाला कुहरा है उसे ढूँढनेवाले मृत्युहीको ढूँढते है।

जो उपद्रव दुष्ट लोग करते है, उससे उन्हीका नाश होता है, क्योकि वे न्यायका काम करनेसे इनकार करते है।

पापसे भरे हुए मनुष्यका मार्ग बहुत टेढा होता है, परंतु जो मनुष्य पवित्र है, उसका आचरण निष्कपट होता है।

जो मनुष्य गरीबकी दुहाईको अनसुना करता है वह भी जब सहायताके लिये पुकारेगा, तब उसकी भी दुहाई सुनी न जायगी।

न्यायपूर्ण कार्य करना धर्मी जनोको आनन्द प्रदान करता है, परंतु अत्याचारीको यही विनाशका कारण जान पडता है।

जो मनुष्य राग-रगमे सदा डूबा रहता है वह अन्तमे गरीब हो जाता है।

जो मनुष्य धर्म और प्रेममार्गका अनुसरण करता है वह जीवनमे समृद्धि और सम्मान पाता है।

जो अपने मुँह और जीभको वशमे रखता है वह अपने प्राणको अनेक विपत्तियोसे बचा लेता है।

(नीतिवचन २२ १—९)

धनी और निर्धन—दोनो इस बातमे एक-दूसरके

समान हे कि प्रभु उन दोनाका सर्जक है।

नम्रता ओर प्रभुका भय माननसे मनुष्यको धन, सम्मान ओर जीवन प्राप्त हाता है।

जो अधर्मका बीज बाता ह, वह अनर्थ ही काटगा ओर उसके रोषकी छडी टूट जायगी।

नया नियम

(मत्ती ५ १—२६)

यीशुने हमको सिखाया ह कि हम किस प्रकारका जीवन व्यतीत करना चाहिये, जो परमेश्वरको प्रिय हो।

परमेश्वरकी दृष्टिम कौन धन्य ह? क्या धनवान् अथवा अहकारी। नहीं, वल्कि वे लाग जिनके हृदय परमेश्वरकी दृष्टिम निष्कलक, निर्दोष एव पवित्र ह।

धन्य हैं वे, जो मनक दीन ह क्याकि स्वर्गका राज्य उन्हींका है।

धन्य ह वे, जो नम्र ह, क्याकि व पृथ्वीके अधिकारी हागे।

धन्य हैं वे, जो धर्मके भूखे आर प्यासे ह क्याकि वे तृप्त किये जायँगे।

धन्य ह वे जा दयालु ह, क्याकि उनपर दया का जायगी।

धन्य ह व जिनक मन शुद्ध ह क्याकि वे परमश्वरका देखगे।

धन्य ह वे, जो मेल-मिलाप करते-कराते हें क्याकि वे परमेश्वरके पुत्र कहलायगे।

धन्य ह वे, जो धर्मके कारण सताये जात हें क्याकि स्वर्गका राज्य उन्हाका हे।
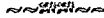
हिदी कवियोका नीतिवचनामृत

(ठाकुर श्रीनवलसिहजी सिसौदिया)

हमारी पावन भारतभूमिम अनेकानक महान् विभूतियाका कविरूपम भी अवतरण हुआ है। इनम आदिकवि महर्षि वाल्माकि महर्षि वदव्यास, महात्मा सूरदास, गास्वामी तुलसीदास, गिरिधरदास रहीम कबीर पण्डित श्रीराधेश्याम, नारायण मीराबाई, नरसी आदिका नाम विशेष उल्लखनीय हे। इन महान् विभूतियान मानवीय समाजके उत्थान-हेतु अत्यन्त सरल-रोचक-शिक्षाप्रद नातियाँ दोहे, चोपाई तथा कुण्डली आदिके रूपमे प्रस्तुत की हें। श्रीरामचरितमानस, गीता आदि ग्रन्थाम तो समग्र प्रकारकी नीतियाका उल्लेख किया गया ह या या कह कि ये ग्रन्थ तो नीतियाक महासागर ही हें।

यदि हम उनका पूणरूपस पालन कर, अपन जीवनम उनका उपदश ग्रहण कर ता सुखद लाभ मिलना अवश्यम्भावी ह। साथ ही अनाचार अत्याचार दुराचार, पापाचार, भाँति-भाँतिक आतकीय कृत्य आदि अनतिक बाधाआस मुक्ति मिल सकता ह।

इसी दृष्टिस कुछ हिदी कवियाक नीतिवचनामृत यहाँ प्रस्तुत किय जा रह ह—

१-गुरुके प्रति श्रद्धाभावकी नीति

गुरु गोबिद दोऊ खड़े का के लागूँ पाँय।
बलिहारी गुर आपने, जिन गोबिद दिया मिलाय॥
बिनु गुरु होइ कि ग्यान ग्यान कि होइ बिराग बिनु।
गावहिं बद पुरान सुख कि लहिअ हरि भगति बिनु॥

भाव यह है कि गुरु सर्वदा वन्दनीय हैं। उनका निरन्तर सेवा-पूजा करनी चाहिये।

२-भक्तिभाव-नीति

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥

भक्तिके बिना जीवन अधूरा हे अत ईश्वरभक्ति करत रहनी चाहिये।

३-पुत्रधर्म-नीति

सुनु जननी साइ सुतु बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तापनिहारा। दुर्लभ जननि सकल ससारा॥
चारि पदारथ करतल ताक। प्रिय पितु मातु प्रान सम जाक॥

भगवान् राम और भक्तराज श्रवण-जसा मातृ-पितृभक्त

बालक हर घरमे हो जाय तो रामराज्यकी कल्पना साकार हो सकती हे।

४-बड़ोके प्रति श्रद्धाभाव-नीति

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥

उठे लखनु निसि बिगत सुनि अरुनसिखा धुनि कान।
गुर त पहिलेहि जगतपति जागे रामु सुजान॥

भगवान् श्रीरामकी भाँति बालकोको अपनेसे बडोका श्रद्धाभावसे सम्मान करना चाहिये।

५-मधुर भाषणकी नीति

मधुर वचन है औषधी, कटुक वचन ह तीर।
श्रवण द्वार ह्वै सचरै, सालै सकल सरीर॥

कबहुँ न भाषिय कटु बचन बोलिय मधुर सुजान।
जहि त नर आदर करे, होय जगत कल्यान॥

तुलसी मीठ बचन ते, सुख उपजत चहुँ ओर।
बसीकरन इक मत्र है, परिहरु बचन कठोर॥

ऐसी वाणी बोलिये, मनका आपा खोय।
औरनकौ शीतल करै, आपहु शीतल होय॥

कागा किसका धन हरै, कोयल किसको देय।
मीठे सब्द सुनाय करि, जग अपनो करि लेय॥

बोलचालम निरन्तर मधुर वचनाका प्रयोग करना चाहिये। कडवे वचन क्रोध आनेपर भी नहीं बोलन चाहिये। वाणीपर अकुश लगाकर सदा मधुर वचनाका प्रयोग करना चाहिये। वाक्सयम सुखी जीवनका मूल मन्त्र है।

६-परमार्थकी नीति

पानी बाढ़े नावम, घरम बाढो दाम।
दोना हाथ उलीचिये यही सयानो काम॥
यही सयानो काम रामकौ सुमिरण कीजै।
परस्वारथक काज शीश आगे धरि दीजै॥
कह गिरिधर कविराय बड़नकी याही बानी।
चलिये चाल सुचाल राखिये अपनो पानी॥

तरुवर, सरवर, सत जन चौथे बरसे मेह।
परमारथ के कारने, चारो धारे देह॥

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥
नर सरीर धरि ज पर पीरा। करहिं ते सहहिं महा भव भीरा॥
करहिं मोह बस नर अघ नाना। स्वारथ रत परलोक नसाना॥
पर उपकार बचन मन काया। सत सहज सुभाउ खगराया॥

तन मन धन दै कीजिये, निसिदिन पर उपकार।
यही सार नर देह म, बाद-बिवाद बिसार॥

मानवके अन्त समयम धन आदि कुछ भी साथ नहीं जाता। अत जीवनम हर प्राणीका यथाशक्ति उपकार करत रहना चाहिये, तभी जीवन सार्थक हो सकगा।

७-सत्य-वचन-नीति

धरमु न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना॥

साँचे स्राप न लागई, साँचे काल न खाय।
साँचे को साँचा मिलै, साँच माहि समाय॥

सत्यकी निरन्तर विजय होती हे। अत जीवनम सत्यव्रती बनकर आत्मपथ प्रशस्त करना चाहिय।

८-मित्र-धर्म-पालक-नीति

जे न मित्र दुख होहि दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मरु समाना॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह सत मित्र गुन एहा॥

मित्रको अपने भाईकी तरह ही समझकर उसके साथ व्यवहार करना चाहिय।

९-शरणागत-नीति

सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी। मम पन सरनागत भयहारी॥
सुनि प्रभु बचन हरष हनुमाना। सरनागत बच्छल भगवाना॥

सरनागत कहुँ जे तजहि निज अनहित अनुमानि।
ते नर पावँर पापमय तिन्हहि बिलोकत हानि॥

शरणागतकी रक्षा अपन जीवनकी परवा किय बिना भी करनी चाहिये।

१०-सुसगतिकी नीति

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसग॥

सत सगत म जाइ कै मन को कीज सुद्ध।
पलटि उहाँ नहि जाइये उपजे जहाँ कुबुद्धि॥

कबिरा सगत साधु की हरै और की ब्याधि।
सगत बुरी असाधु की आठो पहर उपाधि॥

साधु सग ससार मे दुर्लभ मनुज सरार।
सत सगत सूँ मिटत है, त्रिविध ताप की पीर॥

ग्यान घट किये मूढ की सगत ध्यान घट बिन धीरज लाय।

प्रीत घटे परदस वसे अरु, मान घटे नित ही नित जाय॥
सोक घटे किसी साधु की सगत राग घटे कोउ ओषधि पाय।
'दव' कहे सुन मानव मर पाप घट सच बात बताय॥

मनुष्य-जीवनम सत्सगति ही सार तत्त्व ह। अस्तु, सत्पुरुषाका ही सग करना चाहिये।

११-कुसगकी नीति

बसि कुसग चाहत कुसल यह रहीम जिय साच।
महिमा घटी समुद्र की, रावन बस्यो परोस॥

कुसगतिसे सदा दूर ही रहना चाहिये।

१२-सबसे मैत्रीकी नीति

तुलसी या ससार म, भाँति भाँति के लोग।
सबसा हिल मिल चालिये, नदी नाव सजाग॥
झगड़ा कबहुँ न कीजिये, सब सन रखियो प्रीति।
झगड़ म घर जात हँ, सत्य वचन परतीति॥

सबसे हिल-मिलकर रहनेसे सच्चे आनन्दकी अनुभूति होती हे।

१३-परमात्माके प्रति आस्था-भावकी नीति

जब दाँत न थ तब दूध दियो, अब दाँत दिय ता अन्न भी देह।
जल मे थल म पशु-पक्षिन म सब की सुधि लेत वो तरी हु लेह॥
जान को दत अजान का दत, जहान का दत वो ता का भी देह।
र मन मूरख' साच करे क्यूँ, सोच करे कछु हाथ न अइहे॥
मन क्रम वचन राम पद सेवक। सपनेहु आन भरोस न दवक॥
अस अभिमान जाइ जनि भार। म सवक रघुपति पति मोरे॥
राम नाम जपते रहो, धर रहो मन धीर।
कबहुँ तो दीनदयाल के, भनक परैगी पीर॥

प्रभुक चिन्तनम सदा सलग्न रहना चाहिय। प्रभु बड ही दयालु ह। वे अपने दासकी विनती अवश्य ही सुनते ह। इस आस्थाकी नीतिके परिपालनस निश्चिन्तताकी स्थिति प्राप्त हा जाती हँ।

१४-समय-बद्धताकी नीति

आछे दिन पाछे गये हरिस किया न हत।
अब पछतावा क्या करै, चिड़िया चुग गइ खेत॥
काल करै सा आज कर, आज कर सो अब्ब।
पलमं परलै होयगी बहुरि करैगा कब्ब॥
पाव पलककी सुध नहा, करै काल्हका साज।
काल अचानक मारसी, ज्यां तीतरका बाज॥

तात्पर्य यह कि जा भी कार्य करना हा उस नियत समयपर हा करना चाहिये।

१५-परस्त्रीके प्रति नीति

रघुबसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मनु कुपथ पगु धरइ न काऊ॥
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जहिं सपनेहुँ परनारि न हरी॥
जो आपन चाहे कल्याना। सुजसु सुमति सुभ गति सुख नाना॥
सो परनारि लिलार गोसाईं। तजउ चउथि क चद कि नाईं॥

पर-स्त्रीस निरन्तर दूर रह। उनस अपनी माता, बहन तथा पुत्रीक समान ही व्यवहार करे।

१६-सुनीति

काम क्रोध मद लाभ सब नाथ नरक क पथ।
सब परिहरि रघुबीरहि भजहु भजहिं जहि सत॥
सुमति कुमति सब क उर रहहीं। नाथ पुरान निगम अस कहहीं॥
जहाँ सुमति तहँ सपति नाना। जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना॥

कुनीतिका त्यागकर निरन्तर सुनीतिम रत रहना चाहिये।

१७-कर्म करनेकी नीति

काहु न काउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सबु भ्राता॥
करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥
चार वेद षट शास्त्रम बात मिली है दोय।
दुख दाने दुख होत ह सुख दीने सुख होय॥

भाव यह ह कि सर्वदा सुकर्म करते रहना चाहिये।

१८-मानवकी मानवके प्रति नीति

जो तू चाह अरे बावरे मिल जाय भगवान।
तब धर ल मन म इतना ध्यान, धर ले मन म इतना ध्यान॥
क्या गरीब और क्या धनवान सभी हैं जग म एक समान।
सभी के दुख अपने तू जान, जिसे कहते हैं जन-कल्यान॥
इन्हा मे रहते बावरे भगवान, इन्हा मे बसते भगवान।
बसा ल मन म जन-कल्यान, तुझ मिल जायगे भगवान॥

सारार्थ हे कि सभीके कल्याणम निरत रहनम सच्ची मानवताके दर्शन हाते ह।

१९-अनासक्त-भावकी नीति

काम क्राध अरु लाभ मद मिथ्या छल अभिमान।
इन स मन को राकियो, साचा व्रत ह जान॥

मान धाम धन नारि सुत, इनमें जो न असक्त।
परम हंस तिहि जानिये, घरहा माहिं विरक्त॥
चाह गई चिंता मिटी, मनुआँ बेपरवाह।
जिनको कछू न चाहिये, सोई साहसाह॥
देह गेह की सुधि नहीं, टूट गयी जन-प्रीति।
'नारायण' गावत फिरें प्रेम-भरे रसगीत॥
मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझ को सौंपते, क्या लागत है मोर॥

इनका मतलब यह है कि इस संसारमें अनासक्तभावसे रहते हुए सांसारिक इच्छाओंको त्यागनेका प्रयत्न करना चाहिये। क्योंकि तृष्णा कभी शान्त नहीं होती, वह बलवत्तर होती जाती है। यही तृष्णा सभी दुःखोंका मूल है। यह संसार नश्वर है। यहाँकी प्रत्येक वस्तु क्षणिक एवं नाशवान् है। अतः निवृत्ति-धर्मनीतिसे लोक-परलोक दोनों सुधर जाते हैं।

२०-भय-नीति

पूरन भय जगदीश को, जाके मन में होय।
गुपुत प्रतच्छ भीतर बाहिर, पाप करत नहिं कोय॥

सब समय सर्वत्र व्याप्त भगवान्के भयसे सर्वदा डरते रहना चाहिये, ताकि जाने-अनजाने किसी भी प्रकारका पाप करनेका अवसर प्राप्त न हो।

२१-दान-नीति

'नारायण' परलोक में, ये दो आवत काम।
देना मुट्ठी अन्न की, लेना भगवत-नाम॥
बाँट खाय हरि को भजे, तजे सकल अभिमान।
'नारायण' ता पुरुष को, उभय लोक कल्यान॥

हमारे पास जो भी कुछ है, उसे मिल-बाँटकर ही ग्रहण करते तथा हरि भजन करते रहना चाहिये।

२२-परदोष-दर्शनकी नीति

बुरा जो देखन मे चला, बुरा न दिख्या कोय।
जो दिल खोजा आपना मुझसे बुरा न कोय॥
दोष पराया देखकर, चले हसंत हसंत।
अपना याद न आवई, जाका आदि न अंत॥

पराये दोषको देखनेका हमें कोई अधिकार नहीं है। हम तो अपने ही दोषोंको देखना चाहिये। परदोष-दर्शन पतनका मार्ग है, इससे सर्वथा और सर्वदा बचना चाहिये।

२३-मानव-जीवनको सार्थक बनानेकी नीति

ग्रंथ पंथ सब जगत के, बात बतावत तीन।
राम हृदय, मन में दया, तन सेवा में लीन॥
तन मन धन कर कीजिये निसि दिन पर उपकार।
यही सार नर देह में, बाद विवाद बिसार॥
चींटी से हस्ती तलक, जितने लघु गुरु देह।
सब को सुख देबो सदा, परम भक्ति है येह॥
तनु पवित्र सेवा किये, धन पवित्र कर दान।
मन पवित्र हरि भजन से, होत त्रिविध कल्यान॥

२४-निन्दकोंके प्रति नीति

निन्दक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।
बिन पानी साबुन बिना निर्मल करे सुभाय॥

अपनी निन्दा करनेवालोंसे सदा स्नेह करो, उन्हें दुत्कारो नहीं।

२५-सोच-समझकर कार्य करनेकी नीति

बिना विचारे जो करै सो पीछे पछताय।
काम बिगारै आपनो, जगमें होत हँसाय॥
जगमें होत हँसाय चित्तमें चैन न पावै।
खान पान सन्मान राग रँग मनहि न भावै॥
कह 'गिरिधर' कविराय दुःख कछु टरत न टारे।
खटकत है जिय माहिं, कियो जो बिना विचारे॥

बिना सोच-समझे कोई भी कार्य नहीं करना चाहिये। रावण माँ सीताका हरण करके अपने कुलसहित स्वयं भी नष्ट हो गया था। अतः कोई भी कार्य खूब सोच-समझकर करना चाहिये।

नीतिसार

दो बातन को भूल मति, जो चाहत कल्यान।
'नारायण' इक मौत कूँ, दूजे श्रीभगवान॥
मगन रहे नित भजन में चलत न चाल कुचाल।
'नारायण' ते जानिये, ये लालन के लाल॥

उपर्युक्त पंक्तियोंमें वर्णित भावोंको अपने हृदयमें संगृहीत करके भवबाधासे मुक्ति-लाभकर मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। यही मानव-जीवनको सार्थक बनानेका सहो एवं सरल मार्ग है।

हिंदी कवितामें वैयक्तिक नीति

(डॉ० श्रीगणेशदत्तजी सारस्वत)

हिंदी काव्यकी अन्य धाराओंकी भाँति नीतिकी धारा भी अक्षुण्ण है। 'नीति' शब्द प्रापणार्थक 'णीञ्' प्रापण ('नी') धातुसे 'क्तिन्' ('ति') प्रत्यय लगनेसे बना है। जिसका शाब्दिक अर्थ होता है ले जाना (पहुँचाना), प्राप्त करना या कराना निर्देशन, दिग्दर्शन, प्रबन्धन, आचरण तथा आचार आदि। ऋग्वेदमें इस शब्दका प्रयोग अभीष्ट फलकी प्राप्तिके लिये हुआ है। उसमें मित्र (सूर्य) और वरुणसे प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि वे हमें ऋजु अर्थात् सरल अथवा अकुटिल नीतिसे अभीष्टकी सिद्धि करायें—'ऋजुनीती नो वरुणो मित्रो नयतु विद्वान्' (१।९०।१)। ब्रह्मवैवर्तपुराण (११५।१३)-में 'नीति' को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि जो चर्चा सत्य हित और परिणाममें सुख देनेवाली है वही नीति है। शुक्रनीति (२।११)-के अनुसार समस्त लोककी स्थिति बिना नीतिके उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार देहधारियोंकी स्थिति भोजनके बिना सम्भव नहीं है—'सर्वलोकव्यवहारस्थितिर्नीत्या विना नहि, यथाऽशनैर्विना देहस्थितिर्न स्याद्धि देहिनाम्।'

महर्षि वेदव्यास नीतिशास्त्रको इस भूमण्डलका अमृत, उत्तम नेत्र तथा श्रेयप्राप्तिका सर्वोच्च उपाय मानते हैं। समाजको स्वस्थ एवं संतुलित पथपर अग्रसर करने एवं व्यक्तिको धर्म, अर्थ, काम और मोक्षको उचित रीतिसे प्राप्ति करानेके लिये जिन विधि या निषेधमूलक वैयक्तिक और सामाजिक नियमोंका विधान देश, काल एवं पात्रके संदर्भमें किया जाता है उसे नीति कहते हैं। दूसरे शब्दोंमें व्यवहारकी वह रीति, जिससे अपना हित हो और दूसरोंको कष्ट या हानि न पहुँचे वह नीति कहलाती है। ये वे नियम हैं जिनपर चलनेसे मनुष्यका ऐहिक आमुष्मिक तथा सर्वविध कल्याण होता है। समाजमें संतुलन और स्थिरता बनी रहती है तथा सभी प्रकारसे अभ्युदयका मार्ग प्रशस्त होता है। भाव यह है कि उचित व्यवहारका नाम नीति है। इसीसे कर्तव्य-अकर्तव्यका बोध होता है। धर्ममें रति तथा अधर्ममें विरति इसी बोधकी देन है।

कुछ विचारकोंने नीतिकाव्य और उपदेशकाव्यमें अन्तर माना है। उनके अनुसार जीवनके परिष्कार तथा मङ्गलके निमित्त उपदेश देना—इन दोनोंका लक्ष्य समानरूपेण है, परंतु नीतिकाव्योंमें सूक्तिका सौष्ठव विद्यमान रहता है जबकि उपदेशकाव्योंमें अर्थकी कल्पनापर आग्रह रहता है।

वास्तविकता यह है कि दोनोंमें पार्थक्यभाव समझना कठिन है। उपदेशकी अन्तरात्मामें नीतिका वास होता है तथा नीति औपदेशिक शक्तिमानोंके द्वारा अभिव्यक्त होती है। दोनोंका ही उद्देश्य है अन्यथाकरण अर्थात् जो जैसा है, उसे वैसा न रहने देना। जो साधु—सत्पुरुष नहीं है, उसे साधु बनानेका प्रयत्न ही अन्यथाकरण है। अन्यथाकरणमें सन्मार्गपर प्रवृत्त होनेका परामर्श रहता है।

विषयभेदके आधारपर नीतिकी सात कोटियाँ बतलायी गयी हैं—(१) वैयक्तिक, (२) पारिवारिक, (३) सामाजिक, (४) आर्थिक, (५) राजनीतिक, (६) इतर प्राणिविषयक तथा (७) मिश्रित। इस लेखमें वैयक्तिक नीतियोंकी ही विशेषरूपसे चर्चा की गयी है।

वैयक्तिकके अन्तर्गत वे नियम आते हैं जिनके पालनसे जीवन-निर्वाह होना सरल हो जाता है। व्यक्तिको शारीरिक रूपसे स्वस्थ, सबल तथा शक्ति-सम्पन्न होना चाहिये। इस स्थितिमें रहनेपर ही उसके सारे कार्य सम्पन्न हो सकते हैं। स्वस्थ शरीरके लिये खान-पानपर विशेष रूपसे बल दिया जाना चाहिये। घाघ कविके अनुसार यदि कोई चाहता है कि उसके घरमें वैद्यका पदार्पण न हो तो निम्नलिखित बातोंका पालन करनेमें सावधानी बरते। खान-पानमें देश और कालका ध्यान रखा जाना नितान्त आवश्यक है—

चैते गुड़ बैसाखे तेल। जेठ के पंथ असाढ़ के बेल॥
सावन साग न भादों दही। क्वार करैला कातिक मही॥
अगहन जीरा पूसै धना। माघ मिसरी फागुन चना॥
रहैं निरोगी जो कम खाय। बिगरै काम न जो गम खाय॥

प्रातकाल खटिया ते उठिके पियै तुरत पानी।
कबहूँ घर में बैद न अइहैं बात घाघ कै जानी॥

सूरदासजीका भी यही कथन है कि कम खानेसे आलस्य नहीं आता तथा व्यक्ति सदेव स्वस्थ बना रहता है—

अरु भाजन सो इहि विधि करै। आधी उदर अन्न सा भरै॥
आधेम जल वायु समावै। तब तिहिं आलसु कबहुँ न आवै॥

स्वस्थ बननक लिये शारीरिक बल ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि उसके साथ बुद्धि-बलका हाना भी आवश्यक है। जिस छाटस अकुशसे मतवाले हाथी तक वशम हो जात ह, वह बुद्धिकी ही देन है—

सबल न पुष्ट सरीर को सबल तजयुत होय।
हृष्ट पुष्ट गज दुष्ट ज्या अकुस के बस होय॥

बलबान्-से-बलवान् शत्रु भी बुद्धि-बलके द्वारा वशम किया जा सकता ह।

नीतिकाराने सत्य वचन तथा मृदु भाषणपर अत्यधिक बल दिया हे। सत्य जीवनका वह अकाट्य धर्म ह, जिसने मनुष्यको व्यावहारिक तथा सामाजिक जीवनम प्रतिष्ठा प्रदान की हे। साथ ही परलाकका मार्ग भी प्रशस्त किया हे। 'मुण्डकोपनिषद्'का उद्घोष हे— 'सत्यमेव जयति नानृतम्' सत्यकी ही विजय होती ह असत्यकी नहीं। आचार्य चाणक्य तो यहाँ तक कहते ह कि—

सत्येन धार्यत पृथ्वी सत्येन तपत रवि ।
सत्यन वाति वायुश्च सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥
(चा०नी० ५। १९)

अर्थात् पृथ्वीम धारण करनेकी क्षमता सत्यसे ही आती है, सत्यके कारण ही सूर्य तपता हे, सत्यके बलपर ही वायुका सचरण होता हे तथा सर्वस्वकी प्रतिष्ठा सत्यम ही है। 'श्रीतुलसीदासजी' कहत हैं—

धरमु न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना॥

अन्यत्र उनकी अभिव्यक्ति है—

सत्यमूल सब सुकृत सुहाए। बद पुरान बिदित मनु गाए॥

कबीरकी मान्यता ह कि सत्यके बराबर कोई तप नहीं आर झूठके बराबर कोई पाप नहीं— *'साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप'*। तथा जिसके हृदयम सत्यका वास है, भगवान्‌का वहाँ निवास है— *'जाके हिरदे साँच ह, ताके हिरदै आप॥'*

बुधजन कहते हैं कि झूठ नही बोलना चाहिये, क्याकि झूठसे बढकर आर कोई पाप नहीं हे— *'नहिं असत्य सम पातक पुजा।'* इसलिये उनका आग्रह हे कि *'असत बैन नहिं बोलिये तात होत बिगार।'*

कवियाके नीतिवचनाम वाणीकी मधुरतापर भी पयाप्त बल दिया गया ह। कबीरका आग्रह हे कि— *'ऐसी बानी बोलिये, मन का आपा खोय। औरन को सीतल करै, आपहु सीतल होय॥'* उनकी दृष्टिम *'मधुर बचन है ओषधी कटुक बचन ह तीर।'* यह तीर (कटु वचन) प्रवश ता श्रवण-द्वारस करता ह किंतु सालता ह सार शरीरका— *'श्रवन द्वार ह्वै सचर, सालै सकल सरीर॥'* कविश्रेष्ठ रहीमका परामर्श ह कि— *'मीठे बोलहु नै चलहु।'* मधुर बोलो तथा विनीत आचरण करो। इससे सारा दश तुम्हारा अपना हो जायगा। कवि सम्मन कहते ह कि मीठी बातसे सभीको भरपूर सुख प्राप्त होता है। जिसने मधुर बोलना नहीं सीखा, उसका आर सब कुछ सीखना व्यर्थ है— *'सम्मन मीठी बात सो, होत सबै सुख पूर। मीठो बोल न सीख जो, तेहि सब सीखो धूर॥'* श्रीतुलसीदासजीका आग्रह है— *'तुलसी मीठे बचन ते, सुख उपजत चहुँ ओर। बसीकरन यह मत्र है, परिहरु बचन कठोर॥'* ऐसा ही आग्रह कवि वृन्दका ह— *'समझे अनसमझै कछुक कहिये मीठी बात।'* यह मीठी बात उसी प्रकार मनको प्रफुल्लित कर देती ह, जेसे शिशुकी तातली वाणी। कबीरके अनुसार वाणी मनका चित्र ह। इसीलिय बोलते ही व्यक्तिके मनके भावका पता चल जाता हे। मनमे परमात्माका निवास रहता हे कटु वचन बालनसे सुननेवालेकी आत्मा दुखती हे। इसलिय कटु वचनका प्रयाग नहीं करना चाहिये— *'घट घट मे वह साईं रमता कटुक बचन मत बोल रे।'*

लाक-व्यवहारम 'अति' का सर्वत्र परित्याग करना चाहिये। अतिका बर्ताव नीति-विमुख बात है। कहा गया है कि—

अति का भला न बालना अति की भली न चूप।
अति का भला न बरसना अति की भली न धूप॥

इसी आशयकी य पक्तियाँ ह—

बहुत अधिक जो बोलत सदा हाँकत डाग।

वे नर पशु साकार ह, बिना पूँछ औ सींग॥

ऐसे व्यक्ति कुछ समयके लिये भले ही सम्मान प्राप्त कर ले, किंतु अन्ततोगत्वा उपहासके ही पात्र बनते हैं। अन्योक्तिके माध्यमसे कौवेको सम्बोधित करते हुए बिहारी कवि कहते है—

दिन दस आदर पाय कै, करिलै आपु बखान।
जौ लौ काग सराध पख तौ लौं तो सम्मान॥

श्राद्ध-पक्ष समाप्त होते ही तेरा वही हाल हो जायगा जो पहले था।

इसीलिये रसनिधि वाक्-संयमका उपदेश देते हुए कहते हैं कि जब बोलनेके लिये कहा जाय तभी बोलना चाहिये। अन्यथा चुप रहना ही श्रेयस्कर है—

याही ते यह आदरै जगत माँह सब कोय।
बोलै जबै बुलाइये, अनबोले चुप होय॥

अप्रासंगिक चर्चा भी अच्छी नहीं होती। जैसे युद्धभूमिमें यदि कोई शृंगारका वर्णन करे तो रुचिकर नहीं होता। वृन्दके इस दोहेमें अवसरके अनुकूल कथनको ही उचित बतलाया गया है—

नीकी पै फीकी लगै, बिनु औसर की बात।
जैसे बरनन युद्ध में रस सिंगार न सुहात॥

इसके विपरीत समयानुकूल फीकी बात भी अच्छी लगती है। जैसे विवाहमें स्नेहवर्धनके लिये गायी जानेवाली गालियाँ सभीके मनको हर्षित कर देती है—

फीकी पै नीकी लगै, कहिये समय विचारि।
सबके मन हरसित करे, ज्यों बिबाह में गारि॥

हिंदीके नीतिकारोंने आत्मिक उन्नतिपर पर्याप्त बल दिया है। इस क्रममें उन्होंने उन दोषोंकी भी चर्चा की है, जो आत्मिक उन्नतिमें बाधक हैं। काम, क्रोध मद लोभ तथा मोह आदि ऐसे ही दुर्गुण है। कबीरकी उक्ति है—

काम क्रोध मद लोभ की जब लगि घट में खान।
कहा मूरख कहा पंडिता, दोनो एक समान॥

तुलसीकी अभिव्यक्ति है—

लोभ के इच्छा दंभ बल काम के केवल नारि।
क्रोध के परुष बचन बल मुनिबर कहहिं बिचारि॥

कबीरका यह कथन हृदयङ्गम कर लेने योग्य है—

जहाँ काम तहँ राम नहि, जहाँ राम नहिं काम।
दोनो कबहूँ ना मिलै, रवि रजनी इक ठाम॥

अहंकार तो पलभरमें ही किये-करायेपर पानी फेर देता है—*'किया-कराया सब गया, जब आया अहँकार॥'* इस अहंकारका परित्याग बड़ा कठिन है। कबीरका यह कथन इसी संदर्भमें है—*'माया तजी तो क्या भया, मान तजा नहिं जाय। जेहि मानै मुनिबर ठगे, मान सबनको खाय॥'* इसी प्रकार लोभ भी पापका मूल है यह सम्मान तथा स्वाभिमानको गहरी ठेस पहुँचाता है—*'लोभ पाप को मूल है, लोभ मिटावत मान।'* इसीलिये कहा गया है—*'लोभ न कबहूँ कीजिय, या में नरक निदान॥'*

बृजराजने इन विकारोंसे मुक्ति पानेके लिये मनको वशमें करना आवश्यक बतलाया है। उनका कहना है कि साधकके लिये ध्येयकी प्राप्ति तभी सम्भव होगी जब उसका मन काम क्रोध, मद लोभ तथा मोहपर नियन्त्रण प्राप्त कर लेगा—

फेरे माला सौ सहस तऊ न कछु फल होत।
करे कि दीपक दूर निसि ज्यों बिन सूर उदोत॥
ज्यों बिन सूर उदोत जात जग नाहिं प्रकासे।
जोत जगे तब खेद भेद भ्रम सकल बिनासे॥
सुख समाज बृजराज बसे उर अंतर तेरे।
काम क्रोध मद लोभ मोह इक मन का फेरे॥

कबीर कहते है कि जबतक मनका मल साफ नहीं होगा तबतक नहाना-धोना व्यर्थ है। मछली सदैव पानीमें रहती है फिर भी उसकी दुर्गन्ध नहीं जाती— *न्हाये धोये क्या भया, जो मन मैल न जाय। मीन सदा जल में रहे, धोये बास न जाय॥'*

मनकी मलिनताको दूर करना अति आवश्यक है। नैतिक सिद्धान्तोंके अनुपालनसे मनकी निर्मलता सहज ही प्राप्त हो जाती है। मन निर्मल हो जाय अन्तःकरण पवित्र हो जाय तो फिर आत्मकल्याण स्वयं ही सध जायगा।

संत कवियोके काव्यमे नीति-तत्त्वका प्रतिपादन

(डॉ० श्रीविद्यानन्दजी ब्रह्मचारी एम्० ए० (द्वय) बी० एड्०, पी-एच्० डी० डी० लिट्०)

सता—महात्माआका रचनाआम 'नाति' और 'उपदेश'-मूलक उक्तियाँ भी मिलती हैं। भारतीय साहित्यका यह विशेषता है कि उसने लोकमङ्गलकी भावनासे कवियाको सदा प्रेरित किया। सस्कृत-साहित्यका नीतिकाव्य वडा समृद्ध है। इसम शुक्रनाति, विदुरनीति, भर्तृहरिनाति तथा चाणक्यनीति आदि ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध ह।

सत कवीर, रहाम और अन्य सताने भी लोक-कल्याण-हतु नीतिपरक रचनाएँ की हैं। नीतिकार या सूक्तिकार कवियाकी इस श्रणीम वृन्द, वताल, गिरिधर कविराय, दीनदयाल गिरि आदिको समाहित किया जा सकता है। वैताल के छप्पय गिरिधरकी कुण्डलियाँ दीनदयाल गिरिकी सूक्तियाँ—ये सभी जीवनक व्यावहारिक अनुभवसे परिपूर्ण हैं। भक्ताके नीति-काव्यपर जहाँ आध्यात्मिकताका अधिक प्रभाव है, वहीं वृन्द ओर गिरिधरकी रचनाआम व्यवहार-पक्ष प्रधान ह। लोकप्रियताकी दृष्टिसे गिरिधर कविरायका विशप प्रसिद्धि प्राप्त हुई ह।

लाकशिक्षा ओर सदाचारक पोपणक लिये नीतिपरक सूक्तियाका महत्त्व सर्वाधिक है। यहाँ हिन्दीके कुछ कवियाका सक्षिप्त परिचय देत हुए उनकी नीति-शिक्षाआका उल्लेख किया जा रहा है, इनसे लाभ उठाया जा सकता है—

(१) सत कबीर

मध्ययुगीन निर्गुणोपासक सत कवि महात्मा कवीरका व्यक्तित्व किवदन्तिया ओर अलौकिकताआक दुर्भेद्य आवरणसे एसा छिपा हे कि वास्तविकताको देखना सहज नही। प्रवाद है कि जगद्गुरु स्वामी श्रीरामानन्दजीक आशीवादस इनका जन्म सवत् १४५५ तदनुसार सन् १३९८ई० म काशीकी एक विधवा ब्राह्मणीकी कुक्षिसे हुआ था ओर इनक देहत्यागका समय सवत् १५७५ तदनुसार सन् १५१८ ई० माना जाता हे।

कवीरदास एक साधारण जुलाहेके परिवारम पाले-पोसे गये थे। इन्ह पढने-लिखनेकी सुविधाएँ नहीं मिल पायीं किंतु अनुभवके बलपर ये इतने बडे ज्ञानी सिद्ध हुए कि इन्ह एक महापुरुपके रूपम स्वीकार किया गया। हिदुआ आर मुसलमानाक आपसी भद-भावाको मिटाकर इन्हान उनको प्रेमके सूत्रम बाँधनेका प्रयत्न किया ओर यह वतलाया कि अज्ञानके कारण हम भटकत रह जात ह किंतु हम ईश्वरकी झलक नहीं मिलती।

कवीरक नामपर जितन ग्रन्थ उपलब्ध ह उनकी सख्या लगभग ६० के ऊपर हे। इनम कितन प्रामाणिक ह यह कहना असम्भव-सा ह फिर भी इनम सबस प्रसिद्ध 'बीजक' हे जिसम कबीरदासकी वाणीका मालिक रूप सबसे अधिक सुरक्षित समझा जाता हे। बीजकक तीन भाग ह—साखी, सवद (शब्द) आर रमनी।

कवीरका रचनाआम प्रधान विपय ह—ज्ञान भक्ति आर नाति। शप जो कुछ ह वह इन्हाक अङ्ग-रूपम हाकर आया ह, जस—गुरु-महिमा तथा काम-क्राध आदिकी निन्दा सत्सग एव प्रेम-दया आदिकी प्रशसा।

यह वात परम्परासे प्रसिद्ध ह कि कवीरन स्वामी श्रीरामानन्दजीसे 'राम'-नामकी दीक्षा ला थी, इनक सदश आज भी अमर ह। इनका व्यक्तित्व इस बातका प्रमाण ह कि शिक्षित ओर विद्वान् न होनपर भी साधनाके बलपर कोई महान् ज्ञानी आर महात्मा वन सकता ह। यहाँ सत कबीरके कुछ नीतिपरक दोह दिये जा रह ह—

प्रम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट विकाय।
राजा परजा जहि रुचे, सीस दइ लै जाय॥
साईं इतना दीजिए, जाम कुटुम समाय।
मे भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय॥
धारे-धीरे रे मना, धार सव कछु होय।
माली सींचे सो घड़ा, ऋतु आये फल हाय॥
तेरा साई तुज्झम, ज्या पुहुपनम वास।
कस्तूरीका मिरग ज्या, फिर-फिर सूघ घास॥

(२) तुलसीदास

गास्वामी श्रीतुलसीदासजी भारतके एसे सत महापुरुष हुए ह, जिनके आविर्भावस भगवद्भक्तिकी धारा सर्वत्र अजस्ररूपम प्रवाहित हो गयी। ये वाल्मीकिजीके अवतार माने जाते ह। इनके द्वारा रचित श्रीरामचरितमानस सार भारतम पूज्य ह। कविताक द्वारा व्यक्ति समाज राष्ट्र आर मानवमात्रका कितना बडा कल्याण किया जा सकता ह और कैसे किया जा सकता हे, तुलसादासजाकी रचनाएँ इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। वस्तुत य हिन्दा-गारवगिरिके

सुमेरु ह। भारतने इन्ह पाकर अपने जगद्गुरु नामको सार्थक किया हे। इनका आविर्भाव सं० १५५४ तथा तिरोधान सं० १६८० म हुआ।

सगुणापासक भगवान् श्रीरामके अनन्य पुजारी संत-शिरोमणि श्रीतुलसीदासजीके द्वारा प्रणीत श्रीरामचरितमानसके दाहा आर चापाइयाम तथा उनके अन्य ग्रन्थाम भी नीति-शिक्षाकी बहुलता परिलक्षित होती ह। उदाहरणार्थ उनके कुछ नीतिपरक दोहे यहाँ प्रस्तुत ह—

ऊँची जात पपीहरा, नीचो पियत न नीर।
कै याचै घन स्याम सा, कै दुख सहे सरीर॥
मर्यादा दूरहि रहे, तुलसी किये विचारि।
निकट निरादर हात है, जिमि सुरसरि वरवारि॥
तुलसी संत सुअंब तरु, फूलि फरहिं पर हेतु।
इतते वे पाहन हने, उतते वै फल देतु॥
दुर्जन बदन कमान सम, वचन विमुचत तीर।
सज्जन उर वेधत नहीं, छमा सनाह सरीर॥
क्रोध न रसना खालिय, बरु खोलिय तरुवारि।
सुनत मधुर परिनाम हित, बोलिय वचन विचारि॥
दुर्जन दर्पन सम सदा, करि देखो हिय दौर।
सन्मुख की गति और है, विमुख भये कछु और॥
नीच निचाई नहिं तजइ, सज्जनहू के संग।
तुलसी चंदन बिटप बसि, बिनु बिष भए न भुअंग॥
अपने नैनन देखि ज चलहिं सुमति बर लोग।
तिनहिं न विपति विषाद रुज तुलसी सुमति सुजाग॥
रावन रावन को हन्यो दाप राम कहँ नाहिं।
निज हित अनहित देखु किन, तुलसी आपहि माहिं॥
गो धन गज धन वाजि धन और रतन धन खान।
जब आवै संताप धन, सब धन धूरि समान॥

(३) रहीम

हिन्दीक मुसलमान कवि अब्दुर्रहीम खानखानाका संक्षिप्त नाम रहीम है। ये अपने समयक वीर योद्धा, कुशल राजनीतिज्ञ सहृदय कवि और प्रसिद्ध दानी थ। य सम्राट् अकबरक सेनापति, मन्त्री और नवरत्नामसे थे। इन्हान भक्ति आर नातिक दाहास हिन्दा भाषा-भाषियाको महामन्त्र प्रदान किया ह।

रहीमका जन्म सन् १५५६ ई०म लाहोरम हुआ था। अकबरक अभिभावक बैरम खाँ इनके पिता थे। य भारतीय संस्कृतिक उपासक ता थ हा साथ हा अरबी, फारसी, तुर्की, हिन्दी और संस्कृतके अप्रतिम विद्वान् भी थ। इनक दोहे अपनी सरलता और अनुभूतिकी मार्मिकताके लिये अति प्रसिद्ध ह। कहते ह, अन्त समयतक इनक यहाँस किसी याचकको निराश नहीं लौटना पडा। रहीमके दाहाम मुख्यरूपसे लोक-व्यवहार, नीति, भक्ति तथा अन्य अनुभूतियाका सुन्दर समन्वय हुआ हे—

समय दसा कुल देखि के, सबै करत सनमान।
रहिमन दीन अनाथ को, तुम बिन को भगवान॥
सबको सब कोऊ करे, राम जुहार सलाम।
हित अनहित तब जानिये, जा दिन अटके काम॥
रहिमन रिस का छोड़ि के, करो गरीबी भेस।
मीठो बोलो, नै चलो, सब तुम्हारो देस॥
रहिमन प्रीति न कीजिए, जस खीरा ने कीन।
ऊपर स तो दिल मिला, भीतर फाँके तीन॥
रहिमन निज मन की व्यथा मन ही राखो गाय।
सुनि अठिलैह लोग सब, बाँटि न लैह कोय॥
रहिमन वहाँ न जाइए, जहाँ कपट को हेत।
हम तन ढारत ढेकुली, सींचत अपनो खेत॥
रहिमन वे नर मर चुक, जे कहुँ माँगन जाहिं।
उनस पहले वे मुए, जिन मुख निकसत नाहिं॥
ओछो काम बड़े करै तौ न बड़ाई होय।
ज्यों रहीम हनुमंत को, गिरिधर कहै न कोय॥
बिगरी बात बनै नहिं, लाख करो किन कोय।
रहिमन बिगरे दूध को, मथे न माखन होय॥

(४) बिहारी लाल

बिहारी-जैसे सुप्रसिद्ध आर लोकप्रिय कविकी जीवनाक सम्बन्धमे भी कुछ प्रामाणिक और निश्चयात्मक रूपसे नहीं कहा जा सकता। इनका जन्म संवत् १६६० तदनुसार सन् १६०३ ई० प्रसिद्ध है। ये बडे ही लोक-चतुर अनुभवी, अधीत और रसिक थे। इनके ये गुण इनकी कविताम सर्वत्र झलकते ह। बिहारीकी एकमात्र रचना सात सौसे कुछ अधिक दाहाका संग्रह 'बिहारी-सतसई' ह जा कविको अद्भुत लाकप्रियताका आधार और इस बातका ज्वलन्त प्रमाण है कि किसी कलाकारकी कीर्तिका कारण उसकी रचनाका परिमाण नहीं, बल्कि उसका गुणात्कर्ष हुआ करता ह।

हिन्दाके 'मुक्तक' काव्यकाराम बिहाराका स्थान सर्वोच्च हे कारण कि 'मुक्तक' कविताम जा गुण हाना

चाहिये वह बिहारीके दोहोंमें ही अपने चरम उत्कर्षपर पहुँच सका है। इसीसे किसी अज्ञात कविने कहा है—

सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।
देखत में छोटे लगें, घाव करें गम्भीर॥

बिहारीके काव्यमें भाव और भाषाका मणि-काञ्चन-योग हुआ है, इसलिये इनका काव्य इतना निखर सका है। बिहारीकी भाषाकी पहली और सम्भवतः सबसे बड़ी विशेषता है, उसकी समास-शक्ति यानी थोड़ेमें अधिक कहना—'गागरमें सागर' भर देना।

बिहारीके नीतिपरक दोहे कविकी लौकिक, व्यवहारपटुता और पर्यवेक्षण-शक्तिके परिचायक हैं, जिनमें बाँकापन है, उक्तिका चमत्कार है और है बहुज्ञता। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

कनक कनक तें सौ गुनो मादकता अधिकाइ।
उहिं खाय बौराइ नर, इहिं पाय बौराइ॥
नर की अरु नल नीर की, गति एकै करि जोइ।
जेतौ नीचौ ह्वै चलै, तेतौ ऊँचो होइ॥
बढ़त बढ़त संपति सलिल, मन-सरोज बढ़ि जाइ।
घटत घटत सु न फिरि घटै, बरु समूल कुम्हिलाइ॥
मीन न नीति गलीतु ह्वै, जौ धरियै धनु जोरि।
खाए खरचै जौ जुरै, तौ जोरियै करोरि॥
चटक न छाँड़त घटत हूँ, सज्जन नेह गँभीरु।
फीकौ परै न बरु फटै, रँग्यौ चोल रँग चीरु॥
कोटि जतन कोऊ करौ, परै न प्रकृतिहिं बीच।
नल-बल जल ऊँचे चढ़ै, अंत नीच कौ नीच॥

(५) वृन्द

कविवर वृन्द अपने दोहोंके लिये हिन्दी-साहित्यमें रहीमकी तरह ही प्रसिद्ध हैं। इनके दोहोंमें नीति और शिक्षाकी बातें भरी हुई हैं जो जीवनके व्यावहारिक क्षेत्रोंके लिये बड़ी उपयोगी सिद्ध होती हैं।

जोधपुरके मेड़ता नामक स्थानके निवासी कवि वृन्दके सम्बन्धमें इतना ही ज्ञात है कि इन्होंने सन् १७०४ ई०में 'वृन्द-सतसई' नामक नीति-विषयक ग्रन्थकी रचना की थी। कवि वृन्दका जन्म १६८५ ई०में हुआ था। ये कृष्णगढ़ नरेश महाराज सिंहके गुरु और औरंगजेबके समकालीन थे।

कवि वृन्द सूक्तिकारके रूपमें ही प्रसिद्ध हैं। इनके प्रत्येक दोहेमें जीवनका अनुभव तथा ज्ञान भरा हुआ है। जन-साधारणके लिये इनका विशेष महत्त्व है। इनकी भाषा सरल और सरस है। जैसे—

कुल सपूत जान्यौ परै, लखि सुभ लच्छन गात।
होनहार बिरवान के, होत चीकने पात॥
कबहूँ प्रीति न जोरिये, जोरि तोरिये नाहिं।
ज्यों तोरे जोरे बहुरि, गाँठि परत मन माहिं॥
जामें हित सो कीजिये, कोऊ कहै हजार।
छल बल साधि बिजय करी, पारथ भारत वार॥
मधुर वचन तें जात मिट, उत्तम जन अभिमान।
तनक सीत जल सों मिटै, जैसे दूध उफान॥
अपनी पहुँच बिचारि कै, करतब करिये दौर।
तेते पाँव पसारिये, जेती लाँबी सौर॥
उत्तम विद्या लीजिये, यदपि नीच पै होय।
परो अपावन ठौर में, कंचन तजत न कोय॥
मूरख को हित के वचन, सुनि उपजत है कोप।
साँपहि दूध पिवाइये, वाके मुख विष ओप॥
जहाँ सजन तहँ प्रीति है, प्रीति तहाँ सुख ठौर।
जहाँ पुष्प तहँ बास है, जहाँ बास तहँ भौंर॥
सेवक सोई जानिये, रहै बिपति में संग।
तन छाया ज्यों धूप में, रहै साथ इक रंग॥
काहू को हँसिये नहीं, हँसी कलह को मूल।
हँसी ही तें है भयो कुल कौरव निरमूल॥
सुनिये सबही की कही, करिये सहित विचार।
सर्व लोक राजी रहै, सो कीजै उपचार॥
करत-करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात तें सिल पर परत निसान॥

(६) बेताल

रीतिकालीन रीतिमुक्त कवियोंमें बैतालका नाम आदरके साथ लिया जाता है। इनका जन्म संवत् १७३४ तदनुसार १६७७ ई०में हुआ था। ये विक्रम शाहके दरबारी कवि थे। इन्होंने अपने छन्द उन्हींको सम्बोधित करके बनाये हैं।

बैतालके थोड़े-से स्फुट छन्द ही प्राप्त हैं, जिनके आधारपर यह कहा जा सकता है कि ये नीति-सम्बन्धी काव्यकी रचनामें पटु थे। इन्होंने कवि गिरिधररायके समान ही कुण्डली छन्दमें और सर्वथा अलंकृत भाषामें आचार-व्यवहार तथा नीति-सम्बन्धी पद्य रचे हैं। इनकी नीति-विषयक रचनाएँ अत्यन्त हृदयग्राही हैं। जैसे देखें—

टका करै कुलहूल टका मिरदंग बजावै।
टका चढ़ै सुखपाल टका सिरछत्र धरावै॥

टका माय अरु बाप, टका भैयन का भैया।
टका सास अरु ससुर, टका सिर लाड़ लड़ैया॥
अब एक टक बिनु टकटका रहत लगाय रात दिन।
'बैताल' कहै विक्रम सुनो धिक जीवन एक टके बिन॥
पग बिन कटै न पथ बाहु बिन हटै न दुर्जन।
तप बिन मिलै न राज भाग्य बिन मिलै न सज्जन॥
गुरु बिन मिलै न ज्ञान द्रव्य बिन मिलै न आदर।
बिना पुरुष सिंगार मेघ बिन कैसे दादुर॥
'बैताल' कहै विक्रम सुनो, बाल बोल बोली हटे।
धिक्क धिक्क ये पुरुष का मन मिलाइ अन्तर कटे॥
ससि बिन सूनी रैन ज्ञान बिन हिरदे सूनो।
कुल सूनो बिनु पुत्र पात बिन तरुवर सूनो॥
गज सूना इक दंत सलिल बिन सागर सूनो।
विप्र सून बिन वेद और बिन पुहुप बिहूना॥
हरिनाम भजन बिन संत अरु घटा सून बिन दामिनी।
'बैताल' कहै विक्रम सुनो पति बिन सूनी कामिनी॥

(७) गिरिधर कविराय

गिरिधर कविराय जितने ही लोकप्रिय नीति-कवि हैं उतने ही जीवनवृत्तकी दृष्टिसे अज्ञातप्राय। इनका जन्म संवत् १७७० तदनुसार १७१३ ई०में माना जाता है।

हिन्दी-भाषी प्रदेशोंके अशिक्षित ग्रामीणोंतकको इनकी नीति-विषयक कुण्डलियाँ कण्ठाग्र रहती आयी हैं। इन्होंने वृन्दकी तरह अपनी नीति-विषयक उक्तियोंको उपमा आदि अलंकारोंद्वारा कवित्वपूर्ण बनानेके प्रयासके बदले शिक्षाप्रद बातें दो टूक भाषामें कह दी हैं। प्राचीन कवियोंमें गिरिधरकी कुण्डलियाँ अति प्रसिद्ध हैं। जिस प्रकार हिन्दी कविता कवित्त, सवैया, दोहा और चौपाइयोंमें अपना मधुर रूप प्रदर्शित करती है, उसी प्रकार छः पंक्तियोंवाली कुण्डलियोंद्वारा भी अपना चमत्कार दिखलाती है।

गिरिधर कविरायकी नीतिकी कुण्डलियाँ ग्राम-ग्राममें प्रसिद्ध हैं। उनमें सीधी-सादी भाषामें तथ्य-मात्रका कथन है। इसलिये ये कोरे सूक्तिकार ही हैं पद्यकार नहीं। वृन्द और इनमें यही अन्तर है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

यही सयाना काम राम को सुमिरन कीजै।
परस्वारथ के काज सीस आगे धरि दीजै॥
कह गिरिधर कविराय बड़न की याही बानी।
चलिये चाल सुचाल, राखिये अपनो पानी॥

साईं अपने चित्त की भूलि न कहिये कोइ।
तब लग मन में राखिये, जब लग कारज होइ॥
जब लग कारज होइ, भूलि कबहूँ नहिं कहिये।
दुरजन हँसे न कोइ, आप सियरे ह्वै रहिये॥
कह गिरिधर कविराय बात चतुरन के ताईं।
करतूती कहि देत, आप कहिये नहिं साईं॥
साईं समय न चूकिये, यथाशक्ति सन्मान।
को जाने को आइ है, तेरी पौरि प्रमान॥
तेरी पौरि प्रमान, समय असमय तकि आवै।
ताको तू मन खोलि, अंक भरि हृदय लगावै॥
कह गिरिधर कविराय सबै यामें सधि आई।
सीतल जल फल फूल, समय जनि चूको साईं॥

(८) दीनदयाल गिरि

बाबा दीनदयाल गिरि गोसाईं थे। इनका जन्म शुक्रवार वसन्त पञ्चमी संवत् १८५९ वि० को काशीके गायघाट मुहल्लेमें एक पाठक-कुलमें हुआ था। जब ये पाँच-छः वर्षके थे तभी इनके पिता इन्हें महंत कुशागिरिको सौंपकर चल बसे। महंतजीके साथ रहकर इन्होंने संस्कृत और हिन्दीका अच्छा ज्ञान प्राप्त किया और फिर कविता करने लगे। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' का हिन्दी-साहित्यमें विशेष सम्मान है। इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं—(१) अनुराग-बाग, (२) वैराग्य-दिनेश, (३) विश्वनाथ-नवरत्न और (४) दृष्टान्त-तरंगिणी आदि। 'दृष्टान्त तरंगिणी'-में नीति-सम्बन्धी दोहे हैं। बाबाजीकी लौकिक और आध्यात्मिक सूक्तियाँ प्रसिद्ध रही हैं। इनकी नीतिके दोहोंमें इनका अनुभव व्यक्त हुआ है, एक उदाहरण प्रस्तुत है—

चल चकई तेहि सर विषै, जहाँ नहिं रैन-बिछोह।
रहत एक रस दिवस ही सुहृद हंस संदोह॥
सुहृद हंस संदोह कोह अरु द्रोह न जाको।
भोगत सुख-अंबोह मोह-दुख होय न ताको॥
बरनै दीन दयाल भाग बिन जाय न सकई।
पिय मिलाप नित रहै ताहि सर चल तू चकई॥

इस प्रकार संत कवियोंकी नीतिपरक उक्तियाँ न केवल धार्मिक लोगों—साधकोंके जीवनके लिये उपादेय एवं हितकारक हैं, बल्कि सामान्य लोगोंके लिये भी अनुकरणीय हैं। इन नीतियोंका पालन और अनुसरण करके मानव अपने जीवन, समाज तथा देशको सुखमय बना सकता है।

महाकवि विद्यापति एवं उनका नीतिग्रन्थ—पुरुष-परीक्षा

(डॉ० श्रीचन्द्रभूषणजी झा वेद-साहित्याचार्य)

मिथिला नगरी एक सांस्कृतिक धरोहरके रूपमें द्ध है। इस समृद्ध कर्नेमें राजर्षि जनक-जैसे योगी, न-जैसे नैयायिक एवं महर्षि याज्ञवल्क्य-जैसे धर्मशास्त्रीके िरिक्त अनेक विद्वानोंका योगदान सतत प्राप्त होता रहा इसी परम्परामें महाकवि विद्यापति भी एक जाज्वल्यमान त्रकी भाँति स्थित हैं।

वास्तवमें अभिनव जयदेव महाकवि विद्यापति बड़े भाग्यशाली कवियोंमेंसे एक हुए हैं। जिन्हें प्रकृति की रम्य रंगस्थली मिथिला-सी जन्मभूमि तथा गुणसम्पन्न महाराज शिवसिंहके समान आश्रयदाता ।। इनके पितामह जयदत्त एवं पिता गणपति ठाकुर थे राजपण्डित थे। इस तरह इन्हें पाण्डित्य एवं शास्त्रज्ञान धिकारके रूपमें प्राप्त हुआ। यद्यपि इन्होंने अभिनव देव, कविशेखर, कविकोकिल एवं महाकवि इत्यादि क उपाधियाँ भी प्राप्त की थीं, फिर भी ये 'कविकोकिल'- नामसे ही विशेष सुपरिचित एवं सुविख्यात हुए।

इनके जन्म-समयके सम्बन्धमें मतान्तर रहा है। धिकतर विद्वानोंके अनुसार इनका समय १३५० ई० से ५० ई० के मध्य माना गया है।

महाकवि विद्यापति बाल्यकालसे ही काव्य-विनोदी मेधावी थे। म० म० प० हरिमिश्र इनके गुरु तथा गोविन्दकार जयदेव एवं पक्षधरमिश्र इनके सहपाठी थे। पनसे ही मिथिलाके राजदरबारमें प्रवेश होनेके कारण में नीतिज्ञानका होना स्वाभाविक था। इनकी रचनाओंमें— पदावली २-कीर्तिलता, ३-कीर्तिपताका, ४-पुरुष-परीक्षा मणिमञ्जरी, ६-गोरक्षविजय (नाटक), ७-लिखनावली शैवसर्वस्वसार, ९-शैवसर्वस्वसार-प्रमाणभूत-पुराण-संग्रह, -गङ्गावाक्यावली, ११-दानवाक्यावली १२-विभागसार, -दुर्गाभक्तितरङ्गिणी १४-व्याडीभक्तितरङ्गिणी, १५-गयापत्तलक, -वर्षकृत्य, १७-प्रश्नोत्तर-मालिका, १८-ज्योतिस्सार-समुच्चय या १९-चिकित्साञ्जन इत्यादि मुख्य हैं। इनमें भी मैथिलीमें चित 'पदावली'से इनको विशेष प्रसिद्धि प्राप्त हुई। र्तिलता तथा कीर्तिपताका अवहट्टमें रचित हैं। शेष सब स्कृत भाषामें है।

महाकवि विद्यापतिने तत्कालीन मिथिलाके महाराज वसिंहके आदेशानुसार 'पुरुष-परीक्षा' नामक दण्डनीति-विषयक ग्रन्थकी रचना की। पुरुष-परीक्षा सर्वथा सार्थक नाम है। इसमें प्रतिपादित युक्तियोंके द्वारा पुरुषोंका वास्तविक परिचय प्राप्त होता है।

विद्यापतिकी धारणा है कि पुरुष तो सभी होते हैं, किंतु वास्तविक पुरुष वे ही हैं, जिनमें पौरुष विद्यमान हो। पुरुषमें वीरता, विद्या एवं बुद्धि हो तथा इनके माध्यमसे उसके धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष—जीवनके इन चारों पुरुषार्थोंको प्राप्त करनेकी क्षमता हो। जो इनसे भिन्न हैं वे पुरुषका आकारमात्र धारण करनेवाले हैं। वे पुरुष नहीं अपितु पूँछरहित पुरुषाभास हैं—

वीरः सुधीः सुविद्यश्च पुरुषः पुरुषार्थवान्।
तदन्ये पुरुषाकाराः पुरुषाः पुच्छवर्जिताः ॥

(पु० प० प्र० १)

'पुरुष-परीक्षा' में नीति-कथाओं एवं युक्तियोंके द्वारा पुरुषके लक्षणोंका वर्णन किया गया है। ग्रन्थकार इस ग्रन्थके चार प्रयोजन इस प्रकार बताते हैं—(१) कोमलमतिके बालकोंको नीति-शिक्षा देना, (२) सहृदयजनोंको मनोविनोद प्राप्त कराना (३) राजनैतिक जटिलताओंका उदाहरणोंद्वारा स्पष्टीकरण करना तथा (४) वाग्वैदग्ध्यको गुणशाली बनाना। यह ग्रन्थ बहुत अंशोंमें 'हितोपदेश' तथा 'पञ्चतन्त्र'के समान है। किंतु अन्य ग्रन्थोंकी नीतिकथाओं तथा पुरुष-परीक्षाकी कथाओंमें स्वल्प भेद है। अन्य नीति-कथाओंमें जहाँ पशु-पक्षीके मार्मिक चरित्र, काल्पनिक कथा एवं अद्भुत अस्वाभाविक चरित्रों तथा घटनाओंका वर्णन हुआ है, वहीं प्रस्तुत ग्रन्थमें मानवीय कथाएँ वर्णित हैं, जो बड़ी ही तथ्यमूलक, स्वाभाविक तथा रसात्मक हैं।

पुरुष-परीक्षा चार परिच्छेदोंमें विभक्त है। पुरुष-लक्षणोंके अनुसार प्रथममें वीर, द्वितीयमें सुबुद्धि, तृतीयमें सविद्य एवं चतुर्थ परिच्छेदमें चारों पुरुषार्थोंकी कथाओंका वर्णन है।

इस ग्रन्थमें समष्टि रूपसे छोटी-बड़ी सभी प्रकारकी ४४ कथाएँ गुम्फित हैं, जो उत्तम-मध्यम तथा अधम प्रकृतिवाले मनुष्योंके सदाचार-दुराचार आदि क्रिया-कलापों, मानव-जीवनके प्रयोजनों और धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष आदिका विशद एवं सजीव वर्णन करता है। इनमें कुछ कथाएँ ऐतिहासिक, कुछ आनुश्रुतिक तथा कुछ

सामयिक घटनाओंपर आश्रित हैं। इसमें महामात्य चाणक्य, चन्द्रगुप्त, शकटार, राक्षस, विक्रमादित्य, भोज, लक्ष्मणसेन, नरसिंह इत्यादि राजपुरुषों शबरस्वामी वराहमिहिर, विशाखदत्त, श्रीहर्ष, काक चण्डेश्वर इत्यादि विद्वज्जनों तथा बोधिदास, कृष्णचैतन्य आदि गृहस्थ संतोंकी नीतिपरक कथाएँ आयी हैं। भारतके विभिन्न भागोंसे सम्बद्ध कथाओंके कारण इसका भौगोलिक परिवेश भी विस्तृत है, जिनमें मिथिलासे सम्बद्ध ८, बंगालसे ६, कुसुमपुर (पाटलिपुत्र)-से ३, धारानगरीसे ३, योगिनीपुर (दिल्ली)-से २, गोरखपुरसे २ एवं शेष १४ कथाएँ द्वारका, वाराणसी, मथुरा, अयोध्या, काञ्ची, कौशाम्बी, मेवाड-प्रभृति विभिन्न स्थानोंके वर्णनोंसे सम्बद्ध हैं। सभी कथाएँ रोचक, बुद्धिचातुर्यपूर्ण तथा लोकस्वभावकी परिचायक हैं। इस ग्रन्थसे लोक-व्यवहारका सम्यक् अवज्ञान होता है।

न्याय-व्यवहार, वर्णाश्रमानुकूल आचार-विचार, गृहस्थ एवं संन्यासीका धर्म, धूर्त-वेश्या आदिका कूट-कपट, युद्धकी व्यूह-रचना, गुप्तचरोंकी कूटनीति चार, लम्पट इत्यादिका चाल-चलन तथा उससे बचनेके उपाय आदि अन्य कई लोकरीति-नीतिका ज्ञान हो जाता है। विषयवस्तु आख्यानशैलीमें प्रतिपादित होनेसे सहज ही प्रबुद्ध हो जाती है।

यहाँ नीति-ज्ञानकी एक कथा दी जा रही है—

कुसुमपुरमें नन्द नामका एक राजा था। उसके मन्त्रीका नाम था शकटार। किसी कारणवश मन्त्री और राजामें विरोध हो गया। फलस्वरूप राजाने मन्त्री शकटारकी सभी सम्पत्तियोंको जब्त करके समस्त परिवारजनोंके साथ उसे कारागारमें बंद करवा दिया। राजाकी ओरसे शकटारसहित समस्त परिवारको आहारके रूपमें आधा पाव सत्तू मिलता था जो कि एक व्यक्तिकी क्षुधाको शान्त करने योग्य भी नहीं था। परिवारके सभी सदस्योंने विचार किया कि राजासे बदला लेनेके लिये शकटारकी प्राण-रक्षा आवश्यक है अतः इस आहार (सत्तू)-को लेकर शकटार जीवित रहे एवं राजा नन्दका प्रतिकार करे। कालान्तरमें शकटारके परिवारके सभी सदस्य अन्न-जलके अभावमें काल-कवलित हो गये किंतु शकटार बदला लेनेकी प्रतीक्षामें जीवित बना रहा। मन्त्री तो वह राजाका था ही। अतः कभी-कभी राजाकी अनेक समस्याओंको वह अपने बुद्धिचातुर्यसे परोक्षरूपमें सुलझा दिया करता था। राजाको जब यह ज्ञात हुआ कि शकटार अभी जीवित है एवं उसने ही इन समस्याओंका समाधान किया है तो प्रसन्न होकर राजा नन्दने शकटारको बन्धनमुक्त कर अपने प्रधान अमात्य राक्षसके सहायकके रूपमें नियुक्त कर दिया।

शकटार दुर्लभ पद पाकर प्रसन्न हुआ साथ ही राजाकी दुर्नीतिपर इस प्रकार विचार भी करने लगा—

> उत्कटं वैरमुत्पाद्य पुनः सौहृदमिच्छति।
> यमपत्तनयात्रायां स पन्थानमवेक्षते॥
>
> (पु० प० १९।२२)

अर्थात् पहले प्रबल वैर बाँधकर फिर उससे जो मित्रताकी इच्छा करता है, वह मानो यमपुरीके मार्गको और ही देखता है।

शकटारने निश्चय किया कि यह दुष्टात्मा राजा विश्वासके योग्य नहीं है। क्योंकि—

> दृष्टा वैरक्रिया यस्य परापर्यन्तपातिनी।
> तस्मिन् विश्वासमायान्तं मृत्युर्जिघ्रति मस्तके॥
>
> (पु० प० १९।३)

जिसका पहले शत्रुतापूर्ण व्यवहार देखा गया हो उसपर विश्वास करनेवाले मानो मृत्यु उसका मस्तक सूँघ रही है।

पूर्वकी शत्रुता एवं वर्तमानकी प्रसन्नतासे शकटार संदेहमें पड गया। उसने सोचा—मेरे परिवारके सभी सदस्योंने राजा नन्दसे बदला लेनेके निमित्त अपना-अपना आहार त्यागकर मेरे प्राण बचाये। अब यही उचित अवसर है क्यों न उस वैरका बदला ले लूँ। अवसर पाकर बदला नहीं लेनेसे समाजमें अपयश तो होगा ही साथ ही मैं कायर भी कहलाऊँगा। कहा भी गया है—

> पापात् त्रस्यति यः स एव पुरुषः स्यादुत्तमो भूतले
> पापात्मा च बिभेति योऽपयशसः स ज्ञायते मध्यमः।
> त्रासो यस्य न पापादपि न वा लज्जापवादादपि
> प्रज्ञावद्भिरुदाहृतोऽयमधमः सर्वत्र निन्दास्पदः॥

अर्थात् इस पृथ्वीपर जो हमेशा पापसे डरता रहता है (फलस्वरूप उत्तम कार्योंको करता है) वह उत्तम कोटिका पुरुष है। जो मात्र अपयशके डरसे पाप नहीं करता वह पापात्मा मध्यम कोटिका पुरुष है। इसके विपरीत जो न तो पापसे डरता है न लज्जासे डरता है और न लोकापवादसे डरता है उसे विद्वानोंने अधम कोटिका पुरुष कहा है वह सर्वत्र निन्दाका पात्र बनता है।

इस प्रकार नीतिपर विचार करता हुआ शकटार नगरके

भ्रमण करने चला गया। उसने भ्रमण करते हुए देखा कि ब्राह्मण-बालक कुशाको उखाडकर उसकी जडमे डाल रहा है। यह देखकर मन्त्री शकटारने पूछा ब्राह्मण! कौन हो और यहाँ क्या कर रहे हो? उसने उत्तर दिया— चाणक्यशर्मा नामका ब्राह्मण हूँ। अङ्गसहित वेदोका अध्ययन करके विवाहार्थ इधरसे जाते हुए मेरे पाँवमे यह अङ्कुर चुभ गया। इस घावके फलस्वरूप मेरा विवाह नहीं हुआ। मैने क्रोधित होकर प्रतिज्ञा की है कि इस समस्त कुशाको ही निर्मूल कर दूँगा। मैंने आयुर्वेदशास्त्रमे पढा है कि कुशकी जडमे तक्र डालनेसे कुशका नाश होता है, इसपर शकटारने पूछा—'यदि तुम वृक्षायुर्वेद नहीं जानते तो इसके विनाशका क्या उपाय करते?'

चाणक्यने उत्तर दिया कि अभिचार-कर्मके द्वारा इसके विनाशकी कामनासे हवन करता।

शकटार उस ब्राह्मण बालकके प्रतिशोधकी भावना एव क्रोधको जानकर चकित हो गया। वह सोचने लगा कि यदि यह ब्राह्मण किसी उपायसे मेरे शत्रु अर्थात् राजा नन्दका भी शत्रु हो जाय तो मुझे वैर-भावका बदला लेनेमे कोई कठिनाई नहीं होगी। यह विचारकर शकटार उस ब्राह्मणके अनुकूल बात करता हुआ उसे अपने घर ले आया और राजपुरोहितसे मिलकर बडी ही युक्तिसे उसने राजा नन्दके पिताके क्षयाह-श्राद्धमे ब्राह्मण-भोजनके रूपमे चाणक्यको निमन्त्रित करवाया। शकटारने सोचा कि अविवाहित, कपिशवर्ण, काले-काले नख तथा दाँतवाले एव मेरे द्वारा निमन्त्रित इस ब्राह्मणको देखकर मेरा विरोधी मन्त्री राक्षस इसको श्राद्ध-भोजनके अयोग्य समझकर अपमानित करेगा और हुआ वही। राजा नन्द श्राद्धके आसनपर पहुँचा तो वहाँ आसनपर बैठे बालकको देखकर मन्त्री राक्षस बोला—यह ब्राह्मण श्राद्ध-कर्मके योग्य नहीं है, तदनन्तर राक्षसकी मन्त्रणासे राजाने चाणक्यको अपमानितकर बाहर निकाल दिया। अपमानित ब्राह्मण चाणक्यने क्रुद्ध होकर प्रतिज्ञा की कि जबतक राजा नन्दका वध (नाश) नहीं करवा लूँगा, तबतक अपनी इस मुक्त शिखाको नहीं बाँधूँगा (पु० प० २०। ३)।

चाणक्यकी इस प्रतिज्ञाको सुनकर मन्त्री शकटार कृतकृत्य हो गया और राजा नन्दसे अपने परिवारके विनाशका बदला लेनेमे सफल हुआ।

बनादासकृत 'बिसमरनसम्हार' मे लोकोपयोगी नीति

(प्रा० श्रीइन्द्रदेवप्रसादसिंहजी)

गोस्वामी तुलसीदासके परवर्ती रामकाव्य-प्रणेताओमे महात्मा बनादासका अद्वितीय स्थान है। महात्मा बनादास रामभावके उपासक थे। किंतु उनकी रचनाओमे भक्तिके रसोकी साधनाके सकेत उपलब्ध है। कविवर तुलसीके रचना-शैलियोकी विविधता प्रबन्ध-पटुता और काव्य-त्वकी दृष्टिसे बनादास राम-भक्ति-शाखाके सर्वोत्कृष्ट कवि ठहरते हैं। इनकी कृतियोमे निर्गुण पन्थी, सूफी और समकालीन रचना-पद्धतियोका आभास मिलता है, किंतु इनका आधार रामभक्ति ही है।

महात्मा बनादासके 'उभयप्रबोधक रामायण'मे रामचरितको जो उज्ज्वलता प्रदान की गयी है, वह तुलसीदासके परवर्ती प्रबन्ध-काव्योमे दुर्लभ है। दास्य-भावके परमोपासक महात्मा बनादासकी कृतियोमे मधुर भाव भी यत्र-तत्र दिखायी पडते है। अत उन्हे केंकर्याश्रित मधुरभावापन्न सत कहा जा सकता है।

इनमें अध्यात्मकी प्रवृत्ति बाल्यकालसे ही था। पुनर्जन्म न धारण करनेका सकल्प इन्होने बचपनमे ही ले रखा था।

> बाढी श्रद्धा हिये बालपन ते अतिभारी।
> यहि तन नाथा जक्त फिरौं नहीं अबकी पारी॥

ये पढे-लिखे व्यक्ति नहीं थे। किंतु इनकी बुद्धि बडी कुशाग्र थी। शिक्षासे वञ्चित रहनेका मलाल उनके हृदयमे अन्ततक बना रहा। वे स्वय कहते है—

> विद्या विधि नाहीं लिखी, भूलि भालहू माहिं।
> पढे कक्हरा बालपन, मात्रा सावित नाहिं॥

भगवत्कृपाके अनन्य पुजारी बनादासने देशाटन एव सत्सगसे सद्ग्रन्थोका साहचर्य प्राप्त कर लिया था।

इन्होने परमहस सियारामशरणजीसे भक्ति, ज्ञान योग आदिकी शिक्षा सत्सङ्गके माध्यमसे प्राप्त की थी। जीवनके अन्तिमाशमे ये अविचल भावसे अयोध्याके भवहरण-कुञ्जमे रहकर स्वानुभूतिसे ग्रन्थकी रचना करते रहे। इनके द्वारा विरचित पुस्तकोकी सख्या चौसठ बतायी जाती है।

उनमे 'विसमरनसम्हार' मुख्य ग्रन्थ है।

इस ग्रन्थकी रचनाका उद्देश्य स्वयं संत बनादासजी बताते हैं—

यह जग भूल सराय सनातन भूलि जात सब कोई।
बनादास भूलत नहिं सोई राम कृपा जब होई॥
यह विस्मरनसम्हार यही हित निज निज भूल सम्हारे।
संसारिन को भूल सिन्धु सम का कहि पावत पारे॥

तात्पर्य यह कि अपने लक्ष्य एवं स्वरूपसे विमुख सांसारिक प्रपञ्चोंमें आसक्त जीवोंको ईश्वरोन्मुख करना ही प्रस्तुत ग्रन्थका परम लक्ष्य है। ग्रन्थमें २७ विश्राम हैं। सबमें साधना-निरूपक तत्त्वोंका ही संनिवेश है। विसमरनसम्हार मात्र साधकों एवं साधुजनोंके लिये ही उपादेय नहीं है अपितु इसमें लोक-जीवनकी सामग्री भी उपलब्ध है। यों तो सम्पूर्ण ग्रन्थ ही सदुपदेश, सूक्तियों एवं मार्मिक नीतियोंकी मञ्जूषा है, परंतु यहाँपर प्रधानरूपसे वैराग्यनीति तथा अर्थनीतिके कुछ वचन दिये जाते हैं—

आज व्यक्ति धनके लिये इतना लालायित है कि उसने धर्मकी मर्यादा न्यायकी मर्यादा नीतिकी मर्यादाको ठुकरा दिया है। येन-केन-उपायसे वह धन-संग्रहमें लगा हुआ है और इसका परिणाम कितना दु:खदायी है, इसपर वह विचार ही नहीं कर रहा है। समाजमें फैला भ्रष्टाचार, दुराचार, अहिंसा आदि—ये सब अनैतिक स्वार्थ साधनके ही परिणाम हैं। आज तो सम्पूर्ण साधनाका सार पैसा बन बैठा है। परंतु अनुभवी संत श्रीबनादासजीने विविध नीतिपरक उक्तियोंके द्वारा लोगोंको सावधान किया है कि रूप और धन-सम्पत्तिकी लालसा चौरासीके चक्रमें डाल देती है। सम्भव है कि साधुओंका उन्होंने विशेषरूपसे ध्यान-पथमें रखा हो परंतु पैसेकी समस्या तो सार्वजनीन है और यह किसीको क्षमा नहीं करती। देशकालानुसार बनादासजीने सर्वहितकी नीति प्रदर्शित की है। पाश्चात्त्य संस्कृतिसे अभिभूत आजके लोगोंके लिये तो पैसा ही सर्वस्व है, परंतु साधु-संतोंका भी यही साध्य हो जाय तो यह घोर विडम्बना है।

पैसा पैसा मति करै, पैसा में बहु पाप।
जो पैसा संग्रह करै अन्त होय मरि साँप॥

इस कथनके माध्यमसे संतने कितनी कठोर चेतावनी दी है। संग्रही व्यक्तिका भविष्य कितना भयावह होनेवाला है अर्थात् उसका अगला जन्म दारुण सर्पयोनिमें सम्भाव्य है।

धन-प्राप्ति होते ही व्यक्तिके मनोराज्यमें अनेक कल्पनाएँ, अनेक कामनाएँ उठ खड़ी होती हैं। पैसा कपट-सृजनका मूल है—

पैसा आवत ही उठत मनोराज बिन कार।
पैसा कपट खड़ा करै सबस बड़तिवार॥

धनसे प्रतिष्ठा तो मिलती नहीं, किंतु वह भगवान्‌से विमुख भी कर देता है। पैसा भगवद्विमुख करनेवाले तत्त्वोंमें प्रमुख है—

चढ़ी सूरति रघुबर चरन पैसा आया पास।
खाचि लिया तहि पास ते तुरत दिया करि नास॥

कितना आकर्षण है पैसेमें कि प्रभुके चरणारविन्दमें लगे मनको बरबस खींच लेता है। क्षणमें सारी उपलब्धिका नाश कर देता है, वह भी मात्र पैसेके आने भरसे, कदाचित् पैसा आकर स्थिर हो जाय तो न जाने कौन-सी दुर्गति होगी।

पैसा किसी भी मानवके लिये दुर्भाग्य लेकर आता है। इसके आगमनमात्रसे सोयी हुई इन्द्रियाँ जाग जाती हैं सम्पूर्ण प्रपञ्चोंको आमन्त्रण मिल जाता है। धनागमसे चित्तमें चञ्चलता आ जाती है और यह धन बुद्धिका तो नाश ही कर डालता है।

पैसेके प्रति आसक्तिका फल इतना भयावह होता है कि इसके प्राप्त होते ही एक ही साथ जीवनमें सभी दुर्गुण आ धमकते हैं। व्यक्ति घोर अहंकारी हो जाता है एवं लोभी बन जाता है पैसेके कारण उसमें काम मद दम्भ—सब आ धमकते हैं। *'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई'* की वृत्ति साकार हो उठती है और सबसे दयनीय अवस्था तो यह है कि हृदयका सम्पूर्ण बोध समाप्त हो जाता है। संत बनादासजीका कहना है कि धनसे सतत सावधान रहो नहीं तो जीवन निरर्थक हो जायगा।

अहंकार पैसा बढ़ै, चढ़ै लोभ और क्रोध।
बढ़ै काम अरु दंभ मद कढ़ै सकल उर बोध॥

पैसेके लिये अनेक वेषधारण तथा अनेक प्रदर्शन करना पड़ता है। एक पैसा कितना सामर्थ्यवान् है कि *'धरौं न काहूँ धीर'* की दशा पैदा कर देता है।

कला अनेकन करत है पैसा कारण भेप।
पैसा से निसि दिन बँधे, पैसा होयगा मेप॥

पैसा सम्बन्धित [illegible] उपरान्त [illegible] साधुओंको भी [illegible] है [illegible]। [illegible] सम्पत्ति [illegible] हैं कि [illegible] है और [illegible] पैसा [illegible] है। [illegible] कैसा [illegible] है। [illegible] है कि [illegible] साधु [illegible] भी [illegible] दिया है।

पैसा बिन [illegible] होय।
पैसा बिन [illegible] पैसा [illegible] खोय॥

पैसा खाय [illegible] भाव राग।
पैसा हित गुरु [illegible] कपट पैसा राम वियोग॥

विषय परिच्छिन्नताके उपरान्त [illegible] नीतिका कथन किया है—

ज्ञान विराग धारि उर अन्तर अतिहि करत उजास।
दास धना यक राम नाम है भवसागर का [illegible]॥

यह [illegible] लौकिक एवं पारलौकिक दोनोंके लिये [illegible] धन्य हैं [illegible] नीति [illegible] देकर पुनः अनुराग दान देते हैं।

~~~

एक अप्रचारित नीतिग्रन्थ 'खूब तमाशा'

(पं० [illegible])

[illegible] राजपुर [illegible] एक [illegible] था। [illegible] एवं [illegible] थे। संवत् १७४७ वि० (१६९० ई०)-में उन्होंने अपने [illegible] मिश्र (दुगान्वाला)-को [illegible] हुए कहा—

गोपाल सुकवि [illegible] एक।
सत चौपाला [illegible] करि खूब तमाशा टेक॥
साँची सब बातें कही झूठी एक न होय।
राजनीति चाणक कथी, धार्मी यह मन सोय॥

उनके उक्त निर्देशका पालन करते हुए प० गोपालदास मिश्र दोहा, छप्पय, कवित्त, सवैया, चौपाला आदि रचित छन्दोंमें 'खूब तमाशा' नामवाले एक ग्रन्थकी रचना की—

तब गोपाल विचारि ग्रन्थ वर्णन कीन्हों।
राजनीति मत धर्म कर्म निर्णय कर दीन्हों॥

'खूब तमाशा' ग्रन्थमें नीतिशतक, मन्त्रशतक (मन्त्री), शिक्षाशतक, राज्यशतक, कलिशतक आदि तेरह शतकोंमें नीति-सम्बन्धी विषयवस्तुका अत्यन्त मनोहारी एवं लालित्यपूर्ण वर्णन किया गया है।

'खूब तमाशा' में वर्णित नीतिवचनामृतके रसास्वादनके लिये यहाँ सभी तेरह शतकोंसे एक-एक छन्द उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत किया गया है—

(१) नीतिशतक

प्यार यार पर कोप शत्रु पर न्याव ताकर पर जूती।
शील शूर पर दया दीन पर गुनहगार पर कुर्ती॥
प्रीति राम पर नीति खलक पर नात पैज पै रक्खा।
एता साहब होय भूप तो खूब तमाशा चक्खा॥

(२) मन्त्रशतक

मन्त्री सरस राम के कहिये महामन्त्र जिन कीन्हे।
बाँध सिन्धु सहित नल उपले रह पग पग लीन्हे॥
लंक पंक करि दनुज दाह दरि कर कीरति अनलखा।
श्री रघुनाथ साथ कर मन्त्रिन खूब तमाशा देखा॥

(३) शिक्षाशतक

रहै नकनामी बदनामी में रहै न काया माया।
रहै न एक समान आन कछु ज्यों तरवर की छाया॥
कते गये जात अरु जहँ राजा रक सिपाही।
दिना चार का खूब तमाशा ले खूबी का लाही॥

(४) राज्यशतक

धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र क्षेत्रपति क्षिति मंडल अघहारी।
रामक्षेत्र भृगुक्षेत्र बखान आदि कूर्म अवतारी॥
क्षेत्र वराह क्षेत्र पुरुषोतम पूरण पुण्य विलासा।
सकल क्षेत्र जिन कमलतीर है जिनके खूब तमाशा॥

(५) कलिशतक

सेवक हरू होत बहुतर साहिब हरू न चहिये।
जो साहिब गरुवा है सब ते हरू गरू निरवहिये॥
~~~

राजा सकल विश्व क ईश्वर सवक करै दिलासा।
राखै खलक खुशहाल धना ता देखे खूब तमाशा॥

(६) पुण्यखण्ड

पुण्य जाहि जा हात दाहिन ताहि न तक्कै काई।
तीन लोक पर अमर चलाव जा चाह सा होई॥
दिन दिन चढै घट नहि कवहूँ जा दिन मे काई रक्खै।
खूबी करै खलक म अच्छा खूब तमाशा लक्खै॥

(७) कर्मखण्ड

करम करै सा करै न काई कर्म वुद्धि अनुसारै।
पलट नहीं कर्म की रेखा को‌ कर्म को टारै॥
कर्म घटाव कुमति लगाव करम बढावै छाजा।
करै करावै करम भाग सव कहा रक का राजा॥

(८) वीरखण्ड

महावीर बाराधिवीर ज महिमडल क भोगी।
कोप उग्र तपसा बल तपते जालिम जस्ती जागी॥
करि रन जग जोर रणि ता वल कीरति करत प्रकाशा।
मडल मारतड क बेधत ऐसा खूब तमाशा॥

(९) कीर्तिखण्ड

कीरति अजर अमर नारायण लाक लाक प्रति राजै।
बरनै कवि गापाल ज्योतिवन्त अमल अमल छवि छाजै॥
जस मय जगत विलास हत रच आप निरतर आशा।
सकल अश परिपूरन भीतर जग ही खूब तमाशा॥

(१०) विभेदशतक

जुगल किशोर विनाद सरस रस बरनत विविध विहारै।
पूरण प्रेम प्रीति प्रतिवासर रचै सखा सुकुमारै॥
मान विरह सजाग सुरति ते सुदर सदा विलासा।
बारह मास छरित नव कुजनि उपजत खूब तमाशा॥

(११) योगभक्तिशतक

जोगी होय जाग कहुँ साधै घट म पवन विलावै।
जुग जुग जागे ताली लागै जोग अखडित जावै॥
जाप जपै अमृत रस चाखै नाद विन्दु धर पेखै।
ब्रह्मशक्ति उर धरै दिया सो खूब तमाशा देखै॥

(१२) शृङ्गारशतक

बैठि अटा पर खालि छटा लट लाल लखे छवि बाल वधू की।
मजन त तन ज्योति जगी उपमा सिगरी बरनी रतिजू की॥
बार किधा मखतूल की तार सिवार मिली जमुना जलऊ की।
मानो सुमिर के अगन मध्य त कलि चली निशि श्याम कुहू की॥

(१३) रामायणशतक

काल स्वरूप नृपान भय कलि लाभ बड़ गजराज चढ़ है।
पातक छत्र धर सिर ऊपर कूर कुसगति सैन बढ़े है॥
बाजत दीह निशान सुकीरति ठीक सबै ठग पाठ पढ़े है।
क्या तरिहै भवसागर को कबहूँ मुख रामकथा न कहे है॥

आचार्य श्रीनारायण काकरके नीति-वचन

(श्रीगोपीनाथजी पारीक गापश)

वद-पुराण एव अन्य शास्त्राम नीतिपर बहुत विवचना की गयी ह। विदुरनीति शुक्रनीति चाणक्यनीति आदि बहुतस ग्रन्थान हम बहुत कुछ सिखाया ह। इसी शृखलाम आचार्य श्रीनारायणजी शास्त्री'काकर'न 'अभिनय-सस्कृत सुभाषित सप्तशती' नामक एक नीतिपरक ग्रन्थकी रचना की ह। जिसम विविध क्षत्राकी नीतियाका वणन किया गया है।

आप कहत हैं कि सजात नतिक ह्रास स्वर्गोऽपि नरकायत अथात् नैतिकताम कमी आनस स्वग भी नरकतुल्य हो जाता है। धम नीति और चरित्रम जब जहाँ-जहाँ कहीं निष्ठाकी कमी होती ह त वहाँ अकाल कलह और मृत्यु निश्चितरूपम जन्म लत हैं—

धर्मे नीतौ चरित्रे च निष्ठा चेद्ध्रसते क्वचित्।
दुर्भिक्ष कलहो मृत्युस्तर्हि तत्र भवद् ध्रुवम्॥
(अ०सु०स० ५५९)

अमृत बरसानवाली वाणी स्नहपूर्ण दृष्टि और शिष्ट मधुर हास्यको सदा धारण करनवाल व्यक्ति जगत्म विरल ही मिलत हैं—

पीयूषवर्षिणी वाणी दृष्टिस्नेहपरिप्लुता।
हास्यं च मधुर शिष्ट प्राप्य क्वाप्यव कष्टत॥
(अ०सु०स० ३०३)

आज पर्यावरणकी शुद्धताक लिय एव मानव-

जीवनमें वृक्षाकी महती उपयोगिताको समझत हुए वृक्षारोपणपर विशेष बल दिया जा रहा है। यह बहुत अच्छी बात है, परतु अच्छी देखभालके अभावम शीघ्र ही ये नष्ट हो जाते हैं। इसलिये इनकी सुरक्षा आवश्यक है। तात्पर्य यह हे कि किसी भी वस्तुके निर्माणके साथ उसकी सुरक्षा करना अधिक आवश्यक हे। यह बात कविराजजीने सरक्षककी सदा पूजा-अर्चनाके माध्यमसे कही है—

उत्पादने न काठिन्य यथास्ति रक्षणे भनु।
विधातार विहायातो विष्णुमर्चन्ति मानवा ॥

अर्थात् किसी चीजको पेदा करनेम उतनी कठिनाई नहीं हाती, जितनी उसकी रक्षा करनेम हाती है। इसीलिय लोग उत्पादक विधाताकी अपेक्षा सरक्षक विष्णुकी अर्चना अधिक किया करते हैं।

जीवनम विघातकारी कर्म जा आचार्य महोदयन गिनाये हें, उनपर सदा ध्यान देनेकी आवश्यकता है। वे कर्म ये हे—आपसम विश्वास नहीं करना, द्वेष रखना, दाष दखना, स्वार्थ साधनम आग रहना ओर परार्थका विनाश करना—

परस्परमविश्वासो विद्वेषो दोषदर्शनम्।
स्वार्थ परार्थनाशश्च सर्वमेतद् विघातकम्॥
(अ०स०सु०स० २९१)

'य क्रियावान् स पण्डित' क अनुसार केवल पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त करनेवालेको ही शिक्षित नहीं कहा जाता। वस्तुत शिक्षित वह है जा उस शिक्षाको जीवनम उतारे। दयावान्, उदार दानशील और परदु खम कातर बन जानेवालेको ही नीतिकारने शिक्षित कहा है—

या दयी दक्षिणी दानी परदु खेपु कातर ।
स एव शिक्षितो बाध्य तदन्यस्तु न शिक्षित ॥
(अ०स०सु०स० ४५१)

'निन्दक नियरे राखिये' इस उक्तिको श्रीकाकर महादय इस प्रकार व्यक्त करते ह—

दायवक्ता सदा पूज्यो हितकृद् वैद्यवद् मुदा।
दोपान् स हानिदान् मार्ष्टुं यतो वक्ति पुन पुन ॥
(अ०स०सु०स० २४७)

अर्थात् दोप बतानेवाले व्यक्तिकी पूजा हितकारक वैद्यकी तरह सदा प्रसन्नतापूर्वक करनी चाहिये क्याकि वह हानिकारक दोषाको दूर करनेके लिय बार-बार कहता रहता हे।

राजनीतिकी रीढ नतिकता ह। राजनेताके लिये जितेन्द्रिय आर धार्मिक हाना आवश्यक ह। इस बातको बताते हुए वे कहत ह—

जितन्द्रिय सदाचारी धर्मज्ञो नयविन्नृप ।
प्रशास्ति सकल राष्ट्र शान्तशत्रु समृद्धिमान्॥

अर्थात् जितेन्द्रिय सदाचारी धर्मका ज्ञाता तथा नीतिका ज्ञाता राजा सम्पूर्ण राष्ट्रपर प्रशासन करता ह। उसके शत्रु शान्त हा जाते ह आर वह समृद्धिशाली बना रहता ह।

आज राजनीतिम नतिकताका अभाव ह। सवत्र लोभ एव स्वाथ व्याप्त हे। राजनीतिक इस स्वरूपको भारतीय परम्पराकी राजनीति नहीं कह सकते ह।

मनुष्य-जन्मको दुर्लभ कहा गया ह। यह बड पुण्यसे प्राप्त होता है—'महापुण्यैरवाप्यते।' अत इस लाकहितके कार्योंम ही लगाना चाहिये—'लाकहित सदा कृत्वा प्रशस्या बुद्धिमान् भवेत्।' कई अच्छे कार्योंम यदि सफलता नहीं मिलती ह ता निराश होनकी आवश्यकता नहीं ह। पुन -पुन यत्न करना चाहिये, सफलता अवश्य मिलेगी। क्याकि—

साफल्य चेत् सकृन्नाप्त पुनर्यत्नो विधीयताम्।
पुनर्घृष्टचन्दन कि न दत्ते सोरभ मधु॥
(अ०स०सु०स० ५९७)

अर्थात् यदि किसी किये जानेवाले कार्यमे एक बार सफलता नहीं मिलती ह तो फिर दुबारा सफलता प्राप्त करनेके लिये यत्न करो। क्या बार-बार घिसा हुआ चन्दन मीठी सुगन्ध नहीं देता?

जबतक मनुष्य अपन स्वरूपको नही जानता हे, तबतक उसे दु ख प्राप्त होता रहता है कितु स्वरूपका ज्ञान हो जानेपर वह स्वय सुखरूप हो जाता है। क्योंकि कहा गया हे—

वेत्ति यावत् स्वरूप न तावद् व्यक्तिर्विषीदति।
स्वरूप हनुमान् स्मृत्वा ललङ्घेऽब्धि सुदुस्तरम्॥
(अ०स०सु०स० ८१८)

अर्थात् व्यक्ति जबतक अपने रूप—बलको नहीं पहचानता है तबतक ही वह दु ख पाता है। स्वरूपका स्मरण करके तो हनुमान्जी दुस्तर सागरको लाँघ गये थे।

विविध नीतियोका आधार—गोमाता

(श्रीसुधाकरजी ठाकुर)

नीतिका साक्षात् सम्बन्ध धर्मसे है। भगवन्नीतिके पथपर चलते हुए 'सर्वभूतहिते रता'—इस भगवद्वाणीका अनुपालन तभी होगा, जब हम गौका महत्त्व समझे। गौकी प्रतिष्ठासे ही धर्मनीतिकी प्रतिष्ठा सुनिश्चित हो सकती है। धर्मशास्त्र एवं नीतिशास्त्रमें गौकी महिमा विशेषरूपसे वर्णित है। प्राचीन भारतीय शिक्षा-विधानके लुप्त होने तथा शास्त्र-पुराणोंकी अनभिज्ञताके कारण गौके प्रति धार्मिक बुद्धिका लोप हुआ है। गोधनका धार्मिक महत्त्व भाव-जगत्से सम्बन्ध रखता है, श्रद्धा-विश्वाससे परिपुष्ट होता है और ऋतम्भरा-प्रज्ञाद्वारा अनुभवगम्य है। हमारे शास्त्र इसके प्रमाण हैं—

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः ।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट॥
(ऋग्वेद ८। १०१। १५)

गौ शत्रुओंको रुलानेवाले वीर मरुतोंकी माता, वसुओंकी कन्या, अदितिके पुत्रोंकी बहिन और अमृतका तो मानो केन्द्र ही है। इसलिये मैं विवेकी मनुष्योंसे घोषणापूर्वक कहता हूँ कि निरपराध तथा अवध्य गौका वध न करो।

गाय धर्म एवं संस्कृतिकी प्रतीक है। वेदोंने उसे श्रद्धा-भक्तिसे नमन किया है—

रूपायाघ्न्ये ते नमः। (अथर्ववेद १०। १०। १)

हे अवध्य गौ! तेरे स्वरूपको प्रणाम है। जिस स्थलपर गौ सुखपूर्वक निवास करती है, वहाँकी रज पवित्र हो जाती है। वह स्थान तीर्थ बन जाता है। जन्मसे मृत्युतक सभी संस्कारोंमें 'पञ्चगव्य' तथा 'पञ्चामृत'की आवश्यकता पड़ती है। गोदानके बिना धार्मिक कृत्य सम्पन्न न करनेकी सुदीर्घ परम्परा है। व्रत, जप तथा उपवासमें गोप्रदत्त पदार्थ परम पवित्र होते हैं। गौके दर्शन, पूजन और सेवाको हम पुण्य मानते रहे हैं। गोमूत्र गङ्गा-जलके समान पवित्र है और गोबरमें साक्षात् लक्ष्मीका निवास है। हमारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग मांस-मज्जा, चर्म और अस्थिमें स्थित पापोंका विनाश 'पञ्चगव्य' के पानसे होता है।

गाय सर्वदेवमयी है—

सर्वे देवाः स्थिता देहे सर्वदेवमयी हि गौः ।

महाभारतके अनुसार प्रजापतिने श्रीमहादेवजीको अनेक गाय और एक वृषभ दिया। उन्होंने प्रसन्न होकर वृषभको अपना वाहन बनाया। अपनी ध्वजाको उसी वृषभके चिह्नसे सुशोभित किया, इसीसे इनका नाम 'वृषभध्वज' पड़ा। देवताओंने महादेवजीको जीवोंका स्वामी बना दिया और गौओंके बीचमें उनका नाम 'वृषभाङ्क' रखा गया।

भारतीय संस्कृति यज्ञ-प्रधान है। वेद, रामायण, महाभारत सभीमें यज्ञका विधान है। यज्ञका आधार मन्त्र एवं हवि है। हवि गायके शरीरमें तथा मन्त्र ब्राह्मणके मुखमें निवास करते हैं। हविके अभावमें यज्ञकी कल्पना भी सम्भव नहीं। इसीलिये गाय भारतीय धर्म एवं संस्कृतिकी मूलाधार है। धर्म-संस्थापनके निमित्त गौओं एवं ब्राह्मणोंकी रक्षाको प्राथमिकता दी गयी है और इनकी प्रतिष्ठाके लिये भगवान् पृथ्वीपर अवतार लेते हैं—

बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।

भगवान् श्रीरामके पूर्वज राजा दिलीपने गौकी रक्षाके लिये अपना शरीर ही सिंहको अर्पित करते हुए कहा—'मेरे देखते-देखते यदि नन्दिनी गौकी हत्या हुई तो सूर्यवंशकी कीर्तिमें कलंककी कालिमा लग जायगी।'

भगवान् श्रीकृष्ण तो गो-चारण और गो-पालनके आदर्श ही हैं। दूध, दही, मक्खन—ये उन्हें परम प्रिय हैं—

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुनि चलत रेनु-तन-मंडित, मुख दधि लेप किए॥

नीलमणि श्यामसुन्दरके हाथमें नवनीत है। उनके अरुण अधर धवल दधिसे ओतप्रोत हैं। वे चुपचाप धीरसे घरसे बाहर निकलकर ग्वालोंसे गाय दुहना सिखानेका हठ कर बैठते हैं—

धेनु दुहत हरि देखत ग्वालनि।
आपनु बैठि गए तिन कैं संग, सिखवहु मोहि कहत गोपालनि॥

× × ×

वड़ौ भयौ अब दुहत रहौंगो, अपनी धेनु निबेरि।
सूरदास प्रभु कहत सौंह दै, मोहिं लीजो तुम टेरि॥

बालक कृष्ण अतिशय मनोयोगसे गायाका दुहा जाना देखत हें तथा माताका आँचल पकडकर प्रार्थना करत हैं—

दै री मैया दोहनी, दुहिहौं मैं गैया।
माखन खाए बल भयौ, करो नद-दुहैया॥
कजरी धौरी सैंदुरी, धूमरि मेरी गैया।
दुहि ल्याऊँ मैं तुरत हीं, तू करि दै घेया॥
ग्वालिनि की सटि दुहत हौं, बूझहिं बल भैया।
सूर निरखि जननी हँसी, तब लेति वलैया॥

गामाता मातृशक्तिकी साक्षात् प्रतिमा हैं। जिस दिन गौएँ विश्वम नहीं रहगी, उस दिन विश्व मातृशक्तिसे वियुक्त हो जायगा और उस दशाम कोई भी प्राणी नही वचगा।

तपोवन-सस्कृतिके जीवन्त-स्वरूप महर्पि श्रीवसिष्ठजी-को गामाताम अनन्य भक्ति थी। वाल्मीकीय रामायणके अनुसार श्रीवसिष्ठजीने शवला (कामधेनु) गौके प्रभावसे विश्वामित्रका सेनासहित विशिष्ट आतिथ्य किया था। वे अपनी धर्मपत्नी अरुन्धतीके साथ नित्य गौकी पूजा करते थे। महर्पि वसिष्ठजी गो-तत्त्ववेत्ताओके आचार्य थे।

भगवान् वेदव्यासने अपने समग्र साहित्यम गो-सेवाको प्रमुख स्थान दिया हे। स्कन्दपुराण, भविष्यपुराण, पद्मपुराण, अग्निपुराण तथा महाभारतके अधिकाश भाग गो-महिमासे भरे पडे हें। धर्मको वृपभ (बैल)-रूप माना गया है—'वृषा हि भगवान् धर्म '।

गाएँ समस्त प्राणियाको खिलान-पिलानेवाली एव प्राणदायिनी हैं। भगवान् आदि शकराचार्यजीने अपन सभी ग्रन्थाम गो-महिमाका गान किया है। उन्हाने व्रह्मापलब्धिम गो-सवाको सर्वोपरि साधन माना ह—

गाव पवित्र परम गावो माङ्गल्यमुत्तमम्।
गाव स्वर्गस्य सोपान गावा धन्या सनातना॥

पुराणाकी 'गोमती-विद्या' आर 'गो-सावित्री-स्तोत्र'के अनुसार गायासे सात्त्विक वातावरणका निमाण हाता ह। गाय अत्यन्त पवित्र ह, जहाँ गाय रहती ह वहाँ दूपित तत्त्व नहा रहते। उनके शरीरसे दिव्य गन्धयुक्त वायु प्रवाहित होती रहती हे। गायास कल्याण-ही-कल्याण होता हे।

महर्पि च्यवनकी गो-निष्ठा प्रसिद्ध ह। महर्पि च्यवनने राजा नहुपको उपदेश देते हुए कहा था—

गावो लक्ष्म्या सदा मूल गोपु पाप्मा न विद्यत।
अन्नमेव सदा गावा देवाना परम हवि॥
गाव स्वर्गस्य सापान गाव स्वर्गेऽपि पूजिता।
गाव कामदुहो देव्यो नान्यत् किञ्चित् पर स्मतम्॥

जावालपुत्र सत्यकामको गो-सेवासे व्रह्मज्ञान प्राप्त हुआ था। सत नामदवजीकी गो-भक्ति विश्रुत ही ह। एक बार मुगल बादशाहन दिल्लीम गायका कटवाकर उस पुन जीवित करनेके लिय नामदेवजीकी परीक्षा ली थी। सत नामदवजीकी पुकारपर भगवान् विट्ठलन मृत गायको जीवित कर दिया। जावित होकर गा नामदवजीको चाटन लगी। यह घटना 'गुरु ग्रन्थसाहिब' म वर्णित ह। सत नामदेवजीने अपने हाथासे विट्ठल भगवान्‌का अपनी पापित गायका दूध पिलाया था। नामदेवजीन कहा था—हरिको पानेकी मरी व्याकुलता वेसी ही ह जसी वछडेकी व्याकुलता गायसे बिछुडकर हाती है। विट्ठलकी भक्तिक साथ गो-सेवाका सदेश नामदेवजीने प्रदान किया था। उनके भक्तिमय जीवन-पथम गाका विशिष्ट स्थान था।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजाने अपने सम्पूर्ण साहित्यम गाकी निरन्तर चर्चा की ह। वे काशाको गाका रूप मानत हुए पद-रचना करत ह—लिखते ह—

सेइअ सहित सनेह देह भरि कामधनु कलि कासी।
समनि सोक-सताप-पाप-रुज सकल-सुमगल-रासी॥
(विनय-पत्रिका २२)

इस प्रकार सात्त्विक श्रद्धाकी प्रताक गामाताक आध्यात्मिक स्वरूपसे दिव्य ज्ञान आर उसका चयास व्यावहारिक जीवनका ज्ञान प्राप्त हाता ह।

आख्यान—

गो-सेवाकी आदर्श-नीतिके पालक महाराज विक्रमादित्य

परदु खकातर, परमादार शकारि विक्रमादित्य प्रजाक कष्टका पता लगानेके लिय प्राय घूमत ही रहत थे। इसी प्रकार अकले घोडेपर वैठे वे एक बार जा रह थे। मार्ग वनमसे जाता था। सध्या हो चुकी थी। शीघ्र वनसे निकल जानेके विचारसे उन्हाने घाडेका एड लगायी। इतनेम एक गायके डकरानेकी ध्वनि सुनायी पडी। सम्राट्ने घोडेको शब्दकी दिशाकी आर मोडा।

वर्षा ऋतु थी। नदीम वाढ आयी तो नालाम भी जल चढ आया। वाढ उतर चुकी थी, किंतु नालाम एकत्र पकने दलदल बना दिया था। एस ही एक नालेक दलदलम एक गाय फँस गयी थी। उसकी चारा टाँग पेटतक कीचडम डूब चुकी थीं। हिलनम भी असमर्थ होकर वह डकरा रही थी।

महाराज विक्रमादित्यने घोडेको खुला ही छोड दिया, वस्त्र उतार दिया। दलदलम उतरकर गायका निकालनेका प्रयत्न करने लग। स्वय कीचडम लथपथ हो गये। किंतु अकले गायको निकाल लना सम्भव नहीं था। अन्धकारने इस कार्यका और भी कठिन कर दिया।

गायकी डकार सुनकर एक सिंह उस खाने आ पहुँचा। घोडा खुला था, अत सिंहकी गन्ध मिलते ही भाग गया। अव विक्रमादित्यने तलवार उठायी। गायकी सुवहतक रक्षा करना आवश्यक था। उस अन्धकारम सिंहसे युद्ध करना भी कठिन था। सिंह आक्रमण कर रहा था ओर वे उसे रोक रह थे।

समीप ही एक वडा वटका वृक्ष था। उसपरसे एक शुकका शब्द सुनायी पडा—'राजन्। गायकी तो मृत्यु आ गयी है। वह अभी नहीं मरेगी तो कलतक दलदलमे डूबकर मर जायगी। आप उसके लिय व्यर्थ क्या प्राण दे रहे हैं? अभी यह सिंह अकेला है। थोडी दरम सिंहनी तथा दूसरे वनपशु आ सकत हैं। अत आप यहाँसे शीघ्र कहीं सुरक्षित स्थानपर चले जाइय। इस वटवृक्षपर चढ जानेसे भी आप सुरक्षित हो सकत हैं।'

महाराजने कहा—'शुक। मेरे प्रति तुम्हारी जो कृपा हे उसके लिय आभार, किंतु मुझ तुम अनीतिका मार्ग मत दिखलाओ।' अपन प्राणाकी रक्षाका प्रयत्न ता कीट-पतग भी करते ह। दूसराकी रक्षाम जा प्राण द सक उसीका जीवन धन्य ह। जिसम दया नहीं ह, उसक सब पुण्य कर्म व्यर्थ ह। मेरे प्रयत्नका कुछ लाभ होगा या नहीं, यह देखना मेरा काम नहीं ह। मुझे ता अपनी शक्तिके अनुसार प्रयत्न करते ही रहना चाहिय। नीति वताती है कि इस गोकी रक्षा करना मेरा कर्तव्य ह। मैं प्राण देकर भी इस वचानका प्रयत्न करूँगा।

पूरी रात सम्राट् विक्रमादित्य गायकी रक्षाम लगे रहे, किंतु सूर्योदयस पूर्व ही जव झुटपुटा हुआ, उनके सामने सिंह दवराज इन्द्रके रूपम खडा हो गया। शुक वनकर वोलनेवाल धर्म भी अपने रूपम आ गये आर साक्षात् भूदवी जा गाय वनकर राजाकी परीक्षा लेनेम सम्मिलित थीं, उन्हान भी अपन दिव्य रूपक दर्शन दे दिये।

अहिंसा-नीतिके आदर्श—महर्षि वसिष्ठ

कुशिक-वशम उत्पन्न राजा विश्वामित्र सेनाके साथ आखट करन निकले थे। वे अपने राज्यसे दूर महर्षि वसिष्ठक आश्रमक समीप पहुँच गये। वसिष्ठजीन एक ब्रह्मचारीद्वारा समाचार भेजा—'आप आश्रमके समीप आ गये हैं, अत मरा आतिथ्य स्वीकार कर।'

अरण्यवासी तपस्वीके लिये राजा असुविधा न उत्पन्न करे, यह नियम हे। परतु विश्वामित्रने महर्षि वसिष्ठकी प्रशसा सुनी थी। उनक तप प्रभावपर विश्वास था। अत आतिथ्यका आमन्त्रण स्वीकार कर लिया। उन्ह आश्चर्य तब हुआ जब सेनाके साथ उनको राजाचित सामग्री प्रचुर मात्राम भोजनके लिये दी गयी आर वह भी तपाबल नहीं, वसिष्ठकी हामधेनु नन्दिनीक प्रभावसे।

'आप यह गौ मुझे द द। वदलेमे जो चाह मुझस माँग ल।' विश्वामित्र उस गाके लिये लालायित हो गये थे। चलते समय उन्हान अपनी इच्छा प्रकट की।

'ब्राह्मण गो-विक्रय नहीं करता। मै इस गोको नहीं द सकता।' ऋषिने अस्वीकार कर दिया। उग्र स्वभावापन राजा विश्वामित्र उत्तजित हो गये। उन्हाने बलपूर्वक गोको ल चलनकी आज्ञा सैनिकाको दी। किंतु होमधनु नन्दिनी साधारण गौ तो थी नहीं। उसकी हुकारमात्रसे तत्काल शत-शत योद्धा उत्पन्न हुए। उन्हाने विश्वामित्रक सनिकोको मार भगाया।

राजा विश्वामित्रन वसिष्ठपर आक्रमण कर दिया। कुशका ब्रह्मदण्ड हाथम लिय महर्षि वसिष्ठ स्थिर, शान्त बेठे रहे। विश्वामित्रके साधारण तथा दिव्य अस्त्र सब उस ब्रह्मदण्डसे टकराकर विनष्ट हो गये। दु सह तप करनके बाद विश्वामित्रने वे दिव्यास्त्र पाये थे, किंतु महर्षि वसिष्ठक ब्रह्मदण्डद्वारा व सभी नष्ट हो गये।

'ब्रह्मबल ही श्रेष्ठ है। क्षत्रियकी शक्ति तपस्वी ब्राह्मणका कुछ नहीं बिगाड सकती। अत म इसी जन्मम ब्राह्मणत्व प्राप्त करूँगा।' विश्वामित्रने यह निश्चय किया आर व अत्यन्त कठार तपम लग गये।

सैकडा वर्षक कठिन तपके पश्चात् प्रसन्न होकर ब्रह्माजी प्रकट हा गये। उन्होने यह वरदान दिया—'वसिष्ठक स्वीकार करते ही तुम ब्रह्मर्षि हो जाओगे।' विश्वामित्रक लिये महर्षि वसिष्ठस प्रार्थना करना बहुत अपमानजनक था। सयोगवश जब वसिष्ठजी मिलते थे ता इन्ह 'राजर्षि' कहत थ। अत राजा विश्वामित्र वसिष्ठके घार शत्रु हा गय। एक राक्षसको प्रेरित करके उन्हान वसिष्ठक सौ पुत्र मरवा दिय। स्वय वसिष्ठका अपमानित करने नीचा दिखानेका अवसर ढूँढत रहन लगे। उनका हृदय वेर तथा हिसाका प्रबल भावनास पूर्ण था।

विश्वामित्रने अपना आरसे कुछ उठा नहीं रखा। बडा दृढ निश्चय प्रबल सकल्प था उनका। दूसरी सृष्टि तक करनम लग गये। अनक प्राणी तथा अन्नादि बना डाले। ब्रह्माजीने ही उन्ह राका। अन्तम स्वय शस्त्र-सज्ज हाकर रात्रिम छिपकर महर्षि वसिष्ठको मारने निकले। दिनम प्रत्यक्ष आक्रमण करके तो अनक बार पराजित हा चुक ही थे।

चाँदनी रात्रि थी। कुटियाक बाहर वदीपर एकान्तम पत्नीके साथ महर्षि बैठे थे। अरुन्धतीजान कहा—'कसी निर्मल ज्यात्स्ना ह?'

वसिष्ठजा बोले—'एसा ही निर्मल तज आजकल विश्वामित्रक तपका ह।' वसिष्ठका निर्मल मन अहिसा तथा क्षमासे परिपूर्ण था।

विश्वामित्र छिप खड थे। उन्हाने सुना और उनका ही हदय उन्हे धिक्कार उठा—'एकान्तम पत्नीके साथ बेठा जा अपने सा पुत्राक हत्यारेकी प्रशसा करता है उस महापुरुषको मारने आया ह तू?' शस्त्र नाच फक विश्वामित्रने। दोडकर महर्षिके चरणाम गिर पड।

'अहिंसाप्रतिष्ठाया तत्सन्निधौ वैरत्याग ।'

विश्वामित्रक ब्राह्मण हानेम उनका दर्प, उनका द्वेप, उनकी असहिष्णुता ही तो बाधक थी। वह आज दूर हुई। महर्पि वसिष्ठने उनको झुककर उठाते हुए कहा—'उठिये ब्रह्मर्पि।'

अहिसा-नीति तथा मत्राधर्मक प्रतिष्ठाता महर्पि वसिष्ठजाकी महिमाकी कोई इयत्ता नहीं। वराग्य—शम, दम तितिक्षा, अपरिग्रह, शाच, तप, स्वाध्याय, सताप आर क्षमाकी प्रतिमूर्ति महर्पि वसिष्ठ वदिक मन्त्रद्रष्टा ऋपि हैं। सप्तर्पियाम इनका परिगणन है। इनके उदात्त मङ्गलमय चरित्रका वद-पुराणाम विस्तारसे वर्णन ह। य सूर्यवशी राजाआक कुलगुरु रह ह। वास्तवम सूर्यवशीय रघु, दिलीप, श्रीराम आदि राजाआकी जो प्रतिष्ठा हुई, उसम महर्पि वसिष्ठकी धर्ममय नीति ही मूल कारण रही ह। य महान् परापकारा थे। प्राणिमात्रक हित-चिन्तनको इन्हान अपना उद्देश्य बना रखा था। यूँ तो महर्पिकी जीवनचर्या ही धर्मनीतिका आदर्श रही है तथापि इन्हान मनुष्याका अपन आचारधर्मका परिपालन करनेक लिये उत्तम सीख दी ह, उसक लिय वसिष्ठधर्मशास्त्र नामक एक ग्रन्थ हा बना डाला। वे धर्मनीतिका पालन करनेके लिय विशप रूपस प्रेरित करते हुए कहत ह—

> धर्मं चरत माऽधर्म सत्य वदत नानृतम्।
> दीर्घं पश्यत मा ह्रस्व पर पश्यत माऽपरम्॥
> (वसिष्ठस्मृति ३०।१)

भाव यह ह कि धर्मका ही आचरण करा अधमका नहीं। सदा सत्य ही बोलो, असत्य कभी मत बाला। दूरदर्शी बना, उदार बनो, सकीर्ण मत बना जा पर—परात्पर (दीर्घ) तत्त्व ह, उसीपर सदा दृष्टि रखा। तदतिरिक्त अर्थात् परमात्मासे भिन्न मायामय किसी भी वस्तुपर दृष्टि मत रखा।

अस्तेय-नीतिके आदर्श उदाहरण—ऋषि शङ्ख और लिखित

ऋपि शङ्ख और लिखित दाना सग भाई थ। दाना धर्मशास्त्रक परम मर्मज्ञ थे। दानाकी स्मृतियाँ अब भी उपलब्ध हैं। विद्याध्ययन समाप्त करक दानाने विवाह किया आर अपन-अपन आश्रम पृथक्-पृथक् बनाकर रहन लग।

एक बार ऋपि लिखित अपने बड भाइ शङ्खक आश्रमपर उनस मिलन गय। आश्रमपर उस समय न शङ्ख थ आर न उनकी पत्नी ही। लिखितका भूख लगी थी। उन्हाने बड भाइक उपवनस एक फल ताडा आर खान लग। व फल पूरा खा भी नहीं सक थ, इतनम शङ्ख आ गय। लिखितने उनका प्रणाम किया।

ऋपि शङ्खने छाट भाइको सत्कारपूर्वक समीप बुलाया। उनका कुशल-समाचार पूछा। इसक पश्चात् बाल—'भाइ तुम यहाँ आय आर मरी अनुपस्थितिम इस उपवनका अपना मानकर तुमने यहाँसे फल ल लिया इससे मुझ प्रसन्नता हुई ह किंतु हम ब्राह्मणाका सवस्व धर्म ही ह तुम धर्मका तत्त्व जानत हा। यदि किसाकी वस्तु उसकी अनुपस्थितिम उसकी अनुमतिक बिना ल ला

जाय तो इस कर्मकी क्या सज्ञा होगी?'

'चोरी!' लिखितने विना हिचकके उत्तर दिया। 'मुझसे प्रमादवश यह अपकर्म हो गया ह। अब क्या करना उचित हे?'

'राजासे इसका दण्ड ल आओ। इससे इस दोपका निवारण हा जायगा।' शङ्खने कहा।

ऋपि लिखित राजधानी गय। राजाने उनको प्रणाम करके अर्घ्य दना चाहा ता ऋपिने उन्ह रोकते हुए कहा—'राजन्! इस समय म आपका पूजनीय नहीं हूँ। मेंने अपराध किया ह आपके लिये में दण्डनीय हूँ।'

अपराधका वर्णन सुनकर राजाने कहा—'नरशका जेसे दण्ड देनेका अधिकार है, वेसे ही क्षमा करनेका भा अधिकार ह।'

लिखितने रोका—'आपका काम अपराधक दण्डका निर्णय करना नहीं ह, विधान निश्चित करना तो ब्राह्मणका काम ह। आप विधानका कवल क्रियान्वित कर सकते ह। आपको मुझ दण्ड देना ह, आप दण्डविधानका पालन कर।'

उस समय दण्ड-विधानके अनुसार चोरीका दण्ड था—चारके दोना हाथ काट देना। राजाने लिखितके दाना हाथ कलाईतक कटवा दिय। कटे हाथ लिखित प्रसन्न हो बड भाईक यहाँ लोट आर वोले—'भैया! म दण्ड ले आया।'

शङ्खने कहा—'मध्याह्न-स्नान-सध्याका समय हो गया है। चलो, स्नान-सध्या कर आय।'

लिखितने भाइक साथ सरिताम स्नान किया। अभ्यासवश तर्पण करनेके लिये उनके हाथ जैसे ही उठे ता अकस्मात् वे पूण हो गय। उन्हाने वडे भाईकी आर देखकर कहा—'भैया! जव यही करना था ता आपने मुझे राजधानीतक क्या दाडाया?'

शङ्ख वोले—'अपराधका दण्ड तो शासक ही द सकता ह किंतु ब्राह्मणको कृपा करनेका अधिकार हे।'

महर्षि शङ्ख-लिखितके धर्मोपदेश

माता पिता गुरुश्चैव पूजनीया सदा नृणाम्। क्रियास्तस्याफला सर्वा यस्यैतेऽनादृतास्त्रय॥
सा भार्या या गृहे दक्षा सा भार्या या पतिव्रता। सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या प्रजावती॥
यथोक्तफलद तीर्थ भवेच्छुद्धात्मना नृणाम्॥
गायत्री वदजननी गायत्री पापनाशिनी। गायत्र्या परम नास्ति दिवि चेह च पावनम्॥
प्रजा पुष्टि यश स्वर्गमारोग्य च धन तथा। नृणा श्राद्ध सदा प्रीता प्रयच्छन्ति पितामहा॥
यावदस्थि मनुष्यस्य गङ्गातोयपु तिष्ठति। तावद्वर्षसहस्राणि स्वर्गलोक महीयत॥

महर्पि शङ्ख वताते हें कि माता-पिता और गुरु—ये मनुष्योंके लिये सदव पूजनीय हाते हें। जो इन तीनाकी सवा नहीं करता, पूजा नहीं करता, उन्ह आदर-मान नहीं दता, उसकी सारी क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं। वस्तुत भार्या वही कहलाती हे जा गृहस्थीक सभी कार्योम अत्यन्त कुशल हो, पतिव्रता हो, जिसके प्राण अपने पतिम बसते हा ओर जा सतानयुक्त हो। जिसका मन शुद्ध हे वही मनुष्य तीर्थसेवनका जसा फल वताया गया ह उसका पूर्ण भागी हाता हे। गायत्री समस्त वेदाकी जननी हे, गायत्री पापनाशिनी ह, गायत्रीस वढकर इस लाक तथा परलाकम पवित्र और काई दूसरा नहीं है। श्राद्धद्वारा प्रसन्न पितृगण मनुष्याको सदा उत्तम सतान, पुष्टि यश स्वर्ग, आरोग्य तथा श्रेष्ठ धन प्रदान करत हें। जबतक व्यक्तिकी अस्थि परम पुनीत गङ्गाजीम रहती हे, उतने हजार वर्पोतक वह व्यक्ति स्वर्गलोकम प्रतिष्ठित रहता ह।

निर्लोभ नीतिके आदर्श

(१) श्रीसनातन गोस्वामी

'तुम वृन्दावनमे श्रीसनातन गोस्वामीके पास जाओ। उनके समीप पारस है और वे तुम्हें दे देंगे।' स्वप्नमें भगवान् शङ्करने दर्शन देकर यह आदेश किया।

गौड देशीय वर्दवानका वह ब्राह्मण निर्धन था, दरिद्रताने दुखी कर दिया था उसे। जहाँ हाथ फैलाये, वहाँ तिरस्कार मिले। शास्त्रज्ञ, स्वाभिमानी ब्राह्मण—उसने सकल्प किया कि जिस थोडेसे स्वर्णपर ससारके धनी फूले फिरते हैं, उस स्वर्णको वह मूल्यहीन करके धर देगा। ढेरियाँ लगा देगा स्वर्णकी। पारस प्राप्त करेगा वह।

पारस कहाँ मिलेगा? ढूँढनेसे तो वह मिलनेसे रहा। देगा उसे कौन? लक्ष्मीके किंकर देवता क्या पारस दे सकेंगे? ब्राह्मणने भगवान् आशुतोषकी शरण ग्रहण की, जो विश्वको विभूति देकर स्वय भस्माङ्गराग लगाते हैं। वे कपाली ही कृपा करें तो पारस प्राप्त हो। कठिन व्रत, निरन्तर पञ्चाक्षर-जप, दृढ रुद्रार्चन-निष्ठा—भगवान् त्रिलोचन कबतक सतुष्ट नहीं होते। ब्राह्मणकी बारह वर्षोकी उत्कट तपस्या सफल हुई। भगवान् शिवने स्वप्नमें दर्शन दिया।

'सनातन गोस्वामीके पास पारस है? वे दे देंगे उस महान् रत्नको?' ब्राह्मणको मार्गका कष्ट प्रतीत ही नहीं हो रहा था। 'भगवान्‌ने कहा है तो अवश्य दे देंगे।' यही विश्वास उसे लिये जा रहा था।

'आपके पास पारस है?' वृन्दावनमें पूछनेपर वृक्षके नीचे रहनेवाले कृशकाय करवा-कौपीनधारी, गुदडी रखनेवाले एक साधुके पास जानेको लोगोने कहा तो वह बहुत निराश हुआ। 'ये कंगाल सनातन गोस्वामी!' ऐसे व्यक्तिके पास पारस होनेकी किसे आशा होगी? परंतु यहाँतक आया था तो पूछ लेना उचित लगा।

'मेरे पास तो नहीं है। मैं उसका क्या करता।' सनातनजीने कह दिया। 'एक दिन श्रीयमुना-स्नानको जा रहा था तो पैरासे टकरा गया। मैंने उसे वहीं रेतमें ढक दिया जिससे किसी दिन स्नान करके लौटते छू न जाय। उसे छूकर तो फिर स्नान करना पडता। तुम्हें चाहिये तो वहाँसे निकाल लो।'

स्थान बता दिया गया था। रेत हटानेपर पारस मिल भी गया। परीक्षा करनेके लिये ब्राह्मण लोहेका टुकडा पहलेसे साथ लाया था, वह पारससे स्पर्श करानेपर स्वर्ण हो गया। पारस ठीक मिल गया। ब्राह्मण लौट पडा किंतु शीघ्र चित्तने कहा—'उन संतको तो यह प्राप्त हो था। वे कहते हैं कि यह छू जाय तो उन्हें स्नान करना पडे।'

'आपको अवश्य इस पारससे अधिक मूल्यवान् वस्तु प्राप्त है।' ब्राह्मण लौट आया सनातनजीके पास।

'प्राप्त तो है।' सनातन अस्वीकार कैसे कर देते।

'मुझे वही प्रदान करनेकी कृपा करें।' ब्राह्मणने प्रार्थना की।

'उसकी प्राप्तिसे पूर्व पारसको यमुनामें फेंकना पडेगा।' सनातनजीने कहा।

'यह गया पारस।' ब्राह्मणने पूरी शक्तिसे उसे यमुनाके प्रवाहमें फेंक दिया। भगवान् शिवकी दीर्घकालीन उपासनासे उसका चित्त शुद्ध हो चुका था। संतके दर्शनने हृदयको निर्मल
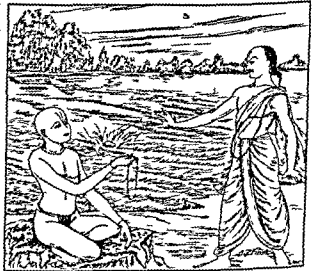
कर दिया, अधिकारी बन गया था वह। सनातन गोस्वामीने उसको श्रीकृष्ण-नामकी दीक्षा दी—वह श्रीकृष्ण-नाम, जिसकी कृपाका कण कोटि-कोटि पारसका सृजन करता है।

(२) श्रावस्ती-नरेश और ब्राह्मणकुमार

'काशाम्वीके राजपुरोहितका पुत्र था अभिरूप कपिल। आचार्य इन्द्रदत्तके पास अध्ययन करन श्रावस्ती आया था। आचार्यन उसके भाजन करनकी व्यवस्था नगरसेठके यहाँ कर दी थी। परतु वहाँ वह भाजन परामनेवाली सेविकाके रूपपर मुग्ध हा गया। दानाम परिचय हुआ। वसन्तोत्सव आनपर सविकान उसस उत्तम वस्त्र तथा आभूषण माँगे।

अभिरूप कपिलके पास तो वहाँ कुछ था नहीं। सविकाने ही वतलाया—'यहाँके नरेशका नियम ह कि प्रात काल उन्ह जा सर्वप्रथम अभिवादन करता ह, वे उस दा माशा स्वर्ण प्रदान करते ह।'

महाराजका सर्वप्रथम प्रात कालीन अभिवादन तो राजसदनम रहनवाल सवक ही कर सकत हैं। अभिरूप कपिलने एक युक्ति साचा। वह राजसदनम रात्रिम ही प्रविष्ट हो गया, किंतु नरेशके शयनकक्षम प्रविष्ट होनेकी चेष्टा करत समय प्रहरियाने उसे पकड लिया। चार समझा गया वह। प्रात काल राजसभाम महाराजक सम्मुख उपस्थित किया गया।

महाराजके पूछनपर सव वात उसन सच-सच कह दीं। उस ब्राह्मणकुमारक सत्य तथा भालपनपर सतुष्ट हाकर राजान कहा—'तुम जा चाहा सो माँगा। जा माँगोग, तुम्ह मिलेगा।'

'मैं साचकर कल माँगूँगा।' अभिरूप कपिलने कह दिया। उसे एक दिनका समय मिल गया। घर लौटकर वह साचने लगा—'दा माशा स्वर्ण तो बहुत कम है—सो स्वर्णमुद्राएँ! परतु वे भी कितन दिन चलगी? सहस्र मुद्राएँ! नहा, लक्ष मुद्राएँ!'

वह साचता रहा, किंतु तृष्णा कही सतुष्ट हाना जानती ह! उस आधा राज्य भी अपर्याप्त जान पडा। दूसरे दिन महाराजके सम्मुख उपस्थित होनेपर उसने कहा—'आप अपना पूरा राज्य मुझे दे द।'

श्रावस्तीनरेश नि सतान थ। किमा याग्य व्यक्तिका राज्य सौंप व वनम जाकर तप करनका विचार पिछल कइ महीनामे कर रह थे। यह विप्रकुमार उन्ह याग्य प्रतीत हुआ। अत उसकी माँग सुनकर वे प्रसन्न हा गय आर बोले—'द्विजपुत्र! तुमने मरा उद्धार कर दिया। तृष्णारूपी सर्पिणीके पाशसे मैं सहज छूट गया। कामनाआका अथाह कूप भरत-भरते मरा तो जीवन ही समाप्त हा चला था। विपयाके तृष्णारूपी दलदलस प्राणी निकल सक यही उसका सौभाग्य है। तुमने मुझ एसा अवसर दिया इसका म आभार मानता हूँ। यह सिहासन तुम स्वाकार करा।'

अभिरूप कपिल चाक गया। उसन उसी समय निश्चय करके कहा—'महाराज! कृपा ता आपने मुझपर का। तृष्णा-सर्पिणीने तो मुझे बाँध ही लिया था। विपय-तृष्णाक दलदलम अव म नही पडूगा। मुझे न राज्य चाहिय न दा माशा स्वण आर न ही स्त्री।'

वह वहाँस चला तो बहुत प्रसन्न एव निर्द्वन्द्व था।

(३) राँका-बाँका

वड विरक्त अत्यन्त अपरिग्रहा, भगवान्पर दृढ विश्वास करनेवाले भक्त थे राँकाजी। जेसे वे, वसी उनकी पत्नी बाँका। दाना प्रतिदिन जगलम जाकर सूखी लकडियाँ काटकर ल आत थ। उन्ह बेचनपर जो कुछ मिलता, उसक द्वारा अतिथि-सत्कार करते और अपना जीवन-निर्वाह भा। लीलामय प्रभु कभी-कभी अपन लाडले भक्ताका परीक्षा उनकी कीर्तिका विस्तार करनेके लिय कराया करते ह। उन सर्वसमर्थने स्वण-मुहरास भरी थला वनके उस मार्गम डाल दी, जिधर य भक्त-दम्पति लकडी काटने जा रह थे।

राँकाजी पत्नीस कुछ आगे चल रह थ। मन भगवानूक चिन्तनम लगा था। परको ठाकर लगी ता दखा कि एक थैली स्वर्ण-मुहरास भरी खुला पडा है। जल्दा-जल्दा उम धूलिसे ढकने लगे। इतनेम बाँकाजी पास आ गयीं। उन्हान

पूछा—'आप यह क्या कर रहे हैं?'

राँकाजीने उत्तर टाल देना चाहा, किंतु पत्नीके आग्रह करनेपर बोले—'मुहरोंसे भरी थैली पड़ी है। स्वर्ण देखकर तुम्हारा मन इसे लेनेको न करे, इसलिये इसे ढक रहा था।'

बाँकाजी हँस पड़ीं—'वाह, धूलिपर धूलि डालनेसे क्या लाभ? स्वर्ण और धूलिमें भेद ही क्या है? आप अकारण यह श्रम मत कीजिये।'

परोपकार-नीतिके आदर्श

(१) महर्षि दधीचि

'वृत्रासुरके निधनका एक ही उपाय है।' देवताओंकी प्रार्थनापर भगवान् नारायण प्रकट हुए थे तो उन्होंने एक अटपटा मार्ग बतलाया—'महर्षि दधीचिकी अस्थियोंसे विश्वकर्मा वज्र बनायें तो उस वज्रसे वह असुर मारा जा सकता है।'

वृत्रासुरने स्वर्गपर अधिकार कर लिया था। इन्द्रादि देवता युद्ध करने गये तो उनके सब अस्त्र-शस्त्र उसने निगल लिये। अब देवता तो निर्वासित जीवन व्यतीत कर रहे थे और वृत्रके संरक्षणमें दैत्योंने अमरावतीको अपना निवास बना रखा था। त्रिलोकी असुरोंके अत्याचारसे संतप्त थी। देवता ब्रह्मलोक गये ब्रह्माजीके समीप और सृष्टिकर्ताको साथ लेकर भगवान् नारायणकी स्तुति करने लगे।

'दधीचिकी अस्थि!' देवताओंका मुख लटक गया।

'वे परम धर्मात्मा हैं। याचना करनेपर वे अपना देह प्रसन्नतापूर्वक दे देंगे।' भगवान् नारायणने देवताओंको नैराश्य देखकर उन्हें समझाया और अदृश्य हो गये।

'तात! हम सब विपत्तिमें पड़ गये हैं। आपके समीप याचना करने आये हैं। हमको आपके शरीरकी अस्थियाँ चाहिये।' देवता गये महर्षि दधीचिके आश्रममें और उन्होंने महर्षिसे प्रार्थना की।

वे ही इन्द्र, वे ही देवता जिन्होंने दधीचिकी तपस्या भंग करनेका कोई उद्योग ऐसा नहीं, जो अपने वशभर न किया हो और आज महर्षिसे उनकी अस्थि माँगने आये थे किंतु ऋषिके ललाटपर एक सूक्ष्म संकुचन भी नहीं आया। उनके अन्तरने कहा—'सृष्टिमें सात्त्विकताकी विजय होनी चाहिये। संसारके प्राणियोंको असुरोंके उत्पीडनसे परित्राण मिलना चाहिये। इसका जो निमित्त बन सके—वही धन्य है।'

'यह शरीर तो नश्वर है। एक दिन जब यह मुझे छोड़ देगा तब मैं इसे क्या पकड़े रहनेका आग्रह करूँ!' महर्षिने कहा। 'इससे आप सबकी सेवा हो सके तो इसकी सार्थकता स्वतः सिद्ध है। मेरे प्रभुकी कृपा कि उन्होंने मुझे यह सुअवसर दिया।'

महर्षि समाधि लगाकर बैठ गये। योगके द्वारा उन्होंने प्राणोत्सर्ग कर दिया। जंगली गायोंने उनके शरीरका मद-मांस चाट लिया। अस्थियोंसे विश्वकर्माने वज्र बनाया और उस वज्रसे इन्द्रने वृत्रासुरको मारा।
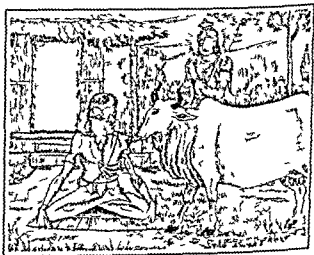
(२) देवी कुन्ती

लाक्षाभवनमें पाण्डवोंको जला देनेका षड्यन्त्र दुर्योधनने किया था, किंतु महात्मा विदुरकी सहानुभूति तथा पूर्वसावधानीके कारण पाण्डव बच गये। माता कुन्तीके साथ वे एक सुरंगद्वारा चुपचाप वनमें निकल गये। जब राजा धृतराष्ट्र अपने पुत्रोंके पक्षमें थे और उनके पुत्र कौरव पाण्डवोंको नष्ट करनेपर तुले थे, पाण्डवोंके लिये बिना विशेष सहायक प्राप्त किये प्रकट होना उचित नहीं था। वे वनके मार्गसे एकचक्रा नगरीमें पहुँचे और वहाँ अपना नाम-काम आदि छिपाकर रहने लगे।

एकचक्रा नगरीके समीप वनमें बक नामका एक अत्यन्त बलवान् राक्षस रहता था। उसके भय तथा अत्याचारसे घबराकर नगरवासियोंने उससे संधि कर ली थी। संधिके नियमानुसार नगरके प्रत्येक घरसे बारी-बारी एक-एक मनुष्य उस राक्षसके लिये भोजन लेकर प्रतिदिन जाता था। दुष्ट राक्षस भोजन-सामग्रीके साथ लानेवालेको भी खा जाता था। यही एकचक्रा नगरी थी, जहाँ पाण्डव एक ब्राह्मणके घरमें टिके थे।

नगरके प्रत्येक घरकी जब बारी आती थी राक्षसको भोजन भेजनेकी तो इस ब्राह्मण-परिवारकी भी बारी आनी ही थी। जब इस घरकी बारी आयी तो घरमें रोना-पीटना मच गया। परिवारमें ब्राह्मण उसकी पत्नी पुत्र तथा कन्या थी। उनमेंसे प्रत्येक अपनेको राक्षसका भोजन बनाकर दूसरोंके प्राण बचाना चाहता था। रुदनके साथ यह विवाद चल रहा था। प्रत्येक चाहता था कि उस राक्षसके पास जाने दिया जाय।

युधिष्ठिर भाइयोंके साथ भिक्षा माँगने बाहर गये थे। केवल भीमसेन तथा कुन्तीदेवी घरपर थीं। ब्राह्मण-परिवारकी बात सुनकर उनका हृदय भर आया। उन्होंने जाकर ब्राह्मणसे कहा—'आप सब क्यों रोते हैं? हम सब आपके आश्रयमें रहते हैं, आपकी विपत्तिमें सहायता करना हमारा कर्तव्य है। आप चिन्ता न करें। मैं अपने एक पुत्रको राक्षसका भोजन लेकर भेज दूँगी।'

'ऐसा कैसे हो सकता है? आप सब हमारे अतिथि हैं। अपने प्राण बचानेके लिये अतिथिका प्राण लेने जैसा अधर्म हम नहीं करेंगे।' ब्राह्मणने प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया।

कुन्तीदेवीने समझाया कि उनके अत्यन्त बलवान् पुत्र भीमसेन राक्षसको मार देंगे। ब्राह्मण किसी प्रकार भी मानते न थे। अन्तमें कुन्तीने कहा—'आप मेरी बात नहीं मानेंगे तो भी मेरी आज्ञासे मेरा पुत्र आज राक्षसके पास जायगा ही। आप उसे रोक नहीं सकते।'

ब्राह्मण विवश हो गया। माताकी आज्ञासे भीमसेन वनमें जानेको उद्यत हो गये। युधिष्ठिर भाइयोंके साथ लौटे तो अन्तमें उन्होंने भी माताकी बातका समर्थन किया। बैलगाडीमें भोजन-सामग्री भरकर भीम निश्चित स्थानपर गये। वहाँ उन्होंने बैल खोल दिये और स्वयं भोजनकी पूरी सामग्री खा ली। फिर युद्धमें उन्होंने उस राक्षसको मारकर एकचक्रा नगरीको सदाके लिये निर्भय कर दिया।

भीमसेनको भेजते समय कुन्तीदेवीने कहा था—'ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र—किसीपर भी विपत्ति आये तो अपने प्राणोंको संकटमें डालकर उसकी रक्षा करना बलवान् क्षत्रियका धर्म है। ये लोग ब्राह्मण हैं निर्बल हैं और हमारे आश्रयदाता हैं। इनकी रक्षामें कदाचित् प्राण भी चले जायँ तो भी तुम्हारा क्षत्रिय-कुलमें जन्म लेना सार्थक ही होगा। क्षत्राणी ऐसे ही अवसरके लिये पुत्रको जन्म देती है।'

(३) कोसलराज

काशी-नरेशने कोसलपर आक्रमण कर दिया था। कोसलके राजाकी चाग और फली कीर्ति उन्हे असह्य हो गयी थी। युद्धमे उनकी विजय हुई। पराजित नरेश वनमे भाग गये, किंतु प्रजा उनके वियोगमे व्याकुल थी और विजयीको अपना सहयोग नहीं दे रही थी। विजयके गर्वसे मत्त काशी-नरेश प्रजाके असहयोगसे क्रुद्ध हो गये। शत्रुको सर्वथा समाप्त करनेके लिये उन्होंने घोषणा करा दी—'जो कोसलराजको ढूँढ लायगा, उसे सौ स्वर्ण-मुद्राएँ पुरस्कारमे मिलेंगी।'

इस घोषणाका कोई प्रभाव नहीं हुआ। धनके लोभमे अपने धार्मिक राजाको शत्रुके हाथमे देनेवाला अधम वहाँ कोई नहीं था।

कोसलराज वनमे भटकते घूमने लगे। जटाएँ बढ गयीं। शरीर कृश हो गया। वे एक वनवासी दीखने लगे। एक दिन उन्हे देखकर एक पथिकने पूछा—'यह वन कितना बडा है? वनसे निकलने तथा कोसल पहुँचनेका मार्ग कौन-सा है?'

नरेश चौके। उन्होंने पूछा—'आप कोसल क्यों जा रहे हैं?'

पथिकने कहा—'विपत्तिमे पडा व्यापारी हूँ। मालसे लदी नौका नदीमे डूब चुकी है। अब द्वार-द्वार कहाँ भिक्षा माँगता भटकता फिरूँगा। सुना है कि कोसलके राजा बहुत उदार हैं। अतएव उनके पास जा रहा हूँ।'

'तुम दूरसे आये हो। वनका मार्ग बीहड है। चलो तुम्हे वहाँतक पहुँचा आऊँ।' कुछ देर सोचकर पथिकसे राजाने कहा।

पथिकके साथ वे काशिराजकी सभामे आये। अब उन जटाधारीको कोई पहचानता न था। काशिराजने पूछा—'आप कैसे पधारे?'

उन महत्तमने कहा—'मै कोसलका राजा हूँ। मुझे पकडनेके लिये तुमने पुरस्कार घोषित किया है। अब पुरस्कारकी वे सौ स्वर्णमुद्राएँ इस पथिकको दे दो।'

सभामे सन्नाटा छा गया। सब बात सुनकर काशिराज अपने सिंहासनसे उठे और बोले—'महाराज! आप-जैसे धर्मात्मा परोपकारनिष्ठको पराजित करनेकी अपेक्षा उसके चरणाश्रित होनेका गौरव कहीं अधिक है। यह सिंहासन अब आपका है। मुझे अपना अनुचर स्वीकार करनेकी कृपा कीजिये।'

व्यापारीको मुँहमाँगा धन प्राप्त हुआ। कोसल और काशी उसी दिन मित्र राज्य बन गये।

अक्रोध-नीतिके आदर्श

(१) एकनाथजी

पैठणमे एकनाथ महाराजके स्थान एवं गोदावरीके बीच एक धर्मशाला पडती थी। वहाँ एक यवन रहता था। वह स्नानार्थी हिंदुओंको बहुत तंग करता था। वे स्नान करके आते और वह उनपर थूक देता। लोगोंको बार-बार स्नान करना पडता था। इससे कभी-कभी कोई सज्जन चिढ जाते थे—चिढना भी स्वाभाविक था पर वह अपने स्वभावसे लाचार था।

खासकर एकनाथ महाराज जब-जब स्नान करके लौटते वह ऊपरसे थूकको पिचकारी उनपर छोडता। कभी-कभी उन्हे चार-पाँच बारतक स्नान करना पडता था और वह उन्मत्तकी तरह थूकता रहता। पर एकनाथ महाराजकी शान्ति ऐसी विलक्षण थी कि वे परम प्रसन्न होकर माँ गङ्गामे बार-बार स्नान करते और अपना अहोभाग्य मानते कि आज अधिक बार पुण्यसलिला श्रीगोदावरीके अङ्कमे स्थान मिला।

एक दिन वे स्नान करके लौट रहे थे संयोगसे वह यवन उस दिन वहाँ उपस्थित नहीं था। उसका नियम भङ्ग न हो अतः एकनाथजी उसकी प्रतीक्षामे वहाँ ठहर गये। कुछ देर रुके भी रहे, फिर उसके आगमनका कोई लक्षण न देखकर ही वहाँसे आगे बढे। इस प्रकार प्रायः वह उन्हे प्रतिदिन परेशान किया करता। एक बार वह यवन पेडपर चढकर ऊपरसे बार-बार उनपर थूकता ही गया। एकनाथजी

भी विलक्षण क्षमाशील थे—एक बार भी उनके मनमे न तो किंचित् क्षोभ हुआ और न मुखपर तनिक भी क्रोधका कोई चिह्न ही आया और न ही उनके हृदयमे अणुमात्र प्रतिरोधका भाव ही पैदा हुआ। हर बार वे उसी सहज भावसे स्नान करते और उन्मत्त यवनके थूकको हँसते हुए शिरोधार्य करते। एक सौ आठ बार इस प्रकार हुआ—वे बार-बार स्नान करते गये और मूढ यवन क्रोधसे भरकर थूकता गया। पर एकनाथजीकी शान्ति भङ्ग न हो सकी—उनकी सौम्यतामें तनिक भी शिथिलता न आ सकी। इस उन्मत्त क्रोधभरी मूर्खता और परम विवेकयुक्त अनुपम सहिष्णुताका बेजोड द्वन्द्व देखनेको वहाँ बहुत-से नर-नारी एकत्रित हो गये। आखिर यवन थक गया। वह लज्जित होकर एकनाथजी महाराजके चरणोमे लोट गया और फिर महाराजके विलक्षण महात्मापनकी स्तुति करने लगा।

अक्रोधका ऐसा उदाहरण बहुत कम देखनेको मिलता है। एक सौ आठ बार उस यवनने तंग किया और एकनाथजी एक सौ आठ बार स्नान करते गये। उनकी इस अक्रोध-नीतिने उस मलिन यवनका हृदय ही पलट दिया—वह स्वयं ही अपनेको अपराधी मानकर उनसे क्षमा-याचना करने लगा। एकनाथजीने कहा—

'भैया! तू अपने स्वभावके वश था, पर तेरे कारण मुझे बार-बार गोदावरी-स्नानका पुण्य प्राप्त हो रहा था।'

सचमुच उपदेशसे जो पाठ हमलोग नहीं पढा सकते, हमारे जीवनका थोडा-सा आचरण उसकी एक गहरी अमिट छाप छोड जाता है, जिससे स्वतः मन प्रभावित हो जाता है। फिर अक्रोध तो जीवनका बडा ही ऊँचा सद्गुण है और क्रोध बडा ही नीच दुर्गुण है। जो क्रोधको जीत लेता है, वह स्वार्थ और परमार्थ दोनोमे ही परम लाभ प्राप्त करता है। एकनाथजीका अक्रोध इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

(२) अक्रोधकी परीक्षा

एक जिज्ञासु एक बार किसी संतके पास गया और बोला—'महाराज! कोई ऐसा उपाय बताइये, जिससे मुझे प्रभुका साक्षात्कार हो जाय।' संतने उसे एक वर्षतक एकान्तमे भजन करनेकी आज्ञा दी। जिज्ञासु भजन करने लगा। संतकी कुटियामे एक भंगी सफाई करने आया करता था। वर्ष पूरा होनेके दिन संतने उससे कहा—'आज जब वह जिज्ञासु स्नान करके मेरे पास आने लगे, तब तुम अपनी झाडूसे थोडी गर्द उसपर उडा देना।' ऐसा ही हुआ। जिज्ञासु जब स्नान करके संतके पास चला, रास्तेमे भंगीने उसके ऊपर धूल उडा दी। अब तो क्रोधित होकर वह उसे मारने दौडा, भंगी भाग निकला। जिज्ञासु फिरसे स्नान करके पवित्र वस्त्रोको धारणकर संतके पास पहुँचा और बोला—'महाराज! मैं एक वर्षतक एकान्तमे भजन करके आया हूँ।' संतने कहा—'अभी तो तुम साँपकी तरह काटने दौडते हो—तुम्हे भगवत्प्राप्ति कहाँ होगी? जाओ, एक वर्ष फिर भजन करो।' जिज्ञासु फिर भजनमे लीन हुआ। दूसरा वर्ष पूरा होनेपर फिर वह ज्यो ही स्नान करके संतके पास जाने लगा, संतकी आज्ञासे भंगीने आज उससे झाडू छुला दी। इस बार उसने भंगीको दो-चार कडी बात कहकर छोड दिया। दुबारा स्नान करके वह जब संतके पास पहुँचा, तब उन्होने कहा—'अभी तो तुम्हारा मन सर्पकी तरह फुफकारता है—अभी और समय लगेगा। फिर जाओ और एक वर्षतक भजन करो।' जिज्ञासु लौट गया और फिर एक वर्षतक उसने भजनमे

मन लगाया। वर्ष पूरा होनेपर जब वह मेहतर-चरणोंके दर्शनार्थ चला, तब सिखाये हुए भंगीने इस बार कूड़ेसे भरी टोकरी ही उठाकर उसके सिरपर उड़ेल दी। परंतु आज क्रुद्ध होनेके स्थानपर उसका हृदय सच्ची दीनतासे भरा हुआ था, वह विनयपूर्वक भंगीसे बोला—'भाई! तूने मेरा

बड़ा उपकार किया है। तू नहीं होता तो मैं क्रोधको किस प्रकार जीत सकता, कैसे उसके चंगुलसे छूटता? मैं तेरा अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। तुझे धन्य है।'

इसीलिये महाप्रभु श्रीचैतन्यने बताया है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

क्षमा और निरहंकारके द्वारा ही इस क्रोधरूपी भयानक शत्रुपर विजय पायी जा सकती है। क्रोधके आगमनमात्रसे ही मनुष्यका कर्तव्याकर्तव्यज्ञान लुप्त हो जाता है और वह जो चाहे सो कर बैठता है। भगवान् श्रीकृष्णने भी गीता (१६। २१)-में कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

सचमुच क्रोध बहुत-से पापोंका मूल है। यह जितना दूसरोंके लिये दुःखदायी होता है, उससे कहीं अधिक अपनेको कष्ट देता है।

फिर परमार्थके मार्गमें तो क्रोध एक भयानक प्रबल शत्रु है। जबतक क्रोध है, तबतक परमार्थमें उन्नति होना बड़ा कठिन है। जहाँ जरा-सी प्रतिकूलता सहन करना सम्भव नहीं, वहाँ प्रभु-प्रेममें सब कुछ फूँककर मस्त होनेकी आशा कैसे की जा सकती है? यह तो एक ऐसी आग है, जो सारे शरीरमें ज्वाला फूँक देती है और जिसकी तन-मन इसमें धधक उठता है, उसमें भजन कहाँ सम्भव है? अतः जगत् और परमार्थ दोनोंके लिये ही क्रोधका नाश परमावश्यक है।

क्षमा-नीतिके आदर्श

(१) महारानी द्रौपदी

बड़ा दारुण दृश्य था। अश्वत्थामाने रात्रिमें पाण्डव-सेना-शिविरमें आग लगा दी और सोते हुए सैनिकोंमेंसे उन सबको मार दिया था जिन्होंने भागनेकी चेष्टा की। महाभारतकी युद्धावशिष्ट सेना उस रात्रिमें ही समाप्त हो गयी। कौरवोंके पक्षमें कृपाचार्य, कृतवर्मा, अश्वत्थामा और विदुर बचे थे। दूसरे पक्षमें पाण्डव, श्रीकृष्ण तथा सात्यकि बचे और वे इसलिये बच गये कि उस दिन युद्धमें विजय प्राप्त करनेके पश्चात् श्रीकृष्ण पाण्डवों और सात्यकिको लेकर अन्यत्र चले गये थे। प्रातःकाल वे लौटे तो देखा जली-अधजली लाशोंसे सम्पूर्ण शिविरभूमि पटी है।

महारानी द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंके शरीर तथा मस्तक पृथक्-पृथक् पड़े थे झुलसे हुए। नारियोंके आर्त-क्रन्दनसे आकाश जैसे रो उठा था। द्रौपदीकी व्यथाका पार नहीं था। एक साथ मृत पड़े पाँचों पुत्रोंको देखकर वे मूर्च्छित हो गयी थीं। अर्जुनने उन्हें धैर्य दिलाते हुए कहा—'इनके हत्यारे अश्वत्थामाका कटा मस्तक देखकर तुम आँसुओंका स्नान करना।'

श्रीकृष्णके साथ गाण्डीवधन्वा अपने रथमें बैठे।

अश्वत्थामा भागा, किंतु उसका अश्व अर्जुनक दिव्य रथसे कैसे दूर जा सकता था? ब्रह्मास्त्रका प्रयाग भी द्रोणपुत्रको वचा नहीं सका। अजुनन उस पकडकर बाँध लिया आर उसी बदी-दशाम लाकर द्रोपदीके सम्मुख खडा कर दिया। भीमसनने उसे दखत ही दाँत पीसकर कहा—'इस दुष्टको तत्काल मार डालना चाहिये।'

देवी द्रौपदीने सबको रोककर कहा—'अर, यह क्या किया आपने? छोडिय, इन्ह अभी छाड दाजिय। मर पुत्र मार गय हैं, इसलिये पुत्रकी मृत्युका कितना दु ख माताको हाता ह—में अनुभव कर रही हूँ। इनकी माता कृपी हमारी गुरुपत्नी ह उनका भी मरी ही तरह पुत्र-वियागका दु ख नहीं हाना चाहिय। जिनसे आपन अस्त्र-शस्त्र-सचालन सीखा उन द्रोणाचार्यजीका ही इस पुत्ररूपम उपस्थित देखकर हम निष्ठुर कैसे हो सकते हैं? इन्ह अभी छाड दीजिय।

जिनके पाँच पुत्र मारे गय पुत्राके शव जिनक सामने पड थ और उन पुत्राक हत्यारेक प्रति इतनी कृपा इतनी दया कि अपना पुत्रशाक भूलकर उस हत्यारक लज्जावनत मुखको दख जिनका हृदय द्रवित हा गया, वे दवी द्रौपदी धन्य हैं!

द्रापदाकी क्षमाकी विजय हुई। मातान ही पुत्रघातीको क्षमा कर दिया तो दूसरा कोन दण्ड द सकता था। श्रीकृष्णकी सम्मतिसे अश्वत्थामाक मस्तककी मणि लेकर अर्जुनन उस छाड दिया।

(२) महाकवि जयदेव

गीतगाविन्दक रचयिता महाकवि जयदेव तीर्थयात्रा कर रहे थे। मागम किसी राजान उनका सम्मान किया आर बहुत-सा धन दिया। धनक लोभसे डाकुआने यात्री बनकर उनका साथ पकडा। वनम पहुँचनपर उन्हाने जयदेवजीके हाथ-पर काटकर उन्ह एक कुएँमे फक दिया आर धन लेकर चलते बने।

कुआँ सूखा था। चेतना लाटनेपर महाकवि उस कुएँमे ही भगवान्क नाम आर यशका कीर्तन करन लगे। गाडेश्वर राजा लक्ष्मणसेनकी सवारी उसी दिन उधरसे निकली। कुएँमस मनुष्यका स्वर आता सुनकर राजाने अपने सेवकाको आज्ञा दी कि वे उस मनुष्यको बाहर निकाल। जयदवजीको राजा अपन साथ राजधानी ले गये।

महाभागवत तथा सरस्वतीके वरद पुत्र जयदवजीकी विद्वत्ता, भगवद्भक्ति एव सतस्वभावका राजापर इतना प्रभाव पडा कि उन्हाने जयदेवजीको अपनी पञ्चरत्न-सभाका प्रधान बना दिया।

बहुत पूछनेपर भी जयदवजीन अपने हाथ-पेर काटनवालाके सम्बन्धम कुछ नहीं बताया। इस घटनाको व भगवान्का मङ्गल-विधान ही समझत थे।

राजभवनम एक बार कोई उत्सव पडा। साधु, ब्राह्मण, भिक्षुक बहुत बडी सख्याम भोजन करन आय। उनम वश बदले वे डाकू भी आय जिन्हाने जयदवजीक हाथ-पेर काट थे। लूल-पङ्गु जयदेवका पहचानकर आर उन्हीको सवाध्यक्ष देखकर उनक ता प्राण ही सूख गय। जयदवजाने भी उन्ह पहचान लिया। व राजास वाल—'मर कुछ पुराने मित्र आय हैं। आप चाह ता उन्ह कुछ धन द सकत हैं।'

नरेशने डाकुआका समीप बुलाया उनका खूब सत्कार किया ओर उन्ह बहुत-सा धन दिया। डाकू ता शीघ्र ही चले जाना चाहत थे वहाँसे। महाकवि जयदवका मित्र समझकर राजान उन्ह इतना अधिक धन दिया कि उनको घरतक सुरक्षित भेजना आवश्यक जान पडा। अत कुछ सेवक उनक साथ भेज दिये।

राजसवकान मार्गम कुतूहलवश पूछा—'हमार सवाध्यक्षस

आपलागाका क्या सम्बध ह?'

डाकू वाल—'तुम्हारा सर्वाध्यक्ष हमलागाक साथ एक राज्यका कर्मचारा था। इसने वहाँ एसा कुकर्म किया कि राजान इस प्राणदण्ड दिया किंतु हमलोगाने दया करके हाथ-पर कटवाकर इस जीवित छुडवा दिया। हम भेद न खाल द इस भयसे उसन हमारा इतना सम्मान कराया हे।'

सृष्टिक नियामकक लिय अब इन भक्तापराधियाका यह पाप असह्य हो गया। पृथ्वी फट गयी। डाकू उसम समा गय। राजसेवक धन लेकर लाट आय। समाचार पाकर जयदवजी अत्यन्त दु खी होकर वाले—'मने तो साचा था कि य दरिद्र ह, धनक लोभस पाप करते ह धन मिल जायगा तो पापसे वचगे, किंतु मुझ भाग्यहीनक कारण उन्ह प्राण खो देने पडे। प्रभु उन्ह क्षमा कर! उनका सद्‌गति हो।'

इसी समय जयदवजीके हाथ-पेर पहलके समान हा गय।

परदु खकातरता नीतिके परम आदर्श— राजा रन्तिदेव

रन्तिदव राजा थ—ससारन ऐसा राजा कभी-कदाचित् हा पाया हा। एक राजा और वह अन्नके विना भूखा मर रहा था। वह अकला नहीं था, उसकी स्त्री आर वच्च थ—कहना चाहिय कि राजाके साथ राना आर राजकुमार भी थे सव भूखा मर रह थ। अन्नका एक दाना भा उनक मुखम पूर अडतालास दिनास नहीं गया था। अन्न ता दूर—जलक दशन भा नहा हुए थ उन्ह।

राजा रन्तिदवका न शत्रुआन हराया था न डाकुआने लूटा था आर न उनकी प्रजान विद्राह ही किया था। उनक राज्यम अकाल पड गया था। अवर्षण जव लगातार वर्षो चलता रह—इन्द्र जव अपना उत्तरदायित्व भूल जायँ—असहाय मानव कस जीवन-निवाह कर! महाराज रन्तिदव उन लागाम नहा थ जा प्रजाक धनपर गुलछर्रे उडाया करत ह। प्रजा भूखी रह ता राजाका पहल उपवास करना चाहिय, यह मान्यता थी रन्तिदवकी। राज्यम अकाल पडा अन्नक अभावसे प्रजा पाडित हुई—राज्यकाप आर अन्नागारम जा कुछ था पूर-का-पूरा वितरित कर दिया गया।

जव राज्यकाप आर अन्नागार रिक्त हा गय—राजाका भा राना तथा पुत्रक साथ राजधानी छाडना पडा। पटक कभा न भरनवाल गड्ढम उन्ह भा ता डालनक लिय कुछ चाहिये था। राजमहलकी दावाराका दखकर पट कस भरता। लकिन पूर दशम अवपण चल रहा था। कूप आर सरावरतक सूख गये थ। पूर अडतालास दिन वात गय अन्न-जलक दशन नहीं हुए।

उनचासवाँ दिन आया। किसान महाराज रन्तिदवका पहचान लिया था। सवर हा उसने उनक पास थाडा-सा घी, खीर हलवा आर जल पहुँचा दिया। भूख-प्याससे व्याकुल, मरणासन्न उस परिवारका भाजन क्या मिला, जेसे जीवन-दान मिला। लकिन भाजन मिलकर भी वह मिलना नहीं था। महाराज रन्तिदेव प्रसन्न ही हुए जव उन्हान एक ब्राह्मण अतिथिको आया देखा। इस विपत्तिम भी अतिथिको भाजन कराय विना भाजन करनेके दोपसे वच जानकी प्रसन्नता हुई उन्ह।

ब्राह्मण अतिथि भोजन करक गया ही था कि एक भूखा शूद्र आ पहुँचा। महाराजने उसे भी आदरसे भाजन कराया। लेकिन शूद्रक जाते ही एक दूसरा अतिथि आ गया।

यह नया अतिथि अन्त्यज था आर उसक साथ जाभ निकाल हाँफत कइ कुत्त थ। वह दूरस हा पुकार रहा था—

'मैं और मेरे कुत्ते बहुत भूखे हैं। मुझे कृपा करके कुछ भोजन दीजिये।'

समस्त प्राणियोंमें जो अपने आराध्यको देखता है, वह माँगनेपर किसीको अस्वीकार कैसे कर दे—अपने प्रभु ही जब भूखे बनकर भोजन माँगते हों। रन्तिदेवने बड़े आदरसे पूरा भोजन इस नये अतिथिको दे दिया। वह और उसके कुत्ते तृप्त होकर चले गये। अब बचा था थोड़ा-सा जल। उस जलसे ही रन्तिदेव अपना कण्ठ सींचने जा रहे थे।

'महाराज! मैं बहुत प्यासा हूँ। मुझे पानी पिला दीजिये।' एक चाण्डालकी पुकार सुनायी पड़ी। वह सचमुच इतना प्यासा था कि बड़े कष्टसे बोल रहा है—यह स्पष्ट प्रतीत होता था।

महाराज रन्तिदेवने पानीका पात्र उठाया, उनके नेत्र भर आये। उन्होंने सर्वव्यापक सर्वेश्वरसे प्रार्थना की—'प्रभो! मैं ऋद्धि सिद्धि आदि ऐश्वर्य या मोक्ष नहीं चाहता। मैं तो चाहता हूँ कि समस्त प्राणियोंके हृदयमें मेरा निवास हो। उनके सब दुःख मैं भोग लिया करूँ और वे सुखी रहें। यह जल इस समय मेरा जीवन है—मैं इस जीवित रहनेकी इच्छावाले इस चाण्डालको दे रहा हूँ। इस कर्मका कुछ पुण्य-फल हो तो उसके प्रभावसे संसारके प्राणियोंकी भूख प्यास, श्रान्ति, दीनता शोक-विषाद और मोह नष्ट हो जायँ। संसारके सारे प्राणी सुखी हों।'

राजा रन्तिदेवने उस चाण्डालको जल पिला दिया। लेकिन वे स्वयं—उन्हें अब जलकी आवश्यकता कहाँ थी। विभिन्न वेष बनाकर उनके अतिथि होनेवाले त्रिभुवनाधीश ब्रह्मा, भगवान् विष्णु, भगवान् शिव और धर्मराज अपने रूपोंमें प्रत्यक्ष खड़े थे उनके सम्मुख।
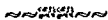
राजधर्मके आदर्श महाराज रघु

सूर्यवंशमें जैसे इक्ष्वाकु, अजमीढ आदि राजा बहुत प्रसिद्ध हुए हैं, उसी प्रकार महाराज रघु भी बड़े प्रसिद्ध पराक्रमी, नीतिमान्, धर्मात्मा भगवद्भक्त और पवित्रजीवन हो गये हैं। इन्हींके नामसे 'रघुवंश' प्रसिद्ध हुआ। इसीलिये सच्चिदानन्दघन परमात्मा भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके रघुवर राघव, रघुपति, रघुवंशविभूषण, रघुनाथ आदि नाम हुए। ये बड़े धर्मात्मा थे। इन्होंने अपने पराक्रमसे समस्त पृथ्वीको अपने अधीन कर लिया था। चारों दिशाओंमें दिग्विजय करके ये समस्त भूमिखण्डके एकच्छत्र सम्राट् हुए। ये प्रजाको बिलकुल कष्ट नहीं देना चाहते थे 'राज्यकर' भी बहुत ही कम लेते थे और विजित राजाओंको भी केवल अधीन बनाकर छोड़ देते थे उनसे किसी प्रकारका कर वसूल नहीं करते थे।

एक बार ये दरबारमें बैठे थे कि इनके पास कौत्स नामक एक स्नातक ऋषिकुमार आये। अपने यहाँ स्नातकको देखकर महाराजने उनका विधिवत् स्वागत-सत्कार किया तथा पाद्य-अर्घ्यसे उनकी पूजा की। ऋषिकुमारने विधिवत् उनकी पूजा ग्रहण की और कुशल-प्रश्न पूछा। थोड़ी देरके अनन्तर ऋषिकुमार चलने लगे, तब महाराजने कहा—'ब्रह्मन्! आप कैसे पधारे और बिना कुछ अपना अभिप्राय बताये लौट क्यों जा रहे हैं?'

ऋषिकुमारने कहा—'राजन्! मैंने आपके दानकी ख्याति सुनी है आप अद्वितीय दानी हैं। मैं एक प्रयोजनसे आपके पास आया था किंतु मैंने सुना है कि आपने यज्ञमें अपना समस्त वैभव दान कर दिया है। यहाँ आकर मैंने प्रत्यक्ष देखा कि आपके पास अर्घ्य देनेके लिये भी कोई धातुका पात्र नहीं है और आपने मुझे मिट्टीके पात्रसे अर्घ्य दिया है, अतः अब मैं आपसे कुछ नहीं कह सकता।'

राजाने कहा—'नहीं ब्रह्मन्! आप मुझे अपना अभिप्राय बताइये, मैं यथासाध्य उसे पूरा करनेकी चेष्टा करूँगा।'

स्नातकने कहा—'राजन्! मैंने अपने गुरुके यहाँ रहकर वेदोंका साङ्गोपाङ्ग अध्ययन किया है। अध्ययनके अनन्तर मैंने गुरुजीसे गुरुदक्षिणाके लिये प्रार्थना की। उन्होंने कहा—'हम तुम्हारी सेवासे ही संतुष्ट हैं मुझे और कुछ भी नहीं चाहिये।' गुरुजीके ऐसा कहनेपर भी मैं बार-बार उनसे गुरुदक्षिणाके लिये आग्रह करता ही रहा। तब अन्तमें उन्होंने झल्लाकर कहा—'अच्छा तो दक्षिणास्वरूप चौदह लाख स्वर्णमुद्रा लाकर हमें दो।' मैं इसीलिये आपके पास आया था।'

महाराजने कहा—'ब्रह्मन्! मेरे हाथोंमें धनुष-बाणके

रहते हुए कोई विद्वान् ब्रह्मचारी ब्राह्मण मेरे यहाँसे विमुख हो जाय तो मेरे राज-पाट, धन-वैभवको धिक्कार है। आप बैठिये, मैं कुबेर-लोकपर चढ़ाई करके उनके यहाँसे धन लाकर आपको अवश्य दूँगा।'

महाराजने सेनाको सुसज्जित होनेकी आज्ञा दी। बात-की-बातमें सेना सुसज्जित हो गयी। निश्चय हुआ कि कल प्रस्थान होगा। प्रातःकाल कोषाध्यक्षने आकर महाराजसे निवेदन किया कि राजन्! रात्रिमें स्वर्णकी वृष्टि हुई और समस्त कोष स्वर्णमुद्राओंसे भर गया है। महाराजने जाकर देखा कि सर्वत्र स्वर्णमुद्राएँ भरी हैं। वहाँ जितनी स्वर्णमुद्राएँ थीं, उन सबको महाराजने ऊँटोंपर लदवाकर ऋषिकुमारके साथ भेजना चाहा। ऋषिकुमारने देखा— ये मुद्राएँ तो नियत संख्यासे बहुत ही अधिक हैं, तब उन्होंने राजासे निवेदन किया 'महाराज! मुझे तो केवल चौदह लाख ही चाहिये। इतनी मुद्राओंका मैं क्या करूँगा? मुझे तो केवल कामभरके लिये चाहिये।' इस त्यागको धन्य है!

महाराजने कहा—'ब्रह्मन्! ये सब आपके ही निमित्त आयी हैं, आप ही इन सबके अधिकारी हैं, आपको ये सब मुद्राएँ लेनी ही होंगी। आपके निमित्त आये हुए द्रव्यको भला, मैं कैसे रख सकता हूँ?'

ऋषिकुमारने बहुत मना किया, किंतु महाराज मानते ही नहीं थे। अन्तमें कौत्सको जितनी आवश्यकता थी, वे उतना ही द्रव्य लेकर अपने गुरुके यहाँ चले गये। शेष जो धन बचा, वह सब ब्राह्मणोंको दे दिया गया। ऐसा दाता पृथ्वीपर कौन होगा, जो इस प्रकार याचकोंके मनोरथ पूर्ण करे? अन्तमें महाराज अपने पुत्र अजको राज्य देकर तपस्या करने वनमें चले गये। अजके पुत्र महाराज दशरथ हुए, जिन्हें साक्षात् परब्रह्म परमात्मा श्रीरामचन्द्रके पिता होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। राजधर्मके आदर्शके रूपमें महाराज रघुका नाम सदाके लिये स्मरणीय हो गया।

महाराज परीक्षित् और उनकी राज्यनीति

यत्प्रातः संस्कृतं चान्नं सायं तच्च विनश्यति।
तदीयरससम्पुष्टे काये का नाम नित्यता॥

'जो भोजन प्रातःकाल बनाया गया है, सायंकाल वह नष्ट हो जायगा—सड़ने लगेगा। ऐसे अन्नके रससे हो यह शरीर पुष्ट हुआ है, फिर उसमें नित्यता या टिकाऊपन कैसा?'

सुभद्राकुमार अभिमन्युकी पत्नी महाराज विराटकी पुत्री उत्तरा गर्भवती थी। उसके उदरमें कौरव एवं पाण्डवोंका वंशधर था। अश्वत्थामाने उस गर्भस्थ बालकका विनाश करनेके लिये ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया। भयविह्वल उत्तरा भगवान् श्रीकृष्णकी शरणमें गयी। भगवान्ने उसे अभयदान दिया और बालककी रक्षाके लिये वे सूक्ष्मरूपसे उत्तराके गर्भमें स्वयं पहुँच गये। गर्भस्थ शिशुने देखा कि एक प्रचण्ड तेज चारों ओरसे समुद्रकी भाँति उमड़ता हुआ उसे भस्म करने आ रहा है। इसी समय बालकने अँगूठेके बराबर ज्योतिर्मय भगवान्‌को अपने पासमें देखा। भगवान् अपने कमलनयनोंसे बालकको स्नेहपूर्वक देख रहे थे। उनके सुन्दर श्याम-वर्णपर पीताम्बरकी अद्भुत शोभा थी। मुकुट कुण्डल, अङ्गद, किङ्किणी प्रभृति मणिमय आभरण उन्होंने धारण कर रखे थे। उनकी चार भुजाएँ थीं और उनमें शङ्ख चक्र गदा तथा पद्म सुशोभित थे। अपनी गदाको उल्काके समान चारों ओर शीघ्रतासे घुमाकर भगवान् उस उमड़ते हुए आते अस्त्र-तेजको बराबर नष्ट करते जा रहे थे। बालक दस महीनेतक भगवान्‌को पासमें देखता रहा। वह सोचता ही रहा—'ये कौन हैं?' जन्मका समय आनेपर भगवान् वहाँसे अदृश्य हो गये। बालक मृत उत्पन्न हुआ; क्योंकि जन्मके समय उसपर ब्रह्मास्त्रका प्रभाव पड़ गया था। तुरंत श्रीकृष्णचन्द्र प्रसूतिकागृहमें आये और उन्होंने उस शिशुको जीवित कर दिया। यही बालक परीक्षित्‌के नामसे प्रसिद्ध हुआ।

जब परीक्षित् बड़े हुए, पाण्डवोंने इन्हें राज्य सौंप दिया और स्वयं हिमालयपर चले गये। प्रतापी नीतिमान् एवं धर्मात्मा परीक्षित्ने राज्यमें पूरी सुव्यवस्था स्थापित की। एक दिन जब ये दिग्विजय करने निकले, तो इन्होंने एक उज्ज्वल साँड़ देखा। जिसके तीन पैर टूट गये थे, मात्र एक

ही पर शेष था। पास ही एक गाय रोती हुई उदास खडी थी। एक काले रगका शूद्र राजाओकी भाँति मुकुट पहन, हाथम डडा लिये गाय और बलको पीट रहा था। यह जाननेपर कि गौ पृथ्वीदवी ह और वृषभ साक्षात् धर्म हे तथा यह कलियुग शूद्र बनकर उन्ह ताडना द रहा ह— परीक्षित्ने उस शूद्रको मारनेक लिये तलवार खींच ली। शूद्रने अपना मुकुट उतार दिया और वह परीक्षित्के पैरापर गिर पडा। महाराजने कहा—'कलि! तुम मेरे राज्यम मत रहो। तुम जहाँ रहते हो वहाँ असत्य दम्भ, छल-कपट आदि अधर्म ही रहते ह।' कलिने प्रार्थना की—'आप तो चक्रवर्ती सम्राट् ह, अत मैं कहाँ रहूँ, यह आप ही मुझ बता द। मैं आपकी आज्ञा कभी नहीं टालूँगा।' परीक्षित्ने कलिको रहनके लिय जुआ, शराब, स्त्री हिसा आर स्वर्ण—य पाँच स्थान बता दिय। ये हा पाँचा अधर्मरूप कलिके निवास हैं। नीति बताती ह कि प्रत्यक कल्याणकामीको इनसे बचना चाहिय।

एक दिन आखेट करते हुए महाराज परीक्षित् वनम भटक गये। भूख और प्याससे व्याकुल व एक ऋषिक आश्रमम पहुँच। ऋषि उस समय ध्यानस्थ थे। राजाने उनसे जल माँगा, पुकारा, पर ऋषिको कुछ पता नहीं लगा। इसी समय कलिने राजापर अपना प्रभाव जनाया। उन्ह लगा कि

जान-बूझकर ये मुनि मेरा अपमान करते ह। पासम ही एक मृत सर्प पडा था। उन्होने उस धनुषसे उठाकर ऋषिक गलेम डाल दिया—यह परीक्षा करनके लिये कि ऋषि ध्यानस्थ ह या नहीं और फिर वे अपनी राजधानी लौट गये। बालकोके साथ खेलते हुए उन ऋषिक तेजस्वी पुत्रने जब यह समाचार पाया तब शाप दे दिया—'इस दुष्ट राजाको आजके सातवे दिन तक्षक काट लेगा।'

घर पहुँचनेपर परीक्षित्ने स्मरण किया—'मुझसे आज बहुत बडा अपराध हो गया।' व पश्चात्ताप कर ही रहे थे इतनेम शापकी बातका उन्ह पता लगा। इससे राजाको तनिक भी दु ख नहीं हुआ। अपने पुत्र जनमजयको राज्य देकर वे गङ्गातटपर जा बैठे। सात दिनातक उन्होने निर्जलव्रतका निश्चय किया। उनके पास उस समय बहुत-से ऋषि-मुनि आये। परीक्षित्ने कहा—ऋषिगण! मुझे शाप मिला यह तो मुझपर भगवान्की कृपा ही हुई। मैं विषयोपभोगोमे आसक्त हो रहा था दयामय भगवान्ने शापके बहाने मुझे उनसे अलग कर दिया। अब आप मुझे भगवान्का पावन चरित सुनाइये। उसी समय वहाँ घूमते हुए श्रीशुकदेवजी पहुँच गये। परीक्षित्ने उनका पूजन किया। उनके पूछनेपर शुकदेवजीने सात दिनोम उन्ह पूरा श्रीमद्भागवतका उपदेश दिया। अन्तम परीक्षित्ने अपना चित्त भगवान्म लगा दिया। तक्षकने आकर उन्ह काटा और उसके विषसे उनका देह भस्म हो गया, पर व तो पहले ही शरीरसे ऊपर उठ चुके थे। उनको इन सबका पतातक नहीं चला।

महाराज परीक्षित्की राज्यनीति—महाभारतने बताया है कि महाराज परीक्षित्ने काम क्रोध, लोभ मोह मद और मात्सर्य—इन छहो शत्रुओपर विजय प्राप्त कर ली थी उनकी बुद्धि विशाल थी और व नीतिके विद्वानोम सर्वश्रेष्ठ थे—

'षड्वर्गजिन्महाबुद्धिर्नीतिशास्त्रविदुत्तम ॥'

(महा० आदि० ४९।१६)

वे न केवल धर्मके ज्ञाता थे अपितु धर्मके साक्षात् स्वरूप थे—

धर्मतो धर्मविद् राजा धर्मो विग्रहवानिव॥

(महा० आदि० ४९।८)

उनके पराक्रमकी कहीं तुलना न था। व सभी प्राणियोके

प्रति समभाव रखते थे। उनके शासनकालमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र सभी अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्मोंमें संलग्न और प्रसन्नचित्त रहते थे। उनके राज्यमें सब लोग हृष्ट-पुष्ट थे। राजा परीक्षित् चारों वर्णोंको अपने-अपने धर्ममें स्थापित करके उन सबकी धर्मपूर्वक रक्षा करते थे—

चातुर्वर्ण्यं स्वधर्मस्थं स कृत्वा पर्यरक्षत।
(महा०, आदि० ४९।८)

महाराज परीक्षित् राजधर्म और अर्थनीतिमें अत्यन्त निपुण थे। समस्त सद्गुणोंने स्वयं उनका वरण किया था—

राजधर्मार्थकुशलो युक्तः सर्वगुणैर्वृतः।
(महा० आदि० ४९।१५)
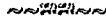
धर्मनीतिके रक्षक राजपुरुषोंकी नीतिमत्ता

(१) छत्रपति शिवाजी

'यदि मेरी माता इतनी सुन्दर होतीं तो मैं भी सुन्दर हुआ होता।' महाराष्ट्र-सेनानायक विजयके पश्चात् परम सुन्दरी नवाब-कन्याको ले आये थे और उन्होंने उसे छत्रपतिके सम्मुख उपस्थित किया। धर्म-रक्षाके व्रती शिवाजी—उन्होंने देखा उस अद्भुत लावण्यको, किंतु उनके उद्गार उन्हींके ही अनुरूप थे। उनके आदेशसे वह यवन-बाला ससम्मान अपने पिताके पास भेजी गयी।

औरंगजेबके धर्मान्धतापूर्ण अत्याचारोंका विपुल विस्तार था। महाराष्ट्र स्वयं भी यवन-राज्योंसे आच्छन्न था। मन्दिर टूटते थे, बलात् धर्मपरिवर्तन कराया जाता था और सतियोंका सतीत्व विलासियोंकी वासनाका भोग बन गया था। उस समय महाराष्ट्र-भूमिने हिंदू-धर्मको एक प्रोज्ज्वल प्रबल प्राण दिया—शिवाजी। शिवाजीका शौर्य, छत्रपतिकी प्रतिभा—दिल्लीतक काँप उठा। दब गये दक्षिणके अत्याचारी हाथ। ऊँची फहराई धर्मकी गैरिक ध्वजा—छत्रपति शिवाजीका राज्य तो अर्पित था समर्थ स्वामी रामदासके चरणोंमें। उनकी करवाल तो उठी थी धर्म-रक्षाके लिये और वह शौर्य जो महाराष्ट्रमें शिवाजीने संचार किया—यवन-सत्ता उससे टकराकर छिन्न-भिन्न ही हो गयी।

शिवाजी और ब्राह्मण

बादशाह औरंगजेबने भेंट करनेके लिये शिवाजीको दिल्ली बुलवाया और वहाँ पहुँचनेपर उसने उन्हें बंदी बना लिया। ऐसे विश्वासघाती शत्रुके साथ नीति अपनाये बिना निस्तार सम्भव नहीं था। शिवाजीने बीमारीका बहाना किया। ब्राह्मणोंको मिठाईके टोकरे दान करने लगे। एक दिन स्वयं तथा उनके पुत्र सम्भाजी मिठाईके टोकरोंमें छिपकर बैठे और औरंगजेबके जालसे निकल गये।

मार्गमें शिवाजी बीमार हो गये। उनके साथ उनके दो विश्वस्त सेवक थे—तानाजी और येसाजी। तीव्र ज्वरमें यात्रा करना निरापद नहीं था। मुर्शिदाबादमें बहुत प्रयत्न करनेपर इन गुप्तवेश-धारियोंको विनायकदेव नामक एक ब्राह्मणने अपने यहाँ आश्रय देना स्वीकार किया। शिवाजीको लगा कि स्वस्थ होकर यात्रा करने योग्य होनेमें पर्याप्त समय लगेगा अतः उन्होंने साथियोंसे आग्रह किया—'आप दोनों सम्भाजीको लेकर महाराष्ट्र चले जायँ, राज्यकी सुरक्षा एवं ठीक प्रशासन आवश्यक है। मैं स्वस्थ होकर आऊँगा।'

साथियोंको विवश होकर यह आदेश मानना पड़ा। लेकिन तानाजीने कुछ दूर जाकर येसाजीसे कहा—'आप सावधानीसे सम्भाजीको ले जायँ। मैं यहीं गुप्तरूपसे स्वामीकी देख-रेख रखूँगा।'

छत्रपति शिवाजीने अपना वेश बदल रखा था। ब्राह्मण विनायकदेव उन्हें गोस्वामी जानता था। वह अत्यन्त विरक्त स्वभावका था और माताके साथ रहता था। उस विद्वान् ब्राह्मणने विवाह किया ही नहीं था। भिक्षा ही उसकी आजीविकाका साधन थी। परिग्रहकी प्रवृत्ति उसे छूतक नहीं गयी थी। जितनेसे एक दिनका काम चले उतना ही भिक्षा प्रतिदिन लाता था। एक दिन भिक्षा कम मिली। ब्राह्मणने भोजन बनाकर माता तथा शिवाजीको खिला दिया और स्वयं भूखा रह गया।

छत्रपति शिवाजीके लिये अपने आश्रयदाताकी यह दरिद्रता असह्य हो गयी। उन्हाने सोचा—'दक्षिण जाकर धन भेजूँगा, किंतु इसका क्या विश्वास कि वह यहाँतक सुरक्षित पहुँच ही जायगा। फिर यह बात प्रकट हानेपर यवन बादशाह बेचारे ब्राह्मणको क्या जीवित रहने देगा?'

अन्तम छत्रपतिने ब्राह्मणसे कलम-दावात और कागज लेकर एक पत्र लिखा और उस वहाँके सूबदारको दे आनेको दिया। पत्रम लिखा था—'शिवाजी इस ब्राह्मणके घर टिका है। इसक साथ आकर पकड ल। लेकिन इस सूचनाके लिये ब्राह्मणको दा हजार अशर्फियाँ द द। एसा नहीं करनेपर शिवाजी हाथ आनवाला नही है।'

सूबेदार जानता था कि शिवाजी बातके धनी ह और उनकी इच्छाके विरुद्ध उन्ह पकड लेना हँसी-खल भी नहीं है। शिवाजाको दिल्ली-दरबारम उपस्थित करनेपर बादशाहसे पुरस्कारम एक सूबातक मिल सकना सम्भव था। इसलिये दो सहस्र अशर्फियाँ लेकर वह ब्राह्मणक घर गया आर थेली वहाँ दकर शिवाजीका अपन साथ ले चला।

ब्राह्मणको अबतक कुछ पता नहीं था। जब सूबेदार उसक अतिथि गास्वामाको अपन साथ लकर चला ता ब्राह्मण बहुत दु खी हुआ। अचानक उस गास्वामीके साथी तानाजी दिख। वह उनक पास गया आर उनसे गास्वामीक सूबदारद्वारा पकडकर ले जानेकी बात सुनायी। तानाजीने बताया—'व गा-ब्राह्मण-प्रतिपालक छत्रपति शिवाजी थे। मैं उनका सवक हूँ।'

ब्राह्मण ता यह सुनते ही मूर्च्छित हा गया। चेतना लाटनेपर सिर पीट-पीटकर रोने लगा—'वे मर अतिथि थे। मुझ अधमकी दरिद्रता दूर करनेके लिय उन्हान अपने-आपको मृत्युके मुखम दे दिया। मुझ पापीक द्वारा ही वे शत्रुके हाथा दिय गये।'

ब्राह्मण बार-बार हठ करने लगा कि दा सहस्र अशर्फियाँ तानाजी ल ल ओर किसी प्रकार सूबदार छत्रपतिको छुडाय। तानाजी पहल ही पता लगाकर आय थे कि सूबदार कल किस समय, किस मार्गसे शिवाजीको दिल्ली ले जायगा। ब्राह्मणको उन्हाने आश्वासन दिया। सूबेदार जब छत्रपतिको लकर सिपाहियाक साथ रात्रिम चला, वनम पहुँचते ही तानाजीने अचानक आक्रमण कर दिया। उनक साथ पचास सैनिक थे। शिवाजाका उन्हाने सूबेदारके हाथसे मुक्त कर लिया।

(२) गुरु तेगबहादुर

'इस्लाम कबूल कर लो ता पूरा सूबा तुम्हारा हा जायगा।' व्यर्थ था दिल्लीपतिका प्रलाभन।

'लोभ और भय तेगबहादुरक हृदयका नहीं छूत।' गुरुका गम्भीर स्वर गूँजा—'सम्पत्ति चञ्चला ह आर शरीर नाशवान्। मात्र धर्म ही शाश्वत हे।'

पजाबम दिल्लीपतिका अत्याचार बढ गया तो स्वय गुरुने लोगाका कहकर सदश भिजवाया था कि 'तगबहादुर इस्लाम कबूल कर ल ता यहाँ सभी कबूल कर लगे।' दिल्लीपतिका छलपूर्ण आमन्त्रण, किंतु धमक लिय आत्मदान करनका निश्चय तो स्वय गुरुन ही किया था।

'सत् श्रीअकाल!' अग्निस उत्तप्त लाल-लाल सींखचास गुरु तगबहादुरके शरीरका बाटा-बाटा अत्याचारी नोच सकता था—उसन अपनी पशाचिकता पूरा की किंतु गुरुक हृदयके प्रकाशका एव उनका अकाल पुरुषका जयघाषणाका बद करना उसक वशका बात कहाँ थी?

(३) गुरु गोविन्दसिंह

मृत्यु कापुरुषोंको कम्पित करती है। पिताके बलिदानने पुत्रको प्रचण्ड बना दिया। गुरु गोविन्दसिंहने नवीन शङ्खनाद किया पाञ्चालमें। मालाके स्थानपर सिखोंके बलशाली कराने कृपाण उठा लिये। गुरुके आह्वान 'धर्म तुम्हें पुकार रहा है। धर्मके सैनिको! धर्मरक्षाके लिये शस्त्र धारण करो! जीवन-धर्मपर बलि होनेके लिये।'

'जीवन धर्मपर बलि होनेके लिये!' गुरुकी वाणी गूँजी और साधन—प्राण, शान्त, सरल साधुओंका समुदाय सिंहोंका समाज बन गया। औरंगजेबी अत्याचारके दुर्गपर प्रचण्डतम आघात पड़ने लगे। पाञ्चालसे यवन-सत्ताको समाप्त होनेमें समय नहीं लगा।

नीतिविद् वीरशिरोमणि महाराणा प्रताप

(श्रीप्रभुदासजी वैरागी एम्० ए० बी० एड्०, साहित्यालङ्कार)

मेवाड़की धरतीने अनेक वीर सपूतोंको जन्म दिया है। यहाँके नीतिमान्, धर्मपालक तथा राष्ट्र-प्रेमी नरेशोंका एक गौरवशाली इतिहास रहा है। ये राजा न तो स्वयं कभी अनीतिपर उतरे और न ही उन्होंने अपनी प्रजाको अनीतिपर उतरने दिया। वे सदैव हिन्दू-गो-ब्राह्मणोंके प्रतिपालक रहे और अपने पराक्रमसे उन्होंने ऐसे कार्य किये जिन्हें आज भी इतिहास दोहरा रहा है। ऐसे ही क्षत्रिय राजाओंमें मेवाड़के परम प्रतापी महाराणा प्रताप भी एक हैं। जिनका नाम सुनते ही हृदयमें वीर-रसका प्रादुर्भाव होने लगता है।

स्वतन्त्रताप्रिय, आत्माभिमानी तथा अपने कुलगौरवके रक्षक वीरशिरोमणि महाराणा प्रतापका जन्म वि० सं० १५९७ ज्येष्ठ सुदी ३ रविवारको हुआ। युवा होनेपर महाराणा प्रताप मेवाड़की राजगद्दीपर विराजे। उस समयकी शोभा देखते ही बनती थी। लंबा कद, विशाल नेत्र, भरा हुआ चेहरा, ललाटपर तिलक, शौर्यसूचक तेज, फिर मूँछें बड़ी-बड़ी और खड़ी, उन्नत वक्ष:स्थल, दीर्घ बाहु एवं सुहावना गेहुआँ रंग—ऐसा था उनका शारीरिक सौन्दर्य। उनके एक हाथमें भाला सुशोभित होता था। दुधारी तलवार सदा कमरमें लटकी रहती थी। धनुष-बाण और कटार भी यथावसर वे धारण करते थे। जब मेवाड़के सूर्यगोखड़ेमें कलात्मक स्वर्ण-रत्नजटित सिंहासनपर वे विराजते थे तो दूसरे विवस्वान्-से प्रतीत होते थे।

उन्होंने एकलिङ्गनाथ भगवान्को मेवाड़का अधिपति मानकर उनके दीवानकी भाँति अपने राज्यका सदैव संचालन किया। कोई भी न्याय देते समय उन्होंने अपनी धर्मनीतिको कभी नहीं छोड़ा।

प्रजावत्सल एवं नीति-निपुण महाराणा प्रतापके गौरवशाली शासनकी प्रशंसा आगरामें मुगल शाहंशाह अकबरतक पहुँची। वह मन-ही-मन चिढ़ने लगा। उस समय अकबरके प्रभावके सम्मुख राजस्थानके कई राजा नतमस्तक हो चुके थे। यही नहीं, उससे उन्होंने अपने सम्बन्ध भी बना लिये थे। परंतु आन-बान और शानके धनी महाराणा प्रताप अपनी नीतिपर अटल थे। उन्हें अपनी मान-मर्यादाका पूरा ध्यान था। अतः उन्होंने निर्भीक होकर मेवाड़का शासन सँभाला। शाहंशाह अकबरकी उन्होंने कोई परवा नहीं की।

अकबरको महाराणा प्रतापकी यह स्वतन्त्रता फूटी आँखों नहीं देखा गया और उसने उसी समय आमेरके राजा भगवानदास कछवाहाके भतीजे कुँवर मानसिंहको विशाल सेनाके साथ डूँगरपुर और उदयपुरके राजाओंसे शाही अधीनता स्वीकार कराने-हेतु भेजा। महाराणा प्रतापको समझाने स्वयं मानसिंह उदयपुर आया, परंतु स्वाभिमानी महाराणा प्रतापने उसकी एक न सुनी। उसके उदयपुरसे विदा होते समय महाराणाने उसे एक प्रीतिभोज अवश्य दिया, परंतु पेटदर्दका बहाना बनाकर उस भोजमें वे स्वयं सम्मिलित नहीं हुए, क्योंकि मुगलोंके साथ अपना व्यवहार रखनेवालेको महाराणा प्रताप हीन-दृष्टिसे देखते थे और उसके साथ भोजन तो क्या पंक्तिमें बैठना भी वे अपमान समझते थे। इसी बातपर सरदारों तथा मानसिंहमें कुछ

कहा-सुनी भी हो गयी। महाराणा प्रतापने स्पष्ट कहला दिया कि 'यदि तुम अपने बलपर चढ़ाई करोगे तो हम तुम्हारा स्वागत मालपुरेमें करेंगे और यदि अपने फूफा अर्थात् अकबरके बलपर आओगे तो जहाँ अवसर मिलेगा वहीं सँभाल लेंगे।' मानसिंह अपमानित होकर उलटे पाँव लौट गया। धर्मनीतिके अनुसार महाराणाने भोजनकी पूरी सामग्री तालाबमें फिंकवा दी, जमीन खुदवा दी और उसपर गङ्गाजलका छिड़काव कराकर उस भूमिको पवित्र कराया।

जब अकबरको इस घटनाका पता चला तो उसने विशाल शाही सेनाके साथ मानसिंहको वि० सं० १६३२ में मेवाड़पर आक्रमण-हेतु भेजा। यहाँ आकर बनास नदीके किनारे उसने अपनी छावनी डाली। युद्धके कुछ दिन-पूर्व वह अपने साथियोंको लेकर मेवाड़के जंगलमें शिकार खेलने निकला। गुप्तचरोंने तत्काल वीरवर प्रतापको सूचना दी कि मानसिंह अकेला है और अच्छा अवसर है उसे शीघ्र मार देना चाहिये। किंतु उन नरपुङ्गवने कहा—'छल-कपटसे शत्रुको मारना क्षत्रियोचित नीतिके अनुकूल नहीं है।' ऐसा कहकर उन्होंने मानसिंहपर आक्रमण करनेसे मना कर दिया।

वि० सं० १६३३ ज्येष्ठ सुदी २ बुधवारको प्रातःकाल हल्दीघाटीके रणाङ्गणमें दोनों सेनाओंके मध्य युद्ध छिड़ गया। यह स्वतन्त्रताका संग्राम था। अकबरकी सेनासे लड़नेके लिये महाराणा प्रतापने विशेष युद्ध-नीति बनायी और अपने सामन्त-सरदारों तथा भील-वीरोंको हल्दीघाटीकी विहगम उपत्यकामें भेज दिया। कुछ सैनिकोंको पहाड़की चोटियोंपर चढ़ा दिया एवं कुछको गिरि-शिखरोंके पीछे छिपा दिया। ज्यों ही मुगल-सेनाने इस घाटीमें प्रवेश किया उसपर महाराणा एवं उनके वीर सैनिकोंने हमला कर दिया। मैदानमें लड़नेवाले मुगल-सैनिकोंको घाटीमें लड़नेका अनुभव नहीं था। कहाँ ये साठ हजार मुगल सैनिक और कहाँ केवल आठ हजार मेवाड़के रणबाँकुरे। घाटीमें ऐसा तुमुल युद्ध हुआ कि हजारों मुगल मारे गये। रणबाँकुरे महाराणा प्रतापने संकेत करके अपने प्यारे घोड़े चेतकको ऐसा उछाला कि उसके दोनों पैर प्रतिपक्षी गजराजके गण्डस्थलपर जा टिके। अपने भालेके एक ही वारसे उन्होंने महावतको मार डाला तथा हाथीके लौह-निर्मित हौदेको भी तोड़ डाला। उसपर बैठा मानसिंह बाल-बाल बच गया अन्यथा युद्धका निर्णय उसी समय हो जाता। नीति-निपुण महाराणाकी इस युद्धनीतिसे शाही सेना आकुल-व्याकुल हो उठी तथा येन-केन-प्रकारेण अपने प्राणोंकी रक्षा करती हुई वापस लौट गयी।

महाराणा प्रताप अत्यन्त पराक्रमी थे। अपने शरीरपर भारी वजनदार लौह-कवच पहनकर वे युद्धभूमिमें आसानीसे इधर-उधर घूम लेते और तलवार चला लेते। रणाङ्गणमें महाराणा प्रतापके सबल हाथोंद्वारा प्रहार करते समय तलवार चक्र बनाती हुई ऐसी घूमती कि जिधर देखो उधर बड़े-बड़े समर्थ योद्धाओंके रुण्ड-मुण्ड कटते हुए दिखायी देते और कायर तो तत्क्षण भाग छूटते। वे अपना बहुत भारी लोहेका भाला कमलनालकी भाँति सहज ढंगसे चलाकर शत्रुकी छातीमें घोंप देते। रणभूमिमें महाराणा प्रतापके दर्शनमात्रसे मेवाड़ी वीरोंमें युद्धोन्मेष बना रहता तथा थके हुए शरीरमें भी नवीन प्राणोंका संचार हो जाता। दिवेरके युद्धमें बहलोल खाँ अपनी अकड़ दिखाता हुआ महाराणा प्रतापके समक्ष आ गया। सम्भवतः वह महाराणाके अतुल पराक्रमको नहीं जानता था। कुछ बोलकर वह वार करे इसके पूर्व ही शक्तिपुञ्ज महाराणा प्रतापने अपनी तलवारसे घोड़ेसहित बहलोल खाँको दो फाड़ोंमें चीर डाला। दूसरी ओर महाराणा प्रतापके पुत्र युवराज अमरसिंहने अपना भाला सुल्तान खाँकी छातीमें इतने जोरसे मारा कि वह उसके साथ-साथ घोड़ेके भी आर-पार निकलकर जमीनमें जा घुसा। इस प्रकार अकबरद्वारा किये गये दूसरे हमलेमें भी उसे सफलता नहीं मिली—वह मुँहकी खा गया।

महाराणा प्रताप युद्ध करते समय भी अपना व्यवहार धर्मानुकूल रखते थे। एक बार युद्ध-कालमें महाराणाके शूरवीर सरदारोंके हाथ शाही सेनापति मिर्जा खाँकी औरतें आ गयीं। भारतीय संस्कृतिके परम उदात्त संरक्षक वीर-शिरोमणि महाराणा प्रतापने उनको अपनी बहिन-बेटीकी भाँति सम्मानित किया और आदरसहित मिर्जा खाँके पास पहुँचा दिया।

वि०सं० १६३५ में शाहबाज खाँके नेतृत्वमें एक और विशाल सेना महाराणा प्रतापपर आक्रमण करनेके लिये भेजी गयी। इस सेनाने घोर युद्ध करके कुंभलगढ़ और केलवाड़ापर अपना आधिपत्य कर लिया गोगुन्दा एवं

उदयपुरको खूब लूटा तथा महाराणाको मारने-हेतु बहुविध प्रयास किया, परंतु इसमें उसे सफलता नहीं मिली। महाराणा प्रताप इस समय दुर्गम्य पहाडी क्षेत्र मचान्द नामक स्थानपर आ गये और अपने परिवारसहित संकटके दिन व्यतीत करने लगे। मेवाडमें यत्र-तत्र मुगलसेना बिखरी पडी थी। महाराणा अर्थाभावसे बहुत दुःखी थे। यहाँ उन्होंने घासकी रोटियाँ खायीं। ऐसी ही एक घासकी रोटी युवराज कुमार अमरसिंहके हाथसे जंगली बिलाव झपटकर ले गया तब उस दृश्यको देखकर महाराणा प्रतापका हृदय क्षुब्ध तो हुआ परंतु उन्होंने अपनी नैतिकतामें कमी नहीं आने दी तथा मान-मर्यादाकी रक्षाके लिये नगाधिराज हिमालयके समान वे अडिग बने रहे। इस घोर विपत्तिके समयमें उन्होंने बडी कठिन प्रतिज्ञा की—

'जबतक मैं शत्रुओंसे अपनी पावन मातृभूमिको मुक्त नहीं करा लेता तबतक न तो महलोंमें रहूँगा, न शय्यापर सोऊँगा और न सोने-चाँदी अथवा किसी धातुके पात्रमें भोजन करूँगा। वृक्षोंकी छावँ ही मेरा महल, घास ही मेरा बिछौना और पत्ते ही मेरे भोजनके पात्र होंगे।'

इसी बीच महाराणा प्रतापको ढूँढते हुए उनके प्रधानमन्त्री भामाशाह उनके पास आये और २० लाख अशर्फियाँ तथा २५ लाख रुपये भेट करके उनसे पुनः सैन्य संगठनकर मेवाडको मुक्त करानेका निवेदन किया। इस अधिसंख्य राशिको प्राप्तकर महाराणा प्रतापने फिरसे नूतन उत्साहके साथ क्षत्रिय-वीरों तथा भील-समुदायको एकत्रित किया। उन्हें पुनः युद्ध-संचालनकी दीक्षा देकर अस्त्र-शस्त्रसे सुसज्जित किया। पुनः अपना पराक्रम बढाया और श्रीएकलिङ्गनाथके जयघोषके साथ मुगल-सेनापर सभी दिशाओंसे दुर्धर्ष आक्रमण किया। महाराणाने इस युद्धमें फिरसे कुम्भलगढको जीत लिया और मेवाडका पूरा प्रदेश उनके आधिपत्यमें आ गया, परंतु चित्तौडगढ और माण्डलगढ वे अपने अधीन नहीं कर पाये। उधर शाहंशाह अकबर पंजाब तथा दक्षिणमें उठे बवंडरमें उलझ गया और मेवाडपर बार-बार आक्रमणकी असफलतासे निराश होकर उसने महाराणा प्रतापसे युद्ध करना छोड दिया। इस प्रकार महाराणा प्रतापने दो वर्षतक मेवाडमें पुनः धर्म-राज्य किया।

एक बार शिकार खेलते समय मृगराजसिंह दूरसे उनकी ओर लपककर आता दीखा। महाराणा प्रतापने सजग होकर अपने धनुषपर शर संधान करके साक्रोश उसे इतना जोरसे छोडा कि बाणके लगते ही सिंह तो धराशायी हो गया। परंतु मेवाडके इन नरसिंह महाराणा प्रतापके पेटमें भी बडी आँतपर चोट आ गयी। वे रुग्ण हो गये। जब वे मृत्यु-शय्यापर लेटे हुए थे तब सरदारोंने उन्हें हताश देखकर उनकी हताशाका कारण पूछा। उस समय महाराणाने कहा—'मेरे चले जानेपर मेवाडका क्या होगा?' तभी सभी सरदारोंने सौगन्ध खाकर महाराणा प्रतापको विश्वस्त किया कि वे उनके उद्देश्योंको पूरा करेंगे तथा सिसोदिया राजवंशकी प्रतिष्ठा अक्षुण्ण बनाये रखेंगे। इससे महाराणा प्रतापको बडा संतोष हुआ। जीवनपर्यन्त अपने महिमामय व्यक्तित्वसे मेवाडकी रक्षा करते हुए महाराणा प्रतापका वि० सं० १६५३ माघ शुक्ल प्रतिपदाके दिन प्राणोत्सर्ग हो गया।

बीकानेरके राजा अकबरके 'दरबारके नवरत्न श्रीकृष्णचरणानुरागी भक्ति-शृङ्गारके रचयिता सिद्धहस्त कवि श्रीपृथ्वीराज राठोरने निम्न पंक्ति लिखकर महाराणा प्रतापकी अभ्यर्थना की—

'माई एहड़ा पूत जण, जहडा राण प्रताप'

इसके बाद महाराणा प्रतापके यशस्वी वंशजोंने अपने शासनमें राजनीतिके साथ-साथ मान-मर्यादाका भी पूरा-पूरा पालन किया तथा धर्मानुसार मेवाडका शासन चलाया। मेवाडके महाराणाओंमें भक्ति एवं शक्तिका अद्भुत समन्वय एक साथ देखनेको मिलता है। वे श्रीएकलिङ्गनाथकी सेवामें पहुँचकर भगवान्‌के अभिषेकहेतु जलका घडा स्वयं बावडीसे भरकर अपने कंधेपर उठा लाते। रथयात्रापर श्रीजगन्नाथप्रभुके रथकी डोर स्वयं खींचते, जलझूलनी एकादशीपर श्रीचारभुजानाथको राम-रेवाडीको अपने कंधेपर उठाते एवं प्रत्येक गोवर्धनपूजा तथा अन्नकूटोत्सवपर प्रभु श्रीनाथजीके दर्शन और सेवार्थ सम्मिलित होते।

आज भी यह वीरवंश मेवाडकी वसुधापर प्रणम्य बना हुआ है।

नीति-निपुण नरेश बुन्देलकेसरी महाराज छत्रसाल बुन्देला

(पं० श्रीहरिविष्णुजी अवस्थी)

भारतीय इतिहासमें 'बुन्देलकेसरी' विशेषणसे विभूषित महाराज छत्रसाल बुन्देला (सन् १७०७—१७३२ ई०) एक ऐसे कुशल शासक हुए, जिन्होंने अपने प्रचण्ड बाहुबलसे मुगल साम्राज्यके विस्तृत भू-भागपर अधिकार कर पन्ना नामक राज्यकी स्थापना की। एक कविने छत्रसालके राज्यकी सीमाओंका उल्लेख करते हुए लिखा है—

इत जमुना उत नर्मदा, इत चंबल उत टोंस।
छत्रसाल सों लरन की, रही न काहू हौंस॥

प्रचण्ड बाहुबलसे विशाल राज्य तो स्थापित किया जा सकता है, किंतु राज्य-संचालनहेतु चाहिये दूरदर्शी, बुद्धिमान् एवं नीतिमान् नरेश। मानव-इतिहासके सबसे विलक्षण राजनीतिज्ञ चाणक्यने कहा है—'राज्यमूलमिन्द्रियजयः' अर्थात् सत्ताका मूल है इन्द्रियोंको वशमें रखना। नैतिकता तो राजनीतिकी रीढ़ होती है।

महाराज छत्रसालका एक वीर योद्धाके साथ-ही-साथ एक नीति-निपुण नरेशके रूपमें भी स्मरण किया जाता है। उन्होंने बहुत अंशोंतक रामराज्य स्थापित कर दिया था। वे प्रजाका पुत्रवत् पालन करते थे। मदोद्धतको यथेष्ट दण्ड देना और शरणागत, दीन तथा गो-ब्राह्मणोंकी रक्षा करना उनका एकमात्र ध्येय था। उन्होंने स्त्रियोंके प्रति दुर्व्यवहार करनेवालोंके लिये कठिन दण्डकी व्यवस्था की। वे उदार और प्रजापालनमें तत्पर शासक थे।'

महाराज छत्रसालका कलम और करवालपर समान अधिकार था। एक ओर जहाँ वे वीर योद्धा थे वहीं दूसरी ओर एक सफल कवि भी। उनकी भक्तिविषयक रचनाएँ श्रीराधाकृष्ण, भगवान् श्रीराम एवं बजरंगबली श्रीहनुमान्‌से मुख्यतः सम्बन्धित हैं। भक्ति-सम्बन्धी रचनाओंके साथ-ही-साथ उन्होंने नीतिविषयक छन्दोंका भी सृजन किया है। उनके द्वारा रचित नीतिमञ्जरीका राजनीति-सम्बन्धी एक छन्द द्रष्टव्य है—

चाहो धन धाम भूमि भूषन भलाई भूरि
सुजस सहूरजुत रैयत का लालियो।
तोड़ादार घोड़ादार बारन सों प्रीति करि
साहस सों जात जग खल ते न चालियो॥
सालिया उदंडनि को दंडनि को दीजौ दंड
करिकै घमंड घाव दीन पै न घालियो।
बिनती छत्रसाल करै हाय जो नरेश देश
रहै न कलेस लेस मेरो कह्यो पालियो॥

उपर्युक्त छन्दका अति संक्षिप्त रूप भी द्रष्टव्य है—

राजी सब रैयत रहै, ताजी रहैं सिपाहि।
छत्रसाल, ता राज को, बार न बाँको जाहि॥

राजनीतिमें शत्रुपर दया दिखानेपर एक प्रचण्ड योद्धा पृथ्वीराज चौहानको क्या दुष्परिणाम भोगना पड़ा उसकी ओर संकेत करते हुए महाराज छत्रसाल लिखते हैं—

अपुनो मन-भायो कियो गहि गोरी सुलतान।
सात बार छाँड्यौ नृपति, कुमति करी चहुवान॥
कुमति करी चहुवान ताहि निंदत सब काऊ।
असुर बैरि इक बार पकरि काढे दृग दोऊ॥
दोउ दीन की बर आदि अतहि चलि आयो।
कहि नृप छता बिचारि कियौ अपुनो मन-भायौ॥

स्वार्थ और परमार्थको परिभाषित करते हुए वे लिखते हैं—

निज स्वारथ सो पाप नहि, परमारथ सो पुन्न।
दिये इकाइ सुन्न ज्यों, होतु छता दस गुन्न॥

अपनी वृद्धावस्थामें मुहम्मद खाँ बंगस जफर जंगद्वारा राज्यपर किये गये आक्रमणका सामना करनेमें अपनेको असमर्थ समझते हुए उन्होंने इस नाजुक अवसरपर बाजीराव पेशवासे सहायता लेनेमें कोई संकोच नहीं किया और बाजीरावको आमन्त्रित करते हुए लिखा—

जो बीती गजराय पर, सो बीती अब आय।
बाजी जाति बुँदेल की, राखो बाजीराय॥

छत्रसालका पत्र पाते ही बाजीराव पेशवा एक लक्ष घुड़-सवारोंकी विशाल सेना लेकर उनकी सहायताहेतु आ पहुँचे और उन्होंने पन्ना राज्यको बंगसके हाथोंमें जानेसे बचा लिया। महाराजने इस उपकारके बदले बाजीरावको अपना तीसरा पुत्र मानकर पन्ना राज्यका तीसरा भाग उन्हें प्रदान कर अपने वचनका पालन किया। अन्ततक अपनी राजनीतिक सूझ-बूझसे उन्होंने पन्ना राज्यकी रक्षा की।

महाराज छत्रसालका बुन्देलखण्डमें वही स्थान है जो महाराणा प्रतापका राजस्थानमें, छत्रपति शिवाजीका महाराष्ट्रमें या गुरु गोविन्दसिंहका पंजाबमें। चारों एक ही पन्थके पथिक थे।

धर्म, राज्य और नीति

(राधेश्याम खेमका)

आजकल देशमें एक विवाद चल पड़ा है कि धर्मको राजनीतिसे अलग रखा जाय।

वास्तवमें मनुष्यका एक स्वभाव है कि वह निरन्तर सुख चाहता है—इस लोकमें भी और परलोकमें भी। इसके लिये वह विविध उपाय भी करता है, पर यह एक अत्यन्त विचारणीय प्रश्न है कि व्यक्ति, समाज और राष्ट्र सुखी कैसे बने? इस लोकमें अर्थात् जीवनकालमें शरीर-निर्वाहके साधन सुगमतासे प्राप्त हो जायँ और विभिन्न चिन्ताओंसे जीव मुक्त हो जाय तथा मृत्युके बाद जन्म-मरणके बन्धनसे छूट जाय एवं अनन्त शान्ति तथा आनन्दमें निमग्न हो जाय, यही वास्तविक सुख है। इस सुखकी प्राप्ति कैसे हो? इस सम्बन्धमें हमारे ऋषि-महर्षि और शास्त्रोंने पूर्णरूपसे विचार किया है और वे इस निष्कर्षपर पहुँचे कि मानव-योनि प्राप्त होनेपर ही जीव अपना कल्याण कर पाता है अर्थात् अपनी उन्नतिका मार्ग प्रशस्त करता है। अपने शास्त्रोंके अनुसार संसारमें चौरासी लाख योनियाँ हैं, परंतु मनुष्य-योनिसे अतिरिक्त पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि सभी योनियाँ निकृष्ट योनिके अन्तर्गत मानी जाती हैं। इन निकृष्ट योनियोंमें जीवकी उन्नतिके लिये कोई साधन नहीं होता। जन्म लेना और प्रारब्धके अनुसार सुख-दुःख भोगकर मर जाना—इतना मात्र ही प्रकृतिका नियम है। एकमात्र मनुष्य-योनि ही ऐसी योनि है, जिसे पाकर जीव श्रुति-स्मृत्यादि शास्त्रोंके अनुसार अपने विवेक और बुद्धिके द्वारा धर्माधर्मका विचार करता है तथा अपने कल्याणका साधन ढूँढ़ता है। अपने शास्त्रोंमें यह कहा गया है कि जिसके आचरणसे अभ्युदय तथा निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है, उसका नाम धर्म है—

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'।

यहाँ अभ्युदयका तात्पर्य है—लौकिक जीवनमें उन्नति करना। निःश्रेयस्का अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये—श्रेयस्का अर्थ है कल्याण। जिस कल्याणसे बढ़कर दूसरा कोई बड़ा या अधिक महत्त्वका कल्याण न हो, उस सर्वश्रेष्ठ या सर्वोपरि कल्याणको निःश्रेयस कहते हैं। सर्वश्रेष्ठ कल्याण है—'मोक्ष' अर्थात् जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्ति। इसीलिये भारतीय संस्कृतिमें मानव-जीवनकी सफलताके चार प्रकारके पुरुषार्थ कहे गये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें अन्तिम लक्ष्य मोक्ष ही है। यदि प्राणी मानव-जन्म लेकर भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सका तो उसने जीवन व्यर्थ ही गँवाया। वह 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्' के चक्करमें पड़ा रहेगा। भारतकी यही विशेषता है कि यहाँ धर्मको प्रधानता दी गयी है। कारण, धर्मका सीधा सम्बन्ध मोक्षसे है। धर्मसे अविरुद्ध काम और अर्थका सेवन करता हुआ मानव यहाँ मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इसलिये सर्वतोभावेन सबको धर्मका पालन करना चाहिये।

आजकल कुछ लोग कहते हैं कि 'धर्मको राजनीतिसे अलग रखा जाय', यह बात वैसी ही है जैसे शरीरसे आत्माको निकालकर कोई खाने-पीने चलने-फिरनेकी पूर्ण आशा रखता है। यह उसकी मूढ़ता या विक्षिप्तता ही कही जायगी। वस्तुतः व्यक्ति, समाज और देश, सब मिलकर जो एक राज्य है, वह शरीर है तथा धर्म उसकी आत्मा है। आत्माके बिना शरीर शव है निश्चेष्ट है और शरीरके बिना आत्माका कोई ज्ञान और परिचय नहीं।

धर्म मानवमात्रका एक ऐसा उचित कर्तव्य है जिसका पालन करनेसे व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा सम्पूर्ण लोककी स्थिति सत्ता अक्षुण्ण बनी रहती है एवं जिसमें

मानव इस लोकमे अभ्युदय ओर परलोकम परमात्माके प्राप्तिरूप नि श्रेयसको प्राप्त करते हैं। अत राजा या राज्य-व्यवस्थाकी आवश्यकता ही इसलिये हे कि वह प्रजाके धर्म-पालनम किसी प्रकारकी अडचन या व्यवधान न आने दे। यदि राजा या राज्य-व्यवस्थाके रहते प्रजा अपने धर्मका पालन नहीं कर सकती तो राजा या राज्य-व्यवस्थाकी क्या आवश्यकता है? राज्य-व्यवस्थाके रहते यदि प्रजामे अनाचार, अत्याचार और धर्महीनताका नग्न ताण्डव होता हे तो फिर राज्य-व्यवस्थाकी सार्थकता ही क्या है?

वास्तवमे इस जगत्के दो रूप हैं—एक सूक्ष्म तथा दूसरा स्थूल। इसीको अन्तर्जगत् तथा बाह्यजगत् भी कह सकते ह। अन्तर्जगत्को नियन्त्रणमे रखनेके लिये धर्मकी आवश्यकता होती है तथा बाह्यजगत्का नियन्त्रणम रखनेके लिये राज्यकी स्थापना की जाती है। राज्यका अनुशासन जहाँ शरीरमय स्थूल जगत्पर नियन्त्रण लगाता ह, धर्मका अनुशासन वहाँ मनामय जगत्पर सूक्ष्म नियन्त्रण लगाता है अर्थात् मन-बुद्धिपर इसका प्रभाव पडता है। धर्महीनताके कारण यदि सूक्ष्म मानसिक जगत्मे अशान्ति एव उपद्रव आ गया तो स्थूल शारीरिक जगत्म अशान्ति एव उपद्रवका होना निश्चित ही है। मानसिक सूक्ष्म जगत्को नियन्त्रणम रखनेके लिय धर्मानुशासन ही समर्थ है। राज्यके प्रभाव तथा अनुशासनकी अपेक्षा धमका अनुशासन कहीं अधिक बलवान् हाता हे। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा सम्पूर्ण लाक केवल राजकीय अनुशासनपर ही अवलम्बित नहीं ह इसम धर्मकी भी आवश्यकता है। लोकयात्राका निर्वाह धर्म तथा राज्य दोनासे चलता है। धर्मकी रक्षाके लिये ही राज्यकी स्थापना हाती ह तथा राज्यकी रक्षाके लिये धर्मकी आवश्यकता होती है। राज्य न रहे तो धर्म नहीं रह सकता और धर्म न रह ता राज्य उजडते देर नहीं लगती। राज्यके द्वारा यदि धर्मकी स्थापना न की जाय तो सारी प्रजा धर्मसे शून्य होकर निरकुश हो जायगी और राजकीय अनुशासनका उल्लघन करने लगेगी। धर्मसे विहीन राज्यमे दुष्टाका दल-बल बढन लग जाता हे और फिर राज्यम मनुष्यके द्वारा ही मनुष्यपर घोर अन्याय, अत्याचार होने लग जाता है। धर्मकी भावनाआसे शून्य होनेके कारण उच्छृखल उद्दण्ड, अन्यायियाकी सख्या इतनी अधिक मात्राम बढ जाती ह कि काई भी प्रभावशाली शासक या राजकीय कर्मचारी उनपर *नियन्त्रण लगानेमे सफल नही हो सकता और* कुछ ही वर्षोम सारा राज्य तथा राष्ट्र उजड जाता ह एव अपन किसी बलवान् शत्रुके वशम होकर सदाके लिय परतन्त्र हो जाता हे। धर्मका अनुशासन तथा राज्यका अनुशासन दोना मिलकर ही व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा विश्वकी स्थिति,सत्ताको सुरक्षित रखे रहते हैं। शारीरिक स्थूल जगत्का राजकीय अनुशासन तथा मानसिक सूक्ष्म जगत्को धार्मिक अनुशासन अपने नियन्त्रणमे रखता है ओर दोनोके नियन्त्रणमे रहनेसे ही स्थिति सत्ताका अस्तित्व रह सकता हे। अन्यथा अतिशीघ्र ही राज्य तथा राष्ट्र—दोनो ही नष्ट हो जात ह।

किसी भी देशको अधिक दिनातक गुलाम बनाकर रखनेके लिये वहाँके धर्म तथा सस्कृतिको मिटाना आवश्यक होता है, यही कारण हे कि कुछ वर्षो-पूर्वतक जब भारत परतन्त्रताकी बेडीम कसा था आर यहाँके शासक अग्रेज थे तो इन अग्रेजाने भी यहाँकी सस्कृतिको मिटानेका भरपूर प्रयास किया। भारतीय सस्कृतिक आधारभूत ग्रन्थ 'वेद' जिन्हे हम अनादि, अपारुषय आर साक्षात् भगवद्वाणीके रूपम स्वीकारते ह, मक्समूलर मेकडानल-जैसे पाश्चात्त्य विद्वानाने अपना सम्पूर्ण जीवन यह सिद्ध करनेम ही बिताया कि व मनुष्यद्वारा निर्मित हैं और अमुक समयम बनाये गये हैं। उनका लक्ष्य था 'वदाम जा हमारी अटूट श्रद्धा ह हम इस परमश्वरकी

वाणी मानते ह उस क्षति पहुँचे' पर यह कार्य इतना सरल नहीं था।

आज देशके कुछ कर्णधार भारतीय सस्कृतिकी दुहाई तो देते हैं, पर उनकी शिक्षा-दीक्षा विदशी परिवेशम होनेके कारण वे यहाँकी सस्कृतिसे पूर्ण अपरिचित-जैसे ह। इनमसे कुछ तो यहाँतक कहते ह कि पाश्चात्त्य देशाम राजनीतिक दर्शन ह, परतु भारतम कोई राजनीतिक दर्शन नहीं ह। उनकी दृष्टिम प्राचीन भारतमे राजनीतिज्ञ दार्शनिक नहीं थे, परतु उनका यह कथन कितना निराधार है? हमारे आर्षग्रन्थ वेद, जिसमे वेदान्त भी है ओर राजनीति भी है। मनु, याज्ञवल्क्य आदिके धर्मशास्त्राम दर्शन भी है और राजनीति भी है। वदान्तदर्शनके रचयिता वेदव्यास ही महाभारतके भी रचयिता ह, जो इस देशके सबसे बड दार्शनिक और सबस बड राजनीतिज्ञ ह। बृहस्पति, शुक्र कणिक, कौटिल्य, कामन्दक आदि सभी राजनीतिक दार्शनिक हुए हैं। योगवासिष्ठके वसिष्ठ जो सूर्यवशकी राजनीतिक कर्णधार थे, महान् दार्शनिक और महान् राजनीतिज्ञ भी थे। हमारे विभिन्न पुराण और रामायण तथा महाभारत आदि ग्रन्थ भारतीय दर्शनक साथ-साथ राजनीतिक शास्त्र भी हैं। महाभारतका मोक्षधर्म, गीताका दर्शन और शान्तिपर्वका राजधर्म तो इसके उदाहरण ही हैं। पर भारतीय राजनीतिकी यह विशेषता रही ह कि वह 'सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय' है।

न वै राज्य न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिक ।
धर्मेणेव प्रजा सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥

(महा० शान्ति० ५९।१४)

जहाँ राजा धार्मिक होता ह और प्रजा भी धार्मिक होती ह, वहाँ कोई किसीका शोषक नहीं होता, सब एक-दूसरेके पोषक, रक्षक और हितचिन्तक होत हैं।

महान् दार्शनिक एव राजनीतिज्ञ महात्मा चाणक्यने अपने अर्थशास्त्रम प्रजाको सुख देनेवाली राजनीतिका धर्मसे अटूट सम्बन्ध बताते हुए कहा है—'सुखस्य मूल धर्म ।' अपनी कूटनीतिके कारण ही जिसका नाम कौटिल्य पडा, वह भी राजनीतिम धर्मकी सत्ता स्वीकार करता ह। 'अग्निपुराण'म तो यहाँ तक कहा गया है कि 'आधि-व्याधिसे ग्रस्त तथा आज या कल ही नष्ट होनवाले इस शरीरके लिये कौन राजा या शासक धर्मविरुद्ध आचरण करेगा।'

रामायण और महाभारत इस देशके गौरवशाली इतिहास ह, जो हमारे मार्गदर्शक भी हैं। महाभारतके युद्धमे धर्म-समन्वित जीवन होनके कारण ही युधिष्ठिर आदि पाण्डव सख्याम पाँच होते हुए भी विजयश्री प्राप्त करते ह। अधर्मका आश्रय लेनेके कारण दुर्योधन आदि कौरव सख्यामे एक सौ होते हुए भी पराजयका मुख देखते हैं।

'यतो धर्मस्ततो जय'—इस वाक्यसे धर्मके प्रति कितनी अटूट श्रद्धा प्रकट होती है, कहते ह—'जहाँ-जहाँ धर्म वहीं-वही विजय'। यह मूल वचन दुर्योधन प्रभृति सौ पुत्रोकी पुत्रवती माता गान्धारीके मुखसे निकला हुआ है। गान्धारीकी सामर्थ्य सर्वविदित है। वह यह जानती थी कि मेरे बालक दुष्टबुद्धि ह, अधर्माचरण करते ह, फिर भी वह एक सिद्धान्तकी ओर धर्मके प्रति इतनी निष्ठा रखनेवाली थी कि धर्मराजके आनेपर यही आशीर्वाद देती—**'यतो धर्मस्ततो जय ।'** ओर दुर्योधन भी आता तो यही कहती—**'यतो धर्मस्ततो जय ।'** इसका तात्पर्य यही था कि 'धर्मानुसार आचरण करनेपर ही तुम लोगोका कल्याण होगा। तुम अधर्मसे चलते हो, इसमे तुम्हारा कल्याण नहीं।' कितनी महान् ह धर्मके प्रति यह श्रद्धा, यह निष्ठा! ऐसी निष्ठा रहनेपर पराजय कैसे होगी? वहाँ विजय सुनिश्चित ह। 'गीता' भी यही कहती है—

'स्वधर्मे निधन श्रेय परधर्मो भयावह ॥'

स्वधर्मका पालन अर्थात् अपने कर्तव्योका पालन करते हुए यदि निधन भी हो जाय तो उसकी परवा नहीं करनी चाहिये।

जहाँका राजा और जहाँकी प्रजा—ये दोनों धार्मिक होंगे, वहाँ लोगोंमें परस्पर सौहार्द तथा सर्वत्र सुख-शान्तिका साम्राज्य होगा, एक-दूसरेके प्रति लोगोंमें आत्मीयता, स्नेह तथा अपनत्वकी भावना रहेगी। आजकी तरह वैमनस्य, अशान्ति, कलह, राग-द्वेष आदिका बोलबाला नहीं होगा। आज तो घर-घरमें, कुटुम्ब-कुटुम्बमें अशान्ति, वैमनस्य और राग-द्वेषका आधिपत्य हो चुका है। शास्त्रोंके वचनानुसार जब-जब धर्मकी हानि होती है, तब-तब इन्हीं आसुरी प्रवृत्तियोंका बोलबाला होता है। 'श्रीरामचरितमानस'में गोस्वामीजीने ठीक ही कहा है—

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढहिं असुर अधम अभिमानी॥

× × ×

तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा।

राम-रावण-युद्धमें रावणने अधर्मका आश्रय ग्रहण किया, जिसके कारण धर्मरक्षार्थ भगवान् रामने अवतार ग्रहणकर रावण-जैसे असुरोंका संहार किया तथा धर्मकी मर्यादा स्थापित की।

महात्मा गाँधीने ईश्वर और धर्मका अवलम्बन लेकर ही स्वतन्त्रताका राजनीतिक आन्दोलन सन् १९२०ई०—सन् १९४२ ई० तक चलाया। उनके जितने व्याख्यान राजनीतिक मञ्चसे होते थे, वे ईश्वर-श्रद्धा और धर्माचरणपर आधारित होते थे। उनकी 'श्रीमद्भगवद्गीता'पर पूर्ण श्रद्धा थी और उसीके उपदेशोंके आधारपर असहयोग और सत्याग्रह-आन्दोलन सफल हुए और भारत स्वतन्त्र हुआ। रामराज्यकी पुकार गाँधीजीने ही सर्वप्रथम लगायी थी। धर्म-नियन्त्रित शासन ही रामराज्य है, इसमें प्रजाकी रुचि तथा सम्मतिका पूरा ध्यान रखा जाता है, बहुमतके आधारपर शास्त्र एवं धर्मविरुद्ध कोई अनर्थ नहीं किया जाता।

अब अपना देश स्वतन्त्र है। स्वतन्त्रताके बाद अपनी सभ्यता और संस्कृतिकी रक्षाकी आवश्यकता पड़नी स्वाभाविक है। हर देशकी अपनी-अपनी विशेषताएँ होती हैं। जैसे जर्मनीकी विशेषता उसकी शिल्पविद्या और आविष्कार है, अमेरिकाकी विशेषता उसकी अपार सम्पत्ति है, फ्रांसकी विशेषता उसका सौन्दर्य है, इंग्लण्डकी विशेषता उसकी कूटनीति है, उसी प्रकार भारतकी विशेषता उसकी आध्यात्मिकता, धार्मिकता और नैतिकता है। इसी विशेषताके कारण भारत जगद्गुरु रहा है। जब स्वराज्यके पूर्व हमारी आध्यात्मिकता, नैतिकता और धार्मिकता सुरक्षित रह सकती थी, तब कोई कारण नहीं कि इस स्वराज्यके बाद वे सुरक्षित न रह सकें। भगवान्की कृपासे भारत स्वतन्त्र हुआ। इसलिये भगवान्के नामपर इसकी आध्यात्मिकताकी रक्षा भी की जानी चाहिये।

स्वतन्त्रता-संग्राममें कितने बलिदान हुए, कितने होनहार नौनिहालोंने अपनी माताओंकी गोद और पत्नियोंकी सेज सूनी कर दी और कितने गाँव वीरान हो गये तब कहीं भगवान्की कृपासे हमें स्वराज्य मिला। इसमें यदि हम अपनी विशेषता—आध्यात्मिकता, धार्मिकताकी रक्षा न कर सके तो यह स्वराज्य हमारे लिये किस कामका? आज न रोटी सस्ती है, न औषधि सस्ती है और न कपड़ा सस्ता है। धर्मविमुख होनेसे न शान्ति मिलती है न सुख ही। विश्वशान्तिके लिये आज संयुक्त-राष्ट्र-संघ स्थापित है फिर भी इसके सदस्य राष्ट्र एक-दूसरेपर शंका करते हैं। इसका कारण यह है कि वे धर्मसे विमुख हैं, धर्मके बिना सच्ची मैत्री असम्भव है।

धर्मसम्राट् अनन्तश्री स्वामी करपात्रीजी महाराजने एक जगह लिखा है—'यदि रामराज्यके आदर्शानुसार भारतीय जनता और सरकारमें परस्पर पिता-पुत्र-जैसा सहयोग और सद्भावना हो, सभीके रहन-सहन, खान-पानमें सादगी हो, शिक्षा और स्वास्थ्यका पूर्ण सुधार हो, खाद्य-पदार्थोंकी शुद्ध व्यवस्था हो, व्यायाम-शालाओंद्वारा भौतिक बल बढ़ानेके साथ धार्मिक संस्थाओंके सहयोगसे जीवनमें नैतिक बल बढ़ानेका

भी प्रयत्न हो तो जगद्गुरु भारतवर्ष ही विश्वशान्तिका पथप्रदर्शक हो सकता है, इसके लिये यह आवश्यक है कि हमारा देश बाह्य चाकचिक्यके प्रलोभनों तथा कृत्रिम आवश्यकताओंका शिकार न बने। सादगी और संतोषके साथ अपने कृषि, वाणिज्य एवं पशुओंके पालन-परिवर्धन आदि कार्योंमें तत्पर हो जाय। इससे घृत, दुग्ध, खाद्यान्न, वस्त्र, आरोग्य, स्वास्थ्य तथा सुबुद्धि—इन सबकी वृद्धि होगी।'

आज जितने 'वाद' प्रचलित हैं, उन सभी वादोंके गुण रामराज्यमें मौजूद थे। रामराज्यमें समाजवाद, साम्यवाद, लोकतन्त्रवाद आदि वादोंके गुण सम्मिलित थे। जहाँ राम-जैसा धर्मनिष्ठ राजा शासक न हो, वहाँ मनमें रामराज्यकी कल्पना कर लेनेसे रामराज्य, धर्मराज्य और वास्तविक स्वराज्यकी स्थापना नहीं हो सकती। स्वराज्य मिल जानेपर भी यदि आज हमारी सभ्यता, संस्कृति और धर्मपर खतरा है ही उनका संरक्षण सम्भव नहीं तो ऐसा स्वराज्य सार्थक नहीं निरर्थक है। किसी देशमें किसी ढंगकी शासन-प्रणाली क्यों न हो, पर सभी जगह धर्मनिष्ठा और सत्यनिष्ठाकी आवश्यकता है। ईश्वर और धर्मभावनाके अभावमें कोई शासन चल ही नहीं सकता। आप जानते ही हैं कि जब नये मन्त्रि-मण्डलका गठन होता है, तब अपना उत्तरदायित्व ग्रहण करनेके पूर्व मन्त्रियोंको शपथ लेनी होती है। इसलिये उत्तरदायित्व-निर्वहनके लिये भी ईश्वर और धर्म-भावनाकी सदा अपेक्षा है। आज लोग रामराज्यकी रट लगाते हैं और भारतमें रामराज्यकी भावनाकी कल्पना करते हैं, किंतु वास्तवमें रामराज्यमें जो गुण थे, उन गुणोंके पालनसे ही रामराज्य-जैसा राज्य स्थापित हो सकता है। वास्तवमें यही राजधर्म है।

वस्तुतः समस्त जीवलोक राजधर्मके द्वारा ही संचालित और प्रतिपादित होता है। इसीसे मानव-समाजका आदर बढ़ता है। धर्मरक्षाके लिये राजधर्म और राजनीति-रक्षाके लिये सामान्य धर्म आवश्यक है। महाभारतके अनुसार परमात्मप्रभुसे सर्वप्रथम राजधर्मका ही आविर्भाव हुआ, इसके बाद ही राजधर्मके अङ्गभूत अन्य धर्मोंका प्रादुर्भाव हुआ—

क्षात्रो धर्मो ह्यादिदेवात् प्रवृत्तः
पश्चादन्ये शेषभूताश्च धर्माः ॥
(महा०, शान्ति० ६४। २१)

व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा विश्वके लौकिक और पारलौकिक अभ्युदय और निःश्रेयसकी प्राप्तिमें होनेवाली सभी विघ्न-बाधाओंको दूरकर इसे प्राप्त करनेकी सम्पूर्ण सुविधाओंको उपलब्ध करना ही भारतीय राजधर्म और राजनीतिका मूल-मन्त्र है। इस प्रकारके राजधर्मका पालन श्रुताध्ययन-सम्पन्न, धर्मज्ञ, सत्यवादी राग-द्वेषविहीन तथा नीतिमान् शासक ही कर सकता है, इसलिये राज्य-व्यवस्थाको भी चलानेके लिये यह आवश्यक है कि ऐसे ही विद्वानोंको सभासद् बनाया जाय—

श्रुताध्ययनसम्पन्ना धर्मज्ञाः सत्यवादिनः ।
राज्ञा सभासदः कार्या रिपौ मित्रे च ये समाः ॥
(याज्ञ०, व्यवहाराध्याय २)

इसीलिये अपने प्राचीन इतिहास-पुराणोंके अनुसार देवराज इन्द्रकी राजनीति देवगुरु बृहस्पतिके हाथमें थी दैत्यराज बलिकी राजनीति महर्षि शुक्राचार्यके हाथमें थी तथा रामचन्द्रकी राजनीति वसिष्ठके हाथमें थी। धर्मराज युधिष्ठिरकी राजनीति धौम्य, व्यास, कृष्ण, विदुर आदिके हाथमें थी तथा शिवाकी राजनीति भी समर्थगुरु रामदासके हाथमें थी। वस्तुतः जैसे बिना अंकुशके हाथी बिना लगामके घोड़ा आदि हानिकारक होते हैं उसी प्रकार धर्म-नियन्त्रणके बिना शासन भी हानिकारक होता है। 'बृहदारण्यक'के 'क्षत्रस्य क्षत्रम्' (१। ४। १४) इस वचनके अनुसार धर्मनियन्त्रित शासक ही सम्पूर्ण जगत्के लिये कल्याणका साधन है तथा राष्ट्र और संस्कृतिको रक्षा भी इसीसे सम्भव है।

नम्र निवेदन और क्षमा-प्रार्थना

भगवत्कृपासे इस वर्ष 'कल्याण'का विशेषाङ्क 'नीतिसार-अङ्क' पाठकोकी सेवाम प्रस्तुत किया जा रहा है। 'कल्याण' की परम्पराम प्रतिवर्ष प्रकाशित विशेषाङ्कोम यद्यपि नीति-सम्बन्धी चर्चा किसी-न-किसी रूपम अवश्य होती रही ह, परतु भारतीय वाङ्मयम उपलब्ध सम्पूर्ण नीतियोका दिग्दर्शन ओर उनके स्वरूपका परिचय तथा उनका एकत्र सकलन अबतक नहीं हो सका। नीति मानव-जीवनकी सफलताका आधारबिन्दु ह। किसी भी देश, समाज ओर व्यक्तिका विकास, उसका उत्थान और पतन यह उसकी नीतिपर ही निर्भर करता ह। नीतिके उल्लघन तथा नेतिक आचारसहिताकी अवहेलनासे यह जीव-जगत् तथा सम्पूर्ण विश्व अशान्तिके महासमुद्रम गात खा रहा है। नैतिक धर्मक विपरीत विपयासक्ति तथा भोगवादको ही सर्वोपरि साधन एव साध्य मान लेनसे वर्तमानम ससारकी जा स्थिति दीखती है, वह किसीसे छिपी नहीं ह। पापाचार, अनाचार एव दुराचारने अपनी जड जमा रखी हे। राजधर्म प्राय लुप्त-सा ही हो गया है। प्रशामनकी वागडार सँभालनेवाले प्राय धर्म-नीतिकी अवहेलनाके लिये उतारू ह। वर्तमान समयम सारा विश्व राजनीतिक उथल-पुथलम उलझा हुआ है। अत सर्वत्र अशान्ति ओर विद्वेपका वातावरण है। फलत प्रकृति भी विपरीत हो गयी ह। कभी भूकम्प आते हैं, कभी अतिवृष्टि होती है तो कभी अनावृष्टिसे अकाल पडते हैं। आतकवादका आतक सम्पूर्ण विश्वम छाया हुआ है। धर्म, कर्तव्य एव नीतिकी मयादाएँ टूट-सी रही हैं, ऐस विपम समयमे व्यक्ति, समाज एव राष्ट्राध्यक्षाका क्या कर्तव्य हे तथा नीतिके पालनसे किस प्रकार विश्वशान्ति और सम्पूर्ण जगत्‌की रक्षा की जा सकती हे—यह एक महत्त्वपूर्ण विचारणीय विपय हे। भारतीय मनीपियाने इसपर गहरा विचार भी किया है। इसीलिय अपने शास्त्राम सत्-नीति, धर्म-नीति, राज-नीति, लोक-नाति कूट-नीति तथा साम, दान, दण्ड आर भेद आदि विभिन्न नीतियाका दर्शन प्राप्त हे।

शास्त्राके आज्ञानुसार कर्मका अनुष्ठान करना ही 'नाति' है। सत्प्रवृत्ति, सदाचरण, सारासारविवेक अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि गुण एव 'अन्तिम सत्य' के प्रति ले जानेवाले मार्ग—इत्यादि अर्थ 'नीति' शब्दद्वारा दर्शित ह। अर्थशास्त्र, राज्यशास्त्र, समाजशास्त्र, धर्मशास्त्र, जीवन-शास्त्र, अध्यात्मशास्त्र आदिके साथ नीतिका घनिष्ठ सम्बन्ध है। अत नीतिका विचार ही व्यापक है, एस व्यापक नीति-विचारको ही 'नीति-शास्त्र' कहते ह।

वास्तवम नीतिका साक्षात् सम्बन्ध धर्मसे हे, इसीलिये भगवान्‌ने गीता (१०। ३८)-मे नीतिको अपनी विभूति बताया है—'**नीतिरस्मि जिगीपताम्**'। तात्पर्य यह हे कि जिसे ससारको जीतनेकी अभिलापा है, आसक्तिका जीतनेकी इच्छा हे, वह भगवन्नीतिके पथपर चले, '**सर्वभूतहिते रता** '(गीता ५। २५, १२। ४)-की नीतिका अपना ले, अर्थात् सभी प्राणियाके हितमे सलग्न रहे, भगवद्वाणीका अनुपालन करे, आसुरी सम्पत्तिका परित्याग कर नीतिपूण दैवीसम्पत्तिका अवलम्बन ग्रहण कर ले तो फिर उसके परम कल्याणम क्या सदेह रह जाता हे। ऐसा होनेपर निश्चय ही सम्पूर्ण विश्वमे सुख-शान्तिकी—रामराज्यकी स्थापना हो सकती है।

इन सब दृष्टियोसे इस वर्ष यह विचार आया कि भारतीय मनीपाकी नीतियाका सकलन 'नीतिसार-विशेषाङ्क'-क रूपने प्रकाशित किया जाय। इस 'विशेषाङ्क'म नीतितत्त्वमीमासा, नीतिका वास्तविक अर्थ, विविध नीतियाका स्वरूप, वेदादि शास्त्रोम वर्णित नीतिके सिद्धान्त, नीति, सदाचार ओर धर्म, चरित्रनिर्माणम नीतिपालनकी आवश्यकता, नैतिक शिक्षाका स्वरूप, भगवान् श्रीराम तथा भगवान् श्रीकृष्णद्वारा प्रतिपादित कल्याणकारी नीतिपथ, नीति-शास्त्रकी आचार्य-परम्परा, सत-महात्माओ और भक्ताकी रीति-नीति, भारतीय इतिहासके नीतिमान् राजर्पियाका चरित्रावलोकन तथा उनके द्वारा प्रतिपादित नीतिमार्ग, भोगवादी नीतिके दुष्परिणाम विविध नीतियाके आख्यान, अनुपालनके लिये पारस्परिक सम्बन्धाकी आदर्श कथाएँ, कर्तव्यपालनकी शिक्षा एव नैतिक शिक्षाके आख्यान, प्राच्य एव पाश्चात्य नीतियाँ, चतुर्वर्गनीति, प्राचीन एव अर्वाचीन राजनीतिके साथ ही नीतिके प्रमुख ग्रन्थो आर बृहस्पति-नीति, शोनक-नीति, शुक्र-नीति, कणिक-नाति,

विदुर-नीति तथा चाणक्य-नीति आदि नीतियाके स्वरूपको यथासाध्य सरल एव सुगमरूपसे प्रस्तुत करनेका प्रयास किया गया है, जिससे सर्वसाधारण अपने विस्मृत सनातन कल्याणकारी पथसे परिचित हो सके और सन्मार्गका अवलम्बन ग्रहण कर परमार्थको प्राप्त कर सके।

इस वर्ष 'नीतिसार-अङ्क' के लिये लेखक महानुभावाने उत्साहपूर्वक जो सहयोग प्रदान किया है, वह अत्यधिक प्रशसनीय है। भगवत्कृपासे इतने लेख और सामग्रियाँ प्राप्त हुईं कि उन सबको इस अङ्कमे समाहित करना सम्भव नहीं था, फिर भी विषयकी सर्वाङ्गीणताको ध्यानमे रखते हुए अधिकतम सामग्रियोका सयोजन करनेका विशेष प्रयत्न किया गया है। सामग्रीकी अधिकताके कारण इस अङ्कमे फरवरी मासका 'परिशिष्टाङ्क' भी सलग्न है।

उन लेखक महानुभावोके हम अत्यधिक कृतज्ञ है, जिन्होने कृपापूर्वक अपना अमूल्य समय लगाकर नीति-सम्बन्धी सामग्री तैयारकर यहाँ प्रेषित की है। हम उन सबकी सम्पूर्ण सामग्रीका इस 'विशेषाङ्क' मे स्थान न दे सके, इसका हमे खेद है। इसमे हमारी विवशता ही कारण है। इनमेसे कुछ तो एक ही विषयपर अनेक लेख आनेके कारण न छप सके तथा कुछ अच्छे लेख विलम्बसे आये, जिनमे कुछ लेखोको स्थानाभावके कारण पर्याप्त सक्षिप्त करना पड़ा और कुछ नहीं दिये जा सके। यद्यपि इसमेसे कुछ सामग्रीको आगेके साधारण अङ्कोमे देनेका प्रयास अवश्य करेगे, परतु विशेष कारणोसे कुछ लेख प्रकाशित न हो सकेगे तो विद्वान् लेखक हमारी विवशताको ध्यानमे रखकर हमे अवश्य क्षमा करनेकी कृपा करेगे।

हम अपने उन सभी पूज्य आचार्यों, परम सम्मान्य पवित्रहृदय सत-महात्माओके श्रीचरणोमे प्रणाम करते है, जिन्होने 'विशेषाङ्क' की पूर्णतामे किंचित् भी योगदान किया है। सद्विचारोके प्रचार-प्रसारमे वे ही निमित्त है, क्योकि उन्हींके सद्भावपूर्ण तथा उच्च विचारयुक्त भावनाओसे 'कल्याण' का सदा शक्ति-स्रोत प्राप्त होता रहता है। हम अपने विभागके तथा प्रेमके अपने उन सभी सम्मान्य साथी-सहयोगियोको भी प्रणाम करते हैं जिनके स्नेहपूर्ण सहयोगसे यह पवित्र कार्य सम्पन्न हो सका है। त्रुटियो एव व्यवहारदोषके लिये उन सबसे क्षमाप्रार्थी है।

'नीतिसार-अङ्क' के सम्पादनमे जिन सतो एव विद्वान् लेखकोसे सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ है, उन्हे हम अपने मानस-पटलसे विस्मृत नहीं कर सकते। सर्वप्रथम मै वाराणसीके समादरणीय प० श्रीलालविहारीजी शास्त्रीके प्रति हृदयसे आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होने प्रेरणाप्रद लेख एव परामर्श प्रदान कर निष्कामभावसे अपनी सेवाएँ परमात्मप्रभुके श्रीचरणोमे समर्पित की है। 'गोधन' के सम्पादक श्रीशिवकुमारजी गोयलके प्रति भी हम आभार व्यक्त करते है, जो निरन्तर अपने पूज्य पिता श्रीरामशरणदासजी पिलखुआके सग्रहालयसे अनेक दुर्लभ सामग्रियाँ हमे उपलब्ध कराते है साथ ही कई विशिष्ट महानुभावोसे भी सामग्री एकत्र कर भेजनेका कष्ट करते हैं।

इस अङ्कके सम्पादनमे अपने सम्पादकीय विभागके वयोवृद्ध विद्वान् प० श्रीजानकीनाथजी शर्मा एव अन्य महानुभावोने अत्यधिक हार्दिक सहयोग तथा आशीर्वाद प्रदान किया है। इसके सम्पादन, सशोधन एव चित्र-निर्माण आदिमे जिन-जिन लोगोसे हमे सहयोग मिला है वे सभी हमारे अपने है, उन्हे धन्यवाद देकर हम उनके महत्त्वको घटाना नहीं चाहते।

वास्तवमे 'कल्याण'का कार्य भगवान्‌का कार्य है, अपना कार्य भगवान् स्वय करते हैं हम तो केवल निमित्तमात्र हैं। इस बार 'नीतिसार-अङ्क' के सम्पादन-कार्यके अन्तर्गत जगन्नियन्ता प्रभु तथा उनकी सत्-नीतियोका चिन्तन मनन और सत्सङ्गका सौभाग्य निरन्तर प्राप्त होता रहा यह हमारे लिये विशेष महत्त्वकी बात थी। हमे आशा है कि इस 'विशेषाङ्क' के पठन-पाठनसे हमारे सहृदय पाठकोको भी यह सौभाग्य-लाभ अवश्य प्राप्त होगा।

अन्तमे हम अपनी त्रुटियोके लिये आप सबसे पुन क्षमा-प्रार्थना करते हुए दीनवत्सल अकारण करुणावरुणालय परमात्मप्रभुसे यह प्रार्थना करते है कि वे हमे तथा जगत्‌के सम्पूर्ण जीवोको सद्बुद्धि प्रदान करे जिससे सभी सत्-नीतिकी ओर अग्रसर होकर जीवनके वास्तविक लक्ष्यको प्राप्त कर सके।

—राधेश्याम खेमका
सम्पादक

गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तकोंका सूचीपत्र

(दिसम्बर २००१)

कोड		मूल्य	डाकखर्च
	श्रीमद्भगवद्गीता		
	गीता तत्त्व विवेचनी— (टीकाकार श्रीजयदयालजी गोयन्दका) गीता विषयक २५१५ प्रश्न और उनके उत्तर-रूपमें विवेचनात्मक हिन्दी टीका सचित्र सजिल्द आकर्षक		
1	बढ़िया आवरणके साथ बृहदाकार	१० ०	■ ३
2	ग्रन्थाकार	६	■ १६
3	साधारण संस्करण	४ ००	■ १२
1118	बंगला	६५ ०	■ १६
800	तमिल	७५ ०	■ १९
1100	ओडिआ	७०	■ १६
1112	कन्नड	७	■ १७
457	अंग्रेजी अनुवाद	५ ०	■ १४
1172	तेलुगु	७	■ १७
1313	गुजराती	७	■ १७
1304	मराठी	७	■ १६
	गीता साधक संजीवनी—(टीकाकार—स्वामी श्रीरामसुखदासजी) गीताके मर्मको समझनेहेतु व्याख्यात्मक शैली एवं सरल सुबोध भाषामें हिन्दी टीका सचित्र सजिल्द		
5	बृहदाकार	१६ ००	■ ४४
6	ग्रन्थाकार परिशिष्टसहित	८५	■ २२
7	मराठी अनुवाद	८५	■ १८
467	गुजराती अनुवाद	९	■ २
1080 / 1081	अंग्रेजी अनुवाद (दो खण्डोंमें)	७०	■ १७
763	बंगला	८५	■ २
1121	ओडिआ	१ ०	■ २३
	साधक संजीवनी परिशिष्ट—		
949	पुस्तकाकार (१ से ६ अध्याय)	८	■ ३
896	(१३ से १८ अध्याय)	७	■ २
1317	गीता पॉकेट साइज (साधक संजीवनीके आधारपर अन्वय और पदच्छेदसहित)	१२	■ ३
	गीता दर्पण—(स्वामी श्रीरामसुखदासजीद्वारा) गीताके तत्त्वोंपर प्रकाश लेख गीता व्याकरण और छन्द सम्बन्धी गूढ विवेचन		
8	सचित्र सजिल्द	३५	■ ९
504	गीता दर्पण (मराठी अनुवाद) सजिल्द		■ ८
556	(बंगला अनुवाद) सजिल्द	३५	■ ९
468	(गुजराती अनुवाद)	३	■ ९
784	ज्ञानेश्वरी गूढार्थ दीपिका (मराठी)	१२	■ १९
748	मूल गुटका (मराठी)	३५	■ ४
859	मूल मझला (मराठी)	३५ ०	■ ५
10	गीता शांकर भाष्य—	५ ०	■ १
581	गीता रामानुज भाष्य—		■
11	गीता चिन्तन—(श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके गीता विषयक लेखों विचारों पत्रों आदिका संग्रह)		■
	गीता—मूल पदच्छेद, अन्वय भाषा टीका टिप्पणी प्रधान और सूक्ष्म विषय एवं त्यागसे भगवत्प्राप्ति		
17	लेखसहित सचित्र सजिल्द	२ ०	■ ५
	12 (गुजराती) १५ ० 13 (बंगला) २ ००		
	14 (मराठी) १५ 726 (कन्नड) २५		
	772 (तेलुगु) २० 823 (तमिल) २०		
16	गीता—प्रत्येक अध्यायके माहात्म्य सजिल्द, मोटे अक्षरोंमें	२५	■ ४
15	गीता—(मराठी अनुवाद)	३ ०	■ ५
18	भाषा टीका टिप्पणी प्रधान विषय मोटा टाइप	१२ ०	■ ३
1157	(ओडिआ) १० 1315 (गुजराती) १५		
5 2	सजिल्द	१८	■ ४
	771 (तेलुगु) १२ 815 गीता श्लोकार्थसहित (ओडिआ) १५ 718 गीता तात्पर्यके साथ (कन्नड) १५ 743 (तमिल) १५		
19	गीता—केवल भाषा	७	■ २
	663 गीता—(तेलुगु) ५ 795 (तमिल) ५		
750	भाषा पाकेट साइज (हिन्दी)	४ ०	■ १
20	भाषा टीका पाकेट साइज (हिन्दी)	५	■ २
633	भाषा टीका पाकेट साइज सजिल्द	८	■ २
	455 (अंग्रेजी) ५ 534 (अंग्रेजी) सजिल्द ७		
	1257 (मराठी) ६ ० 496 (बंगला) ६ ०		
	714 (असमिया) ५ 1008 (ओडिआ) ६		
	936 (गुजराती) ६ 1288 (कन्नड) ६		
	1034 (गुजराती) सजिल्द १० 1031 (तेलुगु) ६		
21	श्रीपञ्चरत्नगीता—गीता विष्णुसहस्रनाम भीष्मस्तवराज अनुस्मृति गजेन्द्रमोक्ष (मोटे अक्षरोंमें)	१५	■ ३
	1219 (ओडिआ) १५		
22	गीता—मूल मोटे अक्षरोंवाली	६	■ २
23	गीता—मूल विष्णुसहस्रनामसहित	३	■ १
	661 (कन्नड) ५ 662 (तेलुगु) ४ ०		
	793 (तमिल) ५ 739 (मलयालम) ४		
	541 (ओडिआ) ३		
488	नित्यस्तुति —गीता मूल विष्णुसहस्रनामसहित	५	■ १
700	गीता—छोटी साइज मूल	१ ५	■ १
1036	लघु आकार (ओडिआ)	१ ५	■ १
24	गीता ताबीजी—मूल	३ ०	■ १
957	(बंगला)	३ ०	■ १
566	गीता—ताबीजी एक पन्नेमें सम्पूर्ण गीता (१ प्रति एक साथ)	२५	■ १
288	गीताके कुछ श्लोकोंपर विवेचन—		▲
289	गीता निबन्धावली—	२५	▲ १
297	गीतोक्त सन्यास या सांख्ययोगका स्वरूप—	३५	▲ १
388	गीता माधुर्य सरल प्रश्नोत्तर शैलीमें (हिन्दी)	७	▲ २
	389 (तमिल) ८ 391 (मराठी) ६		
	392 (गुजराती) ६ 393 (उर्दू) ८		
	1028 (तेलुगु) ८ 395 (बंगला) ५		
	624 (असमिया) ५ 754 (ओडिआ) ५		
	390 (कन्नड) ६		
	487 (अंग्रेजी) ६ 679 (संस्कृत) ६		
470	गीता रोमन गीता मूल श्लोक एवं अंग्रेजी अनुवाद (सजि)		
1223	(अजि)	१	■ २
1242	पाण्डव गीता एवं हंस गीता (श्लोकार्थसहित)		■ १
874	गीता दैनन्दिनी (२००२)— पुस्तकाकार डीलक्स	४	■ ६
503	रोमन प्लास्टिक कवर	३	■ ४
1348	रोमन (१५ महानको)	५	■ ७
506	(२००२)—पॉकेट साइज डीलक्स	२	■ ३
615	( )— प्लास्टिक कवर	१६	■ ३
1347	( )— (बाइन्डर पेपर)	२	■ २
464	गीता ज्ञान प्रवेशिका स्वामी श्रीरामसुखदासजी	१२	■ ३
508	गीता सुधा तरंगिनी गीताका पद्यानुवाद		■
	रामायण		
	श्रीरामचरितमानस बृहदाकार मोटा टाइप सजिल्द		
80	आकर्षक आवरण	१२	■ ३५
1095	ग्रन्थाकार (राजसंस्करण)	१७	■ २४
81	सचित्र सटीक मोटा टाइप, सजिल्द आकर्षक आवरण	१२ ०	■ १९
697	साधारण	१	■ १६
82	मझला साइज सजिल्द	६	■ ९
1318	श्रीरामचरितमानस रोमन एवं अंग्रेजी अनुवादसहित	२ ०	■ २
456	श्रीरामचरितमानस अंग्रेजी अनुवादसहित	१	■ १५
786	मझला	५	■ १
83	मूलपाठ मोटे अक्षरोंमें, सजिल्द	६५ ०	■ १
1218	(ओडिआ)	७	■ १
84	मूल मझला साइज	३५	■ ६
85	मूल गुटका	२५	■ ४
1282	मूल मझला डीलक्स	६	■ ८
790	केवल भाषा	६	■ १२
954	ग्रन्थाकार बंगला	१२	■ १९
799	गुजराती ग्रन्थाकार	१२ ०	■ १८
1314	मराठी ग्रन्थाकार	१२	■ १८
1352	तेलुगु ग्रन्थाकार	११	■ १८
785	गुजराती मझला साइज	४५ ०	■ ९
878	गुजराती मूल मझला	३५	■ ६
879	मूल गुटका	२५ ०	■ ४
	[श्रीरामचरितमानस अलग अलग काण्ड (सटीक)]		
94	बालकाण्ड	१६ ०	■ ३
95	अयोध्याकाण्ड	१५	■ ३
1349	सुन्दरकाण्ड सटीक मोटा टाइप (लाल अक्षरोंमें) श्रीहनुमानचालीसासहित	१५	■ २
98	सुन्दरकाण्ड	४	■ १
832	(कन्नड) ६ 7 3 (तेलुगु) ४		
1356	(बंगला) ४		
101	लंकाकाण्ड	८	■ २
102	उत्तरकाण्ड	८	■ २
141	अरण्य किष्किन्धा एवं सुन्दरकाण्ड	८	■ २

- ■ पुस्तक डाकसे मँगवानेपर ५% पैकिंग खर्च अंकित डाकखर्च तथा १७ रु० प्रति पैकेट रजिस्ट्रीखर्च अतिरिक्त देय है।
- ■ पुस्तकोंके मूल्यमें परिवर्तन होनेपर पुस्तकपर छपा मूल्य ही देय होगा।
- ■ पूरी जानकारीहेतु सूचीपत्र मुफ्त मँगवायें। निर्यातके मूल्य एवं नियम अलग है।

काड | मूल्य | डाकखर्च

830 श्रीरामचरितमानस—सुन्दरकाण्ड मूल पाठ (रोमन) १२ • ■ १
99 सुन्दरकाण्ड मूल, गुटका ३ • ■ १
100 सुन्दरकाण्ड मूल, मोटा टाइप ५ •• ■ १
948 (गुजराती) ५ •• 1204 (ओडिआ) ५ ••
858 सुन्दरकाण्ड मूल, लघु आकार २ •• ■ १
1199 (गुजराती) २ •
86 मानसपीयूष (श्रीरामचरितमानसपर सुप्रसिद्ध तिलक टीकाकार—श्रीअञ्जनीनन्दनशरण (सातों खण्ड) १ ५• ■१२•
1192 मानस गूढार्थ चन्द्रिका (खण्ड १) ९ • ■ ११
1193 मानस गूढार्थ चन्द्रिका (खण्ड २) १०•• ■ १३
1194 मानस गूढार्थ चन्द्रिका (खण्ड ३) ११••• ■ १४
1195 (खण्ड ४) १५ • ■ १७
1196 (खण्ड ५) १••• ■ १२
1197 (खण्ड ६)
1291 श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण कथा सुधा सागर ८५ ■ ११
75 श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण—सटीक दो खण्डोंमें सेट २••• ■ ३१
76 केवल भाषा १२••• ■ १९
77 (मूलमात्रम्) ८•• ■ १४
583 सुन्दरकाण्ड मूलमात्रम् १५ • ■ ३
78 (तेलुगु) १७ •
924 (अंग्रेजी अनुवादसहित
452 दो खण्डोंमें सेट) १२••• ■ ३६
453 ६५ • ■ ११
1002 सं० वाल्मीकीय रामायणाङ्क ५••• ■ ९
74 अध्यात्मरामायण—सटीक, सजिल्द ५••• ■ ८
1256 अध्यात्मरामायण—(तमिल) ६ • ■ ११
845 —(तेलुगु) १•• ■ १
223 मूल रामायण— २ ■ १
935 सं० रामायण—(गुजराती) १• ■ ३
460 रामाश्वमेध— ७ ▲ २
401 मानसमें नाम वन्दना— ३• • ■ ५
103 मानस रहस्य— १• ■ २
104 मानस शंका समाधान

अन्य तुलसीकृत साहित्य

105 विनयपत्रिका—सरल भावार्थसहित २४•• ■ ४
106 गीतावली— २२ ■ ४
107 दोहावली— १ ■ २
108 कवितावली— १ • ■ २
109 रामाज्ञाप्रश्न— ■
110 श्रीकृष्णगीतावली— ४ ■ १
111 जानकीमंगल— ३ ■ १
112 हनुमानबाहुक— ३ ■ १
113 पार्वतीमंगल— सरल भावार्थसहित ३ • ■ १
114 वैराग्य संदीपनी एवं बरवै रामायण—३ • ■ १
115 बरवै रामायण— १ • ■ १

सूर-साहित्य

555 श्रीकृष्णमाधुरी— १२• ■ ३
61 सूर विनय पत्रिका— १६ ■ ३
62 श्रीकृष्ण बाल माधुरी— १३ ■ ३
735 सूर रामचरितावली— ११• ■ २
547 विरह पदावली— १ ■ २
864 अनुराग पदावली— १२ ■ ३

पुराण उपनिषद् आदि

28 श्रीमद्भागवत सुधासागर—सम्पूर्ण श्रीमद्भागवतका भाषानुवाद, सचित्र, सजिल्द १२ • ■ १८
25 श्रीशुकसुधासागर—बृहदाकार, बड़े टाइपोंमें २५ ■ ८
1190 श्रीशुकसुधासागर—सचित्र मोटा टाइप २५ ■ ३५
1191 दो खण्डोंमें सेट
26 श्रीमद्भागवत महापुराण—सटीक— २ ■ ३१
27 दो खण्डोंमें सेट २ ■ ३•
564 565 अंग्रेजी सेट

29 श्रीमद्भागवत महापुराण— मूल मोटा टाइप ८••• ■ १२
124 —मूल मझला ५•• ■ ७
1092 भागवतस्तुति संग्रह— ५५ ■ ७
571 श्रीकृष्णलीला चिन्तन— १••• ■ १२
30 श्रीप्रेम सुधासागर—श्रीमद्भागवत दशम स्कन्धका भाषानुवाद, सचित्र सजिल्द ५ • ■ ८
31 भागवत एकादश स्कन्ध—सचित्र, सजिल्द १६ • ■ ४
728 महाभारत—हिन्दी टीका सहित सजिल्द, सचित्र [छ खण्डोंमें] सेट १०५ ■१२२
38 महाभारत खिलभाग हरिवंशपुराण— हिन्दी टीका १४ • ■ ३२
637 जैमिनीय अश्वमेध पर्व— ५••• ■ ९
39 511 संक्षिप्त महाभारत—केवल भाषा सचित्र सजिल्द सेट (दो खण्डोंमें) २•• • ■ ३•
44 संक्षिप्त पद्मपुराण—सचित्र सजिल्द१२• • ■ १८
789 सं० शिवपुराण—मोटा टाइप १• ■ १५
1286 सं० शिवपुराण—(गुजराती) ११ • ■ १५
1133 सं० देवीभागवत—मोटा टाइप १२••• ■ १८
1326 सं० देवीभागवत (गुजराती) १२ • ■ १८
48 श्रीविष्णुपुराण—सानुवाद, सचित्र सजिल्द ७ •• ■ ११
1364 श्रीविष्णुपुराण—(केवल हिन्दी) ५५ ■ ८
1183 नारदपुराण— १• ■ १५
279 संक्षिप्त स्कन्दपुराण—सचित्र, सजिल्द १४ • ■
539 संक्षिप्त मार्कण्डेयपुराण— ५५•• ■ ८
1111 ब्रह्मपुराण— ७• • ■ ९
1189 सं० गरुडपुराण— ८• • ■ १२
584 सं० भविष्यपुराण— ७५ • ■ ११
1113 नरसिंहपुराणम् ५५ ■ ८
631 सं० ब्रह्मवैवर्तपुराण— ७५ • ■ १४
517 गर्गसंहिता—भगवान् कृष्णकी दिव्य लीलाओंका वर्णन सचित्र सजिल्द ७ ■ १२
47 पातञ्जलयोग प्रदीप—पतञ्जलयोग सूत्रोंका वर्णन ८ • ■ १३
135 पातञ्जलयोगदर्शन— १•• ■ २
582 छान्दोग्योपनिषद्—सानुवाद शाकरभाष्य५ • ■ १
577 बृहदारण्यकोपनिषद्— ७ • ■ १४
66 ईशादि नौ उपनिषद् अन्वय हिन्दी व्याख्या ४ • ■ ६
67 ईशावास्योपनिषद् सानुवाद, शाकरभाष्य४ ■ १
846 (तेलुगु) ३ ■ २
68 केनोपनिषद्— ९ ■ २
578 कठोपनिषद्— १ ■ २
69 माण्डूक्योपनिषद्— ■
513 मुण्डकोपनिषद्—सानुवाद शाकरभाष्य ६ ■ २
70 प्रश्नोपनिषद्—सानुवाद शाकरभाष्य ७• ■ २
71 तैत्तिरीयोपनिषद् सानुवाद शाकरभाष्य ■
72 ऐतरेयोपनिषद्— ५ ■ १
73 श्वेताश्वतरोपनिषद्— १६ • ■ ३
65 वेदान्त दर्शन हिन्दी व्याख्या सहित, सजिल्द ३५ ■ ६
639 श्रीनारायणीयम्—सानुवाद २५ ■ ५
908 मूलम् (तेलुगु) ■
201 मनुस्मृति—दूसरा अध्याय सानुवाद

भक्त चरित्र

40 भक्तचरिताङ्क—सचित्र सजिल्द ८ ■ १६
51 श्रीतुकाराम चरित जीवनी और उपदेश ३ ■ ५
121 एकनाथ चरित्र— १२ ■ २
1336 मीरा चरित्र— ४• ■ १
53 भागवतरत्न प्रह्लाद— १५ ■ ३
123 चैतन्य चरितावली सम्पूर्ण एक साथ८ ■ १३
751 देवर्षि नारद— ८ • ■ २
167 भक्त भारती—
168 भक्त नरसिंह मेहता— ७ ■ २
1168 (मराठी) ८ 613 (गुजराती) ७
169 भक्त बालक गोविन्द मोहन आदिकी गाथा ४ ■ १
685 (तेलुगु) ४ • ■ १

721 (कन्नड) ५ • ■ १
170 भक्त नारी—मीरा, शबरी आदिकी गाथा ६•• ■ १
171 भक्त पञ्चरत्न—रघुनाथ दामोदर आदिकी ६ ■ १
682 भक्त पञ्चरत्न—(तमिल) ५• ■ १
172 आदर्श भक्त— शिबि, रन्तिदेव आदिकी गाथा ५ ■ १
687 (तेलुगु) ५ 849 (कन्नड) ५
1076 (गुजराती) ६ ••
173 भक्त सप्तरत्न दामा रघु आदिकी भक्तगाथा ५• ■ १
1082 (गुजराती) ५
174 भक्त चन्द्रिका साखू, विट्ठल आदि छ भक्तगाथा ८ ■ १
892 भक्त चन्द्रिका(गुजराती) ४ 951 (कन्नड) ५
917 (तमिल) ५ 1073 (मराठी) ४
1173 (ओडिआ) ५
175 भक्त कुसुम जगन्नाथ आदि छ भक्तगाथा ४ • ■ १
176 प्रेमी भक्त बिल्वमंगल, जयदेव आदि५ ■ १
1087 (गुजराती) ५
177 प्राचीन भक्त—मार्कण्डेय, उतङ्क आदि ८ • ■ २
178 भक्त सरोज—गङ्गाधरदास श्रीधर आदि ६ ■ १
179 भक्त सुमन—नामदेव राँका बाँका आदिकी भक्तगाथा ६ ■ १
1143 (गुजराती) ७
180 भक्त सौरभ—व्यासदास प्रयागदास आदि ६ ■ १
181 भक्त सुधाकर—रामचन्द्र, लाखा आदिकी भक्तगाथा ५ ■ १
875 (गुजराती) ६ ■ १
182 भक्त महिलारत्न रानी रत्नावती हरदेवी आदि ६ ■ १
1084 (गुजराती) ६ •
183 भक्त दिवाकर—सुव्रत, वैश्वानर आदि आठ भक्तगाथा ५ ■ १
184 भक्त रत्नाकर—माधवदास विमलतीर्थ आदि चौदह भक्तगाथा ५ ■ १
185 भक्तराज हनुमान् हनुमान्‌जीका जीवनचरित्र ४ ■ १
854 (ओडिआ) ४ 608 (तमिल) ६
67 (तेलुगु)५ 835(कन्नड) ४ 8०6 (गुजराती) ४
186 सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र— ३ ■ १
1200 (ओडिआ) ३ २५ ■ १
187 प्रेमी भक्त उद्धव—
642 (तमिल) ४• 6 6 (तेलुगु) ३
890 (गुजराती) ३ 1 02 (ओडिआ) ३ •
188 महात्मा विदुर— ■
947 (गुजराती) ३ 741 (तमिल) ३ •
1201 (ओडिआ) ३
136 विदुरनीति— ८ ■ २
138 भीष्मपितामह— ८ ■ २
691 भीष्मपितामह—(तेलुगु) ९ ■ २
189 भक्तराज ध्रुव— ■ १
688 (तेलुगु) ■

परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके शीघ्र कल्याणकारी प्रकाशन

683 तत्त्वचिन्तामणि—(सभी खण्ड एक साथ) ग्रन्थाकार ७ ■ १८
814 साधन कल्पतरु— ■
527 प्रेमयोगका तत्त्व—(हिन्दी) ९ ■ ४
521 प्रेमयोगका तत्त्व—(अंग्रेजी अनुवाद)६ ▲ २
242 महत्त्वपूर्ण शिक्षा— ११ ■ ४
760 (तेलुगु) ३ ▲ १
528 ज्ञानयोगका तत्त्व—(हिन्दी) ▲
520 (अंग्रेजी अनुवाद) • ▲ ३
266 कर्मयोगका तत्त्व—(भाग १) ६ ▲ २
267 (भाग २) ७ ▲ २

कोड		मूल्य	डाकखर्च
303	प्रत्यक्ष भगवद्दर्शनके उपाय— (भक्तियोगका तत्व भाग १)	६ ० ▲	३
298	भगवान्के स्वभावका रहस्य— (भक्तियोगका तत्व भाग २)	६० ▲	२
243	परम साधन —भाग १	६० ▲	२
244	—भाग २	५० ▲	२
245	आत्मोद्धारके साधन—भाग १	७ ▲	३
335	अनन्यभक्तिसे भगवत्प्राप्ति— (आत्मोद्धारके साधन भाग २)	६०० ▲	२
877	(गुजराती)	७० ▲	२
579	अमूल्य समयका सदुपयोग— 666(तेलुगु) ६० 932 (गुजराती) ६ 1099 (मराठी) ६. ०	६ ▲	२
246	मनुष्यका परम कर्तव्य—भाग १	७०० ▲	२
247	भाग २	७ ▲	२
611	इसी जन्ममें परमात्मप्राप्ति— 1052 (गुजराती) ६	७ ▲	२
588	अपात्रको भी भगवत्प्राप्ति—	८०० ▲	२
1296	कर्णवासका सत्सग 1007 (तमिल) ८	६ ▲	२
1015	भगवत्प्रेमकी प्राप्तिमें भावकी प्रधानता—	५ ▲	२
248	कल्याणप्राप्तिके उपाय (त चि म भा १)	९ ■	३
275	(बंगला)	१ ■	३
249	शीघ्र कल्याणके सोपान भाग २ खण्ड १ 1164 (गुजराती) ८	८ ▲	३
50	ईश्वर और ससार भाग २ (खण्ड २)	८ ० ▲	३
519	अमूल्य शिक्षा भाग ३ (खण्ड १)	७ ▲	२
253	धर्मसे लाभ अधर्मसे हानि त चि० भाग ३ (खण्ड २)	८ ▲	२
251	अमूल्य वचन तत्त्वचिन्तामणि भाग ४ (खण्ड-१)	८ ▲	३
252	भगवद्दर्शनकी उत्कण्ठा (खण्ड २)	७ ▲	३
254	व्यवहारमें परमार्थकी कला त चि भाग ५, (खण्ड १) 1144 (गुजराती) ८	७० ▲	२
255	श्रद्धा विश्वास और प्रेम भाग ५ (खण्ड २) 1146 (गुजराती) ८	८ ▲	३
258	तत्त्वचिन्तामणि भाग ६ (खण्ड १)	५ ▲	२
257	परमानन्दकी खेती भाग ६ (खण्ड २)	७ ० ▲	२
260	समता अमृत और विषमता विष भाग-७ (खण्ड १)	६. ▲	३
259	भक्ति भक्त भगवान् भाग ७ (खण्ड २)	७ ▲	३
256	आत्मोद्धारके सरल उपाय—	६. ▲	३
61	भगवान्के रहनेके पाँच स्थान— 839(कन्नड) ३ 689(तेलुगु) ३ 643(तमिल) ० 889 (गुजराती) ३ 1252 (ओडिआ) ३	३ ▲	१
262	रामायणके कुछ आदर्श पात्र— 768(तेलुगु) ६ 833(कन्नड) ७ 933(गुजराती) ५ 1205 (ओडिआ) ६ 1353 (तमिल) ७	▲	
263	महाभारतके कुछ आदर्श पात्र— 766(तेलुगु) ५ 720 (कन्नड) ६ 894 (गुजराती) ५ 1354 (तमिल) ७	५. ▲	२
264	मनुष्य जीवनकी सफलता—भाग १	७ ▲	२
265	भाग २	५. ▲	२
268	परमशान्तिका मार्ग— भाग १	६ ▲	२
69	भाग २	६ ▲	२
543	परमार्थ सूत्र संग्रह—	६ ▲	२
769	साधननवनीत— 1061 (गुजराती) ७	५. ▲	२
945	(कन्नड)	७ ▲	२

कोड		मूल्य	डाकखर्च
599	हमारा आश्चर्य—	७० ▲	२
681	रहस्यमय प्रवचन—	७० ▲	२
1021	अध्यात्मिक प्रवचन—	६० ▲	२
1324	अमृत वचन	७ ▲	२
1022	निष्काम श्रद्धा और प्रेम—	५ ० ▲	२
292	नवधा भक्ति—	४ ▲	१
273	नल दमयन्ती— 645(तमिल) ५० 836 (कन्नड) २० 1059 (गुजराती) ३० 1203(ओडिआ) ३० 916 (तेलुगु) ५०	३०० ▲	१
274	महत्त्वपूर्ण चेतावनी—	३० ▲	१
276	परमार्थ पत्रावली—बंगला प्रथम भाग	४ ० ▲	१
277	उद्धार कैसे हो?—५१ पत्रोंका संग्रह 931 (गुजराती) ५	४ ▲	२
278	सच्ची सलाह—८० पत्रोंका संग्रह	६ ▲	२
280	साधनोपयोगी पत्र—७२ पत्रोका सग्रह	६ ▲	२
281	शिक्षाप्रद पत्र—७ पत्रोंका सग्रह	७ ▲	२
282	पारमार्थिक पत्र—९१ पत्रोंका संग्रह	६० ▲	२
284	अध्यात्मविषयक पत्र—५४ पत्रोंका सग्रह	४ ▲	२
283	शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ—	५ ▲	२
480	(अंग्रेजी)	४ ▲	१
716	(कन्नड) 1077 (गुजराती) ५	६ ▲	२
680	उपदेशप्रद कहानियाँ—	७ ▲	२
818	(गुजराती)	७ ० ▲	२
1109	(कन्नड)	८ ▲	२
915	(तेलुगु)	८ ▲	२
891	प्रेममें विलक्षण एकता—	६० ▲	२
958	मेरा अनुभव—	६ ▲	२
1120	सिद्धान्त एवं रहस्यकी बाते—	६ ▲	२
1283	सत्सगकी मार्मिक बात—	६ ० ▲	२
1150	साधनकी आवश्यकता—	६ ▲	२
320	वास्तविक त्याग—	४ ▲	२
285	आदर्श भ्रातृप्रेम—	४ ▲	१
1187	(ओडिआ)	४ ▲	१
286	बालशिक्षा— 690 (तेलुगु) ३ 719 (कन्नड) ३ 1079 (ओडिआ) ३ 1045 (गुजराती) ३	३ ▲	१
287	बालकोंके कर्तव्य— 1163 (ओडिआ) ३	३ ▲	१
272	स्त्रियोंके लिये कर्तव्य शिक्षा—	७ ▲	२
834	(कन्नड) 1046 (गुजराती) ६	७ ▲	२
90	आदर्श नारी सुशीला— 312(बंगला) ३ 665 (तेलुगु) ३ 644 (तमिल) ३ 1174 (ओडिआ) २ 1047 (गुजराती) 1276 (मराठी) २	३ ▲	१
291	आदर्श देवियाँ— 1221 (ओडिआ) ३	▲	१
300	नारीधर्म—	३ ▲	१
293	सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय— 1050 (गुजराती) १५	१ ▲	१
294	संत महिमा— 1048 (गुजराती) १५ 1038 (ओडिआ) १५	१ ▲	१
295	सत्संगकी कुछ सार बातें—(हिन्दी) 296 (बंगला) १ 466(तमिल) १ 6 8 (तेलुगु) १ 844 (गुजराती) १५ 1040 (ओडिआ) १५ 1279 (मराठी) १५	१५ ▲	१
301	भारतीय संस्कृति तथा शास्त्रोंमें नारीधर्म—	१५ ▲	१
310	सावित्री और सत्यवान्—(हिन्दी) 893 (गुजराती) २ 609 (तमिल) २ 664 (तेलुगु) २ 1220 (ओडिआ) २	२ ▲	१
717	(कन्नड)	४ ▲	१

कोड		मूल्य	डाकखर्च
299	श्रीप्रेमभक्ति प्रकाश—ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप	३ ▲	१
907	श्रीप्रेमभक्ति प्रकाशिका—(तेलुगु)	१५ ▲	१
304	गीता पढ़नेके लाभ और त्यागसे भगवत्प्राप्ति— गजलगीतासहित— 1060 (गुजराती) १	१५ ▲	१
703	गीता पढ़नेके लाभ और त्यागसे भगवत्प्राप्ति—(असमिया)	१ ▲	१
536	गीता पढ़नेसे लाभ सत्यकी शरणसे मुक्ति—(तमिल)	▲	
305	गीताका तात्त्विक विवेचन एवं प्रभाव—	२ ▲	१
309	भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय— (कल्याणप्राप्तिकी कई युक्तियाँ) 1078 (ओडिआ) ३ ०	३ ▲	१
311	परलोक और पुनर्जन्म एवं वैराग्य—	१५ ▲	१
306	धर्म क्या है? भगवान् क्या है?— 1206 (गुजराती) १ ० 1089 (ओडिआ) १५	१ ▲	१
307	भगवान्की दया— 1051 (गुजराती) १	१५ ▲	१
1039	भगवान्की दया एवं भगवत्कृपा (ओडिआ)	१५ ▲	१
725	भगवान्की दया एवं भगवान्का हेतुरहित सौहार्द— (कन्नड)	▲	१
316	ईश्वर साक्षात्कारके लिये नाम जप सर्वोपरि साधन है और सत्यकी शरणसे मुक्ति	१ ▲	१
722	सत्यकी शरणसे मुक्ति और गीता पढ़नेके लाभ—(कन्नड)	२ ▲	१
314	व्यापार सुधारकी आवश्यकता और हमारा कर्तव्य— 1055 (गुजराती) १५ 1170 (मराठी) १५	१५ ▲	१
623	धर्मके नामपर पाप—	१० ▲	१
315	चेतावनी और सामयिक चेतावनी— 1056 (गुजराती) १	१५ ▲	१
318	ईश्वर दयालु और न्यायकारी है और अवतारका सिद्धान्त— 1053 (गुजराती) १	१५ ▲	१
270	भगवान्का हेतुरहित सौहार्द एवं महात्मा किसे कहते हैं ?—	१ ▲	१
673	भगवान्का हेतुरहित सौहार्द—(तेलुगु)	१५ ▲	१
271	भगवत्प्रेमकी प्राप्ति कैसे हो?—	१५ ▲	१
302	ध्यान और मानसिक पूजा— 1127 (गुजराती) १	१५ ▲	१
3 6	प्रेमका सच्चा स्वरूप और शोकनाशके उपाय— 1054 (गुजराती) १	१ ▲	१
328	सध्या गायत्रीका महत्त्व चतु श्लोकी भागवत एवं गजलगीतासहित—	१५ ▲	१

परम श्रद्धेय श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार (भाईजी)-के अनमोल प्रकाशन

कोड		मूल्य	डाकखर्च
820	भगवच्चर्चा—(ग्रन्थाकार)	■	
050	पदरत्नाकर—	५ ■	१
049	श्रीराधा माधव चिन्तन—	५ ■	१
058	अमृत कण—	१६ ■	३
332	ईश्वरकी सत्ता और महत्ता—	१ ■	४
333	सुख शान्तिका मार्ग—	१५ ■	३
343	मधुर—	११ ■	३
056	मानव जीवनका लक्ष्य—	■	३
331	सुखी बननेके उपाय—	१ ■	२
334	व्यवहार और परमार्थ—	१ ■	
514	दुःखमें भगवत्कृपा—	■	३
386	सत्सग सुधा—	■	
342	सतवाणी—ढाई हजार अनमोल बोल	१५ ■	३
850	(तमिल) (भाग १)	▲	
952	( ) (भाग २)	▲	
953	( ) (भाग ३)	▲	

कोड		मूल्य		डाकखर्च
447	मूर्तिपूजा नाम जपकी महिमा—	१ ५	▲	१
852	(ओड़िआ) १ ५ 469 (बँगला) १			
	569 (तमिल) १ •• 734 (तेलुगु) २ ••			
	901 (मराठी)			
723	नाम जपकी महिमा आहार शुद्धि— (कन्नड)	३	▲	१
	671 (तेलुगु) १ • 550 (तमिल) १			

नित्यपाठ साधन-भजन हेतु

कोड		मूल्य		डाकखर्च
592	नित्यकर्म पूजा प्रकाश—	३ ••	■	५
610	व्रतपरिचय—	४५ •	■	४
1162	एकादशी व्रतका माहात्म्य—मोटा टाइप	१०	■	२
1136	वैशाख कार्तिक माघमास माहात्म्य	१८ •	■	३
052	स्तोत्ररत्नावली—सानुवाद	१८ •	■	३
	914 (तेलुगु) १७ •			
117	दुर्गासप्तशती—मूल मोटा टाइप	१२ •	■	२
876	मूल गुटका	६	■	२
909	मूल (तेलुगु)	१० ••	■	२
843	मूल (कन्नड)	६ ••	■	२
1346	सानुवाद मोटा टाइप	२ •	■	३
1366	सानुवाद (गुजराती)	१५ ••	■	३
118	सानुवाद	१५	■	३
489	सजिल्द	२ ••	■	३
866	केवल हिन्दी	१	■	२
1161	केवल भाषा मोटा टाइप	३० •	■	४
1281	सटीक राजसंस्करण	३ •	■	४
819	श्रीविष्णुसहस्रनाम शांकरभाष्य	१२ •	■	३
206	विष्णुसहस्रनाम—सटीक	३	■	१
837	कन्नड़	४ •	■	१
	226 मूलपाठ १ ५० 740 (मलयालम)			
	670 (तेलुगु) १ ५ 737 (कन्नड) २ •			
	794 (तमिल) २ •• 937 (गुजराती) १ ५			
509	सूक्ति सुधाकर—सूक्ति संग्रह	१० •	■	२
207	रामस्तवराज—(सटीक)		■	
211	आदित्यहृदयस्तोत्रम्—हिन्दी अँग्रेजी अनुवाद सहित	१ ५	■	१
	1070 (ओड़िआ) १ ५०			
224	श्रीगोविन्ददामोदरस्तोत्र भक्त बिल्वमंगलरचित		■	
674	(तेलुगु)	३ •	■	१
1154	(ओड़िआ)	३ ••	■	१
231	रामरक्षास्तोत्रम्—	१ ५०	■	१
912	" सटीक (तेलुगु)	१ ५०	■	१
675	संक्षिप्त रामायणम् और रामरक्षास्तोत्रम् (तेलुगु)	२ •	■	१
715	महामन्त्रराजस्तोत्रम्—		■	
704	श्रीशिवसहस्रनामस्तोत्रम्—		■	
7 5	श्रीहनुमत्सहस्रनामस्तोत्रम्—		■	
706	श्रीगायत्रीसहस्रनामस्तोत्रम्—	२ ••	■	१
707	श्रीरामसहस्रनामस्तोत्रम्—		■	
7 8	श्रीसीतासहस्रनामस्तोत्रम्—	२	■	१
09	श्रीसूर्यसहस्रनामस्तोत्रम्—		■	
710	श्रीगङ्गासहस्रनामस्तोत्रम्—	२	■	१
711	श्रीलक्ष्मीसहस्रनामस्तोत्रम्—		■	
712	श्रीगणेशसहस्रनामस्तोत्रम्—		■	
713	श्रीराधिकासहस्रनामस्तोत्रम्—		■	
810	श्रीगोपालसहस्रनामस्तोत्रम्—	३ •	■	१
495	दत्तात्रेय वज्रकवच—सानुवाद	२	■	१
	930 (तेलुगु) ३			
2 9	श्रीनारायणकवच एवं अमोघ शिवकवच—	३	■	१
	1149 (ओड़िआ) १ ५०			
563	शिवमहिम्नस्तोत्र—	३	■	१
23	श्रीशिवमहिम्न स्तोत्रम् सटीक तेलुगु	३	■	१
054	भजन संग्रह—पाँचों भाग एक साथ	२४	■	४
063	पद पद्माकर—		■	
140	श्रीरामकृष्णलीला भजनावली—			
348	भजनसंग्रह	१४	■	३
142	चेतावनी पद संग्रह—(दोनों भाग)	१४	■	२

कोड		मूल्य		डाकखर्च
144	भजनामृत—६७ भजनोंका संग्रह	६	■	१
1355	सचित्र स्तुति संग्रह	५ •	■	१
1344	सचित्र आरती संग्रह—	१	■	२
153	आरती संग्रह—१ २ आरतियोंका संग्रह	५	■	१
807	सचित्र आरतियाँ—	८ •	■	२
1287	(गुजराती)	१		
385	नारद भक्ति सूत्र—सानुवाद	१	▲	१
330	(बंगला)	२ •	▲	१
499	(तमिल)	१	▲	१
208	सीतारामभजन—	३ •	■	१
221	हरेरामभजन—दो माला (गुटका)	३ ••	■	१
222	हरेरामभजन—१४ माला		■	
576	विनय पत्रिकाके पैंतीस पद—	२ ••	■	१
225	गजेन्द्रमोक्ष सानुवाद, हिन्दी पद्य भाषानुवाद	१ ५	■	१
677	सानुवाद, (तेलुगु)	१ ५	■	१
	1068 (ओडिआ) १ ५			
699	गङ्गालहरी—	१	■	१
232	श्रीरामगीता—	२ •	■	१
383	भगवान् कृष्णकी कृपा तथा दिव्य प्रेमकी प्राप्तिके लिये—	१ •	■	१
1094	हनुमानचालीसा हिन्दी भावार्थसहित	४ •	■	१
227	हनुमानचालीसा—(पाकेट साइज)	१ ५	■	१
695	(छोटी साइज)	१ •	■	१
	1198 (गुजराती) १ • 600 (तमिल) २			
	626 (बंगला) १ ५ 676 (तेलुगु) १ ५			
	828 (गुजराती) १ ५ 738 (कन्नड) १			
	856 (ओड़िआ) १ ५ 1323 (असमिया) १ ५			
228	शिवचालीसा—	१ ५	■	१
1185	शिवचालीसा— लघु आकार	१	■	१
851	दुर्गाचालीसा विन्ध्येश्वरीचालीसा	१ ५०	■	१
1033	दुर्गाचालीसा—लघु	१	■	१
203	अपरोक्षानुभूति—	२	■	१
139	नित्यकर्म प्रयोग—	८	■	२
524	ब्रह्मचर्य और संध्या गायत्री—	२	■	१
210	सन्ध्योपासनविधि एवं तर्पण— बलिवैश्वदेवविधि—मन्त्रानुवादसहित	३ ••	■	१
236	साधकदैनन्दिनी—	२	■	१
614	सन्ध्या—	१ ५	■	१

बालोपयोगी पाठ्यपुस्तकें

कोड		मूल्य		डाकखर्च
573	बालक अङ्क—(कल्याण वर्ष २७)	८ •	■	१६
1316	बालपोथी (शिशु) रंगीन	१	■	२
461	भाग १	३	■	१
212	भाग २	३ •	■	१
684	भाग ३	४	■	१
764	भाग ४	४ •	■	१
765	भाग ५	४	■	१
125	रंगीन भाग १	४ •	■	१
216	बालककी दिनचर्या—	३	■	१
214	बालकके गुण—	३	■	१
217	बालकोंकी सीख—	३	■	१
219	बालकके आचरण—	३ •	■	१
218	बाल अमृत वचन—	३	■	१
696	बाल प्रश्नोत्तरी—	३	■	१
215	आओ बच्चो तुम्हें बतायें—	३	■	१
213	बालकोंकी बोल चाल—		■	१
145	बालकोंकी बातें—	६ •	■	१
146	बड़ोंके जीवनसे शिक्षा—	६	■	१
150	पिताकी सीख—	७	■	२
197	संस्कृतिमाला—भाग १	२	■	१
516	आदर्श चरितावली—	३	■	१
396	आदर्श ऋषि मुनि—		■	
397	आदर्श देशभक्त—	४ •	■	१
398	आदर्श सम्राट्—			
399	आदर्श संत—	४	■	१
4 2	आदर्श सुधारक—	३	■	१
897	लघुसिद्धान्तकौमुदी—		■	
148	वीर बालक—	५	■	१

कोड		मूल्य		डाकखर्च
149	गुरु और माता पिताके भक्त बालक—	५	■	१
152	सच्चे ईमानदार बालक—	४ ••	■	१
155	दयालु और परोपकारी बालक बालिकाएँ—	६	■	१
156	वीर बालिकाएँ—	६ •	■	१
727	स्वास्थ्य सम्मान और सुख—		■	१
209	रामायणमध्यमा परीक्षा पाठ्य पुस्तक—	७५	■	१

सर्वोपयोगी प्रकाशन

कोड		मूल्य		डाकखर्च
698	मार्क्सवाद और रामराज्य स्वामी करपात्रीजी		■	
02	मनोबोध—	५ •	■	१
746	भ्रमण नारद—	२	■	१
747	सप्तमहाव्रत—	२	■	१
1300	महाकुम्भ पर्व—		■	
542	ईश्वर—	२ •	■	१
196	मननमाला—			
57	मानसिक दक्षता (मनोवैज्ञानिक विश्लेषण)		■	
59	जीवनमें नया प्रकाश— (ले. रामचरण महेन्द्र)	१३	■	२
60	आशाकी नयी किरणें—	१६	■	२
132	स्वर्णपथ—	११	■	२
55	महकते जीवनफूल	१८	■	३
64	प्रेमयोग—	१	■	३
774	गीताप्रेस परिचय—	४	■	१
387	प्रेम सत्संग सुधामाला—	१ •	■	२
668	प्रश्नोत्तरी—	१	■	१
501	उद्धव सन्देश—	१ •	■	२
191	भगवान् कृष्ण—	३ ५	■	१
	601 (तमिल) ५ 641 (तेलुगु) ५ •			
	895 (गुजराती) ३			
193	भगवान् राम—		■	
	1085 (गुजराती) ४			
195	भगवान्पर विश्वास—	६	■	१
120	आनन्दमय जीवन—	१ •	■	२
130	तत्त्वविचार—	९	■	२
133	विवेक चूड़ामणि—	१ •	■	२
910	विवेक चूड़ामणि—(तेलुगु)	१३	■	२
701	गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका	३	▲	१
	826 (ओड़िआ) २ • 62 (बंगला) २ ••			
	742 (तमिल) २ ५ 752 (तेलुगु) २			
	802 (मराठी) २ 83 (अंग्रेजी) २ •			
	804 (गुजराती) २ 838 (कन्नड) २			
131	सुखी जीवन—		■	२
122	एक लोटा पानी—	१	■	२
888	परलोक और पुनर्जन्मकी सत्य घटनाएँ—	१	■	२
1217	भवनभास्कर—	१	■	१
134	सती द्रौपदी—	८	■	२
137	उपयोगी कहानियाँ—	७	■	१
	919 (तेलुगु) ६ 127 (तमिल) ७ •			
	724 (कन्नड़) ५ 934 (गुजराती) ६			
157	सती सुकला—	३	■	१
147	चोखी कहानियाँ—	६	■	१
	692 (तेलुगु) ४ • 646 (तमिल) ६ •			
159	आदर्श उपकार (पढ़ो समझो और करो)	८	■	२
160	कलेजेके अक्षर—	८ •	■	२
161	हृदयकी आदर्श विशालता—	८	■	२
162	उपकारका बदला—	८	■	२
163	आदर्श मानव हृदय—	८	■	२
164	भगवान्के सामने सच्चा सो सच्चा—	८	■	२
165	मानवताका पुजारी—	८	■	२
827	नैतिक चुलबुली कहानियाँ—	८	■	२
166	परोपकार और सच्चाईका फल—	८	■	२
510	असीम नीचता और असीम साधुता	८	■	१
129	एक महात्माका प्रसाद—	१५ •	■	३
151	सत्सङ्गमाला एवं ज्ञानमणिमाला—	७	■	२

चित्रकथा

कोड		मूल्य		डाकखर्च
170	बाल चित्रमय श्रीकृष्णलीला—	८	■	१
1114	श्रीकृष्णलीला (राजस्थानी शैली १८वीं शताब्दी)		■	७

कोड		मूल्य		डाकखर्च
	गुजराती			
467	साधक संजीवनी—	९ ०	■	२
1313	गीता तत्त्व विवेचनी	७ ०	■	१७
468	गीता दर्पण—	३०	■	९
12	गीता पदच्छेद—	२५ ०	■	५
1 86	संक्षिप्त शिवपुराण	११	■	१६
13 6	संक्षिप्त देवीभागवत	१२०	■	१८
1085	भगवान् राम—	४	■	१
1315	गीता भाषाटीका (मोटा टाइप)	१५	■	३
936	गीता छोटी—सटीक	६ ०	■	२
1034	गीता छोटी—सजिल्द	१० ०	■	२
799	श्रीरामचरितमानस—ग्रन्थाकार	१२ ०	■	१८
785	मझला साइज	४५ ०	■	९
878	श्रीरामचरितमानस—मूल मझला	५ ०	■	६
879	मूल गुटका	२५	■	४
948	सुन्दरकाण्ड—मूल मोटा	५ ०	■	१
1199	सुन्दरकाण्ड— मूल लघु आकार	२ ०	■	१
1225	मोहन— (धारावाहिक चित्रकथा)	१	■	२
1224	कन्हैया—	१ ०	■	२
12 8	नवदुर्गा—	१०	■	२
1366	दुर्गासप्तशती—सटीक	१५ ००	■	३
1227	सचित्र आरतियाँ	१०	■	२
1226	अष्ट विनायक	१	■	२
895	भगवान् श्रीकृष्ण—	३ ०	■	१
613	भक्त नरसिंह महेता—	७ ००	■	२
934	उपयोगी कहानियाँ—	६ ०	■	१
10/6	आदर्श भक्त—	६	■	१
1082	भक्त सप्तरत्न —	५ ०	■	१
1084	भक्त महिलारत्न—	६ ००	■	१
875	भक्त सुधाकर—	६ ०	■	१
892	भक्त चन्द्रिका—	४ ००	■	१
1143	भक्त सुमन—	७ ०	■	१
1087	प्रेमी भक्त—	५ ०	■	१
890	प्रेमी भक्त उद्धव—	३	■	१
947	महात्मा विदुर—		■	
937	विष्णुसहस्रनाम—	१ ५०	■	१
1229	पंचामृत—	१	■	१
935	संक्षिप्त रामायण (वाल्मीकीय रामायण-अन्तर्गत)	२	■	१
1077	शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ—	५	▲	१
1164	शीघ्र कल्याणके सोपान—	८	▲	२
1146	श्रद्धा विश्वास और प्रेम—	८ ००	▲	२
1144	व्यवहारमें परमार्थकी कला—	८	▲	२
1046	स्त्रियोंके लिये कर्तव्य शिक्षा—	६ ०	▲	२
1062	नारीशिक्षा—	८ ०	▲	२
11 8	दाम्पत्य जीवनका आदर्श—	७	▲	२
1 52	इसी जन्ममें भगवत्प्राप्ति—	६ ००	▲	२
1061	साधननवनीत—	७	▲	२
1047	आदर्श नारी सुशीला—	३	▲	१
1059	नल दमयन्ती—	३	▲	१
1045	बालशिक्षा—	३ ००	▲	१
1049	आनन्दकी लहरें—	१ ५०	▲	१
1067	दिव्य सुखकी सरिता—	६. ०	▲	१
1126	साधन पथ—	४	▲	१
1058	मनको वश करनेके उपाय एवं कल्याणकारी आचरण—	१५	▲	१
1054	प्रेमका सच्चा स्वरूप और सत्यकी शरणसे मुक्ति—	१ ००	▲	१
933	रामायणके आदर्श पात्र—	५	▲	२
931	उद्धार कैसे हो?—	५	▲	२
9-6	सत्संगका प्रसाद—	४ ०	▲	१
1063	सत्संगकी विलक्षणता—	३ ००	▲	१
1064	जीवनोपयोगी कल्याण मार्ग—	३	▲	१
1165	सहज साधना—	३	▲	१
942	जीवनका सत्य—	४.	▲	१
1145	अमरताकी ओर—	४	▲	१
1151	सत्संगमुक्ताहार—	३	▲	१
9-0	अमृत बिन्दु—	५.	▲	१
1066	भगवान्से अपनापन—	४ ००	▲	१
893	सती सावित्री—	२	▲	१
894	महाभारतके आदर्श पात्र—	५.	▲	२

कोड		मूल्य		डाकखर्च
941	देशकी वर्तमान दशा तथा परिणाम—	२	▲	१
943	गृहस्थमें कैसे रहें?—	५	▲	२
1177	आवश्यक शिक्षा—	२ ०	▲	१
1088	एकै साधे सब सधै—	३ ००	▲	१
932	अमूल्य समयका सदुपयोग—	६ ००	▲	२
938	सर्वोच्चपदप्राप्तिके साधन—	१ ००	▲	१
939	मातृ शक्तिका घोर अपमान—	३ ००	▲	१
1050	सच्चा सुख—	१ ५०	▲	१
1206	धर्म क्या है? भगवान् क्या है?—	१ ००	▲	१
1057	भगवान्‌की दया—	१ ००	▲	१
1060	त्यागसे भगवत्प्राप्ति और गीता पढ़नेके लाभ	१ ००	▲	१
806	रामभक्त हनुमान्—	४ ००	■	१
828	हनुमानचालीसा—	१ ५०	■	१
1198	हनुमानचालीसा—लघु आकार	१ ०	■	१
392	गीतामाधुर्य-	६ ०	▲	२
404	कल्याणकारी प्रवचन—	७ ००	▲	२
1141	क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं?—	३ ००	▲	१
1086	कल्याणकारी प्रवचन—भाग २	४ ०	▲	१
889	भगवान्‌के रहनेके पाँच स्थान—	३ ०	▲	१
877	अनन्य भक्तिसे भगवत्प्राप्ति—	७	▲	२
818	उपदेशप्रद कहानियाँ—	७ ००	▲	२
413	तात्त्विक प्रवचन—	४ ००	▲	२
844	सत्संगकी कुछ सार बातें—	१ ५०	▲	१
1056	चेतावनी एवं सामयिक चेतावनी—	१ ०	▲	१
1053	अवतारका सिद्धान्त और ईश्वर दयालु एवं न्यायकारी—	१ ०	▲	१
1055	हमारा कर्तव्य एवं व्यापार सुधारकी आवश्यकता—	१ ५	▲	१
1127	ध्यान और मानसिक पूजा—	१	▲	१
804	गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका	२ ०	▲	१
1048	सत महिमा—	१ ५	▲	१
1148	महापापसे बचो—	१ ०	▲	१
1178	सार संग्रह सत्संगके अमृत कण—	१ ५	▲	१
1153	अलौकिक प्रेम—	१ ००	▲	१
1152	मुक्तिमें सबका अधिकार—	१ ५	▲	१
	तमिल			
1256	अध्यात्म रामायण	५ ०	■	८
800	गीता तत्त्व विवेचनी—	७५	■	११
823	गीता पदच्छेद—	२ ००	■	७
743	गीता मूलम्—	१५ ००	■	४
795	गीता भाषा—		■	
794	विष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्—	२ ०	■	१
793	गीता मूल विष्णुसहस्रनाम—	५.००	■	२
389	गीतामाधुर्य—	८ ००	▲	३
127	उपयोगी कहानियाँ—		■	
646	चोखी कहानियाँ—	६.००	■	१
600	हनुमानचालीसा—	२ ००	■	१
601	भगवान् श्रीकृष्ण—		■	
608	भक्तराज हनुमान्—		■	
642	प्रेमी भक्त उद्धव—		■	
1246	भक्तचरित्रम्—	६ ००	■	१
365	गोसेवाके चमत्कार—	८ ००	■	२
1134	गीता माहात्म्यकी कहानियाँ—	८ ००	■	२
647	कन्हैया— (धारावाहिक चित्रकथा)		■	
648	श्रीकृष्ण— ( )		■	
649	गोपाल— ( )		■	
650	मोहन— ( )		■	
850	संतवाणी—(भाग १)		▲	
952	(२)		▲	
953	(३)		▲	
741	महात्मा विदुर—		■	
1042	पंचामृत—		■	
742	गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका		▲	
553	गृहस्थमें कैसे रहें ?—	८	▲	२
1110	अमृत बिन्दु—	५.०	▲	२
536	गीता पढ़नेके लाभ, सत्यकी शरणसे मुक्ति		▲	
1117	देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	५.	▲	२
591	महापापसे बचो संतानका कर्तव्य	३ ०	▲	१

कोड		मूल्य		डाकखर्च
466	सत्संगकी सार बातें—	१	▲	१
423	कर्मरहस्य—		▲	
568	शरणागति—	३	▲	१
569	मूर्तिपूजा—		▲	
551	आहारशुद्धि—		▲	
645	नल दमयन्ती—		▲	
644	आदर्श नारी सुशीला—	३	▲	१
643	भगवान्‌के रहनेके पाँच स्थान—		▲	
550	नाम जपकी महिमा—		▲	
499	नारद भक्ति सूत्र—	१	▲	१
606	सर्वोच्चपदकी प्राप्तिके साधन—		▲	
609	सावित्री और सत्यवान्—		▲	
805	मातृशक्तिका घोर अपमान—	२	▲	१
607	सबका कल्याण कैसे हो ?—		▲	
792	आवश्यक चेतावनी—		▲	
655	एकै साधे सब सधै—		▲	
1243	वास्तविक सुख—	५	▲	२
1007	अपात्रको भी भगवत्प्राप्ति—	८	▲	२
1353	रामायणके कुछ आदर्श पात्र	७	▲	२
1354	महाभारतके कुछ आदर्श पात्र	७	▲	२
	कन्नड़			
1112	गीता तत्त्व विवेचनी—	७ ०	■	१७
726	गीता पदच्छेद—	२५	■	६
718	गीता तात्पर्यके साथ—	१५ ०	■	३
1288	गीता श्लोकार्थ	६	■	२
661	गीता मूल (विष्णुसहस्रनामसहित)	५	■	२
736	नित्यस्तुति आदित्यहृदयस्तोत्रम्—	१ ५	■	१
1105	श्रीवाल्मीकि रामायणम् संक्षिप्त	१ ५	■	१
738	हनुमत् स्तोत्रावली—		■	
737	विष्णुसहस्रनाम एवं सहस्रनामावली	२ ०	■	१
721	भक्त बालक—	५	■	१
951	भक्त चन्द्रिका—	५	■	१
716	शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ—	६	▲	२
1109	उपदेशप्रद कहानियाँ	८ ०	▲	२
724	उपयोगी कहानियाँ—		■	
832	श्रीरामचरितमानस—सुन्दरकाण्ड (सटीक)	६	■	२
1357	नवदुर्गा	१ ०	■	२
835	श्रीरामभक्त हनुमान्		■	
837	विष्णुसहस्रनाम—सटीक	४	■	१
840	आदर्श भक्त—	५	■	१
841	भक्त सप्तरत्न—	५	■	१
842	ललितासहस्रनामस्तोत्र—		■	
843	दुर्गासप्तशती—मूल	६ ०	■	२
390	गीतामाधुर्य—	६ ०	▲	२
128	गृहस्थमें कैसे रहें ?—	५ ०	▲	२
720	महाभारतके आदर्श पात्र—	६	▲	२
945	साधननवनीत —	७	▲	२
717	सावित्री सत्यवान् और आदर्श नारी सुशीला	४	▲	१
723	नाम जपकी महिमा और आहारशुद्धि	३ ००	▲	१
725	भगवान्‌की दया एवं भगवान्‌का हेतुरहित सौहार्द	३ ००	▲	१
722	सत्यकी शरणसे मुक्ति गीता पढ़नेके लाभ	२	▲	१
325	कर्मरहस्य —			
593	भगवत्प्राप्तिकी सुगमता—			
597	महापापसे बचो—	१ ५	▲	१
598	वास्तविक सुख—			
719	बालशिक्षा—	३	▲	१
831	देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम		▲	
833	रामायणके आदर्श पात्र—	७	▲	२
834	स्त्रियोंके लिये कर्तव्य शिक्षा—	७ ०	▲	२
836	नल दमयन्ती—	२.	▲	१
838	गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका	२	▲	१
839	भगवान्‌के रहनेके पाँच स्थान—	३ ००	▲	१
	असमिया			
714	गीता भाषा टीका—पॉकेट साइज	५.	■	२
1212	श्रीमद्भागवत माहात्म्य—		■	
8.5	नवदुर्गा—	५.००	■	२
1323	श्रीहनुमान चालीसा	१ ५	■	१
624	गीतामाधुर्य—	५.	▲	३
3	गीता पढ़नेके लाभ—	१	▲	१

कोड		मूल्य	डाकखर्च
	आडिओ		
1100	गीता तत्त्व विवेचनी—ग्रन्थाकार	७	■ १६
1121	गीता साधक संजीवनी	१००	■ २३
1218	रामचरितमानस—मूल मोटा टाइप	७ ०	■ १
1157	गीता—सटीक मोटे अक्षर (अजि)	१ ०	■ ३
815	गीता श्लोकार्थसहित— (सजि)	१५	■ ३
541	गीता मूल विष्णुसहस्रनामसहित—	३	■ १
1219	गीता पंचरत्न	१५	■ ३
1008	गीता—पॉकेट साइज	६	■ २
1009	जय हनुमान्—	१५	■ २
863	नवदुर्गा—	८	■ २
854	भक्तराज हनुमान्—	६०	■ १
1173	भक्त चन्द्रिका—		■
856	हनुमानचालीसा—	१५०	■ १
754	गीतामाधुर्य—	५	▲ २
1003	सत्संगमुक्ताहार—	३	▲ १
1004	तात्त्विक प्रवचन—	६	▲ १
1208	आदर्श कहानियाँ—	६	▲ १
1139	कल्याणकारी प्रवचन—	६०	▲ २
1138	भगवान्‌से अपनापन—	४	▲ १
1209	प्रश्नोत्तर मणिमाला—	७	▲ २
798	गुरुतत्त्व—	१५०	▲ १
797	संतानका कर्तव्य सच्चा आश्रय—	१५	▲ १
817	कर्मरहस्य—	३	▲ १
1010	अष्टविनायक—	१०	■ २
1248	मोहन	१	■ २
1249	कन्हैया	१	■ २
250	ॐ नमः शिवाय	१५ ०	■ ३
1036	गीता—मूल लघु आकार	१५०	■ १
1070	आदित्यहृदयस्तोत्र—	१५	■ १
1068	गजेन्द्रमोक्ष—	१५	■ १
1069	नारायणकवच—	१५	■ १
1078	भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय—	३ ०	▲ १
1079	बालशिक्षा—	३ ०	▲ १
1163	बालकोंके कर्तव्य—	३	▲ १
1252	भगवान्‌के रहनेके पाँच स्थान	३	▲ १
1187	आदर्श भ्रातृप्रेम—		▲
1174	आदर्श नारी सुशीला—		▲
1220	सावित्री और सत्यवान्—		▲
1221	आदर्श देवियाँ—		▲
1038	संत महिमा—	१	▲ १
1089	धर्म क्या है? भगवान् क्या है?—	१५	▲ १
1039	भगवान्‌की दया एवं भगवत्कृपा—	१५	▲ १
1090	प्रेमका सच्चा स्वरूप—(पॉकेट साइज)	१५	▲ १
1091	हमारा कर्तव्य—	१५	▲ १
1040	सत्संगकी कुछ सार बातें—	१५	▲ १
1041	ब्रह्मचर्य एवं मनको वश करनेके कुछ उपाय		▲
1011	आनन्दकी लहरें—	१५	▲ १
826	गर्भपात उचित या अनुचित—	२	▲ १
757	शरणागति—	३	▲ १
1186	श्रीभगवन्नाम—		▲

कोड		मूल्य	डाकखर्च
430	गृहस्थमें कैसे रहें ?—	४	▲
1 67	सहज साधना—		▲
1015	मातृशक्तिका घोर अपमान—	३ ०	▲ १
852	मूर्तिपूजा नामजपकी महिमा—	१५	▲ १
865	प्रार्थना—	३ ०	▲ १
796	देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	३ ०	▲ १
1130	क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं?—	३ ०	▲ १
1154	गोविन्ददामोदरस्तोत्र—	३ ०	■ १
1200	सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र—	३	■ १
1 01	महात्मा विदुर—		■
1202	प्रेमी भक्त उद्धव—		■
1203	नल दमयन्ती—	३	▲ १
1204	सुन्दरकाण्ड—मूल मोटा	५	■ १
1 5	रामायणके कुछ आदर्श पात्र—	६	▲ २
	मराठी		
394	गीतामाधुर्य—		▲
554	हम ईश्वरको क्यों मानें?—		▲
	उर्दू		
393	गीतामाधुर्य—	८	▲ २
549	महापापसे बचो—	१५	▲ १
590	मनकी खटपट कैसे मिटे?—	८	▲ १
	तेलुगु		
1172	गीता तत्त्व विवेचनी—	७०	■ १७
1031	गीता—छोटी पॉकेट साइज	६ ०	■ २
10 8	गीतामाधुर्य	८ ०	▲ २
1352	रामचरितमानस—सटीक ग्रन्थाकार	१२	▲ १८
845	अध्यात्मरामायण—	६	■ ११
908	नारायणीयम्—मूलम्		■
909	दुर्गासप्तशती—मूलम्	१ ०	■ २
924	वाल्मीकि रामायणम् सुन्दरकाण्डम् मूलम्	१७	■ ३
910	विवेकचूडामणि—	१३	■ २
930	दत्तात्रेय वज्रकवच	३ ०	■ १
846	ईशावास्योपनिषद्—	३	■ १
771	गीता तात्पर्यसहित—	१२ ०	■ ३
772	गीता पदच्छेद अन्वयसहित—	२	■ ५
915	उपदेशप्रद कहानियाँ	८ ०	▲ २
692	चोखी कहानियाँ—	४	■ १
682	भक्तपञ्चरत्न—	५	■ १
686	प्रेमीभक्त उद्धव—	३	■ १
687	आदर्श भक्त—	५	■ १
767	भक्तराज हनुमान्—	५	■ १
917	भक्त चन्द्रिका—	५	■ १
685	भक्त बालक—	४	■ १
918	भक्त सप्तरत्न—	५	■ १
929	महाभक्तलु (तेलुगु)	६	■ १
670	विष्णुसहस्रनाम—मूल	१५	■ १
1023	श्रीशिवमहिम्न स्तोत्रम् सटीक (तेलुगु)	३	■ १
1025	स्तोत्रकदम्बम्—	३	■ १

कोड		मूल्य	डाकखर्च
914	स्तोत्ररत्नावली—	७०	■
1029	भजन संकीर्तनावली—	१	■ १
688	भक्तराज ध्रुव—		■
753	सुन्दरकाण्ड—सटीक	८	■ १
691	श्रीभीष्मपितामह—		■ १
732	नित्यस्तुति आदित्यहृदयस्तोत्रम्—	१५	■ १
904	श्रीमद्भागवत मुक्ता(प्रवचन तेलुगु)—	१२	■
887	जय हनुमान् पत्रिका—		■ १
1301	नवदुर्गा पत्रिका	१	■ २
1309	गीता माहात्म्यकी कहानियाँ	१	■ १
912	रामरक्षास्तोत्र—सटीक	१५	■ १
905	आदर्श दाम्पत्य जीवनम्—	८	▲ १
906	भगन्तुड आत्मगुणु—		▲ १
676	हनुमानचालीसा—	१५	■ १
641	भगवान् श्रीकृष्ण	५	■ १
662	गीता मूल (विष्णुसहस्रनामसहित)	८	■ १
663	गीता भाषा—		■
674	गोविन्ददामोदरस्तोत्र—		■ १
675	सं० रामायणम्, रामरक्षास्तोत्रम्—		■ १
677	गजेन्द्रमोक्षम्—	१५	■ १
801	ललितासहस्रनाम—	३	■ १
919	मंचि कथलु—(उपदेश कहानियाँ)	६	■ १
9 0	परमार्थ पत्रावली—	४	▲ १
913	भगवत्प्राप्ति सर्वोत्कृष्ट— साधनम् नाम स्मरणम्—	१५	▲ १
766	महाभारतके आदर्श पात्र—	५	▲ २
760	महत्त्वपूर्ण शिक्षा—	३	▲ १
68	रामायणके कुछ आदर्शपात्र—	६	▲ १
733	गृहस्थमें कैसे रहें?—	५	▲ १
761	एकै साधे सब सधै—	४	▲ १
759	शरणागति एवं मुकुन्दमाला—	३	▲ १
752	गर्भपात उचित या अनुचित—फैसला आपका—	२	▲ १
734	आहारशुद्धि मूर्तिपूजा—	२	▲ १
664	सावित्री सत्यवान्—	२	▲ १
665	आदर्श नारी सुशीला—		▲ १
666	अमूल्य समयका सदुपयोग—	६ ०	▲ १
672	सत्संगकी शरणसे मुक्ति—	१	▲ १
671	नामजपकी महिमा—	१	▲ १
678	सत्संगकी कुछ सार बातें—	१	▲ १
731	महापापसे बचो—	१५	▲ १
758	देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	३	▲ १
916	नल दमयन्ती—	५	▲ १
689	भगवान्‌के रहनेके पाँच स्थान—		▲ १
690	बालशिक्षा—		▲ १
907	प्रेमभक्ति प्रकाशिका—	१५	▲ १
673	भगवान्‌का हेतुरहित सौहार्द—	१५	▲ १
926	सन्तानका कर्तव्य—	१५	▲ १
	मलयालम		
739	गीता विष्णुसहस्रनाम—मूल	८	■ १
740	विष्णुसहस्रनाम—मूल		■

Our English Publications

Code		Price	Postage
457	Shrimad Bhagavadgita—Tattva Vivechani (By Jayadayal Goyandka Detailed Commentary)	50 00	■ 14
1080	Shrimad Bhagavadgita—Sadhak Sanjivani (By Swami Ramsukhdas) (English Commentary)		
1081	Set of 2 volumes	70 00	■ 17
4 5	Bhagavadgita (With Sanskrit Text and English Translation) Pocket size	5 00	■ 2
534	Bound	7 00	■ 2
470	Bhagavadgita—Roman Gita (With Sanskrit Text and English Translation) (Bound)		■
1223	(Unbound)	10 00	■ 2
808	NavaDurga (Story with the Picture)	8 00	■ 2
452, 453	Shrimad Valmiki Ramayana (With Sanskrit Text and English Translation) Set of 2 volumes	220 00	■ 36
1318	Shri Ramacharitamanas (With Hindi Text Roman Transliteration & English Translation)	200 00	■ 20
456	Shri Ramacharitamanas (With Hindi Text and English Translation)	100 00	■ 15
786	Medium	50 00	■ 10
564, 565	Shrimad Bhagvat (With Sanskrit Text and English Translation) Set	200 00	■ 30
783	Abortion Right or Wrong you Decide	2 00	▲ 1
824	Songs From Bhartrihari	2 00	■ 1
494	The Immanence of God (By MadanMohan Malaviya)		■
	By Jayadayal Goyandka		
477	Gems of Truth (Vol I)	5 00	▲ 2
478	(Vol II)	6 00	▲ 2
479	Sure Steps to God Realization	8 00	▲ 3
481	Way to Divine & Bliss		
482	What is Dharma? What is God?	1 50	▲ 1
480	Instructive Eleven Stories	4 00	▲ 1
694	Dialogue with the Lord During Meditation	2 00	▲ 1
1125	Five Divine Abodes	2 00	▲ 1
520	Secret of Jnana Yoga	8 00	▲ 3
521	Prem Yoga	6 00	▲ 2
522	Karma Yoga	9 00	▲ 3
523	Bhakti Yoga	8 00	▲ 3
658	Secrets of Gita	4 00	▲ 2
1013	Gems of Satsang	1 00	▲ 1
	By Hanuman Prasad Poddar		
484	Look Beyond the Veil	6 00	▲ 2
622	How to Attain Eternal Happiness ?	8 00	▲ 2
483	Turn to God		
485	Path to Divinity	7 00	▲ 2
847	Gopis Love for Sri Krisna	4 00	▲ 1
620	The Divine Name and Its Practice	2 50	▲ 1
486	Wavelets of Bliss & the Divine Message		▲
	By Swami Ramsukhdas		
4 8	In Search of Supreme Abode		▲
619	Ease in God Realization	4 00	▲ 1
471	Benedictory Discourses	5 00	▲ 1
473	Art of Living	3 00	▲ 1
487	Gita Madhurya (English)	6 00	▲ 2
1101	The Drops of Nectar (Amrita Bindu)		
472	How to Lead A Household Life		
570	Let us Know the Truth	3 00	▲ 1
638	Sahaj Sadhna	2 00	▲ 1
634	God is Everything	3 00	▲ 1
621	Invaluable Advice	2 00	▲ 1
474	Be Good		▲
497	Truthfulness of Life	2 00	▲ 1
669	The Divine Name	2 00	▲ 1
476	How to be Self Reliant	1 00	▲ 1
552	Way to Attain the Supreme Bliss		
562	Ancient Idealism for Modern day Living	1 00	▲ 1

॥ श्रीहरि ॥

'कल्याण' का उद्देश्य और इसके नियम

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य धर्म और सदाचारसमन्वित लेखाद्वारा जन-जनको कल्याण-पथ (आत्मोद्धारके सुमार्ग)-पर अग्रसरित करनेकी प्रेरणा देना इसका एकमात्र उद्देश्य है।

नियम—भगवद्भक्ति, ज्ञान, वैराग्यादि प्रेरणाप्रद एव कल्याण-मार्गमे सहायक अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखाके अतिरिक्त अन्य विषयाके लेख 'कल्याण' मे प्रकाशित नहीं किये जाते। लेखाको घटाने-बढाने और छापने-न-छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। लेखामे प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदायी नहीं है।

१-'कल्याण' का वर्तमान वार्षिक सदस्यता-शुल्क डाक-व्ययसहित नेपाल-भूटान तथा भारत वर्षमे रु० १२० (सजिल्द विशेषाङ्कका रु० १३५) और विदेशके लिये सजिल्द विशेषाङ्कका हवाई डाक (Air mail) से US$25 (रु० ११५०) तथा समुद्री डाक (Sea mail) से US$13 (रु० ६००) हे। समुद्री डाकसे पहुँचनेमे बहुत समय लग सकता है, अत हवाई डाकसे ही अङ्क मँगवाना चाहिये।

२-'कल्याण' का नया वर्ष जनवरीसे आरम्भ होकर दिसम्बरतक रहता है, अत ग्राहक जनवरीसे ही बनाये जाते है। वर्षके मध्यमे बननेवाले ग्राहकाका जनवरीसे ही अङ्क दिये जाते हे। एक वर्षसे कमके लिये ग्राहक नहीं बनाये जाते हैं।

३-ग्राहकाको वार्षिक शुल्क १५ दिसम्बरतक 'कल्याण'-कार्यालय अथवा गीताप्रेसकी पुस्तक-दूकानोपर अवश्य भेज देना चाहिये। जिन ग्राहक-सज्जनासे अग्रिम मूल्य-राशि प्राप्त न होगी, उन्हे विशेषाङ्क वी०पी०पी० द्वारा भेजनेका विचार है। वी०पी०पी० द्वारा 'कल्याण'-विशेषाङ्क भेजनेमे यद्यपि वी०पी०पी० डाक-शुल्कके रूपमें रु० १० ग्राहकको अधिक देना पडता है, तथापि अङ्क सुविधापूर्वक सुरक्षित मिल जाता है। **अत सभी ग्राहकोको वी०पी०पी० ठीक समयसे छुडा लेनी चाहिये।** दसवर्षीय ग्राहक भी बनाये जाते हैं, इससे आप प्रतिवर्ष शुल्क भेजने/वी०पी० पी० छुडानेकी असुविधासे बच सकते हैं।

४-जनवरीके विशेषाङ्कके साथमे फरवरीका अङ्क सलग्न रहता है। मार्चसे दिसम्बरतकके अङ्क प्रतिमास भली प्रकार जाँच करके मासके प्रथम सप्ताहतक डाकसे भेजे जाते हैं। यदि किसी मासका अङ्क २० तारीखतक न मिले तो डाक-विभागसे जाँच करनेके उपरान्त हमे सूचित करना चाहिये। खाये हुए मासिक अङ्काके उपलब्ध होनेकी स्थितिमे पुन भेजनेका प्रयास किया जाता हे। मार्च-अङ्कके प्रेषणमे डाकघरसे वी०पी०पी० की राशि प्राप्त होने तथा उसके समायोजनमे समय लगनेके कारण एक माहका विलम्ब होना सम्भावित हे।

५-पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम ३० दिनोके पहले कार्यालयमे पहुँच जानी चाहिये। पत्रोमे **ग्राहक-सख्या,** पिनकोड-सहित पुराना और नया—**पूरा पता पढ़नेयोग्य सुस्पष्ट, सुन्दर अक्षरोमे लिखना चाहिये।**

६-पत्र-व्यवहारमे 'ग्राहक-सख्या' न लिखे जानेपर कार्यवाही होना कठिन है। अत 'ग्राहक-सख्या' प्रत्येक पत्रमे अवश्य लिखी जानी चाहिये।

७-जनवरीका विशेषाङ्क ही वर्षका प्रथम अङ्क होता हे। वर्षपर्यन्त मासिक अङ्क ग्राहकोको उसी शुल्क-राशिमे भेजे जाते हैं।

८-'कल्याण' मे व्यवसायियाके विज्ञापन किसी भी स्थितिमे प्रकाशित नहीं किये जाते।

'कल्याण' के दसवर्षीय ग्राहक

दसवर्षीय सदस्यता-शुल्क १२०० रुपये सजिल्द विशेषाङ्कके लिये १३५० रुपये, विदेश (Foreign) के लिये सजिल्द विशेषाङ्कका हवाई डाक (*Air mail*)-से US$ 250 (रु० ११,२५०), समुद्री डाक (*Sea mail*)-से US$130 (रु० ५८५०) है। फर्म प्रतिष्ठान आदि भी ग्राहक बन सकते हैं। डाक-व्यय आदिमे अप्रत्याशित वृद्धि होनेपर अवधिके बीचमे भी सदस्यता-शुल्कमे वृद्धि की जा सकती हे। किसी अनिवार्य कारणवश यदि 'कल्याण' का प्रकाशन बद हो जाय तो जितने अङ्क मिले उतनेमे ही सतोष करना चाहिये।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पत्रालय—गीताप्रेस—२७३००५ (गोरखपुर)

रजि० समाचारपत्र—रजि०न० २३०८/५७
प्र० ति० २०-१२-२००१

पजीकृत-सख्या—जी० आर०—१३
LICENCE NO 3 LICENSED TO POST WITHOUT PRE PAYMENT

धर्म-नीतिके आदर्श प्रतिमान

प्रशान्तचित्ता सर्वेषा साम्या कामजितन्द्रिया । कर्मणा मनसा वाचा परद्राहमनिच्छव ॥
दयाद्रमनसो नित्य स्तयहिसापराड्मुखा । गुणपु परकार्येषु पक्षपातमुदान्विता ॥
मदाचारावदाताश्च परात्सवनिजात्सवा । पश्यन्त सवभूतस्थ वासुदवममत्सरा ॥
दीनानुकम्पिना नित्य भृश परहितपिण । विपयप्वविवकाना या प्रीतिरुपजायत ॥
विनन्वत तु ता प्रीति शतकोटिगुणा हरा । नित्यकतव्यताबुद्ध्या यजन्त शङ्करादिकान् ॥
विष्णुस्वरूपान् ध्यायन्ति भक्त्या पितृगणप्वपि । विष्णारन्य न पश्यन्ति विष्णु नान्यत् पृथग्गतम् ॥
पार्थक्य न च पाथक्य समष्टिव्यष्टिरूपिण । जगन्नाथ तवास्मीति दासस्त्व चास्मि नो पृथक् ॥
अन्तयामी यदा दव सर्वेषा हृदि सस्थित । सेव्या वा सवका वापि त्वत्ता नान्योऽस्ति कश्चन ॥

इति भावनया कृतावधाना प्रणमन्त सतत च कीर्तयन्त ।
हरिमब्जजवन्द्यपादपद्म [illegible] प्रभजन्तस्तृणवज्जगज्जनेषु ॥
उपकृतिकुशला जगत्स्वजस्र परकुशलानि निजानि मन्यमाना ।
अपि परपरिभावत दयार्द्रा शिवमनस खलु वष्णवा प्रसिद्धा ॥
दृषदि परधन च लाष्टखण्ड परवनितासु च कूटशाल्मलीपु ।
स[illegible]रिपुसुहृजेषु [illegible] [illegible] खलु वैष्णवा प्रसिद्धा ॥

जिनका चित्त अत्यन्त शान्त है, जो सबके प्रति कोमल भाव रखते हैं, जिन्होने स्वेच्छानुसार अपनी इन्द्रियापर विजय प्राप्त कर ली है तथा जो मन, वाणी और क्रियाद्वारा कभी दूसरासे द्रोह करनेकी इच्छा नहीं रखते, जिनका चित्त दयासे द्रवीभूत रहता है, जो चोरी और हिसासे सदा ही मुख मोडे रहते हैं, सद्गुणोके सग्रह तथा दूसरोके कार्यसाधनमे जो प्रसन्नतापूर्वक सलग्न रहते हैं, सदाचारसे जिनका जीवन सदा उज्ज्वल—निष्कलङ्क बना रहता है, जो दूसरोके उत्सवको अपना उत्सव मानते हैं, समस्त प्राणियोके भीतर भगवान् वासुदेवको विराजमान देखकर कभी किसीसे ईर्ष्या-द्वेष नहीं करते, दीनोपर दया करना जिनका स्वभाव बन गया है और जो सदा परहितसाधनकी विशेष इच्छा रखते हैं। अविवेकी मनुष्योका विषयोमे जैसा प्रेम होता है, उससे सौ करोड गुनी अधिक प्रीतिका विस्तार वे भगवान् श्रीहरिके प्रति करते हैं। नित्य कर्तव्यबुद्धिसे विष्णुस्वरूप शङ्कर आदि देवताआका भक्तिपूर्वक पूजन ओर ध्यान करते हैं, पितरोमे भी भगवान् विष्णुकी ही बुद्धि रखते हैं, भगवान् विष्णुसे भिन्न दूसरी किसी वस्तुको नहीं देखते और भगवान् विष्णुको किसी दूसरी वस्तुसे पृथक् नहीं देखते। समष्टि ओर व्यष्टि सबको भगवान्का ही स्वरूप समझते हैं तथा भगवान्को जगत्से भिन्न तथा अभिन्न दोनो मानते हैं। 'भगवान् जगन्नाथ! मैं आपका दास हूँ, आपके स्वरूपमे भी मैं हूँ, आपसे पृथक् कदापि नहीं हूँ। जब आप भगवान् विष्णु अन्तर्यामीरूपसे सबके हृदयमे विराजमान हैं, तब सेव्य अथवा सेवक कोई भी आपसे भिन्न नहीं है।' इस भावनासे सदा सावधान रहकर—ब्रह्माजीके द्वारा वन्दनीय युगलचरणारविन्दावाले श्रीहरिको सदा प्रणाम करते, उनके नामोका कीर्तन करते, उन्हींके भजनमे तत्पर रहते और ससारके लोगाके समीप अपनेको तृणके समान तुच्छ मानकर विनयपूर्ण बर्ताव करते हैं। जगत्मे सब लोगोका उपकार करनेके लिये जो कुशलताका परिचय देते हैं दूसराके कुशल-क्षेमको अपना ही मानते हैं, दूसरोका तिरस्कार देखकर उनके प्रति दयासे द्रवीभूत हो जाते हैं तथा सबके प्रति मनम कल्याणकी भावना रखते हैं, वे ही भगवद्भक्तके नामसे प्रसिद्ध हैं। जो पत्थर, पर-धन ओर मिट्टीके ढेलेम, परायी स्त्री और कूटशाल्मली नामक नरकमे, मित्र, शत्रु, सगे भाई तथा बन्धुवर्गमे समान बुद्धि रखनेवाले हैं, वे ही निश्चितरूपसे भगवद्भक्तके नामसे प्रसिद्ध हैं। (स्कन्दपुराण)